श्रीमद् कुन्दकुन्दाचार्य कृत

अष्टपाहड

[अतसागर सूरिकृत संस्कृत टीका]

भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद्

Jain Education International

For Personal & Private Use Only

www.jainelibrary.org





सौजन्य से श्री राजकुमार जी निर्मला देवी पांड्या कोटा, जयपुर

हिन्दी अनुवादक पं० पन्नालाल साहित्याचार्य, सागर

.

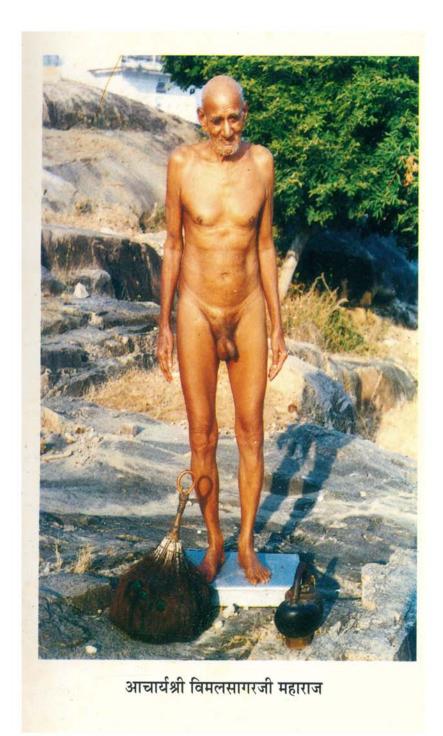


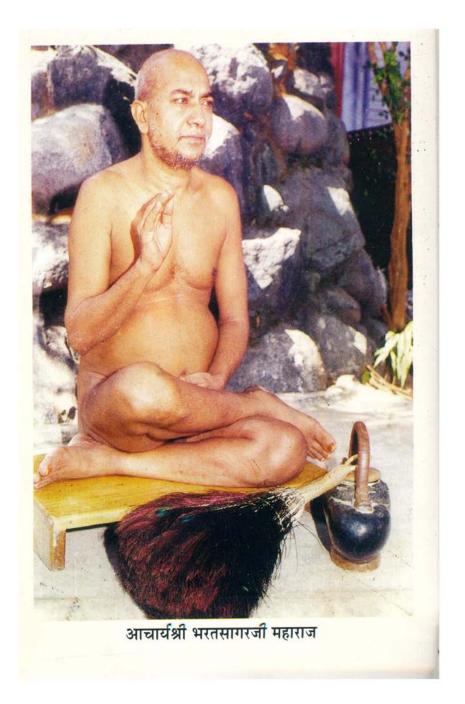
[श्री श्रुतसागर सूरि कृत संस्कृत टीका]

श्रीमद् कुन्दकुन्दाचार्य कृत

भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद् पुष्प संख्या- १०

आशीर्वाद	: आचार्यश्री भरतसागर जी महाराज
निर्देशिका	: गणिनी आर्थिका स्याद्वादमती माताजी
संयोजन	. ब्र॰ प्रभा पाटनी B.Sc.,L.L.B.
ग्रन्थ	अष्टपाहुड
प्रणेता	. आचार्य कुन्दकुन्द
हिन्दी अनुवादक	: पं० पन्नालाल साहित्याचार्य
संस्करण	: तृतीय संस्करण वीर निर्वाण सं० २५३० सन् २००४
प्रकाशक	ः भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद्
पुस्तक प्राप्ति स्थान :	 (१) आचार्य श्री भरतसागर जी महाराज संघ (२) दिगम्बर जैन महासभा कार्यालय, ऐशबाग, लखन (३) बीसपंथी कोठी श्री सम्मेदशिखरजी (४) अनेकान सिद्धांत समिति लोहारिया, जिला बाँसवाड़ा (राजस्थान)
मूल्य :	в-00 Б Ч2 RS 100 00
मुद्रक :	वर्द्धमान मुद्रणालय जवाहरनगर कालोनी, वाराणसी-१०









परम पूज्य सन्मार्ग दिवाकर आचार्य श्री १०८ विमलसागर जी महाराज के पट्ट शिष्य मर्यादा-शिष्योत्तम ज्ञान-दिवाकर प्रशान्तमूर्ति वाणीभूषण भुवनभास्कर समतामूर्ति गुरुदेव परम पूज्य आचार्यश्री १०८ भरतसागर जी महाराज के कर कमलों में सादर समर्पित

नव देवता स्तवन

दोहा

परमेछी पाँचों नमूँ, जिनवाणी उरलाय । जिन मारग को धारकर, चैत्य चैत्यालय ध्याय ॥ (तर्ज - अहो जगत् गुरु देव स्नियो) अरिहन्त प्रभु का नाम, है जग में सुखदाई। घाति चत् क्षयकार, केवल ज्योति पाई॥ वीतराग सर्वज्ञ, हित उपदेशी कहाये। ऋदि-सिद्धि सब पाय, जो नित भक्ति सुध्यावे ।।१।। सिद्ध प्रभु गुणखान, सिद्धि के हो प्रदाता। कर्म आठ सब काट, करते मुक्ति वासा।। श्दं बद अविकार, शिव सुखकारी नाथा। ऋद्धि-सिद्धि सब पाय, जो नित नावे माथा।।२।। को पाले। आचारज गुणकार, पञ्चाचार शिक्षा दीक्षा प्रधान, भविजन के दुख टाले।। अनुग्रह निग्रह काज, मुक्ति मारग चलते। ऋदि सिद्धि सब पाय, जो आचारज भजते।।३।। ज्ञान ध्यान लवलीन, जिनवाणी रस पीते। अध्ययन शिक्षा प्रदान, संघ में जो नित करते ।। गुणधाम, उपदेशामृत देते। रत्नत्रय ऋदि सिद्धि सब पाय, जो नित उवज्झाय भजते ॥४॥

दर्शन ज्ञान चारित्र, मुकती मार्ग कहाये। तिनप्रति साधन रूप, साध् दिगम्बर भाये॥ विषयाशा को त्याग, निज आतम चित पागे। ऋदि-सिद्धि सब पाय, जो नित साधु ध्यावे।।५।। तत्त्व द्रव्य गुण सार, वीतराग मुख निकसी। गणधर ने गुणधार, जिनमाला इक गँथी।। 'स्याद्वाद' चिन्ह सार, वस्तु अनेकान्त गाई। ऋद्धि-सिद्धि सब पाय, जो जिनवाणी ध्याई॥६॥ सम्यक् श्रद्धा सार, देव शास्त्र गुरु भाई। सम्यक् तत्त्व विचार, सम्यक् ज्ञान कहाई ॥ होय आचार, सम्यक चारित गाई। सम्यक ऋदि सिदि सब पाय, जो जिन मारग धाई ।।७।। वीतराग जिनबिम्ब, मूरत हो सखदाई । दर्पण सम निजबिम्ब, दिखता जिसमें भाई।। नशाय, कर्म कलंक जो नित दर्शन पाते। ऋदि सिदि सब पाय, जो नित चैत्य को ध्याते ।।८।। वीतराग जिनबिम्ब, कृत्रिमाकृत्रिम जितने। शोभत हैं जिस देश, हैं चैत्यालय उतने। जो सार, भक्ती महिमा गावे। उन सबकी सब पाय, जो चैत्यालय ध्यावे ।।९॥ ऋदि सिदि दोहा

नव देवता को नित भजे, कर्म कलंक नशाय। भव सागर से पार हो, शिव सुख में रम जाय।। नोट-प्रतिदिन प्रात: पाठ करने से जीवन सुख, शान्ति और समृद्धि को प्राप्त होता है।

भामका

डॉ० फूलचन्द्र जैन प्रेमी अध्यक्ष, जैन दर्शन विभाग सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसो

अब से कुछ दशक पूर्व तक प्रायः भारतीय और पाक्ष्वात्य विद्वान् भारतीय संस्कृति, धर्म-दर्शन और साहित्य का मूल वेदों में देखने के अभ्यस्त ये किन्तु जब से मोहन-जोदडो हड़व्या से प्राप्त सामग्री बादि साक्ष्यों के अध्ययन के पक्ष्वात् चिन्तकों के चिन्तन की दिशा ही बदल गई और अब यह प्रमाणित हो चुका है कि श्रमण-संस्कृति-वैदिक संस्कृति से पृथक् और प्राचीन है।

वस्तुतः श्रमणधारा भारत में अत्यन्त प्राचीनकाल से ही प्रवह्मान है। पुरा-तात्त्विक साक्ष्यों, भाषावैज्ञानिक, साहित्यिक एवं शिलालेझ्यीय आदि अन्यवर्षणों के आधार पर अनेक विद्वान अब यह मानने लगे हैं कि आयों के आगमन से पूर्व भारत में जो संस्कृति थी वह श्रमण या आहंत्-संस्कृति होनी चाहिए। श्रमण संस्कृति अपनी जिन-विशेषताओं के कारण गरिमा-मण्डित रही है, उनमें श्रम, सयम और त्याग जैसे आध्यात्मिक आदर्शों का महत्त्वपूर्ण स्वान है। यह संस्कृति सुदूर अतीत में जैन धर्म के आदि तीर्थकर वृषभ या ऋष्यभदेव द्वारा प्रवर्तित हुई। ष्ट्रषभदेव का उल्लेख श्रमण और वैदिक इन दोनों ही संस्कृतियों में स्वयं-सिद्ध है। ये इस अवसर्पिणी काल के प्रथम सुसंस्कृत पुरुष थे, जिन्होंने सर्वप्रयम विदिध ज्ञान-विज्ञान और कलाओं की शिक्षा दी थी। मनुष्य को जीवनोपयोगी असि, मसि, कृषि, शिल्प, वाणिज्य और विद्या का उपदेश देकर समाज-व्यवस्था स्थापित की। इनके प्रथम चक्रवर्ती पुत्र भरत के नाम से इस पुष्यदेश का ''भारसवर्ध'' यह नाम प्रसिद्ध हुआ।

प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव से लेकर अन्तिम एवं चौत्रीसर्वे तीर्थंकर महावीर तक की इस गौरवशाली तीर्थंकर परम्परा से प्राप्त तत्त्वज्ञान और आत्म कल्याणकारी उपदेशों के आधार पर श्रमण संस्कृति के अमर गायक और उत्नायक सहस्रों जैन-आचार्यों ने प्रायः सत्री प्राधीन भारतीय भाषाओं एवं सभी विघाओं में अपने श्रोष्ठ साहित्य के माध्यम से भारतीय साहित्य और जिन्तम परम्परा में कीवृद्धि की है।

Jain Education Internationa

5

आचार्य कुन्दकुन्द और उनका दिव्य अवदान

तीर्थंकर महावोर और गतम गणधर के बाद को उत्तरवर्ती जैन आचार्यों का दिशाल परम्परा में अनेक महान् आचार्यों का नाम श्रद्धापूर्वक लिया जाता है। जिनके अनुपम व्यक्तित्व और कतृंत्व से भारतीय चिन्तन अनुप्राणित होकर चतुर्दिक् प्रकाश की किरणें फैलाता रहा है, किन्तु इन सबमें अब से दो हजार वर्ष पूर्व युगप्रघान आचार्य कुन्दकुन्द ऐसे प्रखर प्रभाषुरुज के समान महान् आचार्य दूए जिनके महान् आध्यात्मिक चिन्तन से सम्पूर्ण भारतीय मनीषा प्रभावित हुई और उसने एक अद्भुत मोड़ लिया। यही कारण है कि इनके परवर्ती सभी आचार्यों ने अपने को उनकी परम्परा का आचार्य मानकर उनकी सम्पूर्ण विरासत से जुड़ने में अपना गौरव माना तथा उनकी मूल-परम्परा तथा ज्ञान-गरिमा को एक स्वर से श्रेष्ठ मान्य करते हुए कहा—

> मंगलं भगवदो दौरो मंगलं गोदमो गणी। मंगलं कोण्डकुदाइ, जेण्ह घम्मोत्थु मंगलं॥ [मङ्गलं भगधान्वीरो मङ्गलं गौतमो गणी। मङ्गलं कुन्दकुन्दार्थो जैनघर्मोऽस्तु मंगलम्॥]

अर्थात् तीर्थंकर भगवान् महावीर-वर्धमान मंगळस्वरूप हैं । इनके प्रयम गणघर गौतम-स्वामी (तीर्थंकर महावीर की दिव्यष्वति के विवेचनकर्ता तथा द्वादशांग आगमोंके रचयिता) मंगलात्मक हैं । आचार्य कुन्दकुन्द जैसे समर्थ आचार्योंकी आचार्य-परम्परा मंगलमय है तथा प्राणिमात्रका कस्याण करने वाला जैनघर्म सभीके लिए मंगलकारक है ।

शिलालेसों के अनुसार इनका जन्मस्यान कोणुकुन्दे प्रचलित नाम कोंबकुन्दी (कुन्दकुन्दपुरम) तहसील गुप्टूर है जो कि आन्ध्रप्रदेशके अनन्तपुर जिलेमें कोण्ड-कुन्दपुर अपरनाम कुरुमरई माना जाता है। इनका अन्म शार्वरी नाम संवत्सर माघ शुक्ला ५ ईमापूर्व १०८ (बी० सी०) में हुआ था। इन्होंने ११ वर्ष को अल्पायु में ही श्रमण दीक्षा ली तथा ३३ वर्ष तक मुनिपद पर रहकर झान और वारित्र की सतत् साधना की। ४४ वर्ष की आयु (ईसा पूर्व ६४) चतुर्विष सघ ने इन्हें आचार्य पर प्रतिष्ठित किया। ५१ वर्ष १० माह और १५ दिन तक उन्होंने आचार्यपद को सुशोमित किया। इस सरह इन्होंने कुल ९५ वर्ष १० माह १५ दिनको दीर्घायु पायो और ईसा पूर्व १२में समाविमरण पूर्वक मुस्यु पाकर स्वर्गारोहण किया।

समयसार : पुरोवाक् (मुन्नुडि) पु॰ ३०४ : सं०न्न्बरुअंद जैन; प्रकाशनन कुन्दकुन्द भारती, दिल्ली १९७८ ।

डॉ॰ ए॰ एन उपाब्ये ने भी इनका समय ईसवी सनके प्रारम्भमें मानते हुए लिखा है—

"I am inclined to believe, after this long survey of the available material, that kundakunda's age lies at the beginning of the Christian era","

कुछ विद्वान् आ० कुन्दकुन्दको पाँचवी-छठो शतीका भी सिद्ध करनेमें प्रयत्नशील हैं।^र लगता है मूल दिगम्बर परम्पराके महान् पौषक होनेके कारण आचार्य कुन्दकुन्द जैसे अनुपम व्यक्तित्व और कर्तुंत्वके धनी आचार्यकी उत्कृष्ट मौलिकता एवं कीर्तिको कुछ विद्वान् सहन नहीं कर पा रहे हैं, इसीलिए उन्हें परवर्ती सिद्ध करनेके लिए तथ्य-रहित आघार बतलाकर अपनेको सन्तुष्ट मान रहे हैं। वस्तुतः आचार्य कुन्दकुन्द या अन्य जैनाचार्य द्वारा श्रेष्ठ साहित्यके निर्माणका उद्देश्य स्व-पर कल्याण करना था, न कि आत्स-प्रदर्शन या लौकिक यशकी प्राप्ति। इसीलिए आज अनेको ऐसे उत्कृष्ट अझातकत् क प्रन्थ उपलब्ध हैं जिनमें उसके लेखकने अपना नाम तक लिखना उचित न समझा। आचार्य अमृत-चन्द्राचार्य (८-९वीं शती) के पूर्व तक कुन्दकुन्दके साहित्य पर किसी द्वारा टोका आदि न लिखे, जाने का यह अर्थ नहीं कि वे ५-६वीं शतीके थे, अपितु काफी साहित्यका नष्ट होना, भाषायी आक्रमण और साथ ही आज जैसे प्राचीन काल्में विविध सम्पर्क और साधनोंका अभाव कारण हैं।

आचार्य कुन्दकुन्दके प्रन्थ ही उनको प्राचीनता, प्रामाणिकता और मौलिकता-को कह रहे हैं। उन्होंने अपने प्रन्थोंमें "सुयथाणिभद्दबाहु गमयगुरू भगवजी अपओ"—कहकर अपनेको बारह अंगों और चौदह पूर्वोके विपुल विस्तारके वेता, गमकगुरु (प्रबोधक) भगवान् श्रुतज्ञानी-श्रुतकेवली भद्रबाहुका शिष्य कहा है। भद्रबाहुको अपना गमकगुरु कहनेका यहो अर्थ है कि श्रुतकेवलो भद्रबाहु कुन्दकुष्द-को प्रबोध करने वाले गुरु थे। इसोलिए समयसारको भी उन्होंने "श्रुतकेवली भणित" कहा है। यथा—

- {. Pravacansāra : Introduction p. 21.
- श्रमण भगवान् महावीर : पु० ३०६ लेखक पं० कल्याण विजयगणी, (विसेष-लेखकने इस पुस्तकमें दस प्रमाणों (प्वाइ टों) से आचार्य कुन्दकुन्दको छठी अतीका माना है।
- व. बोध पाहुड गाथा ६०-६१.

वंदित्तु सव्वसिद्धे धुवमचलमणोपमं गई पत्ते ।

वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुयकेवली भणियं ॥-समयसार १.

अवणबेलगोलकी चन्द्रगिरि पर्वत पर महनवमी मण्डपमें दक्षिण मुख स्तम्भ पर शक सं० १०८५^९ के लेख संख्या ४०में श्रुतकेवली भद्रवाहु भौर चन्द्रगुप्सके बाद आचार्य कुन्दकुन्द इनके बाद आ० उमास्वातिका उल्लेख करके इन्हें मद्रबाहु-के अन्वयका ही बतलाया है। इस लेखका मुख्यांश इसप्रकार है—

> श्रीभद्रः सर्वतो यो हि भद्रबाहुरिति श्रुतः । श्रुतकेवलि नाथेषु चरमः परमो मुनिः ॥ चन्द्रप्रकाशोज्वलचन्द्रकीर्तिः श्रीचन्द्रगुप्तोऽजनि तस्य शिष्यः । यस्य प्रभावाद् वनदेवताभिराराघितः स्वस्य गणो मुनीनाम् ॥ ""तस्यान्वये भू-विदिते बभूव यः पद्मनन्दिप्रथमाभिषानः । श्रीकोण्डकुन्दादि-मुनीक्ष्वराक्ष्यस्सत्सयमाद्रुद्गत-चारणाद्धिः ॥ अभू दुमास्वाति मुनिक्ष्वरोऽसावाचार्य्य शब्दोत्तरगृद्वपिच्छः । तदम्बये तत्सदृक्षोऽस्ति नान्यस्तात्कालिकाकोष-पदार्व्य वेदी ॥

पदानन्दि कुन्दाकुन्दाचार्यका ही अपर नाम है। टीकाकार जयसेनाचार्य तथा ब्रह्मदेवने कुमारनन्दि सिद्धान्तदेवको भी कुन्दकुन्दाचार्यका गुरु बतलाया है^२, जब-कि नम्दिसंघकी पट्टावलीमें जिनचन्द्रको गुरु बतलाया है।^६ किन्तु भद्रबाहुको आचार्य कुन्दकुन्दने गमकगुरुके रूपमें जिस तरह स्मरण किया है उससे आ० भड़-बाहुको ही छनका गुरु मानना अधिक उपयुक्त है।

कलिकाल-सर्वज्ञ आचार्यं कुन्दकुन्दके अनेक नाम

साहित्य और खिलालेखोंमें इनके विभिन्न नामोंका उल्लेख मिलता है जिनमें कौण्डकुन्द (कुन्दकुन्द), पद्मनन्दि, वक्रग्रीव, एलाचार्य, महामुनि, गृद्धपिच्छ ममुख नाम हैं। नन्दिसंघसे सम्बद्ध विजयगनरके १३८६ ई० के एक शिलालेखमें तथा नन्दिसंघ पट्टावलीमें इस तरह नामोंका उल्लेख है----

- १. शक संवत्में ७८ जोड़ देने पर उसका ईसवी सन् निकल आता है, ६०५ जोड़ देने पर वीर निर्वाण संवत् तया १३५ संख्या जोड़ देने पर विक्रम संवत् निकाल लिया जाता है।
- (क) समयप्रामृत भूमिका पु॰ ४.
 (स) पञ्च्यास्तिकाय पर ब्रह्मदेव (१२वीं, सदी) की टीकाकी उथ्यानिका.
- ३. जैम सिद्धान्त भारकर वर्ष १ अंक ४ पृ० ७८.

श्रोमूलसं(घ)ऽजनि नस्दिसंघस्तस्मिन् बलात्कारगणेऽतिरम्य । तत्रापि सारस्वतनाम्निगच्छे स्वच्छाशयोऽभूदिह पदम् नन्दी ।। आचार्यः कुन्दकुन्दाख्यो वक्रग्रीवो महामुनिः । एलाचार्यो गृद्धपिच्छ इति तन्नाम पंचधा ॥^१

वि० सं० ९९० में रचित बाचार्य देवसेनने अपने 'दर्शनसार' ग्रन्थमें मात्र 'पद्मनन्दी' नामसे उनका उल्लेख किया है।^२ वि० सं० १६वीं शतीके षट्प्राभूतके टीकाकार श्रुतसागर सूरिने उनके पाँच नामोंका उल्लेख करते हुए उन्हें आकाशमें गमन करनेवाला (चारणऋदिघारी), विदेहक्षेत्र जाकर सीमंधर स्वामीकी दिव्यघ्वनि सुनने वाला तथा 'कलिकाल-सर्वज्ञ' रूप विशेषताओसे युक्त बतलाया है। प्रायः प्रत्येक प्राभृतके अन्तमें इस तरहकी पुष्पिका पाई जाती है—

श्रीपद्मनन्दि कुन्दकुन्दाचार्यं वक्तग्रोवाचार्येलाचार्यगृढपिच्छाचार्यनामपंचक-विराजितेन चतुरंगुलाकाशगमनदिना पूर्वविदेहपुण्डरोकिणोनगरवन्दितसीमन्घरा-परनाम स्वयंप्रभजिनेन तच्छुतक्कानसम्बोधितभरतवर्षभ्रव्यजीवेन श्रीजिनचन्द्रसूरि-भट्टारकपट्टाभरणभूतेन कलिकाल्सब क्रेन विरचिते षट्प्राभृतग्रन्थे सर्वमुनिमण्डसी-मण्डितेन कलिकाल्गोतमस्यामिना श्रीमल्लिभूषणेन भट्टारकेणानुमतेन सकलविढ-ज्वनसमाजसम्मानितेनोभयभाषाकविचक्रवीतना श्रीविद्यानन्दिगुवंन्तेवासिना सूरिवरश्रीश्रुतसागरेण विरचिता बोधप्राभृतस्य टोका परिसमाप्ता 1³

भूतसांगरसूरि द्वारा आ० कुन्दकुन्दके लिए 'कलिकालसर्वज्ञ' विशेषण भीः विशेष महस्वपूर्ण है ।

विदेहक्षेत्र गमन और चारणऋदि सम्बन्धी उल्लेख

अनेक ग्रन्थों और शिलालेकोंगें आ० कुन्दकुन्दके विदेहगमन और भारण-ऋदि सम्बन्धी उल्लेख मिलते हैं। यद्यपि आजके कुछ विद्वानोंने विदेहगमन और वहाँ सीमंधर स्वामीके समवशरणमें पहुँचकर दिव्यध्वनि श्रवण की इस धटना≁ को सही नहीं माना है। किन्तु सदियों प्राचीन इन उल्लेखोंको नजर-अन्दाज भी कैसे किया जा सकता है? विदेह गमनकी घटनाका सर्वप्रथम उल्लेख आचार्य देवसेनने किया है—

अइ पउमणंदिणाहो सोमंघरसामिदिव्यणाणेख ।

ण विबोह्द तो समणा कहं सुमर्ग्ग पयाणंति ॥

१. जैन सिदान्त भास्कर (आरा) भाग १ किरण ४ पृ० ९०.

२. दर्शनसार ४३.

३. बण्टपाहुड : पृष्ठ २०५. श्री शान्तिवीरनगर, श्रीमहावीरजी, १९६८

४. दर्शनसार : गाया ४३.

-----इस गायामें कहा है कि पद्मनन्दि (कुन्दकुन्द) स्वामीने सीमन्धर स्वामी से दिव्यज्ञान प्राप्तकर अन्य मुनियोंको प्रबोधित किया। यदि वे प्रबोधन कार्य न करते तो श्रमण सुमार्ग किस तरह प्राप्त करते ?

जयसेनाचार्यने पंचास्तिकायकी टीकामें उक्त विदेहगमन वाली घटनाको "प्रसिद्ध कथा" कहा है। अनेक शिलालेखोंमें भी उन्हें चारणऋढिधारी अर्थात् पृथ्वीसे चार अंगुल ऊपर आकाशमें अनेक योजन तक गमन करने वाला कहा है। श्रथणवेलगोल नगरके मठकी उत्तर गोशालामें शक सं० १०४१ के शिलालेख संख्या १३९ में इस तरह लिखा है—

स्वस्ति श्री वर्ढमानस्य वर्ढमानस्य शासने ।

श्रीकौण्डकून्द नामाभूच्वतुरङ्गलचारणः ॥^२

अर्थात् वर्ढमानके शासनमें परिपूर्ण रूपसे निष्णात चार अंगुल ज्यर जमीन-से चलने वाले कुस्दकुन्दाचार्य हुए ।

भहनवमी मण्डपके उत्तरमें एक स्तम्भ पर शक सं० १०९९ के लेख सं० ४२ में नागदेव मन्त्री द्वारा अपने गुरु श्री नयकीति योगीन्द्रकी विस्तृत गुरु-परम्परा-का उल्लेख है जिसमें आचार्य पद्मनन्दी (कुन्दकुन्द), उमास्वाति-गृद्धपिच्छ, बलाकपिच्छ, गुणनन्दि आदि आचार्योंके नामोल्लेख हैं। इसमें भी आ० कुन्दकुन्द-को चारणऋदिघारी बतलाया है। यथा---

> श्रो पद्मनन्दीत्यनवद्यनामा. हाजाव्यं सब्दोत्तरकोण्डकुन्दः । द्वितीयमासीवभिधानमुद्याञ्चरित्रसञ्जातसुचारणद्विः ॥ ४ ॥^३

यही श्लोक चामुण्डराय वस्तिके दक्षिणकी ओर मण्डपके प्रथम स्तम्भ पर शक रां० १०४५ के लेख सं० ४३ में लिखा है।^४

अवणबेलगोलके विन्व्यगिरि पर्वत पर सिद्धरबस्तीमें उत्तरकी क्षोर एक स्तम्भ पर शक सं० १३२० के लेख सं० १०५ में स्पष्ट रूपसे आचार्य कुन्दकुन्दको अनेक विशेषणों सहित भूमिसे चार अंगुल ऊपर गमन करने वाला कहा है----

- जैन शिलालेस संग्रह भाग १, शिलालेस सं० ४०, ४१, ४२, १०५, १३९, २८७
- र. बही पृष्ठ २८६
- .३. बैंक पि० संग्रह मान १ पूरु ४२.
- ४. वही : लेख सं० ४३ एव ४७.

शास्त्राधारेषु पुण्यादजनि सजगतां कोण्डकुन्दो यतीन्द्रः ॥१३॥ रजोभिरस्पृष्टतमत्वमन्तर्ब्बाह्येऽपि संव्यञ्जयितुं यतीन्नः । रजः पदं भुमितलं विहायः चचार मन्ये चतुरङ्गुलं सः ॥१४॥ ै

अर्थात् मतीन्द्र कुन्दकुन्दाचार्यं रजःस्थान पृथ्वीतलको छोड़कर चार अंगुल ऊपर गमन करते थे, जिससे यह स्पष्ट होता है कि वे अन्तः और बाह्य रज (घूल) से अत्यन्त अस्पृष्टता व्यक्त करते थे।

विविध संघ और आचार्यं कुन्दकुन्द एवं कुन्दकुन्दान्वयः

आचार्य कुन्दकुन्दका व्यक्तित्व और कर्तृ त्व इतना अनुपम या कि दिगम्बर जैन परम्पराके प्रायः सभी संघोंने अपनेको कुन्दकुन्दान्वयका मानवेमें गौरव-शाली अनुभव किया। यही कारण है कि मूलसंघके अनेक भेद-प्रभेद हो जाने अथवा स्वतन्त्र अन्यान्य संघ बन जानेके बावजूद सभी संघ आजार्य कुन्दकुन्द या कुन्दकुन्दान्वयकी परम्पराका अपनेको सच्चा अनुयायी मानते हुए भावनात्मक एकता, जैन शासनकी अम्युन्नति एवं आत्मकल्याणके लक्ष्यमें एकजुट होकर लग रहे। और यही कारण है कि जब हम उस लम्बे समयके जैन साहित्य, संस्कृति, घर्म-दर्शन और आजार-विधारोंको श्रेष्ठता तथा जैनधर्मको शास्वतता प्रदान करने हेतु उनके त्यागकी ओर दृष्टिपात करते हैं तो हमारा मस्तक गौरवसे ऊँचा उठ जाता है और हमें अपने अन्दर अपूर्व आनन्द प्राप्त होता है कि हम अपने भारतकी इस महान् घरोहरके उत्तराधिकारी और अनुयायी हैं। किन्तु हम सभी-को भी इस बड़े उत्तरदायित्वका बोघ होने और इसके विकासके लिए जेष्टा करते रहनेके विषयमें भी निरन्तर सोचते रहनेकी बडी आवध्यकता है।

जैसा कि यहां कहा गया है कि दिगम्बर जैन परम्परा के प्रायः सभी संघों ने कुन्दकुन्द की परम्परा के अन्तगंत अपने को घोषित किया। इनमें द्रविड्स्ंच, नन्दि, सेन और काष्ठासंध—ये चार प्रमुख हैं। इन सभी के कुन्दकुन्द अन्वय से सम्बन्धित होने के शिखालेखादि में उल्लेख प्राप्त होते हैं। अंगदि से प्राप्त शिखलेख संख्या १६६ में द्रविड्संघ कोष्डकुन्दान्वय लिखा है। आंगदि से प्राप्त शिखलेख संख्या १६६ में द्रविड्संघ कोष्डकुन्दान्वय लिखा है। शिलालेख सं० ५१८ में सेनगण के साथ कुन्दकुन्दान्वय जुड़ा हुआ ही है। और नन्दिसंघ ती मूरूसंघ कुन्दकुन्दान्वय, देशियगण, पुरतकगच्छ से सम्बद्ध वा ही।² मूलसंघ विगम्बर परम्परा में प्रमुखता से भाग्य रहा है। मूलसंघ का सर्वप्रयम उल्लेख

औम शिकालेख संग्रह भाग १, प० १९७-१९८.

२. जैन विलालेक संग्रह भाग ३. शि० सं० ५३८, जैन विद्याना आस्कर भाग १. कि० ४ पू० ९०.

गंगवंस के महाराजा माधववर्मा द्वितीय और उनके पुत्र अविनीत । सन् ४००० -४२५ के करीब) के लेखों में पाया जाता है ।ै इसी मूल्संव कुन्दकुन्दान्वय का उल्लेख मूर्तिलेखों आदि में करना दर्तमान कालमें भी प्रचलित है ।

कुन्दकुन्दान्वय का स्वतंत्र उल्लेख आठवीं-नौयीं शती के शिलालेख में देखा गया है तथा मूलसंघ कोण्डकुन्दान्वय का एक साथ सर्वप्रथम प्रयोग लेख सं० १८० (लगभग १०४४ ई०) में इस प्रकार पाया गया है—''श्रीमूलसंघ, देशियगण, पुस्तक-गच्छ कोण्डकुन्दान्वय इङ्गुलेक्ष्वरद बलिय''''शुभचन्द्रदेवर''''।^२ अन्यान्य शिलालेखों के उल्लेख भी दृष्टय्य हैं।³

श्रवणवेलगोलमें कत्तिले बस्तीके द्वारेसे दक्षिणको ओरके पूर्वमुख पर धक संब १०२२ के लेख संब ५५ पर भी लिखा है कि----

श्रीमतोवर्द्धमानस्य वर्द्धमानस्य शासने ।

श्री कोण्डकुन्द-नामाभू न्मूलसंघाव्रणी गणी ॥ ३॥ *

अवणबेलगोल के महनवमी मण्डप में शक सं० १२३५ के लेख सं० ४१ में कहा है-----

> श्री मूलसंघ-देशीगण-पुस्तकगच्छ कोण्डकुर्न्दान्वये । गुरुकुलसिह कथमिति चेद्ववीमि संक्षेपतो भुवने ।।२।।

कुण्पुट्र (कल्नड़) के लेख सं० २०९ शक सं० ९९७ में भी कहा है"

अातक्यं-गुण-जलधिकुण्डकुन्दाचार्य्यर् ।

आ-कोण्डकुन्दान्वयदोऌु । श्री कुण्डकुन्दान्वयन्मूलसंघेॱॱ''।

विक्त्यगिरि पर्वंतपर सिद्धरवस्तीमें उत्तरकी ओर एक स्तम्भपर शक सं०

- १. जैन शिलालेख संग्रह २ की प्रस्तावना.
- २. जैन शिलालेस संग्रह भाग २. शि० सं० १८० पृ० २२०, यह लेस दोड्ड-कणगालुमें गौड़के खेतके दूसरे पाषाणपर उत्कीर्ण है।
- ३. जीन शि० संग्रह भाग ३. लेख सं० ३०७, ३१३, ३१४, ३३५, ३५२, ३५६, ३६४, ३७२, ३७७, ३८४, ३८९, ३९४, ४०२, ४११, ४३९, ४४९, ४६६-६, ४७८, ५१४, ५२१, ५२४, ५२६, ५३८, ५४७, ५५१, ५६१, ५७१, ५८०, ५८२, ५८४, ५८५, ५९०, ६००, ६२१, ६७३, ७०२, ७५५, ८३४, ८३६.
- ¥. वही भाग १ पूरु ११५-
- . औन चिलालेब सं० भाग २ पृ० २६९-

१३२० के विस्तृत लेख संख्या १०५ में अनेक आचार्योंके नामोल्लेख सहित यह उत्कीर्ण है----

> यः पुष्पदन्तेन च भूतबल्यास्येनापि शिष्प-द्वित्येन रेजे । फुलप्रदानाय जगज्जनानां प्राप्तोऽङ्कुराम्यामिवकल्पभूजः ।।२५।। अहंद्बलिस्सङ्घचतुर्विघं स श्रीकोण्डकुण्डान्वयमूलसङ्घं । कालस्वभावादिह जायमानद्वेषेतराल्पीकरणाय चक्रे ।।२६॥^१

इस तरह आचार्य कुन्दकुन्द और कुन्दकुन्दान्वयका उल्लेख अनेकों झिला-लेखोंमें है । उपयुंभत उल्लेखोंके अतिरिक्त महाराष्ट्र, मैसूर, बिहार, मध्यप्रदेश, राजस्थान, उत्तरप्रदेश, गुजरात, दिल्ली आदि स्थानोंके झिलालेखोंमें आ कुन्दकुन्दका और इनके अन्वयका उल्लेख है । इन झिलालेखोंको जैन शिलालेख संग्रह भाग ५ में देखा जा सकता है ।^२

कुन्दकुन्दाचार्यके नामोल्लेख तथा उनकी यशोगाथासे सम्बन्धित शिलालेख दृष्टव्य हैं---

यह श्रवणबेलगोलके चन्द्रगिरि पर्वंतपर पार्श्वनाय बस्तिमें एक स्तम्भलेख सं०५४, जो कि शक सं०१०५० का है, इसमें कहा है----

> वन्द्योविभुम्भुंवि न कैरिह कौण्डकुन्दः । कुन्द-प्रभा-प्रणपि-कोर्ति-विभूषिताशः । यश्चारु-चारण-कराम्बुअषठ्वरीकश्चक्रे-

श्रुतस्य भरते प्रयतः प्रतिष्ठाम् ॥५॥³

अर्थात् कुन्दपुष्पकी प्रभा धारण करनेवाली जिनकी कीर्ति द्वारा दिशायें विभूषित हुई हैं, जो चारणोके-चारण ऋदिधारी महामुनियोके सुन्दर करकमलों के भ्रमर ये और जिन पवित्रात्माने भरतक्षेत्रमें श्रुतकी प्रतिष्ठा की, वे विभू कुन्द्फुन्दाचार्य इस पृष्यीपर किसके द्वारा वन्दा नहीं हैं ?

विन्व्यगिरि पर्वतपर सिद्धरवस्तोमें दक्षिण ओरके एक स्तम्भपर शक सं० १३३५ के लेख सं० १०८ में कहा है---

> तदीयवंशाकरतः प्रसिद्धादभूददोषा यतिरत्नमाला । बभौ यदन्तर्भ्मणिबन्मूनीन्द्रस्य कुण्डकुन्दोदित षण्डदण्डः ।।१०।।

- १. वही भाग १. पू॰ १९९.
- २. बही भाग ५. पू० ३५, ३८, ५४, ५६, ५७, ५८, ६३, ७२, ७३, ७५, ८४, ९२, १०२, १०५, ११०, ११२, ११४.
- ३. बही भाग १. पूरु १०२.

बेराबल (सौराष्ट्र) में १२ वीं सदीके एक संस्कृत लेख सं० २८७में लिखा है¹—

> बभूबुः कुंदकुंदास्पा साक्षात्कृतजगत्त्रयाः ॥१३॥ येषामाकाधागामित्वं व्यातपंचकमुज्वलं ।

इस प्रकार शताधिक शिलालेखादिमें आचार्य कुन्दकुन्दकी यशोगांथा उल्लि-खित है। किन्तु मैंने यहां कुछ प्रमुख उदाहरण ही प्रस्तुत किये है। यद्यपि यहां सर्वप्रथम मर्कराके उस ताम्रपत्रवाले लेखका उल्लेख होना चाहिए था जो आधार्य कुन्दकुन्दके उल्लेखवाला सर्वप्राचीन लेख है किन्तु इसकी प्रामाणिकता विवाद-ग्रस्त² है। फिर भी कुछ अंग इस प्रकार हैं----

स्वस्ति जितं भगवता गतघनगगननाभेन पद्मनाभेन श्रीमद् जाह्यवीय कुलामलब्योमावभासनभास्करः विभूषणविभूषितकाण्वायन सगोत्रस्य विद्वस्यु प्रथमगण्य श्रीमान् कोङ्गणिमहाधिराज अविनीत नामघेय दत्तस्य देसिंग गण कोण्डक्रुन्दान्वय गुणचन्द्रभटारशिष्यस्य अभयणन्दि ??? ³

इस तरह आचार्य कुन्दकुन्द और उनके अन्वयको गौरवज्ञाली परम्परा दो हजार वर्बोंसे अवतक निरन्तर चल रही हैं । तथा कुन्दकुन्दास्वर्यके रूपमें जिसका उल्लेख आज भी सभी प्रतिष्ठित मूर्तियोंके मूर्तिलेखोंमें अनिवायंतः प्रचलित है । जिनके परिपेक्ष्यमें हम उनके महान् व्यक्तित्व और कर्तृत्वके साथही भारतीय मनीषाको उनके अनुपम योगदानको परखकर सकते हैं ।

आचार्य कून्दकून्दकी भाषा और साहित्य

अरचार्य कुन्दकुन्दकी कृतियोंमें तात्त्विक, आध्यात्मिक और आचार जैसे दुइह विषयोंके प्रतिपादनमें भी भावों और भाषाकी प्रौढ़ता तथा प्रसन्न, सरल एवं सम्मीर शैलीका जो स्वरूप दिखलाई पड़ता है वह अन्यत्र दुर्लभ है। इन्होंने भारतीय आर्यभाषाके प्राचीन स्वरूपको घ्यानमें रखकर तत्कालीन बोलचालकी

- जैन शिलालेख सं० भाग ४.
- २. देखिए जैन शि० सं० भाग २ की प्रस्तावना पू**० २ में डॉ॰ होरालालजी**ने इसे बनावटी कहा है।
- ३. मर्कराका यह संस्कृत कम्लड लेख शक सं० ३८८ (४६६ ई०) का है। अबिनीत कोकूणिका मर्करा पत्र (मर्कराके खजानेमेंसे प्राप्त ताम्रपत्र) लेख-में बेर राजाजोंकी वंशावली इस दागपत्र दो गई है। इसीमें देसिंग (देशीय) गण कोण्डकुन्द अन्द्रथके युधचन्द्र भटार (मट्टारक) के सिष्य अभयवंदि भटार आदिकी परस्पराका उल्लेख है।

भाषा (जनभाषा) के रूपमें प्रचलित शौरसेनी प्राकृत भाषाको माध्यम बनाकर विशाल साहित्यका सुजन किया। कुछ भाषा वैज्ञानिकोंने इनकी इतियोंकी इस भाषाको ''जैन शौरसेनी'' कहा है। आचार्य कुन्दकुन्दके उत्तरवर्त्ती अनेक आचार्योने भी इनकी परम्पराको आगे बढ़ाते हुए इसी भाषामें साहित्य सृजन किया।

इस सन्दर्भमें यशस्वी विद्वान् बलभद्र जैनका यह कथन सर्वथा उपयुक्त है कि 'हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि कुन्दकुन्द केवल सिद्धान्त और आध्यात्मके ही मर्मन्न विद्वान् नहीं थे, अपितु वे भाषाशास्त्रके भी अधिकारी और प्रवर्त्तक विद्वान् थे। उन्होंने अपनी प्रौढ़ रचनाओं ढारा प्राइतको नये आयाम दिये, उसका संस्कार किया, उसे संवारा और नया रूप दिया। इसोलिए वे जैन शौर-सेनोके आदा कवि और रचनाकार माने जाते हैं।⁹

प्राकृत भाषाओंके क्रमिक विकास एवं परिवर्तनोंके अध्ययनमें हमें कुन्दकुन्द के प्रत्योंसे बड़ी सहायता प्राप्त होती है, इससे हम उनके कालका निर्णय भी कर सकते हैं। प्राकृत भाषा-शास्त्रके विद्वान् प्राकृतभाषाके क्रमिक विकासका विष्ल्लेषण करते हुए इस निष्कर्षपर पहुँचे हैं कि 'त्' और 'ष्' में परिवर्तन होते-होते प्रथम तो वे 'द्' और 'ष्' हुए, फिर क्रमशः 'दू' का लोप हो गया और 'ष्' के स्थानमें 'ह्' का प्रयोग होने लगा। ऐतिहासिक दृष्टिसे भाषा-सास्त्रियोंने इस विकास-कालको ईसा पूर्व प्रथम शताब्दीका स्थिर किया है। कुन्दकुन्दकुत समय-सार²में हमें 'रथ' के स्थानपर 'रध' और 'रह' दोनों ही परिवर्तित रूपोंका प्रयोग मिलता है।³

श्रुतपरम्पराके संरक्षक और पाहुड साहित्यके अनुपम स्रष्टा

यद्यपि श्रुत-विच्छेदके बाद और कुन्दकुन्दसे पूर्व 'श्रुतरक्षा' के लिए प्रयत्व तो होते रहे, किन्तु भान्यताओंके आधारपर जो मतमेद उत्पन्न हो गये थे उनपर साधिकार लिखनेका प्रयत्न किसीने नहीं किया। यह कार्य बाचार्य कुन्दकुन्दने अपने ऊरर लिया। अतः 'युग प्रतिष्ठापक' होनेका श्रेय कुन्दकुन्दको प्राप्त होना स्वामाविक है। यही कारण है कि उस समय और बादकी परम्पराने आचार्य कुन्दकुन्दको वह स्थान दिया जो अस्पको प्राप्त नहीं हुआ। क्योंकि युग-

- २. समयसार : वही गामा ९८. पू० ७७.
- व. बहो पूर ६.

१. समवसार : मुन्नुहि : पू० १०. सं० पं० बलमद्र जैन.

प्रतिष्ठापक होनेके नाते कुन्दकुन्दकी महत्ता बढ़ती हो गई । और इसीलिए कुन्दकुन्दके मूलसंधका दूसरा नाम ही कुन्दकुन्दान्वय प्रसिद्ध हो गया ।

आचार्य कुन्दकुन्दके समय बौद्धधर्मका नैरात्मवाद, क्षणिकवाद और जून्यवाद राज्याश्रय पाकर जनमानसको उद्वेलित कर रहा था। इसके कारण जनमानसमें आत्मा और आत्माके कल्याणके लिए किये जानेवाले तपस्चरण और चारित्रपर अनास्था उत्पन्न होने लगी थी। इस अनास्थाको सांख्यमतके कूटस्थ नित्यवादने और हवा दी। कुल मिलाकर उस समय जनताको धार्मिक आस्थायें चंचल हो रही थीं और जनतामें दिश्वाहीनताकी भावना व्याप्त थी। ऐसे कालमें कुन्दकुन्दने जनताको सही धार्मिक मार्गदर्शन कराने और तीर्थछूरोंको वाणीके अनादि-निधन सत्यको प्रचारित करनेका दायित्व अपने ऊपर ले लिया और अपने तपःपूत व्यक्तित्व, अविरत साधना एवं गम्भीर आगमझानके ढारा सत्यधर्मकी पुनः स्थापना की। मुनिधर्मके अन्दर व्याप्त विक्वतियोंका परिमार्जन किया और अपने तपःपूत व्यक्तित्व, युगपुरुष और क्रान्तवृष्टाके रूपमें सर्वाधिक विख्यात हुए। मंगलपाठमें तीर्थकर महावीर और मौतम गणधरके बाद आचार्य कुन्दकुन्दके नाम-स्मरणका, उनके नामपर मूलसंघ कुन्दकुन्दान्वय प्रचलित होने एवं परवर्ती आचार्यों ढारा अपने आपको कुन्दकून्दान्वयी मानसेका यही रहस्य है।²

आचार्यं कुन्दकुन्द के सभी ग्रन्थ 'पाहुड' कहे जाते हैं। पाहुड अर्थात् प्रामृत जिसका अर्थ है 'मेंट' ! आचार्य जयसेन ने समयसार को तात्पर्यवृत्ति में कहा है³ कि जैसे देवदत्त नाम का कोई व्यक्ति राजा का दर्शन करने के लिए कोई ''सारभूत वस्तु'' राजा को देता है तो उसे प्राभृत या मेंट कहते हैं, उसी प्रकार परमात्मा के आराधक पुरुषके लिए निर्दोध 'परमात्मा रूपी राजा'का दर्शन कराके के लिए यह शास्त्र भी प्रामृत (मेंट) है।

कसायपाहुड पर चूर्णि सूत्रों के रचयिता आचार्य यतिवृधभ के अनुसार "जम्हा पदेहि पुर्द (फूड) तम्हा पाहुड" अर्थात् जो पदों से स्फुट हो उसे पाहुड कहते हैं । अवधवलाकार आचार्य वीरसेन के अनुसार—प्रक्वाण्टेन सीवंकरेण

- १. आचार्यं कुन्दकुन्द और उनका समयसार—पृ० २२.
- णियमसारो : प्रस्तावना पु॰ ४. सं॰ बलभद्र जैन, कुन्दकुन्द सारती दिल्ली, १९८७.
- ३. समयसार तात्पर्यं वृत्तिः गावा १.
- कसायपाहुब भाग−१ पृष्ठ ३८६.

- 78 --

आमृतं प्रस्थापितं इति प्राभृतम् । प्रकुष्टंराचार्येविद्यावित्तर्वाद्भराभूतं वारितं भ्यास्यात्त्यानीतमिति वा प्राभृतम् । जो प्रकृष्ट अर्थात् तीर्थंकर के द्वारा प्राभृत अथवा प्रस्यापित किया गया है वह प्राभृत है । अथवा जिनका विद्या ही धन है ऐसे प्रकृष्ट आचार्यों के द्वारा जो घारण अथवा व्यास्थान किया गया है अथवा परम्परा रूप से लाया गया है वह प्राभृत है ।

इस तरह तीर्थंकरोंके उपदेश रूप ढादशांग वाणीसे सम्बद्ध ज्ञानरूप ग्रन्थों को हम पाहुड कहते हैं । आचार्य कुन्दकुत्द मे अपने प्रायः सभी ग्रन्थों की रचना मूल ढादशांगके तरसंबंधो स्थलोंके बाधार पर की है । यद्या बारहवें अंग दृष्टि-वाद के अन्तर्गंत चौदह पूर्वोमें पंचम पूर्व ज्ञानप्रवादके बारह वस्तु अधिकारोंमें से दशम वस्तु अधिकार के 'समय पाहुड' के आधार पर समयसार ग्रन्थ की रचना को गई । इन्होंने अपने ग्रन्थोंको प्रामाणिकजाका आधार प्रायः सभी ग्रन्थोंके प्रारम्भिक मंगलाचरणोंमें कहा है² कि श्रुतकेवलियोंने जो कहा है मैं वही कहूँगा । अर्थात् श्रुतकेवलियों ढारा प्ररूपित तत्वज्ञानका मैं वक्ता मात्र हूँ, स्वयं कर्ता नहीं । अर्थात् समयपाहुड आदि वही ग्रन्थ है, जिनकी देशना भगवान् महावीरने और जिनकी प्ररूपणाः गौतम गणघर तथा श्रुतकेवलियोंने को थी वही आचार्य परम्परासे सुरक्षित रूपमें आचार्य कुन्दकुन्दको प्राप्त हुई ।

साक्षात् गणघर कथित या प्रत्येकडुद्ध कघित सूत्रग्रन्थों की केवल मौसिक परम्परा चली आ रही थी, सिद्धान्त ग्रन्थों के नाम पर गृहस्थोंको पढ़नेको अनुमति नहीं थी। श्रुत प्रायः इतना विच्छिन्न और विस्मृत-सा हो गया था कि सर्वसाधारण विद्वान्-साधुओंको उन विषयों पर लेखनी चलानेका साहस न होता था। किन्तु इस स्थितिको आचार्य कुन्दकुन्दने बडी कुधलताके साथ सम्हाला और साहित्य सृजन करके जनताको उद्बोधन करनेके लिए वे आगे बढ़े तथा अपने अनुभवकी बाजी लगाकर उन्होंने १. पंचत्यिकाय, २. समयपाहुड ३. पवयणसार, ४. णियमसार, ५. अट्ठपाहुड (दसणपाहुड, चारित्त-पाहुड, सुतपाहुड, बोधपाहुड, भावपाहुड, मोक्खपाहुड, सील्पाहुड तथा लिग-पाहुड, इ. वारस अणुवेक्खा और ७. भत्तिसंगहो--- (सिद्ध, सुद, चारित्त, जोड (योगी) आइरिय, णिव्वाण, पंचगुरु तथा तित्थयरभत्ति नामक भक्तिसंग्रह) जैसे महान् ग्रन्थोंकी रचना की। इनके अतिरिक्त रयणसारको भी कुछ विद्वान्

- १. वही भाग-१, पृष्ठ ३२५.
- २. (क) वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुदकेवली भणिदं---समयसार १.१.
 (स) वोच्छामि णियमसारं, केवलि-सुदकेवली भणिदं----नियमसार १.१.

इनकी क्वति मानते हैं। तमिल-वेदके रूपमें सुविख्यात ''तिरुक्कुरल'' (कुरल-काव्य) नामक नीतिग्रन्थ भी इनकी क्वति माना जाता है।

ऐसी मान्यसा है कि आचार्य कुन्दकुम्दने चौरासी 'पाहुड' ग्रन्थोंकी रचना की थी। उपलब्ध पाहुडोंके अतिरिक्त अब इन चौरासीमेंसे कुछ पाहुडोंके नामोंके उल्लेख भी मिलते हैं। प्राक्वत एवं जैन साहित्यके सुप्रसिद्ध मनीषि डॉ॰ ए॰ एन॰ उपाष्ये ने निम्नलिखित तैतालिस पाटुडों की सूची प्रस्तुत की है⁹—

१. आचार पाहुड, २. आलाप पाहुड, ३. अंग (सार) पाहुड, ४, आराहणा (सार) पाहुड, ५. वंध (सार) पाहुड, ६. बुद्धि या वीभि पाहुड, ७. चरण पाहुड, ८. चूलिया पाहुड, ९. चूणि पाहुड, १०. दिव्य पाहुड, ११. इल्य (सार) पाहुड, १२. दृष्टि पाहुड, १३. इयन्त पाहुड, १४. जोव पाहुड, १५. जोणि (सार) पाहुड, १६. कर्मविपाक पाहुड, १७. कर्म पाहुड, १८. क्रियासार पाहुड, १९. झपणासार या क्षपण पाहुड, १७. कर्म पाहुड, १८. क्रियासार पाहुड, १९. झपणासार या क्षपण पाहुड, २० लब्धि (सार) पाहुड, २१. लोय पाहुड, १९. झपणासार या क्षपण पाहुड, २० लब्ध (सार) पाहुड, २१. लोय पाहुड, २९. नय पाहुड, २३. नित्य पाहुड, २४. नोकम्म पाहुड, २५. पंचवर्ग पाहुड, २६. वयइढ पाहुड, २७. पय पाहुड, २४. नोकम्म पाहुड, २९. पंचवर्ग पाहुड, २९. सल्मी पाहुड, २७. पय पाहुड, २८. प्रकृति पाहुड, २९. प्रमाण पाहड, ३०. सल्मी पाहुड (?), ३१. संठाण पाहुड, ३२. समवाय पाहुड, ३३. षट्दर्शन पाहुड, ३७. तत्त्व (सार) पाहुड, ३८. तोय (तीय) पाहुड, ३६. ओषत पाहुड, ४०. उत्पाद पाहुड, ४१. विद्या पाहुड, ४२. वस्तु पाहुड, ४३. बिहिय या विह्य पाहुड।

'संयम प्रकाश' नामक ग्रन्थमें उपयुंक्त पाठ्ठडों के अतिरिक्त नामकम्म पाठ्ठड, योगसार पाठुड, निताय पाठुड, उद्योत पाठुड, शिखा पाठुड ोयन्त पाठुड नाम प्राप्त होते हैं। ^२

आचार्य कुन्दकुन्दकी उपलब्ध कृतियोंमेंसे पञ्चत्थिकाय, समयपाहुड और पवयणसारको नाटकत्रय या प्राभृतत्रय कहा जाता है।

समयसारमें ही जीव-अजीव तत्त्वोंका संसाररूपी रंगभूमिमें अपना-अपना पाठ (रोल) अदा करने वाला निरूपण किया गया है । अतः समयसारको नाटक कहा जा सकता है । परन्तु यह तीन ग्रन्थ मिलकर "प्राभूतत्रयी" कहलाते

- प्रवचनसार : अंग्रेजी भूमिका : पुष्ठ २५. संपा० डॉ० ए० एन० उपाध्ये, प्रकाशक---रायचंद ग्रन्थमाला, सन् १९३५.
- २. संयम प्रकाश : पृष्ठ ४५३, प्रका०---आचार्य सूर्यसागर दि० जैन ग्रन्थमाला: समिति जमपुर, वी० नि० सं० २४७४.

हैं। इसी कारण इन तीनों का इकट्ठा नाम 'नाटकत्रयी' पड़ गया। वैसे अमृतचन्द्राचार्य ही ने समयसारको नाटककी संज्ञा दी, क्योंकि इन्होंने जीव-अजोव आदि तत्त्वोंका निरूपण ऐमा किया है जैसे नाटकके सभी पात्र आते-आते हों और इस कारण अपनी टीकामें इस ग्रंथको नाटकका स्वरूप दिया है। कविवर बनारसीदासने तो इसीके आधार पर प्राचीन हिन्दीमें कवित्तबद्ध 'नाटक समयसार' नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की।

समयसारके माघ्यमसे आचार्य कुन्दकुन्दने आध्यात्मिक क्षेत्रमें आत्मतत्व और आध्यात्मिक रूपकी जिस ऊँचाईको छुआ है वह सम्पूर्ण विश्व साहित्यमें दुर्र्लभ है । इस दृष्टिसे यह अनुपम ग्रन्थरत्न है ।

यह कथन ठीक ही है कि समयसारमें पारमार्थिक दृष्टिसे ही सारी चर्चाकी गई है, अतएव अनधिकार साधारण जनको उसका कोई-कोई भाग सामाजिक और नैतिक व्यवस्थाको उलट-पलट कर देने वाला प्रतीत हो सकता है।¹

पं० बलभद्रजी ने भी ठोक ही लिखा है² कि आत्माके क्षुट स्वरूपका वर्णन करने वाले समयसारकी समता अन्य कोई ग्रन्थ नहीं कर सकता। इस दृष्टिसे इसे ग्रन्थराज, आत्म धर्मका प्रतिनिधि-ग्रन्थ और जैनधर्मका एकमात्र प्राण-ग्रन्थ कहा जाये तो अत्युक्ति नहीं होगी। इस ग्रन्थकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि आत्मधर्म जैसे गूढ़ विषयको इसमें अत्यन्त सरल और नुबोध रीतिसे प्रतिपादित किया गया है। दुक्ह विषयको सो दृष्टान्तों^व के माध्यमसे सहज बनाया मया है।

पंचास्तिकाय को "संग्रह" अर्थात् "पंचत्यिसंग्रहो" कहा गया है। इसमें सम्प्रकान के विषयभूत जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश---इन पाँच अस्ति-काय द्रव्योंका विवेचन है। समयसारमें सम्यग्द्रान के आधारभूत स्वद्रव्य-परद्रव्य का विदेषन है और पवयणसारमें सम्यग्द्र्यारित्र की व्याख्या है। इस तरह आचार्य कुन्दकुन्दने इन तीनों ही प्रन्थोंमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्द्रान और सम्यक्वारित्रका आवश्यक विस्तारके साथ सुसम्बद्ध विवेचन करके मुमुक्षुजनोंके लिए साक्षाल् मोजमार्ग प्रदर्शित किया। प्रवचनसार सुव्यस्थित रचना वाला एक दार्शनिक प्रन्यके साथ-साथ साधक श्रमणोंके आचार-विचार संबंधी उपयोगी शिक्षाओंका

- १. कुन्दकुन्दाचार्यके तीन रत्न : उपोद्घात पृष्ठ २२.
- २. समयसार : सं० पं० बल्लमद्र जैन, प्रकाशक कुन्दकुन्द भारती, १९७८.
- समयसारकी ७६ गायाओंमें ३७ दृष्टान्तों द्वारा विषयको समझाया मया है।

प्रतिपादक एक महान् ग्रन्थ भी है जिसमें दीक्षार्थी साघकके लिए उपयोगी तथा अत्थावश्यक उपदेव भरा हुआ है ।

णियमसार में भी इसी रत्नवयको मोक्ष-प्राप्तिका मार्ग प्रतिपादित किया गया है। बारस-अणुवेक्सामें अध्रुव, अनित्य आदि वैराग्यवर्धक बारह भावनाओंका वर्णन है। उपदेश-प्रधान आठ पाहुडोंमें जो उपदेश आ० कुन्दकुन्दने दिया है उसका प्रधान रूक्ष्य श्रमणोंको सच्चे आचारमें सुदृढ़ करना है।

आचार्य कुन्दकुन्दके द्वारा रचित ग्रन्थोंमें चाहे हम पंचत्थिसंग्रह पढ़ें, समयपाहुड या पवयणसार पढ़ें — उनके द्वारा वस्तुतत्वका जो प्रतिपादन किया गया है वह अपूर्व ही है।

अट्ठपाहुड, बारस अणुवेक्खा और भत्तिमंगहो — इनमें क्रमक्षः रत्नत्रय, वैराग्य और भक्ति आदि विषयोंका प्रतिपादन बेजोड़ है। समयपाहुड आदि ग्रन्थोंमें आ० कुन्दकुन्दने परसे भिन्न तथा स्वकीय गुण-पर्यायोंसे अभिन्न आत्मा का जो वर्णन किया है वह अन्यत्र दुर्लभ है। उन्होंने इन ग्रन्थोंमें आघ्यात्मिक सुख प्राप्तिकी घारा रूप जिस अपूर्व मन्दाकिनीको प्रवाहित किया है उसमें अवगाहन कर मुमुक्षु शाख्वत शान्तिकी प्राप्तिके योग्य बनते हैं। तभी तो कवि-वर वृन्दावनदासने कहा है—

जासके मुखारविन्दतें प्रकाश भासवृन्द स्याद्वाद जैन वैत इ.द कुन्दकुन्द से, तासके अभ्यासतें विकास भेद ज्ञान होत, मूढ सो लखी नहीं कुबुद्धि कुन्दकुन्द से । देत हैं अशोस शीस नाय इन्द चंद जाहि मोहि मार खंड मारतण्ड कुन्दकुन्द से, विशुद्धि बुद्धि वृद्धिदा, प्रसिद्ध ऋद्धि निद्धिदा, हुए, न हैं, न होंहिंगे मुनिंद-कुन्दकुन्द से ॥

इस तरह साहित्यके क्षेत्रमें आ० कुन्दकुन्दको अल्लैकिक विद्वता, झास्त्र-प्रथन-प्रतिभा एवं सिद्धान्त ग्रन्थोंके सारका आध्यात्मिक और द्रव्यानुयोगके रूपमें प्रस्तुत करनेका अपना अलग ही वैशिख्य है। महावीर और गौतम गणघरके बाद यह पहला ही अवसर था, जबकि ज्ञानाम्यासियोंको तत्त्वचिन्तन की एक व्यवस्थित दिधा मिलो। यही कारण है कि दिगम्बर जैन परम्परामें भगवान् महावीर और गौतम गणघरके बाद आचार्य कुन्दकुन्दका नाम युगप्रतिष्ठापकके रूपमें बड़ी श्रद्धा और भक्तिके साथ लिया जाता है, और युगों-पुगों तक वे इस रूपमें जीवित रहेंगे। आचार्य कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंके व्याख्याकार आचार्य अमृतचंद्र, आ० जयसेन, श्रुतसागरसूरि, कनडी वृत्तिकार अध्यात्मी बालचन्द्र, पं० बनारसीदास, पांडे राजमत्ल, पं० जयचन्द्रजी आदि तथा बीसवीं-शतीके अनेक मबीषियोंका हम उपकार कभी नहीं भूरू सकते जिन्होंने कुन्दकुन्दके साहित्यका गहन चिन्तन, अवगाहन एवं स्वानुभव करके हम लोगों तक सररू रूपमें पहुँचाया ताकि हम आत्म-कल्याणके द्वारा इस जीववको सफल∹वना सकेंा

प्रस्तुत ग्रन्थ

प्रस्तुत 'अट्ठ पाहुड' (अघ्ट पाहुड) में उपदेश प्रधान आघरणमूलक तया तत्व-चिन्तन युक्त आठ पाहुड ग्रन्थ निबद्ध हैं । इनमें आचार्य कुन्दकुन्दके 'आचार्यत्व'' अर्थात् विशाल श्रमणसंधके अनुशास्ता रूपके सर्वत्र दर्शन होते हैं । इस ग्रन्थका प्रकाशन कुछ संस्थाओं हुआ भी है किन्तु पट्प्राभूतपर श्रुतसागर सूरिकी संस्कृत टीका सहित प्रस्तुत संस्करणकी प्रथमावृत्ति जैनधर्म-दर्शन एवं साहित्यके विख्यात एवं उद्भट विद्वान, अनेक ग्रन्थोंके प्रणेता, सम्पादक एवं अनुवादक सागर (म० प्र०) निवासी डॉ॰ पं॰ पन्नालालजी साहित्याचार्यके अनुवाद सहित श्री शान्तिवीर दिगम्बर जैन संस्थान, श्री महावीरजी (राजस्थान) से वीर निर्वाण सं॰ २४९४, ई॰ सन १९६८ में प्रकाशित हुआ था । यह संस्करण दुर्लंभ हो जानेसे इसे अब इसी अनुवाद सहित अनेकान्त विद्वत् परिषद् सोनागिर से नये रूपमें प्रकाशित करके बहुत ही प्रशंसनीय कार्य किया गया है ।

सोलहवीं सदी के बहुआत विद्वान भट्टारक अतसागरसूरिको सम्भवतः छह पाहुड ही उपलब्ध रहे होंगे, तभी उन्होंने लिंग पाहुड और सील पाहुडको छोड़ दसण, चारिस, सुत्त, बोध, भाव और मोक्ख इन छह पाहुडोंपर विद्वत्तापूणं, विस्तृत टीका लिखी । "'पट्प्राभृतादि संग्रह'' के नामसे श्रुतसागरसूरिकी टीका सहित पं० पन्नालालजी सोनी द्वारा सम्पादित यह ग्रन्थ जैन साहित्यके महान् उद्वारक विद्वान् पं० नाथू रामजी प्रेमीके सद्प्रयत्नसे माणिकचंद्र ग्रन्थमाला, वस्वईसे सन् १९२० में प्रकाशित हुआ था । वादमें दो पाहुड और उपलब्ध होने पर अष्ट पाहुडका प्रकाशन हुआ । अष्ट पाहुडपर भाषा वचनिका (बूंदारी भाषा) में पं० जयचन्द्रजी छावडा द्वारा लिसित टोका भी काफी लोकप्रिय है ।

''अट्ठ पाहुड'' में कुल पौच सौ तीन गायायें हैं। इसमें ग्रन्थकारने आठ पाहुडोंके माध्यमसे जैनधर्म-दर्शनका हार्द रत्नत्रयधर्म, अमणाचार और सण्वे धामण्य आदि विषयोंका बड़ी ही स्पष्टतासे विवेचन करते हुए शिथिलाचारसे सतत् सावधान रहनेके लिए बारम्बार आगाह किया है ताकि विशुद्ध वीतराग

१. आमेर शास्त्र भण्डार अन्यसूची (पृष्ठ १५९) के उल्लेसानुसार यहाँ बट्पाहुड पर पं० मनोहर की भी संस्कृत टीका वाल्फ्री पाण्डुलिपि उपलब्ध है, जिसका लिपि सं० १७९० है। जैनधर्म द्वारा प्रतिपादित आत्मकल्याणके विशुद्ध मार्गपर जीव सदा अपसर रहें। इस दृष्टिसे यह प्रन्थ एक आदर्श जीवनको प्रकाशित करने वाली वह महान् अमर-इति है जो जीवोंको युमों-युगों तक आलोकित करती रहेगी । यहाँ अघ्ट पाहुडमें संग्रहीत प्रत्येक पाइडका संक्षिप्त विषय परिचय प्रस्तुत है—

१. दंसण पाहुड---छत्तीस गाथाओं द्वारा इस पाहुडमें सम्यग्दर्शनकी महत्ता-का विवेचन है। इसमें बतलाया है कि सम्यक्तरूपी रत्नसे भ्रष्ट मनुष्य मले ही अनेक प्रकारके शास्त्रोंको जानते हो तो भी जिनवचनोंकी श्रदासे रहित होनेके कारण वहीं के वहीं घूमते रहते हैं।^९ जिस तरह जड़ (मूल) के नष्ट हो जानेपर उस वृक्षके परिवार अर्थात् स्कन्ध, शाखा, पत्र, पूष्प, फलादिकी वृद्धि नहीं होती उसी प्रकार सम्यग्दर्शन रूप मूलके नष्ट होनेपर चारित्रकी वृद्धि नहीं होती उसी प्रकार सम्यग्दर्शन रूप मूलके नष्ट होनेपर चारित्रकी वृद्धि नहीं होती उसी प्रकार सम्यग्दर्शन रूप मूलके नष्ट होनेपर चारित्रकी वृद्धि नहीं होती । अतः जो मनुष्य जिनदर्शन (जिनमत) से भ्रष्ट है वे अड़ (सम्यग्दर्शन) से रहित होनेसे मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते ।^२ इसीलिए जो कार्य किया जा सकता है वह अवस्य करना चाहिए और जिसका करना शक्य नहीं है उसका श्रद्धान करना चाहिए । क्योंकि केवलजानी जिनेन्द्र भगवान्ने श्रद्धान करनेवाले पुरुषको सम्यग्दर्शन कहा है अर्थात् श्रद्धान् करने वाले पुरुषके सम्यक्त्व होता है ¹³

इस प्रकार इस सम्पूर्ण पाहुडकी प्रत्येक गाथा सम्यग्दर्शनको महिमाके विवेचन से ओतप्रोत है ।

२. चारिस पाहुड---इस पाहुड में पैतालीस गाथायें हैं, जिनमें मुख्य रूपसे सम्यक् चारित्रका स्वरूप और इसके भेद-प्रभेदोंका विवेचन किया गया है। इसमें श्रमण और श्रावक दोनोंके आचारका प्रतिपादन 'गागर में सागर' की तरह मिलता है। इस पाहुडमें कहा है कि जो ज्ञान-मार्ग अर्थात् सम्यम्ज्ञानके ढ़ारा सम्यक्त्व आचरणमें उत्साह रखता है, उसीकी भावना करता है, आत्माको घरीर और कर्मसे पृथक् समझता है, अर्हत आदि स्तुति और सुगुरु आदिकी सेवा करता है, साथ ही वह सम्यग्दर्शनमें श्रद्धा रखता है वह जिन-सम्यक्त्वको नहीं छोड़ता^४ इसीलिए जो ज्ञानी पुरुष चारित्रका पालन करता हुआ आत्माके सिवाय अन्म

- १. दंसण पाहुह गाया ४.
- २. वही गाया १०.
- ३. जंसक्कइ तं कीरइ जंचण सक्केइ तंच सट्हणं।
- केवलिजिणेहिं भणियं सट्हमाणस्त सम्मर्त्ता। वही, गाया २.
- ४. चारित्त पाहुड गांवा १३.

पदार्थको इच्छा नहीं करता वह शोध्र ही अनुपम सुखको प्राप्त करता है----यह निष्चय जानो ।°

~ 70 ~

यह पाहुड मुनियोंके आचार-विचारका संक्षेपमें प्रतिपादन करनेवाला महत्त्व-पूर्ण प्रामाणिक तथा प्राचीन दस्तावेज हैं। यहाँ सकारण स्त्री-प्रद्रज्या तकका निषेध किया गया है। इसी तरह मुनियोंको वस्त्रधारणका सर्वथा नियेध किया गया है। यहाँ यह भी बतलाया गया है कि जिनसूत्रोंमें तीन लिंग (बेध) प्रति-पादित है। इनमें प्रथम है सर्वश्वेष्ठ नग्न दिगम्बर साधुका, दूसरा उत्कृष्ट श्रावक-का और तृतीय है आर्यिकाओंका। इन तोनोंके अतिरिक्त ऐसा कोई वेध (लिंग) नहीं है जो मोक्षमार्गमें प्राद्य हो।

Y. बोध पाहुड----इसमें वासठ गाथायें हैं जिनमें आयतन, चैरयगृह, जिन-प्रतिमा, दर्शन, जिनबिम्ब, जिनमुद्रा, आत्मज्ञान, देव, तीथं, अर्हत्त और प्रवज्या---इन ग्यारह स्थानोंके माध्यमसे दिगम्बर धर्म और मुनिचर्याका स्वरूप बहुत ही उत्कृष्ट रूपमें प्रतिपादित किया गया है । ऐतिहासिक दृष्टिसे इस पाहुडकी अंतिम दो गाधार्थे अतिमहत्वकी हैं जिनमें आधार्य कुन्दकुन्दने अपने गमकगुरू भगवान् भूतकेवली भद्रबाहुका जयघोष किया है तथा अपनेको उनका शिष्य बतलाया है।

५. भाव पाहुड—एक सौ त्रेसठ गाथाओं वाले इस पाहुडमें ''भावधुद्धि'' की महिमाका उत्कृष्ट प्रतिपादन करते हुये भावको ही गुण और दोषका कारण

- २. सुसपाहुड गाया १.
- ३. सुसं हि जागमाणो भवस्स भवगासणं च सो कुणदि ।

सुत्तं जहा असुत्ता गासदि सुत्ते सहा णो वि ।। वही : गाथा ३.

१. चारित्र गाथा ४२.

• बतलाया गया है। यहाँ कर्म, भावलिंग, अपरिग्रह संबंधी अनेक विषयोंका गहन विवेघन है। सम्यग्दर्शन सहित ही व्रत धारणकी प्रेरणा दी गई है।

- 32 -

६. मोक्स पाहुड—इसमे १०६ गात्रायें है जिनमें बन्ध और मोक्का स्वरूप, बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा---आत्माके इन तीन मेदोंका निरूपण तथा मोक्कके कारण रूप परमात्याके घ्यानकी आवश्यकता और महत्ता बतलाई है।

भट्टारक श्रुतसागरसूरिने उपयु क्त छह पाठुडों पर ही संस्कृत भाषामें टीका लिखी है ।

७. लिंग पाहुड—वस्तुतः इस पाहुडका नाम ''समर्णारुंग पाहुड'' होना चाहिए। जैसाकि प्रन्थकारने प्रथम गाथामें सूचित भी किया है। इस पाहुडमें श्रमणके लिङ्ग (वेध) को लक्ष्य करके उसके निषिद्ध आचरणोंके प्रति सावधान किया गया है।

८. सौल पाहुड — शीलका महत्व प्रतिपादन करने वाले अष्ट पाहुडके इस अंतिम पाहुडमें चालीस गायायें हैं। इसमें कहा है कि शीलका झानके साथ कोई विरोध नहीं है किन्तु शीलके बिना विषयवासनासे झान नष्ट हो जाता है। शील विषयोंका शत्रु है और मोक्षका सोपान है। यहाँ जीवदया, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, इन्द्रियदमन, सम्यक् दर्शन-ज्ञान तथा तप आदिको शीलके अन्तगंत माना गया है।

उपयुं कत आठ पाहुडोंके अध्ययनसे यह बात स्पष्ट होती है कि इन आठोंका अपना-अपना स्वतंत्र और मौलिक ग्रन्थोंके रूपमें महत्त्व है । यद्यपि ''षट्पाहुड'' नामसे श्रुतसागरीय संस्कृत टोका सहित अनेक प्राचीन पाण्डुलिपियाँ प्राप्त होती हैं किन्तु कुछ पाडुलिपि एक-एक पाहुडकी भी उपलब्ध हैं।' वस्तुत: षट्प्रामृत या अट्ठ पाहुड कोई एक अलग ग्रंथ नहीं है अपितु पृथक्-पृथक् छोटे-बड़े छह या आठ पाहुड ग्रन्थोंको षट्प्रामृत या अट्ठ पाहुड नाम देकर एक साथ संग्रहीत कर दिया गया प्रतोत होता है । शोधकी दृष्टिसे इनमें इतनी महत्वपूर्ण सामग्री है कि प्रत्येक पर पृथक्-पृथक् शोध प्रबन्ध लिखे जा सकते हैं । विख्वविद्यालयोंके पाठ्य-क्रममें इनका निर्धारण करके भी इनके व्यापक अध्ययन एवं अनुसंधानके नये क्षेत्र उद्याटित किये जा सकते है ।

भट्टारक श्रुतसागरसूरि और उनको प्रस्तुत टीका

यह विदित ही है कि 'षट्प्राभृत' पर प्रस्तुत संस्कृत टीकाके लेखक १६वीं शतीके विद्वान भट्टारक श्रुतसागर सूरि हैं । ये मूलसंघ, सरस्वती गच्छ बलात्कार

१. प्राकृत विद्या अक्टूबर १९८८ पृ० ३३.

गणमें हुए हैं। इनके गुरुका नाम विद्यानन्दि था। विद्यानन्दि देवेन्द्रकीर्तिके और देवेन्द्रकीर्ति पद्यनन्दिके शिष्य और उत्तराधिकारी थे। विद्यानन्दिके बाद मल्लिभूषण और उनके बाद लक्ष्मीचन्द्र भट्टारक हुए। मल्लिभूषणको उन्होंने अपना गुरुभाई लिखा है। श्रुतसागरने लक्ष्मीचन्द्रको गुर्जर देशके सिंहासनका भट्टारक लिखा है। श्रुतसागरने लक्ष्मीचन्द्रको गुर्जर देशके सिंहासनका भट्टारक लिखा है। श्रुतसागरने अनेक शिष्य थे। श्रुतसागरने अपनेको देखवती, ब्रह्मचारी या वर्णी लिखा हँ तथा स्वयंको अनेक उपाधि विशेषणोंसे अलंकृत बतलाया है। यथा---नवनवतिमहावादिविजेता, तर्क-व्याकरण-छन्द-अलंकार-सिद्धान्त-साहित्यादि-झास्त्रनिपुण, प्राक्रुतव्याकरणादि अनेक शास्त्रचञ्च, उभयभाषाकविचक्रवर्ती, तार्किकशिरोमणि, परमागमप्रवीण, कलिकालसर्वंज्ञ आदि।²

श्रुतसागरसूरि वस्तुतः अपने 'श्रुतसागर' नामको सार्थंक करने वाले विद्वान् थे । इनकी टीकाओं में उद्धृत विभिन्न शास्त्रोंके उद्धरणोंको देखनेसे ही ज्ञात हो जाता है ये विविध भाषाओं और शास्त्रोंके ज्ञाता थे । इनका सम्पूर्ण जीवन जैन साहित्यके लिए समर्पित था । इनकी अवतक निम्नलिखित ३८ कृतियां उपलब्ध है ।

१. यशस्तिलक चन्द्रिका, २. तस्वार्थवृत्ति, ३. तत्त्वत्रयप्रकाशिका, ४. जिनसहस्रतनाम दीका, ५. महाभिषेक टीका, ६. पट्पाहुडटीका, ७. सिद्धभक्ति-टीका, ८. सिद्धचक्राध्टकटीका, ९. ज्येष्ठजिनवरकथा, १०. रविव्रतकथा, ११. सप्तपरमस्थानकथा, १२. मुकुटसप्तमीकथा, १३. अक्षयनिधिकथा, १४. षोडव-कारण कथा, १५. मेधमालाव्रत कथा, १६. चन्दनवष्ठीकथा, १७. लब्धिविधान-कथा, १८. पुरस्पर विधानकथा, १९. दशलाक्षणीव्रतकथा, २०. पृष्पाञ्जलिव्रत्तकथा २१. आकाछपंचमीव्रतकथा, २२. मुक्तावलीव्रतकथा, २३. निदुं:खसप्तमीव्रतकथा २४. सुगन्धदशमीकथा, २५. मुक्तावलीव्रतकथा, २३. निदुं:खसप्तमीव्रतकथा, २४. सुगन्धदशमीकथा, २५. आवणद्वादशीकया, २६. रत्तत्रययव्रकथा, २७. वहन्दवत्रकथा, २८. अशोकरोहिणीकथा, २९. तथोलक्षण पत्ति कथा, ३०. मेरू-पत्तिकथा, ३१. विमानपंत्तिकथा, ३२. पत्स्ल्विधानकथा, ३३. श्रीपारुचरित्, ३४. वशोबर चरित्, ३५. कार्यायॉभन्यामण्डि, ३६. श्रुतस्कन्धपूजा, ३७. पार्थन नाधस्तवन, ३८. शान्तिनाथस्तवन ।

इनमें ८ टीका ग्रन्थ, चौबीस कथॉग्रन्थ, रोष छह व्याकरण और काध्य ग्रन्थ है।³

१. धैन साहित्य और इतिहास, पू॰ ३७१ (पं॰ नाष्ट्राम प्रेमी)

२. हीर्यकर कहाबीर और उनकी आवार्य परसरा : भाग २. पू० ३९१.

ર, મફી વ+ રેડે જે

बस्तुतः किसी कविके अन्तमनको पूरी तरह समझना तथा उसकी भावप्राही व्याक्या करके दूसरोंको समझाना आसान नहीं होता । फिर भी यदि वह इसमें प्रवृत्ति करना है तो यह उसका गुरुतर दायित्व है कि मूल रचयिताके पूरे भावों और वाग्व्यवहारकी समीचीन व्याक्या करे तथा उसमें अन्तर्निहित भावों और गुर्णोको प्रकाशमें लाये।

यद्यपि प्रस्तुत ग्रन्थके टोकाकार श्रुतसागरसूरिकी विद्वत्ताका दर्शन इस टीकामें पदे-पदे होता है किन्तु कुछ मूल गाथाओंके अर्थमें विभिन्नता पाई जाती है। कुछ अपनी ओरसे भी ऐसी बातें जोड़ीं जिन्हें आगमानुकूल. भी नहीं कहा जा सकता । मूल गायागत भावोंके अतिरिक्त ऐसे अप्रासांगिक प्रसंग आवश्यक भी नहीं थे। परमत-खण्डन और स्वमत-पोषणकी शिष्ट परम्परा तो प्रायः सभी मतोंके शास्त्रोंमें उल्लिखित है। कुछ सीमा तक इस परम्पराका इसमें पालन भी किया गया है किन्तू कुछ प्रसंगों में इसका इस टीकामें अतिक्रमण भी देखने-को मिलता है, जिससे टीकाकारसे कुछ अंशों तक असहिष्णुता और कट्टरताके भाव झलकने लगते हैं। जबकि अनेकान्तवादी जैन परम्परामें ऐसी सम्भावना-का अवकाश ही नहीं हैं। इसीलिए जयपुरके शास्त्र भण्डारोंमें संग्रहीत श्रुत-सागरीय टीका सहित षट्प्राभूतकी पाण्डुलिपियोंमें 'या टीका झूठी है, गाया साँची है' तथा 'या टोका अप्रमाण झूठी है, कुमार्गी कियां है'---जैसी टिप्पणियों सहित प्रतिक्रियायें उद्घृत देखनेको मिलती हैं।ै सिद्धान्तकी दृष्टिसे इन टिव्यणियोंके मुलमें अन्तर्निहित भावनाको इस टीकांका गहन अध्येता अपने-आप समझ सकता है। किन्तु इतने मात्रसे इस टीकाको महत्तामें कमी नहीं आती, अपित प्राकृत भाषाकी मुल गाथाओं पर संस्कृतमें खण्डान्वय रूपमें लिसित प्राक्टत शब्दानुसारी इस टीका द्वारा मूलग्रन्थकारके भावों और शब्दोंको सरल और विस्तृत रूपमें समझनेमें बहुत सहायता मिलती है। जैन सिद्धान्तके पारि-भाषिक शब्दोंकी सरल परिभाषायें, उनकी निरुक्ति तथा व्युत्पत्ति मूलक व्यास्यायें किसी भी अध्येता के आकर्षणका कारण बन जाती है।

प्रस्तुत टोकाको यह भी अपनी विशेषता है ।कि इसमें श्रुतसागरसूरिने जैन साहित्यके चारों अनुयोगोंसे सम्बन्धित ग्रन्थों और आचार्योंके सैकड़ों दुर्लंभ उद्धरणों, प्रमाणों, क्लोकोंको विषयकी पुष्टि एवं उनके प्रतिपादन हेतु प्रसंगा-नुसार संकलित किया है, जो अन्यत्र दुर्लभ हैं । इसमें उनकी विशाल ज्ञान-गरिमा

१. 'प्राकृत विद्या' (उदयपुरसे प्रकाशिक त्रैमासिक कोघ पत्रिका) अस्ट्रवर १९८८ के अस्ट्रमें पृष्ठ ३००३५ पर डॉ.० सस्तूरप्रजन्द काश्यकीवाफके ''कुन्द-कृत्वके ग्रन्वोकी प्रमुख पाण्डुलिपियां'' नामक केससे प्रयुष्ट्रत. के दर्शन होते हैं। अपने प्रकृत अभिप्रायको पुष्ट करनेके लिए जिन अनेक ग्रंथोंके इस टीकामें उद्धरण दिये गये हैं उनमें प्राकृत, संस्कृत तथा अपभ्रंश भाषाके भी उद्धरण हैं। कुछ तो ऐसे हैं जिनके मूलग्रन्थ या सन्दर्भ भी आज उपलब्ध नहीं होते। समन्तभद्राचार्यकी रत्नकरण्डश्रावकाचारकी प्रभाचन्द्रीय संस्कृत टीकाका अनुसरण करते हुए इस टीकामें भी अनेक कथायें दी हैं जिससे सामान्य पाठक भी रुचिपूर्वक इसका अध्ययन कर लेता है। इस तरह अनेक दृष्टियोंसे प्रस्तुत टीका महत्त्वपूर्ण है।

श्रुतसागरसूरि द्वारा प्रस्तुत इस ग्रन्थके प्रत्येक पाहुडके और इनके अन्यान्य ग्रंथोंके जादि, मध्य और अन्तकी पुष्पिकाओं, प्रशस्तियों आदिमें आचार्यों आदिकी नामावलो तथा अन्यान्य सूचनायें भी अत्यधिक महत्त्वपूर्ण और प्रशंसनीय हैं, जिनके द्वारा जैन इतिहासकी विखरी कड़ियोंको जोड़नेका कार्य किया जा सकता है।

इस तरह बहुमुखी व्यक्तित्वके घनी श्रुतसागरसूरि ढारा रचित विविध और विशाल वाङ्मयसे स्पष्ट है कि वे प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं तथा धर्मशास्त्र, दर्शन, न्याय, व्याकरण, साहित्य आदि विषयोंके प्रतिभाशाली विद्वान् थे । इससे अपने लिए विभूषित विशेषणों और उपाधियोंकी चरितार्थता भी पूर्ण सिद्ध हो जाती है । उनके लिए प्रयुक्त ''कलिकाल-गौतम'' विशेषणसे यह प्रतीत होता है कि जिस प्रकार गौतम गणधरने श्रुतका बीजरूपमें प्रचार और प्रसार किया, उसी प्रकार परमागमप्रवीण, तार्किक शिरोमणि श्रुतसागरने अनेक बादियोंको पराजित करके जैनघर्मकी अपूर्व प्रभावना भी की ।

भाद्रपद क्षुक्ला पंचमी पयुर्षेण पर्व क्षुभारम्भ बीर निर्वाण संवत् २५१६

विषयानुक्रमणिका

दंसणपाहुड

	गाथा	पृष्ठ
मञ्जूलाचरण और प्रतिज्ञा वाक्य	2	र
धर्म दर्शन मूलक है	२	ş
दर्शन भ्रष्ट को निर्वाण नहीं है	Ę	9
सम्बत्त्व से भ्रब्ट जीव संसार में भ्रमण करते हैं	¥	٢
सम्यक्त से प्रषट जीवों को बोधि की प्राप्ति दुर्लभ ह	કૃ ષ્	\$
उत्कृष्ट ज्ञानी कौन होते हैं ?	Ę	t o
अर्ष्टों में अष्ट कौन है ?	٢	१२
दोषवादी चारित्र से पतित है	\$	t ३
चौरासी लाख गुणों का वर्णन	5	१५
शोल की दश विराधनाएँ	5	54
आलोचना के दश दोष	5	25-20
मूल दिनम्ट जीव सिद्ध नहीं ही सकते	20-25	१९ -२०
सम्यग्द्रघट जीवों की पाद बन्दना न करने का		
ङ्रुभूल	१ २	२२
सम्पग्दर्शन के सेदों का वर्णन	१२	マネーマい
सम्पर्क्ष से रहित जोवों की पाद वम्बना का कुफल	1 3	176
कौन से मुनियों को सम्यनत्व रहता है ?	₹¥	25
बाह्य और बम्यन्तर परिग्रह के भेद	ł¥ –	` ₹ ९—३०
सम्यनस्वतान् जीव हो श्रेय और अश्रेय को जानता है	24	25
निर्वान कोन आपत करता है ?		३२
जिन तवन रूप औषध की महिमा	t 9	22
बिनवर्म में तीन ही लिफ्न (बेव) हैं	t 6	ξ¥
सम्यम्बुष्टि का लक्षम	25	14
व्यवहार और निक्ष्य से सम्पग्दर्शन का रुक्षण	२०	Έų.
इंग्यनस्य ही मोक्ष की प्रथम सीड़ी है	२१	16
बढालवान वीय को सम्यक्त होता है	95	25
स्वना करने बोन्य कौन है ?	₹ ₹	¥7
······································		

1

٠

	गाया	पृष्ठ
नग्न मुद्रा से ईर्ष्या रखने वाला मिथ्यादृष्टि है	२४	¥? .
गौरव करने वाले सम्यक्तव से अष्ट हैं	२५	25
असंयमी की बन्दना नहीं करना चाहिये	२६	ሄዒ
गुणहीन वन्दना के योग्य नहीं है	२७	४६
कर्ण बन्दनीय पुरुषों के गुणों का दर्णन	२८-२९	X 9-XC
मोक्ष का कारण क्या है ?	३०	¥\$
सम्यग्दर्शनादित्रिक निर्वाण के साधन हैं	₹ १	40
चार आराधनाएँ मोक्ष का कारण हैं	३२	ે ૬
सम्मक्ख को महिमा	\$\$-\$X	ૡ ૨-ૡ૱
स्थावर प्रतिमा क्या है	રૂષ	48
जिनेन्द्र के १००८ लक्षण तथा अतिशयों आदि		
का बर्गन	. ३५	لولولول
निर्वाण को कौन प्राप्त होते हैं ?	३६	46
चारित पाहुड		
•	१-२	Ę٥
मङ्गलावरण और ग्रन्थ प्रतिज्ञा दर्शन, ज्ञान और चारित्र जोव के अविनाशी भाव हैं		६२
दर्शन, ज्ञान आर सारत जाव के जस्ता	· 8	Ę ₹
ज्ञान दर्शन, और चारित्र के लक्षण फारित्र के दो भेद ⊷ प म्पक्त्वाचरण और		
	ų	Ę¥
संयमाचरण सम्यक्ष्याचरण का वर्णन	E-S	६ ५–६९
सम्यक्तावरण का प्रणा जिन सम्यक्त्व के आराधक को पहिचान	20-28	90
जिन सम्यक्त को कौन छोड़ता है ? जिन सम्यक्त को कौन छोड़ता है ?	१२	७२
जिन सम्यक्त को कौन नहीं छोड़ता है ?	१३	१७३
ाजून सम्यक्त्व का फान गहा ठाउँमा ए अज्ञान तथा मिध्यात्व आदि को छोड़ने का उपदेश	t¥.	9¥
अज्ञान तथा लिप्साल जाव से प्रमुख के बि	84	'9 ¥
विश्वद ध्यान भव हाला ए बल्ब को कौन प्राप्त होते हैं।	25	હદ્
बत्ध का का मान प्राप्त एत एत. सुहिद्र सम्बन्धी दोधों को कौन छोड़ता है ?	20	56
भारत अन्यन्य पर्वा के करते हैं ? ये वीनों भाव किसके होते हैं ?	86	92
संस्वातगुणी और असंस्थातगुणी निजेरा के दृष्टान्त	85	.05
संग्रमाचरण का वर्णन, उसके दो भेद, सागार और	[
अस्तुन्तार अस्तुन्तार	२्०	6•

३४

Jain Education International

	गाथा	पुष्ठ
सागार संयमाचरण के ११ भेद	२ १	د؛
अणुव्रत, गुणवत और शिक्षाव्रत	22	
र्षांच अणुव्रत	२३	ሪኣ
तन गुणदत्त	२४	64
चार शिक्षावत	२५	65
अनगगार संयमाचरण का वर्णन	25-25	66-91
महाद्रत का निरुक्त अर्थ	\$0	९२
अहिंसा वत को पाँच भावनाएँ	38	९३
सत्य वत गाँच भावनाएँ	३२	·
अचौर्यवत की पाँच भावनाएँ	33	 ९५
ब्रह्मचर्य व्रत की पाँच भावनाएँ	ξ¥	૬
परिग्रह त्याग वत की पाँच भावनाएँ	३५	5 C.
पौच समितियों का वर्णन	14	50
आत्म ज्ञान स्वरूप है	10	,°
सम्यन्ज्ञानी का रुक्षण	16	** {00
दर्शन, ज्ञान, चारित्र की महिमा	38-XX	{o{-}{o}
सुस पाहुड		
सूत्र का अर्थ	\$	१०६
जो दो प्रकार के सूत्र को जानता है वह भव्य है	२	१०७
सूत्र का जाता संसार का नास करता है	3	106
सूत्र सहित मनुष्प नाश को प्राप्त नहीं होता यह		, -
सुई के दृष्टान्त से स्पष्ट है	¥	809
जिन सूत्र का ज्ञाता ही सम्यग्दुष्टि है	4	११०
जिन सूत्र व्यवहार और निष्ण्यस्प है	Ę	280
श्रुत की श्रदा से रहित मिथ्यादृष्टि है	19	***
सूत्रार्थ से अघट मनुष्य करोड़ों भव तक अमण	-	111
करता है	٤	११३
स्वच्छन्द विहार करने वाला मिष्यात्व को प्राप्त	•	***
होता है	\$	ŧŧ¥
निक्ष्येल मुनि का पाणिपात्र आहार लेना मोक्ष का	-	***
मानं हं होषु अनावं ई	{•	***

34

	गाथा	्रपृष्ठ
वन्दनीय कौन है ?	**	\$\$4
वन्दना किसे करना चाहिये	१२	***
इण्छाकार किसे करना चाहिये ?	१३	\$\$0
श्रावक धर्म का फल	१ ४	₹ ₹७
आत्मश्रदान से रहित जीव संसारी ही है	१५	816
आत्मच्यान की प्रेरणा	25	188
मुनि को पाणिपात्र ही आहार लेना चाहिये	5 ک	् १२०
तिल तुषमात्र परिग्रह का घारी मुनि निगोद का		
पात्र होता है	16	१२१
परिग्रहवान् मुनि गईणीय है	१९	१२४
पाँच महावत हो निग्नंग्व मोक्ष मार्ग हैं और वही		
वन्दनीय हैं	२०	१२५
दूसरा लिङ्ग उत्कृष्ट श्रावकों का है	२१	१ २६
स्त्रियों का उत्कृष्ट लिङ्ग-आर्यिका का पद	२२	१२८
वस्त्रधारी जीव सिद्धि को प्राप्त नहीं होता है	२३	१२९
स्त्री को दीक्षा क्यों नहीं दी जाती ?	28-50	\$ \$0-\$\$¥
बोघ पाहुड		
मङ्गलाचरण और प्रसिज्ञा वान्य	१२	2 1 35
आयतन आदि ग्यारह अधिकारों के नाम	3-8	ś Ro
आयतन का रूक्षण	لر_ن	१४३ -१४६
चैत्यगृह का स्वरूप	ረ-ዓ	226-240
जिन प्रतिमा का वर्णम	t •	१५३
जज्जम प्रतिमा का वर्णन	25	१५८
सिद्ध प्रतिमा का वर्णम	१२-१ ३	<u> १५९-१</u> ६१
दर्शनाधिकार का वर्णन	28-84	<i>१६२-१६३</i>
जिन बिम्बाधिकार	१६ -१८	१६४ -१६७
जिन मुद्राधिकार	. 85	182
ज्ञानाधिकार	२०-२३	509-003
देवाधिकार	२४	tax.
भगाधिकार	24	१७५
रीमामिकार रीमामिकार	2 t- 5A	201-0 05
AND 114 1 11 1 11 11 11 11 11 11 11 11 11 1		

.

	गाया	ृष्ठ
अईतस्दरूपाधिकार नामादि निक्षेपों की अपेका		
अहंन्स का वर्णन	२८-३०	१८ ३-१८ ६
गुणस्थानादिकी अपेक्षा अर्हन्त के वर्णन की		
प्रतिज्ञा	28	122
गुणस्थान की अपेक्षा अईन्त का वर्णन	३२	१८९
चौतीस अतिशय तथा प्रतिहायों का वर्णन मार्गण	गा	
की अपेक्षा अर्हन्त का वर्णन	2 F	१९३
पर्याप्ति की अपेक्षा अहेन्त का वर्णन	₹¥	१९५
प्राणों की अपेक्षा अहंन्त का दर्णन	રૂપ	१९७
जीव स्थानों की अपेक्षा अरहन्त का वर्णन	36	१९८
द्रव्य की अपेक्षा अरहन्त का वर्णन	₹७−₹९	198505
भाव निक्षेप की अपेक्षा बहुन्त का वर्णन	X0-X5	२०२२०३
प्रव्रज्या का वर्णन	४२-५९	२०४–२३३
बोध प्राभृत की चूलिका	₹ 0-€₹	२४१- २४३
् भाव पाहुड		
मङ्गलाचरण और प्रतिज्ञा वाक्य	٤	२४५
भावलिङ्ग की प्रमुखता	२	२४६
आम्यन्तर परिग्रह से युक्त मनुष्य का बाह्य त्या	ग	
निष्फल है	2	२४१
भाव रहित को सिद्धि नहीं होती	¥	588
भाव के अशुद्ध रहते हुए बाह्य का त्याग क्या व	कर	
सकता है ?	٩	२५०
भाव लिङ्ग प्रथम लिङ्ग है	Ę	રષ
भाव रहित जोव ने अनेक बार निर्ग्रन्य मुद्रा घ	ारण	
की है	6	२५१
भाव के बिना जीव ने नरक गति के भीषण दुः	स	
सहे हैं	6-11	२५२-२५१
गुरू भावना से रहित जीव सुरलोक में भी डुःब	r	
-	१२-१६	4 40-251
प्राप्त करता है भारत के तरस सहज करते	11 11	4 • - • • •
भाव के बिना मनुष्यगति के दुःख सहन करने	<u> </u> 20	758-256
पड़ते हैं	14 /4	114 11

Jain Education International

	गाथा	ं पृष्ठ	
भाव के बिना त्रिभुवन में भ्रमण किया है तथा		-	•
क्षुघा तृषा आदि के दुःख सहन किये हैं और			
सुंद्रभव धारण किये हैं	२१ -३०	250-508	
रत्नत्रय का लक्षण	३१	રહ્ષ	
भाव के बिना प्राप्त होने वाले कमरणों का निरूपण	३२	२७६	
द्रव्य लिङ्गी मुनि सर्वत्र भ्रमण करता है	२ २	२८४ ं	•
भाव रहित जोव अनन्त काल से जन्म मरण आदि			
के दुःख भोग रहा है	38	૨૮ %	
भाव के बिना जीव ने अनन्त पुद्गल ग्रहण किये	₹ 4	260	
भाव के बिना समस्त लोक में यह जीव अमा है	३६	268	
भाव के बिना अनेक रोग, गर्भवास के दुःख तथा			
बाल्य आदि अवस्थाओं के दुःस भोगे हैं	३७-४२	२९० -२९५	ļ
भाव से मुक्त जीव ही मुक्त महलाता है	8 3	38 6	
मान कथाय से बाहुबली कलुपित रहे	88 -	280	
मधुपिङ्ग मुनि को कथा	४५	२९८–३२५	
वसिष्ठ मुनि की कथा	¥Ę	325-3XX	
भाव के बिना यह जीव चौरासी लाख योनियों में			
भटका है	80.	384	
मात्र द्रव्य लिङ्ग क्या कर सकता है ?	*2	38 5	
बाहुमुनि की कथा	ሄኛ	₹ ¥७−₹४८	
द्वीपायन मुनि की कथा	40	३ ४९- ३५२	
भावलिङ्गी सिवकुमार की कथा	48	えんえーえのよ	
(सदन्तगंत जम्बूस्वामी की कथा) भव्य सेन मुनि			
की कथा	42	30X-300	
धिवमूति मुनि को कथा	43	205-205	
भाव से ही नग्न होता है	ዛሄ	३७९	
भाव रहित नग्नत्व अकार्यकारी है	ૡૡ	360	
भावलिङ्गी कौन होता है ?	બ દ્	३८२	
भावलिङ्गी को भावना	ષ્હ-૧૬	३८३-३८५	
भावपूर्वक विद्युद्ध आत्मध्यान की प्रेरणा	٤ 0	124	
शद्ध जीव स्वभाव की भावना करने वाला शीघ्र			
ही निर्वांग को प्राप्त होता है	5 8	३८७	

	गाथा	पुष्ठ
शुद्ध जीव स्वभाव को जानने की प्रेरणा	६२	३८७
जोव का सन्द्राव मानने वाले ही सिद्ध होते हैं	६३	३९०
आत्माका रूक्षण	Ę¥	388
पाँच प्रकार के ज्ञान को भावना करने का उपदेश	દ્ધ	३९२
भावरहित श्रुत किस काम का है ?	£ Ę	३९३
द्रव्य से सभी नग्न हैं	६७	३९४
भाव रहित नग्नस्व दुःख का कारण है	६८	३९५
मात्र नग्नुल से क्या होने वाला है ?	६९	३९६
अम्यन्तर दोषों का त्यांग कर यथार्थ जिनलिङ्ग क	ने	
प्रकट करने की प्रेरणा	190	368
सदोष मुनि नट श्रमण है	७१	808
द्रव्यलिङ्गी मुनि बोधि को प्राप्त नहीं होता	હર	४०२
भावलिज्ज-पूर्वक द्रव्यलिज्ज्ञी प्रकट होता है	şei	X 0X
भाव रहित मुनि तिर्यंग्गति के दुःख का पात्र होता	है ७४	४०५
बोघि को दुर्छंभता	64	809
बोधि को कौन प्राप्त होता है ?	७६	४०८
तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध कौन करता है ?	৩৩	808
बारह प्रकार के तप का वर्णन	50	883
कोन सा जिनलिङ्ग निर्मल होता है ?	50	850
उदाहरण पूर्वक जिनधर्म की श्रेष्ठता	60	ጸያጸ
पण्य और घर्म की परिभाषाएँ	52	834
पुण्य, भोग का निभित्त है, कर्म क्षय का नहीं	८२	258
आत्मा ही धर्म है	23	83S
आत्मा को भावना के बिना पुष्य सिद्धि कारण		
नहीं है	68-64	880-886
शालिमत्स्य की कथा	ሪዩ	8 83
भावरहित जीवों का बाह्य त्याग निरर्थक है	८७–८९	888- 885
श्रतज्ञान की भावना की प्रेरणा	९०९१	***-***
परीषह और उपसर्ग सहन करने की प्रेरणा	९२-९३	૪५१૪५२
अनुप्रेक्षाओं तथा भावनाओं की भावना करो	٢۶	४५३
नौ पदार्थ तथा सात तस्व आदि की मावना तथा		

	गुषा	ঀৃষ্ঠ
नौ प्रकार का ब्रह्मद्वत घारण करने का उपदेश	1	Xés
भाव सहित मुनि ही चार जाराषना को प्राप्त		
करता है	९७	% \$ x
भाव अमण ही कल्याण को प्राप्त करते हैं	९८	¥€4
आहार के ४६ दोधों का वर्णन	58	¥ĘĘ
संचित्त भक्त पान तीव्र दुःख का कारण है	100-101	800-805
पांच प्रकार की विनय का उपदेश	१०२	R.06
जिनभक्ति और वैयावृत्य का उपदेश	\$ a \$	850
आलोचना का वर्णन	\$ ox	¥61
क्षमा का वर्णन	१०५-१०७	855-858
दीक्षा काल के भाव का स्मरण करने		
का वर्णन	106	864
भाव रहित जीवों का बाह्यलिङ्ग		
अकार्यकारी है	8.0 9	280
अहारादिसंज्ञाओं की आसक्ति का फल	260	866
भावशुद्धि पूर्वक उत्तरगुणों का पालन कर	***	४९१
तस्व की भावना करने का उपदेश	182-863	865-883
परिणाम ही बन्ध और मोक्ष का कारण हैं	66X-660	894-400
शील के अठारह हजार भेदों का तथा		
चौरासी लास उत्तरगुणों का वर्णन	286	400
धर्म्य और शुक्लध्यान का वर्णन	११९	408
भाव श्रमण ही व्यानकुठार के द्वारा संसार		
रूपी वृक्ष को छेदते हैं	१२०	402
रागरूपी वायु से रहित होकर घ्यान रूपी		
दीपक जल्ला है	१२१	483
प्रज्जपरम गुरुवों के ध्यान की प्रेरणा	१२२	५१३
झान सलिल की महिमा	१२३	484
भावश्रमणों का भावाकुर नष्ट हो जाता है	१२४	ૡ ૄૡ્
भावश्रमण बनने की प्रेरणा	१२५-१२६	ૡૄ ૭-ૡૄ૿ૡ
भावश्रमण धन्य है	१२७	५२१
भावमुनि ऋदियों में मोहित नहीं होते	822-828	422-423
बात्म हित करने की प्रेरणा	820636	ષ્૨३-પ૨૫

	गाथा	पृष्ठ
भोग सुख के कारण जीव ने अनन्त भवसागर		
में भ्रमण किया है	१३२	५२६
प्राणिवध के कारण जीव चौरासी लाख		
योनियों में घूमा है	१३३	५२७
अभयदान की प्रेरणा	१३४	५२८
३६३ मिथ्यामतों का वर्णन	१३५	५२९
भिष्यादृष्टि जीव अपने स्वभाव को नहीं		
स्रोडता	१३६	لرغه
अभव्य जीव को जिनधर्म नहीं रुचता	१३७	५३१
कुस्सित घर्म के सेवन का फल	१३८-१३९	५३२-५३३
ु तीन सौ तिरेसठ पाखण्डी मत छोडने का		
उपदेश	880	५३३
सम्यन्दर्शन से रहित जीव चलवश है	888	438
सम्यग्दृष्टि की प्रशंसा	885-883	434-438
जनलिङ्ग को प्रशंसा	१४४	५३७
सम्पन्दर्शन धारण करने का उपदेश	१४५	436
जीव का स्वरूप	१४६	५३९
भव्य जीव ज्ञानावरणादि कमों का नाश		
करता है	880	480
घातिया कर्मों के नष्ट होने पर प्रकट		
होने वाले गुण	१४८	५४१
सम्यग्दर्शन से जीव परमात्मा बनता है	१४९-१५०	488-484
जिनवर की चरण वन्दना का फल	१५१	५४७
संत्पुरुष कषायरूपी विष से लिप्त नहीं होता	१५२	486
सत्युरुष का उक्षण	१५३	488
घोर वोर पुरुषों का रुक्षण	848	બ ષ્ય્
विषय रूपी सागर के पार करने वाले		
भगवान धन्य हैं	844	442
ज्ञानरूपी शस्त्र के द्वारा माया रूपी बेल का नाव	। १५६	५५३
चारित्ररूपी खड्ग के द्वारा पाप रूपी स्तम्भ		
नाश होता है	१५७	443
• • •		

- 88 -

	गाथा	पृष्ठ	
मुनि रूपी चन्द्रमाका वर्णन	१५८	448	
विशुद्ध भावों का फल	१५९१६३	ૡૡૡ _ૡૡ૮	

मोक्ष पाहुड

मङ्गलाचरण और प्रतिज्ञा वाक्य	ڊ—>	५६०-५६१
आत्मतत्त्व की महिमा और उसके तीन भेद	3-X	ૡૡ૱ ૡૡ૱
बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा		
के लक्षण	· ų,	448
सिद्धों का दर्णन	६	لاقولو
परमात्मा के घ्यान का क्रम	19	५६९
बहिरात्मा का वर्णन	6-88	५७०-५७४
देह से निरपेक्ष पुरुष ही निर्वाण को पाता है	१२	498
बन्ध और मोक्ष विषयक जिनोपदेश	१३	400
स्वद्रव्य में रत जीव सम्यय्दृष्टि है	28	4 19 8
परद्रव्य में रत जीव मिथ्यादृष्टि है	१५	468
परद्रव्य और स्वद्रव्य की रति का फल	१६	400
परद्रव्य का रुक्षण	৾१७	408
स्वद्रव्य का लक्षण	28	468
स्वद्रव्य के ध्यान का फल	१९–२३	૧૮૨–૧૮૧
कालादि लब्धि से आत्मा ही परमात्मा होता है	२४	५८६
व्रत और तप से स्वर्गकी प्राप्ति होना अच्छा है	२५	420
शुद्ध आत्मा से ध्यान की प्रेरणा	२६	469
आत्मा का ध्यान किसके होता है ?	२७२८	469-497
निर्जल्प व्यानी का विचार	२९	५९३
घ्यानस्य मुनि कर्म क्षय करता है	30	488
व्यवहार में सोनेवाला स्वकार्य में जामता है	३१⊶३२	لوجلو
ध्यान और अघ्ययन का उपदेश	33	५९६
आराधक का लक्षण और आराधना का फल	રૂ&–ક્રંભ	495-499
रत्नत्रय का लक्षण	३७–३८	६००
दर्शन शुद्ध मनुष्य ही निर्वाण को पाता है	39	६०१
सम्यक्त का लक्षण	४०	६०२
सम्पद्धान का लक्षण	*{	६०३

	गार्थी	पृष्ठ
सम्यक्चारित्र का लक्षण	४२	Ęo ₹
रत्नत्रय युक्त तप का फल	83	६०४
कैसा योगो परमात्मा का ध्यान करता है	88	६०५
कैसा जीव उत्तम सुस को प्राप्त करता है	૪ષ	६०६
विषय कषाय से युक्त जीव सिद्धि सुख को प्राप्त नहीं होता	४६	६०७
रुद्र की कथा	४६	६०७–६२०
जिन मुद्रा सिद्धि सुख का कारण है	४७	६२०
परमात्मा के घ्यान का फल	8८-8९	६२१-६२२
चारित्र ही आत्मा का धर्म है	لاه	६२२
जीव स्वभाव से रागाहि रहित है	५१	६२४
कैसा योगी ध्यानरत होता है ?	५२	६२५
ज्ञानी जीव कमों का अल्प काल में क्षय करता है	५३	६२६
अज्ञानी और ज्ञानी का लक्षण	५४-५८	६२७-६३२
तप रहित ज्ञान और ज्ञान रहित तप व्यर्थ है	५९	६३४
तीयकर भी तप से ही सिद्धि को प्राप्त करते हैं	६०	દ્રપ
मात्र बाह्य लिङ्ग का धारक मुनि मोक्षमार्ग का नाश करने वाला है	६१	६३७
सुखिया स्वभाव के छोड़ने का उपदेश	६२६३	६३८६३९
ु कैसा आत्मा का ध्यान करना चाहिये	६४	६४०
आत्मा का जानना सरल नहीं	ંદ્ધ	६४१
विषयों से विरक्त मनुष्य ही आत्मा को आनता है	६६	६४२
विषय मूढ जीव चतुर्गति संसार में घुमते हैं	६७	६४२
विषयों में बिरक्त जीव संसार से मुक्त होते हैं	६८	६४४
पर द्रव्य में परमाणु प्रमाण राग करने वाला अज्ञानी है	ĘQ	૬૪५
भगाना ह नियम से निर्वाण किन्हें प्राप्त होता है ?	۲ × ن ن	૬૪ૡ
पर द्रव्य का राग संसार का कारण है	७१	६४६
समभाव से ही चारित्र होता है	હર	ই %७
यह पंचम काल ध्यान के योग्य नहीं है इस	-હ 4- 99	६०८-६ ५२
जिनलिङ्ग धारण कर पाप करते वाले मोक्ष- मार्गी नहीं हैं	७८-७९	£43-£48

- 83 -

.

.

www.jainelibrary.org

	गाथा	पृष्ठ
मोक्षमार्गी कौन है इसका वर्णन	20-26	६५५–६६२
धन्य तथा इतकृत्य कौन हैं ?	८९	६६२
सम्यनत्व का स्वरूप	९०-९१	& &}-&&&
मिथ्यादृष्टि कौन है ? तथा मिथ्यात्व का फल	९२-९७	550-508
बाह्य कर्म करने वाले साधु सिद्धि सुख		
नहीं पाते	९८-१००	ଽ ७२– ६ ७६
सच्चा साथू कैसा होता है ?	808-805	६७२-६७६
आत्म तत्त्व क्या है ?	१०३	६७७
पंचपरमेष्ठी रूप आत्मा ही शरण है	808-805	६७८–६८०
लिक्न पाहु	r	
•	٤	
मङ्गलाचरण और प्रतिज्ञा वाक्य — २ २ २	•	
धर्म से लिङ्ग होता है, लिङ्ग मात्र से धर्म - २:	२	523
नहीं दोता िन्न जन्म न्य निम भाव की तेंगी करते	·	•
लिङ्ग घारण कर लिंग भाव की हैंसी करने 	\$	523
का फल श्रमणाभासों का वर्णन	४-२२	FC8-F97
त्रमणानाता मा पगग शोल पाहर		
मंगलाचरण और प्रतिज्ञा बाक्य	१	६९३
भाल और ज्ञान का विरोध नहीं है	२	६९३
ज्ञान की प्राप्ति कठिनाई से होती है	ર	६९३
विषयासक्त जीव ज्ञान को नहीं जानता	x	६९४
चारित्र होन ज्ञान, दर्शन रहित लिङ्ग और स	ांयम	
रहित तप की निर्धंकता	ષ્	६९४
चारित्र से शुद्ध ज्ञान आदि की महिमा	Ę	६ ९५
विषयी जीव चतुर्गति में अमण करते हैं	وا	ह९५
विषय से विरक्त ज्ञानी जीव चतुर्गति अमण		
को छेदते हैं	٢	६९६
ज्ञान रूपी जल से जीव शुद्ध होता है	९	E 94
ज्ञान से गॉबत जीव विषयों में रक्त होते हैं इ	समें	
ज्ञान का अपराध नहीं है	80	६९६
निर्वाण की प्राप्ति किनको होती है	११- १२	ह९७

· XX -

Jain Education International

, . ·

	गाया	पृष्ठ
इष्टदर्शी मनुष्यों को मार्ग प्राप्त है परन्तु		
जन्मागंदर्शी मनुष्यों का ज्ञान निरयंक है	१३	६९८
आराधक कौन नहीं है ?	58	585
शील की महिमा	१५-१८	६९९-७००
शील का परिवार क्या है ?	१९	(300
शील क्या-क्या है ?	२०	७०१
विषय रूपी विष की दारुणता	२१–२२	908
विषयासक्त जीवों को प्राप्त होने वाले दुःख	२३	७०२
तप और शील से युक्त मनुष्य विषय को विष		
के समान छोड़ देते हैं	R¥	७०२
सब अंगों में शील ही उत्तम अंग है	२५	500
विषयों के लोभी मनुष्य बरहर की घड़ी के समान	•	
संसार में अमर्ण करते हैं	२६	500
कर्म की गाँठ को कौन छेदते हैं !	२७	800
शील युक्त मनुष्य ही उत्कृष्ट निर्वाण को प्राप्त		
होता है	२८	800
शील के बिना मोक्ष नहीं होता	२९–३१	904-908
विषयों से विरक्त मनुष्य ही नरक की भारी		_
वेदना को नष्ट करता है	३२	ية مور
अतीन्द्रिय मोक्ष पद शील से प्राप्त होता है	33	<i>ې</i> دون
सम्यनत्व, ज्ञान, दर्शन, तप और वीर्य पञ्चाचार		
पुरातन कर्मों को अग्नि के समान भस्म करते हैं	38	909
विषयों से विरक्त मनुष्य ही सिद्धि को प्राप्त	રૂષ	300
होते हैं -रिजनान जीन है 2	३६	300
शीलवान कौन है ? 	319	300
जिनशासन में बोधि को कौन प्राप्त होते हैं ? शीलरूपी सलिल में स्नान करने वाले जीव सिदि		
	* 36	300
सुख को प्राप्त होते हैं	रप ३९	900
आराधनाओं को प्रकट कौन करते हैं ?	40 (, ,	909

.

www.jainelibrary.org





नमः सिद्धेभ्यः

श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्य-विरचितम्

षट्प्राभृतम्

श्री-भुतसागर-सूरि-विरचितया टीकया सहितम्

दृग्वृत्तसूत्रबोधाख्यं भावमोक्षसमाह्वयम् । षट्प्राभृतमिति प्राहुः कुन्दकुन्दगुरूदितम् ॥ १ ॥

अथ ैश्रीविद्यानन्दिभट्टारकपट्टाभरणभूतश्रीमल्लिभूषणभट्टारकाणामदिशाद-व्येषणावशाद् बहुशः प्रार्थनावशात् कलिकालसर्वज्ञविरुदावलीविराजमानाः श्री-सद्धर्मोपदेशकुक्षला निजात्मस्वरूपप्राप्ति पञ्चपरमेष्ठिचरणान् प्रार्थयन्तः सर्वजग-दुपकारिण उत्तमक्षमाप्रधानतपोरत्नसंभूषितहृदयस्थला भव्यजनजनकतुल्पाः श्री-

दर्शनशाभृत, चारित्रशाभृत, सूत्रप्राभृत, बोधप्राभृत, भावप्राभृत और मोक्षप्राभृत इस प्रकार कुन्दकुन्द स्वामीके द्वारा कथित षट्प्राभृत कहे जाते हैं ।।

[तिज्ञेष---श्री कुन्दकुन्द स्वामीके द्वारा रचित लिङ्गप्राभृत और शोलप्राभृत ये दो प्राभृत और हैं जिनकी भाषा टोका षट्प्राभृत के अनन्तर इसी ग्रन्थ में आगे दो जावेगी । जान पड़ता है कि संस्कृत टीकाकार श्री श्रुतसागर सूरिको टीका करते समय वे उपलब्ध नहीं होंगे, इसलिये उन्होंने षट्प्राभृतके नामसे दर्शनप्राभृत आदि छह प्राभृतोंकी ही टीका को है।]

अधानन्तर जो 'कलिकालसवंज्ञ' इस विरुदावलीसे सुशोभित हैं, श्री-सम्पन्न आहंत धर्म के उपदेश में कुशल हैं, पञ्च परमेष्ठो के चरणों से जो निज आत्मस्वरूप को प्रार्थना करते हैं, सवं जगत् का उपकार करने-वाले हैं, उत्तम क्षमा की प्रधानता लिये हुए तपरूपी ज्ञान से जिनका हृदय विभूषित है, जो भव्य जीवोंके लिये पिताके समान हैं तथा आत्म-स्वरूप की श्रद्धा से जिन्हें सम्यग्दर्शन उपलब्ध हुआ है ऐसे श्री श्रुतसागर सूरि, श्री विद्यानन्दिभट्टारक सम्बन्धी पट्ट के अलंकारस्वरूप श्री मल्लि-

श्रीविद्यानन्दिपदाभरण-म०।

श्रुतसागरसूरयः श्रीकुन्दकुन्दाचार्यविरचितषट्प्राभृतप्रन्थं टीकयन्तः स्वर्धचिविर-चितसददृष्टयः सम्यग्दर्शनप्राभृतस्यादौ परापरगुरुप्रवाहमञ्कलप्रसिद्धिप्रार्थनपरा नान्दीसुत्रस्य ¹विरचनमाहु----

काऊण णमुक्कारं जिणवरवसहस्स वड्ढमाणस्स । दंसणमग्गं वोच्छामि जहाकमं समासेण ॥१॥

कृत्वा नमस्कारं जिनवरवृषभस्य वर्धमानस्य । दर्शनमार्गं वक्ष्यामि यथाक्रमं समासेन ॥ १ ॥

प्रसामान प्रयमान प्रयमान प्राप्त प्रयम्भन कि ब्राह्यपदा नाग्दी। (वोच्छामि) वक्ष्यामि कथयिष्यामि । कः कर्ता ? अहं श्री-कुन्दकुन्दाचार्यः। कं कर्मतापन्नम् ? (दंसणमग्गं) सम्यग्दर्शनस्वरूपम् । कथं वक्ष्यामि ? (जहाकमं) यथाक्रममनुक्रमेण । केन इत्दा ? (समासेण) संक्षेपेण । कि कृत्वा पूर्वम् ? (वड्ढमाणस्स) वढंमानस्य प्रियकारिणीयल्लभ-श्रीसिढार्थ-महाराज-नन्दनस्यान्तिमतीर्थंकरपरमदेवस्य भरतक्षेत्रस्थविदेहदेशसम्बन्धिश्रीकुण्ड-पुरफत्तनोत्पन्नस्य सुवर्णवर्णधरीरस्य किञ्चिदधिकद्वासप्ततिवर्षपरमायुषः सप्तहस्तो-न्नतशरीरस्य निर्भयत्वरञ्जितसंगमनामधेयदेवकृतस्तवनस्य वीस-वर्ढमान-महावीर-महतिमहावीर-सन्मति-नामपञ्चकप्रसिद्धस्य । (णमुक्कारं) नमोऽस्त्विति वचनेन मनसा कायेन वचसा साध्याङ्गप्रणामम् । (काऊण) कृत्वा । कथंभूतस्य वर्धमानस्य ? (ज्ञिणवरवसहस्स) जिनवराणां श्रीगौतमादिगणघरदेवादीनां मध्ये वृष्कसस्य

भूषण भट्टारक को आज्ञा से, प्रेरणा से और अनेक चीवों की प्रार्थना के वश से श्रो कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा रचित षट्प्राभृत ग्रन्थ की टीका करने के लिये उद्यत हुए हैं सो परापर गुरुप्रवाह से मज्जल सिद्धि की प्रार्थना करते हुए दर्शनप्राभृत के प्रारम्भ में मज्जलसूत्र की व्याख्या करते हैं—

गाथार्थ—कर्मरूप शत्रुओं को जीतनेवाले गौतमादि गणधरोंमें वृषभ-श्रेष्ठ श्री वर्द्धमान भगवान् को, अथवा ज्ञानादि गुणों से वर्धमान—निरंतर वृद्धि को प्राप्त होनेवाले जिनवरवृषभ—भगवान् ऋषभदेव-प्रथम तीर्थंकर अथवा समस्त तीर्थंकरों को नमस्कार कर मैं अनुकम से संक्षेपपूर्वंक सम्यग्दर्शन का स्वरूप कहुँगा ।।१॥

विज्ञेवार्थ--ग्रन्थ के प्रारम्भ में मङ्गलाचरण, प्रतिज्ञावाक्य और प्रतिपादन की शैली का निरूपण करते हुए श्री कुन्दकुन्दाचार्य महाराज ने कहा है कि मैं प्रियकारिणी महाराज्ञी के प्राणनाथ सिद्धार्थ महाराज के

१. विवरण-म०।

दर्शानप्राभृतम्

-1. 2]

श्रेष्ठस्य । इत्यनेन विशेषणेन प्रयमतीर्थंकर-श्रोमदादिनाथादोनामपि सर्वतीर्थंकर-समुदायस्यापि नमस्कारः क्वतो भवतीति वेदितव्यम् ।

वंसणमूलो धम्मो उवइट्ठो जिणवरेहिं सिस्साणं । तं सोऊण सकण्णे दंसणहीणो ण वंदिव्वो ॥२॥

पुत्र, अन्तिम तीर्थंकर, भरतक्षेत्र में स्थित विदेह देश सम्बन्धी कुण्डपुर नगर में उत्पन्न, सुवर्ण के समान वर्णवाले, कुछ अधिक बहत्तर वर्ष की उत्कृष्ट आयु से युक्त, सात हाथ ऊँचे, निर्भयता से प्रसन्न संगम नामक देव ढ़ारा स्तुत; तथा वीर, **वढाँ**मान, महावीर, महतिमहावीर और सन्मति इन गाँच नामों से प्रसिद्ध श्री वर्द्धमान भगवान् को मन--वचन--काय से नमस्कार कर संक्षेपपूर्वक पूर्वाचार्यों के कम का उल्लंघन न कर सम्यग्दर्शन का स्वरूप कहूँगा। गाथा में आया हुआ जिणवरवसहस्स शब्द विशेषण और विशेष्य दोनों हैं। इसलिये विशेषण पक्ष में **वड्ढमाणस्त** का विशेषण मानकर उसका अर्थ ऐसा करना चाहिये कि जो वर्धमान स्वामी कर्मरूप शत्रुओं को जोतनेवाले गौतमादि गणघरों में वृषभ---श्रेष्ठ हैं उन्हें नमस्कार कर, और विशेष्य पक्ष में वड्ढमाणस्स को विशेषण मानकर ऐसा अर्थं करना चाहिये कि जो (वर्ढते-ज्ञानादिगुणैः समेधते-वृद्धि प्राप्नोतीति वर्धमानः) ज्ञानादि गुणों से निरन्तर वृद्धि को प्राप्त हो रहे हैं ऐसे प्रथम जिनेन्द्र श्रो वृषभ देव को अथवा वृषभ-अजित आदि चौबीस तीर्थंकरों के समूह को नमस्कार कर। क्योंकि ''कटपयपुर:-स्थवर्णेः' इस नियम के अनुसार 'वर' का अर्थ २४ होता है, अतः जिनवरवृषभस्य का अर्थ श्रेष्ठ चौबीस जिनेन्द्र भो होता है। गायार्थ-जिनेन्द्र भगवान् ने शिष्यों के लिये सम्यग्दर्शनमूलक धर्म

१. कटपयपुरस्थवर्णेर्नव-नव-पञ्चाष्टकल्पितैः क्रमशः ।

स्वरवन्त्रून्यं संख्या मात्रोपरिमाक्षरं त्याज्यम् ॥

अर्थात् कटप और यके आगेक्रम से ९९५ और ८ अक्षरों से उतने अंकों को कल्पना करना चाहिये स्वर, अ और न से शून्य समझना चाहिये और मात्रा तथा संयुक्त अक्षर त्याज्य मानना चाहिये, अर्थात् उनसे किसी अङ्क का बोध नहीं होता। इस नियम के साथ 'अक्कानां वामतो गतिः' अंकों की गति उल्टी होती है यह नियम भी भ्यान में रखना चाहिये। उल्लिसित क्रम के अनुसार व से ४ और र से २ अक्टूलिये जाते हैं, तथा बोनों को विपरीत गति से पढ़नेपर 'वर' का अर्थ २४ निकलता है।

[१. २-

दर्शनमूलो धर्मं उपदिष्टो जिनवरैः शिष्याणाम् ।

तं श्रुत्वा स्वकर्णे दर्शनहीनो न वन्दितव्यः ॥२॥ (दंसणमूलो धम्मो) दर्शनं सम्यक्तं मूलमधिष्ठानमाधारा प्रासादस्य गर्तापूरवत् बृक्षस्य पातालगत-जटावत् प्रतिष्ठा यस्य घमंस्य स दर्शनमूल एबंगुणविशिष्टो धर्मो दयालक्षणः (जिणवरेहि) तीर्थकरपरम-देवैरपरकेवलिभिश्च (उबइट्ठो) उपदिष्टः प्रतिपादितः । केषामुपदिष्टः ? (सिस्साणं) शिष्याणां गणधर-चक्रधर-वज्जधरादीनां भव्यवरपुण्डरीकाणाम् । (तं सोऊण संकण्णे) तं धर्मं श्रुत्बाऽकर्ण्यं स्वकर्णे निजन्नवणे आत्मशब्दप्रहे । (दंसणहोणो ण वंदिव्वो) दर्शनहीनः सम्यक्त्वरहितो न बन्दितस्यो नैव वन्दनीयो न माननीयः । तस्यान्न-दानादिकमपि न देयम् । उक्तं च—

मिष्यादुग्म्यो ददद्दानं दाता मिथ्यात्ववर्धनः ।

अथ कोऽसौ दर्श्वनहीन इति चेत् ? तीर्थकरपरमदेवप्रतिमां न मानयन्ति, न पुष्पादिना पूजयन्ति । किमिति न पूजयन्ति ? मिथ्यादृष्टयः किलैवं वदन्ति—

का उपदेश दिया है, सो उसे अपने कानों से सुनकर सम्यग्दर्शन से रहित मनुष्य की बन्दना नहीं करना चाहिये ॥ २ ॥

विशेषार्थ—जिस प्रकार महल का मूल आधार नीव है और वृक्ष का मूल आधार पाताल तक गई हुई उसकी जड़ें हैं उसो प्रकार धर्म का मूल आधार सम्यग्दर्शन है । सम्यग्दर्शन बिना धर्मरूपी महल अथवा धर्मरूपी वृक्ष ठहर नहीं सकता है । जीवरक्षारूप आत्मा को परिणति को दया कहते हैं, वह दया ही धर्मका लक्षण है । तीर्थंकर परमदेव तथा अन्यान्य केवलियों ने अपने गणधर, चक्रवर्ती तथा इन्द्र आदि शिष्यों को धर्म का यही स्वरूप बताया है । इसे अपने कानोंसे सुनकर सम्यग्दर्शनसे हीन मनुष्य को नमस्कार नहीं करना चाहिये । धर्मकी जड़स्वरूप सम्यग्दर्शन ही जिसके पास नहीं है वह धर्मात्मा कैसे हो सकता है ? और जो धर्मात्मा नहीं है वह वन्दना या नमस्कार का पात्र किस तरह हो सकता है ? ऐसे मनुष्य को तो आहारदान आदि भी नहीं देना चाहिये, क्योंकि कहा है--

मिथ्येति—मिथ्यादृष्टियों के लिये दान देनेवाला दाता मिथ्यात्वको बढ़ानेवाला है ।

अब प्रश्न यह है कि वह सम्यग्दर्शन से रहित मनुष्य कौन है जिसे नमस्कार नहीं करना चाहिये। तो उसका उत्तर यह है कि जो तीर्थंकर परमदेव की प्रतिमा को नहीं मानते हैं, पुष्प आदि सामग्री से उसकी पूजा नहीं करते हैं वे मिथ्यादृष्टि हैं।

दर्शनप्राभृतम्

-१.२]

तीर्थंकरपरमदेवः किं पूजयति देवान् ? तथा वयमपि न पूजयामः । पञ्चमकाले किल मुनयो न वर्तन्ते । तदयुक्तम् । उक्तं च—

> भर्तारः कुरुपर्वता इव भुवो मोहं विहाय स्वयं रस्नानां निषयः पयोषय इव व्यावृत्तवित्तस्पृहाः। स्पृष्टाः कैरपि नो नभोविभुतया विश्वस्य विश्रान्तये सन्त्यद्यापि चिरन्तनान्तिकचराः सन्तः कियन्तोऽप्यभी⁹।।

मिथ्यादृष्टयः किल वदन्ति — व्रतैः किं प्रयोजनम् ? अत्मैव पोषणीयः, तस्य दुःसं न दति मयूरपिच्छं किल रुचिरं न भवति, सूत्रपिच्छं रुचिरम्, मयूरपिच्छेन आभेटनं ^२बौतिर्भवति (?) । तदसत्यम् । उक्तं च भगवत्याराघनाग्रन्थे---

> रजसेदाणमगहणं मद्दव सुकुमालदा लहुत्तं च। जत्येदे पंच गुणा तं पडिलिहणं पसंसंति ॥

प्रकन—्क्यों नहीं पूजा करत हैं ?

उत्तर — मिथ्यादृष्टि लोग ऐसा कहते हैं कि तीर्थंकर परमदेव वया किन्हीं देवों की पूजा करते हैं ? जिस प्रकार तीर्थंकर परमदेव किसी की पूजा नहीं करने उसी प्रकार हम भी पूजा नहीं करते । मिथ्यादृष्टि कहते हैं कि पञ्चम काल में मुनि नहीं होते । परन्तु उनका ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि कहा है—

भर्त्तार इति— जो स्वयं मोह को छोड़कर कुलपर्धतों के समान पृथिवी का उद्धार करनेवाले हैं, जो समुद्रोंके समान स्वयं धन की इच्छा से रहित होकर रत्नों के स्वामी हैं, तथा जो आकाश के समान व्यापक होने से किन्हीं के द्वारा स्पृष्ट न होकर विश्व की विश्वान्ति के कारण हैं; ऐसे अपूर्व गुणों के धारक प्राचीन मुनियों के निकट में रहनेवाले कितने साधु आज भी विद्यमान हैं। अर्थात् पञ्चम काल में साधुओं की विरलता तो हो सकती है, पर उनका सर्वथा अभाव संभव नहीं है।।

मिथ्यादृष्टि कहते हैं कि बतों से क्या प्रयोजन है ? आत्मा ही पोषण करने योग्य है, उसे दुःख नहीं देना चाहिये । मयूर के पंखों से बनी पिछी सुन्दर नहीं होती, किन्तु सूत से बनी पिछी सुन्दर होती है । मयूर के पंखों से बनी पिछी से तो हिसा होती है । इत्यादि कहना असत्य है, क्योंकि भगवती-आराधना ग्रन्थ में कहा गया है ।

रजसेदाणमिति----धूलि और पसोना का ग्रहण नहीं करना, मृदुता,

१. आत्मानुशासने श्लोकसंस्था ३३। 🦳 २. छोतिर्भवति-म ।

शासनदेवता न पूजनीयाः, आत्मैव देवो वर्तते । अपरः कोऽपि देवो नास्ति, बीरादनस्तरं किल केवलिनोऽष्ट जाता न तु त्रयः, महापुराणादिकं किल विकया इत्यादि ये उत्सूत्रं मन्वते ते मिथ्यादृष्टयक्वार्वाका नास्तिकाः । ते यदि जिनसूत्रमुल्लङ्घन्ते तदास्तिकैयुं क्तिवचनेन निषेधनीयाः । तथापि यदि कदाग्रहं न मुञ्च्वन्ति तदा समर्थेरास्तिकैष्पानद्भिर्गू थलिप्ताभिर्मु खे ताडनोयाः, तत्र पापं ास्ति ॥२॥

सुकुमारता और लघुता अर्थात् वजन में हलका होना; जिसमें ये पांच गुण हों वही पिछी प्रशंसा के योग्य है ।!

मिथ्यादृष्टि यह भी कहते हैं कि 'शासनदेवता पूजनीय नहीं हैं, आत्मा ही देव है, उसके सिवाय अन्य कोई देव नहीं है; भगवान् महावीर के बाद आठ केवली हुए हैं, न कि तीन। महापुराण आदिक विकथाएँ हैं। इत्यादि प्रकार से जो शास्त्र के विरुद्ध मानते हैं वे मिथ्यादृष्टि षार्वाक अथवा नास्तिक हैं। वे यदि जिनसूत्र का उल्लंघन करते हैं तो आस्तिक सम्यग्दृष्टि मनुष्यों को युक्तिपूर्ण वचनों द्वारा उन्हें मना करना चाहिये। क्योंकि 'प्रभावशाली-समर्थ मनुष्य धर्मके 'समूल विनाश को सहन नहीं करते। धर्म-प्रभावना में कुछ सावद्य प्रवृत्ति होती हो है उसके बिना वह संभव नहीं है। धर्म ही प्राणियों की माता है, धर्म ही उनका पिता है, धर्म ही रक्षक है, धर्म ही वृद्धि करनेवाला है और धर्म ही उन्हें निमंल एवं निश्चल परम पद में पहुँचानेवाला है, धर्म की सहने पर सत् पुरुषों का भी नाश हो जाता है। अतः जो धर्मदोही नीच पुरुषों का निवारण करते हैं उन्हीं के द्वारा सज्जनों के जगत् की रक्षा होती है ॥ २॥

- १. सम्यग्दृष्टि जीव जिनशासन की प्रभावना में सहायक होने से शासनदेवताओं का सन्मान करता है, परन्तु जिनेन्द्र देव के समान उनकी पूजा नहीं करता और न उन्हें देव मानता है। उसकी श्रद्धा वीतराग सर्वज्ञ और हितोपदेशी देव----अरहन्त-सिढमें ही रहती है। भय, आशा, स्नेह तथा लोभ के वशीभूत होकर वह रागी द्वेषी देवों को नहीं पूजता है।
- २. धर्म-निर्मूलविष्ट्वंसं सहन्ते न प्रभावकाः । नास्ति सावद्यलेशेन विना धर्मप्रभा-वना ॥४१६॥ धर्मो माता पिता धर्मो धर्मस्त्राताभिवर्धकः । धर्मो भवभृतां धर्मो निश्चले निर्मले पदे ॥४१७॥ घर्मध्वंसे सतां ध्वंसस्तस्माद्धर्मद्वहोऽधमान् । निवारयन्ति ये सन्तो रक्षितं तैः सतां जगत् ॥ ४१८ ॥

-उत्तरपुराण पर्व ७.

Ę

दंसणभट्ठा भट्ठा दंसणभट्ठस्स णत्थि णिम्वाणं। सिज्झंति चरियभट्ठा दंसणभट्ठा ण सिज्झंति।। ३ ॥

दर्शनभ्रष्टा भ्रष्टा दर्शनभ्रष्टस्य नास्ति निर्वाणम् । सिध्यन्ति चरित्रभ्रष्टा दर्शनभ्रष्टा न सिध्यन्ति ॥ ३ ॥

(दंसणभट्ठा भट्ठा) सम्यग्दर्शनात्पतिताः पतिता उच्यन्ते । (दंसण-भट्ठस्स परिथ जिव्वाणं) सम्यग्दर्शनात् पतितस्य सर्वकर्मक्षयलक्षणो मोक्षो न भवति, किन्तु सम्यग्दर्शनात्पतिता नरकादिगतिषु परितो दीर्षकालं पर्यटन्ति । (सिज्झंति चरियभट्ठा) सिष्यन्ति आत्मोपलब्धिमनुभवन्ति प्राप्तुवन्ति । के ते ? चरियभट्ठा चारित्रात्पतिता यति-आवकलक्षणब्रह्मचर्य-प्रत्याख्यानाम्यां स्खलिताः, सामग्री प्राप्य श्रेणिकमहराजादिवत् स्तोकेन मोक्षं प्राप्तुवन्ति । (दंसणभट्ठा ण

गाथार्थ-सम्यग्दर्शन में अष्ट प्राणी अष्ट कहे जाते हैं, सम्यग्दर्शन से अष्ट प्राणी को निर्वाण नहीं प्राप्त होता। चारित्र से अष्ट प्राणी तो सिद्ध हो जाते हैं---मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं, पर सम्यग्दर्शन से अष्ट प्राणी सिद्ध नहीं हो सकते---मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते ॥ ३ ॥

[इस गाथा का विवेचन करते समय कितने ही लोग ''चारित्र से अष्ट मनुष्य सिद्ध हो जाते हैं, परन्तु सम्यग्दर्शन से अष्ट मनुष्य सिद्ध नहीं होते'' इसका यह फलितार्थ निकाल कर विवेचन करते हैं कि मोक्ष सिज्झति) सम्यग्दर्शनात्पतिता न सिष्यन्ति मोक्षं न प्राप्नुवन्ति, मव्यसेनादिवत् वशिष्ठष्यादिवच्च संसारे निमज्जन्ति, इति झात्वा श्रुतकीर्तिश्रेयांसादि-प्रमाणपुरुषैरुप प्रवर्तितं दान-पूजादिसत्कर्मं न निषेधनीयम् । आस्तिकभावेन सदा स्थातव्यमित्यर्थः ॥ ३ ॥

षट्प्राभुते

सम्मत्तरयणभट्ठा जाणंता बहुविहाइं सत्थाइं । आराहणाविरहिया भर्मति तत्थेव तत्थेव ॥४॥

सम्यक्त्वररत्तभ्रष्टा जानन्तो बहुविधानि शास्त्राणि । आराधनाविरहिता भ्रमन्ति तत्रैव तत्रैव ।।४॥ (सम्मत्तरयणभट्ठा) सम्यक्त्वरत्नभ्रष्टाः सम्यक्त्वमेव रत्नं सर्वेभ्यो भावेभ्य

उत्तमं वस्तु त्रैलोक्यपस्थिसमुद्योतकत्वात्, तस्माद् भ्रष्टाः परिच्युता दान-पूजादि-कनिषेधकाः (जाणंता बहुविहाइं सत्थाइ) जानन्तोऽपि बहुविघानि शास्त्राणि तर्क-

के लिये चारित्र आवश्यक नहीं है, सम्यग्दर्शन हो आवश्यक है; और इस विवेचन के अनुरूप मोक्षमार्ग में सम्यक्चारित्र को गौण कर देते हैं (सो उनका यह विवेचन आगमसंगत नहीं है। इस गाथा में तो कुन्दकुन्द महाराज ने यही भाव प्रकट किया है कि जो श्रावक या मुनि अपने चारित्र से भ्रष्ट होते समय सम्यग्दर्शन से भो भ्रष्ट हो गया है अर्थात् अपनी श्रद्धा को भी छोड़ चुका है वह निर्वाण से बहुत दूर हो गया है अर्थात् वह अर्धपुद्रालपरावर्तन प्रमाण काल तक संसार में भटक सकता है, परन्तु जो मात्र चारित्र से भ्रष्ट हुआ है---समीचीन श्रद्धा को सुरक्षित रखे हुए है---वह शीघ्र अनुकूल सामग्री पाकर विशुद्ध चारित्र को धारण करता हुआ निर्वाण को प्राप्त हो सकता है। मोक्ष प्राप्ति के लिये सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र में से किसी को गौण या प्रधान नहीं किया जा सकता, क्योंकि तोनों ही अनिवार्य आवश्यक कारण हैं] ॥ शा

गायार्थ---सम्यक्त्वरूपी रत्नसे अर्थ्ट मनुष्य भले ही अनेक प्रकारके शास्त्रों को जानते हों तो भी जिनवचनोंकी श्रद्धांसे रहित होनेके कारण वहींके वहीं अर्थात् उसो चतुर्गंतिरूप संसारमें परिश्रमण करते रहते हैं ॥४॥

विशेषार्थ—तोन लोकरूप भवनका प्रकाशक होनेसे सम्यक्त्वरूप रत्न ही समस्त पदार्थोंमें उत्तम वस्तु है। इस सम्यक्त्वरूपो रत्नसे पतित होकर जो दान-पूजा आदि प्रशस्त कार्योंका निषेध करते हैं वे तर्क- व्याकरण-छन्दो-ऽलङ्कार-साहित्य-सिद्धान्तादीन् ग्रन्थान् जानाना अपि (आराहणा-विरहिया) जिनवचनमाननलक्षणामारावनामकुर्वाणा लौंका; पातकिनः (भर्मति तत्येव तत्येव) तत्रैव तत्रैव नरकादिष्वेव दुर्गतिषु भ्राम्यन्ति, न कदाचिदपि मोक्षं लभन्त इत्यर्थः ॥४॥

सम्मत्तविरहिया णं सुट्ठु वि उग्गं तवं चरंता णं । ण लहंहि बोहिलाहं अवि वाससहस्सकोडीहि ॥५॥

सम्यक्त्वविरहिता णं सुष्ठु अपि उग्रं तफ्टचरन्तः णं । न रुभन्ते बोधिरुाभं अपि वर्षसहस्रकोटिभिः ॥५॥

(सम्मत्तविरहिया णं) सम्यक्त्वविरहिताः सम्यक्त्वात् ये विरहिताः पतिताः । णमिति वाक्यालङ्कारे । (सुट्ठु वि उग्गं तवं चरंता णं) सुष्ठु अपि अतीवापि उग्नं तपः कुर्वन्तोऽपि मासोपवासादिकं तपोविशेषमाचरन्तोऽपि । णमिति वाक्यालङ्कारे । (लहंहि बोहिलाहं) ते पुरुषा बोधिलामं सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्रलक्षणोपलक्षिता या

व्याकरण-छन्द-अलंकार-साहित्य और सिद्धान्त आदि ग्रन्थों को जानते हुए भी जिनेन्द्र देव के वचनों को श्रद्धारूप आराधना से रहित होने के कारण, नरकादि दुर्गतियों में ही घूमते हैं—कभो मोक्ष प्राप्त नहीं करते।

[जिनागम में श्रावकों और मुनियों की अपने अपने पद के अनुरूप अनेक प्रशस्त क्रियाओं का वर्णन किया गया है। जो लोग उन क्रियाओं का निषेध करते हैं वे जिनागम की श्रद्धा से रहित हैं और फलस्वरूप सम्यक्त्वरूपी रत्न से च्युत हैं। ऐसे जोव तर्क-व्याकरण आदि लौकिक ग्रन्थ तो दूर रहे, ग्यारह अङ्गों और नौ पूर्वों को भो जानते हों, तो भी सम्यक्त्व से रहित होने के कारण मिथ्यादृष्टि ही कहे जाते हैं। मिथ्या-दृष्टि जीवों का संसारपरिभ्रमण निश्चित ही है। जिनागम में सम्यक्त्व रहित नाना शास्त्रों के ज्ञान को निःसार एवं सम्यक्त्व सहित मात्र अष्ट प्रवचन-मातृका के ज्ञान को सारपूर्ण बताया गया है।] ॥श।

गाथार्थ---सम्यग्दर्शन से रहित मनुष्य अच्छो तरह कठिन तपश्चरण करते हुए भी हजार करोड़ वर्षों में भी रत्नत्रयरूप बोधिको नहीं प्राप्त कर पाते हैं ॥५॥

विशेषार्थं---जो मनुष्य सम्यग्दर्शन से पतित हैं वे भले ही अतिशय कठिन मासोपवास आदि विशिष्ट तपों का आचरण करते हों तो भो



बोधिस्तस्या लाभं न लभन्ते । कियत्कालपर्यन्तं बोधिलाभं न लभन्ते इत्याहू----(अवि वाससहस्सकोडीर्डि) अपि वर्षसहस्रकोटिभिः वर्षसहस्रकोटिभिरपि अनन्त-कालमपि गमयित्वा ते मुक्तिं न गच्छन्तीत्यर्थः । इति ज्ञात्वा दान-पूजादिकं व्यवहारधर्मं निष्ट्ययधर्मे प्रधानभूतं न वर्जनीयमिति भाधार्थः ॥५॥

सम्मत्त-णाण-दंसण-बल-बीरिय-बड्ढमाण जे सख्वे। कलि-कलुसपावरहिया वरणाणी होंति अइरेण ॥६॥ सम्यक्त्वज्ञानदर्शनबलवीर्यवर्द्धमाना ये सर्वे।

कलिकलुषपापरहिता वरज्ञानिनो भवन्ति अचिरेण ॥६॥

(सम्मत्तणाणदंसणबलवीरियवड्ढमाण) सम्यक्तव-ज्ञान-दर्शन-बल-वीयंवर्ढ-मानाः । (जे सब्वे) ये सर्वे भव्यजीवाः । सम्यक्त्वेन जिनवचनरुचिरूपेण, ज्ञानेन पठन--पाठमादिना, दर्शनेन सत्तावलोकनमात्रेण, बलेन निजवीर्यानिगूहनरूपेण, बीर्येणात्मशक्त्त्या, ये पुरुषा बर्ढमानाः । वर्तमाना वा वट्रमाणपाठेन । ते पुरुषाः । (वरणाणी होति) केवलज्ञानिनो भवन्ति । वर-शब्देन तीर्थकरत्वं प्राप्मुवन्तोत्यर्थः । कदा ? (अइरेण) अचिरेण स्तोककालेन, तुतीयभवे मोक्षं यान्तीत्यर्थः । ते पुरुषाः

हजार करोड़ वर्षों में भी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रुक्षण से युक्त बोधि को नहीं प्राप्त कर सकते हैं अर्थात सम्यक्त्व के बिना अनन्त काल व्यतीत करके भी मुक्ति को प्राप्त नहीं हो सकते हैं। ऐसा जान कर निरुचय धर्म में प्रधानभूत दान-पूजा आदिक व्यवहार धर्म का त्याग नहीं करना चाहिये ॥५॥

गायार्थ---जो समस्त भव्य जीव सम्यक्तव, ज्ञान, दर्शन, बल और वीर्य से निरन्तर वृद्धि को प्राप्त होते हैं वे शोघ्र ही घार्तिया कमों से रहित हो उत्कृष्ट ज्ञानो होते हैं अर्थात् केवलज्ञान प्राप्त कर तीर्थंकर होते हैं ॥६॥

विशेषार्थ--जिनवचन अर्थात् जिनागम में श्रद्धा रखना सम्यक्त है। जिनागम का पठन-पाठन आदि करना ज्ञान है। पदार्थ की सामान्य सत्ता का अवलोकन होना दर्शन है। अपनो घारीरिक शक्ति को नहीं छिपाना बल है। और आत्मा की शक्ति को वीर्य कहते हैं। जो भव्य जीव इन सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, बल और वीर्य गुणों से वर्धमान हें अर्थात् जिनके ये गुण निरन्तर वृद्धि को प्राप्त हो रहे हैं; अथवा 'वड्ढमाण' के स्थान पर 'वट्टमाण' पाठ होने के कारण जो इन सम्यक्त्व आदि गुणों से कथंभूताः ? (कलिकलुसपावरहिया) कल्षिषु कर्मसु यानि कलुषाणि दुष्टानि पापानि मोहनीय-ज्ञानावरणोय---' क्षांनावरणीयान्तरायलक्षणानि दुरितानि, तै रहिताः----क्षयंनोतघातिकर्माण इत्यर्थः । अथवा कलौ पञ्चमकाले कलुषाः कश्मलिनः बौचधर्मरहिताः वर्णान् लोपयित्वा यत्र तत्र भिक्षाग्राहिणः मांसभक्षिगृहेष्वपि प्रासुकमन्नादिकं गृह्लून्तः कलिकलुषाः, ते च ते पापाः पापमूर्तयः श्वेताम्बराभासाः लौकांयकापरनामानो म्लेच्छश्मशानास्पदेख्वपि भोजनादिकं कुर्वाणास्तद्वमंरहिताः कल्जिकलुषपापरहिताः श्रीमूलसंघे परमदिगम्बरा मोक्षं प्राप्नुवन्ति लौंकास्तु नरकादौ पतन्ति, देव-गुरु-न्शास्त्रपूजादितिलोपकत्वादित्यर्थः ॥६॥

सम्मत्तसलिलपवहो णिच्चं हियए पवट्टए जस्स । कम्मं वालुग्रवरणं बंधुच्चिय णासए तस्म ॥७॥ सम्यक्त्वसलिलप्रवाहो नित्यं हृदये प्रवर्तते यस्य । कर्म वालुकावरणं बद्धमपि नश्यति तस्य ॥७॥

युक्त हैं वे कलि अर्थात् कर्मों में अतिशय दुष्ट पाप प्रकृतिरूप मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अन्तराय इन चार घातिया कर्मों से रहित हो शोध ही अर्थात् उसी भवमें अथवा दूसरा भव देव पर्याय में व्यतीत कर तृतीय भव में उस्कृष्ट ज्ञानी होते हैं अर्थात् केवलज्ञान प्राप्त कर तीर्थंकर पद प्राप्त करते हैं।

यहाँ संस्कृत टीकाकार श्री श्रुतसागर सूरि ने 'कलि-कलुषपापरहिताः' इस पद का दूसरा अर्थ ऐसा किया है कि जो कलि अर्थात् पञ्चम काल में कलुष हैं---मलिन हैं, शौचधमं से रहित हैं, ब्राह्मणादि वर्णों का लोप कर चाहे जहाँ भिक्षा ग्रहण करते हैं, मांसभोजी लोगों के घरों में भी प्रासुक अन्न आदि ग्रहण करते हैं, पापरूप हैं, म्लेच्छों तथा श्मशानवासी लोगों के घर भी भोजन करते हैं, तथा धर्म से रहित हैं, ऐसे श्वेताम्बरा-भास लौंकायक नामधारी लौंक कलिकलुषपाप कहलाते हैं। उन्हें छोड़ परम दिगम्बर मुद्रा के धारी मनुष्य हो केवलज्ञानो होकर मोक्ष प्राप्त करते हैं, किन्तु लौंका देव गुरु शास्त्र की पूजा का विलोप करने के कारण नरकादि कुगतियों में पड़ते हैं ॥६॥

गाथार्थ—जिसके हृदय में सम्यक्त्वरूपो जल का प्रवाह निरन्तर प्रवाहित रहता है उसका कर्मरूपी बालूका बाँध बढ़ होने पर भो नष्ट हो जाता है ॥७॥

> ^असङ्घंडारे नमस्कारे परदेवकृते सति । परदारेषु लक्षेषु तस्मात्यापं चतूर्गुणम् ॥

जे दंसणेसु भट्ठा णाणे भट्ठा चरित्तभट्ठा य । एदे भट्टविभट्ठा सेसं पि जणं विणासंति ॥८॥

ये दर्शनेषु अध्टा ज्ञाने अध्टाःचरित्रभ्रष्टारुच । एते अध्टविभ्रष्टाः शेषमपि जनं विनाशयन्ति ॥८॥

विशेषार्थ — संसाररूपी संताप का निवारक तथा पापमलरूपी कलड्क का प्रक्षालक होने से सम्यग्दर्शन, निर्मल शीतल सुर्गान्धत और स्वादिष्ट पानी के समान है। जिम मनुष्य के हृदय में जलपूर के समान सम्यग्दर्शन सदा प्रवाहित रहता है — निरन्तर विद्यमान रहता है, उसका हिंसादि पाँच पापों से उत्पन्न कर्मरूपी बालू का बाँध चिर काल से निबद्ध होने पर भी नष्ट हो जाता है। जिस प्रकार कोरे घड़े पर स्थित घूलि बन्धन को प्राप्त नहीं होती है उसो प्रकार सम्यग्दृष्टि जोव के लगा हुआ पाप कर्म बन्ध को प्राप्त नहीं होता। परदेव को नमस्कार करना भी पाप है, क्योंकि कहा है – सक्वदिति —

लाख परस्त्रियों के सेवन से जो पाप होता है कुदेव को एक बार नमस्कार करने पर उससे चौगुना पाप होता है। अर्थात् मिथ्यात्व, हिंसादि पाँच पापों की अपेक्षा, भयंकर पाप है ॥७॥

गाधार्थ-जो मनुष्य सम्यग्दर्शन से अब्ट हैं, ज्ञान से अब्ट हैं, और चारित्र से अब्ट हैं वे अब्टों में विशिष्ट अब्ट हैं अर्थात् अत्यन्त अब्ट हैं तथा अन्य मनुष्यों को भो अब्ट कर देते हैं। ॥८॥

ुर. बन्धं न याति म. २. परदेवनमस्कारोऽपि म. ३. एकवारं म.

- १. ९]

(ज दंसणेसु भट्ठा) ये पुरुषा दर्शनेषु सम्यक्त्वेषु द्विविध-त्रिविध-दश्वविधेषु भ्रष्टाः पतिताः, अथवा दर्शने सुष्ठु ख़ष्टाः⁹ । तथा (णाणे भट्ठा) अख्ट-विधाचारज्ञानादपि भ्रष्टाः । (चरित्तभट्ठा य) त्रयोदशप्रकाराच्चारित्राद् भ्रष्टाः । (एदे भट्ठविभट्ठा) एसे भ्रष्टा विशेषेण भ्रष्टास्त्रिभ्रष्टत्वात् । (सेसं पि जणं विणासंति) शेषमपि जनमभ्रष्टमपि लोकं विणासंति विनाशयन्ति भ्रष्ट विक्वर्यन्ति ॥८॥

जो को वि धम्मसीलो संजमतवणियमजोयगुणधारी। तस्स य दोस कहंता भग्गा भग्गत्तणं दिंति ॥९॥ यः कोऽपि धमंशीलः संयमतपोनियमयोगगुणधारी। तस्य च दोषान् कथयन्तो भग्ना भग्नत्वं ददति ॥ ९ ॥

तात्पर्य यह है कि जो सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय में से किसी एक दो गुणों की अपेक्षा अब्ट है वह कारण पाकर शीघ्र सुधर जाता है, पर जो तोनों की अपेक्षा अब्ट हो चुका है अर्थात् मिथ्यादृष्टि बन कर अपने लक्ष्य से च्युत हो चुका है वह स्वयं तो अब्ट हुआ ही है, साथ में रहने-वाले अन्य लोगों को भी अब्ट कर देता है।।/।।

गाथार्थ—जो धर्मशील—धर्मके अभ्यासी संयम, तप, नियम, योग और चौरासो लाख गुणों के धारी महापुरुषों के दोष कहते हैं—जनमें मिथ्या दोषों का आरोप करते हैं वे चारित्र से पतित हैं तथा दूसरों को भो पतित करते हैं।। ९ ॥

१. अस्सिन् वक्षे दर्शमे सुझष्टा इति छाया योजनीया ।

(जो को वि धम्मसीलो) यः कोऽपि धर्मशोलो घर्मे आत्मस्वरूपे उत्तमक्षमा-दिदशलक्षणे च धर्मे, पञ्चप्रकारे त्रयोदशप्रकारे चारित्रे च प्राणिनां रक्षणलक्षणे वा धर्मे शीलमम्यासः समाधिरम्यासो यस्य स धर्मशीलः । उक्तं च---

ैघम्मो वत्युसहावो खमादिभावो य दसविहो घम्मो ।

चारित्तं खलु धम्मो जीवाणं रक्खणं धम्मो ॥

(संजमतवणियमजोयगुणधारी) तथा यः कोऽपि संयम-तपोनियम-योग-गुण-धारी वर्तते । संयमश्च षडिन्द्रिय-षट्प्रकारप्राणिरक्षणलक्षणः । तपश्च द्वादक्ष-प्रकारम । नियमश्च नियतकालवतधारणम् । उक्तं च---

^२नियमो यमस्च विहितौ ढेघा भोगोपभोगसंहारात् ।

नियमः परिमितकालो यावज्झीवं यमो झियते॥

विशेषार्य-वस्तुस्वभाव को धर्म कहते हैं, इस लक्षण के आधार पर आत्मा को वीतराग परिणति धर्म कहलाती है। अथवा उत्तम, क्षमा, मादंव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य और ब्रह्मचर्य ये दश धर्म कहलाते हैं । अथवा चारित्र हो धर्म है, इस लक्षण के अनुसार सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात के भेद से पांच प्रकार का: अथवा पांच महावत, पांच समिति और तीन गप्ति के मेद से तेरह प्रकार का चारित्र धर्म कहलाता है। अथवा जोवों की रक्षा करना धर्म है, इस रुक्षण के अनुसार जीवदया को धर्म कहते है। इन सब लक्षणों का संग्रह करनेवाली निम्नलिखित प्राचीन गाथा प्रसिद्ध है---'धम्मो वत्यु' इत्यादि । वस्तु का स्वभाव धर्म है, क्षमा आदि दश धर्म हैं, चारित्र धर्म है, अथवा जीवों की रक्षा करना धर्म है । पाँच इन्द्रियों एवं मन को वश में करना तथा पाँच स्थावर और एक त्रस इस तरह छह काय के जीवों की प्राणरक्षा करना संयम है। अनशन, ऊनोदर, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश ये छह प्रकार के बाह्य; तथा प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाघ्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान ये छह प्रकार के अन्तरङ्ग; दोनों मिला कर बारह प्रकार के तप हैं। किसी निश्चित काल तक व्रत धारण करना—सोगोपभोग की वस्तुओं का त्याग करना नियम है । जैसा कि कहा गया है---

नियमो इत्यादि---भोग (एक बार भोग में आनेवाले भोजन आदि) और उपभोग (बार बार भोग में आनेवाले वस्त्र आदि) के त्याग में नियम

१. स्वाभिकार्तिकेयानुप्रेक्षायाम् । २. रत्नकरण्डश्रावकाणारे समन्तभद्रस्य ।

योगरूच वर्षादिकालस्थितिः । अथवात्मध्यानं योग उच्यते । उक्तं च वीर-नन्दिक्रिष्येण पद्मनन्दिना---

ैसाम्यं स्वास्व्यं समाधिश्च योगश्चेतोनिरोधनम् ।

शुद्धोपयोग इत्येते भवन्त्येकार्यवाचकाः ॥

गुणाश्चतुरशोतिलक्षसंख्याः । के ते चतुरशोतिगुणा इति चेदुच्यन्ते हिंसानृत-स्तेय-मैथुन-परिग्रह-क्रोध-मान-माया-लोभ-जुगुप्सा-भय-रत्यरतय इति त्रयोदश दोषाः, मनोवचन-कायदुष्टत्वमिति षोडश, मिथ्यात्वं प्रमादः पिशुनत्वसज्ञान-मिन्द्रियाणामनिग्रह एतैः पञ्चभिर्मेलिता एकविंशतिर्दोषा भवन्ति । तेषां त्यागा एकविंशतिगुंणा भवन्ति । अतिक्रम-व्यतिक्रमातिचारानाचारत्यागैरुचतुभियुंणिता-

और यम ये दो विधियाँ बतलाई गई हैं। जो किसी निश्चित समय तक त्याग होता है उसे नियम कहते हैं और जीवन पर्यन्त के लिये जो धारण किया जाता है उसे यम कहते हैं।

साम्य, स्वास्थ्य, समाधि, योग, चेतोनिरोध और शुद्धोपयोग ये एकार्थ-वाचक शब्द हैं।।

गुण चौरासी लाख होते हैं जो इस प्रकार हैं---र्हिसा. असत्य, चोरो, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, जुगुप्सा, भय, रति और अरति; ये तेरह दोष हैं। इन तेरह में मनोदुष्टता, वचनदुष्टता और कायदुष्टता ये तीन दोष मिला देने से सोलह दोष होते हैं। इन सोलह में मिथ्यात्व, प्रमाद, पिशुनता---चुगली, अज्ञान और इन्द्रियों का निग्रह नहीं करना ये पांच मिला देने से इक्कीस दोष होते हैं। इन इक्कीस दोषों का त्याग करना इक्कीस गुण हैं। वह त्याग अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार के त्याग से चार प्रकार का होता है। अतः उन इक्कीस में चार का गुणा करने पर चौरासी (८४) मेद होते हैं। इन चौरासी में पृथियी-

१. एकत्वसप्तती पद्मनन्द्राचार्यस्य ।

श्चतुरशीतिगुंणा भवन्ति । ते पृथिव्यादिशतजीवसमासैगुंणिताक्चतुरशीतिशतानि गुणा मवन्ति । ते दशशीलविराघनंगुंणिताक्चतुरशीतिसहस्राणि गुणा भवन्ति । कास्ताः शीलविराघनाः ? स्त्रीसंसगंः १, सरसाहारः २, सुगन्घसंस्कारः ३, कोमलशयनासनं ४, शरीरमण्डनं ५, गीत-वादित्रश्ववणं ६, अर्थंग्रहणम् ७, कुशीलसंसगंः ८, राजसेवा ९, रात्रिसंचरणम् १०, इति दश शीलविराघनाः । ते आकम्पितादिदशालोचनादोषत्यागर्दंशभिगुंणिताः चत्यारिशत्सहस्राधिकाष्टल्साणि गुणा भवन्ति । उत्तमक्षमादिदशधर्मंगुणिताःचतुरशीतिलक्षाणि गुणा भवन्ति । अथातिक्रमादयश्चत्वारः के ? अतिक्रमस्तावद्विशिष्टमतित्यागः । व्यतिक्रमः शीलवृत्तिलङ्घनम् । अतिचारो विषयेषु प्रवर्तनम् । अनाचारो विषयेष्वत्यासन्तिः । के ते दशालोचनादोषाः ? तदर्थनिरूपिका गाथेयम्---

^२आकंपिअ अणुमाणिअ जं दिठ्ठं बादरं च सुहमं च ।

छन्नं सद्दाउलयं बहुजणमव्वत्त तस्सेवी ॥ अस्या अयमर्थः----आर्काम्पअ-आकम्पो भयमुत्पद्यते मा बहुदण्डं दासीदाचार्यः

कायिकादि सौ जीवसमासों का गुणा करने पर ८४०० गुण होते हैं। इनमें क्षील की दश विराधनाओं का गुणा करने पर ८४००० गुण होते हैं। इनमें आकम्पित आदि आलोचना के दश दोषों के त्याग का गुणा करने से ८,४०००० आठ लाख चालीस हजार गुण होते हैं और इनमें उत्तम क्षमा आदि दश धर्मों का गुणा करने पर ८४००००० चौरासी लाख गुण होते हैं।

स्त्रीसंसगं १ सरसाहार २ सुंगन्धसंस्कार ३ कोमलशयनासन ४ हारीरमण्डन ५ गीत-वादित्रश्रवण ६ अर्थग्रहण ७ कुशीलसंसगं ८ राजसेवा ९ और रात्रिसंचरण १०। ये शोल की दश विराधनाएँ हैं।

विशिष्ट बुद्धि अर्थात् मानसिक शुद्धि का त्याग करना असिकम है। शील रूपी वाड़ का उल्लघंन करना व्यतिकम है। विषयों में प्रवृत्ति करना अतिचार है। और विषयों में अत्यन्त आसक्त हो जाना अना-चार है।

आलोचना के दश दोषों का निरूपण इस गाथा में किया गया है---

- १, क्षति मनःशुद्धिविघेरतिक्रमं व्यतिक्रमं शोलवृतेर्विलड् घनम् । प्रसोर्ग्रतचारं बिषयेषु वर्तनं वदन्त्यनाचारमिहात्सिक्तताम् ॥९॥ –द्वात्रिशतिकायाम् अमितगतेः ।
- २. मूलाराधनायां शिवकोट्याचर्यस्य ।

दर्शनप्राभृतम्

-१.९]

१, (अणुमाणियं) अनुमानं इत्येसावत्यापं कृतं भविष्यति निर्दारो नास्ति २, (अं दिट्ठं) यत्केनचिद् दृष्टं तत्प्रकाशयति ३, (बादरं) स्थूलं पापं प्रकाशयति ४, (सुद्रुमं) अल्पं पापं कथयति, न महापापं प्रकाशयति ५, (छण्णं) प्रच्छन्नं आचार्याग्रे कथयति, न प्रकटं ६, (सद्दाउल्पं) संघादिइत्तकोलाहले सति कथयति पापम् ७; (बहुच्चणें) बहुः सङ्घो मिलति तदा पापं प्रकाशयति ८, (अव्यक्तं) अव्यक्तं प्रकाशयति स्फुटं न कथयति ९, (तत्सेवी) यत्पापं प्रकाशितं तदेव पुनरपि करोति १०, इति दशालोचनादोषाः । दश कायसंयमाः के ? पञ्चेन्द्रिय-निर्जयः पञ्चप्राणरक्षा इति दश । एतान् संयम-त्रपोनियम-योग-गुणान् धरतीत्येव-

आकंपिअ इत्यादि---(१) गुरु के सम्मुख दोष प्रकट करने के पूर्व इस बात का भय उत्पन्न होना कि कहीं आचार्य अधिक दण्ड न देवें अथवा ऐसी मुद्रा बनाकर दोष कहना कि जिससे शिष्य की दयनीय अवस्था देख कर आंचार्य कड़ा दण्ड न दे सकें । (२) दूसरे के द्वारा अनुमानित— संमावना में आये हए पाप का निवेदन करना। (३) जो दोष किसी ने देख लिया हो उसी की आलोचना करना, बिना देखे दोष की आलोचना नहीं करना । (४) स्थूल दोष की आलोचना करना, सूक्ष्म दोष की नहीं । साथ ही यह भावना रखना कि जब यह स्थूल---बड़े दोष नहीं छिपाता तो सूक्ष्म दोष क्या छिपावेगा ? (५) सूक्ष्म दोष की आलोचना करना, स्थूल को नहीं; और साथ ही ऐसा अभिप्राय रखना कि जब यह सुक्स दोषों को नहीं छिपाता तो बड़े दोषों को क्यों छिपावेगा ? (६) आचार्य के आगे अपराध को स्वयं प्रकट नहीं करना। (७) संघ आदि के द्वारा किये हुए कोलाहल के समय अपने दोष प्रकट करना। (८) जिस समय पाक्तिक-चातुमसिक आदि प्रतिकमणों के समय संघ के समस्त साघ अपने अपने दोष प्रकट कर रहे हों उसी समय कोलाहल में अपने दोष प्रगट करना (९) अव्यक्त रूप से अपराघ कहना अर्थात् स्वयं मुझसे यह अपराध हुआ है, ऐसान कह कर कहना कि भगवन् ! यदि किसी से अमुक अपराध हो जाय तो उसका क्या प्रायश्चित्त होगा; इस तरह अव्यक्त रूप से अपराध प्रकट कर प्रायस्चित्त लेना। (१०) और जिस पाप को गुरु के सम्मुख प्रकट कर प्रायश्चित्त लिया है उस अपराध को पुनः पुनः करना अथवा जो अपराध हुआ है उसो अपराध को करनेवाले

 आशाधरस्तु 'समात्तत्सेवितं त्वंसौ'। आत्मसदृशात्माध्वंत्यात् यत्प्रामहिषत-प्रहणं तत् तत्सेवितम्—इत्याह।

5.

मवस्यं संयम-तपोनियम----योग-गुणधारी । (तस्स य दोस कहूंता) तस्य व दोवान् क्रययन्तः आरोपयन्तः केचित्पापिष्ठाः । (अग्गा भग्गत्तणं विति) स्वयं

आचार्य से प्रायश्चित लेना और साथ ही यह अभिप्राय रखना कि जब आचार्य स्वयं यह अपराध करते हैं तो दूसरे को दण्ड क्या देवेंगे ?

स्पर्शन, रसना, घाण, चक्षु और कर्ण इन पांच इन्द्रियों को जोतना तथा एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्च्चेन्द्रिय इन पौंच; प्रकार के जोवों की प्राणरक्षा करना; दश प्रकार का कायसंयम है ।

इस प्रकार जो कोई आत्मस्वभाव, उत्तम झमर्सि दश्चरुक्षण, पाँच अभवा तेरह प्रकार के चारित्र, अथवा प्राणिरक्षणरूप धर्म का निरन्तर अभ्यास करता है, बारह प्रकार का संयम, बारह प्रकार का तप, यम और नियम रूप भोगोपभोग का परिमाण, वर्षादियोग अथवा आत्मघ्यान रूप योग तथा चौरासी लाख उत्तरगुणों को घारण करता हुआ निर्दोष बारित्र पालता है फिर भी मास्सर्यवश उसे यदि कोई दोष लगाते हैं-उसकी निन्दा करते हैं-तो वे चारित्र से स्वयं अघ्ट हैं और दूसरे लोगों को भी चारित्र से अघ्ट कर देते हैं।

[उपगूहन अङ्ग की एक्षा करता हुआ सम्यग्दृष्टि जीव जब किसी के विद्यमान दोषों को भी नहीं कहना चाहता तब अविद्यमान---कल्पित दोषों की कैसे कहेगा ? किसी के दोष कहने के पहले यदि मनुष्य आत्म-निरोक्षण कर ले अर्थात् यह दोष मुझमें तो नहीं हैं, इस प्रकार का चिन्तन कर ले तो उसकी परदोष कथन की प्रवृत्ति सहज ही छूट सकती है। आज दूसरे के दोष कहनेवाले मनुष्य अपनो ओर तो देखते ही नहीं हैं मात्र दूसरे के ही दोष देखा करते हैं। आचार्य समन्तमद्र ने ऐसे लोगों के विषय में कितना अच्छा कहा है----

> ये परस्त्रलितोग्निंद्राः स्वदोषेत्रनिमोलिनः । तपस्विनस्ते किं कुर्युं रपात्रं स्वन्मतश्चियः¹ ।)

अर्थात् जो दूसरों के छोटे छोटे से दोष ढूँढने में सदा जागृत रहते हैं जोर अपने हाथी जैसे बड़े बड़े दोषों के प्रति नेत्र बन्द कर लेते हैं वे मोछ-मार्ग में क्या कर सकते हैं ? हे मगकन् ! वे अस्पके मत-जर्मरूपी

१. स्वयंभूस्तोत्रे ।

भग्नाक्श्वारित्रात् पतिता अप्टा अन्येषामपि अप्टत्वमारोपयन्ति, ते निन्दनीया इत्यर्थः ॥९॥

जह मूलम्मि विणट्ठे दुमस्त परिवार णरिथ परिवड्ढो । तह जिणदंसणभट्ठा मूलविणट्ठा ण सिज्वांति ॥१०॥

यथा मूलं विनष्टे द्रुमस्य परिवारस्य नास्ति परिवृद्धिः ।

तथा जिनदर्शनभ्रष्टा मूलविनष्टा न सिध्यन्ति ॥१०॥

(जह मूर्लम्भ विणट्ठे दुमस्स परिवार गरिष परिवर्द्धी) यथा मूरुे भाताले गर्ताधारे विनच्टे विनाशं प्राप्ते हुमस्य कृक्षस्य परिवारस्य नास्ति परिवृद्धिः शासा-पत्र-पुष्प-फलविर्वृद्धिर्नास्ति वृद्धिनं भवति । परिवार इत्यत्र बच्छीलुक् "लुक्वेति" वजनात् । दृष्टान्तं दस्ता दाष्टन्तिं ददाति । (तह जिणदंसणभट्ठा) तथा तेन हुममूलप्रकारेग जिनदर्शनम्राज्टा आईतमतात्पतिताः । (मूलविषट्ठा) श्रीमूलसङ्घात् प्रण्युताः । (च सिण्झंति) न सिद्धपन्ति न मोक्षं प्राप्नुवन्ति --- जन्मशतसहस्रे व्यपि संसारे परिभ्रमन्तीति भाषार्थः ॥१०॥

लक्ष्मो के अपात्र हैं। जैनधर्म का अंश भी उनकी आरमा में जागृत नहीं हुआ है।]॥९॥

गाबार्ग--जिस प्रकार जड़ के नष्ट हो जाने पर बुक्त के परिवार की वृद्धि नहीं होती [उसी प्रकार सम्यक्त्य के नष्ट हो जाने पर चारित्र-रूपी वृक्ष की वृद्धि नहीं होती] | जो मनुष्य जिनदर्शन---अहंन्त भगवान् के मत से भ्रष्ट हैं वे मूलविनष्ट हैं अर्थात् जड़ रहित हैं---सम्यग्दर्शन से कून्य हैं और ऐसे लोग मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते ॥१०॥

१. पत्तासमताबारे का ।

जह मूलाओ संघो साहापरिवार बहुगुणो होई। तह जिणदंसणमूलो णिद्दिट्ठो मोक्खमगगस्स ॥११॥

यया मूलात् स्कन्धः शाखापरिवारो बहुगुणो भवति । तथा जिनदर्शनं मूलं निर्दिष्टं मोक्षमार्गस्य ॥११॥

(जह मूलाओ) थया मूलाद् ⁹वृक्षमूलात् कारणात् । (खंघो) स्कन्धः शाखा-वधिः प्रकाण्डः । (बहुगुणो होइ) प्रचुरगुणो वृद्धघाद्यतिशयवान् भवति । तथा (साहापरिवार) शाखापरिवारस्च लतास्तरूपी कटप्रश्च बहुगुणो भवति पत्र-पुष्प-फलादिमान् भवति । दृष्टान्तो गतः । इदानीं दार्ण्टान्तमाह----(तह मूले णिहिट्ठो मोक्खमग्गस्स) तथा तेनैव वृक्षमूलप्रकारेणैव मोक्षमागंस्य मूलं सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रलक्षणस्य मोक्षमागंस्य मूलं कारणम्, (जिणदंसणं) जिनदर्शनं मूलं निर्दिध्दं धीगौतमस्वामिना कथितम् । श्रीमूलसंघो मोक्षमागंस्य मूलं कथितम्, न तु जैना-भासादिकम् । ³कि तत् ? पञ्च्वैते जैनाभासाः---

गोपुच्छिकः श्वेतवासा द्राविडो यापनीयकः ।

निष्पिच्छरचेति पञ्च्चैते जैनाभासाः प्रकीर्तिताः ॥

ते जैनाभासा आहारदानादिकेऽपि योग्या न भवन्ति । कथं मोक्षस्य योग्या भवन्ति ? गोपुच्छिकानां मतं यथा, उक्तञ्च्य----

गाथार्थ-जिस प्रकार मूल अर्थात् जड़ से वृक्ष का स्कन्ध और शाखाओं का परिवार वृद्धि आदि अतिशय से युक्त होता है उसी प्रकार जिनदर्शन-आहंत मत अथवा जिनेन्द्र देव का प्रगाढ श्रद्धान मोक्षमार्ग का मूल कहा गया है। इस जिनदर्शन से ही मोक्षमार्ग वृद्धि को प्रज्त होता है ॥११॥

विशेषार्य—जिस प्रकार मूल से वृक्ष का तना वृद्धि को प्राप्त होता है और मूल से ही वृक्ष की शाखाओं और उपशाखाओं का समूह पत्र, पुष्प तथा फल आदि से युक्त होता है उसी प्रकार जिनदर्शन ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूपी मोक्षमार्ग का मूल कारण है—इसी से मोक्षमार्ग वृद्धि को प्राप्त होता है, ऐसा श्री गौतम स्वामी ने कहा है।

संस्कृत टोकाकार ने मूलसंघ को मोक्षमार्ग का मूल कहा है तथा अन्य जैनाभासों का निषेध किया है। वे जैनाभास कौन हैं ? इस प्रश्न

२. किं तज्जैनाभार्स ? उक्तव्य्व म० ।

१. दुक्षस्य मूलात् म०।

दर्शनप्रामृतम्

-१. ११]

ैइत्यीणं पुण दिवसा सुल्ल्यलोयस्त वीरचरियत्तं । कक्कसकेसम्पहणं छट्टं च गुणव्वदं नाम ॥

रवेतवाससः सर्वत्र मोजनं गृह ्णन्ति प्रासुकम्, मांसभक्षिणां गृहे दोषो नास्तीति बर्णलोपः कृतः । तन्मध्ये क्ष्वेताम्बराभासा उत्पन्नास्ते त्वतीव पापिष्ठाः देवपूजा-दिकं किल पापकर्मेदमिति कथयन्ति, मण्डल्वत्सर्वत्र भाण्डप्रक्षालनोदकं पिबन्ति । इत्यादिबहुदोषवन्तः । (द्राविडाः) सावद्यं प्रासुकं च न मन्यन्ते, उद्भभोजनं निराकुर्वन्ति । यापनीयास्तु ^२वेसरा गर्दभा इवोभयं मन्यन्ते, रत्नत्रयं पूजयन्ति, कल्पं च वाचयन्ति; स्त्रीणां तद्भवे मोक्षम्, केवलिजिनानां कवलाहारम्, परक्षासने

का उत्तर देते हुए उन्होंने 'गोपुच्छिक'-गोपुच्छिक, श्वेताम्बर, द्राविड, यापनीयक और निष्पिच्छ, इन पांच को जैनाभास कहा है। ये जैनाभास आहारदान आदि के भी योग्य नहीं हैं, फिर मोक्ष के योग्य कैसे हो सकते हैं ? गोपुच्छिकों के मत का दिग्दर्शन कराते हुए उन्होंने निम्न गाथा उद्द्वत की है--

श्वेताम्बरों की समीक्षा करते हुए कहा है कि स्वेताम्बर सब जगह प्रासुक भोजन ग्रहण करते हैं। 'मांसभक्षियों के घर में भी भोजन करने में दोष नहीं है' ऐसा कह कर स्वेताम्बरों ने वर्णव्यवस्था का लोप किया है। उन्हीं स्वेताम्बरों में स्वेताम्बराभास उत्पन्न हुए हैं। वे अत्यन्त पापी है। वे देवपूजा आदि पापकार्य हैं, ऐसा कहते हैं तथा स्वान के समान सर्वत्र सब घरों में बर्तन घोने का पानी पीते हैं, इत्यादि अनेक दोषों से युक्त है।

्रद्राविड़ों की समीक्षा में उन्होंने लिखा है कि वे सचित्त और अचित्त के भेद को नहीं मानते हैं तथा खड़े होकर भोजन करने का निषेध करते हैं।

यापनीयों की समीक्षा में लिखा है कि यापनीय खच्चरों के समान दोनों को मानते हैं। दे रत्नत्रय को पूजा करते हैं, कल्प का वाचन करते

२/ बेसरा इवोमय म० ।

[[] १. दर्शनसारे ।

सग्रन्थानां मोक्षं च कथयन्ति । निष्पिण्छिकां मयूरपिण्छादिकं न मन्यन्ते । उक्तं च ढाढसीगाथासु----

पिच्छे ण हु सम्मर्त्ता करगहिए मोरचमरडंबरये । अप्पा तारइ अप्पा तम्हा अप्पा वि झायव्यो ॥ तथा च सिवपटमतम्—

सेयंबरो य आसंबरो य बुद्धो य तह य झण्णो य ।

समभावभावियप्त लहेव मोक्स ण संदेहो॥

जैमिनि-कपिल-कणचर-चार्वाक-शाक्य-मतानि तु प्रभेयकमलमातंण्डादिशा-स्त्रात् ज्ञातव्यानि ॥११॥

जे दंसणेसु भट्ठा पाए ण पडांति दंसणधराणं ।

ते होंति लल्ल–मुआ बोही पुण दुल्लहा तेसि ॥१२॥

ये दर्शनेषु अष्टाः पादे न पतन्ति दर्शनधराणाम् ।

ते भवन्ति लल्लमूका बोधिः पुनदु ल्लमा तेषाम् ॥१२॥

.....

हैं, स्त्रियों को उसी भव में मोक्ष होता है, केवलो भंगवान, कवलाहार करते हैं तथा अन्य मत में परिग्रही मनुष्यों को मोक्ष होता है, ऐसा कहते हैं।

निष्पिच्छकों की आस्रोचना करते हुए कहा है कि निष्पिच्छिक लोग मयूरपिच्छ आदि को नहीं मानते । जैसा कि ढाढसी गायाओं में कहा गया है----

पिण्छे—हाथ में लिये हुए मयूरपिच्छ अथवा सुरा गायके बालों में सम्यक्त नहीं है । आत्मा ही जीव को तार सकता है, इसलिये आत्मा का ही घ्यान करना चाहिये ॥

सेयंबरो—क्वेताम्बर हो चाहे दिगम्बर, बुद्ध हो चाहे अन्य धर्माव-लम्बो, जिसकी आत्मा समभाव—माध्यस्थ्य भाव—से विसूषित है वह मोक्ष को प्राप्त होता है, इसमें संदेह नहीं है।

र्जीर्मान, सांख्य, कणाद, चार्वाक और बौद्धों के मत प्रमेथकमलमातैण्ड आदि शास्त्रों से जानना चाहिये ॥११॥

गायार्थ-जो सम्यग्दर्शन से अव्ट होकर सम्यग्दुव्टियों के चरणों, में नहीं पड़ते हैं---उन्हें नमस्कार नहीं करते हैं---वे अव्यक्तमाषो वयवा गुंगे होते हैं तथा जन्हें रत्नत्रय की प्राप्ति दुर्लम रहतो है ॥१ २॥

दर्शनप्राभृतम्

(जे दंसणेसु भठ्ठा) ये पुरुषा दर्शनेषु भ्रष्टा निसर्गजाधिगमजलक्षणाद् द्विवि-धात् सम्यग्दर्शनात्, अपिशमिक-वेदक-क्षायिकलक्षणात् त्रिविधात्सम्यक्त्वरत्ना-स्रप्युताः ।

विशेषार्थ----उत्पत्ति की अपेक्षा सम्यग्दर्शन के दो भेद हैं---निसर्यंज और अधिगमज । पूर्वभव के संस्कार के कारण जो सम्यग्दर्शन स्वयं हो जाता है उसे निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं और जो पर के उपदेश से होता है उसे अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते हैं ।

अन्तरङ्ग कारण की प्रधानता से सम्यग्दर्शन के तीन भेद हैं---१. आपरामिक, २. वेदक (कायोपशमिक) और ३. क्षायिक। मिथ्यात्व, सम्यग्मिय्यात्व, सम्यक्त्व प्रकृति तथा अनन्तानुबन्धो क्रोध-मान-माया-लोभ इन सात प्रकृतियों के उपश्चम से जो सम्यक्तव होता है उसे औप-क्षमिक सम्यग्दर्शन कहते हैं। यदि यह सम्यग्दर्शन अनादि मिथ्यादृष्टि के होता है तो मिष्यात्व और अनन्तानुबन्धी कोध-मान-माया-लोभ इन पाँच प्रकृतियों के ही उपशम से होता है, क्योंकि अनादि मिथ्यादृष्टि जोब के सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति की सत्ता नहीं रहती और सत्ता न रहने का कारण यह है कि दर्शनमोहकी मिथ्यात्व आदि तीन प्रकृतियों में से केवल मिथ्यात्व प्रकृति का हो बन्ध होता है, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति का नहीं। सम्यग्दर्शन के हो जाने पर उसके प्रभाव से मिय्यात्व प्रकृति के तोन खण्ड होते हैं---मिथ्यात्व, सम्यगिमथ्यात्व और सम्यक्त प्रकृति । सादि मिथ्यादृष्टि जीव के हो सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्तव प्रकृति को सत्ता रहती है, अनादि मिथ्यादृष्टि जीव के नहीं। सादि मिथ्यादृष्टि जीव के भी मिथ्यादृष्टि अवस्था में अधिक काल तक रहने पर संक्रमण आदि के हो जाने से सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व-प्रकृति की सत्ता समाप्त हो जाती है, अतः सादि मिथ्यादृष्टि जीव के गौच या सात प्रकृतियों के उपशम से सम्यग्दर्शन होता है।

मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ इन छह सर्वधाती प्रकृतियों के वर्तमान काल में उदय आनेवाले निषेकों का उदयाभावी क्षय तथा उन्हीं के आगामी काल में उदय आने-वाले निषेकों का सदवस्यारूप उपशम और सम्यक्त्व प्रकृति नामक देश-धाति प्रकृति का उदय होने पर जो तत्वश्रद्धान होता है उसे झायोप-धानिक सम्यग्दर्शन कहते हैं। सम्वक्त्य प्रइति के उदय का बेदन- ेआज्ञामार्गसमुद्भवमुपदेशात्सूत्रबीजसंक्षेपात् ।

28

विस्तारार्धाभ्यां भवमव-परमावादिगाढे च ॥

इत्यार्याकथितदशविधसम्यक्त्व-रत्नात्पतिताः । अस्या आर्याया अयमर्थः---

^२सूक्ष्मं जिनोदितं वाक्यं हेतुभिर्नेंव हन्यते ।

आज्ञासम्यक्त्वमित्याहुर्नान्यचावादिनो जिनाः ॥

एवं जिन-सर्वज्ञ-वीतरागवचनमेव प्रमाणं क्रियते तदाज्ञासम्यक्त्वं कय्यते (१)। निर्ग्रन्यलक्षणो मोक्षमार्गो न वस्त्रादिवेष्टितः पुमान् कदार्चिदपि मोक्षं प्राप्स्यति, एवंविधो मनोभित्रायो निर्ग्रन्थलक्षणो मोक्षमार्गे रुचिर्मागंसम्यक्त्वं

अनुभवन करने की अपेक्षा इसी क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन को वेदक सम्यग्दर्शन भी कहते हैं। यह सम्यग्दर्शन सादि मिथ्यादृष्टि के ही होता है, अनादि मिथ्यादृष्टि के नहीं।

मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति तथा अनन्तानुबन्धी कोध-मान-माया-लोभ इन सात प्रकृतियों के क्षय से जो तत्त्वश्रद्धान होता है उसे क्षायिक सम्यग्दर्शन कहते हैं। यह केवली या श्रुतकेवली के सन्नि-धान में होता है अथवा स्वयं की श्रुतकेवलो अवस्था होंने पर होता है। इसका माहात्म्य सर्वोपरि है, यह होकर कभी नहीं छूटता। इसकी उत्पत्ति कमंभूमि के मनुष्य के हो होती है। इस सम्यक्त्व का धारक जीव चार भव से अधिक भव धारण नहीं करता है।

बाह्य निमित्त की प्रधानता से सम्यग्दर्शन के दस मेद होते हैं----

वाज्ञामार्ग इत्यादि—१. आज्ञासमुद्भव, २. मार्गंसमुद्भव, ३. उपदेश-समुद्भव, ४. सूत्रसमुद्भव, ५. बीजसमुद्भव, ६. संक्षेप्समुद्भव, ७. विस्तारसमुद्भव, ८. अर्थसमुद्भव, ९. अवगाढ और १० परमावगाढ । इनका स्वरूप निम्न प्रकार हैं—

भूक्ष्मं---जिनेन्द्र भगवान् के ढारा कहा हुआ सूक्ष्म वाक्य हेतुओं ढारा खण्डित नहीं होता, ऐसा श्रद्धान करना आज्ञा-सम्यक्त्व है; क्योंकि जिनेन्द्र भगवान् अन्यथा कथन नहीं करते ॥

मोक्षमार्ग निग्रंन्थलक्षण है, वस्त्रादि से वेष्टित पुरुष कभी मोक्ष को

- १. आत्मानुशासने गुणभद्राचार्यस्य ।
- २. यही ब्लोक अन्यत्र इस प्रकार उपलब्ध होता है— सूक्ष्मं जिनोदितं तत्त्वं हेतुभिर्नेव हन्यते । आज्ञामात्रेण तदु ग्राह्यं नान्ययावादिनो जिनाः ॥

दितीयमुच्धते (२) । त्रिषष्ठिलझणमहापुराणसमाकर्णनेन बोधि-समाधि-प्रदान-कारणेन यदुर्थन्तं श्रदानं तदुपदेशनामकं सम्यग्दर्शनं भण्यते (३) । मुनीनामाचारसूत्रं मूलाचारशास्त्रं श्रुत्ला यदुराद्यते तत्सूत्रसम्यक्त्वं कथ्यते (४) । उपलब्धिकाशाद् दुर-भिनिवेशविष्ट्यंसान्निरुपमोपशमाम्प्यन्तरकारणाद्विज्ञातदुर्व्याक्ष्येयजीवादिपदाणंवीज --भूतशास्त्राद्यदुत्पद्यते तद् बोजसम्यक्त्वं प्ररूप्यते (५) । तत्त्वार्थंसूत्रादिसिद्धान्त-निरूपितजीवादिद्वव्यानुयोगद्वारेण पदार्थान् संक्षेपेण झात्वा र्श्वं चकार यः स संक्षेपसम्यक्त्वः पुमानुच्यते (६) । द्वादशाङ्गश्रवणेन यज्जायते तद्विस्तारसम्यक्त्वं प्रतिपाद्यते (७) । अङ्गबाह्यश्रुतोक्तात् कुत्तश्चिददर्धादङ्गबाह्यश्रुतं विनापि यत्प्र-भवति तत्सम्यक्त्वमर्थसम्यक्त्वं निगद्यते (८) । अङ्गात्यङ्गबाह्यात्र् व वास्ताण्य-कीत्य यदुत्पद्यते सम्यक्त्वं तदवगाढमुच्यते (९) । यत्केवलज्ञानेनार्थानवलोक्य

प्राप्त नहीं होगा; ऐसा मन का अभिप्राय रखते हुए निग्रॅन्थरुक्षण मोक्ष-मार्गे में रुचि रखना सो दूसरा मार्गे–सम्यक्त्व कहा जाता है ।

रत्नत्रय एवं आत्मध्यान को प्रदान करनेवाले त्रेशठ शलाकापुरुष सम्बन्धी महापुराण के सुनने से जो श्रद्धान उत्पन्न होता है वह उपदेश नाम का सम्यग्दर्शन कहा जाता है ।

मुनियों के आचार का निरूपण करनेवाले मूलाचार आदि शास्त्रों को सुन कर जो श्रद्धान उत्पन्न होता है वह सूत्र-सम्यक्त्व कहा जाता है |

काललब्धि वश मिथ्या अभिप्राय के नष्ट होने पर, दर्शनमोह के असाधारण उपशम रूप आभ्यन्तर कारण से कठिनाई से व्याख्यान करने योग्य जीवादि पदार्थों के बीजभूत शास्त्र से जो उत्पन्न होता है वह बीज-सम्यक्त्व कहलाता है।

तत्त्वार्थसूत्र आदि सिद्धान्त ग्रन्थों में निरूपित जीवादि द्रव्यों के प्ररू-पक अनुयोग के द्वारा संक्षेप से पदार्थों को जान कर जो श्रद्धा करता है वह संक्षेप-सम्यक्त्व का धारक, पुरुष कहा जाता है।

द्वादशाङ्क के सुनने से जो सम्यक्तव उत्पन्न होता है वह विस्तार-सम्यक्तव कहलाता है।

अङ्गप्रविष्ट और अङ्गबाह्य श्रुत के बिना ही अङ्गबाह्य-अुत में कहे हुए किसी पदार्थ से जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता है वह अर्थ-सम्यक्त्व कहलाता है।

अङ्ग और अङ्गबाह्य शास्त्रों को पढ़ कर जो सम्यक्त्व उत्पन्न होता हे बह अबगाढ़-सम्यदर्शन कहलाता है। सद्दृष्टिमंदति तस्य परमावगाड तम्यत्स्त्रं कच्यते (१०) तथा भोक्तं गुणत्रद्रेण गणिना---

ैक्षाझासम्यक्त्वमुक्तं यदुत विरुच्तिं वीतरागाझ्यैव त्यक्तबन्यप्रपञ्चं शिवममृतपर्यं श्रद्दघन्मोह्शान्तेः । मार्गश्रद्धानमाहुः पुरुषवरपुराणोपदेशोपजाता

या संज्ञानागमाब्घिप्रसुर्गतभिरुपदेशादिरादेछि दृष्टिः ॥१॥ ^३आकर्ष्याचारसूत्रं मनिचरणदिश्वेः सूचनं श्रद्ददक्षानः

सूक्तासौ सूत्रदृष्टिदुं रधिगमगतेरर्यसार्यस्य बीजैः । कैश्चिज्जातोपलब्धेरसमग्रमवशाद् बीज दृष्टिः पदार्यान्

संक्षेपेणैव बुद्ध्वा रुचिमुपगतवान् साघु संक्षेपदृष्टिः ॥२॥

केवलज्ञान के द्वारा समस्त पदार्थों को देख कर जो श्रद्धान होता **हे** वह परमावगढ़-सम्यक्त्व कहलाता है ।

जैसा कि गुणभद्राचार्य गणी ने कहा है---

आज्ञासम्पक्स्व --- दर्शनमोह के उपशान्त होने से ग्रन्थश्रवण के बिना मात्र वीतराग भगवान की आज्ञा से हो जो तत्त्वश्रदान होता है वह आज्ञा-सम्यक्स्व है। दर्शनमोह का उपशम होने से ग्रन्थविस्तार के बिना ही कल्याणकारी मोक्षमार्ग का जो श्रद्धान होता है उसे मार्ग-सम्यक्त्व कहते हैं। त्र शठ शलाकापुरुषों के पुराण के उपदेश से जो उत्पन्न होता है उसे सम्यग्ज्ञान उत्पन्न करनेवाले आगमरूपी समुद्र में अवगाहन करने-वाले गणधर देव ने उपदेश-सम्यक्त्व कहा है।।

वाकर्ण्याचार----मुनियों के चारित्र की विधिको सूचित करनेवाले आचारसूत्र को सुन कर जो तत्त्वश्रद्धान करता है वह सूत्र-सम्यग्दृष्टि है। जिनका जानना अतिशय कठिन है ऐसे पदार्थसमूह को किन्हीं बनिजपदों से जाननेवाले भव्य पुरुष को दर्शनमोह के असाधारण उपशम से जो तत्त्वश्रद्धान होता है वह बीज-सम्यग्दर्शन है। जो पुरुष संक्षेप से ही पदार्थों को जानकर अच्छी तरह श्रद्धा को प्राप्त हुआ है वह संक्षेप-दृष्टि पुरुष है।

- १. आत्मानुद्धासने क्लोकसंस्था १२.
- २. जात्मानुवासने कोकसंबधः १३.

ैयः जुत्वा हादशाःङ्गी कृतरुचिरंव तं विदि विस्तारदृष्टि संजातायतिकुतश्चिरप्रवचनवचनान्यन्तरेणायदृष्टिः । दृष्टिः साङ्गाङ्गबाह्यप्रवचनमवगाह्योत्थिता यावगाढा कैवल्यालोकितायें रुचिरिह परमावादिगाढेति कढा ।।३।।

ईदृशदर्शनेषु भ्रष्टास्त्यक्तमपूरपिच्छ-कमण्डलु-परमागमपुस्तकाः सन्तो गृहस्य-वेषघारिणः संयमघराणां संयमिनां सद्दृष्टीनाम् । (पाए ण पर्डति) पदि चरज-युगले न पतन्ति नैव नमोऽस्थिति कुर्वन्ति, अभिमानित्वान्मुसल्वत्तिष्ठन्ति । ते कि भवन्ति ? (ते हॉति लल्लमुआ) ते भवन्ति लल्ला अस्फुटवाचो मूका वक्तुं श्रोतुमशिक्षताः । (बोहो पुण दुल्लहा) बोघिः सलु रत्नत्रयप्राप्तिः पुनर्जन्म-शतसहस्रे व्वपि दुस्तंमा कष्टेनापि लब्धुमहाक्या (तेसि) तेषां जैनामास-तवामासानां च मिथ्यादृष्टीनामिति दोषः ॥१२॥

यः भूत्वा---जो पुरुष द्वादशाङ्ग को सुनकर तत्त्वश्रद्धानी होता है उसे विस्तरदृष्टि जाने । अङ्गबाह्य प्रवचनों को श्रवण किये बिना ही किसो कारण से श्रद्धा उत्पन्न होती है वह अर्थदृष्टि---अर्थ-सम्पग्दर्शन है । अङ्ग तथा अङ्गबाह्य प्रवचनों का अवगाहन करने से जो श्रदा उत्पन्न होती है वह अवगाढ़-सम्यग्दर्शन है और केवलज्ञान के द्वारा देखे हुए पदार्थों की जो श्रद्धा है वह परमावगाढ-सम्यग्दर्शन नाम से प्रसिद्ध है ।

इस प्रकार के सम्यग्दर्शनों से जो अच्ट हैं तथा मयूरपिच्छ, कमण्डलु और परमागम-शास्त्रों को छोड़कर गृहस्यवेष को धारण करते हुए सयम के धारी सम्यग्दृष्टि मुनियों के चरणों में नहीं पड़ते हैं, उन्हें नमोअ्स्तु नहीं करते हैं और अभिमान के वश मूसल के समान यों ही खड़े रहते हैं वे 'अस्पच्टभाषो गू गे होते हैं अर्थात् बोलने और सुनने में असमर्थ होते हैं। ऐसे लोगों को लाखों जन्म में भो रत्नत्रय की प्राप्ति दुर्लंग रहती है।

- १, आत्मानुशासने इलोकसंस्या १४.
- पं० जयचन्द्रजी ने 'सरस्र' के स्थानपर 'स्रुस्ल' पाठ रक्त कर 'स्रूले---नहीं चत्र सकनेवाले' वर्ष किया है।

जे पि पडंति च तेसि जाणंता लज्जगारवभयेण । तेसिं पि णत्थि बोहि पावं अणुमोअमाणाणं ॥१३॥

येऽप पतन्ति च तेषां जानन्तो लज्जान्गर्वं भयेन । तेषामपि नास्ति बोधिः पापमनुमन्यमानानाम् ॥१३॥

(जे पि पडंति च तेसि) ये सम्यग्दर्शनाइभ्रष्टा अपि पुरुषाः तेसि तेष-परित्यक्तजिनमुद्राणां मयूरपिच्छ-शौचोपकरण-ज्ञानोपकरणरहितानां पादे कायग्रर-युगले पतन्ति नमस्कारं कुर्वन्ति पूर्वमुद्राघरा इति। (जाणंता) विदन्तोऽपि जिनक्कराविराधका एते इत्यवगच्छन्तोऽपि। (लज्जा-गारव-भयेण) लज्जया त्रपमा, गारवेण रसद्धि-सातगर्वेण, भयेनायं राजमान्योऽस्माकं कम्रप्युपद्ववं कारयिष्यती-त्यादिभीत्या च। (तेसि पि णत्थि बोही) तेषामपि बोधिर्नास्ति ते रत्नत्रयं प्रपालयन्तोऽपि रत्नत्रयाद् भ्रष्टा इति ज्ञातग्र्या इति भावः। कथंभूतानां तेषाम् ? (पावं अणुमोयमाणाणं) जिनदर्शनभ्र शाद्यदुत्पन्नं पापं पातकं तदनुमन्यमानामा मिति रोषः । उक्तं च समन्तभद्रेण गणिना----

गायार्थ-जो जानते हुए भी लज्जा, गर्व और भय के कारण उन मिध्यादृष्टियों के चरणों में पड़ते हैं उन्हें---'नमोअ्स्तु' आदि करते हैं, पाप की अनुमोदना करनेवाले उन लोगों को भी रत्नत्रय की प्राप्ति नहीं होती ॥१३॥

विशेषार्थ—जो पुरुष स्वयं सम्यग्दर्शन से अब्ट न होने पर भी, उन जिनमुद्रा के त्यागी एवं मयूरपिच्छ, कमण्डलु और शास्त्र से रहित कुलिङ्गियों के चरणयुगल में पड़ते हैं—उन्हें नमस्कार करते हैं और साथ ही यह जानते भी हैं कि ये साधु होनेपर भी पूर्वमुद्रा—गृहस्थवेष को ही धारण करनेवाले हैं तथा जिनमुद्रा—वीतराग निर्ग्रन्थ मुद्रा का विघात करनेवाले हैं, अतः नमस्कार के योग्य नहीं हैं; मात्र लब्जा; रस, ऋदि और सात इन तीन गर्वों से अथवा 'यह राजमान्य है, नमस्कार न करने पर कुछ उपद्रव करा देगा' इत्यादि भय से नमस्कार करते हैं वे उनके उस पाप की अनुमोदना करनेवाले हैं; अतः उनके रत्नत्रय की प्राप्ति नहीं होती अर्थात् वे रत्नत्रय के पालक होकर भी रत्नत्रय से अब्रट हैं। जैसा कि स्वामी समन्तभद्र ने कहा है — भयाक्षांस्नेहस्लोभाच्च कुदेवागमलिङ्गिनाम् । प्रणामं विनयं चैव न कुर्युः शुद्धदृष्टयः ॥ दुविहं पि गंथचायं तीसु वि जोएसु संजमो ठादि । णाणम्मि करणसुद्धे उब्भसणे दंसणं होई ॥१४॥ दिविधमपि ग्रन्थत्यागं तिथ्वपि योगेषु संयमस्तिष्ठति । ज्ञाने करणशुद्धे उद्भुशने दर्शनं भवति ॥१४॥ (दुविहं पि गयंचायं) दिविघोऽपि ग्रन्थत्यागः । (तीसु वि जोएसु) त्रिष्वपि योगेषु मनोवचन-कायशुद्धिणु । (संजमो ठादि) संयमध्चारित्रं तिष्ठति

भयाशा—सम्यग्दृष्टि मनुष्य भय, आशा, स्नेह अथवा लोभ से कुदेव, कुआगम और कुलिङ्गियों को न प्रणाम करें और न उनकी विनय करें ॥

[संम्यग्दृष्टि मनुष्य, वीतराग, सर्वंज्ञ और हितोपदेशी रूप लक्षण से युक्त जिनेन्द्र देव को छोड़ किसी अन्य रागी-द्वेषी देव को; वोतराग-सर्वंज्ञ जिनेन्द्र की आम्नाय में लिखित, स्याद्वाद सिद्धान्त से ओतप्रोत्त एवं अहिंसामय सिद्धान्त के समर्थंक शास्त्र को छोड़ अन्य रागी-द्वेषी लोगों के द्वारा लिखित एकान्तरूप एवं हिंसादि पापों के समर्थंक शास्त्र को; और विषयों की आशा से रहित एवं ज्ञान-ध्यान में लीन निग्रंन्थ गुरु को छोड़ कर अन्य रागी-द्वेषी गुरु को; भय, आशा, स्नेह और लोभ के वशीभूत हो स्वप्त में भी नमस्कार नहीं करता । उसकी दृष्टि से मोहजन्य विकार दूर हो जाता है, अतः वह वस्तु के शुद्ध स्वरूप को समझ कर वास्तविक प्रवृत्ति करता है]]

गायार्थ-जो मुनि दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग करते हैं, तीनों योगों पर संयम रखते हैं अर्थात् मन वचन काय की प्रवृत्तिपर नियन्त्रण रखते हैं, ज्ञान को इन्द्रियों के विषयों से शुद्ध रखते हैं अर्थात् इन्द्रियों के वशीभूत हो ज्ञान को मलिन नहीं करते अथवा इन्त कारित अनुमोदना से ज्ञान को निर्मल रखते हैं और खडे होकर मोजन करते हैं उन्हीं मुनियों के सम्यक्त्व होता है।।१४॥

विक्रेवार्थ---बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग के भेद से परिग्रह के दो मेद हैं। मुनियों को उक्त दोनों परिग्रहों का त्याग करना आवश्यक है। मनोयोग,

१. रत्नकरण्डत्रावकाचारे क्लोकसंस्था ३०.

, -

भवति । (णाणस्मि करणसुढे) सम्यग्ताने क्रुत-कारितानुमोदनिर्मले सति । (उब्भसणे) उद्यभोजने च सति । (देसणं होदि) सम्यक्त्वं भवति । मुनीना-मिति होषः । अध कोऽसौ ढिविधो प्रन्ध इत्याह—बाह्याम्यन्तरभेद इति । तत्र बाह्यः परिप्रहः कथ्यते—

क्षेत्रं वास्तु धनं धान्यं द्विपदं च चतुष्पदम् ।

⁹कुप्यं भाण्डं हिरण्यं च सूवर्ण च बहिर्देश //

क्षेत्रं सस्याधिकरणम् । वास्तु गृहम् । धनं द्रव्यादि । धान्यं गोघूमादि । द्विपदं दासी-दासादि । चतुष्पदं गो-महिषी-वेसर-गजाश्वादि । कुप्पं कार्पास-चन्दन-कुङ्कुमादि । भाण्डं तैल-धृतादिभृतं पात्रम् । हिरम्पं ताम्र-रूप्यादि ।

वचनयोग और काययोग के भेद से योगके तीन भेद हैं। इन तीनों योगों में कुद्धि होने पर हो संयम अर्थात् चारित्र होता है; इसलिये मुनियों को उक्त तीनों योगोंपर नियन्त्रण रखकर उनको शुद्धि बनाये रखनो चाहिये। सम्यग्ज्ञान के कृत कारित अनुमोदना से निर्मल रहने पर तथा खड़ेखड़े जोजन लेने पर मुनियों के सम्यक्त्व होता है अर्थात् सम्यग्दृष्टि मुनि समने ज्ञान को सदा निर्मल रखते हैं और खड़े खड़े पाणि-पात्र में आहार करते हैं।

[यहाँ आचार्य महाराज ने यह माव प्रकट किया है कि जो साधु होकर भो वन्त्रादि परिग्रह रखते हैं, जिनके मन वचन काथ की प्रवृत्ति में कोई प्रकार की शुद्धि नहीं है, जो इंन्द्रियों के वशीभूत होकर अपने ज्ञान को निर्मल नहीं रख पाते हैं अर्थात् उसे विषयसामग्री की प्राप्ति के लिये आत्मस्वरूप को छोड अन्यत्र अमाते हैं अथवा यन्त्र-मन्त्र आदि लौकिक कार्यों में उसे प्रयुक्त करते हैं और गृहस्थ के घर खड़े खड़े आहार न लेकर गोचरी द्वारा लाये हुए आहार को एक जगह बैठकर सुख-सुविधा से ग्रहण करते हैं उन्हें सम्यक्त्व नहीं है और सम्यक्त्व से होन होने के कारण वे वन्दनीय नहीं है]

बाह्य परिग्रह के दश मेद इस प्रकार हैं---

क्षेत्र---क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य, द्विपद, चतुष्पद, कुप्य, भाण्ड, हिरण्य, और सुवर्ण ये बहिरक्त परिग्रह के दश भेद हैं। जिसमें अनाज उत्पन्न होता है ऐसे खेत को क्षेत्र कहते हैं; मकान को वास्तु कहते हैं, द्रव्य आदि को धन कहते हैं, येहें आदि भाग्य कहकाते हैं; दास्रो-दरस आदि दिपद

2. 'वार्ग सम्पालनं कुमां भाष्त्रं देशि वहिदंश' इति सम्प्रवास्तु ।

त्रटितावटितं सुवर्णं श्रीनिकेतनं हाटकं कनकमिति यावत् । अभ्यन्तरप्रन्वस्य-तुर्दघभेदः---

भैमच्यात्व-वेद-हास्यादिषट्-कषायषतुष्टयम् । राग-द्वेषौ च सङ्गाः स्युरन्तरङ्गाध्चतुद्दंग ॥ सम्मत्तादो णाणं णाणादो सब्वभाव उवलद्धी । उवलद्धपयत्ये पुण सेयासेयं वियाणेदि ॥१५॥ सम्यक्त्वात् ज्ञानं ज्ञानात् सर्वभावोपलब्धिः । उपलब्धपदार्थे पुनः श्रेयोऽश्रेयो विजानाति ॥१५॥ (सम्मत्तादो णाणं) सम्यक्त्वाज्ज्ञानं भवति, यस्य सम्यक्त्वं नास्ति स मुमामज्ञान एवेत्थर्यः । (णाणादो सम्भभावउवसद्धी) ज्ञानात् सर्वपदार्थानामूप-

गुगगमाग र्पत्पमा (गागावा सम्पन्धपाळ्डा) मात्रास् सम्पन्धानानुम सनिवः जीवातिवरत्वादां वीवस्य परिज्ञानं भवति । (उवलद्वपयत्वे पुष) उपलब्ध-पदार्वे पुनः उपलब्धदवासी पदार्थः उपलब्धपदार्थरतस्मिन्युरक्ष्यपदार्थे सति । कि

कहलाते हैं; गाय, भैंस, ऊँट, हाथो, घोड़ा आदि चतुष्पद कहलाते हैं; बस्त्र, चन्दन तथा केशर आदि कुप्य कहे जाते हैं; तैल, घी आदि से भरे हुए बर्तन पात्र कहलाते हैं, तौबा चौदी जादि घातुएँ हिरण्य कहलाती हैं और जेवर रूप से घड़ा हुआ अथवा बिना घड़ा हुआ सुवर्ण कहलाती है। इसी सुवर्ण को श्रीनिकेतन (लक्ष्मीका घर), हाटक और कनक भी कहते हैं।

आभ्यन्तर परिग्रह के निम्नलिखित चौदह भेद हैं---

मिम्पारव—मिम्पारव एक, वेद एक, हास्यादि छह नोकषाय, क्रोध आदि चार कषाय, राग और ढेथ एक-एक, इस प्रकार अन्तरङ्ग परिष्ठह के चौदह भेद हैं।।

गाथार्थ----सम्यक्त्व से ज्ञान होता है, ज्ञान से समस्त पदार्घों की उपलब्धि होती है, और समस्त पदार्थों की उपलब्धि होने पर यह जोव कस्याण बौर अकल्याण को विशेष रूप से जानता है।।१५।।

विक्रेवार्थ--सम्यादर्शन से ज्ञान होता है, जिसके सम्यादर्शन नहीं है वह पुरुष अज्ञानी है। ज्ञान से ही मोक्षमार्गोपयोगी जीवादि तत्वों का परिज्ञान होता है सचा पदार्वों का परिज्ञान होने पर यह मनुष्य पुण्य

१. मिष्यात्ववेदरागास्तवेव हात्यादयस्य वद् दोवाः । वज्यारस्य क्यायातन-तुर्वज्ञाम्बन्तरा प्रवत्नः ३३११३३ पुरावार्वीकाम् नोकोका्करण्यास्वरंगः । भवति ? (सेयासेयं वियाजेदि) श्रेयः पुष्पं विशिष्टतीर्यंकर-नामकर्मं, अन्नेयः पापं चतुर्गतिपरिभ्रमणकारणं विशेषेण जानीते । उक्तञ्च--

> ैन सम्यक्त्वसमं किञ्चित् वंकाल्ये त्रिजगत्यप्रि । श्रेयोऽश्रेयरुच मिथ्यात्व समं नान्यत्तनूभुताम् ।।

सेयासेयविदण्हू उद्धुददुस्सील सीलवंतो वि । सीलफलेणब्भुदयं तत्तो पुण लहद्द णिव्वाणं ॥१६॥

श्रेयोऽश्रेयोवेत्ता उद्घूतदुःशोलः शीलवानपि । शोलफलेनाभ्युदयं ततः पुनः लभते निर्वाणम् ॥१६॥

(सेवासेयविदण्ह) श्रेयसः पुण्यस्य, अश्रेयसः पापस्य विदण्ह वेत्ता पुमान् । (उद्धुददुस्सोरु) उन्मूलित दुःशोल भवति । (सीलवंतो वि) शीलवान् पुमान् (सीलफलेग) शोलफलेन कृत्वा । (अब्भुदयं लहइ) अम्युदयं सांसारिकं सुसं प्राप्नोति । (तत्तो पुण णिण्वाणं लहइ) ततः पुनर्निर्वाणं लभते मोक्षं प्राप्नोति । (रहा।

अर्थात् सातिशय तीर्थंकर नामकर्म और पाप अर्थात् चतुर्गति के परि-भ्रमण के कारण को विशेषरूप से जानता है। जैसा कि कहा है—

न सम्यक्तव---तीनों काल और तीनों लोकों में सम्यग्दर्शन के समान प्राणियों का दूसरा हितकारी नहीं है और मिथ्यात्व के समान अहित-कारी नहीं है।।

विशेषार्थ-जिसने श्रेय - सम्यक्तव और अश्रेय - मिथ्यात्व को समझ लिया है वह दुःशील-दुष्ट स्वभाव विषय-काषयादिरूप परिणति को उसाड़ कर दूर कर देता है और शील से--आत्मपरिणति से युक्त मनुष्य शील के फलस्वरूप पहले तो अभ्युदयदेव तथा भ्रक्षवर्ती आदि के सांसा-रिक सुख को प्राप्त होता है और उसके बाद निर्वाण को प्राप्त होता है।।१६॥

१. रत्नकरण्डभावकाणारे समस्तभद्रस्य इस्रोकसँब्या ३४.

जरामरणव्याधिहरणं क्षयकरणं सर्वदुःखानाम् ॥१७॥

(जिणवयणमोसहमिणं) जिनवचनमौषघमिदम् इदम् पूर्वोक्तलस्नणं जिन-वचनं सर्वं अ-वीतरागमाषितं हेतु-हेतुमदभावसहितं औषघं वर्तते । कयंभूतं जिन-वचनं औषघम् ? (विसयसुहविरेयणं) विषयाणां पञ्च्चेन्द्रियार्थानां स्पर्धा-रस-गन्ध-वर्ण-शब्दानां सम्बन्धित्वेन यत्सुखं विषयसुखं तस्य विरेचनं दूरीकरणम् । (अमिदभूदं) अमृतभूतं अविद्यमानं मृतं मरणं यत्र यस्माद्वा भव्यानां तदमृतभूत्तं

गापार्थ—यह जिनवचनरूपी औषधि विषयसुख को दूर करनेवाली है, अमृतरूप है, जरा और मरण को व्याधि को हरनेपाली है, तया सब दुःखों का क्षय करनेवालो है ।।१७।।

विजेषार्थ-कार्य-कारणभाव से सहित सर्वज्ञ-वीतराग की वाणी को यहाँ औषधि की उपमा दी गई है-जिस प्रकार उत्तम औषधि शरीर के भीतर विद्यमान मल का विरेचन कर व्याधि को दूर करती है तया मनुष्य के असामयिक मरण को दूर कर उसके सब दुःखों का क्षय कर देती है उसी प्रकार कार्य-कारणभाव--िमित्त-नैमित्तिकभाव से सहित जिनवाणोरूपी औषधि मनुष्य की आत्मा में विद्यमान पञ्चेन्द्रियों के विषयभून स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्दों के सम्बन्ध से होनेवाले विषयभून स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्दों के सम्बन्ध से होनेवाले विषयभूत का विरेचन करनेवाली है; अमृतरूप है--पीयूषतुल्य है, बुढ़ापा और मरण रूपी रोग को हरनेवाली है और शारीरिक, मानसिक तथा आगन्तुक दुःखों का क्षय करनेवाली है अर्थात् जड़ से उखाड़ कर उनका विष्वस करनेवाली है ॥१७॥

[यहाँ संस्कृत-टोकाकार ने जिनवचन की व्याख्या करते हुए उसे 'सर्वंग्र-वोतरागभाषित' और 'हेतु-हेतुमद्भाव सहित' इन दो विशेषणों से विभूषित किया है। तथा इन विशेषणों से यह अभिप्राय सूचित किया है कि चूँ कि जिनवचन सर्वज्ञ-वोतराग के द्वारा प्रतिपादित हैं, अतः प्रमाणभूत हैं। अन्यथा कथन करने में अज्ञान और कषाय ये दो ही कारण होते हैं, परन्तु जिनेन्द्र भगवान के ज्ञानावरण कर्म का क्षय होने से केवलज्ञान प्रकट हो चुका है अतः अज्ञान के सद्भाव की वंश मात्र भी कल्पना नहीं हो सकतो तथा मोह कर्म का सर्वथा क्षय हो जाने से कषाय

3

अमृतोपमम् । अत एव (जरमरणवाहिहरणं) जरा-गरणव्याधिद्वरणं विनाशकम् । (स्वयकरणं सव्वदुक्साणं) क्षयकरणं मूलादुन्मूलकं सर्वदुःसानां शारीर-मान- सागन्तुदुःसानां विध्वंसकमित्यर्थः ॥१७॥

एक्कं जिणस्स रूवं बीयं उक्किट्ठसावयाणं तु । अवरट्ठियाण तइयं चउत्थं पुण लिगदंसणं णत्थि ।।१८।।

एकं जिनस्य रूपं द्वितीयमुत्कृष्टश्रावकाणां तु । अवरस्थितानां तृतीयं चतुर्थं पुनः लिङ्गदर्शनं नास्ति ॥१८॥ (एक्कं जिणस्स रूवं) एकमद्वितीयं जिनस्य रूपं नग्नरूपम् । (बीयं उक्किट्ठ सावयाणं तु) द्वितीयमुत्कृष्टश्रावकाणां तु । उक्तं च—

> आद्यास्तु षड् जधन्याः स्युर्मेष्यमास्तदनु त्रयः । शेषौ द्वावुत्तमावुक्तौ जैनेषु जिनशासने ।।

गाथार्थ—एक जिनेन्द्र भगवाद का नग्न रूप, दूसरा उत्कृष्ट श्रावकों का, और तीसरा आर्यिकाओं का; ेइस प्रकार जिनशासन में तीन लिङ्ग कहे गये हैं। चौथा लिङ्ग जिनशासन में नहीं है।।१८।।

विशेषार्थ-सकल और विकल के भेद से चारित्र के दो भेद हैं। इनमें से सकलचारित्र मुनियों के होता है। उनका लिङ्क अर्थात् वेष नग्न दिगम्बर मुद्रा है। परिग्रहत्याग महाव्रत के धारक होने से उनके शरीर पर एक सूत भी नहीं रह सकता है। विकल्जचारित्र के धारकों के दर्शनिक १, व्रतिक २, सामयिको ३, प्रोषधोपवासी ४, सचित्तत्यागी ५, रात्रिभुक्तिविरत ६, ब्रह्मचारी ७, आरम्भविरत ८, परिग्रहविरत ९, अनुमतिविरत १०, और उद्दिण्टविरत ११; ये ग्यारह मेद्द होते हैं। इनमें से प्रारम्भ के ६ श्रावक जघन्य श्रावक, उनके पश्चात् तीन मध्यम आयक, और क्षेद के दो उत्कृष्ट श्रावक कहे जाते हैं। जिनागम में दूसरा -१. १९]

तेन ''दंसण-यय-सामाइय-पोसह-सम्पित्त-रायभक्ते ये" इति गाथादा कथिताः आवकाः धड् जधन्याः कथ्यन्ते । ''बंभारंभपरिग्मह" इति गाथापादोक्तास्त्रयः आवका मध्यमा उच्यन्ते । शेषौ द्वावृत्तमावुक्तौ जैनेषु जिनधासने । ''अणुमण-मुद्दिट्ठदेसविरदो यं' अनुमतादुद्दिश्टाद्विरतो देशविरतश्च कथ्यते—-उत्कृष्टः आवकः उच्यते इति । (अवरट्ठियाण तइयं) अवरस्थितानामार्थिकाणां तृतीयं दर्शनम् (चउत्त्यं पुण लिंगदंसणं णल्थि) चतुर्थं पुनलिङ्गदर्शनं नास्ति । त्रीण्येव जिनशासने लिङ्गदर्शनानि प्रोक्तानि, न न्युनानि नाप्यधिकानीति शेषः ॥१८।।

छद्दव्व णवपयत्था पंचत्थो सत्त तच्च णिद्दिट्ठा ।

सद्हइ ताण रूवं सो सद्दिट्ठी मुणेयव्वो ॥१९॥

षड् द्रव्याणि नव पदार्थाः पञ्च्चास्तिकायाः सप्त तत्त्वानि निर्दिष्टानि । श्रददर्धाति तेषां रूपं स सद्दुष्टिः मन्तव्यः ॥१९॥

(झद्दव्व) षड् द्रव्याणि जोव-पुद्गल-धर्माधर्म-कालाकाशाः षड् द्रव्याणि भवन्ति । वर्तमानकाले द्रवन्तीति द्रव्याणि, भविष्यति काले द्रोष्यन्ति, अतीत-

लिङ्ग उत्कृष्ट श्रावकों का बतलाया गया है। दशम प्रतिमा के भारक अनुमतिविरत श्रावक एक धोतो, एक चादर तथा कमण्डलु रखते हैं। एकादश प्रतिमा के घारक उद्दिष्टविरत श्रावकों के ऐलक और क्षुल्लक को अपेक्षा दो मेद हैं। ऐलक कौपीन, पिछी और कमण्डलु रखते हैं तथा खुल्लक एक छोटी चादर भी रखते हैं; इस तरह जिनागम में दूसरा लिङ्ग उत्कृष्ट श्रावकों का है। आर्थिकाएँ उपचार से सकलचारित्र को धारक कहलाती हैं। वे सोलह हाथ की एक सफेद घोती तथा पिछी रखती हैं। ध्रुल्लिकाएँ ग्यारहवीं प्रतिमा की धारक कहलाती हैं। वे सोलह हाथ की घोती के सिवाय एक चादर भी रखती हैं। इस प्रकार जिनागम में तीसरा लिङ्ग सकलचारित्र के द्वितीय भेद में स्थित आर्थिकाओं का होता है। इन तोन लिङ्गों के सिवाय जिनागम में चोथा लिङ्ग नहीं हैं----उसमें तीन हो लिङ्ग बतलाये हैं, होनाधिक नहों।

[इस गाथा में श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने श्वेताम्बर साघुओं के उस लिङ्ग को जिनागम से असम्मत बताया है जिसमें परिप्रहत्याग महाव्रत को प्रतिज्ञा लेकर भो वस्त्र धारण किया जाता है] ॥१८॥

गाबार्थ-छह द्रव्य, नौ पदार्थ, पाँच अस्तिकाय और सात तत्त्व कहे गये हैं। उनके स्वरूप का जो श्रद्धान करता है उसे सम्यग्दृष्टि जानना आहिये॥१९॥

षट्प्रामृते

कालेझ्ट्रद्र वन्तिति द्रव्याणि जीव-पुद्गल-धर्माधर्म-कालाकाशनामानि । (मक्ष पगरया) नव पदार्था जीवाजीव-पुग्य-पापास्रव-वन्ध-संवर-निर्जरा-मोक्ष-नामानः । (पंचल्यो) पञ्चास्तिकाया जीव-पुद्गल-धर्माधर्माकाशनामानः पञ्च्यास्तिकाया उच्यन्ते (सत्त तच्च णिद्दिट्ठा) सप्त तत्त्वानि निर्दिष्टानि कथितानि जीवा-जीवास्तव-बन्ध-मंवर-निर्जरा-मोक्षनामानि । (सद्दहइ ताण रूवं) श्रद्दमाति रोषा स्वरूपम् । (सौ सद्दिट्ठी मुणेयक्वो) स पुमान् सद्दृष्टिरिति मन्तव्यो झातव्यः । तेषु द्रव्यादिषु जीवः सचेतनः । पुद्गलो धर्मोऽधर्मः काल आकाशदव पञ्चा-चेतनाः । धड्विघोऽपि पुद्गलो मूर्तः । इतरे पञ्चामूर्ताः । जीव-पुद्गल्योगंतेः कालः रत्नानां राधिवद् मिन्नपरमाणुकः । धर्माधर्माकाशा अखण्डप्रदेशाः । काल-पुद्गल्योर्जीवानां च प्रदेशेषु सण्डत्यम्, नत्वेकजीवस्य प्रदेशानां सण्यस्वम् । धर्माधर्म-कालाकाशाद्यत्वारो गमनागमनरहिताः । गमनागमने जीव-पुद्गलाः

विशेषार्य-जीव, पूद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश ये छह द्रव्य हैं। द्रव्य शब्द का निरुक्त्यर्थ इस प्रकार है---जो वर्तमान काल में गुण और पर्यायों को प्राप्त हो रहे हों, जो भविष्यत् काल में गुण और पर्यायों को प्राप्त होंगे, और जो भूत काल में गुण तथा पर्यायों को प्राप्त होते ये वे द्रव्य हैं। जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये नी पदार्थ हैं। जीव, पुदुंगल, धर्म, अधर्म और आकाश ये पाँच अस्तिकाय कहलाते हैं। जोव, अजीव, आस्तव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व कहे गये हैं। उनके स्वरूप का जो श्रद्धान करता है वह सम्पग्दृष्टि है। उन द्रव्यादिक में जीव सचेतन है; पूद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश ये पांच अचेतन हैं । बादर-बादर, बादर, बादर-सुक्ष्म, मूक्ष्म-बादर, सूक्ष्म और सूक्ष्म-सूक्ष्म; यह छहों प्रकारका पुद्गल मूर्तिक है; बाकी पाँच द्रव्य अमूर्तिक हैं। जोव और पूद्गल द्रव्य की गति का कारण धर्म द्रव्य है। सब द्रव्यों को स्थिति का कारण अधर्म द्रव्य है। सब द्रव्यों का आधार आकाश द्रव्य है। काल ट्रव्य वर्तना लक्षण से युक्त है तथा ररनों को राशि के समान भिन्न भिन्न परमाणु रूप है। धर्म, अधर्म और आकाश अखण्डप्रदेशी है। नाना कालाणु, पूद्गलाणु और नाना जीवों के प्रदेश संखण्ड हैं; परन्तु एक जीव के प्रदेश संखण्ड नहीं है । धर्म, अधर्म, काल और आकाश ये चार द्रव्य गमनागमन से रहित हैं। गमनागमन सिद्ध जीवों को छोड़ कर सब संसारी जोवों और पूदुगल इब्यों में ही होते हैं, अन्य द्रव्यों में नहीं !

३६

दर्शनप्रामृतम्

-1. 20]

नामन्यत्र सिद्धअधेवेभ्यः । धर्भान्धर्मेकजीवानामसंक्येयाः प्रदेशाः । संक्येयासंक्येया-मन्तप्रदेशः आकाशः [पुद्गलः] । पुद्गलो [आकाशो]अनन्तप्रदेशश्व [र्श्वः] । सर्वाणि द्रव्याण्येकतो मिलितान्यपि निज-निजमुणान् न जहति । एवं तत्त्वास्तिकाय-पदार्था-नाथपि स्वरूपं ज्ञातव्यम् ॥१९९॥

जीवादी सद्दहणं सम्मत्तं जिणवरेहि पण्णत्तं । वबहारा णिच्छ्यदो अप्पाणं हवइ सम्मत्तं ॥२०॥

जीवादीनां श्रद्धानं सम्यक्त्वं जिनवरेः प्रणीतम् ।

ग्यवहारात् निश्चयतः आत्मनो भवति सम्यक्त्वम् ॥२०॥

(जीवादीसद्दृष्णं) जीवादीनां श्रद्धानं रुचिः (सम्मत्तं) सम्पद्त्वमिति (जिनवरोहिं पण्णत्तं) जिनवरौः प्रणीतम् । तत्तु सम्यग्दर्शनं (ववहार) व्यवहा-राज्कातव्यम् । (णिच्छयदो अप्पाणं हवद्द सम्मत्तं) निष्टचयतो निष्टचयनयादात्मैव भवति सम्यन्त्वं रुचिसामान्यत्वादित्यद्यैः ॥

मर्म, अधर्म और एक जीव द्रव्य के असंख्यात प्रदेश हैं। पुद्गल द्रव्य के संस्थात, असंख्यात, तथा अनन्त प्रदेश हैं; अर्थात् कोई स्कम्भ संख्यात-प्रदेशी हैं, कोई असंख्यातप्रदेशो हैं, और कोई अनन्तप्रदेशी हैं। आकाश अनन्तप्रदेशी है। यद्यपि सभी द्रव्य एकरूप से मिले हुए हैं तथापि वे अपने अपने गुणों को नहीं छोड़ते हैं। इसी प्रकार तत्त्व, अस्तिकाय और पदार्थों का भी स्वरूप जानना चाहिये।।१९।।

गावार्व-अवहार नय से जोवादि तत्त्वों का श्रद्धान करना सम्यक्त्व है और निश्चय नय से आत्मा का श्रद्धान करना सम्यक्त्व है अथवा गुण और गुणी को अमेद विवक्षा से आत्मा स्वयं सम्यक्त्व है, ऐसा जिनेन्द्र-देव ने कहा है ॥२०॥

विश्वेषार्थ----जीव आदि सात तत्त्वों, जीव आदि नौ पदार्थों, जीव बादि छह द्रव्यों अथवा जीव आदि पांच अस्तिकायों का श्रदान करना सम्यग्दर्शन है। यह लक्षण गुण-गुणी की भेदविवक्षा से कहा गया है, बतः व्यवहार नय से जानमा चाहिये; क्योंकि गुण-गुणी का भेद व्यवहार मय का विषय है। निश्चय नय अभेद को विषय करता है, अतः उसकी अपेक्षा पर पदार्थ से भिन्न आत्मा का ही श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। अथवा 'आत्मा का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है' यहाँ भी गुण-गुणी का भेद दृष्टिगोचर होता है, इसलिये आत्मा ही सम्यग्दर्शन है। निश्चय नय से सम्यग्दर्शन का यहा लक्षण मानना चाहिये, ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है। २०॥ एवं जिणपण्णत्तं दंसण-रयणं धरेह भावेण । सग्ररं गुणरयणत्तय सोवाणं पढम मोक्खस्स ॥२१॥ एवं जिनप्रणीतं दर्शनरत्न घरत भावेन । सारं गुणरत्नत्रयेषु सोवानं प्रथमं मोक्षस्य ॥२१॥ (एवं) पूर्वोक्तप्रकारेण । (जिणपण्णत्तं) जिनैः प्रणीतम् जिनैः कथितम् । (एवं) पूर्वोक्तप्रकारेण । (जिणपण्णत्तं) जिनैः प्रणीतम् जिनैः कथितम् । (दंसणरयणं) दर्शन-रत्नं सम्पक्त्व-माणिक्यम् । (घरेह भावेण) घरत यूयं भावेन वीतराध-सर्वंजस्य भक्त्या । उक्तव्त्व---एकापि समर्थेयं जिनभक्तित्रुंगीति निवारयितुम् । पुण्पानि च पूरयितुं दातुं मुक्तित्रियं क्रुतिनः ॥ कर्थभूतं दर्शन-रत्नम् ? (सारम्) उत्कुष्टम् । केषु सारम् ? (गुण-रयणत्तय) गुणेषु उत्तमक्षमारिषु तथा रत्नत्रये सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रेषु । उक्तव्र्य---ैदर्शनं काणंघारं तन्मोक्षमार्ये प्रचक्कते ॥

गायार्थ----इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहे हुए सम्यग्दर्शन-रूपी रत्न को हे भव्यजीवो ! भावपूर्वक धारण करो । यह सम्यग्दर्शन-रूपी रत्न उत्तम क्षमादि गुणों तथा सम्यग्दर्शनादि तीन रत्नों में श्रोष्ठ है और मोक्ष की पहली सीढ़ी है ॥२१॥

विशेषार्थ—इस प्रकार वीतराग सर्वज्ञ देव ने जिस सम्यग्दर्शनरूपी माणिक्य का निरूपण किया है वह उत्तम क्षमा आदि गुणों में तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्**चारित्ररूपी रत्नत्रयों में उत्क्रष्ट है** तथा मोक्षरूपी महल की पहली सोढ़ी है। इसे आप लोग वोतराग सर्वज्ञ देव की भक्ति से धारण करो, क्योंकि कहा है---

एकापि—हे कुशल जन हो ! यह एक ही जिनभक्ति कुगति का निवारण करने के, पुण्य को पूर्ण करने और मुक्तिरूपी लक्ष्मी को देने के लिये समर्थ है ॥

दर्शनं----चूँकि सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र की अपेक्षा श्रेष्ठता को

- रत्नकरण्डश्रावकाचारे समन्तभद्रस्य ३१।
- २. प्राप्नोति-सेवते (क. टि.)।
- ३. कोदृशं दर्शनं कणंधारं 'कणंधारस्तु नाविकः' इत्यमरवचनात् भववारिषौ पारं प्रापयितुं अवः दर्शनम् । भाषायां 'खेवटिया' इति ज्ञातव्यम् । (क. टि.)

पुनरपि कथंभूतं दर्शन-रत्नम् ? (सोवाणं) सोपानं पादारोपणस्थानम् । कतिसंख्योपेतम् ? (पढम) प्रथमं अद्वितीयम् । कस्य ? (मोक्खस्स) मोक्षस्य परमनिर्वाणस्य ॥२१॥

जं सक्कइ तं कीरइ जं च ण सक्केइ तं च सद्दहणं । केवलिजिणेहिं भणियं सद्दहमाणस्स सम्मत्तं ॥२२॥

यत् शक्यते तत् क्रियते यच्च न शक्येत तस्य च श्रद्धानम् । केवलिजिनैभेणितं श्रद्दधानस्य सम्यक्त्वम् ॥२२॥

[/] जं सक्कइ तं कीरइ) यच्छक्नोति तत् क्रियते विधीयते। (जं च ण सक्केइ) यच्च न शक्नुयात् यत् कतुँ न शक्नोति। (तं च सद्दहणं) तस्य श्रद्धानं तस्य

प्राप्त है, अतः उसे मोक्षमार्गं का कर्णधार कहते हैं। कर्णधार खेवटिया का नाम है। अतः सम्यग्दर्शन संसाररूपो सागर में पार लगाने-वाला है।

गाथार्थ--जो कार्य किया जा सकता है वह किया जाता है और जिसका किया जाना शक्य नहीं है उसका श्रद्धान करना चाहिये। केवल-ज्ञानी जिनेन्द्र भगवान् ने श्रद्धान करनेवाले पुरुषको सम्यग्दर्शन कहा है ॥२२॥

विशेषार्थं — जो ज्ञानाचार अथवा चारित्राचार किया जा सकता है उसका पालन करना चाहिये, और जो नहीं किया जा सकता है अर्थात् धारीरिक सहनन और तात्कालिक परिस्थिति की अनुकूलता के अभाव में जिसका किया जाना संभव नहीं है उसकी श्रद्धा करनी चाहिये; क्योंकि श्रद्धान करनेवाले पुरुष के सम्यक्त्व होता है, ऐसा केवलज्ञानी तीर्थंकर परम देव ने कहा है। तीर्थंकर के साथ केवली विशेषण देने का खास प्रयोजन यह है कि तीर्थंकर भगवान केवलज्ञान के बिना उपदेश नहीं करते हैं। दीक्षा लेने के बाद केवलज्ञान की प्राप्त पर्यन्त का काल छदास्थ काल कहलाता है। इस छद्मस्थ काल में तीर्थंकर भगवान मौन से रहते हैं। वे केवलज्ञान प्राप्त होने पर समवसरण में ही दिव्यध्वनि द्वारा धर्मोपदेश करते हैं। तीर्थंकर केवली के सिवाय जो अन्य मुनियों का उपदेश है उसे 'अनुवाद रूप ही जानना चाहिये अर्थात् केवलज्ञानी

१. अर्थ ज्ञात्वा पश्चाद्वदनम् अनुवादः, (क॰ टि॰)

ज्ञानाचारादे रोचनं कर्तव्यम् । (केवलिजियोहि भणियं) केवलज्ञानिमिजिनैभणितं प्रतिपादितम् । केवलज्ञानं विना तीर्थंकरपरमदेवा घर्मोदेशनं न कुर्वन्ति । वन्यमुनीमामुपदेशस्त्वनुवादरूपो ज्ञातव्यः । अथवा केवलिभिः समवसरण-मण्डित-केवलज्ञानसंयुदत-तीर्थंकर-परमदेवैभंणितं, जिनैरनगारकेवलिभिभंणितं । किं भणितं ? (सद्दहमाणस्स सम्मत्तं) श्रद्दघानस्स पुरुषस्य रोचमानस्य जीवस्य सम्यक्त्वं सम्यग्दर्शनं भवति ॥२२॥

तीर्थंकर अपनी दिव्यध्वनि द्वारा जो उपदेश करते हैं अन्य मुनि उसीका कयन करते हैं। अथवा मूल गाथा में जो 'केवलिजिणेहिं पद है उसका 'केवलिनश्च ते जिनाश्च' ऐसा कर्म-धारय समास न करके 'केवलिनश्च जिनाश्च' ऐसा द्वन्द्व समास करना चाहिये उससे उक्त पदका यह अर्थ हो सकता है कि केवली अर्थात् समवसरणमें सुशोभित केवलज्ञानमे मंयुक्त तीर्थंकर परमदेव और जिन अर्थात् अनगार केवलियों---सामान्य केवल्यों ने कहा है।

(आज कल कितने हो मनुष्य चारित्र पालन करने में अपनी अर्जाक्त देख चारित्र को ढोंग या पाखण्ड आदि निन्दनीय शब्दों द्वारा व्यवहृत करते देखे जाते हैं तथा चारित्र के धारक जोवों की निन्दा करते हुए पाये जाते हैं उनके प्रति आचार्य कुन्दकुन्द महाराज का उपदेश है कि जितना आचार पालन करने की क्षमता है उसे अपनी शक्ति न छिपा कर पालन करना चाहिये क्योंकि मोक्षमार्ग में अपनी शक्ति को छिपाना आत्मवञ्चना है और जिस चारित्र का पालन करना अधक्य है उसकी श्रदा करना चाहिये तथा अपनी शक्तिहीनताका पद्यात्ताप करते हुए यह भावना रखना चाहिये कि हम में वह शक्ति कब प्रगट हो जिससे मैं भी इस चारित्रको धारण कर सकू¹। जो मनुष्य इस प्रकार चारित्र के प्रति अपनी श्रद्धा रखता है वह सम्यग्द्घिट है—सम्यग्दर्शनका धारक है और उसका वह सम्यग्दर्शन उसे चारित्र को प्राप्ति में पूर्ण सहायता करता है। गाथा का उक्त भाव कविषर द्यानतराय जी ने एक सोरठा में भी व्यक्त किया है।

कोजे शक्ति समान शक्ति विना सरघा घरे।

द्यानत सरघावान अजर अमर पद भोगवे॥

अर्थात् इक्ति के समान कार्यं करना चाहिये और इक्तिके विना उसकी श्रद्धा करना चाहिये । क्योंकि श्रद्धा रखनेवाला पुरुष भी अजर-अमर पदको प्राप्त होता है ।) ॥२२॥ एते तुं वन्दनीया ये गुणवादिनो मुणघराणाम् ॥२३॥ (दंसणणाणचरित्ते) ^३दर्शनक्षानचारित्रे दर्शनं च क्रानं च चारितं च दर्शनक्रानचारित्रं समाहारो द्वन्द्वः तस्मिन् दर्शनक्षानचारित्रे एतत्वितये तथा (तवविणए) तपो विनये चतुर्विधाराधनायामियेत्यर्थः (णिज्यकाल सुपसत्या) नित्यकालमुप्रस्वस्था नित्यमेव प्रकर्षेण स्वस्था एकलोकीभावं प्राप्ताः ।

गायार्थ---जो मुर्/त दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तपो विनय में सदा स्रीन रहते हैं तथा अन्य गुणी मनुष्योंके गुणोंका वर्णन करते हैं वे वन्दनीय हैं---नमस्कार करने के योग्य हैं ॥२३॥

[यहाँ संस्कृत टोकाकार ने 'एक छोलीभावं प्राप्साः' इस पदका प्रयोग किया है जिसका अर्थ 'किसो पदार्थमें अत्यन्त उत्सुकताके साय छीन होना होता है।' इसी शब्दके स्यान पर 'क' प्रति की टिप्पणी में 'एक्छौल्पाभावं प्राप्ताः' इस पाठ का भी संकेत किया है और उसकी संगति बैठाते हुए लिखा है कि 'एक लोल्यं चपलत्वं तस्य अभावः स एकलौल्पाभाव स्तं प्राप्ता इत्पर्यः' इसका अर्थ चपलता का अभाव अर्थात् स्थिरता प्राप्त करने वाले ऐसा होता है। वास्तव में लोल शब्दके कोष में चञ्चल-चपल और सतृष्ण उत्सूक दोनों अर्थ स्वीइन्त किये गये हैं।

- १. णिच्चकालपसत्या म० ।
- २, कोष्ठकान्तगंतः पाठः 'क॰' पुस्तके नास्ति, म पुस्तके त्वस्ति ।
- एकलोल्यामादं प्राप्ताः कथं तद् दृश्यताम्—-एकं लौल्यं चपलत्वं तस्य अभावः स एक लौल्याभावः तं प्राप्ताः ।
- ४. 'लोलरच सत्वणगोः' इत्यमरः ।

(एदे दु वंदणीया) एते पुरुषा महामुनयो वन्दनीया नमस्कर्तंव्याः । एते के ? (जे गुणवादीं गुणघराणं) ये मुनयः स्वयं सम्यन्दर्शनादीनामाराषका अप-रेषां गुणघराणामाराषनाराषकानां । ये मुनयो गुणवादिनो गुणवर्णनशीला न मत्सरिणस्ते वन्दनीया नमस्कारणीया इत्यर्थः ॥२३॥

सहजुष्पण्णं रूवं दट्ठुं जो मण्णए ण मच्छरिओ। सो संजमपडिवण्णो मिच्छाइट्ठी हवइ एसो।।२४॥

सहजोत्पन्नं रूपं दृष्ट्वा यो मन्यते न मत्सरिकः । स सयमप्रतिपन्नो मिथ्यादृष्टिभवत्येषः ॥२४॥

(सहजुष्पण्णं रूवं) सहजोत्पन्नं स्वभावोत्पन्नं रूपं नग्नं रूपं । (दर्ठु) दृष्ट्वा विलोक्य । (जो मण्णए ण) यः भुमान् न मग्यते नग्नत्वेऽर्हाच करोति-नग्नत्वे कि प्रयोजनं पशवः कि नग्ना न भवन्तीति व्रते । (मच्छरिओ) परेषां शुभ कर्माणि द्वेषी । (सो संजम पडिवण्णो) स पुमान् संयम-प्रतिपन्नो दीक्षां प्राप्तोऽपि (मिच्छाइटठी हवइ एसो) मिथ्यादृष्टिर्भवत्येष । अपबादवेषं घरन्नपि

इस गाया में कुन्दकुन्द स्वामो ने व्यतिरेक रूपसे यह भाव प्रतिफल्ति किया है कि जो साधु, सम्यग्दर्शनादि चार आराधनाओं में लीन न रहकर इधर उधर की बातोंने संलग्न रहते हैं तथा ईर्ष्या-वश अन्य गुणो मनुष्योंकी प्रशंसा न करके उल्टी निन्दा करते हैं वे साधु वन्दना करने योग्य नहीं हैं] ॥२३॥

गायार्थ—जो स्वाभाविक नग्न रूपको देखकर उसे नहीं मानता है, उलटा ईर्ष्याभाव रखता है वह संयम को प्राप्त होकर भी मिथ्यादृष्टि है ॥२४॥

विशेषार्थं — नग्न-दिगम्बर मुद्रा सहजोत्पन्न स्वाभाविक मुद्रा है उसे देखकर जो पुरुष उसका आदर नहीं करता है प्रत्युत नग्न-मुद्रा में अरुचि करता हुआ यह कहता है कि नग्नत्व में क्या रखा है ? क्या पशु नग्न नहीं होते ? साथ ही दूसरोंके शुभ कार्य में ढेष रखता है, वह दीक्षाको प्राप्त होने पर भी मिथ्यावृष्टि है । ऐसा पुरुष अपवाद देष को धारण करता हुआ भी मिथ्यावृष्टि है । वास्तव में मुनिमार्ग में कोई भी अपवाद देष स्वीकार्य नहीं है, परिस्थिति-वश उसे जो धारण करता है वह अपने गृहीतचारित्र से च्युत होने के कारण मिथ्यावृष्टि ही है । वह अपवाद देष क्या है ? इसका उत्तर देते हुए संस्कृत टीकाकार ने स्पष्ट किया है

Y₹

मिष्यादृष्टिर्झातव्य इत्यर्थः । कोऽपवादवेषः ? कलौ किल म्लेच्छादयो नग्नं दृष्ट्वोपद्रवं यतीनां कुर्वन्ति तेन मण्डपदुर्गे श्री वसन्तकीर्तिना स्वामिना चर्यादिवे-लायां तट्टीसादरादिकेन करोरमाच्छाद्य चर्यादिकं कृत्वा पुन स्तन्मुञ्चनतीत्युपदेशः कृतः संयमिनामित्यपवादवेषः । तथा नृपादिवर्गोत्पन्नः परमवैराग्यवान् लिङ्ग्रक्षुद्धि-रहितः उत्पन्नमेहनपुट-दोषः लज्जावान् वा द्योताद्यसहिष्णुर्वा तथा करोति सोऽप्यपवाद-लिङ्गः प्रोच्यते । उत्सगंवेषस्तु नग्न एवेति ज्ञातव्यम् । 'सामान्योक्तौः विषिषत्सर्यो विश्वेषोक्तो विधिरपवादः' इति परिभाषणात् ॥२४॥

अमराण वंदियाणं रूवं दट्ठूण सोलसहियाणं । जे गारवं करंति य सम्मत्तविवज्जिया होंति ॥२५॥

अमराणां वन्दितानां रूपं दृष्ट्वा शोलसहितानाम् । ये गर्वं कुर्वन्ति च सम्यक्त्वविर्वाजताः होति ॥२५॥

(अमराण वंदियाणं) अमराणां भवनवासिव्यन्तर-ज्योतिष्क-कल्पवासि≁ कल्पातीतदेवानां वन्दितानां तीर्थंकरपरमदेवानां (रूवं दटठूण) रूपं देषं दृष्ट्वा

कि कलिकाल में म्लेच्छ आदि पुरुष नग्न रूप देख कर मुनियों पर उपद्रव करते हैं इसलिये मण्डपदुर्ग में श्रो वनन्तकीर्ति स्वामी ने संयमियों को यह उपदेश दिया कि चर्यों आदि के समय चटाई आदिके द्वारा शरीरको ढक लें, बाद में चर्या आदि करके उसे छोड़ दें। दूसरा अपवाद वेष यह कि राजा आदि विशिष्ट वर्ग से उत्पन्न हुआ मनुष्य यदि उत्कृष्ट वैराग्य से युक्त होता है परन्तू लिङ्ग-शुद्धि रहित होने अथवा लिजुके अग्रभागमें दोष होनेके कारण नग्न होने में लज्जा का अनुभव करता है तो वह वस्त्र धारण कर सकता है अथवा कोई शीत आदिके कप्टको सहन नहीं कर सकता है तो वह वस्त्र धारण करता है। इन अपवाद देषोंको कून्दकून्द स्वामी सर्वथा अस्वीकार्य मानते हैं। उनका अभिप्राय है कि मुनिका वेष सहजोत्पन्न दिगम्बर मुद्रा ही है जिसने हिंसादि पाँच पार्पोका नव कोटिसे त्याग किया है वह म्लेच्छादि दुष्ट पुरुषोंके उपसर्ग से भयभीत होकर किसी प्रकारके आवरणको स्वीकृत महीं कर सकता। उपसगं आने पर समता भावसे उसें सहन करना ही मुनिका कतंब्य है। इसा प्रकार जिसे शोत आदि का परिषह सहन नहीं <mark>होता तथा जो</mark> लिङ्गादि में विकार होने से दीक्षा धारण के योग्य नहीं **है** वह उत्कृष्ट श्रावक ऐलक क्षुल्लकके पद में रह कर ही संयम धारण करता है। भावनाके अतिरेक से चरणानुयोगकी व्यवस्था को भज्ज कर

विलोक्य । कथंमूतानां ? (सोलसहियाणं) व्रतरक्षासहितानां । (जे गारवं करति म) ये पुरुषा जैनाभासास्तयान्ये च गर्वं कुर्वन्ति चकारात्सेवां न कुर्वन्ति । (सम्मसविवण्जिया होति) सम्यक्त्वरहिता भवन्ति, मिथ्यादृष्टयो भवन्ति, सम्यक्त्वरत्नच्युता भवन्ति, महापातकिनो भवन्ति, दीर्घकाले संसारमध्ये पर्यटन्ति । सम्यक्तं च---

> ये गुरुं नैव मन्यन्ते तदुपास्ति न कुवंते । अन्यकारो भवेत्तेषामुदितेऽपि दिवाकरे ।।

मुनिपद धारण नहीं करता और न अपने शिथिलाचारसे उसे कलेक्कित हो करता है। कुन्दकुन्द स्वामीने अपवाद वेषके रूप में पीछी कमण्डलु शास्त्र तथा शरीर की स्थिरताके निमित्त दिनमें एक बार शुद्ध आहार ग्रहण करना बतलाया है। २४।।

गायार्थ-जो देवोंसे बन्दित तथा शीलसे सहित तीर्थंकर परमदेवके (द्वारा आचरित मुनियों के नग्न) रूपको देखकर गर्व करते हैं दे सम्यक्त्व से रहित हैं। २५।।

विशेषार्थ--तीर्थंकरका नानरूप भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवोंके द्वारा वन्दनीय है तथा शोल अर्थात् व्रतको रक्षासे सहित हैं। वैसे मुनियोंके नग्न रूपको देखकर जो जैनामास अथवा अन्य-धर्मी लोग गर्व करते हैं तथा उनको उपासना नहीं करते हैं वे सम्यग्दर्शन यानी सम्यक्त्वरूपी रत्नसे रहित हैं, मिथ्यादृष्टि हैं, सम्यक्त्वरत्नसे च्युत हैं, महापातको हैं और दोर्घकाल तक संसारके मध्य अमण करते हैं। कहा भी है--

ये गुद --- जो गुहको नहीं मानते हैं, और न उनकी उपासना करते हैं उनके सूर्योदय होने पर भी अन्धकार बना रहता है [यहां मिच्यात्व को अन्धकार कहा है। सूर्योदय होनेपर लोक का बाह्य अन्धकार नष्ट हो सकता है पर पिथ्यात्व रूप अम्यन्तर अन्धकार नष्ट नहीं हो सकता । उसे नष्ट करने के लिये सम्यक्त्द रूपो सूर्योदय की आवश्यकता रहती है और वह तब तक नहीं हो सकता जब तक नग्न-दिगम्बर मुद्राधारी-निग्न न्य गुहओंके प्रति आस्था नहीं होती ।] ॥ २५ ॥

'अस्संजबं ण वंदे वच्छविहीगोवि सो ण वंदिज्ज । ³बुच्चित्रि होंति समाणा एगो वि ण संजदो होदि ।।२६।।

असंयतं न वन्देत वस्त्रविहीनोऽपि स न वन्द्येत । द्वावपि भवतः समानौ एकोऽपि न संयतो भवति ॥२६॥

(बस्संजर्ष ण) बंदे असंयतं गृहस्थवेषघारिणं संयमं पालयन्तमपि न वन्देत । (बच्छविहीणो वि सो ण वंदिच्ज) वस्त्र-विहीनोऽपि नग्नोऽपि संयमरहितो न वन्दोत न नमस्क्रियेत् । (दुण्णिवि होंति समाणा) द्वितीयेऽपि समाना संयमरहिता भवन्ति । (एगो वि ण संजदो होदि) ^{क्}एकोऽपि न संयसो भवति । गृहस्थः संयमं प्रतिपाल्यन्नप्यसंयमी ज्ञातम्य इति भावः ॥२६॥

गावार्च--असंयमी को नमस्कार नहीं करना चाहिये और जो वस्त्र-रहित होकर भी असंयमी है वह भी नमस्कार के योग्य नहीं है। ये दोनों ही समान हैं, दोनोंमें एक भी संयमी नहीं है। २६।।

विझेवार्थ—जो संयम का पालन करता हुआ भी असंयत है अर्थात् सबस्त होनेसे गृहस्थ के वेष को धारण करता है उसे वन्दना नहीं करना चाहिये और जो वस्त्र-रहित अर्थात् नग्न होकर भी संयम से रहित है---मात्र द्रव्य-लिङ्ग को धारण करता है वह भी नमस्कार के योग्य नहीं है क्योंकि तस्व-दृष्टि से दोनों ही एक समान हैं, उनमें एक भी संयमी नहीं है।

(जिनागम में पूज्यता संयमसे बतलाई गई है। संयम महाव्रती के होता है और महाव्रती निग्रंन्य होनेसे नग्न ही रहता है। जो साघु महा-व्रत रूप संयम का नियम लेकर भी वस्त्र धारण करता है, वह गृहस्य है, अतः असंयमी होनेसे वन्दना के योग्य नहीं है। इसी प्रकार जो नग्न होकर मी बास्तविक संयम से रहित है वह भी असंयमी है, अतः नमस्कार करनेके योग्य नहीं है। यद्यपि संयमासंयम के धारक ऐलक क्षुल्लक बह्यचारी बादि भी गृहस्थ के द्वारा वन्दनीय होते हैं तथापि यहाँ गुरु का प्रकरण होनेसे उनकी विवक्षा नहीं को गई है। यहाँ यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि पंचम गुणस्थानवर्ती आवक अपने पदके अनुसार जो

- . ৰাচ্দিৰ ম০।
- अयं पाठः क पुस्तके मास्ति ।

१. असंजद क०।

ण वि देहो वंदिज्जइ ण वि य कुलो ण वि य जाइसंजुतो । को वंदमि गुणहीणो ण हु सवणो णेव सावओ होइ ॥२७॥

नापि देहो वन्द्यते नापि च कुलं नापि च जातिसंयुक्तः ।

कं वन्दे गुणहीनं न हि श्रमणो नेव श्रावको भवति ॥२७॥ (ण वि देहो वंदिज्जद्द) नापि देहो बन्द्यते । (ण वि य कुलो) नापि च कुलं सितृपक्षो वन्द्यते । (ण विय जाइसंजुत्तो) न च जातिसंयुक्तो मातृपक्षजुद्धः पुमान् दन्द्यते । (को वंदमि गुणहोगो) कं वन्दे गुणहीतम् अपितु गुणहीनं न

नियम लेता है उसका पालन करता है अतः वस्त्र-सहित होनेपर भो उसे असंयमी नहीं कहा जाता किन्तु संयमासंयमी कहा जाता है। पर जो पंच महाव्रत का नियम लेकर भी वस्त्र घारण करता है वह अपने गृहीत संयम से च्युत होनेके कारण असंयमी कहा जाता है। इस गाथा में कुन्द-कुन्द स्वामी ने द्रव्यसंयम और भावसंयम दोनों को उपादेय बतलाया है। अपनी मान्यता के अनुसार कथित संयमका घारक होनेपर भी सवस्त्र होनेसे जिसके द्रव्यसंयम नहीं है वह अवन्द्रनीय है, साथ ही वस्त्र-रहित होनेसे द्रव्य-संयम का धारक होनेपर भी जिसके भाव-संयम नहीं है वह भी अवन्दनीय है। मोक्षप्राप्तिके लिये द्रव्य-शुद्धि और मावशुद्धि दोनों ही आवश्यक हैं।] ॥२६॥

गाधार्थ----न शरीर की वन्दना को जाती है, न कुल की वन्दना की जाती है किस गुगहोन की वन्दना करूँ? क्योंकि गुण-होन मनुष्य न मुनि है और न श्रावक ही है।।२७॥

विशेषार्थ—न तो किसी का शरीर पूजा जाता है, न कुल — पितृपक्ष पूजा जाता है और न जाति-मातृपक्ष पूजा जाता है किन्तु संयमरूप गुण ही पूजा जाता है। जिसमें संयम नहीं है वह सुन्दर स्वस्थ शरीर, उच्च-कुल और उच्चजातिवाला होकर भी अपूजनीय ही रहता है। कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं कि मैं किस गुण-हीन की वन्दना करूँ? अर्थात् मैं किसी भी गुणहीन को वन्दना नहीं कर सकता। क्योंकि संयम गुण से अष्ट पुरुष, न मुनि ही है और न श्रावक ही है। ताल्पर्य यह है कि गुणवान् मुनि ही बन्दनीय हैं-नमस्कार करने के योग्य हैं।

[ं इस गाथा में कुन्दकुन्द स्वामी ने प्रगट किया है कि मात्र सुन्दर वस्त्र, शरीर, उच्चकुल और उच्चजाति से युक्त होनेके कारण ही किसो मनुष्धकी पूजा नहीं होती किन्तु गुणों से युक्त होनेपर ही कारीरादि पूजा -१. २८]

ैकमपि वन्दे। (ण हु सवणो णेव सावओ होइ) गुणहीनः पुमान् न^९ श्रमणो दिगम्बरो भवति नैव आवको भवति देशव्रतो च न भवति। ³ गुणवानेव मुनिवन्दनीय इति भाव ॥२७॥

वंदामि तवसमण्णा सीलं च गुणं च बंभचेरं च । सिद्धिगमणं च तेसिं सम्मत्तेग सुद्धभावेण ॥२८॥

वन्दे तपः समापन्नान् शीलं च गुणं च ब्रह्मचर्यं च । सिद्धिगमनं च तेषां सम्यक्त्वेन शुद्धभावेन ॥२८॥

(वंदामि तवसमण्णा) वन्देऽहं कुन्दकुन्दाचार्यः । कान् ? मुनीनित्युपस्कारः । कथंभूतान् मुनीन् ? (तवसमण्णा) तपः समापन्नान् । तथा तेसि तेषां मुनीनाम् (सीलं च) पूर्वोबत-मण्टादश-सहस्र-संख्यं शीलं च वन्दे । (गुणं च) पूर्वोक्त मतुरशीतिलक्ष-संख्यं गुणं चाहं वन्दे । तथा तेषां मुनीनां (बंभचेरं च) पूर्वोक्त नबविधं ब्रह्मचर्यं च वन्दे । तथा तेषां मुनीमां (सिद्धिगमणं च) आत्मोपलब्धि-रूक्षणं सिद्धिगमनं मुक्तिप्राप्ति वन्दे । केन कृत्वा वन्दे ? (सम्मत्तेण) सम्यक्त्वेन

के निर्मित्त होते हैं इसलिये पूजा का मुख्य अङ्ग जो संयम है उसे प्राप्त करना चाहिये। उत्कृष्ट संयम को प्रतिज्ञा लेकर उससे अष्ट हुआ मनुष्य न मुनि कहलाता है और न श्रावक। वह तो सोधा असंयमी है, अतः असंयमी होनेसे वन्दना के योग्य नहीं है]।।२७।।

गाधार्थ---में उन मुनियों को नमस्कार करता हूँ जो तप से सहित हैं। साथ ही उनके शीलको, गुणको, ब्रह्मचर्य को और मुक्ति-प्राप्तिको भी सम्यक्त्व तथा शुद्धभाव से वन्दना करता हूँ ॥२८॥

विशेषार्थं---अनशन-ऊनोदर आदि के भेदसे तपके बारह भेद हैं। श्रीलके अठारह हजार भेद होते हैं। गुणोंके चौरासी लाख भेद हैं और ब्रह्माचर्यं नवगाढ़ की अपेक्षा नौ प्रकारका है। जो तप शील, गुण और ब्रह्माचर्यंसे सम्पन्न हैं उन मुनियोंको मैं नमस्कार करता हूँ। ऐसे मुनि हो अपनो साधना से सिद्धि---कर्म---नोकर्म और भावकर्म से रहित स्वस्वरूप

- २, श्रवणो म० ।
- ३, गुबबान् मुनिर् क०।

१. किमपि क० ।

षट्प्राभुते

श्रद्धया इचिरूपेण सम्यग्दर्शनेन वन्दे । न केवलं सम्मत्तेण वन्दे किन्तु (सुद्ध-भावेण) निर्मल परिणामेन बकुटिलतया निर्मायत्वेनेति तात्पर्यम् ॥२८॥

चउसट्टिचमरसहिओ चउतीसहि अइसएहिं संजुत्तो । अणुवरबहुसत्तहिओ कम्मक्सय कारणणिमित्तो ॥२९॥

चतुःषष्टिचमरसहितः चतुस्त्रिंशद्भिरतिशयैः संयुक्तः । अनूचरबहुसत्त्वहितः कर्म्मक्ष्यकारणनिमित्ते ॥२९॥

(चउसट्ठिचमरसहिओ) चतुःषध्टिचामरसहितस्तीर्थकर-परमदेवो मवति तं वन्दे इति विषमव्यास्या झातव्या (चउतीसहि अइसएहि संजुत्तो) चतुस्त्रिश्वदति-इायैः संयुक्तस्तीर्थकर-परमदेवो भवति, तं वन्दे । (अणुवर-बहुसत्तहिओ) अनुषर-बहुसत्वहितः स्वामिना सह ये पृष्ठतो गच्छन्ति तेऽनुचराः सेवकाः तथा बहुसत्वा अपरेऽपि जीवास्तेम्यो हितः स्वगंगोक्षदायक इत्यर्थः । (कम्मक्सयकारणनिमित्ते) कर्मणां क्षयकारणं धुक्ल-ध्यानं तस्य निमित्ते प्राप्यर्थं वन्दे इति क्रियाकारक-सम्बन्धः ॥२९॥

की उपलब्धि को प्राप्त होते हैं। यह स्वस्वरूपोपलब्धि ही जीवनका सर्वो-परिलक्ष्य है, इसे मैं श्रद्धापूर्वक शुद्धभावसे नमस्कार करता हूँ ॥२८॥

गाथार्थ—जो चौसठ चमरों से सहित हैं, चौतीस अतिशयोसे युक्त हैं और विहार कालमें पीछे चलने वाले सेवक तथा अन्य अनेक जीवोंके हित करने वाले हैं उन तीर्थंकर परमदेव को मैं कर्मक्षय में कारणमूत शक्लध्यानकी प्राप्ति के लिये नमस्कार करता हूँ ॥२९॥

विशेषार्य---तीर्यंकर भगवान ैचौसठ चमर रूप प्रातिहायं से सहित होते हैं। दश जन्मके, दश केवलज्ञान के और चौदह देव रचित इस प्रकार चौतीस अतिशयों से युक्त होते हैं। साथ ही विहार कालमें पीछे चलने वाले सेवकों तथा अन्य अनेक जीवोंको स्वर्ग मोक्षके दायक हैं। उन तीर्थंकर भगवान को नमस्कार करनेमें उस धुक्लघ्यान की प्राप्ति होती है जो कि कर्मक्षयका साक्षात् कारण है। उस धुक्लघ्यानकी प्राप्ति के लिये ही मैं नमस्कार करता हूँ। २९॥

भवनवासिनः २० व्यन्तराः १६ कल्पवासिनः २४ चन्द्रौ सूर्यौ ४ इति चतुःधष्ठि ६४ (क० टि०)

-{. ३०]

अथ कानि तानि कर्मक्षयकारणानि शुक्लघ्यानहेतव इति प्रश्ने गाथामिमां चकार श्रीकुन्दकुन्दाचार्यः----

णाणेण दंसणेण य तवेण चरियेण संजमगुणेण । चउहिं पि समाजोगे मोक्खो जिणसासणे दिट्ठो ॥३०॥ ज्ञानेन दर्शनेन च तपसा चारित्रेण संयमगुणेन ।

चतुर्णामपि समायोगे मोक्षो जिनशासने दृष्टः (दिष्टः) ॥३०॥ (णाणेण) ज्ञानेन । (दंसणेण य) दर्शनेन च (तवेण) तपसा । (चरि-येण) चरितेन चारित्रेण । (संजमगुणेण) संयमगुणेन एतज्वतुष्टयं संयमगुण उच्यते । (चउहि पि समाजोगे) चतुर्णामपि समायोगे सति एकत्र सामग्रयाम् (मोक्सो जिणसासणे दिट्ठो) मोक्षो जिनशासने दृष्टः कथितः । समस्तेन मोक्षो भवति न तु व्यस्तेन । उक्तञ्च वीरनन्दिश्विष्येण पद्मानिदना--

> 'वनशिस्तिनि मृतोऽन्धः संचरन् वाढमंह्रि---(छि) द्वितथ-विकलभूतिर्वीक्षमाणोऽपि सञ्जः । अपि सनयनपादोऽश्रदृषानश्च तस्माद् दगवगमचरित्रैः संयुतैरेव सिद्धिः ॥

अब आगे कमंक्षय के कारण तथा शुक्लध्यान के हेतु क्या क्या हैं ? यह प्रश्न होने पर श्री कुन्दकुन्दाचार्य निम्नलिखित गाया लिखते हैं ।

गाथार्थ-सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्तप और सम्यक्चारित्र ये चारों संयमगुण कहलाते हैं। इन चारों के एकत्रित होने पर ही जिन-बासन में मोक्ष कहा है।।३०॥

विशेषार्थ—सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन सम्यक्तप और सम्यक्चारित्र इन चारों के समायोग से ही जिन-शासन में मोक्ष की प्राप्ति बतलाई गई है। इन चारों के समायोग को संयम गुण कहा जाता है, अतः संक्षेत्र से संयम गुण के द्वारा मोक्ष होता है, ऐसा भो कहा जा सकता है। ज्ञान, दशनादि मिलकर ही मोक्ष के मार्ग हैं, भिन्न भिन्न नहीं। जैसा कि श्रो बीरनन्दो के शिष्य पद्मनिंद मुनि ने कहा है—

बनशिखिनि—अन्धा मनुष्य अच्छो तरह चलता हुआ, दोनों पैरों से रहित लैंगड़ा मनुष्य देखता हुआ और 'यह अग्ति है' इस श्रद्धा से रहित मनुष्य नेत्र और पैरों से सहित होता हुआ भी चूँकि दावानल में जल कर

१. पद्मनन्दिपञ्चविद्यतिकायाम् ।

णाणं णरस्स सारो सारो वि णरस्स होइ सम्मत्तं । सम्मत्ताओ चरणं चरणाओ होइ णिव्वाणं ॥३१॥

ज्ञानं नरस्य सारं सारमपि नरस्य भवति सम्यक्त्वम् । सम्यक्त्वतः चरण चरणतो भवति निर्वाणम् ॥३१॥

(णाणं णरस्स सारो) ज्ञानं नरस्य जीवस्य सारः । (सारोवि णरस्स होइ सम्मत्तं) सम्यक्तानादपि जीवस्य सम्यक्त्वं सारतरं भवति । तस्मात् (सम्मत्ताओं चरणं) सम्यक्त्वात् चरणं चारित्रं भवति ^२तस्मात् सम्यक्त्वं विना चारित्रं

मरता है इससे सिद्ध होता है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्झान और सम्यग्चा-रित्र इन तीनों के मिलने पर हो मोक्ष प्राप्त होता है ।

ी कार्य की सिद्धि के लिये दर्शन, ज्ञान और चारित्र तीनों का मिलना अग्रवस्यक है। इनके पृथक् पृथक् रहने पर कार्यको सिद्धि नहीं होती। एक बार वन में तीन मनुष्य पहुँचे--१. अन्धा, २. पंगु और ३ संशयालु। वन में आग लगने पर अन्धा मनुष्य भागने की चेष्टा करता है परन्तू सही सही मार्गं का ज्ञान नहीं होने से भाग नहीं पाता । पंगु मनुष्य यद्यपि सही सही रास्ता देखता है परन्तू दोनों पैरों से रहित होने के कारण भाग नहीं सकता और संशयालु मनुष्य यही निश्चय नहीं कर पाया कि यह आग लग रही है या पलाश-फूल रहे हैं अतः वह भागने को चेष्टा ही नहीं करता। इस तरह तोनों मनुष्य आग में जल कर मर जाते हैं। इस दृष्टान्त से दर्शन, ज्ञान और चारित्र तोनों की उपयोगिता सिद्ध है। कुन्दर्कुन्द स्वामी ने दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप इन चारों के समा-योग को मोक्ष का कारण माना है जब कि तत्त्वार्थ-सुत्रकार उमास्वामी तथा प्रयत्नदी आदि आचार्यों ने दर्शन, ज्ञान और चारित्र इन तीन के समायोग को मोक्ष का कारण माना है। इसमें सिद्धान्तभेद नहीं है क्योंकि तप चारित्र का ही विशिष्ट अज्ज है, अतः उमास्वामी आदि आचार्यों ने उसे सम्यक्चारित्र में ही अन्तर्निहित कर दिया है।] ॥३०॥

गाधार्थ—ज्ञान जीव के सारभूत है और ज्ञान को अपेक्षा सम्यक्त्व सारभूत है क्योंकि सम्यक्त्व से ही चारित्र होता है और चारित्र से निर्वाण की प्राप्ति होती है।।३१॥

- १. कस्मातु म०।
- २. बस्मात म• ।

-१. ३२]

त्रतिपालयन्नपि पुमानचारित्रो भवति । (चरणाओ होइ णिव्याणं) चर्णाण्चा-रित्रान्निर्वाणं सर्वकर्मक्षयलक्षणो मोक्षो भवति । तेन सर्वेभ्यो दर्शनमुत्क्रष्टमिति ज्ञातव्यम् ॥३१॥

णाणम्मि दंसणम्मि य तवेण चरिएण सम्मसहिएण । 'चउण्हंवि समाजोगे सिद्धा जीवा ण संदेहो ।।३२।।

ज्ञाने दर्शने च तपसा चारित्रेण सम्यक्त्वसहितेन । चतुर्णामपि समायोगे सिद्धा जीवा न संदेहः ॥३२॥

(णाणस्मि) झाने सति। (दंसणस्मि य) दर्शने च सति (तवेण) तपसा इत्ता। (चरिएण) चरितेन चारित्रेण इत्ता। (सम्मसहिएण) सम्यक्त्वसहि-तेन। झानं तपश्चारित्रं च व्ययं सम्यक्त्वं विना। तेन (चउण्हपि समाजोगे) चतुर्णा समायोगे मेलापके सति। (सिद्धा जीवा ण संदेहो) जीवाः सिद्धा मुक्तिं गता अत्र सन्देहो नास्ति।

गावार्ष---सम्यग्जान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्**तप और सम्यक्**चारित्र इन ेचारों के मिलने पर जीव सिद्ध होते हैं इसमें संदेह नहीं है ॥३२॥

विशेषार्थं — सम्यक्त्व अर्थात् यथार्थता से सहित झान, दर्शन, तप और चारित्र इन चारों का समायोग-मेल होने पर ही जीव सिद्ध होते हैं मुझ्ति को प्राप्त होते हैं। सम्यक्त्व से रहित ज्ञान दर्शनादि मुक्ति के कारण नहीं हैं और न पृथक् पृथक् ही मुक्ति के कारण हैं किन्तु चारों का मेल होने पर हो मुक्ति प्राप्त होतो है, इसमें सन्देह नहीं है। ऐसा ही कहा है —

१. बोब्द् वि म० ।

42

तथा चोक्तं----हतं झानं क्रिया शून्यं हता चाज्ञानिनः क्रिया । धावन्नव्यन्धको नष्टः पश्यन्नपि च पङ्गुकः ॥ तथा चार्ह्ताः----

ज्ञानं पङ्गी क्रिया चान्धे निःश्वद्धे नार्थकृद्द्वयम् । ततो ज्ञान-क्रिया-श्वद्धात्रयं तत्पदकारणम् ॥

कल्लाणपरंपरया लहंति जीवा विसुद्ध सम्मत्तं । सम्मद्दंसण रयणं अग्घेदि सुरासुरे लोए ॥३३॥

कल्याणं परम्परया लभन्ते जीवा विशुद्धसम्यक्त्वम् । सम्यग्दर्शन--रत्नं अर्ध्यते सूरासूरे लोके ॥३३॥

(कल्लाणपरंपरया लहंति जीवा विसुद्ध सम्पत्तं) कल्याणानां गर्भावतार-जन्माभिषेक-निष्क्रमण-ज्ञाननिर्वाणानां परम्परया श्रेण्या सह जीवा भव्यप्राणिनो विद्युद्ध-सम्यक्त्वं निरतिचार-सम्यक्त्वं प्राप्नुवन्ति । यदैव जीवः सद्दृष्टिभैवति

हत ज्ञानं--- किया अर्थात् चारित्र से शून्य ज्ञान नष्ट है और अकार्य-कारी है और ज्ञान-शून्य मनुष्य को किया नष्ट है---अकार्य-कारी है, अन्धा मनुष्य दौड़ता हुआ भी नष्ट होता है और लंगड़ा मनुष्य देखता हुआ भी अग्नि में नष्ट हो जाता है।

ऐसा हो आईत-जैन कहते हैं--

ज्ञानं पङ्गौ-लँगड़े मनुष्य का ज्ञान, अन्धे मनुष्य की किया और ब्रद्धा-हीन मनुष्य को दोनों ही-वस्तुएँ कार्यकारी नहीं हैं । इसलिये किया, ज्ञान और श्रद्धा इन तीनों को एकता ही मोक्षपद का कारण है ।।३२।।

गाथार्थ---भव्य जोव कल्याणों के सम्ह के साथ निर्दोष सम्यक्त्व को प्राप्त होते हैं। देव दानवों के भुवन में सम्यग्दर्शन रूप रत्न सबके द्वारा पूजा जाता है।।३३॥

विशेषार्थ--गर्भावतार, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण ये पांच कल्याणक हैं। भव्य जीव निरतिचार सम्यक्तव को प्राप्त होते हैं, और उसके साथ ही गर्भावतार आदि पांच कल्याणकों को भी प्राप्त होते हैं। उक्त कल्याणक तीर्थंकर परम देव के होते हैं। तात्पर्य यह है कि जब जीव सम्यग्दृष्टि होते हैं तभो तीर्थंकर परमदेव होते हैं। तीर्थंकर बनने के लिये दर्शन-विशुद्धि का होना अत्यन्त आवश्यक है। देव और दानवों

दर्शनप्राभृतम्

-१. ३४]

तदैव तीर्थकर-परमदेवो भवतीति भावः । (सम्महंसण रयणं) सम्यग्दर्शन-रत्नं (अग्वेदि सुरासुरे लोए) अर्घ्यते पूज्यते बहुमूल्यं भवति देवदानवभुवने । एतद् रत्न-मूल्यं कोऽपि कतु[°] न शक्नोति करोति चेन्मूल्यं तदा सद्यः कुष्ठी मुखे भवेत् ।।३३।।

बट्ठूण य मणुयत्तं सहियं तह उत्तमेण गुत्तेण । लद्रूण य सम्मत्तं अक्खय सुक्खं च मोक्खं च ॥३४॥

दृष्ट्वा च मनुजत्वं सहितं तथा उत्तमेन गोत्रेण । लब्ध्वा च सम्यक्त्वं अक्षयसुखं च मोक्षं च ॥३४॥ (दट्ठूण य) दृष्ट्वा च ज्ञात्वा । कि ? (मणुयत्तं) मनुजत्वं मनुष्य-जन्भ अनेकदृष्टान्तै दुर्लभं विचार्य महासमुद्रे-करच्युत-रत्नमिव । (सहिअं तह उत्तमेण गुत्तेण) उत्तमेन गोत्रेण कुलेन सहितं संयुक्तं । (लढूण य सम्मत्तं) सम्यक्त्वं ष लब्ध्वा । (अक्ष्य सुरुखं च मोक्खं च) एतत्सामग्रधं प्राप्य अक्षयसौक्ष्यं निध-शुद्ध-चुद्ध परमात्म-श्रद्धान-ज्ञानानुचरणस्वभावोत्थं परमानन्दलक्षणं सुखं भवति, न केवलमक्षयसुखं भवति मोक्षं च द्रव्यकर्मनोकर्मरहितं ऊर्घ्वंगमनलक्षणं परमनिर्वाणं च चकास्ति ॥ ३४ ॥

से युक्त इस संसार में सम्यग्दर्शन, सबके द्वारा पूजा जाता है। इस रत्न का मूल्य' कोई मी करने को समर्थ नहीं है। यदि उसका कोई मूल्य करता भी है तो वह मुहमें शीध ही कुष्ठो हो जाता है। अर्थात् अपने उपदेश के द्वारा जो सम्यग्दर्शन के महत्व को कम करता है उसके मुख में कुष्ठ होता है॥३३॥

गायार्थ---जो उत्तम गोत्र से सहित मनुष्य जन्मको अत्यन्त दुर्लंम विचार कर सम्यक्त्व को प्राप्त होता है वह अविनाशो सुख तथा मोक्षको प्राप्त होता है ॥३४॥

विशेषार्थ---जिस प्रकार हाथसे छूट कर महा समुद्रमें गिरा हुआ रत्न पाना अत्यन्त दुर्लम हो जाता है उसी प्रकार उत्तम गोत्रसे युक्त मनुष्य जन्मका पाना अत्यन्त दुर्लभ है। इस तरह अनेक दृष्टान्तोंके द्वारा मनुष्य जन्मकी दुर्लभताका विचार करके जो सम्यक्त्व--सम्यग्दर्शनको प्राप्त होता है वह निज शुद्ध बुद्ध अर्थात् सर्वज्ञ वीतराग स्वभावसे युक्त परमात्माके श्रद्धान ज्ञान और चारित्र स्वभावसे उत्पन्न परमानन्द--रुक्षण सुखको प्राप्त होता है। न केवल अविनाशी सुखको प्राप्त होता है किन्तु द्रव्यकर्म, नोकर्म और भावकर्मसे रहित ऊर्घ्वंगमन लक्षणसे युक्त निर्वाणको भो प्राप्त होता है। ३४।

ain Education International

विहरदि जाव जिणिंदो सहसट्ठसुलक्खर्णेहि संजुत्तो । चउतीस अइसयजुदो सा पडिमा थावरा भणिया ॥३५॥

विहरति यावज्जिनेन्द्रः सहस्राष्टसुलक्षणेः संयुक्तः । चतुर्स्त्रिश्वदतिशययुतः सा प्रतिमा स्थावरा भणिता ।।३५॥

(विहरदि जाव जिणिदो) विहरति पर्यंटति आर्यखण्डे यावत्सम्बोधनं करोति जिनेन्द्रस्तीयंकर-परमदेवः । स कयंभूतः (सहसट्ठमुलक्खणेहि संजुत्तो) अष्टाधिक-सहसलक्षणैः संयुक्तः । (चजतीस अइसयजुदो) चतुस्त्रिधादतिशययुतः (सा पडिमा थावरा भणिया) सा प्रतियातना प्रतिविम्बं प्रतिक्वतिः स्थावरा भणिता । इह मध्यलोके स्थितत्थात् स्थावरप्रतिमेत्युच्यते । मोक्षगमनकाले एक-रिमन् समये जिन-प्रतिमा जङ्गमा कय्यते । व्यवहारेण तु चन्दन कनक-महार्माण-स्फटिकादि-घटिता प्रतिमा स्थावरा । समवसरण-मण्डिता जङ्गमा जिनप्रतिमा प्रतिपाधते ।

अय कानि तानि जिन लखणानि अध्टाधिकसहस्रसंख्यानीति चेदुच्यस्ते---

गाथार्थ-एक हजार आठ शुभ लक्षणोंसे युक्त तथा चौंतीस अतिशयों से सहित तीर्थंकर भगवान जब तक यहां विहार करते हैं तब तक उनको स्थावर प्रतिमा कहा गया है ॥ ३५ ॥

विशेषार्थ-तीर्थंकर परम देव श्रीवृक्ष आदि १०८ लक्षणों और तिल मसा आदि नौ सौ व्यञ्जनों से सहित होते हैं तथा दश जन्मके, दश केवलज्ञान के और चौदह देवक्रुत इस तरह चौंतीस अतिशयों से सहित होते हैं। इन सब से युक्त तीर्थंकर जिनेन्द्र जब तक आर्यखण्ड में भव्य-जीवों को संबोधते हुए विहार करते रहते हैं जब तक उन्हें स्थावर प्रतिमा कहा जाता है और जब दे समस्त कर्मोंका क्षय करके एक समय में सिद-शिला को ओर अग्रसर होते हैं तब उन्हें जङ्गम प्रतिमा कहते हैं। प्रतिमा, प्रतियातना, प्रतिबिम्ब और प्रतिकृति ये सब प्रतिमाओं के नाम हैं। व्यव-हार की अपेक्षा चन्दन, सुवर्ण, महामणि तथा स्फटिक आदि से निर्मित प्रतिमा स्थावर प्रतिमा कहलाती है और समवसरण में सुशोभित विहार करने वाली जिन-प्रतिमा-तीर्थंकर परमदेव का शरीर जङ्गम प्रतिमा कही जाती है।

अब तीर्थंकर के शरीर में पाये जाने वाले एक हजार आठ लंबा कौन-कौन हैं यह प्रकट करते हैं----श्रीवृक्ष, हाथ और पैरोंमें शह्य, कमल,

दर्शनप्राभृतम्

ैश्रीवृक्षः । करचरणेषु श्रङ्खः । अम्भोजम् । स्वस्तिक । अक्कु्शः । सोरणं । चामरं । द्वेतातपत्रं । सिंहासनं । व्यवः । मत्स्यौ । कुम्भौ । कच्छपः । चर्का । समुद्रः । सरोवरं । विमानं । भवनं । गजः । नरनायौँ । सिंहः । वाणवनुषी । मेरुः । इन्द्रः । पर्वतः । नदी । पुरं । गोपुरं । चन्द्रः । सूर्यः । आत्यद्वाः । व्यजनं । वेणुः । वोणा । मृदङ्गः । पुष्पमाले द्वे । पट्टकूलं । हट्टः । कुण्डलादि षोडशाभरणानि ।

स्वस्तिक, अंकुश, तोरण, चामर, सफेदछत्र, सिंहासन, ध्वज, दो मच्छ, दो कलश, कछुआ, चक्र, समुद्र, सरोवर, विमान, भवन, हाथी, स्त्री पुरुष, सिंह, षनुषवाण, मेरु, इन्द्र, पर्वंत, नदो, पुर, गोपुर, चन्द्र, सूर्यं, उत्तम घोड़ा, व्यजन, बाँसुरी, वीणा, मृदङ्ग, दो पुष्पमालाएँ, रेशमोवस्त्र, बाजार, कुण्डल आदि सोलह आभूषण, फलोसे युक्त उपवन, अच्छी तरह पका हुआ धानका खेत, रत्नद्वोप, वज्ज, पृथिवी, लक्ष्मी, सरस्वती, कामघेनु, बैल, चूडामणि, महानिधि, कल्पबेल, सुवर्ण, जम्बूवृक्ष, गरुड, नक्षत्र,

१. विभुः कल्पतरुष्ठायां बभाराभरणोज्ज्वलः । शुभानि स्रक्षणान्यस्मिन् कुसुमानीव रेजिरे ॥ ३६ ॥ तानि श्री-वृक्षशङ्खान्जस्वस्तिकांकुशतोरणम् । प्रकीर्णकसितच्छत्रसिंहविष्टरकेतनम 11 30 11 षधौ कुम्भी च कुमंध्य चक्रमन्धिः सरोवरम् । ं विमालभवने नागौ नरनायौँ मुगाधिपः ॥ ३८ ॥ वाणवाणासने मेरुः सुरराट् सुरनिम्नगा । पुरं गोपुरमिन्द्वकौं जात्यस्वस्तालवृन्तकम् ॥ ३९ ॥ वेणुर्वीणा मृदञ्ज्वश्च सजौ पट्टांघुकापणौ । स्फुरन्ति कुण्डलादीनि विचित्राभरणानि च ॥ ४० ॥ उद्यानं फलितं क्षेत्रं सुपक्वकलसाञ्चितम् । रत्नद्वीपश्च वर्फ्जंच मही लक्ष्मीः सरस्वती ॥ ४१ ॥ सुरभिः सौरमेयक्ष्व चूडारलं महानिधिः। कल्पवल्ली हिरण्यं च जम्बूवुक्षरुच पक्षिराट् ॥ ४२ ॥ उडूनि तारकाः सौधं ब्रहाः सिद्धार्थंपादपः। प्रतिहार्याच्यहार्याणि मज्जुलान्यपराणि ष ॥ ४३ ॥ रुक्षणान्येवमादीनि विभोरष्टोत्तरं सतम् । व्यञ्जनान्धपराण्यासम् रातानि नव संख्यमा ॥ ४४ ॥ बादिपुराज क्वं १५ फलिनमुद्यानं । सुपक्वकलमक्षेत्रं । रत्नद्वीपः । वक्त्रं । मही । लक्ष्मीः । सरस्वतो । सुरभिः । वृषभः । चूडारत्नं । महानिधिः । कल्पवल्ली । हिरण्यं । जम्मूवृक्तः । गरुडः । नक्षत्राणि । तारकाः । राजसदनं ग्रहाः । सिद्धार्यपादपः । अष्टप्रातिहा-र्याणि । अष्ट मङ्गलानि । एवमादीनि अष्टोत्तरक्षतं लक्षणानि । तिलकं मसकादीनि नवधतव्यवञ्जनानि तान्यपि लक्षणशब्देनोच्यन्ते ।

अय के ते चतुस्त्रिंत्रशदतिशयाः ? निःस्वेदता, निर्मलता, क्षीरगौररुषिरता, समचतुरस्रसंस्थानं, वज्जवृषभनाराचसंहननं, सुरूपता, सुगन्धता, सुरुक्षणता, अनन्तवीर्थं, प्रियहित-वादित्वम्, इत्येते दशातिशया जन्मन आरम्य भवन्ति, तथा षातिकर्म-क्षयजा दशातिशयाः सन्ति, ते के ? गुल्यूतिशतचतुष्टय-सुभिक्षता, गगन-गमनं, प्राणिवधाभाव, भुक्तेरभावः उपसर्गाभावः, चतुर्मुक्तत्वम्, सर्वविद्या प्रभुत्वम्, प्रतिबिम्ब-रहितत्वम्, लोचनपक्ष्मनिःस्पन्दः, नस्वकेशानामवृद्धिः, इति धातिकर्म-क्षयजा दर्शातिशयाः, देवोपनोताश्चतुर्दशातिशयाः, तथाहि-सर्वाधंमागधीका भाषा, कोऽयमर्थः ? अर्ढं भगवद्भाषा भगधदेशभाषात्मक अर्ढं च सर्वभाषात्मकं, कथमेवं

तारका, राजभवन, ग्रह, सिद्धार्थवृक्ष, अष्ट प्रातिहार्य तथा अष्ट मङ्गल द्रव्य इन्हें आदि लेकर एकसौ आठ लक्षण होते हैं और तिल, मसा आदि नौसौ व्यञ्जन होते हैं। ये सब मिलकर एक हजार आठ लक्षण कहलाते हैं।

अब चौंतीस अतिशय कहते हैं----

पसोना नहीं आना, मलमूत्र रहित शरीर का होना, दूषके समान सफेद रुघिर, समचतुग्स्नसस्थान, वज्जवृषभनाराचसंहनन, सुन्दररूप, सुगन्धता, उत्तम लक्षणों युक्तपना, अनन्त वीर्य और प्रिय तथा हितकारी बचन बोलना ये दश अतिशय जन्म से ही होते हैं। इनके सिवाय घाति कर्मोंके क्षयसे होनेवाले निम्नलिखित दश अतिशय और होते हैं चारसौ-कोश तक सुभिक्ष रहना, आकाश में गमन होना, प्राणिवधका अभाव होना, क्वलाहार का अभाव, उपसर्ग का न होना, चारों दिशाओंमें मुख दिखना, सब विद्याओं का स्वामीपना, छायाका नहीं पड़ना, नेत्रोंके पलक नहीं लगना, और नख तथा केशोंका नहीं बढ़ना; ये केवलज्ञान के दश अतिशय हैं। अब देवोपनीत चौदह अतिशय कहते हैं---

सर्वार्थमागधी भाषाका होना। इसका अभिप्राय यह है कि दिव्य-ध्वनिमें अर्ध भाग तो भगवान् को भाषा है जो मगध देशकी भाषा स्वरूप

१. अम्बदुआक्या म० ।

होता है और आधा भाग समस्त भाषाओंका रहता है इसलिये उनको भाषाको सर्वार्थमागधी भाषा कहते हैं। भाषामें वह उक्त प्रकारका परिणमन मागधदेवोंके सन्निधानमें होता है इसलिये उसमें देवोपनीतपना बन जाता है। दूसरा अतिशय सब जनतामें मैत्रीभाव का होना है मागध-देवोंके अतिशय के कारण सब लोग परस्पर मागध भाषासे बोलते हैं और प्रीर्तिकर दैवोंके अतिशय से सब लोग परस्परमें मित्रता से रहते हैं । इस तरह दोनों अतिशय देवकृत अतिशय सिद्ध हैं । सब ऋतुओंके फल और फूलोंके गुच्छे प्रकट होना यह तीसरा देवकृत अतिशय है इसमें वक्ष आदि वनस्पतियोंके सब ऋतुओंके पल्लव और सब ऋतुओंके पुष्प आदि प्रगट होते हैं। चतुर्थं अतिशयमें पृथिवी दर्पणके समान रत्नमयो हो जाती है। र्पांचवें अतिशयमें वायु पीठकी ओरसे बहतो है । छठवें अतिशयमें सब लोगों को परम आनन्द होता है । सातवें अतिशय में सुगन्धित वायु आगे आगे एक योजन तककी भूमिको साफ करती रहती है अर्थात् धूलो कंटक आदिको दूर करती रहती है। आठवें अतिशय में उस साफकी हुई भूमि-पर मेघकुमार देव गन्घोदक-सुगन्धित जलकी वर्षा करते हैं। नौवें अतिशय में सुवर्णकी कलिकाओं और पद्मरागमणिमय केसरसे सुशोभित एक योजन विस्तार वाला कमल ऐसे हो चौदह कमलोंके साथ मगवानके पैरके नोचे होता है अर्थात् एक कमल भगवान्के पैरके नीचे और सात सात कमरू धागे पीछे होते हैं। सात सात कमलों की ३२ पक्तियाँ होती हैं। तथा

सुमन्धगन्वा वहा म• ।

> अक्षोकवृक्षः सुरपुष्पवृष्टिदिव्यष्वनिक्ष्वामरमासनं च । भामण्डलं दुन्दुभिरातपत्रं सत्प्रातिहार्याग्रि जिनेक्ष्वराणाम् ॥

वारसविहतवजुत्ता कम्मं खविऊण विहिबलेण स्सं । वोसट्टचत्तदेहा णिव्वाणमणुत्तरं पत्ता ॥३६॥ ढादशविषतपोयुक्ताः कर्म क्षप्यित्वा विधिबलेन स्वीयम् । व्युत्सगं-त्यक्त-देहा निर्वाणमनुत्तरं प्राप्ताः ॥ ३६ ॥

बीच का एक कमले । इस प्रकार ३२×७+१ = २२५ कमल कुल होते हैं । दशवें अतिशयमें पृथिवी पर अठारह प्रकारके अनाज उत्पन्न होते हैं । ग्यारहवें अतिशयमें दिशाएँ और आकाश धूली, धूमिका तथा दिग्दाह आदि दोषोंसे रहित होते हैं । बारहवें अतिशय में ज्योतिष्क, व्यन्तर तथा भवनवासी देव सौधर्मेन्द्रकी आज्ञासे सब देवोंका आह्वान करते हैं । तेरहवें अतिशय में चक्रवर्तीके सुदर्शन चक्रके समान भगवान्के आगे आकाशमें धर्मचक चलता है और चौदहवें अतिशय में अष्ट मङ्गल-द्रव्य दृष्टिगोचर होते हैं । सुवर्ण-मय झारी, तालपत्र, सुवर्ण कलश, पताका, सुप्रीतिका ठौना, सफेद छत्र, दर्पण और चमर ये आठ मङ्गल द्रव्य हैं । प्रत्यंक मङ्गल द्रव्य एकसौ आठ एक सौ आठ रहते हैं । इस प्रकार चौदह अतिशय देवोपनीत हैं ।

अब आठ प्रतिहार्यं कहते हैं---

अक्षोक वृक्ष—अक्षोक वृक्ष, देवकृत पुष्पवृष्टि, दिव्यध्वनि, चामर, सिंहासन, भामण्डल, दुन्दुभि और छत्रत्रय ये जिनेन्द्र देवके आठ प्रतिहाय हैं॥३५॥

गावार्य----बारह प्रकारके तपसे युक्त मुनि चारित्र के बलसे अपने कर्मोंका क्षय करके पद्मासन और कायोत्सर्गं इन दो प्रकारके व्युत्सर्गोंसे शरीरका त्याग करते हुए सर्वोत्कृष्ट निर्वामको प्राप्त हुए हैं ।।३६॥ (वारस विह तवजुत्ता) द्वादश-विधतपो-युक्ता मुनयः । (कम्मं सविऊण) कर्माष्टविषं क्षपयित्वा । (वोसट्टचत्तदेहा) पद्मासनकायोत्सर्गरूक्षण-द्विधि-व्युत्सर्गेण त्यक्तशरीरा मुनयः । (णिव्वाणमणुत्तरं पत्ता) निर्वाणं मोक्षमनुत्तरं सर्ववर्गेम्य उत्तर्भ प्राप्ता गताः सिद्धा इत्यर्थः । सम्यक्त्व-माहात्म्यमेतज्ज्ञातव्यमिति सिद्धम् ।

इति श्री पद्मनन्दि कुन्दकुन्दाचायं वक्रग्रीवाचार्यं गृद्धपिच्छाचार्यं नाम पञ्चक-विराजितेन सीमन्धर स्वामिज्ञान-सम्बोधितभव्यजनेन श्री जिनचन्द्र सूरि मट्टारकपट्टाभरणभूतेनं कलिकाल सर्वज्ञेन विर्राचते षट् प्राभृतग्रन्थे सर्वमुनिमण्डली मण्डितेन कलिकाल-गौतम स्वामिना श्री मल्लिभूषणेन भट्टारकेणानुमतेन सकल-विद्वज्जन-समाज-सम्मानितेनोभय-भाषा-कविचक्रवीतिना श्री विद्यानन्दि गुर्वन्तेवासिना सूरिवर श्री श्रुतसागरेण विरचिता दर्शनप्राभृत टीका सम्पूर्णा ।

विशेषार्थ----अनशन, ऊनोदर, वृत्ति-परिसंख्या, रस-परित्याग, विविक्त शय्यासन और काय-क्लेश इन छह बाह्य तथा प्रायक्तित्त, विनय, वैया-वृत्त्य, स्वाध्याय, व्युत्सगं और ध्यान इन छह अन्तरंगके भेदसे बारह प्रकारके तपों से युक्त मुनि, परम थथाख्यातचारित्र बलसे अपने कर्मोंका क्षय करके पद्मासन या खड़े आसनसे शरीरका त्याग करते हुए सब वर्गोंसे उत्तम निर्वाण को प्राप्त हुए हैं। यह सब सम्यग्दर्शनका माहात्म्य जानना चाहिये।।३६॥

इस प्रकार श्री पद्मनन्दी, कुन्दकुन्दाचायं, वक्रग्रीवाचायं, एलाचार्यं बौर गृद्धपिच्छाचायं इन पांच नामोंसे सुशोभित, सोमन्धर स्वामोके ज्ञान-से भव्य जीवोंको सम्बोधित करने वाले, श्री जिनचन्द्र सूरिभट्टारकके पट्टके आभरण स्वरूप, कल्लिकाल सर्वज्ञ कुन्दकुन्दाचायंके द्वारा विरचित षट् पाहुडग्रन्थ में समस्त मुनियोंके समूहसे सुशोभित, कल्काल के गौतम स्वामी श्री मल्लिभूषण भट्टारकके द्वारा अनुमत, सकल विद्वत्समाज के द्वारा सन्मानित, उभय भाषा सम्बन्धी कवियोंके चक्रवर्ती, श्री विद्यानन्द गुरुके शिष्य सूरिवर श्री श्रुतसागरके द्वारा रचित दर्शन पाहुडकी टीका सम्पूर्ण हुई। चारित्र प्राभृत के प्रारम्भ में संस्कृत टीकाकार श्री श्रुतसागर सूरि मङ्गलाचरण करते हुए प्रसिज्ञा वाक्य कहते हैं---सर्वार्थ-सिद्धिप्रदमहंदोशं विद्यादिनन्द वृषसस्यकन्दम् । मन्दोऽपि नत्वा विवृणोमि भक्त्या चारित्रसारं श्रुणुतार्यमुख्याः ॥ सव्वण्हू सव्वदंसी णिम्मोहा वीयराय परमेट्ठी । वंदित्तु तिजगवंदा अरहंता भव्वजीवेहिं ॥ १॥ णाणं दंसण सम्म चारित्तं सोहि-कारणं तेसिं । मुक्खाराहण-हेउं चारित्तं पाहुडं वोच्छे ।। २॥ सर्वज्ञान् सर्वदर्शिनः निर्मोहान् वीतरागान् परमेष्ठिनः । वन्दित्वा त्रिगद्वन्दितान् अहंतः भव्यजीवेः ॥ १॥ ज्ञानं दर्शनं सम्यक्चारित्रं शुद्धिकारणं तेषिम् । मोक्षाराधन-हेतुं चारित्रं प्राभुते वक्ष्ये ॥ २ ॥

(सञ्चण्हू) सर्वज्ञान् । (वंदित्तु) वन्दित्वा । (चारित्तं पांहुडं बोच्छे) चारित्रं नाम प्राभृतं चारित्रप्रामृतं चारित्रसारं नाम ग्रन्थं वक्ष्ये । कः कर्ता ? अहं

टोकाकारका मंगलाचरण—

अर्थ-हे आर्यंजनों में प्रमुख पुरुष हो ! यद्यपि मैं मन्दबुद्धि हूँ तथापि समस्त प्रयोजनोंकी सिद्धिके दाता अर्हन्त भगवान् को तथा धर्मरूपो धान्यकी उत्पत्तिके मूल कारण विद्यानन्द गुरुको भक्तिपूर्वक नमस्कार करके चरित्रमार-चारित्रप्राभृत ग्रन्थ को टोका लिखता हूँ सो श्रवण करो।

अब श्री कुन्दकुन्दाचार्य ग्रन्थके प्रारम्भमें मङ्गलाचरण करते हुए प्रतिज्ञावाक्य लिखते हैं---

गाथार्थ---सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, निर्मोह वीतराग, परम-पदमें स्थित, तोनों जगत के द्वारा वन्दित एवं भव्य जीवोंके द्वारा वन्दनीय अरहन्त भगवान को तथा उनकी विशुद्धताके कारण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्रको नमस्कार करके मोक्ष प्राप्ति के कारणभूत चारित्र-पाहुडको कहता हूँ ॥ १-२॥ -२. १-२]

कुन्दकुन्दाचार्यः । कयंभूतान् ? सर्वज्ञान् । (सव्वदंसो) सर्वदर्शिनो लोकालोका-वलोकनशीलान्, अपरं किंविशिष्टान् ? सर्वज्ञान् । (णिम्मोहा) निर्मोहान् मोहनीय-कर्म-रहितान् । भूयोऽपि किरूपान् ? (वीयराय) वीतरागान् वीतः क्षयं गतो रागो येषां ते वीतरागास्तान् । 'अज क्षेपेणे' इति तावद्धानु 'अजेवींः' इति सूत्रेण वीयादेशः । निष्ठावत प्रत्यये वीत इति निष्पद्यते । वीयराय इत्यत्र शस लोपः । भूयोऽपि किं विशेषणाञ्चितान् ? (परमेट्ठो) परमेष्ठिनः । कौऽर्थः ? परमे इन्द्र चन्द्रनरेन्द्र-पूजिते पदे तिष्ठतीति परमेष्ठीति व्युत्पत्तेः समवसरण-सम्पत्प्रमण्डितानित्यर्थः । अपरं कथंभूतान् सर्वज्ञान् ? (तिजगवंदा) त्रिजगद्दि-तान् त्रिभुवनस्थितभव्यजनपूजितानित्पर्यः । पुनरपि कथंभूतान् (वरहेता) [अ] अरिर्मोहः, रकारेण रजो लभ्यते तत्तु ज्ञानावरण-दर्शनावरण-कर्मद्वयं लभ्यते तया तेनैव प्रकारेण रहस्यमन्तरायः कथ्यते तेन धाति-वर्म-चतुष्टय-हननादिन्द्रादि-

विशेषार्य-जो समस्त द्रव्यों और उनकी कालत्रयवर्ती समस्त पर्यायोंको एक साथ विशेषरूप से जानते हैं उन्हें सर्वंज्ञ कहते हैं। जो समस्त लोक और अलोक को सामान्य रूपसे जानते हैं उन्हें सर्व-दर्शी कहते हैं। जो मोहनीय कर्म से रहित हैं उन्हें निर्मोह कहते हैं। जिनके राग द्वेष आदि दोष नष्ट हो गये हैं वे बोतराग कहलाते हैं। 'अज धातु का क्षेपण-नष्ट करना अर्थ होता है, निष्ठा-संज्ञक 'क्त' प्रत्यय होने पर अज धातुके स्थान में 'अजेवींः' इस सूत्रसे वी आदेश हो जाता है, इस तरह जिनके राग द्वेष आदि विकार नष्ट हो गये हैं वे वीतराग कहलाते हैं। जो इन्द्र चन्द्र नरेन्द्र आदिके द्वारा पूजित परम पदमें स्थित हैं उन्हें परमेष्ठो कहते हैं। जो तीनों लोकोंके द्वारा वन्दनीय हैं उन्हें त्रिजग-इन्दित कहते हैं। जिनके सम्यग्दर्शनादि गुण प्रगट होने की योग्यता है उन्हें भव्य कहते हैं। अरहन्त भगवान सवज्ञ आदि विशेषणोंसे विशिष्ट है। अरहंत शब्द का अर्थ लगाते हुए संस्कृत टोकाकारने 'अ' से अरि अर्थात् मोहनीय कर्मको लिया और 'र' से रज तथा रहस्य का ग्रहण किया है। रजका अर्थ ज्ञानावरण दर्शनावरण कर्म है और रहस्य से अन्तरायका बोध होता है, इस प्रकार अर अर्थात् चार घातिया कर्मोका जिन्होंने घात किया है वे अरहत कहलाते हैं । अथवा प्राकृतका अरहन्त शब्द संस्कृतको 'अहं' धातु से निष्पन्न होता है जिसका अर्थ पूजाके

 विशेषेण इता गता नष्टा रागा यस्य स वोतरागः । वीस शब्दः 'वि' उपसर्य-पूर्वकं 'इण् गतौ' धानुतः निष्ठा प्रत्यये सत्यपि सिष्यति । इतामनन्यसम्भविनीमहंणां पूजामहंन्तीत्यहंन्तस्तानहंतः । तथा (भव्वजीवेहि) भव्यजीवैर्वन्द्या इति सम्बन्धः । (णाणं दंसणं सम्मं चारित्तं सोहिकारणं तींस) तेषां सर्वज्ञानां वाति-संघातघातनलक्षणायाः श्द्धेः कारणं हेतुर्ज्ञानं दर्शनं सम्यक्-चारित्रं च कारणं । सम्मं इति शब्द एकत्र गृहीतोऽपि त्रिभियोंज्यः तेनायमर्थः सम्यग्ज्ञानं सम्यग्दर्शनं सम्यक्चारित्रं च सर्वेषामपि कर्मणां क्षयकारणं मूलादुत्मूल-नस्य हेतुरिति भावः । तेन (मुक्खाराहणं हेउं) तेन कारणेन मोक्षाराघनाहेतुं कारणं । किम् ? (चारित्तं) चारित्रं । पाटुडं प्राभृतं सारभूतं शास्त्रमहं वक्ष्ये इति क्रिया कारकसम्बन्धः । जुगलं एतद्राायाद्वयं युगलं युग्मं वर्तते ।। १-२ ॥

एए तिण्णि वि भावा हवंति जीवस्स अक्खयामेया । तिण्हं पि सोहणत्थे जिणभणियं दुविह चारित्तं ॥ ३ ॥ एते त्रयोर्ऽपि भावा भवन्ति जीवस्य अक्षया अमेयाः । त्रयाणामपि शोधनार्थं जिनभणितं द्विविधं चारित्रम् ॥ ३॥ (एए तिण्णि वि भावा) एते त्रयोऽपि भावा ज्ञान-दर्शन चारित्र-पदार्थास्त्रयः परिणामाः । (हवंति जीवस्स) जीवस्यात्मनः सम्बन्धिनो भवन्ति न तु पुरुग्रल-

योग्य होता है। इस तरह चार घातिया कर्मों के नष्ट होनेसे जो अन्य पुरुषों में न पाई जाने वालो अर्हणा-पूजाको प्राप्त हैं वे अरहन्त (अर्हत्) कहलाते हैं। कितनी ही जगह 'अरहंत' के स्थान पर 'अरिहंत' पाठ भी बोला जाता है जिसका सोधा अर्थ कर्म रूप शत्रुओं का घात करने वाला होता है। अरहन्त भगवानकी इस विशुद्धता का कारण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है अर्थात् इनके प्रभाव से उनके घाति-घतुष्क नष्ट होते हैं। चारित्र-पाहुडके प्रारम्भमें कुन्दकुन्द स्वामी अरहन्त परमेष्ठो तथा उक्त रत्नत्रयको नमस्कार कर मोक्ष प्राप्ति का प्रमुख कारण जो सम्यक्चारित्र है, उसका निरूपण करने वाले भाव पाहुड ग्रन्थ को कहने की प्रतिज्ञा करते हैं। १ १-२॥

गायार्थ-→ये तोनों भाव जोवके अविनाशो और अपरिमेय भाव हैं। इन तीनों भावों की शुद्धिके लिये जिनेन्द्र भगवान्के द्वारा कहा हुआ दो प्रकारका चारित्र है ॥ ३ ॥

विझेवार्थ----ज्ञान, दर्शन और चारित्र ये तीनों भाव जीव अर्थात् आत्मा के परिणाम हैं, पुद्गलके नहीं हैं। ये तीनों भाव अक्षय-अविनक्ष्वर और अमेय-अमयोदित-अनन्तानन्त हैं। यदि यहाँ कोई कहे कि ज्ञानमें बक्क्सपना तो ठीक है क्योंकि वह लोक और अलोकमें व्याप्त है परन्तु स्येति भावः । कयंभूतास्त्रयोऽपि भावाः ? (अक्सयाभेया) अक्षया अविनक्दराः अमेया अमर्यादीभूता अनन्तानन्ता इत्यर्थः । ज्ञानस्य तावदानन्त्यं भवत्येव स्रोकालोक-भ्यापकत्वात् । सम्यक्त्वचारित्रयोः कथमनन्तत्वं नियतात्मप्रदेश-स्थितत्वादिति चेन्न तयोरपि तत्सहचारित्वात् । यावन्मात्रं ज्ञानं तावन्मात्रं सम्यग्दर्शनं सम्यक्-चारित्रं च तेषामेकीभावनिक्चयात् (तिण्हं पि सोहणत्थे) त्रयाणामपि सम्यग्दर्शन-ज्ञान — चारित्राणां शोधनार्थे शोधननिभित्तं । (जिणभणियं दुविह चारित्तं) जिनैभंणितं प्रदिपादितं द्विविधं चारित्रं दर्शनाचार-चारित्राचार छक्षणं तद् वक्ष्यते ॥ ३ ॥

जं जाणइ तं णाणं जं पिच्छइ तं च दंसणं भणियं । णाणस्स पिच्छियस्य य समवण्णा होइ चारित्तं ॥४॥ यद् जानाति तद् जानं यत् पश्यति तच्च दर्शनं भणितम् । ज्ञानस्य दर्शनस्य च समापन्नात् भवति चारित्रम् ॥ ४॥ (जं जाणइ तं णाणं) यज्जानाति तज्ज्ञानं । (जं पिच्छइ तं च इंसणं भणियं) यत्पश्यति तच्च दर्शनं भणितं । ''क्रस्ययुटोऽन्यत्रापि च'' इति

सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र में अनन्तपना किस प्रकार हो सकता है ? क्योंकि वे नियत आत्म-प्रदेशों में हो स्थित रहते हैं ? तो उसका यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र भी ज्ञान के ही सहचारी हैं। जितना विस्तृत ज्ञान है उतने ही विस्तृत सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र हैं, इस तरह उनमें एकोभावका निश्चय है अर्थात् तीनों एक रूप हैं। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को शुद्धिका निमित्त जिनेन्द्र भगवान्के द्वारा कहा हुआ दर्शनाचार और चारित्राचार यह दो प्रकार का चारित्र है ।

(यहां जो ज्ञानको लोकअलोक-व्यापी कहा है उसका तात्पर्य इतना है कि ज्ञान लोक तथा अलोकके पदार्थोंको जानता है। प्रदेशों की अपेक्षा ज्ञान आत्म-द्रव्यके विस्तार के बराबर है, आत्माको छोड़कर वह लोक अलोकमें व्याप्त नहीं हो सकता।)

गायार्थ---जो जानता है वह ज्ञान है और जो प्रतीति करता है वह इर्जन कहा गया है। इन दोनोंके संयोगसे सम्यक्चारित्र होता है।।४॥

विशेषार्थ-कृत्य संज्ञक प्रत्यय तथा युद् प्रत्यय कारण और वधि-करज के सिवाय अन्य अर्थ में भी देखे जाते हैं इस नियमसे यहां ज्ञान और दर्शन का युट् प्रत्यय कर्दा अर्थ में हुआ है इसलिये ज्ञान सञ्चका वचनात् कर्तरि युट् प्रत्ययः । (णाणस्स दंसणस्स य समवण्णाः होइ चारितः) ज्ञानस्य दर्शनस्य च समापन्नात् समायोगाच्चारित्रं भवति ।

जिणणाणदिट्टिसुद्धं पढमं सम्मत्तचरणचारित्तं। विदियं संजमचरणं जिणणाणसदेसियं तं पि ॥५।

जिनज्ञानदृष्टिशुद्धं प्रथमं सम्यक्त्वचरणचारित्रम् ।

द्वितीयं संयमचरणं जिनज्ञानसंदेशितं तदपि ॥ ५ ॥

(जिणणाण दिट्ठिसुद्धं पढमं सम्मत्तचरण चारितं) जिनस्य सर्वज्ञ बीत-रागस्य सम्बन्धि यज्ज्ञानं दृष्टिदंर्शनं च ताम्यां शुद्धं पञ्चविद्यति—दोष-रहितं प्रथमं ताबदेकं सम्यक्त्वचरणचारित्रं दर्शनाचारचारित्रं भवति । (विदियं संजमचरणं) द्वितीयं संयमचरणं चारित्राचारलक्षणं चारित्रं भवति (जिणणाण सदेसियं तं पि) जिनस्य सम्बन्धि यत्सम्यग्जानं तेन सन्देशितं सम्यङ् निरूपितं तदपि चारित्रं भवति । उक्तञ्च—

> मूढत्रयं मदाल्चाच्टी तथानायतनानि वट् । अष्टी शङ्कादयल्चेति दृग्दोषाः पठच्चविंज्ञतिः ॥ ५ ॥

निरुक्त अर्थ है जो पदार्थोंको जाने और दर्शन शब्दका निरुक्त अर्थ है जो पदार्थोंको प्रतीति करे। यहाँ दर्शन शब्दसे प्रतीति अर्थ ही ग्राह्य है। जब सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञानका समायोग होतो है तब सम्यक्-चारित्र प्रगट होता है॥ ४॥

गायार्थ----चारित्र के दो भेद हैं उनमेंसे पहला जिनेन्द्र---वीतराग सवंज्ञदेवके ज्ञान और दर्शन से शुद्ध सम्यक्त्वचरण चारित्र है और दूसरा जिनेन्द्र देवके सम्यग्ज्ञान के द्वारा निर्रूपित संयम चरण चारित्र है ॥५॥

विशेषायं---सम्यक्त्वचरण चारित्रका दूसरा नाम दर्शनाचार चारित्र है। यह दर्शनाचार चारित्र सर्वज्ञ वीलरागके द्वारा प्रतिपादित ज्ञान और दर्शन से शुद्ध है अर्थात् आगे कहे जाने वाले पच्चीस दोषोंसे रहित है। तथा संयमचरण चारित्रका दूसरा नाम चारित्राचार है। यह चारित्रा-चार चारित्र जिनेन्द्र देव के सम्यग्ज्ञानके द्वारा अच्छी तरह निरूपित है। पच्चीस दोष इस प्रकार हैं---

मूड्-त्रयम्—तीन मूढता, बाठ मद, छह अनायतन और शङ्का आदि आठ दोष व सम्यग्दर्शन पच्चीस दोष हैं॥५॥ एवं चैव ज्ञात्वा च सर्वान् मिथ्यात्वदोषान् शङ्कादोन् । परिहर सम्यक्त्वमलान् जिनभणितान् त्रिविधयोगेन ॥

(एवं चिय णाऊण य) एवं चैव ज्ञात्वा च । (सब्वे मिच्छत्तदोस संकाई) सर्वान् मिय्यात्वदोषान् शङ्कादीन् । (परिहरि) परिहर हे जीव ! त्वं परित्यज । कषंभूतान् ? (सम्मत्तमला) सम्यक्त्वमलान् पूर्वोक्तश्लोककथितान् पञ्च-विंशतिदोषान् । कथंभूतान् ? (जिणभणिया) सर्वज्ञभणितान् श्रीमद्भगवद-हंत्सर्वज्ञवीतरागप्रतिपादितान् (तिविहजोएण) मनोवचनकायलक्षणकर्मयोगेन इत्ला । किं तन्मूदत्रयम् ? लोकमूढं, पाखण्डिमूढं देवतामुढं चेति । तत्र लोकमुढं-

सूर्याधों ग्रहणस्नानं संक्रान्तौ द्रविणव्ययः ।

सन्ध्यासेवाग्निसत्कारो देहगेहार्चना (गेहदेहार्चना) विधिः ॥ १ ॥
 गोपृष्ठान्तनमस्कारस्तन्मूत्रस्य निषेवणम् ।
 रत्नवाहनमूवृक्षशस्त्रशैलादिसेवनम् ॥ २ ॥
 आपगासागरस्नानमुच्चयः सिक्ताध्मनाम् ।

गिरिपातोऽर्गनपातक्च लोकमूढं निगद्यते ॥ ३ ॥

गायार्थ—ऐसा जानकर हे भव्य जीवो ! जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहे हुए तथा सम्यक्त्व में मल उत्पन्न करने वाले शंका आदि मिथ्यात्व के दोषोंका तीनों योगों से परित्याग करो ॥६॥

विशेषार्थ---श्रीमान् भगवान् अरहन्त सर्वंत्र वोतराग देव ने पूर्व इल्लोक में सम्यग्दर्शनके जिन पच्चीस दोषोंका निरूपण किया है उन्हें मनोयोग, वचनयोग और काय योग इन तीनों योगोंसे छोड़ो। लोक मूढता, पार्खाण्ड मूढता और देव-मूढताके भेदसे मूढताके तीन मेद हैं। उनमें से लोकमूढता का स्वरूप यह है---

सूर्यार्घो—सूर्य को अर्घ देना, ग्रहण के समय स्नान करना, संकान्ति में धनका खर्च करना, सन्ध्या सेवा, अग्निका सत्कार करना, देहले की पूजा करना, गाय के पृष्ठ भागको नमस्कार करना, उसके मूत्रका सेवन करना, रत्न सवारी, पृथिवी, वृक्ष, झस्त्र तथा पर्वत आदि की सेवा करना,

१. रत्नकरण्डश्रावकाचारे समन्तभद्रस्य ।

ैवरोपलिप्सयाशावान् रागद्वेषमलीमसाः ।

देवता यदुपासीत देवतामूढमुच्यते ॥४॥

^२सग्रन्थारम्भहिंसानां संसारावर्त्तवर्तिनाम् ।

पाषण्डिनां पुरस्कारो ज्ञेयं पाषण्डिमोहनम् ॥ ५ ॥ अष्टौ मदाः के ते ?

> ³ज्ञानं पूजां कुरुं जाति बलमृद्धि तपो वपुः । बष्टावाश्वित्य मानित्वं स्मयमाहर्गतस्मयाः ॥ ६ ॥

षडनायतनानि कानि तानि ?

कुदेवगुरुशास्त्राणां तद्भक्तानां गृहे गतिः।

षडनायतनमित्येवं वदन्ति विदितागमाः॥

प्रभाचन्द्रस्त्वेवं वदति---मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्राणि त्रीणि त्रयश्च तद्वन्तः पुरुषाः षडनायतानि । अथवा असर्वज्ञः १ असर्वज्ञायतनं २ असर्वज्ञज्ञानं ३

नदियों और समुद्र में स्नान करना, बालू और पत्यरोंका ढेर करना, पहाड़ से गिरना और अग्नि में पड़ना आदि लोकमूढ़ता कहलाती है।

सग्रन्था---परिग्रह तथा आरम्भसे सहित एवं संसार-रूपी भंवर में पड़े हुए पाषण्डियों----कुगुरुओंका सत्कार करना पाषण्डिमूढ़ता जानना चाहिये।

अब आठ मद कौन हैं ? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं---

झानं—ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप और घरीर इन आठ को लेकर अहंकार करना सो आठ प्रकारका मद है।

अब छह अनायतन कौन हैं ? इसका उत्तर कहते हैं---

• कुदेव --- कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्र और उनके भक्तोंके घर जाना इन छहको आगम के ज्ञाता पुरुष छह अनायतन कहते हैं। परन्तु प्रभावन्द्र छह अनायतनका इस प्रकार निरूपण करते हैं। मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र ये तोन तथा तोन इनके धारक पुरुष इस प्रकार छह अना-यतन हैं। अथवा असर्वज्ञका आयतन, असर्वज्ञका ज्ञान, असर्वज्ञके ज्ञानसे युक्त पुरुष, असर्वज्ञका अनुष्ठान और असर्वज्ञके अनुष्ठानसे सहित पुरुष ये छह अनायतन हैं।

- १. रत्नकरण्डश्रावकाचारे समन्तमद्रस्य ।
- २. बही ।
- १. बहो ।

-२. ७]

संसर्वज्ञानसमवेतपुरुषः ४ असर्वज्ञानुष्ठानं ५ असवज्ञा नुष्ठानसमवेतपुरुषश्चेति ६ शङ्कारयोऽष्ट यथा—शङ्का १ कांका २ विचिकित्सा ३ मूढवृष्टिः ४ अनुपयूहनं ५ अस्थितीकरणं ६ अवारसल्यं ७ अप्रभावना चेति ८ अष्टौ शङ्कादयः ॥ ६ ॥

णिस्संकिय णिक्कलिय णिन्विदिगिछा अमूढविट्ठी य ।

उवगूहण ठिदिकरणं वच्छल्ल पहावणाय ते अट्ट ।।७।। निःशङ्कितं निःकांक्षितं निर्विचिकित्सा अमूढदृष्टिरुच । उपगुहनं स्थितीकरणं वात्सल्यं प्रभावना च ते अष्टौ ॥ ७ ॥

(णिस्संकिय) इत्यादि । निःशस्त्रितं निर्भयत्वं परदर्शने जैनाभासे चामुक्ति-माननत्वं, अञ्जनचोरवज्जिनवचनमाननं च । (णिकंक्सिय) निष्कांक्षितं सम्यक्त्व-ब्रतादिफलेन राज्यदेवत्वेहभव--सुसेष्टजन-मेलापकत्वादिनिदानत्याकरणं । सीता-नन्तमतिमुतारादिवद् व्रतदाड्यं च (णिव्यिदिर्गिष्ठा) निर्विचिकित्सा रत्नवय-

शङ्कादिक आठ दोष निम्न प्रकार हैं---१. शङ्का २. कांका ३. विचिकित्मा ४. मूढदृष्टि ५. अनुपगूहन ६. अस्थितीकरण ७. अवात्सल्य और अप्रभावना ॥ ६॥

गायार्थ-निःशङ्कित १. निःकांक्षित २. निर्विचिकित्सा ३. अमूढ-दृष्टि ४ उपगूहन ५. स्थितीकरण ६. वात्सल्य ७. और प्रभावना ८. ये आठ सम्यक्षत्र के गुण हैं ॥ ७॥

विज्ञेचार्थ—सम्यक्त्वका पहला गुण निःशाङ्क्रित है। सप्तभयसे रहित होना प्रथवा बौद्ध आदि अन्य दर्शन और जैनाभास मतसे मुक्तिको नहीं मानना तथा अञ्जन चोरके समान जिनेन्द्र देवके वचनोंमें दूढ प्रतीति रखना निःशङ्क्रित गुण कहलाता है। दूसरा गुण निःकांक्षित है। सम्यक्त और व्रत आदिके फल स्वरूप राज्य, देवपर्याय, ऐहलौकिक सुख तथा इष्ट जनोंके मिलने आदिका निदान नहीं करना एव सीता, अनन्नमति तथा सुतारा आदिके समान व्रतमें दृढ़ता रखना निकांक्षित गुण करलाता है। तीसरा गुण निर्विचिकित्सा है। रत्नत्रयसे पवित्र मुनि-बनोंके शरोर सम्बन्धो मल आदिके देखने से उद्दायन महाराजके समान म्लानि नहीं करना निर्विचिकित्सा कहलाती है।

चौथा गुण अमूढ दृष्टि है। रेवती महादेवी के समान जिनेन्द्र भग-बात्के बचनोंमें शिथिलता नहीं करना अमूढद्ष्टि गुज कहलाता है।

१. बसबेह हागलुष्ठाम २० ।

पवित्रपात्रजन-शरीरमलादिदशंनेन शूकाया अकरणं उद्दायन-महाराजवत् । (अमूढदिट्ठी य) अमूढदृष्टिरुच जिनवचनेऽशिथिलत्वं रेवती महादेवीवत् । (उद-गूहण) उपगूहनं जिनधर्मस्थ-बालाशक्तजनदोपझम्पनं जिनेन्द्रभक्त-श्रेष्ठिवत् । (ठिदिकरणं) स्थितीकरणं सम्यक्त्वत्रतादेर्श्रश्यज्जैनस्य तत्र स्थापनं पुष्पदन्तविप्रस्य वारिषेणवत् । (वच्छल्ल) वात्सल्यं धर्मस्थजनोपसर्गनिवारणं अकम्पनादेविष्णु-कुमारमुनिवत् (पहावणा य) प्रभावना च जिनधर्मोद्योतनं परधर्मप्रभाव-विष्ठवसनं च वच्छकुमारविद्याधरमुनिवत् । (ते अट्ठ) ते सम्यक्त्वगुणा अष्ट भवन्ति ॥ ७ ॥

तं चेव गुर्णावसुद्धं जिणसम्मत्तं सुमुक्खठाणाय । जं घरइ णाणजुत्तं पढमं सम्मत्तचरणचारित्तं ॥ ८ ॥

तं चैव गुणविशुद्धं जिनसम्यक्त्वं सुमोक्षस्थानाय ।

यच्चरति ज्ञानयुक्तं प्रथमं सम्यक्त्वचरणचारित्रम् ॥ ८ ॥

(तं चेव गुण विसुद्धं) तच्चैव सम्यक्त्वं मुणविशुद्धं निःशङ्कितादिभिरष्ट-गूर्णविशुद्धं निर्मलं। (जिणसम्मत्तं) जिन सम्यक्त्वं जगत्पतिश्रोमद्भगवदहंत्स-

पाँचवां गुण उपगूहन है। जिनेन्द्र भक्त सेठके समान जिनधर्म में स्थित बालक तथा वृद्ध आदि असमर्थं जनोंके दोष छिपाना उपगूहन गुण कह-लाता है। छठवां गुण स्थितोकरण है। जिस प्रकार पुष्पदन्त ब्राह्मण को वारिषेण ने दृढ़ किया था उसी प्रकार सम्यक्त्व और व्रत आदि से अष्ट होते हुए मनुष्यको फिरसे उसीमें स्थिर कर देना स्थितिकरण गुण कहा है। सातवां गुण वात्सल्य है। जिस प्रकार अकम्पन आदि मुनियों का उपसगं विष्णुकुमार मुनि ने दूर किया था उसी प्रकार धर्मात्मा मनुष्य का उपसगं दूर करना वात्सल्य गुण कहलाता है। आठवां गुण प्रभावना है। वज्वकुमार नामक विद्याधर मुनिके समान जिनधर्मका उद्योत करना तथा अन्य धर्मके प्रभावका विध्वंस करना प्रभावना गुण कहलाता है। इस तरह निःशडिक्कत आदि सम्यक्त्व के आठ गुण हे। ७ ॥

गाथार्थ---निःशङ्कितादि गुणोंसे विशुद्ध वह सम्यक्त्व ही जिन-सम्यक्त्व कहलाता है तथा जिन-सम्यक्त्व ही उत्तम मोक्ष रूप स्थान की प्राप्तिके लिये निमित्तभूत है। ज्ञान सहित जिन-सम्यक्त्व का जो मुनि आचरण करते हैं वह पहला सम्यक्त्व-चरण नामका चारित्र है ॥ ८ ॥

-२.९]

ंजवीतरागस्य सम्बन्धिनी श्रद्धा रुद्रादिश्रद्धान-रहितं जिनसम्यक्त्वमुच्यते । रुद्रा-दिसम्यक्त्वं किम् १ तदुक्तं----

> अग्निवरसर्वंभक्ष्योऽपि भवभक्तिपरायणः । भुक्ति जीवन्नवाप्नोति मुक्ति तु लभते मृतः ।।

भवभक्ति----पराथणो रुद्रभक्तिपरायणः । (सुमुक्सठाणाय) सुमोक्षस्थानाय तीर्थंकरपरमदेवो भूत्वा सर्वकर्मक्षयरूक्षणं मोक्षस्थानं प्राप्नोति सुमोक्षस्थानं तस्मै सुमोक्षस्थानाय परमनिर्वाण-प्राप्त्ययंमित्यर्थः । (जं चरइ) यच्चरति यत्प्रतिपाल सतिः । (णाणजुत्तां) ज्ञानयुक्तं सम्यक्त्वं ज्ञान-सहितं सम्यक्त्वं । अथवा क्रिया-विशेषणमिदं । तेनायमर्थः ज्ञानयुक्तं यथा भवत्येवं चरति । (पढमं सम्मत्त-चरण-भारित्तं) द्वयोर्दर्शनाचारचारित्राचारयोर्मध्ये सम्यक्त्वाचारचारित्रं पढमं प्रथमं भवति ॥ ८ ॥

सम्मत्तचरणसुद्धा संजमचरणस्त जइ व सुपसिद्धा । णाणी अमूर्बादट्ठी अचिरे पावंति णिव्याणं ॥ ९ ॥

यह निर्मल सम्यग्दर्शन हो जिन-सम्यक्त्व कहलाता है। जिन-सम्यक्त्व में बगत्पति-श्रोमान्-भगवान्-अरहन्त-सर्वंज वीतराग देव की हो श्रद्धा रहतो है। रुद्र बादि देवोंकी श्रद्धा नहीं रहती। जिसमें रुद्र आदि देवोंकी श्रद्धा रहती है वह रुद्रादि-सम्यक्त्व कहलाता है। रुद्र-सम्यक्त्वका धारक जीव ऐसा मानता है---

अभिवत्—भव अर्थात् रुद्रकी भक्तिमें तत्पर रहने वाला मनुष्य अभिके समान सर्वभक्षी होने पर भी जीवित रहता हुआ सब प्रकारके मोगोंको प्राप्त होता है और मरने पर मुक्ति को प्राप्त होता है। जिन-सम्यक्त्वका धारक पुरुष तीर्थंकर परमदेव होकर समस्त कर्मोंके क्षय रूप मोक्ष स्थानको प्राप्त होता है। सम्यक्त्वके साथ ज्ञान अवश्य होता है। उस ज्ञान सहित जिनसम्यक्त्व का जो आचरण होता है वह दर्शनाचार मौर चारित्राचार इन दो प्रकारके चारित्रोंमें पहला सम्यक्त्वाचार नाम-का चारित्र होता है। अथवा 'ज्ञानयुक्त' यह क्रियाविशेषण है। इस पक्ष मैं गायाके उत्तरार्घ का ऐसा अर्थ समझना चाहिये—जो ज्ञान-पूर्वक किन-सम्यक्त्वका आचरण करता है वह पहला सम्यक्त्वचारित्र हे।।।।।

भाषार्थ—जो सम्यक्त्व-चरण से शुद्ध हैं अर्थात् निर्दोध सम्यग्दर्शन के बारक हैं, संयम्बरण से अतिशय प्रसिद्ध हैं अर्थात् अत्यन्त निर्दोध सम्यक्त्वचरणशुद्धाः संयमचरणस्य यदि वा सुप्रसिद्धाः । ज्ञानिभः अमृढदृष्टयः अचिरं प्राप्नुवन्ति निर्वाणम् ॥९॥

(सम्मत्तचरण सुद्धा) सम्यक्त्वचरणे सम्यक्त्वचारित्रे ये सूरयः शुद्धाः सम्यक्त्वदोषरहिताः सम्यक्त्यगुणसहिताइच भवन्ति । (संजमचरणस्स अइ द सुपसिद्धा) संयमचरणस्य यदि वा सुप्रसिद्धाः चारित्राचारे च सुप्रसिद्धाः सुष्ठु अतिशयेन प्रकर्षेण सिद्धं चारित्रं येषां ते सुप्रसिद्धाः सर्वलोक विदिता वा सम्यक्त्व-पूर्वकचारित्रप्रतिपालका इत्यर्थः (णाणी अमूढदिट्टी) ज्ञानिनोऽमूढदृष्टयस्व । (अचिरे पार्थति णिव्वाणं) अचिरे स्तोककाले निर्वाणं प्राप्नुवन्ति । अत्र बारि-त्रस्य मुख्यत्वेऽपि सम्यक्त्वज्ञानयोरपि सामग्रघमुक्तमिति भावः ॥९॥

> वच्छल्लं विणएण य अणुकंपाए सुदाणदच्छाए । मग्गणगुणसंसणाए अवगूहण रक्ष्सणाए य ॥ १० ॥ एएहिं लक्सणेहिं य लक्सिज्जइ अज्जवेहिं भावेहिं । जीवो आराहंतो जिणसम्मत्तं अमोहेण ॥११॥ वात्सल्यं विनयेन च अनुकम्पया सुदानदर्क्षया । मार्गगुणसंज्ञनया उपगूहनं रक्षणेन च ॥१०॥ एतैः लक्षणेः च लक्ष्यते आजवैः भावैः । जीव आराधयन् जिनसम्यक्त्वममोहेन ॥११॥

चारित्र के धारक हैं, सम्यग्ज्ञानी हैं और अमूढदृष्टि हैं अर्थात् विवेकपूर्ण दृष्टिसे युक्त हैं, वे शीझ ही निर्वाण को प्राप्त होते हैं ॥९॥

विशेषार्थ-जो पुरुष उपर कहे हुए सम्यक्त के पच्चोस दोषोंसे रहित हैं तथा निःशङ्कित आदि आठ गुणों से सहित हैं। संयमाचरण अर्थात् चारित्राचार के विषयमें अतिशय प्रसिद्ध हैं अथवा सवंछोकमें विख्यात हैं, सम्यग्दर्शन-पूर्वक चारित्रके पालन करने वाले हैं, जानी हैं अर्थात् स्वपर-मेद-विज्ञान से सहित हैं और अमूढदृष्टि हैं वे अल्प समय में निर्वाण को प्राप्त होते हैं। यद्यपि इस गायामें चारित्र की मुख्यता बत-लाई है तथापि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानकी समग्रता भी प्रकट की गई है। मोक्ष प्राप्ति के लिये सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तीनोंकी अनिवायाता आवस्यक है ॥९॥

गावार्थ-अमोह-मोह रहित अथवा अमोघ यानी-सफल जन्मका धारक मनुष्य, बारसस्य, विनय, उत्तमदान देनेमें समर्थ अनुकम्पा, मोक्ष- (एएहि लक्सणोहि य) एतैलंक्षणैः । जिनसम्यक्त्वम् । (आराहंतो) आरा-धयन् । (जीवो लक्सिज्जइ) जीव आत्मा लक्ष्यते झायते । न केवलमेतैभविरपितु (अज्जवेहि भावेहि) आजंवैभविंश्चाकुटिलपरिणामैश्चोपलस्यते । केन कृत्वा लक्ष्यते ? (अमोहेण) अमोहेनानझानतया झानेन विचक्षणतया । विवक्षणं विना सम्यक्त्वाराधकं पुरुषं कोऽपि न जानःति सम्यक्त्वपरिणामस्यातिसूक्ष्मत्वात् । अधवा अमोहेण अमोघेन सफलजन्मना पुरुषेण । एतैः कैरित्याह— (वच्छल्लं) एकं तावद्वात्सल्यं घर्मिष्ठजनेषु स्नेहल्त्वं सद्यः प्रसूतगौरिव वत्से वत्सलत्वेन सद्-दृष्टिविचक्षणैर्ज्ञायते । (विणएण य) विनयेन च विनयगुणेन गुरुजनेष्वम्युत्थान-सम्मुखगमन-करमोटनपादवन्दनादिभिर्गुणैः सद्दृष्टिर्विचक्षणैर्ज्ञायते । (अणुर्कपाए) अनुकम्भया दुस्तितं जनं दृष्ट्वा कारुण्यपरिणामोऽनुकम्पा तया सद्दृष्टिर्विचक्षणैन र्ज्ञायते । कथंभूतयानुकम्पया ? (सुदाणदच्छाए) शोभनदान दक्षया दुःखितजन-योग्यदान-विशिष्टया । (मग्गगुण संसणाए) मार्गगुण्यांसंसया निग्रं-व्य-लिक्षणो

मार्ग के गुणोंको प्रशंसा, उपगूहन, स्थितीकरण और अकुटिल परिणाम; इन लक्षणों के द्वारा जिनप्रतिपादित सम्यक्त्वकी आराधना करनेवाले पूरुष को पहिचानता है ॥१०-११।।

विज्ञेवार्थ---इन गायाओं में कुन्दकुन्द स्वामी ने जिन-प्रतिपादित सम्यक्त की आराधना करने वाले जीव को पहिचान बताते हुए लिखा है कि सम्यक्त्वरूप परिणाम अत्थन्त सूक्ष्म हैं, अतः उन्हें अमोह---अज्ञान से रहित विचक्षण—चतुर मनुष्व ही जान सकता है अथवा प्राक्वत में घ के स्थान में ह हाजाने के कारण अमोहेन का पर्याय अमोधेन लिया जाता है, अतः अमोध-सफल जन्म वाला मनुष्य ही सम्यग्दुष्टि जोवको जान सकता है। जिन लक्षणों के द्वारा सम्यग्दृष्टि जीव की पहिचान होती है उनमें वात्सल्य, विनय, उत्तमदान देनेमें दक्ष, अनुकम्पा, मार्गगुण प्रशंसा, उपगूहन, रक्षण और आर्जव भावोंका उल्लेख किया है। इन वात्सल्य आदिका स्वरूप इस प्रकार है-जिसप्रकार तत्काल प्रसूता गांव अपने बछड़े पर स्नेह रखती है उसी प्रकार धर्मात्मा जीवों पर स्नेह रखना बात्सल्य है। गुरुजनों के आनेपर उठ कर खड़े होना, सम्मुख जाना, हाथ बोहना, चरण-बन्दना करना आदिको विनय कहते हैं। दुखी मनुष्यको **देलकर करुणामाव** उत्पन्न होना अनुकम्पा कहलाती है। यह अनुकम्पा दुखी मनुष्योंके योग्य दान देनेमें तत्पर रहती है। निग्रन्यता ही मोकमाग है, परिग्रह सहित एवं वस्त्रादि से वेष्टित कोई भी मनुष्य मोशको प्राप्त

मोसमागंः सग्रन्थो वस्त्रादिवेष्टितः कोऽपि मोक्षं न गच्छति इति मोक्षमागंस्तवदेन सद्दृष्टिर्विचक्षणैर्ज्ञायते । (अवगूहण) उपगूहन बालाशक्त जन जनित दोषाम्झा-दनेन सद्दृष्टिर्विचक्षणैर्ज्ञायते (रक्ष्सणाए य) मागद्भ्रिक्ष्यज्जनस्थितिकरणेन सद्-दृष्टिर्विचक्षणैर्ज्ञायते इति क्रियाकारकसम्बन्धः ।

उच्छाहभावणा संपसंससेवा कुदंसणे सद्धा । अण्णाणमोहमग्गे कुव्वंतो जहदि–ैजिणसम्मं ॥१२॥

उत्साहभावनाः संप्रशंसासेवाः कुदर्शने श्रद्धां । अज्ञानमोहमार्गे कुर्वन् जहाति जिनसम्यक्त्वम् ॥१२॥

(उच्छाहभावणा संपसंससेवा) मिथ्यादृष्टिकथिताचारे योऽसावुत्साह उद्यमस्तं, संपसंख—सम्पङ्मनसा वचसा च प्रशंसनं स्तुतिवचनं, सेवा-मिथ्यादृष्टेः करादिना स्पर्शनं (कुदंसणे सढा) मिथ्यादर्शने श्रद्धां रुचि । (अण्णाणमोहमग्गे) न विद्यते ज्ञानं येषां तेऽज्ञानास्तेषां मोघो निष्फलो मोहो वा संशयादि रूपं योऽसौ मार्गः

नहीं होता; इस प्रकार मोक्षमार्गकी स्तुति करना मार्गगुण-प्रशंसा है। बालक तथा असमर्थ मनुष्यों के द्वारा उत्पन्न दोषों को छिपाना उपपूहन है, मार्गसे भ्रष्ट होते हुए मनुष्योंका स्थितीकरण करना रक्षण है और सरल परिणामी होना आर्जव भाव है। इन वात्सल्य आदि लक्षणों से सम्यग्दृष्टि जीव की पहिचान होती है।।१०-११।।

गाथार्थ-जो मनुष्य मिथ्यात्वाचरण में उत्साह रखता है, उसीकी भावना करता है, मन वचन से उसकी प्रशंसा करता है, हाथ आदिसे मिथ्यादृष्टि की सेवा करता है, तथा अज्ञानी जोवोंके मोध-निष्फल अथवा मोह-संशयादि-पूर्ण मार्गमें श्रद्धा करता है वह जिन-सम्यक्त्व को छोड़ देता है।।१२॥

विशेषार्थ---कौन जीव जिनसम्यक्त्व को छोड़ देता है इसका निरू-पण करते हुए कहा गया है कि जो मिथ्यादृष्टि के कथित आचार में उत्साह अथवा उद्यम करता है, मन और वचन से उसकी स्तुति करता है, मिथ्यादृष्टि गुरु आदि की हाथ आदि से सेवा करता है, मिथ्यादर्शन में रुचि रखता है, तथा ज्ञान-होन जोवोंके मोघ अर्थात् निष्फल अथवा मोह अर्थात् संशयादिरूप मार्गमें श्रद्धा करता है, वह जिनसम्यक्त्व को

१. जिलमग्गं क० ।

संसारदुःखकारी धर्मस्तस्मिन्नज्ञानमोहमार्गे श्रद्धां ठॉच कुर्वन् । (जहदि जिणसम्म) जिनसम्पत्स्वं जहाति मुञ्चति ॥१२॥

उच्छाहभावणा संपसंससेवा सुदंसणे सद्धा । ण जहदि जिणसम्मत्तं कुव्वंतो णाणमग्गेण ॥१३॥ उत्साहभावनासंप्रशंसासेवाः सुदर्शने श्रद्धाम् ।

न जहाति जिनसम्यक्त्वं कुर्वन् ज्ञानमार्गेण ॥ १३ ॥

(उच्छाहभावणासंपसंससेवा सुदंसणे सद्धा ण जहदि जिणसम्मत)----छत्साह-उद्यमस्तं कुर्वन्निति सम्बन्धः । भावणा शरीरात्कमंणश्चात्मा पृथग्वतैते इति मेदभावना तां। संपसंस-सम्यक् प्रकारेण मनोवचनकर्मभिः प्रशंसामहंदा-दीनां स्तुति कुर्वन् तया सेवां स्तपन पूजन स्तवन जपनादि गुर्बादि पाद संवाहना-दिकं च् कुर्वन् सुदंसणे सम्यग्दर्शने रत्नत्रयलक्षणमोक्षमार्गे तत्वार्थे च श्रद्धा रुचिं कुर्वन् जिनसम्यक्त्वं न जहाति न त्यजति उत्साहादिकं । केन कृत्वा कुर्वन् ? (णाणमग्येण) ज्ञानमार्गेण सम्यग्जानद्वारेण ।। १३ ॥

छोड़ देता है। अर्थात् जिन प्रतिपादित सम्यक्त्वसे भ्रष्ट हो जाता है॥१२॥

गायार्थ-जो ज्ञान-मार्ग अर्थात् सम्यग्ज्ञान के द्वारा सम्यक्तव-चरणमें उत्साह रखता है, उसीकी भावना करता है, आत्माको शरीर और कर्म-से पृथक् समझता है, अहंन्त आदि की स्तुति करता है, सुगुरु आदिकी सेवा करता है, और सम्यग्दर्शन में रुचि रखता है वह जिन-सम्यक्त्वको नहीं छोड़ता है ॥ १३॥

विशेषार्थ — कौन जीव जिनसम्यक्त्व को नहीं छोड़ता है इसकी चर्चा करते हुए कहा गया है कि जो सम्यग्ज्ञानके द्वारा सम्यग्दृष्टि जीवके आचारमें उत्साह रखता है, शरीर और कर्मसे वात्मा पृथक् है, ऐसी भावना करता है, सम्यक् प्रकारसे मन वचन और काय की चेष्टाके द्वारा अर्हन्त आदिकी स्तुति करता है, स्नपन, पूजन, स्तवन, जपन तथा गुरु आदिके पादमर्दन आदिसे उनकी सेवा करता है और सम्यग्दर्शन, रत्नत्रय रूप मोक्षमार्ग अथवा तत्त्वार्थकी श्रद्धा करता है, वह जिन सम्यक्त्व को नहीं छोड़ता है ॥ १३ ॥

अण्णाणं मिच्छत्तं वज्जहि णाणे विसुद्धसम्मत्ते । अह मोहं सारम्भं परिहर धम्मे अहिंसाए ॥१४॥ अज्ञानं मिथ्यात्वं वर्जय ज्ञाने विशुद्धसम्यक्त्वे । अथ मोहं सारम्भं परिहर धर्मेर्डीहंसायाम् ॥ १४॥

(अण्णाणं मिच्छत्तं वज्जहि णाणे विसुद्धसम्मते) अज्ञानं वर्जय दुरोकुरु, कस्मिन् सति ? णाणे ज्ञाने सम्यग्ज्ञाने सति, अज्ञानस्य ज्ञानं प्रत्यनीकं ततः । मिण्यात्वं वर्जय, कस्मिन् सति ? सम्यक्त्वे सति, मिथ्यात्वस्य सम्यग्दर्शनं प्रति-बन्धकं यतः । (अह) अयानन्तरं । (मोहं परिहर) परित्यज । कथंभूतं मोहं ? (सारंभं) सेवाक्टथिवाणिज्याद्यारम्भसहितं । कस्मिन् सति ? (धम्मे) धर्मे सति चारित्रे सति । तयारम्भं परिहर । कस्यां सत्याम् ? (अहिंसाए) अहिं-सायां सत्यां पञ्च्यमहाव्रतानि रात्रिभोजनवजनेषष्ठानि, सर्वाण्यहिंसानिमित्तं कथि-तानि यतः ॥ १४ ॥

पव्यज्ज संगचाए पयट्ट सुतवे सुसंजमे भावे । होइ सुविसुद्धझाणं णिम्मोहे वीयरायत्ते ॥१५॥ प्रत्रज्यायां सङ्गत्वागे प्रवर्तस्व सुतपसि सुसंयमे भावे । भवति सुविशुद्धध्यानं निमोहे वीतरागत्वे ॥ १५ ॥

गायार्थ--हे भव्य ! सम्यग्ज्ञानके होने पर अज्ञानको, विशुद्ध सम्य-ग्रोनके होने पर मिथ्यात्वको और अहिंसा धर्मके होनेपर आरम्भ सहित मोहको छोड़ो !! १४ ।।

विशेषार्थ----सम्यग्ज्ञान अज्ञानका विरोधी है अतः सम्यग्ज्ञान के होने पर अज्ञान को दूर करो । सम्यग्दर्शन मिथ्यात्वका प्रतिबन्धक है अतः सम्यग्दर्शन के होने पर मिथ्यात्वका परित्याग करो और अहिंसा----धर्म चारित्र रूप है अतः उसके होने पर सेवा, क्रुषि, वाणिज्य आदिके वारम्म-से सहित मोहको छोड़ो । अहिंसाके होने पर पांच महावत तथा रात्र--भोजन-त्याग । नामक छठवां अणुव्रत स्वयं हो जाते हैं क्योंकि ये सब अहिंसा के निमित्त कहे हैं ॥ १४॥

गायार्थ--हे जीव ! तू बस्त्रादि परिग्रहका त्याग होने पर दीक्षामें प्रवृत्त हो और उत्तम संयम भावके होने पर सुतप में प्रवृत्ति कर । जो मनुष्य निर्मोह होता है उसीके वीतरागताके होने पर उत्तम विद्युद्ध व्याव होता है ॥ १५ ॥ (पथ्वज्ज संगचाए पयट्ट) हे फीव ! त्वं प्रवज्यायां प्रवर्तस्व, कस्मिन् सति ? संगचाए संगस्य वस्त्राविपरिप्रहस्य स्यागे सति । तथा हे बात्मन् ! स्वं (सुतवे पयट्ट) सुतपसि प्रवर्तस्व । कस्मिन् सति ? (सुसंजमे मावे) झोभन-संयमपरिणामे सति । असंधमिनो मासोपवासादि-पुक्तस्यापि सुतपोऽसद्भावात् । तथा (होइ सुविसुद्धम्नाणं णिम्मोहे वीयरायत्ते) भवति सुविगुद्धध्यामं निर्मोहे पुत्रकल्वमित्रधनादिच्यामोहवर्जिते पुरुषे, यस्तु पुत्रादिमोहसहितो भवति तस्य विशिष्टं धर्म्यध्यानं गुक्लध्यान लेशोऽपि न भवति यतः तथा धीतरायत्वे सति सुविशुद्धध्यानं भवतीति तात्पर्थम् । उक्तं च योगोन्द्रदेव नाम्ना भट्टारकेण-

> जसुहरिणच्छी हियवडइ तासुन बंभुविचारि। एक्कहि केम समंति बढवे खंढा पढियारि॥

विझेषार्य----यहाँ दीक्षा, सुतप और विशुद्धध्यान की उत्पत्तिके मूल कारणों पर प्रकांश डालते हुएँ कहा गया है कि हे जीव ! तू वस्त्रादि परिग्रहका त्याग होनेपर मुनिदीक्षा में प्रवृत्त हो क्योंकि वस्त्रादिके रहते हुए मुनि दोक्षा संभव नहीं है। इसी प्रकार अन्तरङ्ग में उत्तम संयमरूप परिणामकें होने पर ही सुतप धारण कर क्योंकि असंयमी पुरुषके मासोप-वास आदिसे युक्त होने पर भी सुतपका सद्भाव नहीं रहता । सांसारिक मोगोंको आकांक्षासे रहित होकर केवल कर्म-निर्जरा के उदुदेश से जो तप होता है वह सुतप कहलाता है । ऐसा सुतप संयम भावके प्रगट होने पर हो हो सकता है। विशिष्ट धर्म्यध्यान और शुक्लघ्यानका प्रारम्भिक अंश सुविशुद्धध्यान कहलाता है। यह निर्मोहपुत्र स्त्रो मित्र तथा धन आदिके व्यामोह से रहित पुरुषके होता है, इसके विपरीत जो पुरुष पुत्रादि के मोहसे सहित होता है उसके वह संभव नहीं है । निर्मोह मनुष्य के होने वाला वह सुविशुद्ध घ्यान भी वीतराग भावके होने पर ही होता है। यद्यपि पूर्ण वोतरागता दशम गुणस्थानके बादमें होती है तथापि आपेक्षिक वीतरागता छठवें गुण-स्थानसे हो स्वीकृत की गई है। रागी मनुष्यके सुविशुद्धघ्यान नहीं होता । इस विषय में योगीन्द्र देव भट्टारक ने परमात्म-प्रकाश में कहा है ---

असु-अरे मूर्स ! जिसके हृदयमें मृगनयनी स्त्रो विद्यमान है उसके ब्रह्म--आत्मध्यान नहीं हो सकता, ऐसा विचार कर, क्योंकि एक म्यानमें दो तल्ल्वारें कैसे रह सकती हैं ?

[२. १६-१७-

'मूढस्य नालिय बढोे' इति प्राकृतव्याकरणसूत्रम् ।

मिच्छादंसणमग्गे मलिणे अण्णाणमोहदोसेहि । बज्झति मूढजीवा मिच्छत्ता बुद्धिउवएण ॥१६॥ मिथ्यादर्शनमार्गे मलिनेऽज्ञानमोहदोषाभ्याम् ।

वध्यन्ते मूढजीवाः मिथ्यात्वाबुद्धि-उदयेने ॥ १६ ॥

(मिच्छादसणमग्गे मलिणे) मिध्यादर्शनमार्गे मलिने पापरूपे सति । कैः कृत्वा ? (अण्णाणमोहदोसेहि) अज्ञानं पञ्चमिथ्यात्व--लक्षणं, मोहः पंच जैनाभास-लक्षणः, अज्ञानं च मोहश्चाज्ञानमोही तावेव दोषौ ताभ्यामज्ञानमोहदोषाभ्यां (बज्झोति) बध्यन्ते पापैः वेष्ट्यन्ते । के ते ? (मूढ जीवा) अज्ञानिनः । केन कृत्वा ? (मिच्छत्ताबुद्धिउदएणं) मिध्यात्वस्थाबुद्धेश्चाज्ञानस्योदयेन प्रादु-भविन ॥ १६ ॥

सम्महंसण पस्सदि जाणदि णाणेण दव्वपज्जाया । सम्मेण य सद्दहदि य परिहरदि चरित्त जे दोसे ।। १७ ॥ सम्यग्दर्शनेन पश्यति जानाति ज्ञानेन द्रव्यपर्यायान् । सम्यक्त्वेन च श्रद्द्धाति च परिहरति चारित्रजान् दोषान् ॥१७॥

दोहा में जो बढ शब्द आया है उसका अर्थ मूर्ख होता है क्योंकि 'मूढस्य नालिय बढी' इस प्राकृत व्याकरणके सूत्रसे मूढ शब्दक स्थान में मालिय और बढ आदेश होते हैं ॥ १५ ॥

गाथार्थ---अज्ञान और मोहरूपी दोषों से मलिन मिथ्यामार्गमें विच-रण करने वाले मूढजीव-अज्ञानी प्राणी, मिथ्यात्व और अज्ञानके उदयसे बन्धको प्राप्त होते हैं॥ १६॥

विशेषार्थ--एकान्त, विपरीत, संशय, अज्ञान और वैनयिक यह पाँच प्रकारका मिथ्यात्व अज्ञान कहलाता है तथा पाँच प्रकारके जैनाभासों की प्रवृत्ति करानेवाले विकारभावको मोह कहते हैं। इन दोनों दोषों से मिथ्यादर्शन रूपी मार्ग मलिन हो रहा है। इसमें विचरण करनेवाले अज्ञानी जीव मिथ्यात्व और अबुद्धि-अज्ञान रूप दोषों के उदय होनेके कारण पापोंसे बद्ध होते हैं ॥१६॥

गायार्थ-सम्पद्धिट मनुष्य, दर्शन और ज्ञानके द्वारा द्रव्य तथा उनकी पर्यायोका अच्छी तरह देखता और जानता है। सम्यक्त्व गुणसे उनकी श्रद्धा करता है और चारित्र सक्वन्धी दोषोंको दूर करता है।। १७॥ (सम्मद्दंसण गस्सदि) सम्यग्दर्शनेन सत्तावलोकन-रूपेण विशेषमकृत्वा । निराकाररूपेण पश्चति विलोकते । (जाणदिणाणेण) जानेन विशेषरूपेण साकार-रूपेण ज्ञानेनात्मा जानाति । कान् पश्चति ? कान् जानाति ? (दव्व पज्जाया) द्रव्याणि जीवपुद्गल-धर्माधर्मकालाकाशांस्तथा पर्यायांश्च । जीवस्य नरनारकादयः क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह, स्नेह पुण्यपापादयश्च पर्यायास्तान् पश्चति जानाति च । तथा पुद्गम्य द्रधणुकत्र्यणुकचतुरणुकपञ्चाणुकादिमहास्कन्धत्रैलोक्य-पर्यन्ताः पर्यायास्तान् पश्यति जानाति च । धर्मस्य येन रूपेण जीवयुद्गलौ गति कुस्तस्तद्रूपाः पर्यायाः । तथाऽधर्मस्य पर्यायाः स्थितिरूपा जीवादीनां ज्ञातव्याः । कालस्य समयावल्जिप्रभृतयः पर्यायाः, उक्तञ्च---

> ैलावल्लिससंखसमया संखेज्जावलिहि होइ उस्सासो । सत्तुस्सासा बोजो सत्तत्थोओ लवो भणिओ ॥१॥

विशेषार्थं---इस गाथामें सम्यग्दृष्टि मनुष्यके दर्शन, ज्ञान और चारित्र गुणके कार्योका उल्लेख किया गया है। यह घट है, यह पट है, इस प्रकारकी विशेषता न करके निराकार रूपसे सत्ता मात्रके अवलोकन को दर्शन कहते हैं। यह घट है, यह पट है इस प्रकार की विशेषता को लिये हुए साकार सविकल्प रूपसे पदार्थको जानना ज्ञान है । सम्यादृष्टि मनुष्य अपने दर्शन और ज्ञान गुणके द्वारा जीव, पुद्गल, धर्म, अर्घर्म, काल और आकाश इन द्रव्योंको तथा उनकी पर्यायोंको अच्छी तरह जानता है। जाव की नर नारकादिक तथा कोध मान माया लोभ मोह स्नेह पुष्य और पाप आदि पर्याय हैं। सम्यग्दृष्टि मनुष्य उन्हें सामान्य और विशेष रूपसे देखता तथा जानता है। द्वयणुक, त्र्यणुक और पञ्चाणुक को आदि लेकर तीन लोकरूप महास्कन्ध-पर्यन्त अनेक पर्याय हैं सम्यग्दृष्टि उन सबको अच्छो तरह देखता और जानता है । धर्मद्रव्यके जिस रूपसे जीव और पुद्गल गमन करते हैं, वह धर्म द्रव्यकी पर्याय है, सम्यग्दुष्टि उन्हें अच्छी तरह देखता और जानता है। जीव आदिक द्रव्योंका जो स्थिति रूप परिणमन है वह अधर्म द्रव्यकी पर्याय हैं। सम्यग-दृष्टि जीव उन्हें अच्छो तरह जानता है। समय तथा आवलि आदि काल द्रव्यकी पर्याय है । जैसा कि कहा गया है----

वावलि---असंख्यात समयकी एक आर्वाल हाती है, संख्यात आव-लियोंका एक उच्छ्वास होता है, सात उच्छ्वासका एक स्तोक होता है,

१. जोवकाण्डे ५७३, ५७४ तमी श्लोको ।

षट्प्राभृते

ैअट्ठत्तीसढलवा नालो दो नालिया मुहुत्तं तु । समऊणं तं भिष्णं अंतमुहुत्तं अणेयविहं ॥२॥

एकेन समयेन न्यूनो मुहूर्तो भिन्नमूहूतैः कथ्यते । अन्तमुंहूर्तस्त्वनेकप्रकारः । के तेऽनेकप्रकारा अन्तमुंहूर्तस्येत्याह-आवल्युपरि एकःसमयोऽधिको यदा भवति तदा जधन्याऽन्तमुंहूर्तो भवति । एवमावल्युपरि द्वधादयः समयाश्चटन्ति ते सर्वेऽप्यन्तमूंहूर्ता भवन्ति यावत्समयोनो मुहूर्तः । एवमहोरात्रपक्षमासत्त्र्यंयनवर्ष पूर्वपत्थोपमसागरो-पमावसर्पिण्युत्सर्पिण्यादयः कालस्य पर्याया ज्ञातव्याः । आकाशस्य तु पर्याया घटाकाशः पटाकाशः स्तम्भाकाश इत्यादय । (सम्मेण सद्हृद्दि य परिहरदि चरित्तजे दोसे) सम्यक्त्वेन च श्रद्धाति रोचते, न केवलं श्रद्धत्ते परिहरदि ध-परिहरति च । कान् ? चरित्तजे दोसे चारित्रजान् दोषानिति संबन्धः ॥१७॥

एए तिण्णि वि भावा हवंति जीवस्स मोहरहियस्स । णियगुणमाराहंतो अचिरेण वि कम्म परिहरद्व ॥१८॥

सात स्तोक का एक लव होता है, साढ़े अड़तोस लवको एक नाली होती है, दो नालियोंका एक मुहूर्त होता है, एक समय कम मुहूर्तको भिन्न-मुहूर्त कहते हैं। अन्तर्मुहूर्त अनेक प्रकार का होता है।

वे अन्तम हूतंके अनेक प्रकार कौन हैं ? इस बातका स्पष्टीकरण करते हुए संस्कृत टीकाकार कहते हैं कि जब आवर्लि के ऊपर एक समय अधिक होता है तब जवन्य अन्तम रूतं होता है। इसी प्रकार आवर्लिके ऊपर दो आदि समय चढ़ते हैं वे सभो अन्तम रूतं कहलाते हैं। यह कम एक समय कम एक मुहूर्त तक चलता रहता है। इस प्रकार दिन, रात, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, वर्ष, पूर्व, पल्योपम, सागरोपम, अवर्सापणी तथा उत्सपिणी आदि काल द्रव्यके पर्याय जानना चाहिये। आकाश के पर्याय घटाकाश, पटाकाश तथा स्तम्माकाश आदि हैं। सम्यग्दृष्टि जोव अपने सम्यक्त्व गुणके द्वारा इन द्रव्य तथा पर्यायों को श्रद्धा करता है तथा चारित्र में लगे हुए दोषोंका परिहार भी करता है ॥ १७॥

गाधार्थ—ये तीनों भाव-सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान ओर सम्यक् चारित्र-रूप परिणाम मोह रहित जीवके होते हैं। निज गुणकी आराधना करने वाला पुरुष अल्प कालमें ही कर्मों का क्षय कर देता है।। १८।।

वीवकाण्डे ५७३, ५७४ तमौ स्कोमी t

एते त्रयोऽपि भावा भवन्ति जीवस्य मोहरहितस्य । निजगणमाराधयन् अचिरेणापि कर्म परिहरति ॥ १८ ॥

(एए तिण्णि वि भावा हवंति जीवस्स मोहरहियस्स) एते त्रयोऽपि भावाः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रलक्षणाः परिणामा भवन्ति जीवस्यात्मनः । कथंभूतस्य जीवस्य ? मोहरहितस्य चारित्रमोहात्पञ्चविंशतिभेदाद्रहितस्य वर्जितस्य । (णिय-गुणमाराहंतो अचिरेण वि कम्म परिहरइ) निजगुणं शुढबुद्धं कस्वभावमात्मगुणं ज्ञानघ्यानस्वरूपमाराघयन्नचिरेण स्तोककालेन कर्म परिहरति सिद्धो भवति ।)१८॥

संखिज्जमसंखिज्जगुणं च संसारिमेरुमित्ता णं । सम्मत्तमणुचरंता करंति दुक्खक्खयं धीरा ।। १९ ।।

संख्येयामसंख्येयगुणां सर्षपमेरुमात्रां णं। सम्यक्त्वमनुचरन्तः कुर्वन्ति दुःखक्षयं धीराः ॥१९॥

(संखिज्जं) संक्येयगुणां निर्जेरां सम्यक्त्वं प्रतिपालयन्तो धीरो योगीश्वराः प्राप्नुवन्तीति । (असंखिज्जगुणं) असंख्येयगुणां निर्जरां (अणुचरता) चारित्रं पालयन्तो घोरा योगीक्ष्वराः । (करति) कुर्वन्ति तदनंतरं (दुक्खक्खयं करति)

विशेषार्थ---सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तोनों आत्माके स्वभाव हैं तथा तोन प्रकार के दर्शन-मोह और पच्चीस प्रकारके बारित्र-मोहसे रहित जीवके होते हैं। जो पुरुष अपने एक शुद्ध बुद्ध स्वभावको लिये हुए झानध्यान स्वरूप आत्मगुण की आराधना करता है बह कोझकी कर्मोंका क्षय करके सिद्ध होता है 11 १८ ॥

गायार्थ---सम्यक्त्वका पालन करने वाले धीर वीर योगीश्वर कर्मोंको संख्यात-गुणी निर्जरा करते हैं और चारित्रका पालन करनेवाले धीरवीर योगोश्वर कर्मोंको असंख्यात गुणी निर्जरा करते हैं। इस निर्जराके बाद दे दुःखोंका क्षय करते हैं। संख्यात-गुणी निर्जरा सरसों के बराबर है तो असंख्यात गुणो निर्जरा मेरु पर्वत के बराबर है॥१९॥

विशेषार्थ---गुणश्रेणी निर्जराके कारण सम्यादर्शन तथा चारित्र गुण हैं। सातिशय मिथ्यादृष्टि जोवके जितनो निर्जरा होती है उससे संख्यात-गुणो निर्जरा सम्यादृष्टि जोवके होतो है और इससे असंख्यात गुणो निर्जरा चारित्र गुणके प्रतिपालक धोर वीर यायीस्वरोंके होती है। गुपोरेत गुणके प्रतिपालक जोवोंके श्रावक, विरत, अनन्तानुबन्धो की विसंयोजना करने वाले, दर्शनमोहका क्षय करनेवाले, उनवन मेणीयाले, सर्वकर्मक्षयादनन्तरं मोक्षं प्राप्नुवन्तीत्थर्यः । कथंभूतां संख्येयगुणामसंख्येयगुणां च निर्जरां (सासारिमेरु मित्ताणं) सर्षपमेरुमात्राम् । सम्यक्त्वनिर्जरायाः सकाजात् चारित्रनिर्जरा बहुतरेति भावः । णं इति वाक्यालंकारे ॥ १९ ॥

दुविहं संजमचरणं सायारं तह हवे णिरायारं । सायारं सग्गंथे परिग्गहा—रहिय खलु णिरायारं ॥२०॥

द्विविधं संयमचरणं सागारं तथा भवेत् निरागारम् । सागार सग्रन्थे परिग्रहाद्रहिते निरागारम् ॥ २०॥

(दुविहं संजमचरणं) दिविधं संयमचरणं दिप्रकारक्ष्चारित्राचारः । कौ तौ द्वौ प्रकारौ ? (सायारं तह हवे निरायारं) सागारं तथा भवेन्निरागारं । सागारं कुत्र भवति ? (सागारं सग्पंथे) सागारं चारित्रं सग्रन्थे गृहस्ये भवति । तर्हि निरागारं चारित्रं कस्मिन् भवति ? (परिग्गहारहिय खलु निरायारं) परिग्रहा-द्वहिते निर्ग्रन्थे निरम्बरे निरागारं चारित्रं वेदितव्यमित्यर्थः ।

उपशान्त मोह, क्षपकश्रेणी वाले, क्षीणमोह और जिन; इसप्रकार अनेक भेद हैं। इन सब स्थानों में उत्तरोत्तर असंख्यात गुणी निर्जरा होती है। इस निर्जराके प्रभावसे योगोश्वर समस्त कर्मोंका क्षय कर दुःखोंका क्षय करते हैं अर्थात् मोक्ष प्राप्त करते हैं। संख्यातगुणो और असंख्यात गुणी निर्जरा का अनुपात बतलाते हुए कहा है कि संख्यात गुणी निर्जरा सरसों के बराबर है और असंख्यात गुणी निर्जरा मेरुके बराबर है अर्थात् सम्यग्दर्शनके प्रभाव से होने वाली निर्जरा मेरुके बराबर है अर्थात् निर्जरा बहुत है। गाथामें आया हुआ 'णं' शब्द वाक्यालंकार में प्रयुक्त हआ है।। १९।।

गाथार्थ—चारित्राचार के दो भेद हैं सागार और निरागार । सागार चारित्राचार परिग्रह-सहित गृहस्थ के होता है और निरागार चारित्राचार परिग्रह-रहित मुनिके होता है ॥ २० ॥

विशेषार्थ--हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाँच पापोंसे विरक्ति होनेको संयम कहते हैं। यह विरक्ति एक देश और सर्व-देशके भेदसे दो प्रकार को होती है। एक देश विरक्तिसे विकल संयम प्रकट होता है और सर्व-देश विरक्तिसे सकल संयम। विकल संयम परिग्रहके धारक गृहस्थके होता है और सकल संयम परिग्रहके त्यागी मुनि के होता है ॥ २०॥ अय सागारचारित्राचारं निरूपयन्ति श्रीकुन्दकुन्दाचार्याः----

दंसण वय सामाइय पोसह सचित्त रायभत्ते य । बंभारंभ परिगाह अणुमण उद्दिट्ठ देसविरदो य ॥२१॥ दर्शनं व्रतं सामायिकं प्रोषधं सचित्तं रात्रिभुक्तिझ्च । ब्रह्मचर्यं आरम्भः परिग्रहः अनुमतिः उद्दिष्टः देशविरतत्त्व ॥२१॥ अष्टौ मूलगुणाः । के ते ? वट³फलानामभक्षणं १ पिप्पलफलवर्जनं २ 'प्लक्षो बटी पर्कटी स्यात्' तत्फलनिवारणं ३ उदुम्बरो जघनेफलामलयुः 'गूलर' इति देश्यात् तत्फल-निषेषः ४ कठंजर कठुम्बर 'अंजोर' इति देश्यात् तत्फलानामभक्षणं ५ मद्य-मांस-मधुनिषेष ६-७-८ इत्यष्टौ मूलगुणाः । अथवा—

अब आगे श्रो कुन्दकुन्दाचार्य सागार चारित्राचारका निरूपण करते हैं—्

गायार्थ--दर्शन १ वत २ सामायिक ३ प्रोषघ ४ सचित्त त्याग ५ रात्रिभुक्तित्याग ६ ब्रह्मचर्य ७ आरम्भ त्याग ८ परिगृहत्याग ९ अनुमति-त्याग १० उद्दिष्टत्याग ११ यह सब देशविरत अथवा सागार चारित्रा-चार हैं ॥ २१ ॥

विशेषार्थ-अप्रत्याख्यानावरण कषाय के क्षयोपशम की हीना-षिकतासे देशविरत अथवा सागार चारित्राचारके दर्शन आदि ग्यारह भेद हैं। इन्हों को श्रावककी ग्यारह प्रतिमाएँ कहते हैं। सामान्यरूपसे दर्शन प्रतिमा-धारी श्रावकको आठ मूल-गुण धारण करने पड़ते हैं, सात व्यसनों-का त्याग करना होता है और सम्यग्दर्शन की भले प्रकार रक्षा करनी होती है। आठ मूल गुण कौन हैं? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए संस्कृत टीकाकार ने दो मतोंका उल्लेख किया है प्रथम मतके अनुसार बड़, पीपल, पाकर, ऊमर और अंजीर इन पाँच फलोंका तथा मद्य, मांस और मधु इन तीन मकारोंका त्याग करना आठ मूलगुण हैं। और द्वितीय मतके अनुसार मद्यपानका त्याग १ मांसत्याग २ मधुत्याग ३ रात्रिभोजन-त्याग ४ पञ्चफलोत्याग ५ पञ्चपरमेष्ठी की नुति-देवदर्शन ६ जोवदया ७ और पानी छानना ८; ये आठ मूल गुण बतलाये हैं। सात व्यसनोंका उल्लेख करते हुए लिखा है-

१. ते० के० मण्।

٤

२. तटफल नामफले क० ।

मद्यपलमघुनिकाञ्चनपञ्चफली विरति पंचकाप्तनुतीः । जीवदयाजलगालनमिति च स्वचिदष्टमूलगुणाः ॥ १ ॥ सप्तव्यसनवर्जनं । उक्तं च—

बूतमंससुरावेश्यासेटचौर्यंपराङ्गनाः । महापापानि सप्तैव व्यसनानि त्यजेद् बुद्यः ॥ २ ॥ सम्यक्त्वप्रतिपालनं परक्षास्त्राणामश्रवणमिति विशुद्धमतिः । मूलकनालिका----पपिनीकन्द^२ लघुनकन्द-तुम्बकफलकुमुम्भ-द्याक-कलिङ्गफल-सूरणकन्द-त्यागघ्व । अरणी-पुष्पं वरणपुष्पं शोभाञ्जन कुसुमं करीरपुष्पं काञ्चनार पुष्पमिति पञ्च-पुष्पस्यायः । ³ख्वपातैल्यूक्तं फलं सन्धानकं मूहर्तद्वयोपरि नवनीतं त्याज्यम् । मासादिसेबिनां भाष्टभाजनवर्जनं, धर्म-स्थितजल-स्नेह-हिनुपरिहारः । अस्थि-

डूतमांस-जुआ, मद्य, मांस, वेश्या, शिकार, चोरी और परस्त्री सेवन ये महापाप रूप सात व्यसन हैं, विद्वान् को इनका त्याग करना चाहिये।

सम्यक्ष्यको रक्षा करने के लिये अन्य मत-मतान्तरों के शास्त्रोंका श्रवण न करके अपनी बुद्धिको विशुद्ध-निर्मल रखना चाहिये। ऊपर कहे हुए सामान्य आचरण के अतिरिक्त दर्शन प्रतिमा-धारी श्रावक को निम्नलिखित बातोंपर भो ध्यान रखना आवश्यक होता है—मूली, नाली, मृणाल, लहशुन, तुम्बीफल, कुसुम्मकी शाक, तर्खूज और सूरण-कन्दका मी त्याग करना चाहिये। अरणो, वरण, सोहजना, करीर और कचनार, इन पांच प्रकारके फलोंका त्याग होता है। नमक, तेल, और घृतमें रखे हुए फल, आचार-भुरब्बा, दो मुहूर्तके बादका मक्खन, तथा मांसादिका सेवन करने वाले लोगोंके बनाने और खाने के वर्तनों का त्याग करना पड़ता है। चमड़े में रखे हुए जल, तेल और हींयका त्याग होता है। भोजन करते समय हड्डी, मदिरा, चमड़ा, मांस, खून, पीव, मल, मूत्र और मृत प्राणीके देखनेसे, त्यागी हुई वस्तुके सेवनसे, चाण्डालादि के देखने और उनके शब्द सुननेसे भोजन का त्याग करना चाहिये। घुने, मकू दे (फूलनसे युक्त) और चलित स्वादवाले अन्नका त्याग करना

- २. कन्दो क० ।
- स्वमतैरुष्तवृत्तपुतफलसन्धानकमुहूर्तद्वयोपरि नवनीतमांसाविसेविभाण्डमाजन-वर्धनं प्र० ।

R

१. नुती म० ।

डुराचर्ममांसरक्तपूर्यमलमूत्रमृताङ्गिदर्शनतः प्रत्यास्थातान्नसेवनाच्चाण्डालदिदर्श-नातच्छन्दश्रवणाच्च भोजनं त्यजेत् । सुललित-पुष्पित-स्वादचस्तितमन्नं त्यजेत् । षोडश प्रहरादुपरि तकं दघि च त्यजेत् । द्विदलान्नमिश्रं दघि तकं स्वादितं सम्यक्त्वमपि मलिनयेत् । ताम्बूलौषधजलं रात्रौ त्यजेत् । एष सर्वोऽपि (दंसज) दर्शन-प्रतिमाचारः । (वय) द्वादशव्रतानि, अहिंसा स्यूलवधाद्विरमणं, सत्यं; स्यूलसत्यवचनं, स्यूलमचौर्यं, ब्रह्मचर्यं स्वदारसंतोधः परदारनिवृत्तिः, कस्यचित् सर्वस्थीनिवृत्तिः, परिग्रहपरिमाणव्रतं, दिग्विदिव्यरिमाणविरतिः, अनर्यंदण्डपरि-हारः, भोगोपभोगपरिभाणमिति गुणव्रतत्रयम्, सामायिकं प्रोषधोपवासः, अतिथि-संविभागः, सल्लेखनामरणं चेति शिक्षाव्रतचतुष्टयम् । (सामाइय) त्रिकालसामा-

धाहिये। सोलह प्रहरके बादके तक और दहीका त्याग करना चाहिये। द्विदलानके साथ मिलाकर खाये हुए दही और तक सम्यग्दर्शन को भी मलिन कर देते हैं अतः इनका त्याग करना चाहिये। पान, औषध और पानोका भी रात्रि में त्याग करना चाहिये। यह सभी दर्शन प्रतिमाका आचार है।

रूसरो प्रतिमाका नाम व्रत प्रतिमा है इसमें निम्न-लिसित बारह व्रतोंका पालन करना होता है। पाँच अणुव्रत-अहिंसाणुव्रत अर्थात स्यूलहिंसा का त्याग करना, सत्याणुक्त अर्थात् स्यूल सत्य वचन बोलना, अचौर्थाणुवत अर्थात् स्थूल चोरीका त्याग करना, ब्रह्मचर्याणुवत अर्थात् अपनी एक स्त्रीमें सतीष रखना, अथवा अपनी अनेक स्त्रियोंमें संतोष रसते हुए परस्त्रीका त्याग करना, अथवा गृहविरत श्रावक की अपेक्षा सब प्रकार को स्त्रियोंका स्याग करना, परिंग्रह परिमाणाणुव्रत अर्थात् आवस्यक्तानुसार परिग्रहकी सीमा निश्चित करना । तीनगुणव्रत— दिग्वत अर्थात् दिशाओं और बिदिशाओंमें आने जाने की सीमा निर्धारित करना, अनर्थ-दण्ड-परिहार अर्थात् अपध्यान, दुःश्रुति, हिंसादान, पापोप-रेश और प्रमाद----चर्या इन पाँच निरर्थंक कार्योंसे विरत रहना और भोगोगभोग परिमाण अर्थात् भोग तथा उपभोग की संख्या निष्चित करना और बार शिक्षाव्रत--सामायिक, अर्थात् निश्चित समय तक पठ्ठव पापोंका स्थाग करके समताभाव धारण करना, प्रोषधोपवास अर्थात् अष्टमी षतुर्देशीके दिन उपवास करना अतिधिसंविभाग अर्थात् अतिधियोंके लिये बार प्रकार का दान देना, और सल्लेखनामरण अर्थात् अन्तिम समय सल्लेखना धारण करना तथा निरन्तर उसकी भावना रखना।

यिकं। (पोसह) पर्वोपवासः। (सचित) सचित्तस्याभक्षणं, (रायभत्ते य) रात्रिभोजनपरिहारो दिवा ब्रह्मचर्यं, (बंभ) सर्वथा ब्रह्मचर्यं। (आरंभ) सेवाक्रषिवाणिज्यादिपरिहारः। (परिग्गह) वस्त्रमात्रपरिग्रह-स्वीकारः सुवर्णादि-वर्जनं। (अणुमण) विवाहादिकर्मानुपदेशः। (उद्द्ट्टं) उद्ष्टाहारपरिहारः। (देस विरदो य) एवं सागार चारित्रम् ॥ २१ ॥

पंचेवणुव्वयाइं गुणव्वयाइं हवंति तह तिण्णि । सिक्खावय चलारि संजमचरणं च सायारं ॥ २२ ॥ पञ्चेवाणुव्रतानि गुणव्रतानि भवन्ति तथा त्रोणि ॥

शिक्षाव्रतानि चत्वारि संयमबरणं च सागारं॥ २२॥

(पंचेवणुव्ययाइः) पंचेवाणुव्रतानि भवन्ति । (गुणब्वयाइः हवति तह तिष्णि)गुणव्रतानि भवन्ति तथा त्रीणि । (सिक्खावय चत्तारि) शिक्षाव्रतानि

तीसरी सामायिक प्रतिमामें प्रतिदिन प्रातः मध्याह्न और सायंकालः सामायिक करना चाहिये ।

चौथी प्रोषध प्रतिमा में प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशो को शक्ति-अनुसार उपवास करना चाहिये।

पाँचवीं सचित्त-त्याग प्रतिमा में सचित्त-वस्तुओंके भक्षणका त्याग होता है।

छठवीं रात्रिभुक्ति-विरति प्रतिमामें रात्रिके समय भोजन करनेका त्याग करना अथवा दिनमें ब्रह्मचर्यकी रक्षा करना आवश्यक है ।

सातवीं ब्रह्मचयं प्रतिमामें स्त्री मात्रका त्याग होता है ।

आठवीं आरम्भ-त्याग प्रतिमा में सेवा, कृषि, तथा व्यापार आदिका परित्याग होता है ।

नौवीं परिग्रह-त्याग प्रतिमा में वस्त्रमात्र परिग्रह रखा जाना है तथा सुवर्णादिक धातुका त्याग होता है ।

दशवीं अनुमति त्याग प्रतिमा में विवाह आदि कार्यों को अनुमतिका त्याग होता है ।

ग्यारहवीं उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा में अपने उद्देश्यसे बनाये हुए आहारका परित्याग होता है।

इस प्रकार यह देशविरत अर्थात् सागार चारित्रका वर्णन है ॥ २१ ॥ गायार्थ---पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत थे बारहव्रत गृहस्य के संयमाचरण हैं ॥ २२ ॥ चत्वारि भवन्ति । (संजमचरणं च साधारं) संग्रमचरणं च सागारं भवति । एतानि द्वादशक्षतानि पूर्वमेव सूचितानि ॥ २२ ॥

थूले तसकायवहे थूले मोसे तितिक्खयूले य । परिहारो परपिम्मे परिग्गहारंभपरिमाणं ॥ २३ ॥ स्थूले त्रसकायवधे स्थूलायां मृषायां तितिक्षास्थूले च । परिहारः परप्रेम्णि परिग्रहारम्भपरिमाणम् ॥ २३ ॥

(यूले तसकायवहे) स्यूले त्रसकायवधे । परिहार इति शब्दक्ष्वतुषुं सम्बच्यते । (यूले मोसे) स्थूलमृषावादे परिहारः । (तितिक्खयूले य) तितिक्षा-स्यूले चौर्यस्यूले परिहारः । (परिहारो परपिम्मे) परिहारः क्रियते, कस्मिन् ? परप्रेम्णि परदारे । (परिग्गहारम्भपरिमाणं) परिग्रहाणां सुवर्णादीनामारम्भाणां सेवाकृषि-वाणिज्यादीनां परिमाणं क्रियते ।

दिसिविदिसिमाण पढमं अणत्यदंडस्स वज्जणं विदियं । भोगोपभोगपरिमा इयमेव गुणव्वया तिण्णि ॥ २४ ॥

- विशेषार्थ—पाँच पापोंसे विरत होना व्रत है। वह व्रत एक देश और सब देशको अपेक्षा दो प्रकारका होता है। लोक में जिन्हें पाप समझा जाता है ऐसे हिंसा आदि स्थूल पापोंसे विरत होनेको अणुव्रत कहते हैं वे पाँच होते हैं। जो अणुव्रतोंका उपकार करें उन्हें गुणव्रत कहते हैं। गुण-व्रत तोन होते हैं। जो अणुव्रतोंका उपकार करें उन्हें गुणव्रत कहते हैं। गुण-व्रत तोन होते हैं। जिनसे मुनिव्रत धारण करनेकी शिक्षा मिले उन्हें शिक्षाव्रत कहते हैं। सब मिलाकर गृहस्य के बारह व्रत होते हैं इनका स्वरूप पहिले कह चुके हैं।।२२।।

गायार्थ—स्यूल त्रसवध, स्थूल असत्य कथन, स्यूल चोरी और पर-स्त्रोका परिहार तथा परिग्रह और आरम्भका परिमाण ये पाँच अणुव्रत हैं।। २३॥

विशेषार्थ-स्थूल रूपसे त्रस जीवों की हिंसाका त्याग करना अहिंसा-णुव्रत है। स्थूलरूपसे असत्य कथनका त्याग करना सत्याणुव्रत है। स्थूल रूपसे चोरीका त्याग करना अचौर्याणुव्रत है। पर-प्रियाका त्याग करना ब्रह्मचर्याणुव्रत है और सुवर्णादि परिग्रह तथा सेवा, खेती और व्यापार बादिका परिमाण करना परिग्रह परिमाणाणुव्रत है। १२३॥

गाथार्थ---दिशाओं और विदिशाओंका प्रमाण करना पहला गुणव्रत है। अनर्थदण्डका त्याग करना दूसरा गुणव्रत है और भोग तथा उपमोग दिग्विदिग्माणं प्रथमं अनर्थंदण्डस्य वर्जनं द्वितीयम् । भोगोपभोगपरिमाणं इदमेव गुणव्रतानि त्रीणि ॥२४॥

(दिसिविदिसिमाण पढमं) दिग्विदिङ्मानं परिमाणं प्रथमं गुणवर्तं शतव्यम् । (लणत्यदंडस्स वज्जणं विदियं) अनर्थदण्डस्य वर्जनं द्वितीयं गुणवर्तं भवति । (भोगोपमोग-परिमा) भोगोपभोगपरिमाणं तृतीयं गुणवर्तं भवति । भोजनादिकं मोगः । वस्त्रस्त्रीप्रमुखमुपभोग इत्यर्थः । (इयमेव गुणव्वया । तिण्णि) इदमेवा-घरणं त्रीणि गुणवरानि भवन्ति ॥ २४ ॥

सामाइयं च पढमं विदियं च तहेव पोसहं भणियं । तइयं अतिहिपुज्जं चउत्य सल्लेहणा अंते ॥२५॥

सामायिकं च प्रथमं द्वितीयं च तथैव प्रोषघो भणितः । तृतीयमतिथि-पूज्यं चतुर्थं सल्लेखना अन्ते ॥ २५ ॥

विशेषार्थ—पूर्वं, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर ये बार दिशाएँ हैं तथा ऐशान, आग्नेय, नैऋत्य, वायव्य, ऊर्ध्वं और अधो ये छह विदिशाएँ हैं। इनमें आने जानेकी सीमा निश्चित करना सो पहला दिग्वत नामका गुणव्रत है। दूसरे गुणव्रतका नाम अनर्थंदण्ड त्यागव्रत है इसमें अपध्यान, दुःश्रुति, पापोपदेश, हिंसादान और प्रमादचर्या इन पांच निर्यंक कार्यों का त्याग करना होता है। भोगोपभोगपरिमाण नामका तीसरा गुणवत है। जो वस्तु एक बार भोगने में आती है उसे भोग कहते हैं जैसे मोजन आदिक तथा जो वस्तु बार-बार भोगनेमें आती है उसे उपभोग कहते हैं जैसे वस्त्र तथा स्त्री आदि। इनकी सीमाएँ निर्धारित करना भोगोपभोगपरिमाणवत है। ये तीन गुणव्रत हैं। २४॥

गाथार्थ---पहला सामायिक, दूसरा प्रोषध, तीसरा अतिथि-पूज्य और चौया मरण कालमें सल्लेखना धारण करना ये चार शिक्षावत हैं ।।२५।।

विशेषार्थ----सामायिक नामका पहला शिक्षाव्रत है। इसमें चैत्य-भक्ति, पद्मपरमेष्ठी भक्ति और समाधि भक्ति करना चाहिये। वत झातव्यम् । (विदियं च तवेह पोसहं भणियं) द्वितीयं च तयैव प्रोषघोषवासं झिक्षा-क्रतं भणितं प्रतिपादितं अध्यम्यां चतुर्दंश्यां च । तदपि त्रिविघं, चतुर्विघाहारपरि-वर्जंनमुत्क्रप्टं, अरु-सहितं मध्यमं, आचाम्लं जधन्यं प्रोषघोषवासं सवति यवाशक्ति कर्तंव्यम् । (तद्दयं च अतिहिपुज्जं) तृतीयं चातिथिपूज्यं, न विद्यते तिचिः प्रतिपदादिका यस्य सोऽतिथिः अथवा ैसंयम-पात्रार्थमतति गण्छति उद्दण्डचयौ

प्रतिमा में जो सामायिक होता है वह दिनमें एक बार, दो बार अथवा तीन बार होता है। परन्तु सामायिक प्रतिमामें जो सामायिक कहा गया है, वह नियमसे तीन बार करना चाहिये।

दूसरा शिक्षा-व्रत प्रोधघोपवास कहा गया है। प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशोको यह व्रत करना पडता है। प्रोधघोपवास शिक्षाव्रत उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्यके मेदसे तीन प्रकारका कहा गया है। अन्न-पान-साद्य और लेह्य इन चारों प्रकारके आहारका त्याग करना उत्कृष्ट प्रोष-घोपवास है। जिसमें पर्वके दिन जल लिया जाता है, वह मध्यम प्रोष-घोषवास है और जिसमें आचाम्लाहार किया जाता है वह जघन्य प्रोष-घोपवास है।

तीसरा शिक्षाव्रत अतिथिपूज्य अथवा अतिथि-संविभाग है। जिसे प्रतिपदा आदि तिथियोंका विकल्प न हो उसे अत्तिथि कहते हैं अथवा संयमकी प्राप्तिके लिये जो भ्रमण करते हैं अर्थात् अनुद्दिष्ट आहार की प्राप्तिके लिये जो श्रावकोंके घर चर्या करते हैं उन मुनियोंको अतिथि कहते हैं। जिसमें नवधा³-मक्ति और सात गुणोंसे सहित श्रावक के द्वारा उक्त अतिथि की पूजा की जाती है--- उसे आहारादिसे सन्तुष्ट किया जाता है, वह अतिथि पूज्य नामका शिक्षाव्रत है।

चौया शिक्षाव्रत सल्लेखना है । मरण समय काय और कषायको क्वश करना सल्लेखना है ।

[गुणव्रत और शिक्षाव्रतके नामोंमें विभिन्न मत पाये जाते हैं। सबै प्रथम कुन्दकुन्द स्वामी ने दिग्वत, अनर्थदण्डवत और भोगोपभोगपरिमाण इन तीनको गुणव्रत माना है। इसी मतका उल्लेख समन्तभद्र स्वामी ने

१. संयमलामार्थं म० ।

प्रतिप्रह, उच्चासन, चरणप्रक्षालन, पूथन, प्रणाम, मन-वचन-काय-भोबन की खुढि ।

करोतीत्यतिथिः यति स पूज्यो नव ैपुण्य-सप्तगुण-समन्वितेन श्रावकेण यस्मिन् शिक्षाव्रते तदतिथि-पूज्यं । (चउत्थ सल्लेहणा अन्ते) चतुर्थं शिक्षावतमन्ते मरणकाले सल्लेखना कायकषायतनूकरणमिति तात्पर्यम् ॥ २५ ॥

एवं सावयधम्मं संजमचरणं उदेसियं सयलं । सुद्धं संजमचरणं जइधम्मं णिक्कलं बोच्छे ॥२६॥

एवं श्रावकधर्मं संयमचरणं उपदेशितं सकलम् । शुद्धं संयमचरणं यतिधर्मं निष्कलं वक्ष्ये ॥२६॥

किया है परन्तु तत्वार्थ-सूत्रकार उमास्वामी ने दिग्द्रत देशद्रत और अन्य-दण्ड-व्रतको गुणद्रत माना है । प्रायः यही मान्यता उत्तरवर्ती आचायोंने स्वीकृत को है । श्रो कुन्दकुन्द स्वामोके मतानुसार चार शिक्षाव्रतोंके नाम इस प्रकार हैं----सामायिक-प्रोषधोपवास, अतिथि-संविभाग और सल्छे-खना । समन्तभद्र स्वामी ने देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास और वैयावृत्यको शिक्षाव्रत माना है । तथा उमास्वामी महाराज ने सामा-यिक, प्रोषधोपवास, भागोपभोग परिमाण और अतिथि-संविभागको शिक्षाव्रत कहा है । कुन्दकुन्द स्वामो ने देशव्रत का उल्लेख गुणव्रतों में किया है और कुन्दकुन्द स्वामो ने देशव्रत का उल्लेख गुणव्रतों में किया है और कुन्दकुन्द स्वामो ने देशव्रत का उल्लेख गुणव्रतों में किया है और कुन्दकुन्द स्वामोकी मल्लेखनाको शिक्षाव्रत सम्बन्धी मान्यता अन्य आचार्यों को सम्मत नहीं हुई क्योंकि सल्लेखना मरण काल में ही धारण की जा सकती है और शिक्षाव्रत सदा धारण करना पड़ता है । इस दृष्टिसे अन्य आचार्योंने सल्लेखना का बारह व्रतके अतिरिक्त वर्णन किया है । इसके स्थान पर उमास्वामीने अतिथिसंविभाग को और समन्तभद्र स्वामी ने वैयावृत्यको शिक्षाव्रत स्वोकार किया है । वैयावृत्य शब्द अतिथि संविभागका ही विस्तृत रूप है ।]

गावार्थ—इस प्रकार समस्त श्रावकधर्म-सम्बन्धी संयमाचरण चरित्रा-चारका कथन किया, अब शुद्ध और निष्कलञ्जू मुनिधर्मसम्बन्धी चारित्रा-चार का कथन करूँगा ll २६ ll

१. नव गुण म० ।

चारित्रप्राभृतम्

विल्वालाबुफले च त्रिभुवनविजयी शिलीघ्रकं न सेवेतौ । आ पञ्ज्वदर्शातीयम्यः पयोऽसि वत्सोद्भवात्समारम्य ॥१॥ तया च---

> दृतिप्रायेसु पानीयं स्तेहं च कुतुपादिषु^२। व्रतस्थो वर्जयेन्नित्यं योषितश्चाव्रतोचिताः ॥२॥

त्रिभुवनविजयोति भंगा तदुपलक्षणं सूक्ष्मकणत्वचाहिकेनादीनाम् । शिलीधकं गोमयच्छत्रं केतकीपुष्पदण्डिका च । चर्मसुलादिधृतं गुढादिकं नादेयम् । अभ्यु-

विल्बालाबु---श्रावकको बेल, तुम्बीफल, भाँग, शिलोधक बरसातमें गोबरके ऊपर उत्पन्न होने वालो छत्राकार वनस्पति जिसे कुकरमुत्ता कहते हैं, नहीं खाना चाहिये । इसी प्रकार बछडा उत्पन्न होनेके दिनसे पन्द्रह दिन तक भैंस आदिका दूघ मी नहीं पीना चाहिये त्रिभुवन-विजयी भाँगको कहते हैं उसे यहाँ उपलक्षण मात्र समझना चाहिये इसलिये ख़स खस दानेके वकल तथा अफीम आदि नशोली वस्तुओंका सेवन श्रावक को नहीं करना चाहिये । केतको केवडा के फूल भो श्रावकको वर्जनीय हैं ।

वृति—चमड़ेको मशक आदि में रखा हुआ पानी, और चमड़ेकी छोटी छोटी कुप्पियों में रखा हुआ तेल भी व्रती मनुष्पको छोड़ना चाहिये । व्रती मनुष्य अव्रती मनुष्यों के योग्य धर्महीन स्त्रियोंका सेवन भी नहीं कर सकता है । चमड़े की तराजूसे तोला हुआ गुड़ आदि भी व्रती मनुष्य को ग्राह्य नहीं है । व्रती पुरुष को सामायिक या पूजा आदिके प्रारम्भमें अन्य छोगोंके समान अभ्युक्षण अर्थात् अपने उत्पर जलके छीटे देना तथा आचमन अर्थात् चुल्लू में जल भर कर चाटना आदि कियाएँ नहीं करनी चाहिये । अभ्युक्षण और आचमन आदिका व्याख्यान विशेष शास्त्रोंसे जानना चाहिये ।

इस प्रकार श्रावक का धर्म---श्रावक-सम्बन्धी चारित्राचारका वर्णन करनेके बाद श्री कुन्दकुन्द स्वामी परिपूर्ण विशुद्धिसे सहित एवं निष्कलङ्क

२. कुतपादिषु क० स० 'कुत्: इतेः स्नेहपात्र सैवाल्पा कुतुपः पूमान्' इत्यमरः ।

[.] र. सेवते म० ।

क्षणाच मनादिकं च विद्येषशास्त्रोक्तं ज्ञातव्यम् । (सुद्धं संजमभरणं जद्दधम्मं णिक्कलं बोच्छे) शुद्धं परिपूर्णविशुद्धिसहितं यतिधमं निष्कलक्क्कं वस्ये कव-थिष्यामि इति वचनाच्छ्रावकधर्मस्य च तारतम्येनोत्क्रष्टता सूचिता भवतीति द्यातव्यम् ॥२६॥

पॉचदियसंवरणं पंचवया पंचविंसकिरियासु । पंचसमिदि तयगुत्ती संजमचरणं निरायारं ॥ २७ ॥

पञ्चेन्द्रियसंवरणं पञ्चवताः पञ्चविंशतिक्रियासु । पञ्च्वसमितयः तिस्रो गुप्तयः संयमचरणं निरागारस् ॥ २७ ॥

(पींचदियसंवरणं) पञ्चानामिन्द्रियाणां संवरणं कूर्मवत्संकोचनं। (पंचवया) पञ्चदताः । वत शब्दस्य पुन्नपुं सकत्वमुक्तमस्ति तेनात्र पुंस्त्वं सूचितं । तास्तु विवरिष्यति । (पंचविंस किरियासु) पञ्चविंधतौ क्रियासु सतीषु । ते पञ्च व्रता भवन्तीति भावः । (पंच समिदि) पंच समितयो भवन्ति । (तय गुक्ती) तिको गुप्तयः (संजम चरणं निरायारं) निराणारमनगारं चारित्राचारो भवतीति द्वार-धाचा वेदितव्या ॥ २७ ॥

मुनिधर्मके कहनेको प्रतिज्ञा करते हैं। उनके इस कथनसे आवक तथा मुनिधर्मका तारतम्य-हीनाधिकभाव अनायास प्रकट हो जावेगा ॥ २६ ॥

आगे पंचेन्द्रियसंवरका स्वरूप कहते हैं---

गाषार्थ---पञ्चेन्द्रियोंको वश में करना, पच्चोस क्रियाओके रहते हुए पञ्च महाव्रत धारण करना, पञ्च समितियोंका पालन करना और तीन गुप्तियोंको धारण करना मुनियोंका संयम-चारित्र है ॥ २७॥

अमणुण्णे य मणुण्णे सजीवदव्वे अजीवदव्वे य । ण करेइ रायदोसे पंचेंदियसंवरो भणिओ ॥ २८ ॥ अमनोज्ञे च मनोज्ञे सजीवद्रव्ये अजीवद्रव्ये च ।

न करोति रागद्वेषौ पंचेन्द्रियसंवरो भणितः ॥ २८ ॥

(अमणुष्णे प) अमनोझे चासुन्दरे च (मणुष्णे) मनोझे मनोहरे। (सजीव दथवे) इष्टवनितादी। (अजीव दथ्वे य) अजीव द्रथ्ये चाचेतनद्रव्ये अशन-वसन-कनक काचादिके (ण करेइ रायदोसे) न करोति रागद्वेषे। मनोझे रागं न करोति। अमनोझे द्वेषं न करोति। (पॉचिदियसंवरो भणिओ) पंचेन्द्रियसंवरो मणितः प्रतिपादितः ॥ २८॥

अच पंचवयां इत्येतस्पदविवरणार्यं माह---

हिंसाविरइ अहिंसा असच्चविरई अदत्तविरई य । तुरियं अबंभविरई पंचम संगम्मि विरई य ॥२९॥ हिंसाविरतिरहिंसा असत्यविरतिरदत्तविरतिरच ।

ाहसावरातराहसा असत्यावरातरदत्तावरातरव्ता । तूरीयमब्रह्मविरतिः पञ्च्चमं संगे विरतिश्च ॥२९॥

गावार्य---मनोज्ञ और अमनोज्ञ चेतन तथा अचेतन पदार्थोंमें रागदेष नहीं करना पञ्च्चेन्द्रिय-संवर कहा गया है ॥ २८ ॥

आगे पाँचव्रतोंका वर्णन करते हैं---

गायार्थ-हिंसाविरति अर्थात् अहिंसा, असत्यविरति, अदत्तविरति, बन्नह्यविरति और सञ्जूबिरति ये गौचन्नत हैं ॥२९॥ (हिसाविरइ अहिंसा) हिंसाविरतिरहिंसा प्राणातिपातविरतिभंवति । (अस-ज्वविरई) असत्यविरतिद्वितीयं महाव्रतं भवति । (अदत्तविरई य) अदत्त विर-तिश्चादत्ताद्विरतिरदत्तविरतिस्तृतीयं महाव्रतं भवति । (तुरियं अवंभविरई) अब्रह्मविरति मैंथुनाद्विरमणं तुरियं — चतुर्थं महाव्रतं झातव्यम् । "चतुरो यदीयौ चलोपश्चेति" सूत्रसाधुत्वात् । (पंचमसंगम्मि विरई य) पंचमं महाव्रतं भवति । का ? सङ्गे परिग्रहे विरतिश्च परिग्रहाद्विरमणमित्यर्थंः ॥२९॥

साहंति जं महल्ला आयरियं जं महल्लपुर्व्वहिं। जं च महल्लाणि तदो महल्लया इत्तहे ताइं ॥३०॥ साधयन्ति यन्महान्तः आचरित यन्महत्पूर्वैः। यच्च महान्ति ततः महाव्रतानि एतस्माद्वेतोः तानि ॥३०॥

(साहंति जं महल्ला) साधयग्ति यद्यस्मात्कारणात् प्रतिपालयन्ति । के ते ? महल्ला-महान्तो गुरूणामपि गुरवः पुरुषः । (आयरियं जं महल्लपुर्व्वेहि) आच-रितमादृतं वा यद्यस्मात् कारणात् महल्लपुर्व्वेहि-महद्भिः गुरुभिः पूर्वेः चिरन्त-नाचार्येः वृषभादिभिमहावीर-पर्यन्तैः वृषभसेनादिगौतमान्त-गागघरैश्च जम्बू-

विशेषार्य— त्रस और स्थावर-दोनों प्रकारके जीवोंके प्राणधातसे विरत होना सो अहिंसा महाव्रत है। असत्य वचन के विरत होना सो सत्यमहाव्रत है। विना दी हुई वस्तुके ग्रहण से विरत होना अदत्तत्याग अथवा अचीर्य महाव्रत है। स्त्रीसेवन से विरति होना सो अब्रह्मत्याग अथवा ब्रह्मचर्य महाव्रत है अरेर परिग्रह का सर्वथा त्याग होना सो परिग्रह-त्याग महाव्रत है ॥२९॥

आगे महाव्रत नामकी सार्थकता बतलाते हैं----

गाथार्थ---चूँकि महापुरुष इनका साधन करते हैं, पूर्ववर्ती महापुरुषों ने इनका आचरण किया है, और स्वयं ही ये महान् हैं अतः उन्हें महा-व्रत कहते हैं ॥३०॥

विशेषार्थ---अहिंसा आदिको महाव्रत क्यों कहते हैं ? इस प्रश्नका उत्तर देते हुए कुन्दकुन्दस्वामीने तोन हेतु दिये हैं । प्रथम हेतु में उन्होंने कहा है कि चूँकि महापुरुष अर्थात् गुरुओं के भी गुरु श्रेष्ठ जन इनका साधन करते हैं इसलिये इन्हें महाव्रत कहते हैं । दूसरे हेतु में उन्होंने कहा है कि चूँकि पूर्ववर्ती बड़े बड़े आचार्यों ने, भगवान् वृषभदेव को आदि स्वामि-भर्यन्तैश्च । (जं च महल्लाणि) यच्च यस्मात्कारणात् महल्लाणि-स्वयं महान्ति गुरुतराणि । (तदो महल्लया इत्तहे) ततस्तस्मात्कारणात् इत्तहे----एतस्माढेतोः (ताइं) तानि महाव्रतानीत्युच्यन्ते ।।३०॥

वयगुत्ती मणगुत्ती इरियासमिदी मुदाणणिक्खेवो । अवलोयभोयणाए हिंसाए भावणा होंति ॥३१॥

वचोगुप्तिः मनोगुप्तिः ईर्यासमितिः सुदाननिक्षेपः। अवलोक्य भोजनेन अहिंसाया भावना भवन्तिः॥३१॥

(वयगुत्ती) वचोगुप्तिरेका। (मणगुत्ती) मनोगुप्तिर्दितीया भावना। (इरियासमिदी) ईर्यासमितिस्तृतीया भावना। (सुदाणणिक्खेवो) आदाननिक्षेपः पुस्तककमण्डल्वादिकमुपकरणं पूर्वं विलोक्य मृदुना मयूरपिच्छेन प्रतिलिख्य गृह्यते प्रियते च सुदान--निक्षेप उच्यते। (अवलोयभोयणाए) अवलोक्य पुनः पुनः दृष्ट्वा भोजनं क्रियतेऽवलोक्य भोजनं तेन विलोक्य भोजनेन। प्राक्ठते लिङ्गभेदः नपुंसकस्य स्त्रोरवं एता अहिंसामहाव्रतस्य पंचभावना भवन्तीतिः वेदितच्यम् ।।३१॥

लेकर महावीर पर्यन्त तोर्थंकरों ने, वृषभसेन को आदि लेकर गौतमान्त गणघरों ने तथा जम्बूस्वामी पर्यन्त सामान्य केवलियों ने इनका आचरण किया है, इनका आदर किया है इसलिये इन्हें महावत कहते हैं। और तीसरे हेतु में कहा है कि वे स्वयं महान हैं-अत्यन्त श्रेष्ठ हैं इसलिये महावत कहे जाते हैं।।३०।।

गायार्थ-वचन-गुप्ति, मनो-गुप्ति, ईर्या-समिति आदान-निक्षेप समिति और आलोकित-पान ये पाँच अहिंसाव्रत की भावनाएँ हैं॥३१॥

बागे सत्य महाव्रत की पाँच भावनाएँ कहते हैं— कोहभयहासलोहामोहा विवरीयभावणा चेव । विदियस्स भावणाए ए पंचेव य तहा होंति ॥३२॥ क्रोधभयहासलोभमोहा विपरीतभावनाः चेव । द्वितीयस्य भावना इमाः पञ्चेव च तथा भवन्ति ॥३२॥

(कोहभयहासलोहामोहा) कोधश्च भयंच हासश्च लोभश्च मोहश्च कोध-भयहासलोभमोहाः । (विवरीय भावणा चेव) विपरीतभावनाश्चवे । एतेषा पञ्च्यानां विपरीतभावनाः अकोधनः, अभयः, अहासः, अलोभः अमोहश्चेति । उक्तं च गौतमेन भगवता—

अकोहणो अलोहो य भयहस्सविवज्जिदो ।

अणुवीचीभासकुसली विदियं वदमस्सिदो ॥१॥

अत्रामोह----शब्देनानुवीचोभाषाकुशल इति लभ्यते । वीची वाल्लहरी तामनुकुत्य या भाषा वर्तते सानुवीचीभाषा, जिनसूत्रानुसारिणी भाषा अनुवीची-भाषा पूर्वाचार्यसूत्र परिपाटोमनुल्लक्क्य भाषणीयमित्यर्थः । उनसं उमाल्नामि-भट्टारकेण---

गावार्य-अक्रोध, अभय, अहास, अलोम और अमोह ये द्वितीय-सत्य महाव्रत की पाँच भावनाएँ हैं ॥ ३२॥

विशेषार्थ----असत्य बोलनेके कारण निम्न प्रकार हैं--कोध, भय, हास्य लोभ और मोह । इनसे विपरीत अकोध, अभय, बहास्य, अलोभ और अमोह की भावना होना सत्य महावत की पाँच भावनाएँ हैं । भगवान गौतम ने भी ऐसा ही कहा है ।

. -२, ३४]

"कोषलोभभी वत्वहास्यप्रत्यास्यानान्यनुवीची भाषणं च पञ्च" (विवियस्स भावणाए) द्वितीयस्य महाव्रतस्य भावनाः । (ए पंचेव) इमाः पंचभावनाः । (होति) भवन्ति ।।३२॥

आगे आचीर्यमहादत की पाँच भावनाएँ कहते हैं----

सुण्णायारणिवासो विमोचितावास जं ५रोधं च) एसणसुद्धिसउत्तं साहम्मी संविसंवादो ॥३३॥ जून्यागारनिवासो विमोचितावासो यत् परोधं च । एषणाशद्धिसहितं सधर्मसमविसंवादः ॥३३॥

(सुण्णायारनिवासो) शून्यागारेषु गिरिगुहातरुकोटरादिषु निवासः क्रियते तथा सति अचौर्यं व्रतभावना प्रयमा भवति । (विमोचितावास) छ्वसप्रामादिषु विमोचितावासेषु धाट्यादिभिरुद्वसेषु इतेषु निवासः क्रियतेऽचौर्यंव्रतस्य भावना दिलीया भवति । (जं परोधं च) परेषामुपरोधो न क्रियते भाटकाद्यधिक 'स्वामिनोदत्या स्वयं न निरुष्यतेऽचौर्यंवत-भावना तृतीया भवति परोपरोधस्या-करणमित्यर्थः (एसणसुद्धिसंडत्तं) एषणासुद्धिमंयुक्तं सहितं, आगमानुसारेण

उमास्वामी भट्टारक ने भी कहा है----

कोध---कोधत्याग, लोभत्याग, मधत्याग, हास्यत्याग, और अनुवीची-भाषण ये पाँच सत्यव्रत की भावनाएँ हैं ॥ ३२ ॥

गाधार्ष---शून्यागार निवास, विमोचितावास, परोपरोधाकरण, एषणाशुद्धि सहितत्व और सधर्माविसंवाद ये पाँच अचौर्य महाव्रत की भावनाएँ हैं।। ३३ !!

विश्लेवार्थ-- शून्यागार अर्थात् पर्वतों की गुफाओं और दूक्षों को कोटरों आदिमें निवास करना अचौर्यंत्रत की पहलो भावना है। जो गौंव राजाओंके आक्रमण आदिसे उजड़ हो जाते हैं---वहांके निवासी लोग अपना स्वामित्व छोड़ अन्यत्र चले जाते हैं उन्हें विमोचितावास कहते हैं, ऐसे आवासों में निवास करना अचौर्यमहावत को दूसरी भावना है। परोपरोधाकरण ठहरते समय दूसरों को रुकावट नहीं करना, मालिक को अधिक भाड़ा आदि देकर स्वयं किसी स्थानको न घेरना यह वचौर्य महावतकी तीसरी भावना है एषणाशुद्धिसे सहित होना अर्थात् चरणा-नुयोग के बनुसार भिक्षा की शुद्धि रखना-उसमें किसी प्रकार के दोष नहीं कगाना बचौर्यमहावत को चौर्या अखना है। और सहर्षामयोंके सम्मुझ अ

१. स्वामिना म० ।

भैक्ष्यशुद्धिरचौर्यंव्रतभावना चतुर्थो भवति । (साहम्मीसंविसंवादो) संघर्माणां संमुखो भूत्वा सम्यक्प्रकारेण विसंवादो विगतसंवादो विवादो न क्रियतेऽचौर्यंव्रत-भावना पञ्च्चमी भवति ॥३३॥

आगे ब्रह्मचर्य महाव्रतको पाँच भावनाएँ कहते हें----

महिलालोयणपुञ्चरइ सरणससत्तवसहि विकहाहि । पुट्टियरसेहिं विरओ भावण पंचात्रि तुरियम्मि ॥३४॥ महिलालोकनपूर्वरतिस्मरणसंसक्तवसति विकथाभिः । पुष्टरसैः विरतः भावनाः पञ्चापि तुर्ये ॥३४॥

(महिलालोयण) महिलाया आलोकनं स्त्री-मनोहराज्ज-निरीक्षणं तस्मादिरतः पराइ मुखः । (पुव्वरइसरण) पूर्वरत स्मरणं पूर्व या स्त्रीभिः क्रीडा तस्माः स्मरणं चिन्तनं तस्मादिरतः । (संसत्तवसहि) स्त्रीणां समीपतरे या वसति-निवासः तस्मादिरतः निजशरीरसंस्कार-रहित इत्यर्थंः । (विकहाहि) विकयाया विरतः स्त्रीरार्गकथा विवर्जित इत्यर्थंः (पुट्ठिय रसेहिं विरक्षो) पुष्टिकररसस्य सेवा-रहितः वृष्यरसस्यानास्वादक इत्यर्थंः यस्मिन् रसे सेविते वृषवत् कण्डवत् कामी भवति स रसो वृष्यः कथ्यते वाजीकरणरसं न सेवते । (भावण पंचावि तृरियम्म) एताः पंचापि भावनास्युरीये चतुर्थं बह्यच्यंव्रते भवन्ति ॥ ३४॥

होकर सम्यक् प्रकारसे विसंवाद का अभाव करना अर्थात् 'यह वस्तु हमारी है' 'यह तुम्हारी है' इस प्रकार विवाद नहीं करना अचौर्यमहाव्रत की पाँचवी भावना है ।।३३।।

गाथार्थ—महिलालोकन विरति, पूर्वरतिस्मरणविरति, संसक्तवसति विरति, विकथा विरति और पुष्टिरस सेवन-विरति ये पाँच ब्रह्मचर्यं महाव्रतकी भावनाएँ हैं ॥३४॥

विशेषार्थ- स्त्रियोंके मनोहर अङ्गोंके देखने से विरत होना, पहले स्त्रियोंके साथ जो कीडा की थी उसके स्मरणसे विरत रहना, स्त्रियोंके अत्यन्त निकटवर्ती वसतिका में रहनेका त्याग करना और अपने शरीरकी सजावटसे दूर रहना, स्त्रियों में राग बढ़ाने वालो कथाओंका त्याग करना, और जिस रसके सेवन करने पर वृष अर्थात् सौंडके समान मनुष्य कामी हो उठता है ऐसे पुष्टि-कारक रस रसायन आदिके सेवनका त्याग करना जे एक क्रद्यचर्यला की अपनगर है गरमग वागे परिप्रह त्याग महावत की पांच भावनाएँ कहते हैं— अपरिग्गह समणुण्णेसु सद्दपरिसरसरूवगंघेसु । रायद्दोसाईणं परिहारो भावणा होंति ।।३५।।

अपरिग्रहे समनोज्ञे षु शब्दस्पर्शं रसरूपगन्धेषु । रागद्वेषादीनां परिहारो भावना भवन्ति ॥३५॥

(अपरिग्गहसमणुण्णेसु) अपरिग्नहवते, अत्र लुप्तविभन्तिक पदम् । समणु-न्मेसु-समनोझे षु मनोझसहितेषु अमनोझे षु चेति द्येषः । (सद्परिसरसस्व्यांधेसु) श्वन्दस्पर्शरसरूपगन्धेषु पञ्च्चेन्द्रियविषयेषु । (रायद्दोसाईणं) रागद्वेषादीनां रागस्य द्वेषस्य च । आदिशब्दात्पादपूरणमेव । मनोज्ञेषु तिषयेषु रागो न क्रियतेऽमनोझेषु विषयेषु द्वेषो न क्रियते । इति रागद्वेषपरिहारः पञ्च भावना भवन्तीति ज्ञातम्ब्यम् । ३५।।

वागे पांच समितियोंका वर्णन करते हैं---

इरियाभासा एसण जा सा आदाण चैव णिक्खेवो । संजमसोहिणिमित्ते खंति जिणा पंच समिदीओ ॥३६॥ ईर्या भाषा एषणा या सा आदानं चैव निक्षेवः । मंधमघोधिनिमित्तं ख्यान्ति जिनः पञ्च समितीः ॥३६॥

(इरिया) ईर्या समितिः चतुईस्तवीक्षितमार्गगमनम्। (मासा) भाषा-समितिः आगमानुसारेण वचनं (एसण) एषणा समितिः चर्मणाऽस्पृष्टस्योद्-

विशेषार्थ—-शब्द आदि पञ्च इन्द्रियोंके इष्ट विषयों में राग नहीं करना और अभिष्ट विषयोंमें द्वेष नहीं करना ये पाँच अपरिग्रह व्रतकी भावनाएँ हैं। गाथामें आया हुआ 'अपरिग्गह' शब्द ऌप्तविभक्ति वाला पद है, इसलिये उसका सप्तम विभक्ति रूप अर्थ करना चाहिये। इसी प्रकार 'रायद्दोसाईण' में जो आदि पद है वह पाद-पूर्तिका ही कारण है।।३५॥

बाधार्थ-जिनेन्द्र भगवान् ने संयम की शुद्धिके निमित्त ईर्या, भाषा, एवणा, बादान और निक्षेप इन पाँच समितियोंका वर्णन किया है ॥३६॥

. 19

गमात्पादिदोष--- रहितस्य भोजनस्य पुनः पुनः शाधितस्य प्रासुकस्य भोजनस्य ग्रहणं या समितिभंवति सा तृतीया समितिः । (आक्षाण चेव) आदानं चैव यत्पुस्तककमण्डलुप्रभृतिकं गृह्यते तत्पूर्वं निरोक्ष्यते पश्चान्मुदुना मयूरपिच्छेन प्रति-लिख्यते पश्चात् गृह्यते चतुर्थां समितिभंवति । (णिक्स्वेवो) यत्किचिद् वस्तु पुस्तककमण्डलुमुख्यं क्वचिन्निक्षिप्यते मुच्यते घ्रियते तन्निक्षेप-स्थानं दृष्ट्वा तथैव प्रतिलिख्य च घ्रियते । मयूर--पिच्छस्यासन्निघाने मृदुवस्त्रेण कदाचित्त्तचा क्रियते निक्षेपणा नाम्नी पंचमी समितिभवति । (संजम सोहि णिभित्ते) एतत्स-मितिपंचकं संयमस्य महाव्रत-पञ्चिकस्य शोधिनिमित्तं भवति । यो मयूरपिच्छ-वर्जितः साघुः स मासोपवासादिकं कुवंग्नपि न द्युद्ध्यतीति श्री कुन्दकुन्दभगवदमि-प्रायः । (खति जिणा पंच समिदीओ) ख्यान्ति प्रकथ्यति के ? जिणा-तीर्थंकर परमदेवाः सामान्यकेवलिनः श्रुतकेवलि नश्चेति भावः । कि ख्यान्ति ? पंच समि-

विकोषार्थ-चार हाथ तक देखे हुए मार्गमें गमन करना ईर्यासमिति है । आगमके अनुसार वचन बोलना भाषासमिति है । चमड़ेसे विना छुए 🗆 तथा उद्गम और उत्पादादि दोषोंसे रहित प्रासुक आहारको बार बार शोधकर ग्रहण करना एषणासमिति है। प्रस्तक कमण्डलु आदि जिस उपकरण को ग्रहण करना है उसे पहले अच्छों तरह देखा जाता है और फिर बादमें मयुर-पीछोसे उसका मार्जन किया जाता है, यह चौथी आदानसमिति है । और पुस्तक कमण्डलु आदि जो वस्तु छोड़ी <mark>तथा</mark> रखी जाती है उसे रखनेका स्थान देखकर तथा मयूरूपोछीसे मार्जन कर रखना पाँचवीं निक्षेपणासमिति है। कदाचित् मयूरपीछी पासमें न हो तो (समोपमें विद्यमान क्षुल्लक के) कोमल वस्त्रसे भी परिमार्जन होता है परन्तु यह कादाचित्क अर्थात् किसी खास परिस्थिति में है । सामान्य रूपसे सांधुको मयूर पिच्छीसे युक्त होना ही चाहिये। जो साधु मयूर पिच्छोसे रहित है वह मासोपवास आदि करता हुआ भी शुद्ध नहीं होता है, यह कुन्दकुन्द भगवान् का अभिप्राय है । ये पाँच समितियां, पाँच महा-ब्रतों की शद्धि के निमित्त हैं इसलिये जिन अर्थात् तीर्थंकर परमदेव, सामान्य केवली और श्रुत केवली इनका कथन करते हैं। यहाँ पांच समि-तियोंका संक्षेप से वर्णन किया है, इनका विस्तार श्री वट्टकेर तथा वीरनंदो आदि आचार्योंके द्वारा विरचित आचार ग्रन्योंमें---मुलाचार, चारित्रसार आदि ग्रन्थोंमें जानना चाहिये ।

(अल्य ग्रन्थोंमें ईर्या १ भाषा २ एषणा ३ आदाननिक्षेपण ४ और उत्सर्ग ५ इस प्रकार पांच समितियां बतलाई हें परन्तु यहां कुन्द कुन्द दीओ पञ्च्चसमितोरिति तात्पर्यार्थः । विस्तरस्तु वट्टकेर ैवीरनन्द्वादिविरचिता-चार ग्रन्थेषु ज्ञातव्यः ।।३६॥

आगे 'ज्ञानरूप आत्मा है' यह कहते हैं---

भव्वजणबोहणत्थं जिणमग्गे जिणवरेहिं जह भणियं । गाणं णाणसरूवं अप्पाणं तं वियाणेहि ॥३७॥ भग्यजनबोधनार्थं जिनमार्गे जिनवरेर्यंथा भणितम् । ज्ञानं ज्ञानस्वरूपं आत्मानं तं विजानीहि ॥३७॥

(भव्यजणबोहणत्यं) सम्यग्दर्शं न-झान-चारित्र-रत्नत्रयप्राप्ति-योग्या ये ते भव्यजनास्तेषां बोधनार्थं सम्बोधननिभित्तं । (जिणमग्गे) जिनस्य श्रीमद्भगवद-हंस्सवंज्ञस्य मार्गे सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रलक्षणोपलक्षिते मोक्षमार्गे । (जिणवरेहिं जह भण्ण्यं) श्रोमद्भगवदहंत्सवंज्ञैर्यया भणितं प्रतिपादितं । किं तद्भणितम् ? (णाणं णाणसद्ध्वं) ज्ञानं व्यवहारनयेन सम्यग्ज्ञानं तया ज्ञानस्य स्वरूपं स्वभावः । उक्तं च समन्तभद्रेण ^२कविना ज्ञानस्य स्वरूपम्-

स्वामी ने आदान और निक्षेप को पृथक् पृथक् समिति मानकर उत्सर्ग समिति को निक्षेप समितिमें गभित कर दिया है।

गाषार्थ-भव्य जीवोंको समझानेके लिये जिन-मार्गमें जिनेन्द्र देवने ज्ञानका जैसा स्वरूप कहा है उस ज्ञान-स्वरूप आत्माको जाने ॥३७॥

विशेषायं — जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्ररूप रत्न-त्रयकी प्राप्ति के योग्य होते हैं, वे भव्य कहलाते हैं। उन भव्य जीवोंको समझानेके लिये श्रीमान् भगवान् अहंन्त सर्वज्ञदेव के मार्गमें अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप लक्षणसे युक्त मोक्षमार्गमें श्रीमान् सर्वज्ञ भगवान् ने व्यवहार नयसे सम्यग्ज्ञानका जैसा स्वरूप कहा हे उस ज्ञानस्वरूप आत्मा का हे भव्य ! तू अच्छो तरह विचार कर ।

सम्यग्ज्ञानका स्वरूप कवि श्री समन्तभद्र स्वामी ने कहा है-

१. बट्रकेरल म० ।

२. महाकविना म०।

⁹अन्यूनमनतिरिक्तं याथातय्यं विना च विपरीतात् । निःसन्देहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः ।।

ईदृग्विघं ज्ञानं ज्ञानस्वरूपं च निश्चयनयेन (अप्पाणं तं वियाणेह) आत्मानं तज्ज्ञानं ज्ञानस्वरूपं च हे भव्य ! त्वं विजानीहि सम्यग्विचारयेति क्रियाकारक-सम्बन्धः ॥३७॥

आगे सम्यक्तानी का लक्षण कहते हैं---

जीवाजीवविहत्ती जो जाणइ सो हवेइ सण्णाणी । रायादिदोसरहिओ जिणसासणे मोक्खमग्गुत्ति ॥३८॥ जीवाजीवविभक्ति यो जानाति स भवेत्सज्जानः रागादिदोषरहितो जिनशासने मोक्षमार्ग इति ॥३८॥

(जीवाजीव विहत्ती) जीवस्यात्मद्रव्यस्य, अजीवस्य पुद्गल--धर्माधर्मकाला-काग्रलक्षणस्य पञ्च्चभेदस्य विभक्ति विभञ्जनं विहचनमिति देख्यात्। (जो जाणइ सो हवेद्द सण्पाणी) यो जानाति स भवेत् सज्ज्ञानः। (रायादिदोस रहिओ) स ज्ञानी कथंभूतः ? रागादिदोषरहितः रागद्वेषमोहादिदोषरहितः। (जिणसासणेमोक्स मग्गुत्ति) जिनज्ञासने मोक्षमागं इति ॥३८॥

निश्चय नयसे गुण और गुणोमें अमेद रहता है अतः आत्मा उक्त सम्यग्ज्ञान रूप ही है ऐसा जानना चाहिये ॥३७॥

गाथार्थ-जो जीव और अजीवके विमागको जानता है वह सम्यग-ज्ञानी है, रागादि दोषोंसे रहित है और जिन शासनमें मोक्षमार्ग रूप कहा गया है ॥३८॥

विशेषार्थ-आत्मद्रव्यको जीव द्रव्य कहते हैं, पुद्गल तथा धर्म, अधर्म, काल और आकाशके भेदसे अजीव पांच प्रकार का है। जो इन दोनोंके भेद--पार्थक्यको जानता है वह सम्यग्ज्ञानी है। वह सम्यग्ज्ञानी राग, द्वेष और मोह आदि दोषोंसे रहित है तथा अभेद नयसे वह स्वयं मोक्षमार्ग है ॥३८॥

१. २० ६० समन्तमहस्य ।

दंसणणाणचरित्तं तिण्णिवि जाणेह परमसद्धाए । जं जाणिऊण जोई अइरेण लहंति णिव्वाणं ॥३९॥ दर्शनज्ञानचारित्रं त्रीष्थपि जानीहि परमश्रद्धया । यद्जात्वा योगिनो अचिरेण लभन्ते निर्वाणम् ॥३९॥

(दंसणणाणचरित्तं) दर्श्वनज्ञानचारित्रं (तिण्णिवि जाणेह परमसद्वाएं) त्रीम्धपि जानीहि परमश्रद्धया प्रकृष्टरुच्या । (जं जाणिऊण जोई) यद्दर्शनज्ञान-चारित्रं ज्ञात्वा योगिनः । (अइरेण लहंति णिम्वाणं) अचिरेण स्तोककालेन रूभन्ते प्राप्नुवन्ति । किं तत् ? न्विणिं सर्वकर्मक्षयलक्षणं मोक्षमिति ।।३९४।

पाऊण णाणसलिलं णिम्मलसुविसुद्धभावसंजुत्ता । होंति सिवालयवासी तिहुवणचूडामणी सिद्धा ॥४०॥

प्राप्य ज्ञानसलिलं निर्मलसुविशुद्धभावसंयुक्ताः । भवन्ति शिवालयवासिनः त्रिभुवनचूडामणयः सिद्धार्थ॥४०॥

(पाऊण णाणसलिलं) प्राप्य ज्ञानसलिलं लब्ब्वा सम्यग्ज्ञानपानीयं (णिम्मल-सुवियुद्धभावसंजुत्ता) निर्मलो निरतिचार;, सुविशुद्धो रागद्वेषमोहादिरहितः, भावो निजात्मपरिणामस्तेन संयुक्ताः सहिताः पुरुषः । (होति सिवालयवासी) भवन्ति शिवालयवासिनः सर्वंकर्मक्षयलक्षणनिर्वाणपदनिवासिनो भवन्ति । (तिह्वयणचुडा-

गावार्थ-सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोंको परमश्रद्धा से जानो। क्योंकि इन्हें जानकर योगी शीघ्र ही निर्वाणको प्राप्त हो जाते हैं।।३९॥

विशेषार्थ---कुन्दकुन्द स्वामी अव्यजीवोंको प्रेरणा करते हैं कि है मव्य जीवो ! सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोंको उत्कृष्ट र्हाच -पूर्वक जानो क्योंकि इन्हें जानकर योगी-मुनिराज थोड़े ही कमयमें सर्व कर्म क्षयरूप मोक्षको पा लेते हैं।।३९॥।

गावार्थ--सम्यक्तान रूपी जलको पाकर निर्मल और विशुद्धभाव से बहित पुरुष मोक्ष-महलके वासी, त्रिभुवनके चूडामणि सिद्ध होते हैं।।४०॥

विज्ञेधार्थ—जो मनुष्य सम्यग्ज्ञान रूपी जलको पाकर निरतिचार एवं रागद्वेष मोहादिसे रहित स्वकोय आत्म परिणामसे युक्त होते हैं वे सगस्त कमोंका क्षयकर निर्वाण रूपी प्रासाद में निवास करते हैं। तीन मणी सिद्धा) त्रिभुवनचूडामणयस्त्रैलोक्यशिरोरस्तानि ते पुरुषाः सिद्धा भवन्ति-झात्मोपलब्धिवन्तो भवन्ति ॥ ४० ॥

णाणगुणेहिं विहीणा ण लहंते ते सुइच्छियं लाहं । इय णाउं गुणदोसं तं सण्णाणं वियाणेहि ॥४१॥ ज्ञानगुणेविहोना न लभन्ते ते स्विष्ट लाभम् । इति ज्ञात्वा गुणदोषौ तत् सज्ज्ञानं विज्ञानाहि ॥ ४१॥ (णाण गुणेहि विहीणा) ज्ञानमेव गुणो जीवस्योपकारकः पदायंस्तेन विहोना रहिताः । (ण लहंते ते सुइच्छियंलाहं) न लभन्ते न प्राप्नुवन्ति ते सुष्ठु इष्टं लामं मोक्षं । उक्तम्च--

> ^२णाणविहोणहं मोक्स्सपउ जीव म कासु वि जोइ । बहुयइं सलिलबिरोलियइं कल चोप्पडउ न होइ ॥ १ ॥

(इय णाउं गुणदोसं) इतिपूर्वोक्तप्रकारेण गुणं दोषं च ज्ञात्वा ज्ञानस्य गुणं, अज्ञानस्य दोषं विज्ञाय ! (तं सण्णाणं वियाणेहि) तत्तस्मारकारणात्, सत् समी-भीनं, ज्ञानं विजानीहीति तात्पर्यार्थः ।। ४१ ।।

लोकके अग्रभागमें निवास करनेसे चूडामणिके समान जान पड़ते हैं और बात्मोपलब्धिसे युक्त होनेके कारण सिद्ध कहलाते हैं ॥ ४० ॥

गायार्थ-ज्ञान गुणसे होन जीव अत्यन्त इष्ट लाभको प्राप्त नहीं कर सकते । इस प्रकार गुण और दोषको जानकर उस सम्यग्ज्ञानको अच्छी तरह जानो ॥ ४१ ॥

विशेषार्य-ज्ञान गुण हो जोवका उपकारक पदार्थ है उससे रहित मनुष्य अतिशय इष्ट जो मोक्ष रूपी लाभ है उसे नहीं प्राप्त कर सकते । जैसा कि कहा है---

णाण—ज्ञानसे हीन मनुष्य मोक्षको प्राप्त नहीं हो सकते सो ठीक ही है क्योंकि पानीके विलोने से हाथ चीकना नहीं होता ।

इस प्रकार ज्ञानके गुण और अज्ञानके दोष जानकर सम्यग्ज्ञानको अच्छी तरह जानो ।

- १. 'सिद्धिः स्वात्मोपलल्चिः प्रगुणगुणगणोच्छादिदोषापहरात् । योग्योपावानयुक्त्या दृषद इह यया हेममावोपलिव्यः ।'----सिद्धभक्तौ पूज्यपादः ।
- २. परमात्मप्रकाखे योगीन्द्रदेवस्य ।

चारित्तसमारूढो अप्पासु परं ण ईहए णाणी। पावइ अइरेण सुहं अणोवमं जाण णिच्छयदो ॥४२॥

चारित्रसमारूढ आत्मनः परं न ईहते ज्ञानी । प्राप्नोत्यचिरेण सुखमनुपमं जानीहि निक्चयतः ॥४२॥ (चारित्तसमारूढो) चारित्रसमारूढक्ष्वारित्रं प्रतिपालयन् पुमान् । (अप्पासु परं ण ईहए णाणो) आत्मनः सकाशात् परमिष्टं सम्बनितादिकं न ईहते न बाञ्छति, कोऽसौ ? ज्ञानो ज्ञानवान् पुमान् । उक्तञ्च---

समसुख शोलितमनसामशनमपि द्वेषमेति किम् कामाः । स्थलमपि दहति क्षषाणां किमङ्ग पुनरङ्गमङ्गाराः ।।१।।

(पावइ अइरेण सुहं) प्राप्नोत्यचिरेण स्तोककालेन सुखमनन्तसोस्यम् । (अगोवमं जाण णिच्छ्यदो) कयंभूतं सुखम् ? अनुपममुपमारहितं जानोहि हे मन्य ! त्वं णिच्छ्यदो-निश्चयतः निःसन्देहान्निश्चयनयाद्वा ॥ ४२ ॥

एवं संखेबेण य भणियं णाणेण वीयरायेण । सम्मत्तसंजमासयदुष्हं पि उदेसियं चरणं ॥४३॥

गायार्थ---जो ज्ञानी पुरुष चारित्र का पालन करता हुआ आत्मा के सिवाय अन्य पदार्थ की इच्छा नहीं करता वह शोध्र ही अनुपम सुख को प्राप्त होता है, ऐसा निश्चय से जानो ॥ ४२ ॥

विझेषार्यं—चारित्र पर आरूढ हुआ अर्थात् चारित्रका पालन करता हुवा ज्ञानी पुरुष आत्मासे अतिरिक्त माला तथा स्त्री आदि अन्य इष्ट पदार्थों की इच्छा नहीं करता सो ठोक ही है क्योंकि कहा है----

समसुख--जिनका मन समता भावरूपी सुखसे सुवासित हो रहा है उन्हें भोजन भो रुचिकर नहीं होता फिर कामभोग कैसे रुचिकर हो सकते हैं। जैसे कि मछल्पियों के कारीरको जब खाली जमीन भी जलाती है तब अङ्गारोंका तो कहना ही क्या है ? ऐसा ज्ञानी जीव थोड़े ही समय में बनुपम सुख को प्राप्त होता है यह निश्चयसे-सन्देह रहित अथवा निश्चय-नयसे जानो ॥ ४२॥

एवं संक्षेपेण च भणितं ज्ञानेन वीतरागेण । सम्यक्त्वसंयमाश्रयद्वयोरपिउद्देशितं चरणम् ।।४३॥

(एवं संखेवेण य) एवममुना प्रकारेण संक्षेपेण च । (भणियं णाणेण दीयराएण) भणितं प्रतिपादितं णाणेण ज्ञामेन ज्ञानरूपेण ज्ञामस्वभावेन केवलज्ञानिना सर्वंज्ञेन वीतरागेण रागढेपमोहादिभिरष्टादशदोषरहितेन । कि भणितं ? (सम्मत्तसंत्रमासय-दुण्हं पि) सम्यक्त्वसंयमाश्रययोद्वंयोरपि दर्शनाचारचारित्राचारयोद्वंयोरपि । (उद्देसियं चरणं) उद्देशितमुद्देशमात्र संक्षेपेण चारित्र प्रतिरादितं । विस्तरेण-वट्टकेरादौ ज्ञातव्यम् ॥४३॥

भावेह भावमुद्धं फुडु रइयं चरणपाहुडं चेव । लहु चउगइ चइऊणं अचिरेणऽपुणव्भवा होई ।।४४॥

भावयत भावशुद्धं स्फुटं रचितं चरणप्राभृत चैव । ऌघु चतुगतीस्त्यवत्त्वा अचिरेणापुनर्भवा भवत ॥४४॥ (भावेह भावसुद्धं) भावयत भावनाविषयीकुरुत यूथं हे भव्याः । (फुडु रइयं चरणपाहुडं चेव) स्फुटं प्रकटार्थं रचितं चरणप्राभृतं चारित्रसारं । चैव

गाथार्थ—हे भव्य जीवो ! शुद्धभाव से स्पष्ट रचे हुए चरणप्राभृत तथा दर्शन प्राभृतका खूब चिन्तन करो और उसके फल-स्वरूप शीघ्र हो चतुर्गतियों का त्याग कर स्वल्न कालमें पुनर्भव से रहित सिद्ध हो जाओ ॥४४॥

विशेषार्थ—कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं कि हे भव्य जीवां ! हमने चरणप्राभृत ग्रन्थ को रचना शुद्धभाव से को है—स्पाति-लाभ-पूत्रादि को इच्छासे रहित होकर की है तथा इसमें प्रतिपाद्य पदार्थोंका स्पष्ट निरूपण किया है। अतः इसकी अच्छो तरह भावना करो—इसका खूब

१. वट्टकेरलादी म**०** ।

चारित्रप्रामृतम्

-2.88]

शब्दाइर्शनावरणं चोद्देशितं । (लहु चउगइ चइऊणं) लघु शीघ्रं चतुर्गतीस्त्य-क्ला नरकतिर्यङ्मनुष्यदेवगतीश्चतस्तः परिहाय । (अचिरेणऽपुणब्भवा होह) अचिरेण स्तोककालेन इतस्तृतीये भवेऽपुनर्भवाः सिद्धा भवत यूथम् । सिद्धिगति पञ्चमौं गति प्राप्नूत यूयमिति भद्रम् ॥४४॥

इति श्री पद्मनन्दि कुन्दकुन्दाचार्यं वक्षप्रीवाचार्यं लाग्यंगृद्धपिच्छाचार्यं नाम-पञ्चकविराजितेन सीमन्घरस्वामि ज्ञानसम्बोधित--भव्य--जीवेन श्री जिनचन्द्रसूरि भट्टारक-पट्टाभरणभूतेन कल्लिकाल-सर्वंशेन विरचिते षट्प्रामृते ग्रन्थे सर्वमुनिमण्डली-मण्डितेन कल्लिकाल गौतमस्वामिना श्रीमल्लिभूषणेन भट्टारकेणानुमतेन सकलविद्वज्जनसमाजसम्मानितेनोभयभाषा--कवि---चक्रवर्तिना श्रीविद्यानन्दि--गुर्वन्तेवासिना सुरिवरश्रीश्रुतसागरेण विरचिता चरणप्राभृतटीका द्वितीया ।

सम्पूर्णा^२

चिन्तन-मनन करो और इसके फलस्वरूप नरक-तिर्यंञ्च-मनुष्य तथा देव इन चारों गतियोंको छोड़कर इस भवसे तोसरे भवमें ही पुनर्जंन्मसे रहित हो जाओ ॥४४॥

इस प्रकार श्री पद्मनन्दी, कुन्दकुन्दाचार्य, वक्रग्रीवाचार्य, एलाचार्य और गृढपिच्छाचार्य इन पाँच नामोंसे सुशोभित, सीमन्धर स्वामीके ज्ञानसे भव्यजीवोंको सम्बोधित करने वाले श्री जिनचन्द्रसूरि भट्टारक के पट्टके आभरणस्वरूप, कलिकाल सर्वज्ञ कुन्दकुन्दाचार्य के ढारा विरचित षट्-पाहुढ ग्रन्थमें समस्त मुनियोंके समूहसे सुशोभित, कलिकालके गौतम-स्वामी श्रो मल्लिभूषण भट्टारक के द्वारा अनुमत, सकल विद्वस्समाजके ढारा सन्मानित, जभय-भाषा-सम्बन्धी कवियोंके चक्रवर्ती श्री विद्यानन्द गुधके शिष्य सूरिवर श्रीश्र्तसागर के ढारा बिरचित चारित्र-पाहुड की टीका सम्पूर्ण हुई ।

१. म प्रतौ 'द्वितोया' नास्ति । २. समाप्ता म॰ ।

. 2

स्त्रप्राभृतम्

अरहंतभासियत्थं गणहरदेवेहि गंथियं सम्म । सुत्तत्थमगगणत्थं सवणा साहंति परमत्थं ॥१॥

अहंद्भाषितार्थं गणधरदेवैग्रंथितं सम्यक् । सूत्रार्थमार्गणार्थं श्रमणाः साधयन्ति परमार्थम् ॥१॥

(अरहंतभासियत्थं) अहंदिभारतीथंकरपरमदेवैभोषितोऽर्थः सूत्र' भवति । (गणहरदेवेहिं गॉथियं सम्मं) गणघरदेवैश्चतुर्भिर्ज्ञानैः सम्पूर्णेरेष्टमहाप्रातिहार्यं सहितैस्तीर्थंकर-युवराजैः गंथियं--पदं रचितं, सम्मं-सम्यक् पूर्वापर--विरोधरहितं शास्त्रं सूत्रं भवति । (सुत्तत्वमग्गणत्थं) सूत्रार्थमार्गणं सूत्रार्थविचारः सोऽयः प्रयोजनं यस्मिन् सूत्रे तत्सूत्रार्थमार्गणार्थं । तेन झुक्लध्यानद्वयं भवति । तेम (सवणा साहंति परमत्थं) सूत्रार्थेन श्रवणा (श्रमणाः) सद्दृष्टयो दिगम्बराः

गाथार्थं---जिसका अर्थ अरहन्त भगवानके द्वारा प्रतिपादित है, गणधर देवों ने जिसका अच्छो तरह गुम्फन किया है तथा शास्त्र के अर्थका खोजना ही जिसका प्रयोजन है, उसे सूत्र कहते हैं। ऐसे सूत्रके द्वारा सम्यग्दृष्टि दिगम्बर साधु अपने परमार्थको साधते हैं।।१।।

विशेषार्थ-अरहन्त तीर्थंकर परमदेव ने जिसका अर्थ रूपसे प्रति-पादन किया है और चार ज्ञानके धारी, आठ महाऋद्वियों से सहित, तीर्थं द्भूरों के युवराज-स्वरूप समस्त गणधरों ने जिसकी द्वादशाङ्ग रूप रचना की है उसे सूत्र कहते हैं। यह सूत्र अर्थात् शास्त्र पूर्वा-पर विरोधसे रहित होता है। सूत्र-प्रतिपादित अर्थं की खोज करना ही शास्त्रका प्रयोजन है। इसके चिन्तन से पृथक्त्व-वितर्क-वीचार और एकत्व-वितर्क ये दो शुक्लध्यान होते हैं। सूत्रार्थके चिन्तन से सम्यग्दृष्टि निग्रंन्य साधु परमार्थ रूप मोक्षको साधते हैं, अपने वश करते हैं। इस तरह सूत्र मोक्षका कारण है। यद्यपि इस गाथा में 'सूत्र' इस विशेष्य पदका ग्रहण नहीं है तथापि ऊपर से उसकी योजना कर लेनी चाहिये॥ १॥

(भाव-सूत्र और द्रव्य-सूत्रको अपेक्षा सूत्रके दो भेद हैं, इस गाथामें कुन्दकुन्द स्वामी ने दोनों के लक्षण कहे हैं। तीर्थऋुर परमदेव के द्वारा प्रतिपादित जो बर्थ है वह भावसूत्र अथवा भावश्रुत है और गणधर देवोंके परमार्थं मोक्षं साधयन्ति--आत्मवरो कुर्वन्ति, तेन कारणेन सूत्रं मोक्ष हेर्तुरिति भावार्थः ।।१॥

सुत्तम्मि जं सुदिहं आयरियपरंपरेण मग्गेण । णाऊण दुविहसुत्तं वट्टइ सिवमग्ग जो भव्वो ॥२॥

सूत्रे यत् सुदृष्टं आचार्यंपरम्परेण मार्गेण । ज्ञात्वा द्विविधसूत्रं वर्तते शिवमार्गे यो भव्यः ॥२॥

(सुत्तम्मि जं सुदिट्ठं) सूत्रे यत् सुष्ठु अतिक्षयेनावाधिततया वा दृष्टं प्रतिपादितं। (आइरिय परम्परेण मग्गेण) आचार्याणां परम्परा श्रेणियंत्र मार्गे स आचार्यपरम्परः आचार्यप्रवाहमुक्तो मार्गस्तेन मार्गेणां। कोऽसौ मार्ग इति चेदुच्यते—श्रीमहावीरादनन्तरं श्रीगौतमः सुधर्मो जम्बूरुचेति त्रयः केवलिनः। विष्णुः नन्दिमित्रः अपराजितः गोवर्धनः भद्रवाहुरुचेति त्रयः केवलिनः। विष्णुः नन्दिमित्रः अपराजितः गोवर्धनः भद्रवाहुरुचेति त्रयः कृवकेवलिनः। विष्णुः नन्दिमित्रः अपराजितः गोवर्धनः भद्रवाहुरुचेति त्रयः कृत्तकेवलिनः। तदनन्तरं, विशासः प्रोष्ठिलः क्षत्रियः जयसेनः नागसेनः सिद्धार्थः धृतिषेणः विजयः बुद्धिलः गज्जदेवः धर्मसेनः इत्येकादश दशपूर्विणः। नक्षत्रः खयालः पाण्डुः ध्रुवसेनः कंसाक्ष्वेतिपञ्च्तैका दशाज्ज्ञघराः । सुभद्रः यशोभद्रः मद्रबाहुः लोहाचार्यः एते चत्दार एकाज्ज्ञघारिणः। जिनसेनः अर्हद्विलः

द्वारा द्वादशाञ्ज रूप जो रचना हुई है वह द्रव्य सूत्र अयवा द्रव्यश्रुत है। दोनों प्रकारके श्रुतोंका प्रयोजन परमार्थ साधन अर्थात् मोक्ष प्राप्ति है।)

गायार्थ-आगम में जिसका अच्छी तरह प्रतिपादन किया गया है ऐसे द्विविध सूत्र--द्रव्यश्रुत और भाव-श्रुतको जो आचार्योंकी परम्परा से युक्त मार्गके द्वारा जान कर मोक्ष--मार्गमें प्रवृत्त होता है, वह भव्य है॥२॥

विशेषार्थ—शास्त्रमें अत्यन्त अवाधितरूप से जिस द्रव्य~श्रुत और भावश्रुत का प्रतिपादन किया गया है उसे आचार्य---परम्परासे प्राप्त मार्गके द्वारा अच्छी तरह जानकर जो मोक्षमार्गमें प्रवृत्त होता है वह भव्य है। आचार्य परम्परासे प्राप्त मार्ग क्या है? इसके उत्तर में कहते हैं कि भगवाम् महावोर स्वामीके अनन्तर तीन केवली हुए १ श्री गौतम स्वामो २ सुधर्माचार्य और जम्बू स्वामी। इनके बाद १ विष्णु, २ नन्दिमित्र, ३ अपराजित ४ गोवर्धन और ५ भद्रवाहु ये पाँच श्रुत-केवली हुए। तदनन्तर १ विशाख २ प्रोष्ठिल ३ क्षत्रिय ४ जयसेन ५ नागसेन ६ सिद्धार्थ ७ घृतिषेष ८ विजय ९ बृद्धिल १० गरूपदेव और भाषनन्दी घरसेनः पुष्पदर्सीः भूतबल्तिः जिनचन्द्रः कुन्दकुन्दाचार्यः उमास्वामी समन्तभद्रस्वामी शिवकोटिः शिवायनः पुरुषपादः एलाचार्यः वीरसेनः जिनसेनः नेसिचन्द्रः रामसेनश्चेति - प्रथमाङ्गपूर्वभागज्ञाः । अकल्डक्ट्रः अनन्तविद्यानन्दी माणिक्यनन्दी प्रभाचन्द्रः रामचन्द्र एते सुतार्किकाः । वासवचन्द्रः गुणभद्र एतौ नग्नौ अन्ते वीराङ्गजश्च । (णाऊण टुविहसुत्त') झात्वा द्विविधं सूत्रं अर्थतः शब्ब्दतश्च द्विविधं सूत्रं । (वट्टइ सिवमग्गे जो भव्वो) वर्तते शिवमार्गे यो मुनिः स भव्यो रत्नत्रययोग्यो भवति मोक्षं प्राप्नोतीति भावः ॥ २ ॥

सुत्तं हि जाणमाणो भवस्स भवणासणं च सो कुणदि । सूई जहा असुत्ता जासदि सुत्ते सहा णोवि ।।३॥

सूत्रं हि जानानोऽभवस्य भवनाशनं च स करोति ।

सूत्री यथा असूत्रा नश्यति सूत्रेण सह नापि ॥ ३ ॥

(सुत्तं हि जाणमाणो भवस्स) सूत्रं शास्त्रानुकमं हि निक्च्येन जानानो जानन्, कस्य सूत्रं, (अ) भवस्स-'अभवस्य सर्वज्ञवीतरागस्य । (भवणासणं च

११ धर्मसेन ये ग्यारह दशपूर्वके धारक हुए। तदनन्तर १ नक्षत्र २ जयपाल ३ पाण्डु ४ ध्रुवसेन और ५ कंस ये पाँच ग्यारह अंग के धारक हुए। तदनन्तर १ सुभद्र २ यशोभद्र ३ भद्रबाहु और ४ लोहाचार्य ये चार एक अंग धारक हुए। तदनन्तर जिनसेन, अहंद्वलि, माघनन्दी, धरसेन, पुष्पदन्त, भूतबलि, जिनचन्द्र, कुन्दकुन्दाचार्य, उमास्वामी, समन्तभद्रस्वामी, शिवकोटि, शिवायन, पूज्यपाद, एलाचार्य, वीरसेन, जिनसेन, नेमिचन्द्र और रामसेन ये प्रथम अंगके पूर्वभागके ज्ञाता हुए। अकलङ्क, अनन्त विद्यानन्दी, माणिक्यनन्दी, प्रभाचन्द्र और रामचन्द्र ये सब उत्तम तार्किक अर्थात् न्यायशास्त्रके उच्च कोटिके विद्वान हुए हैं। वासवचन्द्र और गुणभद्र ये दो दिगम्बर साधु हुए और अन्तमें धीरांगज नामक साघु हुए*। जो अर्थ और शब्दकी अपेक्षा दो प्रकारके सूत्रको जानता है तथा मोक्षमार्गमें प्राप्ति करता है वह मुनि भव्य है रत्तत्रय के योग्य है तथा मोक्ष प्राप्त करता है ॥ २॥

गायार्थ-जो मनुष्य यथार्थमें सर्वज्ञ देवके शास्त्रको जानता है वह संसारका नाश करता है। जिस प्रकार सूत्र अर्थात् डोरासे रहित सुई नष्ट हो जाती है---गुम जाती है, उसो प्रकार सूत्र अर्थात् शास्त्रसे

न विद्यते भवो जन्म यस्य त्तस्य । *आचार्यों के ये नाम कालक्रम से नहीं हैं ।

सो कुणदि) भवस्य संसारस्य नाक्षनं विनाशं स पुमान् करोति विदधाति तीर्थंकरो भूत्वाऽऽत्मानं प्रकटयति मुक्तो भवतीत्थर्यः । अमुमेवार्थं दृष्टान्तेन दृढयति--- (सूई जहा असुत्ता णासदि) सूची लोहसूचिका वस्त्रदरकारिका असूत्रा दवरकरहिता नक्यति न लम्यते । (सुत्ते सहा णो वि) सूत्रेण सह वर्तमाना सूत्रेण दोरेण सहिता णो विनापि नश्यति हस्ते चटति ॥ ३ ॥

पुरिसो वि जो ससुत्तो ण विणासइ सो गओ वि संसारे । सच्चेयणपच्चक्खं णासदि तं सो अदिस्समाणो वि ॥४॥

पुरुषोऽपि यः ससूत्रः न विनञ्यति स गतोऽपि संसारे ।

स्वचेतनाप्रत्यक्षेण नाशयति तं सोऽदृश्यमानोऽपि ॥ ४ ॥

(पुरिसो वि जो ससुत्तो) पुरुषोऽपि जीवोऽपि यः ससूत्रो जिनसूत्रसहितः । (ण विणासइ सो गओ वि संसारे) न विनश्यति स पुमान् गतोऽपि नष्टोऽपि संसारे प्रतिवोऽपि पुनरुज्जीवति मुक्तो भवति । (सप्त्वेयणपच्चक्सं) आत्मानुभव-प्रत्यक्षेण । (णासदि तं सो खदिस्समाणो वि) णासदिन्दर्थति, अन्तरनर्थोऽर्थ

रहित मनुष्य भी नष्ट हो जाता है—चतुर्गति रूप संसार में गुम जाता है।। ३॥

गाथार्थ---जो पुरुष ससूत्र है-जिनागमसे सहित है वह संसारमें पड़ कर भो नष्ट नहीं होता है-शीघ्र मुक्तिको प्राप्त हो जाता है। वह स्वयं अप्रसिद्ध होनेपर भी आत्मानुभवके प्रत्यक्षसे उस संसारको नष्ट कर देता है॥ ४॥

विशेषार्य---जो जीव जिनागम की श्रद्धा और ज्ञानसे युक्त है वह यदि कदाचित् बद्धायुष्क होनेसे नरक तिर्यंध आदि गति रूप संसारमें पड़ भी जाता है अथवा सम्यक्, दर्शनसे भ्रष्ट होकर अर्धपुद्गलपरिवर्तन काल तक नाना गतियोंमें परिभ्रमण भी करता रहता है तो भो वह नष्ट षट्प्राभृते

प्रयोगः तेनायमर्थः नाशयति तं संसारं स आसन्नभव्यजीवः । कयंभूतः ? अदिस्स-माणोवि-अदृब्यमानोऽपि चतुर्विधसंघमध्येऽप्रकटोऽप्यप्रसिद्धोऽपि ॥ ४ ॥

ेसुत्तत्यं जिण भणियं जीवाजीबादि बहुविहं अत्थं । हेयाहेयं च तहा जो जाणइ सो हु सद्दिट्ठी ॥५॥

सूत्रार्थं जिनभणितं जीवाजीवादि बहुविधं अर्थम् । हेयाहेयं च तथा यो जानाति स हि सददष्टिः ॥ ५ ॥

(सुत्तत्थं जिणभणियं) सूत्रस्यार्थं जिनेन भणितं प्रतिपादितं । (जीवाजो-वादिबहुविहं अत्थं) जीवाजीवादिकं बहुविधमर्थं कर्मतापन्नं वस्तु । (हेयाहेयं च तहा) हेयं पुद्गलादिकं पञ्चप्रकारं, अहेयमादेयं निजात्मानं तथा तेनैव षड्वस्तु-प्रकारेण । (जो जाणड सो हु सद्दिही) यः पुमान् जानाति वेत्ति स पुमान् हु-स्फुटं सद्दृष्टिः सम्यय् ष्टिभंवति ।। ५ ।।

जं ^३मुत्तं जिणउत्तं ववहारो तह य जाण परमत्थो । तं जाणिऊण जोई लहइ सुहं खबइ मलपुंजं ॥६॥

नहीं होता, पुनः सुमार्गपर आकर मोक्षको प्राप्त करता है। जो मनुष्य अद्श्यमान है—चतुर्विध संघमें अप्रकट अथवा अप्रसिद्ध है वह भी आत्मा-नुभवके प्रत्यक्ष द्वारा उस संसारको नष्ट कर देता है।। ४॥

गाथार्थ---जो जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहे हुए सूत्रके अर्थको, जीव अजीव आदि नाना प्रकारके पदार्थ को तथा हेय और उपादेय तत्वको यथार्थरूपसे जानता है वह सम्यग्दृष्टि है ॥ ५ ॥

विशेषार्थ— सर्वज्ञ वीतराग जिनेन्द्र ने आगम का जैसा अर्थ प्रति-पादित किया है, जीव अजीव आदि पदार्थोंका जैसा स्वरूप बतलाया है तथा हेय-छोड़नेयोग्य पुद्गलादि पांच द्रव्योंका तथा अहेय-प्रहण करने योग्य निज-आत्माका जैसा स्वरूप कहा है उसे जो वैसा ही जानता है वह स्पष्ट ही सम्यग्दृष्टि है ॥ ५ ॥

गाथार्थ---जिनेन्द्र भगवान् ने जो सूत्र कहा है उसे व्यवहार और निश्चय रूप जानो । उसे जानकर योगी आत्मसुख को प्राप्त होते हैं तथा पाप-पुञ्जको नष्ट करते हैं ।। ६ ।।

१. सूत्तत्वं ।

२. सूत्तं म० ।

सूत्रप्रामृतम्

यत् सूत्रं जिनोक्तं व्यवहारं तथा च जानीहि परमार्थम् । तत् ज्ञात्वा योगी लभते सुखं क्षिपते मलपुञ्जम् ॥ ६ ॥

विशेषार्थं — जिनेन्द्र भगवान् ने जिस आगमका वर्णंन किया है वह व्यवहार और निश्चयनय रूप है अर्थात् दोनों नयोंके ढारा पदार्थका निरूपण करने वाला है। जो योगी उस उभयनयात्मक आगमको जानता है वह निजात्मा से उत्पन्न होने वाले परमानन्दरूप मुखको प्राप्त होता है तथा त्रेसठ प्रकृतियों के समूह को नष्ट कर केवलज्ञानको उत्पन्न करता है। ³जिस प्रकार नट पहले बांसका सहारा लेकर अभ्यास करता हुआ रस्सीके ऊपर चलता है पीछे पूरा अभ्यास हो जाने पर वह बांस छोड़कर निराधार हो रस्सीपर चलने लगता है, उसी प्रकार से यह मनुष्य पहले व्यवहार नयके आलम्बन से निश्चयनयका आलम्बन करता है, पीछे व्यव-हार को भी छोड़कर एक निश्चयका ही आलम्बन करता है ॥६॥

[जिनागमका उपदेश व्यवहार और निश्चय दोनों नय-रूप है, अतः पात्रकी योग्यताको देखते हुए जहां जिसकी आवश्यकता दोखे उसको मुख्य करके उपदेश देना चाहिये। जिस समय एक नयको मुख्य किया जाता है उस समय दूसरे नयको गौण तो किया जा सकता है परन्तु अपरमार्थ समझ कर सर्वथा त्याज्य नहीं माना जा सकता 1]

- रे. वेख म० ।
- २. निमुक्त म०।
- र्वे. सूत्तरंग

षट्प्रामृते

भुत्तत्यपयविणट्ठो मिच्छादिट्ठी हु सो मुणेयव्यो । खेडेवि ण कायव्वं पाणिप्पत्तं सचेलस्स ॥ ७ ॥

सूत्रार्थपदविनष्टो मिथ्यादृष्टिः हि स ज्ञातव्यः । खेलेऽपि न कर्तव्यं पाणिपात्रं सचेलस्य ॥ ७ ॥

(सुत्तत्थ पय विणट्टो) सूत्रार्थपदविनष्टः पुमान् । (मिच्छादिद्ठी हु सो भूणेयव्वो) मिथ्यादृष्टिरिति हु स्फुटं स पुमान् मुनितव्यो (?) ज्ञातव्यः । (खेडे)

गायार्थ—जो आगमके पद और अर्थसे विनष्ट है अर्थात् द्रव्यश्रुत की श्रद्धासे रहित है उसे मिथ्यादृष्टि जानना चाहिये। वस्त्रघारी-गृहस्यको क्रीडामें भी पाणि--पात्रसे आहार नहीं करना चाहिये और न साघु समझ-कर उसे पाणिपात्र आहार देना चाहिये॥७॥

विशेषार्थ-जो जिनागमके अर्थ और पद दोनोंसे भ्रष्ट है अर्थात् जनको श्रद्धासे रहित है वह स्पष्ट ही मिथ्यादृष्टि है। जिनागम की आज्ञा का अनादर कर इच्छानुसार वस्त्रादि धारण करते हुए भो अपने आपको जो मुनि मानता है वह आगम की श्रद्धासे रहित तथा गृहस्थके तुल्य है।

१. 'अयवहारो हि व्यवहारिणां म्लेच्छभाषेव म्लेच्छानां परमार्थ-प्रतिपादकस्वाद-परमार्थोऽपि तीर्थप्रवृत्तिनिमित्तं दर्शयितुं न्याय्य एव । तमन्तरेण तु शरीरा-ज्जीवस्य परमार्थतो भेद-दर्शनात् त्रस-स्थावराणां भस्मन इव निःशक्तुमुप-मदनेन हिसाऽभावाद्भवत्येव बन्धस्याभावः । तथा रक्तो द्विष्टो विमूढो जीवो बघ्यमानो मोचनीय इति रागढेषमोहेम्यो जीवस्य परमार्यतो भेददर्शनेन मोक्षोपायपरिग्रहणाभावात् भवत्येव मोक्षस्याभावः' ।

---आत्मस्पाति समयसार, गाया ४६।

'यद्यप्ययं व्यवहारतयो बहिर्द्रव्यावलम्बनत्वेनाभूतार्यस्तयापि रागादिवहिर्द्र-व्यावलम्बनरहितविशुद्धवानवर्शनस्वभावस्वावलम्बनसहितस्य परमार्थस्य प्रति-पादकत्वाहर्दायितुमुचितो भवति । यदा पुनर्व्यवहारनयो न भवति तदा शुद्ध-निदचयनयेन वसस्थावरजोवा न भवन्तीति मत्वा निःशक्तोपमदनं कुर्वन्ति जनाः । ततत्व्व पुण्यरूप-धर्माभाव इत्येकं दूषणं, तर्धव शुद्धनयेन रागद्वेव-भोहरहितः पूर्वमेव मुक्तो जीवस्तिष्ठतीति मुक्त्या मोक्तार्धमनुष्ठानं कोऽपि न करोति ततत्व्व मोक्काभाव इति द्वितीयं च दूषणं । तस्माद् व्यवहारनयव्याक्या-नमुचितं भवतीत्यभिन्नायः ।

---- श्री जयसेनावायं-कृत तात्पर्यवृत्ति टीका समयसार, गावा ४६ ।

खेलेऽपि क्रीडायामपि (ण कावव्वं पाणिप्पत्तं) न कतंब्यं पाणिपात्रेण मोजनं न विघातव्यम् । कस्य ? (सप्तेलस्य) गृहस्थस्य ॥७ ॥

हरिहरतुल्लो वि णरो सग्गं गच्छेइ एइ भवकोडी । तहवि ण पावइ सिद्धि संसारत्थो पुणो भणिदो ॥ ८ ॥

हरिहरतुल्योऽपि नरः स्वर्गं गच्छति एति भवकोटी: । तथापि न प्राप्नोति सिद्धि संसारस्थः पूनभंणितः ॥ ८ ॥

(हरिहरतुल्लो वि णरो) हरिष्च नारायणो हरश्च ध्रद्रस्ताम्यां तुल्यः समानः ब्दुदिमानित्यथां । नरः प्राणी मनुष्याः । (सग्गं गच्छेइ एइ भवकोडी) दानपूजो-पवासादिकं क्वत्ता स्वर्गं देवलोकं गच्छति पक्वाद्भवान्तराणां कोटीरसंस्यानि-भवान्तराणि अनन्तानि वा भवान्तराणि प्राप्नोति दुःखो भवति संसारी स्थात् । (तह वि.ष पावद्द सिद्धि) तथापि भवकोटी: पर्यटनप्रकारेणापि न प्राप्नोति सिद्धि मोम्नं न लभते). कि तर्हि भवतीत्याह (संसारत्यो पुणो भणिदो) संसारस्थः संसारी पुनर्भणितः सिद्धान्ते प्रतिपादितः । जिनसूत्रामावान्मिष्यादृष्टिः सन् संसार-दुःखं सहते सुखी न भवतीति भावः ॥८॥

उसे पाणिपात्रसे आहार नहीं करना चाहिये और न विवेकी मनुष्यों-को उसे मुनि समझकर--कौतूहल बुद्धिसे भी पाणिपात्र आहार देना चाहिये ॥ ॥

विशेषार्य--जिनागमकी श्रद्धासे रहित मनुष्य हरि हर आदिके समान कितनी हो ऋद्वियों-सम्पत्तियोंका स्वामी क्यों न हो वह दान पूजा उपवाम आदि करके पहले स्वर्ग जाता है पोछे असंख्यात अयवा अनन्त भवोंको घारण करता हुआ संसार में दुखी होता रहता है। यद्यपि वह असंख्यात या अनन्त भवोंको प्राप्त होता है तथापि मोक्ष<u>को</u> प्राप्त नहीं हो सकता, संसारी ही कहलाता रहता है।।८।।

उक्किट्ठसीहचरियं बहुपरियम्मो य गुरुयभारो य । जो विहरद सच्छंदं पावं गच्छेदि होदि मिच्छत्तं ॥ ९ ॥

उत्कृष्टींसहचरितः बहुपरिकर्मा च गुरुकभारञ्च । यः विहरति स्वच्छंदं पापं गच्छति भवति मिथ्यात्वम् ।। ९ ॥

(उक्किट्ठसोहचरियं) उत्कृष्टं सर्वयतिम्योऽधिकं सिंहवन्निर्भयत्वेन चरितं चारित्रं यस्य स पुमानुत्कृष्टसिंहचरितः । प्राकृतत्वादत्र नपुं संकत्वं । अथवा विहर-तीति क्रियाविश्वेषणत्वाद् द्वितीयँकवचनं नपुं संकत्वं च । (बहुपरियम्मो य गुष्य भारो य) बहुपरिकर्मा चानेकतपोविषान-मण्डित-धारीरसंस्कारष्टच मुनिगुं स्तर-भारष्टच राजादिभयनिवारकः शिष्याणां पठनपाठनसमर्थो यात्रा--प्रतिष्ठादीक्षादा-नायुर्वेदच्योतिष्कशास्त्रनिर्णयकारकः धडावश्यककर्मकर्मठो धर्मोपदेशनसमर्थं: सर्वेषां यतीनां च नैश्चिन्त्यकारको गुरुभार उच्यते ईदृग्विघोऽपि गच्छनायको यतिः । (जो विहरद्द सच्छंदं) यो यतिः स्वच्छन्दं विहरति-जिनसूत्रं न प्रमाणयति (पावं गच्छेदि होद्द मिच्छतं) स मुनिः प्रापं गच्छति प्राप्नोति--मिय्यास्वं तस्य भवतीति तात्पर्यायःं ॥९॥

गायार्थ---जो मुनि सिंहके समान निर्भय रह कर उत्कृष्ट चारित्र घारण करते हैं, अनेक प्रकारके परिकर्म वत उपवास आदि करते हैं, तथा आचार्य आदिके पदका गुरुतर भार सभालते हैं परन्तु स्वच्छन्द प्रवृत्ति करते हैं, आगम को आज्ञा का उल्लङ्घन करके मनचाही प्रवृत्ति करते हैं, वे पापको प्राप्त होते हैं एवं मिथ्यादृष्टि कहलाते हैं ॥९॥

विशेषार्थ----जो सिंहने समान निर्भय रहकर सब मुनियोंसे उत्कृष्ट चारित्र धारण करते हैं, अनेक प्रकारके तपोंसे जिनका शरीर मण्डित है, जो गुरुतर भारको धारण करते हैं, अर्थात् राजा आदिके भयका निवारण करते हैं, शिष्योंके पठन पाठनमें समर्थ हैं, यात्रा-प्रतिष्ठा-दीक्षा-दान आयुर्वेद और ज्यातिष शास्त्रके निर्णय करने वाले हैं, छह आवश्यक कार्योंमें कर्मठ हैं, धर्मोपदेश देनेमें समर्थ हैं, सब मुनियोंको निश्चिन्तता प्रदान करने वाले हैं। ऐसे गच्छके नायक होकर भी जो मुनि स्वच्छन्द विहार करते हैं अर्थात् जिनसूत्रको प्रमाण नहीं मानते, वे पापको प्राप्त होते हैं तथा उनकी मिष्यात्व अवस्था होतो है ॥९॥

१. गरुम म० ।

णिच्चेलपाणिपत्तं उवइटुं परम जिणवरिबेहि । एक्को हि मोक्खमग्गो सेसा य अमग्गया सब्वे ॥ १० ॥

निश्चेलपाणिपात्रमुपदिष्टं परमजिनवरेन्द्रैः । एको मोक्षमार्गः शेषाश्च अमार्गाः सर्वे ॥ १० ॥

(णिच्चेल्पाणिपत्तं) निश्चेलस्य मुनेः पाणिपात्रं करयोः पुटे भोजनमुक्तं। (उवइट्ठं परम जिणवरिदेहि) उपदिष्टं परमजिनवरेन्द्रैस्तीर्थंकरपरमदेवैः। (एको हि मोक्समग्गो) एक एव मोक्षमार्गो निग्रंन्यलक्षणः (सेसा य अमग्गया सल्वे) शेषा मृग चर्म वल्कल-कर्पासपट्टकूल-रोमवस्त्र-तट्ट-गोणीतृण-प्रावरणादि-सर्वे, रक्तवस्वादि पीताम्बरादयश्च विश्वे, अमार्गाः संसारपर्यंटन हेतुत्वान्मोक्ष-मार्गा न भवन्तीति भव्यजनैर्क्षांतव्यम् ॥१०॥

जो संजमेसु सहिओ आरंभपरिग्गहेसु विरओ वि । सो होइ ववणीओ ससुरासुरमाणुसे लोए ॥११॥

यः संयमेषु सहितः बारम्भपरिग्रहेषु विरतः अपि।

स भवति वन्दनीयः ससुरासुरमानुषे लोके॥११॥

(,जो संजमेसु सहिको) यो मुनिर्न तु गृहस्थः संयमेषु सहितः इन्द्रियप्राण-संयमवान् भवति । (आरंभपरिग्गहेसु विरक्षो वि) आरम्भाः सेवाइविवाणिज्य-

गावार्ब---तीर्थंकर परमदेव ने नग्नमुदाके घारी निग्रंन्य मुनिको ही पाणिपत्र आहार लेनेका उपदेश दिया है। यह एक निग्रंन्य-मुद्रा ही मोक्षमार्ग है, इसके सिवाय सब अमार्ग हैं-मोक्षके मार्ग नहीं हैं।।१०।।

विशेषार्थं - तीर्थंकर परमदेव ने निझ्चेल--वस्त्र मात्रके त्यागी-निग्रंन्थ मूनिको ही कर-पुटमें आहार लेनेका उपदेश दिया है। जिसमें मुनि नग्न म्हकर करपुट में ही आहार करते हैं, वह एक निग्रंन्थ-वेष ही मोक्षमार्ग है। इमके सिवाय मृगचर्म, वृक्षोंके वल्कल, कपास, रेशम और रोमसे बने वस्त्र, टाट तथा तृण आदिके आवरण (चटाई आदि) को धारण करने वाले सभी साघु, तथा लाल वस्त्र और पीले वस्त्रको धारण करने वाले सभी लोग अमार्ग हैं---संसार, परिभ्रमणके हेतु होनेसे मोक्षमार्ग नहीं हैं, ऐसा भव्य जीवों को जानना चाहिये ॥१०॥

गावार्य-जो मुनि संयम से सहित है तथा आरम्भ और परिग्रह से विरत है वही सुर असुर और मजुष्यों से युक्त लोकमें बन्दनीय है ॥११॥ प्रमुखाः, परिप्रहाः क्षेत्रवास्त्वादयस्तेषु विरतो विरक्तो भवति । अपि शम्दः समुच्चये वर्तते । तेन ब्रह्मचर्यादयो गृह्मन्ते तस्माद् 'ब्रह्मचर्यघरो यति' रिति वचनात् । (सो होइ वदणोओ) स मुनिवन्दनीयो भवति । क्व वन्दनीयो भवति ? (ससुरासुरमाणुसे लोए) लोके त्रिभुवने वन्दनीयो भवति । कधंभूते लोके ? ससुरासुरमानुषे देवदानवमानवसहिते ॥११॥

जे वावोसपरीसह सहंति सत्तीसएहि संजुत्ता ।

ते होंति वंदणीया कम्मक्खयणिज्जरासाह ॥ १२ ॥

ये द्वाविशतिपरीषहान् सहन्ते शक्तिशतैः संयुक्ताः ।

ते भवन्ति वन्दनीयाः कर्मक्षयनिर्जरासाधवः ॥१२॥

(जे बाबीसपरीसह सहति) ये द्वाविंशति परीषहान् सहन्ते । (सत्तीसएहि संजुत्ता) शक्तीनां छतैं संयुक्ताः । (ते होंति वंदणीया) ते भवन्ति वन्दनीया नमोअल्तु शब्द-योग्याः । (कम्मक्खयं निज्जरासाहू) कर्मक्षयनिर्जरासाधवः ये कर्मक्षये निजंरायां च साधवः कुशला भवन्ति योग्या भवन्तीति भावः ॥१२॥

बिज्ञेवार्थ-इन्द्रिय-संयम और प्राण-संयमके मेदसे संयमके दो मेद हैं। सेवा, कृषि, वाणिज्य आदिको आरम्भ कहते हैं तथा क्षेत्र, मकान आदिको परिग्रह कहते हैं। जो मुनि इन्द्रियसंयम और प्राणो-संयम से सहित है तथा आरम्भ और परिग्रहों से विरत है। साथ ही ग्रह्माचर्य आदि गुणों से युक्त है वही देव दानव और मनुष्यों से सहित लोक में वन्दना करने के योग्य हैं। इसके सिवाय असंयमी, आरम्भ और परिग्रह के जालमें फंसे हुए अन्य साधु सम्यग्दृष्टि के द्वारा वन्दना करने योग्य नहों है।।११।।

गायार्थ—जो बाईस परिषह सहन करते हैं, सैकड़ों शक्तियोंने सहित है, तथा कर्मोंके क्षय और निर्जरा करने में कुशल हैं, ऐसे मुनि वन्दना करने योग्य हैं॥ १२॥

अवसेसा जे लिंगी दंसणणाणेण सम्मसंजुत्ता । चेलेण य परिगहिया ते भणिया इच्छणिज्जाय ॥१३॥

अवशेषा ये लिङ्गिमो दर्शनज्ञानेन सम्यक्संयुक्ताः । चेलेन च परिगृहीतास्ते भणिता इच्छाकारयोग्या: ॥१३॥

(अबसेसा जे लिंगी) अवशेषा ये लिङ्गिनः क्षुल्लकगुरवः । (दंसणणाणेण सम्मसंजुत्ता) दर्शनज्ञानेन सम्यक्संयुक्ताः । (चेलेण य परिगहिया) वस्त्र कघराः सकौपीनाश्च, वस्त्रमपि सीवित न भवति, किं तर्हि ? खण्डवस्त्रं धरन्ति ते बस्त्रपरिगृहीताः । (ते भणिया इच्छणिज्जाय) ते भणिता इच्छाकारयोग्या नमस्कारयोग्याः ॥१३॥

इच्छायारमहत्थं सुत्तठिओ जो हु छंडए कम्मं । ठाणे द्वियसम्मत्तं परलोयसुहंकरो होई ॥१४॥

इच्छाकारमहार्थं सूत्रस्थितः यः स्फुटं त्यजति कर्म । स्थाने स्थितसम्यक्त्वः परलोकमुखकरो भवति ॥१४॥

(इच्छायारं महत्यं) इच्छाशब्देन नम उच्यते। कारशब्दस्तु अधःस्वः क्रियते.तेन नमस्कार इति भवति। क्षुत्लकानां वन्दनम्। (सुत्तठिओ जो हु

विशेषार्थ-दिगम्बर मुनि मुद्रा के सिवाय अन्यलिङ्गधारी-ऐलक क्षुल्लक, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे संयुक्त हैं। ऐलक एकवस्त्र-कोपीनके धारक हैं और क्षुल्लक कोपीनके सिवाय एक वस्त्र अतिरिक्त भी रक्षते हैं। इनका यह वस्त्र सिला हुआ नहीं होता, खण्डवस्त्र कहलाता है अर्थात् इतना छोटा होता है कि शिर ढके तो पैर नहीं ढक और पैर ढकें तो शिर नहीं ढके। ऐसे ऐलक और क्षुल्लक इच्छाकर के योग्य कहे गये हैं अर्थात् उन्हें नमस्कार करते समय 'इच्छामि' या इच्छाकार' शब्द का उच्चारण करना चाहिये॥ १३॥

गाथार्थ—जो इच्छाकार के महान अर्थकी जानता है, सूत्र-आगमर्भ स्वित होता हुआ आगमको जानता हुआ गुहस्वके आरम्भ आसि कॉर्थी छंडए कम्मं) सुत्तद्विओ—सूत्रस्थितः समयं जानन् यः पुमान् कर्म स्पजति-गृहस्यकर्मं न करोति-वैयावृत्यं विना स्वयं रन्यनादिकं न करोति । (ठाणे (ट्वियसम्मत्तं) एकादश्वस्वपि स्थानेषु सम्यकत्वपूर्वको भवति । (परलोयसुहंकरो होइ) स्वर्गसौख्यं साधयति-षोडशसु स्वर्गेष्वन्यतमस्वर्गे उत्पद्यते ततरच्युत्वा निग्रन्थो मृत्वा मोक्षं गच्छति ।।१४॥

अह पुण अप्पा णिच्छवि घम्माइं करेदि निरवसेसाइं । तहवि ण पावदि सिद्धि संसारत्थो पुणो भणिदो ॥१५॥

अथ पुनरात्मानं नेच्छति धर्मान् करोति निरवशेषाषान् ।

तथापि न प्राप्नोति सिद्धि संसारस्थः पुनर्भणितः ॥१५॥ (अह पुण अप्पा णिच्छदि) अय अयवा पुनरात्मानं नेच्छति आत्मभावनां न करोति । (धम्माइं करेइ निरवसेसाइं) धर्मान् करोति निरवशेषान् दानपूजा

को छोड़ता है और श्रावकके ग्यारहवें स्थानमें सम्यक्त्व-पूर्वक स्थित है बह परलोकमें सुखको करने वाला होता है। १४।

विशेषार्थ—इच्छा शब्द से नमः अर्थ कहा जांता है । कार शब्द उससे नीचे प्रयुक्त होता है अर्थात् कार शब्दका प्रयोग इच्छा शब्दके आगे किया जाता है, इसलिये समस्त इच्छाकार शब्दका अर्थ नमस्कार होता है । इसप्रकार गांथा का अर्थ यह हुआ कि जो इच्छाकार शब्दके महान अर्थको जानता हुआ क्षुल्लक-ऐलक आदिको इच्छाकार करता है— इच्छामि या इच्छाकार करता हुआ वन्दना करता है, शास्त्रको जानता हुआ पद के विरुद्ध झारम्भ आदि कार्यों का स्पष्ट रूपसे त्याग करता है अर्थात् वैयावृत्यको छोड़कर स्वयं रसोई आदि नहीं बनाता, तथा श्रावक-के ग्यारहवें स्थानमें सम्यग्दर्शन के साथ स्थित है अर्थात् सम्यग्दर्शन-पूर्वक श्रावकके ग्यारह स्थानों का पालन करता है, वह स्वर्गके सुखको साधता है अर्थात् सोल्ह स्वर्गों में से किसी एक स्वर्गमें उत्पन्न होता है और वहाँ से च्युत हो निग्र न्थ होकर मोक्षको प्राप्त होता है ॥ १४ ॥

गाथार्थ---जो आत्मा को नहीं इच्छता अर्थात् आत्मा को भावना नहीं करता है, वह भले हो समस्त घम कार्योंको करता हो तो भो मुक्ति को प्राप्त नहीं होता। वह संसारी हो कहा गया है। १५॥

विशेषार्थ-'इच्छाकार' शब्द का प्रधान अर्थ आत्मा को इच्छा करना है अर्थात् पर पदार्थसे भिन्न शुद्ध आत्म-तत्त्वकी उपलब्धि मुझे हो ऐसी भावना करना है। जो पुरुष उक्त प्रकारसे आत्माकी इच्छा नहीं

225

तपः-शोलादिकानि निरवशेषाणि समस्तानि पुष्यानि करोति । (तह वि ग पावदि सिद्धि) तथापि पुष्प कर्म प्रकारेणापि सिद्धि मुक्ति न प्राप्नोति । (संसा-रत्यो पुणो भणिदो) संसारस्थः पुनर्भणितः संसारी भवतीति सिद्धान्ते प्रति-पादितम् । उक्तव्य्च देवसेनेन भगवता----

अइ कुणउ तवं पालेउ संजमं पढउ सयलसत्थाइं। जाम ण झावई अप्पा ताम ण मोक्स जिणो भणई ॥ १ ॥ एएण कारणेण य तं अप्पा सद्दहेह तिविहेण । जेण य लहेह मोक्सं तं जाणिउजइ पयत्तेण ॥ १६॥

एतेन कारणेन च तमात्मानं श्रद्धत्त त्रिविधेन।

येन च लभेध्वं मोक्षं तं जानोत्तं प्रयत्नेन ॥ १६ ॥ (एएण कारणेण य) एतेन प्रत्यक्षीभूतेन कारणेन हेतुना । चकार उक्त-समुच्चयार्थः, बहिस्तत्वभूतपञ्चपरमेष्ठिकारणसूचनार्थं इत्यर्थः । (तं अप्पा सद्दहेह तिविहेण) तमात्मानं शुद्धबुद्धं कस्वभावमात्मतत्वं श्रद्धत्त यूयं रोचत यूयम्,

करता वह दान पूजा तप शील आदि समस्त पुण्य कार्य करता हुआ भी सिदिको प्राप्त नहीं होता। उसे आगम में संसारी ही कहा गया है। ऐसा ही भगवानु देवसेन ने कहा है---

बद्द कुणइ---अतिशय तप करो, संयम पालो और समस्त शास्त्र पढो परन्तु जब तक आत्माका ध्यान नहीं किया जाता है तब तक मोक्ष प्राप्त नहीं होता, ऐसा जिनेन्द्रदेव कहते हैं।

(आत्म श्रद्धानके बिना दान पूजा तप शील आदि समस्त पुण्य कार्य शुभबन्धके कारण हैं जिनके फलस्वरूप यह जीव देव आदि गतियों में परिभ्रमण करता है । अतः मुक्ति प्राप्त करनेके लिये सर्वंप्रथम आत्म-स्वरूपकी प्राप्तिका पुरुषार्थं करना चाहिये) ॥ १५ ॥

गायायं-इस कारण उस आत्माका मन वचन कायसे श्रद्धान करो तथा उसीको प्रयत्न पूर्वक जानो जिससे कि मोक्ष प्राप्त कर सको ॥१६॥

विशेषार्थ—गाथामें आये हुए 'एएण कारणेण' इस पदसे पूर्व गाथाओं में प्रयुक्त संसारभ्रमण आदिका उल्लेख किया गया है । तथा चकारसे बाह्य तत्वभूत पद्मपरमेष्ठी रूप कारण को सूचना दी गई है इसलिये गाबाका अर्थ यह हुआ कि चूँकि आत्म श्रद्धान के बिना दान पूजा आदि समस्त पुष्य कार्य करने पर भी तथा पञ्चपरमेष्ठी आदि बाह्य निमित्त मिलने पर भी यह जोव सिद्धिको प्राप्त नहीं होता, संसारी ही कड्लाता त्रिविधेन मनोवचनकायप्रकारेण । (जेण य लहेह मोक्स) येन चात्मतत्वेन लभेष्वं मोक्ष सर्वं-कर्म-द्वाय-लक्षणं परमनिर्वाणं प्राप्नुत यूयम् । अत्रापि चकार उक्त समुच्चयार्थः । तेन स्वर्गसौख्यं यथासंभवं सर्वार्थसिद्धिपर्यंतं पूर्वं लब्ध्वा पश्चान्मोक्षं लभेध्वम् । (तं जाणिज्जह पयत्तोण) तमात्मानं न केवलं श्रद्धत्त अपि तु जानीत विदांकुरुत चेति । कयम् ? प्रयत्नेन सावधानतया सर्व-तात्पर्येणेत्यर्थः ॥ १६ ॥

वालग्गकोडिमित्तं परिगहगहणं ण होइ साहूणं । भुंजेइ पाणिपत्ते दिष्णण्णं इक्कठाणम्मि ॥१७॥

वालाग्रकोटिमात्रं परिग्रहग्रहणं न सर्वति साधुनाम् ।

भुञ्ज्जीत पाणिपात्रे दत्तमन्नं एक स्थाने ॥१७॥ (वालग्गकोडिमत्तं) वालस्य रोम्पोऽप्रकोटिमात्र अप्रायमात्रं अतीवाल्पमपि । (परिगहगहणं ण हद्दो साहूणं) परिग्रहस्य ग्रहणं स्वीकारो ⁹न भवति साघूकां

रहता है, अतः शुद्ध-वीत राग और बुद्ध-सर्वंज्ञ रूप प्रमुख स्वभावसे युक्त उसी आत्मा की मन वचन कायसे श्रद्धा करो, तथा पूर्ण प्रयत्नसे साव-धानता-पूर्वक पूर्ण लगनसे उसी आत्माको जानो जिससे सर्व कर्म-क्षय रूप लक्षणसे युक्त परम निर्वाणको प्राप्त कर सको । यहाँ जेण य-येन च शब्दके साथ जो चकारका प्रयोग किया है वह ऊपर कही हुई बातका समुच्चय करनेके लिये है । उससे यह अर्थ ध्वनित होता है कि पहले सर्वार्थसिद्धि तकके स्वर्ग सुखको प्राप्त कर पश्चात् मोक्षको प्राप्त कर सको ।

[आत्म-श्रद्धान होने पर भी जब तक चारित्र मोह-जन्य रागका सदभाव रहता है तब तक यह जीव देवायुका बन्ध करके प्रथम स्वर्गसे लेकर सर्वार्थ-सिद्धि तकके सुख भोगता है और पीछे कर्मभूमिज मनुष्य पर्यायमें उत्पन्न होकर चारित्र मोह-जन्य रागका अभाव होने पर समस्त कर्मोंका क्षय करके मोक्ष प्राप्त करता है] !। १६ ।।

गाथार्थ—निग्रंन्थ साधुओंके रोमके अग्रभाग की अनीके बराबर भी परिग्रह का ग्रहण नहीं, अतः उन्हें योग्य श्रावकके द्वारा दिये हुए अन्नका हस्तरूप पात्र में भोजन करना चाहिये और वह भी एक ही स्थान पर ॥ १७॥

१. स्वीकारो म करोति न भवति क०।

निरम्बर यतीनाम् । (भुंजेइ पाणिपत्ते) भुष्ठ्जीत भोजनं कुर्वीत कुर्यात् पाणि-पात्रे निजकरपुटे । (दिष्ण्पण्णं इक्कठाणम्मि) श्रावकेण दत्तं नत्वव्रतीना दत्तं भुञ्जीत, प्रासुकभोजनं किल सर्वत्र गृह्यते इति जैनामासा बु वन्ति तदनेन विशेषव्याख्यानेन ^१-परित्यक्तं भवतीति भावितव्यम् । इक्कठाणम्मि-उद्मो भूत्वा एकवारं भुञ्जीतेति, यो बहुवारं भुङ्क्ते स वन्दनीयो न भवतीति भावार्थः ॥१७॥

जहजायरूवसरिसो तिलतुसमित्तं ण गिहदि हत्थेसु । जइ लेइ अप्पबहुयं तत्तो पुण जाइ णिग्गोदं ॥१८॥ यथाजातरूपसदृशः तिलतुषम।त्रं न गृह्णाति हस्तयोः। यदि लाति अल्पबहुकं ततः पूनयोति निगोदम् ॥१८॥

(जहजाइरूवसरिसो) यथाजातरूपः सर्वज्ञवीतरागस्तस्य रूपसद्वशो नग्न-इरीरः । (तिल्तुसमेत्तं ण गिहदि हत्थेसु) तिलस्य पितृप्रियकणस्य तुषस्त्वङ्-मात्रं न गृह्णाति हस्तयोरित्युत्सर्गव्याख्यानं प्रमाणमेव किन्तु---

विशेषार्थ-दिगम्बर मुद्राके धारी साधुओंके वालके अग्रभाग की अनीके बराबर अत्यन्त अल्प भी परिग्रह नहीं होता, अतः उन्हें अपने कर-पुटमें ही आहार ग्रहण करना चाहिये। वह आहार भी श्रावक के द्वारा दिया हुआ, न कि अन्नती मनुष्य के द्वारा दिया हुआ, और वह भी एक स्थान पर खड़ा होकर एक ही बार, न कि अनेक बार । श्वेताम्बर कहते हैं कि प्रासुक आहार सब जगह लिया जाता है, चाहे वह व्रती-धावक के द्वारा दिया हुआ हो और चाहे अवती के द्वारा । परन्तु इस विशेष व्याख्यान से ऐसे आहार का त्याग होता है, ऐसा समझना चाहिये। मुनि खड़े होकर एक ही बार भोजन करते हैं, बार-बार नहीं । जो जेनाभास घर-घर से भिक्षा लाकर अनेक बार खाता है वह वन्दना के योग्य नहीं है ॥ १७॥

ंगाथार्थ--नग्न-मुद्राके धारक मुनि तिलतुष मात्र भी परिग्रह अपने हाथोंमें ग्रहण नहीं करते । यदि थोड़ा बहुत ग्रहण करते हैं तो निगोद जाते हैं ।। १८ ।।

विशेषार्थ---'यथा-जात' तत्काल उत्पन्न हुए बालक को कहते हैं उसके समान जिनका रूप है वे सर्वज्ञ वोतराग हैं। उनके सदृश नग्न श्वरीरको धारण करने वाले निग्रंन्थ साधु अपने हाथोंमें तिलकी भुसी

र् प्रत्युवर्त म० ।

क्वचित्कालानुसारेण सूरिद्र व्यमुपाहरेत् ।

गच्छपुस्तकवृद्ध धर्यंमयाचितमथाल्पकम् 🛛 11

इतीन्द्रनन्दिभगवतोक्तं त्वपवाद व्याख्यानम्। तत्रापि स्वहस्तेन न स्पृष्यं किन्तु श्रावकादिहस्तेन स्थापनीयम् । (जद्द लेइ अप्पबहुयं) यदि लाति

बराबर भी परिग्रह नहीं रखते । यदि कदाचित् अपने उदर पोषण की बुद्धिसे थोड़ा बहुत रखते हैं तो उसके फलस्वरूप निगोद को प्राप्त होते हैं ।

यहां संस्कृत टोकाकार ने लिखा है कि यह उत्सर्ग व्याख्यान-सामान्य कथन प्रमाण रूभ ही है किन्तु इन्द्रनन्दी भगवान् ने जो यह उल्लेख किया है कि—

म्वचित्—''कहीं आचार्य कालकी परिस्थिति के अनुसार गच्छ तथा पुस्तकों की वृद्धिके लिये उस द्रव्यको भी ग्रहण करते हैं जो बिना याचना के प्राप्त हआ हो तथा अत्यन्त अल्प हो ।''

यह अपनाद व्याख्यान है। इस अपवाद मार्गका कयन करते हुए उन्होंने कहा है कि आचार्य उस अयाचित और अल्प द्रव्यंको अपने हाय से न छुए, श्रावक आदि के हाथ में ही रक्खें। अर्थात् उसके स्वामित्व के भागी न बनें।। १८।।

[प्रस्त—जब कि मुनि के शरीर है, आहार है, कमण्डलु है, पीछी है, शास्त्र है, तब तिल तुष मात्र परिग्रह का अभाव किस प्रकार संभव है ?

समाधान----मिच्यात्व--सहित रागभाव से, अपना मानकर विषय कषायको पुष्टि के लिये जिस वस्तुको रखा जाता है उसे परिग्रह कहते हैं। ऐसे परिग्रह का अल्प या बहुत रखनेका निषेध किया है। संयम, शुचि और ज्ञानके उपकरणों का निषेध संभव नहीं है। घरीर, इच्छा करने पर भी आयुपयन्त छूट नहीं सकता है इसलिये उसके ममत्व भावके त्यागका ही उपदेश दिया है। यही शरीर रूप परिग्रह का छोड़ना है। चब तक शरीर है तब तक उसकी स्थिरता के लिये आहार आवश्यक है, अतः उसका सबंधा त्याग नहीं हो सकता। संयम का साधन शरीर से होता है और शरीर की स्थिरता आहार से होती है, अतः चरणा-नुयोगके अनुसार शुद्ध आहार मुनि ग्रहण करते हैं। मयूर-पिच्छ संयमका उपकरण है उसके बिना जीव जन्तुओं की रक्षा नहीं हो सकती, अतः उसे ग्रहण करना आवश्यक बताया है। कमण्डलु शुचिता का कारण है उसके बिना मल मूत्रादि विसर्जन के समय शरीर की घुदि नहीं हो सकती

१२२

गृह्लात्यल्पंबहुकं वा निजोदरपोषणबुद्धया च । (तत्तो पुण जाइ निग्गोदं)ततः पुनयोति निगोदं प्रशंसनीयगति न गच्छतीत्यर्थः ॥ १८ ॥

और शरीरकी शद्धि के बिना शास्त्रका स्पर्श वींजत होने से स्वाध्याय भी नहीं बन सकता, अतः कमण्डलु रखना मुनिके लिये आवश्यक है। अब रहा शास्त्र सो यह ज्ञानका उपकरण है, अतः इमे मुनि साथ रखते हैं इतना अवश्य है कि स्वाध्याय पूर्ण हो जाने पर वे उमे बिना किसी ममत्व भावके छोड़ देते हैं तथा एक दो-सीमित शास्त्र ही साथ रखते हैं। विशिष्ट अध्ययन के लिये मन्दिर या सरस्वती भवन आदिके अनेक शास्त्रोंका भा उपयोग होता है परन्तु उनके प्रति स्वामित्वका भाव न होने से वे परिग्रह की कोटि में नहीं आते।

प्रका-मुनि के लिये परिग्रह त्यागका जो उपदेश है, वह उत्सर्ग मार्ग है परंन्तु अपवाद मार्गमें वस्त्रादिक उपकरण रखे जा सकते हैं, ऐसा जेनाभास का कहना है । वे कहते हैं कि जिस प्रकार पीछी कमण्डलु और शास्त्र धर्मोपकरण हैं उसी प्रकार वस्त्रादिक भो धर्मोपकरण हैं । जिस प्रकार बाहारके द्वारा क्षुधाकी बाधा मेटकर शरोर द्वारा संयमका साधन किया जाता है उसी प्रकार वस्त्रादिक द्वारा श्रीत आदिकी बाधा दूर कर संयमका साधन किया जाता है, अतः वस्त्र और आहारादि परिग्रहमें कोई विशेषता नहीं है ?

समाषान-विशेषता क्यों नहीं है ? शरीर की स्थिरताके लिये जिस प्रकार आहार अपरिहायं है उस प्रकार वस्त्रादि अपरिहायं नहीं हैं। वस्त्रादिकके बिना मनुष्य जीवित रह सकता है परन्तु आहार के बिना नहीं रह सकता, अतः वस्त्रादिक और आहारको समानता नहीं है। वस्त्रका ग्रहण मनुष्य अपना विकार भाव छिपाने के लिये करता है, अत: जिसके विकार भावकी संभावना है उसे वस्त्र धारण कर गृहस्थके वेषमें ही रहना चाहिये परिग्रह-स्थागीका उत्कृष्ट वेष रख कर अपनी दुबंलता को छिपाने के लिये अपवाद मार्ग की कल्पना करना उचित नहीं है। फिर अपवाद मार्ग तो वह है जिसके अपनाने पर भी मुनिपद की रक्षा बनी रहे किन्तु इसके विपरीत जिसके अपनाने पर भी मुनिपद की रक्षा बह अपवाद मार्ग कैसा ? जिनागम में सब प्रवृत्ति को छोड़ घ्यानस्थ हो. बुद्धोपयोग में लीन होने को उत्सर्ग मार्ग कहा है और दिगम्बर मुद्रा रख कर पीछी कमण्डलु सहित आहार विहार तथा उपदेशादिक में प्रवृत्ति

जस्स परिग्गहगहणं अप्पं बहुयं च हवइ लिंगस्स । सो गरहिउ जिणवयणे परिगहरहिओ निरायारो ॥१९॥

यस्य परिग्रहग्रहणमल्पं बहुकं च भवति लिंगस्य ।

स गर्हणीयो जिनवचने परिग्रहरहितो निरागारः ॥१९॥ (जस्स परिग्गह गहणं) यस्य मुनेः क्वेताम्बरादेः परिग्रहग्रहणं शासने भवति (अप्पं बहुयं च हवइ लिंगस्त) अल्प-अर्ढ फालिकादिक ैबहुयं---चतुर्विशत्या-वरणादिकं भवति लिङ्गस्य कपटकर्पटसितपटादेर्वेषे । (सो गरहिउ जिणवयणे) तल्लिङ्गं स वेषो निन्दितोऽप्रशंसनीयो भवति । क्व ? (जिणवयणे)-श्रीधद्धंमान-गौतमादिप्रतिपादितसिद्धान्तशास्त्रे । तथा चोक्तं समन्तभद्रेण गुरुणा---

> ^२त्वमसि सुरासुरमहितो ग्रन्थिकसत्वाशयप्रणामामहितः । लोकत्रथपरमहितोऽनावरणज्योतिरुज्ज्वलघामहितः ।।

करने को अपवाद मार्ग बतलाया है । इसके विपरोत अन्य अपवाद मार्गकी कल्पना करना शास्त्र सम्मत नहीं है ।] ।।१८।।

गाथार्थ-जिस वेषमें थोड़ा या बहुत परिग्रह का ग्रहण होता है वह निन्दनीय है क्योंकि जिनवचन में परिग्रह रहित को ही मुनि बताया है ॥ १९ ॥

विशेषार्थ---जिस क्वेताम्बर आदि मुनिके परिग्रहका ग्रहण बताया है तथा जिस कपट कपट या क्वेताम्बर आदिके वेष में अर्द्धफालादिक अल्प तथा चतुर्विशतिआवरणादिक अधिक परिग्रह पाया जाता है वह वेष श्री भगवान महावोर और गौतम आदि गणधरों के द्वारा प्रतिपादित शास्त्रमें निन्दनीय कहा गया है। जैसा कि समन्तभद्र गुरु ने कहा है।

त्वमसि---हे वोर जिन ! आप सुरों तथा असुरोंसे पूजित हैं, किन्तु परिग्रही प्राणियो के हृदय से प्राप्त होने वाले प्रणाम से पूजित नहीं हैं । आप तीनों लोकोंके प्राणियोंके लिये परम हित रूप हैं, आवरण-रहित केवलज्ञान रूप ज्योति से सहित हैं तथा देदोप्यमान तेज से हितकारी हैं । यहां 'ग्रन्थिकसत्व' शब्दसे क्वेताम्बरों का ग्रहण करना चाहिये क्योंकि प्रभाचन्द्र ने क्रियाकलाप की टीका में ऐसी ही व्याख्या की है । उन इदेताम्बरों में क्वेताम्बराभास लौंका गच्छ के साधु बत्यन्त निन्ध हैं

१. बहुयं च म० ।

२. स्वयंग्रसोई समलभारम्य ।

सूत्रप्राभृतम्

-३. २०]

अत्र ग्रन्थिकसत्वाः सितपटाः प्रभाचन्द्रेण क्रियाकलापटीकायां व्याख्याताः, सितपटाभासास्तु -'लीकायतिका अतीव निल्द्या अशीचव्यवहारोछिष्टान्नभो-जित्वात् । (परिगहरहिओ निरायारो) परिग्रहरहितो हि मुनिर्निरायारोऽनगारो यतिर्भवति यस्मात्कारणादिति शेषः ॥१९॥

पंचमहब्वयजुत्तो तिहिं गुत्तिहिं जो स संजदो होई । णिग्गंथमोक्खमग्गो सो होदि हु वंदणिज्जो य ।।२०॥ पञ्चमहाव्रतयुक्तः तिसृभिर्गुंप्तिभिर्यः स संयतो भवति । निर्ग्रन्थमोक्षमागंः स भवति हि वन्दनोयश्च ॥२०॥

(पंचमहब्वयजुत्तो) पञ्चमहाव्रतैयुंक्तः प्राणातिपातानृतादत्तपरिग्रहरहितः पुमान् पञ्चमहाव्रतयुक्त उच्यते । यस्तु स्तोकमपि परिगृहीतं करोति सोऽजुव्रतः

क्योंकि वे नीच लोगोंके भी उच्छिष्ट अन्नको ग्रहण कर लेते हैं। यथार्थ में परिग्रहरहित मुनि ही मुनि कहलाते हैं।

[भगवान महावोर स्वामी स्वयं निग्रंन्थ थे तथा साधुओंके लिये उन्होंने निग्रंन्थ वेषका ही प्रतिपादन किया था परन्तु कालदोष से मुनियों के निग्रंन्थ वेष में धोरे-घोरे ग्रन्थ-परिग्रह का प्रवेश होता गया। सर्व प्रथम अर्द्धफालिक रूप से मुनियों में परिग्रहका प्रवेश होता गया। सर्व प्रथम अर्द्धफालिक रूप से मुनियों में परिग्रहका प्रवेश हुआ अर्थात् कुछ मुनि आहार के लिये जब नगरों में जाते थे तब कटिसे नीचे का भाग एक वस्त्र से बाच्छादित कर लेते थे, आहार के बाद उसे अलग कर देते थे। इन साधुओं को कपटकपंट कहा है। इसके अनन्तर कुछ मुनि स्पष्ट रूप से घवेत वस्त्र धारण करने लगे, वे सितपट या स्वेताम्बर कहे जाने लगे। ये साधु होकर भी वस्त्र पात्र तथा दण्ड आदि परिग्रह रखने लगे। आगे चल कर इन्हीं स्वेताम्बरों में लौंका गच्छ के साधु हुए जो सितपटा-भास या स्वेताम्बराभास कहलाते थे इनका आचार प्रशस्त नहीं था। श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने परिग्रही जीवों का सामान्य उल्लेख करते हुए कहा है कि जिस लिज्ज-साधु के वेष में थोड़ा या बहुत परिग्रहका ग्रहण है वह वेष गईणीय है अप्रशंसनीय है क्योंकि जिनागम में साधु को परिग्रह रहित ही बताया है।] ॥ १९॥

१. लोकायतिकाः म० ।

सागारोऽत्रतो वा कथ्यते । तेन वस्त्रादौ परिग्रहे सति तत्र यूकालिसादयस्त्रीन्त्रिया जीवा उत्पद्यन्ते । यदि ततोऽपनीयान्यत्र झिप्यन्ते ततो झियन्ते कयं प्राणातिपात-करहितो निरागारो भवति । अलमिति विस्तरेण, परिग्रहवान् महाव्रती न भवति । (तिहि गुत्तिहि जो स संजदो होइ) तिसृभिर्गुप्तिभियुंक्तो यो मुनिः स संयतः संयमवान् भवति । (णिग्गंथ मोक्समग्गो) निग्रंन्थमोक्षमार्गं या मन्यते । (सो होदि हु वंदणिज्जो) स भवति हु-स्फुटं वन्दनीयः । (यः) सग्रन्यमोक्षमार्गं मन्यते स मिय्यादृष्टिर्जेनाभासक्ष्वावन्दनीयो भवतिति भावार्याः ॥ २०॥

> दुइयं च उत्तलिगं उक्किट्टं अवरसावयाणं च । भिक्खं भमेइ 'पत्तो समिदिभासेंण मोणेण ॥ २१ ॥ द्वितीयं चोक्तं लिङ्गमुक्तृष्टमवरश्रावकाणाञ्च । भिक्षां अमति पात्रः समितिभाषेण मौनेन ॥ २१ ॥

विश्लेषार्य---जो पुरुष, प्राणातियात-हिंसा, अनृत-असत्यभाषण, अदत्त-चोरी, सुरत-स्त्रीसंभोग और परिग्रह-अन्तरङ्ख बहिरङ्ख परिग्रह इन पाँच पापों से सर्वथा विरत होता है वह परुचमहाव्रतका धारी कहलाता है। इसके विपरीत जो थोड़ा भी परिग्रह स्वीकृत करता है वह अणुवती गृहस्य अथवा अव्रतां कहलाता है । जब साधु सस्त्र बादि परिग्रहको स्वीकृत करता है तब उन वस्त्र आदि में चोलर तथा जए आदि त्रीन्द्रिय जीव उत्पन्न हो जाते हैं। यदि उन जीवोंको वस्त्र आदि से अलग करके दूसरे स्थान पर डाला जाता 🐉 तो वे मर जाते हैं और उनके मरने पर साधु हिंसासे रहित कैसे हो सकता है ? अधिक विस्तार से क्या लाभ है, संक्षेपसे यही समझना चाहिये कि परिग्रही मनुष्य महा-वती नहीं हो सकता। कायगुष्ति, वचनगुष्ति और मनोगुष्ति ये तीन गुप्तियाँ हैं। जो मुनि उपर कहे हुए पाँच महाव्रतों तथा तीन गुप्तियोंसे युक्त होता है वह संयमी कहलाता है। साथ ही जो मुनि निग्नेन्थ---निष्परिग्रह प्रवस्था को ही मोक्षमार्गं मानता है वह स्पष्ट रूप से वन्दना करनेके योग्य है । इसके विवरीत जो सग्रन्थ-सपरिग्रह अवस्थाको मोक्समार्ग मानता है वह निय्यादृष्टि है, जैनाभास है तथा वन्दना के अयोग्य है ॥ २० ॥

गाचार्य-दूसरा लिङ्ग उत्कृष्ट श्रावकोंका कहा गया है। यह उत्कृष्ट श्रावक भिक्षाके लिये अमण करता है, पात्र सहित होता है

. पंडित जयचन्द्रजी ने अपनी भाषा बचनिकामें पत्ते पाठ स्वीक्तता किया है।

(दुइयं च दुत्तलिगं) द्वितीयं चोक्तं लिङ्गं वेषः । (उक्किट्टं अवरसाव-याणं च) उत्कृष्टं लिङ्गमवरश्रावकाणां, भागृहस्थश्रावकाणाम् । सोऽवरश्रावकः । (भिक्खं भमेइ पत्तो) भिक्षां भ्रमति पत्र्वसहितः कम्भोजी वा । (समिदिभासेण मोणेण) ईयासभितिसहितः मौनवांक्च, उत्कृष्टश्रावको दशमैकादशप्रतिमाः प्राप्तः । उक्तञ्च भिमन्तभद्रेण यतिना ।

> आद्यास्तु षड्ज़घन्याःस्युमेध्यमास्तदनु त्रयः । शेषो ढावृत्तमावुक्तौ जैनेषु जिनशासने ॥ १ ॥ एकादशके स्थाने ह्युत्कुष्टः श्रावको भवेद् ढिविघः । वस्त्रैकघरः प्रथमः कौपीनपरिग्रहोऽज्यस्तु ॥ २ ॥

अथवा हाय में भी भोजना करता है और भिक्षाके लिये अमण करते समय भाषासमिति रूप बोलता है अथवा मौन रखता है ॥ २१ ॥

विशेषार्थ— मुनिलिङ्ग के सिवाय दूसरा लिङ्ग उत्कृष्ट आवकका कहा गया है। प्रतिमाओंकी अपेक्षा आवकोंके ग्यारह भेद हैं उनमें प्रारम्भ की छह प्रतिमाओं के धारक मनुष्य गृहस्य आवक कहलाते हैं और आग्ने की पाँच प्रतिमाओंके धारक अगृहस्य आवक माने जाते हैं। अगृहस्य आवकों में दशनीं और ग्यारहवीं प्रतिमाके धारक उत्कृष्ट श्रावक कहलाते हैं। परन्तु दशमप्रतिमाधारी आवकका कोई लिङ्ग-वेषनहीं होता अतः यहाँ उत्कृष्ट श्रावक से ग्यारहवीं प्रतिमा के धारक का हो ग्रहण समझना चाहिये। ग्यारहवीं प्रतिमा का धारक उत्कृष्ट श्रावक कहलाते हैं। परन्तु दशमप्रतिमाधारी आवकका कोई लिङ्ग-वेषनहीं होता अतः यहाँ उत्कृष्ट श्रावक से ग्यारहवीं प्रतिमा के धारक का हो ग्रहण समझना चाहिये। ग्यारहवीं प्रतिमा का धारक उत्कृष्ट श्रावक-क्षुल्लक अचवा ऐलक भिक्षा के लिये अमण करता है यह पात्र से सहित होता है अर्थात् पात्र में भोजन करता है और ऐलक की अपेक्षा हस्त पुटमें ही भोजन करता है। मूल गाथा के अनुसार भाषा समितिसे बोलता है अथवा मौन पूर्वक अमण करता है। परन्तु संस्कृत टोका के अनुसार यह उत्कृष्ट श्रावक ईर्या समिति से चलता है और मौन रख कर ही अमण करता है। श्र वकों के मेदों का वर्णन करते हुए श्री महाकवि समन्तभद्र (?) सोमदेव ने कहा भी है—

बाद्यास्तु—जिन शासन में प्रारम्भ के छह श्रावक जघन्य, उसके बादके तीन श्रावक मध्यम तथा अन्त के दो श्रावक उत्तम कहे गये है। १ ॥

कौपीनोऽसौ रात्रिप्रतिमायोगं करोति नियमेन । लोचं पिच्छं घृत्ना भुङ्क्ते ह्यु पविष्य पाणिपुटे ।। ३ ।। वीरचर्या च सूर्यंप्रतिमा त्रैकाल्ययोगनियमध्च । मिद्धान्तरहस्यादिष्वध्ययनं नास्ति देशविरतानाम् ॥ ४ ॥

लिंगं इत्थीणं हवदि भुंजइ पिंडं सुएयकालम्मि । अज्जिय वि एक्कवत्या वत्थावरणेण भुंजेइ ॥२२॥

लिङ्गं स्त्रीणां भवति भुङ्क्ते पिंडं स्वेककाले । आर्यापि एकवस्त्रा वस्त्रावरणेन भुङ्क्ते ॥ २२ ॥

(लिंग इत्थीण हवदि) तृतीय लिज्झ वेषः स्त्रीणां भवति । (भुंजइ भिंग सुएयकालम्मि) भुङ्क्ते पिण्डमाहारं सुष्ठु निष्चलतया एककाले दिवसमम्मे एकवारम् । (अज्जिय वि एक्कवत्था) आर्यापि एकवस्त्रा भवति अपि सब्दात्

का होता है १ क्षुल्लक और ऐलक । पहला एक वस्त्र तथा कौपीन को धारण करता है और दूसरा कौपोनमात्र ही रखता है ॥ २ ॥

कोपीनोऽसौ—मात्र कौपीन को धारण करने वाला ऐलक रात्रि में प्रतिमा योग धारण करता है, नियम से केशलोंच करता है, पीछो रखता है और बैठ कर हस्त-पूटमें आहार करता है ॥ ३॥

वोरचर्या---वीर चर्या-मुनियों की तरह चर्याके लिये निकलना, सूर्य प्रतिमा-दिन में नग्न होकर प्रतिमायोग धारण करना, शीत, उष्ण और ग्रीष्म ऋतुमें योगघारण करना और सिद्धान्त तथा प्रायधिचत्त आदि शास्त्रोंका अध्ययन करना श्रावकों के लिये निषिद्ध है ॥ ४ ॥ ॥ २१ ॥

गाधार्य-तीसरा लिङ्ग स्त्रियों का है इस लिङ्ग को धारण करने वाली स्त्री दिनमें एक ही बार आहार ग्रहण करती है। वह आर्यिका भी हो तो एक ही वस्त्र धारण करे और वस्त्र के आवरण सहित भोजन करे॥ २२॥

विशेषार्थ— स्त्रियोंमें उत्कृष्ट वेषको धारण करने वाली आर्यिका और क्षुल्लिका दो हैं। दोनों ही दिन में एक बार आहार लेती हैं। आर्यिका मात्र एक वस्त्र-सोलह हाथ की एक सफेद साड़ो रखती है और अपि शब्दसे ध्वनित होता है कि क्षुल्लिका एक साड़ी के सिवाय एक ओढने की चंद्दर भी रखती हैं। भोजन करते समय एक साड़ी रख कर

226

क्षुस्लिकापि संव्यानवस्त्रेण सहिता भवति । (वत्थावरणेण भ्रुंजेइ) भोजनकाले एक शाटकं धृत्वा भुङ्क्ते संव्यानमुपरितनवस्त्रमुतायं भोजनं कुर्यादित्ययंः ॥२२॥ ण वि सिज्झद्द वत्थधरो जिणसासणे जद्द वि होद्द तित्व्ययरो । णग्गो विमोक्खमग्गो सेसा उम्मग्गया सब्वे ॥२३॥ नापि सिध्यति वस्त्रधरो जिनशासने यद्यपि भवति तीर्थंकरः । नग्नो विमोक्षमार्गः होषा उन्मार्गकाः सर्वे ॥२३॥

(ण वि सिज्झ इ वत्यघरो) भाषि सिद्धपति नैव सिद्धिमात्मोपलव्धिलक्षणं मुर्कित रूभते वस्त्रघरो मुनिः। (जिणसासणे जद्द वि होद तित्वयरो) जिन-शासने श्रीवर्षमान-स्वामिनो मते यद्यपि भवति तीर्थंकरः तीर्थंकरपरमदेवोऽपि यदि भवति । गर्भावतारादि-पञ्च्वकल्याणवानपि सिद्धो न भवति, आस्तां तावदन्यो-ऽनगर केवरूयादिकः । (णग्गो विमोक्समग्गो) नग्नो वस्त्रामरणरहितो विमोक्ष-

हो दोनों भोजन करती हैं । अर्थात् आर्थिका के पास तो एक साड़ो है पर क्षुल्लिका ऊपर का वस्त्र (चद्दर) उतार कर भोजन करती है ॥२२॥

गायार्थ-जिन शासन में कहा है कि वस्त्रधारी पुरुष सिद्धि को प्राप्त नहीं होता भले ही वह तीथँकर भी क्यों न हो ? नग्न वेष ही मोक्ष-मार्ग है शेष सब उन्मार्ग हैं, मिथ्या मार्ग हैं ॥२३॥

विशेषार्य-श्वी अन्तिम तीथँकर श्रीवर्धमान स्वामी के मत में कहा गया है कि यदि तीथँकर भी हो अर्थात् गर्भावतरण आदि पश्च कल्याणकों के धारक तीथँकर परम देव भी हों तो भी वस्त्र के धारक मुनि स्वात्मोप-लब्धि रूप लक्षणसे मुक्त-सिद्धि को प्राप्त नहीं हो सकते । जब तीथँकर भी सवस्त्र अवस्था में सिद्ध नहीं हो सकते तब अन्य अनगार केवली आदिको बात तो दूर हो रही । वस्त्राभूषणसे रहित नग्न देष ही विशिष्ट मोक्षका मार्ग है ऐसा जानना चाहिये । शेष श्वेताम्बरादिकों के मत जन्मार्ग रूप हैं, निन्दनीय हैं और मिध्यारूप हैं, ऐसा विद्वानोंको जानना बाहिये ॥२३॥

[तीर्थंकर भगवान् नियम से मोक्षगामो हैं परन्तु जब तक वे गृहत्य अवस्था में रहते हैं-वस्त्राभूषण आदि परिग्रह धारण करते हैं तब तक मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकते। जब तीर्थंकर-जैसे महापुरुषों को भी मोक्ष-प्राप्ति के उद्देश्य से नग्न होना पड़ता है—समस्त परिग्रह का त्याग करना पड़ता है, तब साधारण पुरुषों को तो बात ही क्या है ? नग्न होना बाह्याभ्यन्तर परिग्रह के त्याय का उपलक्षण है, अतः परिग्रह के रहते मार्गः ज्ञातम्यः। (सेसा उम्मगया सम्वे) शेषाः सितपटादीनां मार्गाः सर्वेऽपि उन्मार्गकाः कुत्सिता मिम्यारूपा मार्गा – जानीया विद्वद्भि रित्यर्थः ॥ २३॥

लिंगस्मि य इत्यीणं यथणंतरे णाहिकक्खवेसेसु । भणिओ सुहुमो काओ तासं कह होइ पव्वज्जा ॥२४॥

लिङ्गे च स्त्रोणां स्तनान्तरे नाभिकक्षादेशेषु।

भणितः सूक्ष्मः कायस्तासां कथं भवति प्रव्रज्या ॥२४॥ 🔅

(लिंगम्मि य इत्थीणं) लिङ्गे योनिमच्ये स्त्रीणां योषिताम् । (बणंतरे णाहिकनस्वदेसेसु) स्तनान्तरे द्वयोः स्तनयोर्भध्ये वक्षः प्रदेशे, नाभिकक्षादेशेषु नाभौ तुन्दिकायां, कक्षादेशयोर्बाह्याः मूलयोर्द्वयोः स्थानयाः (भणित्रो सुहुमो कात्रो) भणित आगमे प्रतिपादितः, कोऽसौ भणितः ? सूक्ष्मः कायः सूक्ष्मजीक्शारीर लोषनाद्यगोचरः सूक्ष्मः पञ्चेन्द्रियपयंन्तो जीववर्गः (तासं कह होइ पत्र्वज्जा) तासां स्त्रीणां कथं भवति प्रव्रज्या दीक्षा अपि तु न भवति । यदि प्रव्रज्या न भवति तर्हि कथं पञ्च महाव्रतानि दीपन्ते ? सत्यमेतत् सज्बाति ज्ञापनार्थं महा-वतानि जपचयंन्ते स्थापना न्यासः क्रियते इत्यर्थः । तया भोक्तं शुभचन्द्रेण महाकविना--

हुए मोक्ष की प्राप्ति सम्भव नहीं है। इतना स्पष्ट होते हुए भी जो श्वेता-म्बर, सवस्त्र सुक्ति मानते हैं उनका वैसा मानना उन्मार्ग हो है।]

विशेषार्थ----स्त्रियों के लिङ्ग अर्थात् योनि में, दोनों स्तनोंके बीच वक्ष-स्थलमें, नाभि और बहुमूल में सूक्ष्म-दृष्टि-अगोचर पर्छ न्द्रिय पर्यन्त तक के जीव आगम में कहे गये हैं। अतः उनके दोक्षा नहीं हो सकतो है।

उत्तर----यह सत्य है किन्तु सज्जाति को बतलाने के लिये महाव्रतोंका उपचार होता है, यथार्थ में महाव्रत न होने पर भी उनको स्थापना की जाती है ।

१. मार्गा झेया जानीया म०।

सूत्रप्रामृतम्

--'मैथुनाचरणे मूढ ! जियन्ते जन्तुकोटयः ।

योनिरन्द्रसमुत्पन्ना जिङ्गसंबट्टपीढिताः ॥१॥

कियन्तो जन्तवो झियन्त इति चेत् ? धाते धाते असंख्येयाः कोटयः । "वाए धाए असंखेज्जा" इति वचनात् ।

ैजइ दंसणेण सुद्धा उत्ता मग्गेण सा वि संजुत्ता । घोरं चरिय चरित्तं इत्यीसु ण पख्वया भणिया ॥२५॥

यदि दर्शनेन शुद्धा उक्ता मार्गेण सापि संयुक्ता। घोरं चरित्वा चारित्रं स्त्रीषु न प्रव्रज्या भणिता।।२५॥

जैसा कि महाकवि शुभचन्द्र ने कहा है---

मैथुनाचरणे—अरे मूर्ख प्राणी ! स्त्रियों के साथ मैथुन करने में उनके योनिरूप छिद्र में उत्पन्न हुए करोड़ों जीव लिङ्गके आघात से पीडित होकर मरते हैं।

प्रश्न-कितने जीव मरते हैं ?

उत्तर—प्रत्येक आघात में असंख्यात करोड़ । क्योंकि आगमका बबन है ⁴धाए घाए असंखेज्जा' अर्थात् लिङ्ग के प्रत्येक आघात में असं-ख्यात करोड़ जोव मरते हैं ॥२४॥

गावार्थ-यदि स्त्री सम्यग्दर्शनसे शुद्ध है तो वह भी मार्ग से युक्त

२. ग प्रतौ एवं टिप्पणी वर्तंते—'यदि दर्शनेन सम्यक्त्वेन शुद्धा निर्मला सा स्त्री मार्गे संयुक्ता उक्ता कथिता घोरं उप्रं चरित्रं चरित्वा आश्रयित्वा, स्त्रीधु निःपापा भणिता'।

. पं० जयचन्द जीने भी हिन्दी वचनिकामें 'पावया' की छाद्या 'पापका' स्वीकृत कर गाथाका यह अर्थ किया है---

स्त्रीनि विर्धे जो स्त्री, दर्शन कहिये यथार्थ जिनमत की श्रद्धा करि शुद्ध हैं सो भो मार्गकर संयुक्त कही हैं। जो घोर चारित्र तीव्र तपश्चरणादिक आचरण कर पापते रहित होय हैं ताउँ पाप-युक्त न कहिये। भावार्ध-स्त्रोनि विर्धे जो स्त्री सम्यक्ष्स करि सहित होय और तपश्चरण कर तो पाप-रहित होय स्वर्ग कूं प्राप्त होय तातें प्रश्नंसा योग्य है अर स्त्री पर्याध हैं मोक्ष नाहीं।

ज्ञाताणंवे शुभचन्द्रस्य ।

(जद्द दंसणेण सुद्धा) यदि दर्शनेन सम्यक्त्वरत्नेन शुद्धा निमंला भवति। (उत्ता मग्गेण सा वि संजुता) तदा भार्गेण सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रलक्षणेन सापि स्त्री च संयुक्ता अवति-पञ्चमगुणस्थानं प्राप्मोति, स्त्रीलिज्ज्ञं छित्वा स्वर्मापे देवो भवति, ततरुच्युत्वा मनुष्यभवमुत्तमं प्राप्य मोक्षं लभते । उक्तं च

> सम्यग्दर्शनसंशुद्धमपि मातञ्जदेहजम् । देवा देवं विदुर्भस्मगुढाञ्जारान्तरौजसम् ।।

अनि य वघो जीवाणं मेहुणसण्णाए होदि बहुगाव । तिलणास्त्रीए तत्तायसण्यवेसो व्य जोणीए ॥३५॥ त्रैलोक्यप्रज्ञप्ति ४ ४०

हिंस्यन्ते तिलनाल्यां तप्तायसि विनिहिते तिला यद्वत् । बहवो जीवा योनौ हिंस्यन्ते मैथुने तद्वत् ॥१०८॥ पुरुषार्थ०

कही गई है। वह कठिन चारित्रका आचरण करके स्वर्ग में उत्पन्न होती है, अतः स्त्रियों के दोक्षा नहीं कही गई है।।२५॥

सम्यग्दर्शन-सम्यग्दर्शन से शुद्ध चाण्डालको भी गणधरादिक देव, भस्म से छिपे हुए अङ्गार के समान अभ्यन्तर तेजसे युवत देव कहते हैं 1

स्त्री यदि स्वर्ग भो जाती है तो स्त्री लिङ्ग को प्राप्त नहीं होतो। यह भी महाकवि समन्तभद्र ने कहा है---

३. 'यमित्रिजंन्म निर्विष्णैर्दू षिता यद्यपि स्त्रियः । तथाप्येकान्ततस्तासां विद्यते नाघसंभवः ॥५६॥ ननु सन्ति जीवलोके काश्चिच्छमशीलसंयमोपेताः । निजवंशतिलकमूताः श्रुतसत्यसमान्यिता नार्यः ॥५७॥ सत्तीर्थेन महत्वेम वृत्तेन विनयेन च । विवेकेन स्त्रियः काश्चिद् भूषयन्ति घरातलम् ॥५८॥ श्रावार्णवे शुम्ल्यन्द्रस्य स्वर्गेऽपि गताः पुनः स्त्रोलिङ्गं न लभते । तवप्युक्तं समन्तमद्रेण महाकविना--ैसम्पग्दर्शनशुद्धा नारकतिर्यङ्नपुंसक स्त्रीत्वानि ।

दुष्कुलविकृताल्पायुर्धरिद्रतां च द्रजन्ति नाप्यद्रतिकाः ॥१॥

(घोरं चरिय चरित्त) घोरं कातरजनभोतिजनकं घरित्रं घरित्वा घोड्र घसु स्वगेंब्बन्यतमं स्वगं यान्ति अहमिन्द्रत्वमपि स्त्रीभवे न लभन्ते कथं मोक्षं स्त्रीमवे प्राज्यवन्ति । तेन कारणेन (इत्थीसु ण पावया भणिया) स्त्रीषु न प्रव्रज्या निर्बाणयोग्या दीक्षा भणिता । इत्यनया गाथया सितपटानां मतं स्त्रीमुक्तिप्राप्ति-स्वर्वणं -- रेपरित्यक्तं भवति । मरुदेवी-ब्राह्यी-युन्दरी-यशस्वती-सुनन्दा-युलोधना सीठा-राजीमती-चन्दना-अनन्तमति द्रौपदीत्यादिकाः स्त्रियः स्वर्गं गता न तु बोक्यमिति ।

चित्तासोहि ण तेसि ढिल्लं भावं तहा सहावेण । विज्जदि मासा तेसि इत्थीसु ण संकया झाणं ॥२६॥

चित्ताशोधिनं तासां शिथिलो भावस्तथा स्वभावेन । विद्यन्ते मासास्तासां स्त्रीषु नाशङ्क्र्या ध्यानम् ॥२६॥

सम्यख़्र्झन शुद्धा---सम्यादर्शन से शुद्ध मनुष्य व्रत-रहित होने पर भी नरक, तिर्यंञ्च नपुंसक, स्त्री-पर्याय, नोच-कुल, विकलाञ्झ--अवस्था, अल्प बायू और दरिव्रता को प्राप्त नहीं होते।

गाषार्थ---स्त्रियोंके चित्तकी कुद्धता नहीं है, उनके परिणाम स्वभावसे ही शिथिल रहते हैं, प्रत्येक मासमें उनके रुधिरस्नाव होता है और निभैयता पूर्वक उनके ध्यान नहीं होता ॥२६॥

- 🦺 रलकरण्डश्रावकाणारे ।
- ২: সম্পূৰ্ব ম• ৰ০ ।

(चित्तासोहि गे तेसि) चित्तस्य मनसः आ समन्ताच्छोबिनिमंलता न विद्यते ताषां स्त्रीणाम् । (डिल्लं भावं तहा सहावेण) शिथिछो भाव: परिणामस्तवा स्वभावेन प्रकृत्यैव, कस्मिष्चिद् व्रतादावतिदाठ्यं न वर्तते । (विज्जदि मासा तेसि) विद्यन्ते मासा—मासे मासे रुचिरस्रावस्तासां स्त्रीणाम् । (इत्थीसु ण संकया झाणं) स्त्रीषु न वर्तते, किं तत् ? अशङ्घ्या निर्मयतया व्यानमेकाप्रचिन्तानिरोधल्झग-मिति भावः । "लुक्च" इति प्राकृतव्याकरणसूत्रेणाकारलोपः ।

माहेण अप्पगाहा समुद्दसलिले सचेलअत्थेण । इच्छा जाहु णियत्ता ताह णियत्ताइं सच्चदुक्साइं ॥२७॥

ग्राह्येण अल्पग्राहाः समुद्रसलिले स्वचेलार्थेन । इच्छा येभ्यो निवृत्ता तेषां निवृत्तानि सर्वदुःखानि ॥२७॥

(गाहेण अप्पगाहा) प्राह्म ें आहारादिना ये मुनयोऽल्पग्राहाः स्तोकं गृह् णन्ति । (समुद्दसलिले सचेलअत्येण) यथा समुद्रसलिले प्रचुरजलाहाये सत्यपि स्वचेल-

विशेषार्थ—यहाँ स्त्रोको दीक्षा क्यों नहीं है। इसके कुछ अन्य कारणें पर प्रकाश डाला गया है। स्त्रीके मनमें सब ओर से शुद्धता का अमाव रहता है अर्थात् निर्मलता का पूर्ण अभाव रहता है। उसके परिणामोंमें स्वभाव से ढीलापन रहता है अर्थात् किसी व्रत आदि में उसके अत्यन्त दुढ़ता नहीं रहती है। व्रत्येक मासमें द्यिरस्राव होता है तथा मीदप्रकृति होनेके कारण निःश्वर्ङ्करूपसे एकाग्रचिन्ताणिरोध रूप लक्षणसे युक्त व्यान भी नहीं होता। गाया में जो 'ण संकया' पाठ है वहाँ ण अशर्ड्या ऐसा पाठ समझना चाहिये क्योंकि 'लुक्च' इस प्राक्रत व्याकरण के अनुसार 'असंकया' यहां पर अकारका लोप हो गया है।।२६।।

गायार्थ-जिस प्रकार समुद्रके समान बहुत भारी जलके विद्यमान रहने पर भी अपने वस्त्रको घोने की इच्छा करने वाला मनुष्य योड़ा ही जल ग्रहण करता है उसी प्रकार मुनि भी गृहस्थों के घर बहुत मारी सामग्री रहने पर भी आवश्यकताके अनुसार आहारादिकी अपेक्षा अल्प ही ग्रहण करते हैं। यथार्थ में जिनकी इच्छा दूर हो गई है उनके सब दुःख दूर हो गये हैं। !२७॥

विकोषार्थ----जिस प्रकार प्रचुर जलाशयके रहते हुए भी अपने वस्त्र-को घोनेके लिये थोड़ा ही जल लिया जाता है, अधिक जल ग्रहण से भ्या प्रयोजन है ? अर्थात् कुछ नहीं । उसी प्रकार मुनि भी श्रावकों से बाहार –३. २७]

प्रकालनार्थमल्पमेव जरूं गृह्यते किं क्रियतेऽधिकजलप्रहणेन । (इच्छा जाहु णियत्ता) इच्छा तृष्णा लोभलक्षणा येम्यो भुनिम्यो निवृत्ता गता । (ताह णियत्ताइं सब्ब-दुःखाइं) तेषां निवृत्तानि नष्टानि सर्वंदुःखानि शारीरमानसागन्तूनि कष्टानि नष्टान्येव समीपतरसिद्धि-सुखसंभवादिति भावः ॥२७॥

इति श्री पद्मनन्दि कुन्दकुन्दाचार्यं वकग्रीवाचार्येलाचार्यं शृद्वपिच्छाचार्यं नामपञ्चकविराजितेन श्री सीमन्घरस्वामि-ज्ञानसम्बोधित-भव्यजनेन श्री जिनचन्द्र-सूरि-भट्टारकपट्टाभरणभूतेन कलिकालसर्वज्ञेन विरचिते षट्प्राभृत ग्रन्थे सर्व-मुनिमण्डल-मण्डितेन कल्किललगौतस्वामिना श्री मल्लिभूषणेन मट्टारकानुमतेन सकलविढज्जनसमाजसम्मानितेनोभयभाषाकविचक्रवर्तिना श्रो विद्यानन्दि-गुर्वन्ते-बासिना सूरिवर श्री श्रुतसागरेण विरचिता सूत्रप्राभृतटीका समाप्तः ।

बादि अल्प पदार्थं हो ग्रहण करते हैं, अधिक नहीं। वास्तव में जिनकी लोभ रूप इच्छा नष्ट हो चुकी है उनके शारीरिक, मानसिक और आगन्तुक समस्त दुःख नष्ट ही हो जाते हैं तया मोक्ष सुखकी प्राप्ति अत्यन्त समोप हो जाती है।।२७॥

इस प्रकार श्री पद्मनन्दी, कुन्दकुन्दाचार्य, वक्त्योवाचार्य, एलाचार्य और गृद्धपिच्छाचार्य इन पांच नामोंसे सुशोमित, सीमंघरस्वामीके ज्ञानसे भव्यजीवोंको सम्बोधित करने वाले, श्रो जिनचन्द्रसुरि मट्टारकके पट्टके बामरणभूत, कलिकालके सबंज्ञ कुन्दकुन्दाचार्यके द्वारा विरचित षट्पाहुड सन्यमें समस्त मुनियोंके समूह से सुशोभित कलिकाल के गौतमस्वामी श्री मल्लिभूषण भट्टारक के द्वारा अनुमत, सकल विद्वत्समाज के द्वारा सम्मानित, उभय भाषा सम्बन्घी कवियों के चक्रवर्ती श्री विद्यानन्द गुरुके शिष्य सुरिवर श्री श्रुतसागर के द्वारा विरचित सूत्रप्राभृत की टोका सम्पूर्ण हुई ।

۲

. . •

बोधप्रासृतम्

बहुसत्य अत्यजाणे संजमसम्मत्तसुद्धतवयरणे । वंदित्ता आयरिए कसायमलबज्जिदे सुद्धे ॥१॥ सयलजणबोहणत्थं जिणमग्गे जिणवरेहि जह भणियं । वुच्छामि समासेण य -ेछक्कायहियंकरं सुणसु ॥२॥

बहुशास्त्रार्थज्ञायकान् संयमसम्यक्त्वश्रद्धतपञ्चरणान् । वन्दित्वाचार्यान् कषायमलवर्जितान् शुद्धान् ।।१।।

सकलजनबोधनार्थं जिनमार्गे जिनवैरर्यथा भणितम् । वक्ष्यामि समासेन च षट्कायहितंकरं श्रुणु ॥२॥

(बुच्छामि) वक्ष्यामि कथयिष्यामि । कः ? कर्त्ता अहं श्री कुन्दकुन्दाचार्यः । किं तत् कर्मतापत्नं ? (छक्कायहियंकरं) षट्कायहितंकरं पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्प-तित्रसकायहितकारकं शास्त्रं बोघप्रामृताभिधानं शास्त्रं । केन कृत्वा वस्यामि ? (समासेण) संक्षेपेण । (सुणयु) श्रुणु त्वं हे भव्य ! ''विघ्यादिसु त्रयाणामेकत्र

गायार्थ--मैं अनेक शास्त्र तथा उनके अर्थके ज्ञाता, सयम सम्यक्त और शुद्ध तपश्चरण के धारक, कषाय रूपो मलसे रहित तथा निर्मल आचार्यों को नमस्कार करके समस्त मनुष्यों को संबोधने के लिये जिनमार्ग मैं जिनेन्द्रमगवान् के द्वारा कहे अनुसार संक्षेप से छह कायके जीवोंका हित करने वाला ''बोधप्राभृत" नामक ग्रन्थ कहूँगा, हे भव्य जीवो ! उसे सुनो ॥१-२।

विशेषार्थ—बोधप्राभृत नामक ग्रन्थके मङ्गठाचरण और प्रतिज्ञा----वाक्यको कहते हुए कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि मैं उन आवार्योंको

१. समकाय सुहंकर के० ख० ग० घ०।

दुसुयुक्त्व'' इत्यनेन प्राकृतव्याकरणसूत्रेण हि स्थाने सुरादेशः, बहुवचने तु पञ्चम्याः सुणह इत्यवं भवति मध्यमस्य । कथंभूतं बोघप्राभृतं ? (जिणमग्गे जिणवरेहिं जह भणियं) जिनमार्गे जिनशास्त्रे जिनवरैः केवलिभियंथा येन प्रकारेणायतनादि-भिर्माणतं प्रतिपादितं । किमर्थं जिनैभँणितं ? (संयलजणबोहणस्यं) सर्वभव्यजीव-सम्बोधननिमित्तं । किं कृत्वा पूर्वं वुच्छामि ? (वंदित्ता आयरिए) वन्दित्वाऽऽ-चार्यान् तृतोयपरमेष्ठिपदस्यान् गुरून् । कथंभूतानाचार्यान् बहु सत्थ अत्य जाणे अनेक शास्त्र झायकान् । पुनः कथंभूतानाचार्यान् बहु सत्थ अत्य जाणे अनेक शास्त्र झायकान् । पुनः कथंभूतानाचार्यान् (संजम सम्मत्तंसुद्ध तवयरणे) संयमध्च चारित्रं, सम्यक्त्वं च सम्यग्दशैनं, शुद्धं निरतिचारं, तपद्यरणं च द्वादर्शविधं तपो येषां ते संयमसम्यस्त्वशुद्धतपद्यर्थान् । भूयोऽपि कथंभूतानाचार्यान् (कसायमलवज्जिदे) क्रोध, मान, माया, लोभ, लक्षणचतुष्कषायमलवर्जिसान् कषायोत्पन्नपापरहितानित्त्ययंः । अपरं कद्यंभूतानाचार्यान् ? (सुद्धे) शुद्धान् षट्तिंशदृशुणप्रतिपालनेन निमंलान् निष्या-पान् । के ते षट्त्रिशदुगुणा इत्याह—

नमस्कार करके जो कि अनेक शास्त्र तथा उनके अर्थंके झाता हैं, सम्यक-चारित्र, सम्यग्दर्शन और निरतिचार बारह प्रकारके तपके धारक हैं, क्रोध मान माया लोभ नामक चार कषाय रूपी मलसे रहित हैं और छत्तीस गुणोंके पालक होनेसे निर्मल हैं—निब्पाप हैं; समस्त भव्य जीवों को संबोधने के लिये बोधप्राभृत नामक ग्रन्थको संक्षेप से कहूँगा। यह ग्रन्थ पृथिवी, जल, अग्नि वा और वनस्पति इन पांच स्थावरों तथा एक त्रस इस प्रकार छहकाय के जीवोंके लिये हितकारी है, तथा जिनमागं—जिन-शास्त्र में केवलज्ञान से युक्त जिनेन्द्रभगवान् ने जैसा कहा है उसीके अनुसार कहा गया है। आचार्योंके छत्तीसगुण इस प्रकार हें—

°आचारवत्वादि आठ, स्थितिकल्प दश, तप बारह और आवश्यक छह, इस प्रकार कुल मिलाकर आचार्यके छत्तीस गुण माने गये हैं। संस्कृत टीकाकार ने 'आचारवान्' आदि श्लोकोंमें उन्हीं का नामोल्लेख किया है---

१. अष्टावाचारवत्याद्यास्तपांसि द्वादेश स्थितेः । कस्पा दशावस्यकानि षट् थट्विशदगुणाः गुराः ॥७६॥

षट्त्राभूते

आचारवान् श्रुताघारः प्रायश्चित्तासनादिदः । आयापायकथी दोषाभाषकोऽस्नावकोऽपि च ॥१॥

आचारवान्— 'आचार्यं को आचारवान्, श्रुताधार, प्रायश्चित्तद, आसवादिद, आयापाय-कथी, दोषाभाषक, अस्रावक और संतोषकारी होना चाहिये अर्थात् आचार्यं में आचारवत्त्व, श्रुताधारत्व, प्रायश्चित्त-दातृत्व, आसनादि-दातृत्व, आयापायकथित्व, दोषाभाषकत्व, अस्रावकत्व और संतोषकारित्व ये आठ गुण होते हैं। इनका खुलासा इस प्रकार है—

१. बाचारवत्व---दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्यं इन पौच आचारों का स्वयं पालन करना तथा दूसरों से कराना आचारवत्व गुण है।

२. श्रुताषारवत्य — जिसकी श्रुतज्ञान रूपी संपत्ति की कोई तुलना न कर सके उसे श्रुतधारी अथवा श्रुतज्ञानी कहते हैं। नौ पूर्व, दशपूर्व या चौदह पूर्वतकके श्रुत ज्ञानको अथवा कल्प व्यवहार के धारण करने को आधारवत्त्व कहते हैं।

३. प्रायदिखलद — प्रायदिचत्त विषयक ज्ञानके रखने वाले को प्राय-क्वित्तद कहते हैं जिन्होंने अनेकबार प्रायदिचत्त को देते हुए देखा है और जिन्होंने स्वयं भी अनेक बार उसका प्रयोग किया हो, स्वयं प्रायक्वित्त प्रहण किया हो अथवा दूसरेको दिलवाया हो वह प्रायक्वित्तत अर्थात् प्रायस्वित्तको देने वाला है। दूसरे ग्रन्थोंमें इस गुणको व्यवहारपटुता कहा है।

४. आसनादिव—पमाधि-मरण करने में प्रवृत्त हुए साधक साधुओं को आसन आदि देकर जो उनकी परिचर्या करते हैं वे आसनादिद-आस-नादिको देनेवाले कहलाते हैं। इन्हें परिचारी अथवा प्रकारी कहते हैं।

५. आयापायकथी-----आलोचना करने के लिये उद्यत हुए क्षपक-समाधि-मरण करने वाले साघु के गुण और दोषों के प्रकाशित करने वाले को आयापायकथी कहते हैं। अर्थात् जो क्षपक किसी प्रकार का अतिचार आदि न लगाकर सरल भावोंसे अपने दोषों की आछोचना करता है उसके गुण को प्रशंसा करते हैं और आलोचना में दोष लगाने वाले के दोष बतलाते हैं, वे आय-लाभ और अपाय-हानि का कथम करने बाले हैं।

 आचारी सूरिराधारी व्यवहारी प्रकारकः । आयापायदिगुस्पीक्षेअरिस्नावी सुचावहः ॥७७॥

Education International

-जननारवर्षांमृत बच्चाय 📞

बोधप्राभृतम्

सन्तोषकारी साधूनां निर्यापक इमेऽफ्ट घ। ैदिगम्बरवेष्पनुद्दिष्टभोजी (ज्य) शय्याशनीति च ।।२।।

६. बोषाभाषक—दोष छिपाने वाले शिष्य से दोष कहलवाने की सामय्य रखने वाले आचार्य को दोषाभाषक कहते हैं । इसका दूसरा नाम उत्पीडक है । जिस प्रकार चतुर चिकित्सक ब्रण के भीतर छिपे हुए विकार को पोडित कर बाहर निकाल देता है उसो प्रकार आचार्य भी शिष्यके छिपाये हुए दोषको अपनी कूशलतासे प्रगट करा लेता है ।

७. अस्रावक—जो किसी के गोप्प दोष को कभी-प्रगट नहीं करता वह अस्रावक है। जिस प्रकार संतप्त तवे पर पड़ी पानी की ब्रेंद वहीं शुष्क हो जाती है इसी प्रकार शिष्य द्वारा कहे हुए दोष जिसमें शुष्क हो जाते हैं अर्थात् जो किसी दूसरे को नहीं बतलाते हैं, वे अस्रावक हैं।

८. संतोषकारी—जो साधुओं को सन्तोष उत्पन्न करने वाला हो अर्थात् क्षुधा, तृषा आदि की वेदना के समय हितकर उपदेश देकर साधुओं को संतुष्ट करता हो उसे संतोषकारी कहा है। इसका दूसरा नाम सुखा-वह भी है।

इस प्रकार निर्यापक अर्थात् सल्लेखना करानेवाले आचार्यमें ये बाठ गुण होते हैं । अब आगे स्थिति-कल्प रूप दश गुणों को कहते हैं—

९. दिगम्बर—आचेलक्य--^२अथवा नग्न मुद्राको धारण करने वाले हों उन्हें दिगम्बर कहते हैं। यह निष्परिग्रहता और निर्विकारता की परिचायक मुद्रा है।

१०. **अनुहि्ष्ट भोजो**—मुनियों के उद्देश्य से बनाये हुए भोजन पान ∙को जो ग्रहण नहीं करता है वह अनुद्दिष्ट-भोजी है ।

११. अशय्याज्ञनो----वसतिका बनवाने वाला और उसका संस्कार करने वाला तथा वहां पर व्यवस्था आदि करनेवाला ये तीनों ही शय्या-

आचेलक्यौट्टेशिकशस्याघरराजकौयपिण्डोज्झाः ।
 कृतिकर्झां तारोपणयोग्यर्स्व ज्येष्ठता प्रतिक्रमणम् ॥८०॥
 मासैकवासिता स्थितिकल्पो योगश्च वार्षिको दक्षमः ।
 तन्निष्ठः पृथुकीर्तिः क्षपकं निर्यापको विद्योघयति ॥८१॥

---- जनगारधर्मामूल अध्याय 💲

१. दिगम्बरोऽत्यनुहिष्ट म० ग०।

षट्प्राभृते

ैअरागमुक् [अराजभुक्] क्रियायुक्तो व्रतवान् ज्येष्ठसद्गुणः । प्रतिक्रमी च षण्मासयोगी तद्द्विनिवद्यकः ।।३॥

धर शब्द से कहे जाते हैं। जो शय्या अर्थात् शय्याधारके अशन-भोजनको ग्रहण नहीं करते उन्हें अशय्याशनो कहते हैं।

१२^{. ३}अराजमुक्---जो राजाओं के घरमें भोजन ग्रहण न करता हो अथवा राजपिण्ड का त्यागो ^३हो उसे अराजभुक् कहते हैं।

- १. आरोगभुक् म० ।
- २. आरोगभुक् म० । आरागभुक् क० ।
- राजपिण्ड त्यागका अभिप्राय अनगारघर्मामृत में इस प्रकार स्पष्ट किया है---- ऐसे घरोंमें जहां नाना प्रकार के भयंकर कुत्ते आदि जानवर स्वच्छन्द रूपसे फिरते रहते हैं उनके द्वारा उन घरों में प्रवेश करने पर संयमी का अपधात हो सकता है। मुनि के स्वरूप को देखकर वहां के घोड़े गाय भैंस वादि पशु विजुक सकते हैं और विजुक कर स्वयं त्रासको प्राप्त हो सकते हैं अथवा दूसरों को भी त्रास दे सकते हैं। यहा संयमी को भी उनसे त्रास हो सकता है। गवं से उद्धत हुए वहां के नौकर चाकरों के द्वारा साधुका उपहास हो सकता है। अथवा महलों में रोककर रखी हुई और मैथुन संग्रा---रमण करने की इच्छा से पीडित रहने वाली, यहा पुत्र आदि संतरि की अभिलाषा रखने वाली स्त्रियां अपने साथ उपभोग करने के लिये उस संयमी को जबर्दस्ती अपने घरमें ले जा सकती हैं । सुदर्ण रत्न अथवा उनके बने हुए भूषण जो इधर उघर पडे हों उनको कोई स्वयं चुराकर ले जाय और हल्ला कर देकि यहां पर मुनि आये ये और तो कोई आया नहीं। ऐसी अवस्था में मुनिके ऊपर चोरी का आरोप उपस्थित हो सकता है। यहां पर ये साघु आते हैं सो कहीं ऐसा न हो कि महाराज इन पर विश्वास कर बैठें और इनकी बातों में आकर राज्यको नष्ट कर दें, ऐसे विचारों से क्रोघादिक के वशीभूत हुए दीवान-संत्री आदिके द्वारा संयमीका वध बंधादिक भी हो सकता है। इनके सिवाय ऐसे स्थानों में आहारकी विशुद्धि मिलना कठिन है, दूध आदि विकृति का सेवन और लोभवस अमुल्य रत्न आहि की चोरी तथा पर-स्त्रियों को देखकर रागमाद का उद्रेक एवं वहां की लोकोरार विभूतिको देसकर उसके लिये निदान भावका हो जाना भी संमव है इत्यादि अनेक कारण हैं । कि जिनके निमित्त से राजपिष्डको बर्ज्य बताया है। अत एव जहां पर वे दोव संभव न हों अथवा दूसरी वनह आहार का

बोधप्राभृतम्

१३. क्रियायुक्त—जो क्रुतिकर्मसे युक्त हो उसे क्रिया-युक्त कहते हैं। छह आवश्यकों का पालन करना अथवा गुरुजनोंका विनय कर्म करना क्रुति-कर्म कहलाता है।

१४. वतवान्—जो व्रत धारण करने की योग्यता से सहित हो उसे ब्रतवान् कहते हैं। "जो आचेलक्य-नग्न-मुद्रा को धारण करने वाला हो, औद्देशिक आदि दोषों को दूर करने वाला हो, गुरुभक्त हो तथा अत्यन्त नम्र हो वही साधु व्रत धारण के योग्य माना गया है।

१५. ज्येष्ठ सदगुण-जिनमें उत्कृष्ट सद्गुणों का निवास हो उन्हें ज्येष्ठ-सद्गुण कहते हैं। जो जाति और कुल की अपेक्षा महान हों, जो नैभव, प्रताप और कीर्ति की अपेक्षा गृहस्योंमें भी महान रहे हों, जो झान और चर्या आदिमें उपाध्याय तथा आर्थिका आदि से भी महान हैं एवं क्रिया-कर्म के अनुष्ठान द्वारा भी जिनमें श्रेष्ठता पाई जाती है वे ज्येष्ठता गुण से युक्त हैं।

१६. प्रतिक्रमी---जो विधिपूर्वक दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातु-मोसिक और वार्षिक प्रतिक्रमण करते-कराते हों उन्हें प्रतिक्रमी कहते हैं ।

१७. षणमासयोगी—जो वसन्त आदि छह ऋतुओं में एक एक मास तक एक स्थान पर योग धारण करते हैं, अन्य समय विहार करते हैं वे षणमास-योगी कहलाते हैं। इसका दूसरा नाम मासिक-वासिता भी है। जो वर्षमें दो बार सिद्धक्षेत्रका यात्रा करने वाला हो।

१८^{, ३}तद्**द्विनिषधक**—इसका दूसरा नाम अन्यत्र पाद्य दिया है जिसका अर्थ वर्षा ऋतु के चार मास में एक स्थान पर चतुर्मास योग धारण करना होता है ।

स्नाभ संभव न हो, तो श्रुत में विच्छेद न पड़े इसके लिये राजपिष्ण्ड का भी ग्रहण किया जा सकता है अर्थात् ऐसी अवस्था में संयमी जन अपने तप संयम और घ्यान स्वाघ्याय आदि के साघन को कायम रखने के लिये राज-पिण्ड को भी ग्रहण कर सकते हैं क्योंकि उसको वर्ज्य जो माना है सो उपयुंक्त दोषोंको संभावना से ही माना है। अध्याय ९ इलोक ८०-८१।

 आचेलक य ठिदो चहेसादीय परिहरदि दोसे । गरुप्रसिमं विणीदो होदि वदाणं स अरिहो दु ।

—अनगार० अष्ट 🥄

२. वर्ष वर्ष हो वारो सिद्धिक्षेत्रयात्रां करोति (भ० टि०)

दिःषट्तपास्तवा वट् चावस्यकानि गुणा गुरोः । आयवणं चोबिहरं जिणपडिमा दंसणं च जिणबिंखं । भणियं सुवीयरायं जिणमुद्दा णाणमदत्यं ॥३॥ अरहंतेण सुदिट्ठं जं देवं तित्थमिह य अरहँतं । पावज्ज गुणविसुद्धा इय णायव्वा जहाकमसो ॥४॥ आयतन चैत्यगृहं जिनप्रतिमा दर्शनं च जिनबिम्बस् । भणितं सुवीतरागं जिनमुद्रा ज्ञानमात्मस्थस् ॥३॥ अर्हता सुदिष्टं यो देवः तीर्थमिह च अहंत् । प्रब्रज्या गुणविशुद्धा इति ज्ञातव्या यथाक्रमशः ॥४॥

(आयदणं) आयतनं झातम्यम् । (चेदिहरं) चैत्यगृहं द्वितीयं झातम्यम् । (जिणपडिमा) जिन प्रतिमा तृतीयो अधिकारो बोधप्राभृते झातम्यः । (दंसणं च) दर्शनं च चतुर्योऽधिकारो बोधकरो मन्तव्यः । (जिणबिंबं) जिनविम्बं पञ्च्यसो-ऽधिकारो बोधजनको विज्ञे यः । कयंभूतं जिनविम्बं ? (भणियं सुवीयरायं) भणितमागमे प्रतिपादितं सुष्ठु अतिषयेन वीतरागं न सु रूक्ष्मीनारायणवद्राग-सहितम् । (जिणमुद्दा) जिनमुद्रा बोधकरी षष्ठोऽधिकारो देवितव्यः । (णाण-मादत्यं) ज्ञानमात्मस्यं सप्तमी नियोगो बोधप्राभृतस्य बोद्धव्यः । (अरहतेण)

१९-३०. द्विषट्तपाः----अनशन, उन्नोदर, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरि-त्याग, विविक्त शय्याशन और कायक्लेश ये छह बाह्य तथा प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान ये छह अन्तरङ्ग इस प्रकार बारह तप धारण करने वाला हो।

३१-३६ **धडावव्यक---**समता, वन्दना, स्तुति, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय और कायोत्सगं इन छह आवश्यकों का पालन करने वाला हो ।

आगे बोघप्राभृत के ग्यारह अधिकारों के नाम लिखते हैं।

गावार्थ-आयतन, चैत्यगृह, जिनप्रतिमा, दर्शन, अत्यन्त वीतराग जिनविम्ब, जिनमुद्रा, आत्मसम्बन्धी ज्ञान, अरहन्त भगवान् के ढारा प्रतिपादित देव, तीर्थ, अरहन्त और गुणोंसे विशुद्ध प्रव्रज्या ये ग्यारह अधिकार क्रमसे इस बोधप्राभृतमें जानना चाहिये। ३-४।

विझेषार्य---पहला आयतन, दूसरा चैत्यगृह, तीसरा जिनप्रतिमा, चौथा दर्शन, पांचवां आगम में प्रतिपादित अत्यन्त वीतराग जिनविम्ब, छठवां जिनमुद्रा, सातवां आत्मस्थ झान, आठवां अरहन्त-वीतराग सर्वझ सुदिट्टं जं देवं अहंता सर्वंज्ञवीतरागेण - "सुदिष्टमवाधं प्रतिपादितं वं देवं: यो देवः प्राक्वते लिङ्ग्रभेदत्वादत्र देवशब्दस्य नपुंसकत्वं, सोऽयं देवाधिकारो बोधजनकोऽष्ट-मोऽवगन्तव्यः । (तित्यमिह य) तीर्थमिह च नवमो धिकारस्तीर्थमिह बोधप्राभृते-ऽवेतव्यः । (अरहंतं) अहंत्स्वरूप-निरूपकोऽधिकारो दशमः प्रत्येतव्यः । (पावज्ज गुणविमुद्धा) प्रज्ञज्या एकादशोऽधिकारो बोधप्राभृतस्य स्मतंव्यः । कथंभूता प्रज्ञज्या ? गुणविशुद्धा गुणैरुज्ज्वला । (इय णायव्या जहाकमसो) एते एकादशा-धिकारा बोधप्राभृतस्य चिन्तनोयाः ।

गायाहयेन द्वारं बोघप्राभृतस्य कृतम् । इदानीं तद्विवरणं कुर्वन्ति श्रीमन्तो गृद्धपिच्छाचार्यास्तत्रायतनं निरूपयन्ति----

मणवयणकायदव्वा ^उआसत्ता जस्स इंदिया विसया । आयदणं जिणमग्गे णिद्दिट्टं संजयं रूवं ॥५॥ मनोवचनकायद्रव्याणि आसक्ता यस्य ऐन्द्रिया विषयाः । आयतनं जिनमार्गं निर्दिष्टं सांयतं रूपम् ॥५॥

(भणवयणकायदव्या) मनोवचनकायद्रव्याणि हृदयमघ्येऽघ्टदलकमलाकारं ³मानसद्रव्यं यस्य मनो भवति । अरःप्रभूत्यष्ट^४स्थानाश्रितं यस्य वचनं वचन-शक्तिकं वाग्द्रव्यं भवति । अष्टावज्जानि अनेकोपाज्जानि यस्य मुनेः कायद्रव्यं

देवके ढ़ारा अच्छी तरह प्रतिपादित देव, नौवां तीर्थं, दशवां अर्हत्स्वरूप का निरूपण करने वाला अरहंत, और ग्यारहवां गुणोंसे उज्ज्वल प्रक्रज्या इस प्रकार इस बोध प्राभुत में ग्यारह अधिकार जानना चाहिये ॥३-४॥

गाथार्थ- मन वचन काय रूप द्रव्य तथा इन्द्रियोंके विषय जिससे सम्बन्ध को प्राप्त हैं अथवा जिसके अधीन हैं, ऐसे संयभी मुनि का शरीर जिनागम में आयतन कहा गया है ॥५॥

- १. सुदुह म० क० ।
- २. पं० जयचन्दजो ने अपनी भाषा वचनिका में 'आयत्ता' पाठ स्वीकृत किया है। ग०।
- ३. कमलाकारं मानस-द्रव्यं म०, कमलाकारं मांसद्रथ्यं स०।
- ४. अकुहविसजंनीयानां कण्ठः, इचुयद्यानां तालुः, उपूपाघ्मानीयानामोष्ठौ, ऋटुरद्याणां मूर्घा, लुतुल्सानां दन्ताः, जिह्वामूलीयस्य जिह्वामूलम्, अनुस्वा-रस्य नासिका, एदैतौः कण्ठ्यालु, ओदौतोः कण्ठौष्ठम्, वकारस्य दन्तौष्ठौ (क० टि०)

भवति । (आसत्ता जस्स इंदिमा विसया) आसक्ताः सम्बन्धमायाता यस्य मुने ऐन्द्रिया विषयाः, इन्द्रियेषु स्पर्शनरसनद्वाणचक्षुः श्रीत्रलक्षणेषु ह्रवीकेषु भवा ऐन्द्रिया. ते च ते विषयाः स्पर्शरसगन्वरूपशब्दलक्षणा यथासंभवं शक्तिरूपा व्यक्तिन् रूपाक्ष्च भवन्ति । (आयदणं जिणमग्गे) आयतनं जिनमार्गे । (णिहि्टुं संजयं रूवं) निर्दिष्टमागमे प्रदिपादितं सांयतं रूपं संयमिनः सच्तेतनं करीरम ॥५॥

मय राय दोस मोहो कोहो लोहो य जस्स आयत्ता । पंच महव्यधारी आयदणं महरिसो भणियं ॥६॥ मदो रागो देषो मोहः क्रोधो लोभश्च यस्यायत्ताः । पञ्चमहाव्रतघरा आयतनं महर्षयो भणिताः ॥६॥ (मय राय दोस मोहो) मदोऽष्टविषः । उक्तं समन्तभद्रेण महाकतिना— ज्ञानं पूजां कुलं जाति बल्जमृद्धि तपो वपुः । अष्टावाश्रित्य मानित्वं स्मयमाहुर्गतस्मयाः ॥१॥

विशेषार्थ---हृदय के मध्य में आठ पांसुरी के कमल के आकार वस्तु-स्वरूपके विचार में सहायक जो मानस द्रव्य है वह मन कहलाता है। हृदय आदि आठ स्थानोंके आश्रित जो वचन हैं अथवा वचन-शक्ति से युक्त जा पुद्गल है वे वचन द्रव्य कहलाते हैं आठ अङ्ग और अनेक उपाड़्नों से युक्त मुनिका जो शरीर है वह काय द्रव्य है। स्पर्शन, रसना, झाण, चक्षु और कर्ण ये पांच इन्द्रियां हैं इनके स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द ये पांच विषय हैं। ये विषय यथासंभव शक्ति-रूप तथा व्यक्तिरूप होते हैं। इस प्रकार मन ववन काय रूप द्रव्य तथा स्पर्श आदि इन्द्रिय-सम्बन्धी जिनके अपने आपके सम्बन्ध को प्राप्त हैं अर्थात् पर-पदार्थ से हट कर आत्मा से सम्बन्ध रखते हैं अथवा 'आयत्ता' पाठ को अपेक्षा ये सब जिनके स्वाधीन हैं, ऐसे संयत अर्थात् संयमी मुनिका सचेतन शरीर जिनागम में आयतन कहा गया है।।५।।

गाथार्थ---मद रागद्वेष मोह क्रोध और लोभ जिसके अधीन हैं तथा जो पञ्च महाव्रतोंको धारण करने वाले हैं, ऐसे महर्षि आयतन कहे गये हैं ॥६॥

विश्लेषार्थ-मद आठ प्रकारका होता है जैसा कि श्री समन्तमद्र महाकविने कहा है-

 रागः प्रोतिलक्षणः । दोषोऽप्रीतिस्वभावः । मोहः कलत्रपुत्रमित्रादि-स्नेहः । (कोहो छोहो य जस्स आयत्ता) क्रोघो रोषस्वभावः लोभो मूच्छा परिग्रहग्रहण-स्वभावः, चकारात्परवञ्चनप्रकृतिर्माया । एते पदार्था यस्य महर्षेस्त्रिविधमुनि समूहस्यायत्ता निग्रहपरिग्रहनाथवन्तो भवन्ति । (पंच महव्वन्नारा) पञ्चमहाव्रत-धरा अहिंसा सत्याचौर्यंब्रह्मवर्याकिञ्चन्यानि रात्रिभोजनवर्जनषष्ठानि प्रतिपाल-यत्तः । (आयदणं महरिसी भणियं) आयतनं महर्षयो भणिताः । एतेऽभिगमन-योग्या भवन्ति दर्शनस्पर्शन-वन्दनार्हारच भवन्ति । अन्ये विलिङ्गिनो जटिनः पाशुपताः, एकदण्डत्रिदण्डचरा मिथ्यादृष्टिमुञ्डिनः शिखिनः पञ्चचूलाः भस्मो-दूलना नग्नाण्डका चरकनामानो दिगम्बरसंज्ञकाः हंसपरमहंसामिषानाः पशुया-त्रिकाः दीक्षिता अष्टवर्यवः उद्गातारो होतार आधर्वणाः व्यासाः स्मार्ता जैना-भासास्त्र नाभिगम्या न दर्शनीया नाभिवादनीयाक्ष्व भवन्ति । अथ के ते जैना-भासाः ? पूर्वमप्युक्ताः

प्रीतिको कहते हैं। द्वेष अग्रीति स्वभावको कहते हैं। स्त्री पुत्र तथा मित्र आदि के स्नेह को मोह कहते हैं। रोष रूप स्वभावको कोष कहते हैं, मूर्छा रूप परिणाम अर्थात् परिग्रह को ग्रहण करनेका जो स्वभाव है उसे लोभ कहते हैं। चकार से माया का ग्रहण होता है, दूसरे को ठगनेका जो स्वभाव है, उसे माया कहते हैं। ये सब मद आदि विकार जिस महर्षि के-आचार्य, उपाध्याय और साघु इन तीन भेद रूप मुनिके अधीन हैं---स्वीकार अथवा अस्वोकार करनेके योग्य हैं। जो अहिंसा, सत्य, अचौर्य ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पाँच महाव्रतोंको अथवा रात्रिभोजन त्याग के साथ छह महाव्रतों को धारण करने वाले हैं, ऐसे महर्षि आयतन कहे मये हैं। ये महर्षि ही संमुख-गमन करने के योग्य हैं, तथा दर्शन, स्पर्शन, और बन्दना के योग्य हैं।

इनके सिवाय अन्य लिङ्गों को धारण करने वाले जटाघारी, पाशुपत, एकदण्ड अथवा तीन दण्डको घारण करनेवाले, मिथ्यादृष्टि होकर शिर मुहानेवाले, एक शिखा रखने वाले, पांच चोटियाँ रखने वाले, शरीर में भस्म रमाने वाले, अण्डकोषोंको खुला रखने वाले, चरक नामधारी, दियम्बर नामधारी, हंस, परमहंस नामके धारक, पशुयज्ञ करनेवाले, दोक्तित, बघ्वयुं, उद्गाता, होता, अथवंवेदके ज्ञाता, व्यास, स्मार्त तथा बेनाभास आदि साधु न सामने जानेके योग्य हैं, न दर्शन करनेके योग्य है और न अभिवादन नमस्कार करने योग्य हैं—

ŧ.

{¥€

मोपुच्छिकः श्वेतं वासो द्राविडो यापनीयकः ।

निष्पिच्छश्चेति पञ्चैते जैनाभासाः प्रकीर्तिताः ॥१॥

एते।मयूरपिण्छवरा अपि न वन्दनीयाः संशवमिथ्यादृष्टित्वात् । तथा च बौद्धमते आयतनलक्षणम्----

पञ्चेन्द्रियाणि शब्दाद्याः विषयाः पञ्च मानसम् ।

धर्मायत्तनमेतापि ढादशायतनानि च ॥१॥ धर्मायतनं शरीरम् ।

सिद्धं जस्स सदत्थं विसुद्धझाणस्स णाणजुत्तस्स । सिद्धायदणं सिद्धं मुणिवरवसहस्स मुणिदत्थं ॥७॥

सिद्धं यस्य सदर्थं विशुद्धध्यानस्य ज्ञानयुक्तस्य ।

सिद्धायतनं सिद्धं मुनिवरवृषभस्य ज्ञानार्थम् ॥७॥ (सिद्धं जस्स सदत्यं) सिद्धं लब्धिमायातं यस्य मुनिवरवृषभस्य । किं सिद्धम् ? सदत्यं—निजात्म—स्वरूपम् । कयंभूतस्य ? (विसुद्धधाणस्स णाण-

प्रदन--जैनाभास कौन है ?

यद्यपि ये मयूर-पिच्छ के धारक हैं तो भी संशय मिथ्यादृष्टि होनेके कारण नमस्कार करनेके योग्य नहीं हैं। क्योंकि संशय मिथ्यादृष्टि होनेके कारण मिथ्यादृष्टि हो माने जाते हैं। बौद्धमत में आयतन का रूक्षण इस प्रकार है—

पञ्चेन्द्रियाणि—स्पर्शन आदि पाँच इन्द्रियां, शब्द आदि पाँच विषय, मन तथा धर्मायतन-शरीर ये बारह आयतन कहे जाते हैं ॥६॥

कायवण-इत्यायतनस्वरूपं समाप्तम् ॥७॥

गाथार्थ---विशुद्धध्यान से सहित एवं केवलज्ञानसे युक्त जिस श्रेष्ठ मुनिके निजात्मस्वरूप सिद्ध हुआ है, अथवा जिन्होंने छहद्रव्य, साततत्व, नवपदार्थ अच्छी तरह जान लिये हैं उन्हें सिद्धायतन कहा है।

विशेषार्य----विशुद्धध्यान से सहित अर्थात् आर्त्त और रौद्र इन दो घ्यानोसे रहित और धर्म्य तथा शुक्ल इन दो ध्यानों से सहित, एवं ज्ञानसे

१. स्वेतवासो म० ।

बोधप्राभृतम्

कृत्तस्स) विशुद्धघ्यानस्य आतंरौद्रघ्यानद्वयरहितस्य धर्म्यशुक्छघ्यानद्वयसहितस्य गणघरकेवलिनो भूढं-केवलिनस्तीर्यंकरपरमदेवकेवलिनो वा । कयंभूतस्यैतत्त्रयस्य ? ज्ञान युक्तस्य संकलविमलकेवलज्ञानयुक्तस्य । (सिद्धायदणं सिद्धं) सिद्धायतनं सिद्धं सिद्धायतनं प्रतिपादितम् । कस्य ? (मुणिवरवसहस्य) मुनिवरवृषभस्य मुनिवराणां मच्ये वृषभस्य श्रेष्ठस्य । कथंभूतमायतनम् ? (मुणिदत्यां) मुनिवरवृषभस्य मुनिवराणां मच्ये वृषभस्य श्रेष्ठस्य । कथंभूतमायतनम् ? (मुणिदत्यां) मुनिवरवृषभस्य गवावदिज्ञाता अर्थाः धड्दव्याणि पञ्चास्तिकायाः सप्ततत्वानि नव पदार्थाः । जोवपुद्ग ज्वमाधर्मकालाकाशा इति षड्दव्याणि । कालरहितानि षड्दव्याणि पञ्चास्तिकाया भवन्ति । जीदाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्वानि । सन्त तान्येव पुण्यपापद्वयसहितानि नव पदार्थां वेदितव्याः ।

युक्त अर्थात् समस्त पदार्थोंको विषय करनेवाले निर्मल केवलज्ञानसे युक्त गणधर केवली, सामान्य केवली अथवा तीर्थं कर परम देव केवलीस्वरूप जिम ओष्ठ मुनिवर को सदर्थं----निजात्मस्वरूप सिद्ध हुआ है----उपलब्ध हुआ है, उसोके सिद्धायतन कहा गया है। ओष्ठ मुनिका यह सिद्धायतन रूप ज्ञातार्थं है अर्थात् छह द्रव्य, पञ्चास्तिकाय, सात तत्व और नव पदार्थोंको जाननेवाला है। जोव पुद्गल धर्म अधर्म आकाश और काल ये छह द्रव्य हैं। इन्हीं में से काल को छोड़कर शेष पाँच द्रव्य पञ्चास्तिकाय है। जोव अजीव आसव बन्ध संवर निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्व हैं। पुण्य और पाप इन दो को मिला देने पर सात तत्व ही नव पदार्थ कह-लाते हैं। इक्प्रकार आयतन अधिकार समाप्त हुआ ॥७॥

[यहाँ तोन गाथाओं में आयतन का स्वरूप कहा है। पहली गाथामें मन, वचन, काय इन तोन योगों तथा पञ्च इन्द्रियों और उनके विषयों-को स्वाधोन रखनेवाले सामान्यमुनियों के रूप को आयतन कहा है। दूसरी गाथा में कोषादि विकारों पर पूर्ण विजय प्राप्त करने वाले, पञ्च महाव्रतों के धारक मर्हीषयों-ऋदिधारक मुनियों को आयतन कहा है और तोसरी गाया में निर्मलघ्यान से सहित केवलज्ञान से युक्त गणधर केवलो, सामान्य केवलो अथवा तीथँकर केवली को सिद्धायतन कहा है। आयतन स्थानको कहते हैं। जो सद्गुणोंका स्थान है वही जिनागम में आयतन नामसे प्रसिद्ध है। परम वेराग्य से युक्त सदगुरुओंके सिवाय

१. मुण्ड-म०, मूढ क०, गणघरकेवल्रज्ञानयुक्तस्य ख० अस्यां प्रतौ गणघर-----इत्यप्र` (केवलिनो मूढ--केवलिन स्तीर्थंकरपरमदेवकेवलिनो वा, कथंभूतस्यै-तत्त्रयस्य ज्ञानमुक्तस्य सकलचिमल) इति पाठो नास्ति । अयेदानी चैत्यस्वरूपं निरूपयन्ति श्री कुन्दकुन्दाचार्याः— बुद्धं जं बोहंतो अप्याणं चेइयाइं अण्णं च । पंचमहव्वयसुद्धं णाणमयं जाण चेबिहरं ।। ८ ।। बुद्धं यत् बोधयन् आत्मानं चैत्यानि अन्यच्च । पञ्चमहाव्रतशुद्धं जानमयं जानीहि चैत्यगृहम् ।। ८ ॥

(बुद्धं जं बोहंतो) बुद्धं कर्ममलकलंकरहितं केवलज्ञानमयं, जंन्यत्, बोहंतो बोघयन् । (अप्पाणं चेइयाई अण्णं च) आत्मानं शुद्धबुद्धं कस्वभावं निजजीव-स्वरूपं बोघयन्तयं आत्मा चैत्यगृहं भवति । हे जीव ! तं चैत्यगृहं जानोहि । न केवलं आत्मानं बोघयन्तं आत्मानं चैत्यगृहं जानोहि किन्तु चेइयाई-चैत्यानि कर्मयं तापन्नानि भव्यजीववृन्दानि बोघयन्तमात्मानं चैत्यगृहं निश्चयचैत्यालयं हे जीव ! त्वं जानीहि निश्चयां कुरु न केवल्रमात्मानं चैत्यगृहं जानोहि किन्तु अण्णं च-व्यवहारनयेन निश्चयचैत्यालयप्राप्तिकारणभूतेनान्यच्च दुर्थादिष्टिका—ैकाष्ठादि-रचितं धीमद्भगव³दहंत्सर्वंज्ञ-चीतरागप्रतिमाधिष्ठ्य्तं चैत्यगृहं हे आत्मृत् !

नाना वेषों को धारण करने वाले पाखण्डी साधु 'आर्यतन नहीं है, वे नमस्कारके योग्य नहीं हैं।]

अब आगे श्रीकुन्दकुन्दस्वामी चैत्य-स्वरूपका निरूपण करते हें---

गाथार्थ-जो ज्ञानयुक्त आत्माको जानता हो, दूसरे भव्य जीवोंको उसका बोध कराता हो, पाँच महावरोंसे शुद्ध हो तथा स्वयं ज्ञानमय हो ऐसे मुनिको चैत्यगृह जानो । ८।

- १. दुषदिष्टका म० ।
- २. श्रीमद्भगवत्सर्वज्ञ मह ।

हे जोव ! त्वं जानीहि । कथंभूतं चैत्यगृहं ? (पंचमहब्यमुद्धं) पञ्च्वभिमंहाव्रतैः इत्वाः शुद्धं समूलकाषं कषित्तकमंमलकलज्द्रुसमूहं । अपरं कथंभूतं चैत्यगृहं ? (णाणमयं) केवलज्जान-केवलदर्शनाम्पां निर्वृत्तं निष्पन्नमित्यर्थः । व्यवहारचैत्यगृहं तु स्थापनान्यासेन पञ्च्यमहाव्रतशुद्धं स्थापनान्यासबलेन केवलदर्शनमयमित्यर्थः स व्यवहारनयो मुख्यो निश्चयनयस्त गौण इति ज्ञातव्यम् । ये तु लौद्ध्यायतिकादिम-तानुसारिणो दुरात्मानः क्वेतपटाभासा निश्चयचैत्यमस्पृशन्तोऽपि व्यवहारचैत्यगृहं न मानयन्ति 'ते उभयतोऽपि भ्रष्टाः सर्वत्र भोजनभिक्षाग्राहका जिनधर्मविराधकाः पूर्धाचार्योपदिष्टजिनपूजादिकममानयन्तो न जाने कां निन्दितां गर्ति गमिष्यन्ति ॥८॥

पौंच महावतोंके ढ़ारा कर्ममले रूपी कलच्छूके समूहको समूल नष्ट कर शुद्ध हुआ है तथा ज्ञानमय है केवलज्ञान और केवलदर्शनसे तन्मय है। व्यवहार नयके आलम्बनसे जब जिन मन्दिरको चेत्यगृह कहते हैं तब 'पञ्च महाव्रतशुद्ध' और 'ज्ञानमय' इन दोनों विशेषणोंको संगति स्थापना निक्षेपके बलसे बैठानी चाहिये। इस पक्षमें व्यवहार नय मुख्य है और निश्चय नय गौण है। लौंकागच्छके मतका अनुसरण करनेवाले जो दुष्ट इवेताम्बराभास निश्चय चैत्यका स्पर्श न करते हुए भो व्यवहार चेत्यगृह-बिनमन्दिरको नहीं मानते हैं वे 'दोनों ओरसे घ्रष्ट हैं, सब जातियोंके घर भोजनके लिए भिक्षा ग्रहण करते हैं, जिनघर्मकी विराधना करते हैं। पूर्वाचार्योंके ढ्वारा उपदिष्ट जिन-पूजा आदिको न माननेवाले ये लोग न जाने किस दुर्गति को प्राप्त होंगे ? ॥ ८ ॥

 निक्ष्यमबुध्यमानो यो निरुचयतस्तमेव संश्रयते । नाशयति करणचरणं स बहिःकरणालसो बालः ॥

-पुरुषार्थ० ।

षिष्ठ्यमालम्बता णिच्छयदो णिच्छयं अयाणंता । णासंति चरणकरणं बाहरिचरणलसा होई ॥

--पञ्चास्तिकाये उद्घुता प्रा० गा० ।

२. येऽपि केवलनिश्चयनयावलम्बिनः सन्तोऽपि रागागिदिकल्परहितं परमसमाधि-रूपं शुद्धात्मानमल्लभमाना अपि तपोषना चरणयोग्यं घडावश्यकाद्यनुष्ठानं श्रावकाचरणयोग्यं दानपूजाद्यनुष्ठानं च दूषयन्ते तेऽप्युभयभ्रष्टाः सन्तो निश्चयय्यवहारानुष्ठानयोग्यावस्थान्तरमजानन्तः पापमेव बद्धनन्ति । पठण्डा-स्तिकाये तात्पर्यंवृत्तिः ।--गाद्या १७२ ।

चेइय बंध मोक्स दुक्स सुक्स च अप्पय तस्स । चेइहरं जिणमग्गे छक्काय हियंकरं भणियं॥ ९ ॥

चैत्यं वन्धं मोक्षं दुःखं सुखं च अर्पयतः । चैत्यगृहं जिनमार्गे षट्कायहितंकरं भणितम् ॥ ९ ॥

(चेइय बंध मोक्स) चैत्य चैत्यगृहं बन्ध अष्टकर्मबन्ध करोति । पापकर्म-पार्जन कारयति । पुनश्च कि करोति ? मोक्ष सर्वकर्मक्षयलक्षण मोक्ष च करोति । (टुक्स सुक्स च अप्पयंतस्स) चैत्यं चैत्यगृहं टुःस धारीरमानसामन्तुलज्जण टुःसमसातं बन्धफलं करोति । सुक्स च - सुस च मोक्षफलं परमानन्दलवाणं करोति कस्यैतद्वयं करोति ? अप्पयंतस्स - अपंयतः पुरुषस्य । यः चैत्यगृहस्य दुष्टं करोति तस्य पापधन्य उत्पद्यतेयच्त्त्यगृहस्य सुष्ठु करोति शोभनं विदधाति तस्य पुष्प-मुत्पद्यते तदाधारेण मोक्षो भवति, तत्फले यथासंख्यं दुःसं सुस च भवतीति भावनीयम् । (चेइहरं जिणमग्गे) चैत्यगृहं जिनमार्गे श्रीमद्भगवदहंत्सवंज्ञ-वीत

गायार्थ--जो चैत्यगृहके प्रति दुष्ट प्रवृत्ति करता है उसे वह बन्द तथा उसके फल स्वरूप दुःख उत्पन्न करता है और जो चैत्यगृहके प्रति उत्तम प्रवृत्ति करता है उसे वह मोक्ष तथा उसके फ़लस्वरूप सुख प्रदान करता है। जिन मार्गमें चैत्यगृहको षट्कायिक जीवोंका हितकारी कहा गया है॥ ९॥

विशेषार्थं— अब व्यवहार नयसे चैत्यगृहका अर्थ कहते हैं चैत्यका अर्थ उपलक्षणसे चैत्यगृह है। यह चैत्यगृह बन्ध अर्थात् अब्टकमोंके बन्ध-को करनेवाला है। मोक्ष अर्थात् अष्ट कमोंके क्षयको करनेवाला है तथा उसके फलस्वरूप दुःख अर्थात् शारीरिक मानसिक और आगन्तुक इन तीन प्रकारके दुःखोंको करता है एवं सुख अर्थात् मोक्षके फलस्वरूप परमानन्दको उत्पन्न करता है। भाव यह है कि जो मनुष्य चैत्यगृहके प्रति दुष्टभाव करता है उसको पाप-बन्ध होता है और जो चैत्यगृहके प्रति उत्तम भाव रखता है उसके पुण्य उत्पन्न होता है तथा उसीके आघार पर बह मोक्षको प्राप्त होता है। बन्धके फलस्वरूप दुःख और मोक्षके फलस्वरूप सुखको प्राप्त होता है, ऐसी भावना करनी चाहिये। जिनमार्ग-भगवान् अरहन्त सर्वज्ञ वीतराग देवके मार्गमें चैत्यगृह-जिनमन्दिर है ही, अत्यन्त पापी कौन किस्यादृष्टि उसका लोप करता है ? जो प्रतिमा रागशासने वर्तते एव, को मिष्यादृष्टिः पापीयांस्तत्लोपयति ? यश्चैत्य चैरयगृहं च न मानयति स महापातकी भवति । अतएव चोक्तं गौतमेन भगवता----

> यावन्ति जिनचैत्यानि विद्यन्ते भुवनत्रये । तावन्ति सततं भक्त्या त्रिःपरोत्य नमाम्यहम् ॥

(छक्काय हियकरं भणियं) चैत्यगृहं षट्कायानां हितक्कुरं स्वर्गमोक्षकारकं भणितं जिनागमे प्रतिपादितम् । चैत्यगृहार्यं या मृत्तिका खन्यते सा काययोगेनो-पकारं चैत्यगृहस्य क्वत्वा शुभमुपार्जयति तेन तु पारम्पर्येण स्वर्गमोक्षं लभते । यज्जलं चैत्यगृहस्य कार्यमायाति तद्वत्तदपि शुभभाग् भवति । यत्तेजोऽग्निः चैत्य-गृहनिमित्तं प्रज्वाल्यते तदपि तद्वच्छुभं लभते । यो वायुर्श्वत्यगृह-निमित्तं वह्निसंघु-क्षणाद्यर्थं विराघ्यते घूपाःक्वारहविःपाकार्थं चोत्स्रेपनिक्षेपणं प्राप्यते सोऽपि तद्वच्छुमं प्राप्नोति । यो वनस्पतिः पुष्पादिक्वचैत्यगृहपूजादार्थं लूयते सोऽपि काययोगेन पुष्पमुपार्जयति तत्स्यापि शुभं भवति । उक्तञ्च---

. फुल्ल पुकारइ वागियहि कहियो जिणहं चडेसि ।

धम्मी को वि न आवियउ कॅपिय घरणि पहेसि ।। १ ॥

और जिनमन्दिर को नहीं मानता है वह महार्च्पापी है। इसलिये भगवान गौतम ने कहा है---

यावन्ति---तीनों लोकों में जितने चैत्यालय हैं में सदा भक्ति--पूर्वक तीन प्रदक्षिणा देकर उन्हें नमस्कार करता हूँ।

खेरधगृह -- जिनमन्दिर को जिनागम में घट्कायिक जीवों का हित-कारक-स्वर्ग और मोक्षको प्राप्त कराने वाला कहा है। चेरपगृह के निर्माण के लिये जो मिट्टी खोदी जाती है वह काययोग के द्वारा चेरपगृह का उपकार करके पुण्य कर्मका उपार्जन करती है और उस पुण्यकर्म के द्वारा परम्परासे स्वर्ग तथा मोक्षको प्राप्त होती है। जो जरू चेरपगृह के काम आता है वह भी मिट्टीकी तरह पुण्यको प्राप्त होता है। जो अर्लन चैरपगृहके निमित्त जलाई जाती है वह मी उसी तरह पुण्यको प्राप्त होती है। जो वायु चैरपगृह के निसित्त अग्नि को प्रदीप्त करने के लिये विराधित होती है अथवा धूपके अङ्गार और नवेद्य के पाकके लिये उत्क्षेप-निक्षेपको प्राप्त होती है उर्जी-नीची को जाती है वह भी उसी तरह पुण्य को प्राप्त होती है उर्जी-नीची को जाती है वह मी उसी तरह पुण्य को प्राप्त होती है । जो पुष्प आदि वनस्पति चेरपगृह की पूजाके लिये छेदी जाती है वह भी काय-योगके द्वारा पुण्य उपार्जन करती है, अतः उसका भी भला होता है। कहा मी गया है—

पुरुछ-नागवान् पूल्ले कहता है कि पूल ! तुम जिनेन्द्र भगवान्

अन्यञ्च—

केणय वाडी वाईया केण्य वीणिय फुल्ल । केणव जिणह चडाविया ए तिण्णि व समतुल्ल ॥ २ ॥ तैया त्रसानामपि यथासंभवं पुण्योपार्जनममुया दिशा झातव्यम् । चेइयहरं---चैत्यगृहाधिकारः समाप्त इत्यर्यः ॥ ३ ॥

को कैसे चढाये जाओगे क्योंकि कोई धर्मात्मा जीव नहीं आ रहा है, तुम यू ही कंपित होकर पृथिवी पर गिर जाओगे ।

और भी कहा है---

केणय—किसी ने वाटिका लगवाई, किसी ने फूल चुने और किसी ने जिनेन्द्र भगवान् को चढाये। ये तीनों ही पुरुष एक समान हैं—एक समान ही पुष्पको प्राप्त होते हैं।

इसी पद्धतिसे त्रसजीवोंके भी यथासम्भव पुण्यका उपार्जन होता है ऐसा जानना चाहिये।

इस प्रकार चेत्यगृह नामका दूसरा अधिकार समाप्त हुआ ।^२

धट् प्राभृत की एक संस्कृत टोका अन्य आचार्य कृत है, जो अत्यन्त संक्षिप्त है आदि अन्तके पत्र न होने से कर्ताका नाम. विदित नहीं हो

१. म॰ प्रती अयं पाठो नास्ति ।

२. इस गाथाके पूवार्ष में आये हुए 'अप्पयंतस्स' पाठ की छाया पं० जयचन्द्र जी ने 'आत्मक तस्य' ऐसा स्वीकृत कर गाथा का अर्थ निम्न प्रकार किया है— 'जाके बंध अर मोक्ष बहुरि सुख और दुःख ये आत्मा के होंय, जाके स्वरूप में होंय सो चैत्य काहिये जात चैतना स्वरूप होय ताही के बंघ मोक्ष सुख दुःख संभव ऐसा जो चैत्य का गृह होय सो चैत्यगृह है। जो जिनमार्ग बिषै ऐसा चैत्यगृह छह कायका हित करने वाला होय, सो ऐसा मुनि है, सो पाँच थावर अर त्रस में विकलत्रय अर असैनी पंचेन्द्रिय ताई केवल रक्षा ही करने योग्य हैं तातें तिनकी रक्षा करने का उगदेश करे है, तथा आप तिनिका घात न करे है तिनिका यहा हित है, बहुरि सैनी पञ्चेन्द्रिय जीव हे तिनिकी रक्षा भो करे हैं, तथा तिनकू संसार तें निवृत्ति रूप मोक्ष होनेका उपदेश करे हैं, ऐसे मुनिराज को चैत्यगृह कहिये ।

आगे जिन-प्रतिमा का वर्णन करते हें----

सपरा जंगमदेहा दंसणणाणेण सुद्धचरणाणे । णिग्गंथ वीयराया जिणमग्गे एरिसा पडिमा ॥ १० ॥

स्वपराऽजङ्गमदेहा दर्शनज्ञानेन शुद्धचरणानाम् । निर्ग्रन्थवीतरागा जिनमार्गे ईदृशी प्रतिमा ॥ १०॥

(सपरा जंगमदेहा) स्वकीया अहंच्छासनसम्बन्धिनी। परा परकीयधासन-सम्बन्धिनी प्रतिमा भवति। स्वकीयशासनस्य या प्रतिमा सा उपादेया ज्ञातव्या। या परकीया प्रतिमा सा हेया, न वन्दनीया। अथवा सपरा-स्वकीयशासनेऽपि या

सका है। श्री अतिशय क्षेत्र चांदखेडी को प्रति है, संपादन की प्रतियों में 'ग' नामसे उपयुक्त है। उसमें इस गाथा को टीका इस प्रकार दी हुई है----

'चैत्यं बधं मोक्षं दुःखं च पुनः सौख्यं अल्पकं तस्य जिनमार्गे चैत्यगृहं षट्कायहितकरं भणितं कथितं'

इसका अर्थ ऐसा जान पड़ता है कि जिस मुनि के बन्ध, बन्धन, मोक्ष-छूटना अल्प है अत्यन्त तुच्छ है, हर्ष विषादके कारण नहीं हैं, उस समभावी मुनि को आत्मा चैत्यगृह है यह चैत्यगृह जिनगगम में छह काय के जीवों-का हितकारी कहा गया है।

मेरी बुद्धिमें 'अप्पयं तस्स' को छाया 'अप्रयातः' आतो है और उसके आधार पर गाथा का अर्थ ऐसा जान पड़ता है---

ंबन्धन और मोक्षके प्रति विधाद और हर्ष को प्राप्त न होने वाले मुनि की आत्मा चैत्यगृह है । चैत्यगृह जिनागम में छह कायके जीवोंका हितकारक कहा गया है ।

गाचार्थ---सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके द्वारा शुद्ध-निर्दोष चारित्रको घारण करनेवाले तीर्थंकरको प्रतिमा स्वशासन और पर-शासनकी अपेक्षा दो प्रकारको है, अजज्जम रूप है---गतिरहित है, निर्ग्रन्थ तथा वोतराग है। जिनमार्गमें ऐसी प्रतिमा मानो गई है।। १०।।

विज्ञेचार्य---व्यवहार नयसे जिन प्रतिमाका निरूपण करते हैं-सम्य-ग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के द्वारा शुद्ध चारित्र को घारण करने वाले तीर्थ-

१. सुद्रवरणेण ग०।

षट्प्रामृते

प्रतिमा परा उत्कृष्टा भवति सा वन्दनीया, न तु अनुत्कृष्टा । का उत्कृष्टा का वाऽनुत्कृष्टा इति चेदुच्यन्ते⁹—या पञ्च्यजैनाभासैरञ्चलिकारहितापि नग्नमूर्तिरयि प्रतिष्ठिता भवति सा न वन्दनीया, न चार्चनीया च । या तु जैनामासरहितैः साक्षादार्हतसंघैः प्रतिष्ठिता चक्षुःस्तनादिषु विकार-रहिता नन्दिसंघ-सेनसंघ-देव-संघ-सिंहसंघे समुपन्यस्ता सा वन्दनीया । तथा चोक्तं इन्द्रनन्दिना भट्टारकेण—

> ^२चतुःसंघसंहिताया जैनं-विम्बं प्रतिष्ठितम् । नमेन्नापरसंघीयं^३ यतो न्यासविपर्ययः ॥ १ ॥

कर परमदेव की प्रतिमा 'स्वपरा' स्व और परके भेदसे दो प्रकार की है। उनमें अहेन्त भगवानु के शासनसे सम्बन्ध रखने वाली प्रतिमा स्व प्रतिमा है और खेताम्बर आदि पर शासन से सम्बन्ध रखने वाली प्रतिमा परं-. प्रतिमा है। जो प्रतिमा स्व शासन की है वह उपादेय है—भक्ति वन्दना आदि करने के योग्य है और जो पर-शासन से सम्बन्ध रखने वाली है वह हेय है—छोड़ने योग्य है, वन्दना करनेके योग्य नहीं है । अपवा स्वपरा शब्दका यह भी अर्थ हो सकता है कि जो प्रतिमा स्व अहंन्तदेव के शासन में परा उत्कृष्ट है, प्रतिष्ठा सिद्धान्त के अनुसार निर्मित है, वही वन्दना करनेके योग्य है, अनुत्कृष्ट प्रतिमा वन्दना करने योग्य नहीं है। कौन प्रतिमा उत्कृष्ट है और कौन अनुत्कृष्ट ? इसका उत्तर यह है कि पांच प्रकारके जैनाभासों ने जो प्रतिमा प्रतिषठत की है वह अञ्चलिका-लंगोटी से रहित नग्नरूप होने पर भी न वन्दनीय है और न अर्चनीय । किन्तु इसके विपरीत जैनाभासों से रहित साक्षात आहंतसंघ के लोगोंके द्वारा जो प्रतिष्ठित है, नेत्र और स्तन आदि में विकार से रहित है अर्थात् इन स्थानों में जिसमें कोई विकार नहीं किया गया है, नन्दिसंघ, सेनसंघ, देवसंघ, और सिंहसंघके द्वारा जो प्रतिष्ठापित है वह वन्दनीय है । जैसा कि भटटारक इन्द्रनन्दीने कहा है----

षतुः चार संघ की संहिता से जिस जैनबिम्ब की प्रतिष्ठा हुई है उसे ही नमस्कार करना चाहिये अन्यसंघ की प्रतिमा को नहीं क्योंकि उसके न्यास-स्थापना निक्षेपमें विपरीतता है ॥ १ ॥

- १. दुच्यन्ते म० **च०** ४
- २. चतुःसंघ म० ।
- ३. नापरसंषाया १०।

[°]चतुःसंभ्यां नरो यस्तु विदध्याद्मेदभावनाम् ।

सम्यग्दर्शनातीतः संसारे संसरत्यरम् । २ ॥

स्यासविषयांयस्तु गुरुवचनादेवावगन्तव्यः । तया चोक्तं श्री दीरनन्दिशिष्यैः श्रीपद्मनन्दिभिराचार्येः ।

> विम्बादलोन्नतियवोन्नतिमेव भक्त्या ये कारयन्ति जिनसद्म जिनाक्रति च । पुष्थं तदीयमिह वागपि नैद शक्ता वक्तुं परस्य किमु कारयितुं ^२द्वंयस्य ॥ १ ॥

चतुःसंध्या---जो मनुष्य उक्त चार सवों में भेद भावना करता है वह सम्यग्दर्शन से रहित है तथा कोघ्र ही संसार में परिभ्रमण करता है ॥२॥

न्यास---स्थापना-की विपरीतता गुरुके वचनसे जानना चाहिये। जैसा कि श्रीवीरनन्दिके शिष्य श्री पद्मनन्दि आचार्य ने कहा है---

विम्बादलो — जो मनुष्य भक्तिपूर्वक [अधिक नहीं तो कम से कम] किम्बादल कुन्दरू के पत्रके समान ऊँचे जिन मन्दिर और जो के बरावर ऊँची जैन प्रतिमा को बनवाता है उसके पुष्पका कथन करने के लिये बरस्वती भो समर्थ नहीं हैं फिर जो अधिक ऊँचे जिन मन्दिर और जिन-प्रतिमाको बनवाता है उसके पुष्पका तो कहना ही क्या है।

१. व्यी अद्रबाहुपट्टे गुण्सिगुप्ताचार्यस्तस्य त्रीणि नामानि गुप्सिगुप्ताचार्यः, अर्ह-हत्साचार्यः विश्वासाचार्यः । तस्य चरवारः विष्ट्याः येन सिंहगुहायां वर्षायोगो घृतः स सिंहकीर्तिः तेन सिंहसंधः स्थापितः । नन्दिवृक्षमूले येन वर्षायोगो घृतः स माघनन्दी, तेन नन्दिसंघः स्थापितः । येन सेन नाम तृणतले वर्षा-योगो घृतः स वृषसेनः तेन सेनसंघः स्थापितः । यो देवदत्ता वेश्यागृहे वर्षा-योगे स्थापितवान् स देवचन्द्रः देवसंघं चकार । सिंहसंघे चन्द्र कवाटगच्छे काणूरगणे चरवारि नामानि-सिंहः कुम्भः आसवः सागरः । नन्दिसंघे पारि-जातमच्छे बलारकारगणे चत्वारि नामानि-नन्दि, चन्द्रः, कीर्तिः, भूषणः, तथा नन्दि-संघे सरस्वती-गच्छे सेनसंघे पुस्तकगच्छे सूरस्थगणे चत्वारि नामानि-सनः, राजः, वीरः, भद्रः, देवसंघे पुस्तकगच्छे देशीगणे चत्वारि नामानि-देवः, दत्तः, नागः, तुःक्वः । (क० टि०)

र. कारवितुं म+ ।

षट्प्राभृते

ये तु प्रतिमायां वस्त्राभरणादि कुर्वन्ति प्रतिष्ठावेलायां दधिसक्तुमुखे बज्जन्ति तन्मतनिरासार्यं श्री गौतमेन महामुनिना पृष्वीवृत्तमुक्तम्---

निराभरणभासुरं विगतरागवेगोदया — न्निरायुषमुनिभैयं विगतहिस्य∽हिसाक्रमा-न्निरायुषमुनिभैयं विगतहिस्य∽हिसाक्रमा-न्निरागिषसुनृष्तिमढिविधवेदनानां क्षयात् ॥१॥ इक्कहि फुल्छहि माटिदेइ जु सुर नर रिद्धडो । एही करइ कुसाटिवपु भोलिम जिणवर तणी ध १ ॥ एक्कहि फुल्छहि पुर्ल्लसउ वीए फुल्ल सहासु । जिडजिब जिणवर पुग्जियइ तिम्बतिम्ब दुरियहं नासु ॥ २ ॥ तथा चोक्तं समन्तभद्रस्वामिना मुनिवरेण आर्याद्वयम्— देवाधिदेवचरणे परिचरणं सर्वदुःखनिर्हरणम् । कामदुहि कामदाहिनि परिचिनुयादादृतो नित्थम् ध १ ॥

और जो प्रतिमा के ऊपर वस्त्र तथा आभूषणादि धारण करते हैं तया प्रतिष्ठा के समय दही और सत्तू प्रतिमा के मुख में रखते हैं उनके मतका निराकरण करनेके लिये महामुनि श्री गौतम ने पृथ्वी छन्द कहा है—

निराभरण----रागके वेगका उदय दूर हो जानेसे जिनेन्द्र देवका शरीर आभरणोंके बिना ही दैदोप्यमान रहता है, स्वाभाविक रूपकी निर्दोषता के कारण वस्त्रके बिना हो मनोहर दिखता है, हिंस्य और हिंसाका कम नष्ट हो जानेसे शस्त्रों के बिना ही अत्यन्त निर्भय है और नाना प्रकार को वेदनाओं का क्षय हो जानेसे भोग्य वस्तुओं के बिना ही तृप्तिसे युक्त रहता है। जैसा जिनेन्द्र देवका शरीर होता है वैसी हो उनकी प्रतिमा होती है।

इक्कहि—-जिनेन्द्र भगवान् को एक फूल चढ़ाना देव और मनुष्यों की ऋद्धि को देता है तथा क्षद्र-होनपर्यायों को दूर करता है ॥१॥

एक्कहि—जो भगवान को एक फूल चढ़ाता है उसे समवशरण में अनेक फूल प्राप्त होते हैं अर्थात वह पुष्पवृष्टि नामक प्रातिहाय को प्राप्त होता है। यह जीव ज्यों-ज्यों जिनेन्द्र भगवान की पूजा करता है त्यों-त्यों उसके पाप नष्ट होते जाते हैं ॥२॥

इसी प्रकार मुनिवर समन्तभद्र स्वामी ने दो आर्या कहे हैं---देवाविदेव---मनोर्थों को पूर्ण करने वाले एवं कामको भस्म करने अहंज्वरणसपर्यां महानुभावं महात्मनामवदत् ।

भेकः प्रमोदमत्तः कुसुमेनकेन राजगृहे ।। २ ।।*

अजंगमदेहा ----सुवणंमरकतमणिश्वटिता, स्फटिकमणिघटिता, इन्द्रनीलमणि-निर्मिता, पद्मरागमणिरचिता, विद्रुभ-कल्पिता, चन्दन-काष्ठानुष्ठिता वा अजङ्गमा प्रतिमा कच्यते । ईदृशी प्रतिमा केषां भवति ? (दंसणणाणेण सुद्धचरणाणं) दर्शनेन ज्ञानेन निर्मलचारित्राणां तीर्थंकरपरमदेवानाम् । कयंभून्ता प्रतिमा ? (णिमाथवीयराया) निर्यन्था वस्त्राभरणजटामुकुटायुधरहिता, वीतरागो-रागरहित-भावेऽवतारिता । (जिगममो एरिडा पडिमा) जिनमार्गे सर्वज्ञवोतरागमते ईदृशी प्रतिमा भवति ॥ १० ॥

वाले देवाधिदेव—जिनेन्द्र देवके चरणोंको शुश्रूषा समस्त दुःखोंको हरने बाली है, इसलिये निरन्तर उसे करना चाहिये ॥१॥

बहंज्यरण—राजगृह नगर में हर्ष से मत्त हुए नेंढक ने महात्माओं के आगे एक फूल के ढारा अईन्त भगवान के चरणों की पूजाका माहात्म्य प्रगट किया ।

भगवानको वह प्रतिमा अजङ्गमदेह होती है—चलने फिरने की किया से रहित होती है। सुवर्ण और मरकतमणि से बनी स्फटिक मणिसे रचित, इन्द्रनीलमणि से निर्मित, पद्मरागमणि से रचित, मूँगे से बनी तथा चन्दन को लकड़ी से निर्मित प्रतिमा अजंगम प्रतिमा कहलाती है। ऐसी प्रतिमा किनकी होती है? इस प्रश्नका उत्तर कहते हैं—वह प्रतिमा दर्शन और ज्ञान के द्वारा निर्मल चारित्र को धारण करने वाले तीर्थंकर परमदेव की होती है। यह प्रतिमा निग्रंन्य अर्थात् बस्त्र आभूषण, जटा, मुकुट तथा शस्त्रोंसे रहित होतो है और वीतराग अर्थात् राग रहित भावके उत्पन्न करने में समर्थ रहतो है। सर्वज्ञ वोतरागके मत में ऐसी ही प्रतिमा होती है+।

* रत्नकरण्ड श्रावकाचारे----

* श्रो पं० अयचन्द्र जी ने इस गाथा को वचनिका इस प्रकार लिखी है— दर्शन झान करि शुद्ध निर्मल है चारित्र जिनके तिन की स्वपरा कहिये अपनी बर परकी चालती देह है सो जिनमार्ग विर्ष जगम प्रतिमा है। अथवा स्व परा कहिये आत्मा ते पर कहिये भिन्न है ऐसी देह है, सो कैसी है निग्रंन्य स्वरूप है, जाके किछू परिग्रहका लेश नाही ऐसी दिगम्बरमुदा, वहुरि कैसी है—वीतराग आगे जङ्गम प्रतिमा का वर्णन करते हैं---

जं चरदि सुद्धचरणं जाणइ पिच्छेइ सुद्धसम्मत्तं । सा होइ वदणीया णिग्गंथा संजदा पडिमा ॥११॥

यञ्चरति शुद्धचरणं जानाति पश्यति शुद्धसम्यक्त्वम् । सा भवति वन्दनीया निर्ग्रन्था सांयता प्रतिमा ॥११॥

(जं चरदि सुद्धवरणं) को मुनिक्षरति प्रतिपालयति । किम् ? शुद्धवरणं निरतिचार-चारित्रम् । (जाणइ रिच्छेड सुद्धसम्पत्तं) जिनश्रुतं जानाति स्वयोग्यं वस्तु पक्ष्यति च । शुद्धं पञ्च्यविंशति-दोष----रहितां यस्य सूरेः सम्पक्त्वं भवति । (सा होइ वंदणीया) सा भवति वन्दनीया नमस्करण्णेक्या । (णिग्गंथा संजदा पडिमा) निर्धन्या चतुर्विंशति-परिन्नह-रहिता संयतानां मुनीनां दिक्क्वराणां प्रतिमा आकारः, जंगमा प्रतिमा मुनयो भवन्तीत्यर्थः ।।११॥

गावार्य-जो निरतिचार चारित्र का पालन करते हैं, जिनश्रुत को जानते हैं, अपने योग्य वस्तुको देखते हैं, तथा जिनका सम्यक्त्व शुद्ध है, ऐसे मुनियोंका निग्र न्थ शरीर जंगम प्रतिमा है। वह वन्दना करनेके योग्य है ॥११॥

विशेषार्थ---जो चरणानुयोग के अनुसार शुद्ध निरतिचार चारित्रका पालन करते हैं। जो जिनेन्द्र-प्रणीत शास्त्र-जिनागम को जानते हैं, अपने योग्य वस्तुको देखते हैं और जिनका सम्यक्त्व पच्चीस दोषों' से रहित है, ऐसे संयमी मुनियों के चौबीस प्रकार के परिग्रह से रहित जो शरीर हैं दे जंगम--चलतो फिरतो प्रतिमा है। तथा वन्दना--नमस्कार करने के योग्य है ॥११॥

स्वरूप है, जाकै काहू वस्तु सौं रागढेष मोह नांही, जिनमार्ग विषे ऐसी प्रतिमा कही है। दर्शन ज्ञान कर निर्मल चारित्र जिनकै पाइये ऐसे मुनिनि की गुरु शिष्य अपेक्षा अपनी तथा पर की चालती देह निर्प्रन्थ वीतराग मुद्रा स्वरूप है सो जिन-मार्ग विषें प्रतिमा है, अल्य कल्पित है। अर भातु-पाषाण आदि करि दियम्बर मुद्रा स्वरूप प्रतिमा कहिये सो व्यवहार है सो भी बाह्य प्रकृति ऐसी ही होय सो व्यवहार में मान्य है। १०॥

 शक्तु आदि आठ दोष, आठ मद, छह अनायतन और तीन मूढताएँ ये सम्यादर्शन के २५ दोष हैं। अब सिद्धप्रतिमा का वर्णन करते हैं----

दंसण अणंतणाणं अणंतवीरिय अणंतसुक्साय । सासयसुक्स अदेहा मुक्का कम्मटुबंधेहि ॥१२॥ दर्शनानन्तज्ञानं अनन्तवीर्या अनन्तसुखाश्च । शाश्वतसुखा अदेहा मुक्ताः कर्माष्टवन्धेः ॥१२॥ (दंसण अणंत णाणं) दर्शनमनन्तं केवलदर्शनं सत्ताविलोकनमात्रलक्षणं । काकाक्षिगोलकन्यायेनानन्तज्ञव्द उभयत्राभिसम्बन्धते । तेनानन्तज्ञानं वस्तु यया-कत्त्वरूपग्राहकं केवलज्ञानं लोकालोकव्यापकं द्वयम् । तद्योगाट्द्यांनानन्तज्ञानं वस्तु यया-दर्शनमनन्तज्ञानं च सिद्धा भवन्ति । उक्तं चाधाघरेण महाकविना---

सत्तालोचनमात्रमित्यपि निराकारं मतं दर्शनं-साकारं च विश्वेषंगोचरमिति ज्ञानं प्रवादीच्छ्या । ते नेत्रे कमर्वांतनी सरजसां प्रादेशिके सर्वतः-स्फूर्जन्ती युगपत्पुर्नीवरजसां युध्माकमङ्गातिगाः¹ तथा च नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवॉतना चोक्तम्---दंसणपुब्वं णाणं छदुमत्याणं ण दोण्णि उवबोगा । जुगवं जम्हा केवलिंगाहे जुगवं तु ते दो वि ।।१॥

गाधार्थ---जो अनन्त दशंन तथा अनन्तज्ञान रूप हैं, अनन्तवीर्य और अनन्त सुख से युक्त हैं, अविनाशो सुखसे सहित हैं शरीर-रहित हैं और आठ कर्मोंके बन्धनसे छूट चुके हैं, ऐसे सिद्ध परमेष्ठी सिद्ध प्रतिमा हैं।।१२॥

विशेषार्थ----वस्तुकी सत्तामात्रके अवलोकन को दर्शन कहते हैं। यहां अनन्त दर्शन से केवल दर्शनका ग्रहण होता है। काकाक्षिगोलकन्याय से अनन्त शब्दका दर्शन और ज्ञान दोनोंके साथ सम्बन्ध होता है इसलिये अनन्त दर्शन और अनन्त ज्ञान ये दोनों शब्द सिद्ध होते हैं। यहां अनन्त ज्ञानका अर्थ वस्तुके यथार्थ स्वरूप को ग्रहण करनेवाला केवलज्ञान है। केवलदर्शन और केवलज्ञान ये दोनों ही लोक तथा अलोक में व्यापक हैं। उन दोनों के साथ तादारम्य सम्बन्ध होनेसे सिद्ध परमेष्ठी अनन्तज्ञान और अनन्त दर्शन रूप हैं। जैसा कि महाकवि आशाधर ने कहा है----

सत्ता---जो सत्तोँ मात्रका अवलोकन करता है ऐसा दर्शन निराकार-घटपटादिके विकल्प से रहित माना गया है और जो घटपटादि विशेषको

₿ सिढाः (₹• टि)

षट्प्रामृते

(अणंतवीरिय अणंतसुक्खा य) अनन्तवीर्याक्ष्य सिद्धा भवन्ति लोकालोक-स्वरूपावलोकने ज्ञातृत्वे च या शक्तिस्तदत्त्तवीर्यं ज्ञातव्यम् । अनम्तसौरूयाक्ष्व सिद्धा भवन्ति । सर्वंवस्तु-स्वरूपपरिज्ञाने सति तेषां सुखमुत्पद्यते । तथा चोक्तं नेमिचन्द्रेण त्रिलोकसारग्रन्ये वैमानिकाधिकारपर्यन्ते —

> एयं सत्थं सव्वं सत्यं वा सम्ममेत्य आणंता। तिव्वं तुस्संतिणरा कि ण समत्यत्य तज्वण्हा ॥१॥ चक्किकुरुफणिसुरिदेसहमिदे जं सुहं तिकालभवं। तत्तो अणंतगुणिदं सिद्धाणं खणसुहं होदि॥२॥

विषय करता है ऐसा ज्ञान साकार-सविकल्पक माना गया है। ये ज्ञान और दर्शन नेत्रके समान हैं तथा छद्मस्थज्ञानावरण-दर्शनावरण से युक्त जोवों के क्रमसे प्रवृत्त होते हैं। छद्मस्थ जीवोंके ज्ञान और दर्शन प्रादेशिक हैं अर्थात् सीमित स्थान को बातको जानते हैं परन्तु हे शरीर रहित सिद्ध परमेष्ठी ! यतश्च आप ज्ञानावरणादि रज से रहित हैं अतः आपके ये दोनों लोक-अलोक में सर्वत्र व्याप्त हैं तथा एक साथ प्रकाश-मान हैं ॥ १॥

ऐसा ही श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीने कहा है---

दंसण-छद्यस्थ जीवोंका ज्ञान, दर्शन-पूर्वक होता है उनके दोनों उपयोग एक साथ नहीं होते परन्तु केवली जिनेन्द्र में दोनों एक साथ होते हैं।

अनन्तज्ञान और अनन्तदर्शनके समान सिद्ध परमेष्ठी अनन्त वीर्यं और अनन्त सुख से युक्त भी हैं। लोक और अलोकका स्वरूप देखने तथा जानने की जो शक्ति है उसे अनन्त वीर्यं जानना चाहिये। समस्त वस्तुओं के स्वरूपका परिज्ञान होनेपर सिद्ध परमेष्ठी को सुख उत्पन्न होता है इसलिये वे अनन्त सौख्य से युक्त कहे जाते हैं। जैसा कि श्रो नेमिचन्द्राचार्यं ने त्रिलोकसार ग्रन्थ के वैमानिकाधिकार के अन्तमें कहा है—

एयं सत्थं—जब कि लोक में एक शास्त्र अथवा समस्त शास्त्रों को यथार्थ रीति से जानने वाले मनुष्य अत्यधिक सन्तुष्ट होते हैं—सुखी होते हैं तब समस्त पदार्थोंके स्वरूप को जानने वाले मनुष्यों को तो बात ही क्या है ?

चक्कि---चक्रवर्ती, भोगभूमिजआर्य, धरणेन्द्र, सुरेन्द्र तथा अहमिन्द्र

(सासय सुवस अदेहा) शाहवतसुखा अविनव्यरसुखाः, अदेहा देहरहिताः ज्ञानमयामूर्तय हत्यर्यः । (मुक्का कम्मट्ठबंघेहि) मुक्ताः कर्माष्टवन्धनैः ॥१२॥

आगे इन्हीं सिद्धोंका और भी वर्णन करते हैं----

णिरुवममचलतमखोहा निम्मिविया जंगमेण रूवेण । सिद्धठाणम्मि ठिया वोसरपडिमा घुवा सिद्धा ॥१३॥ निष्पमा अचला अक्षोभा निर्मापिता अजङ्गमेन रूपेण ।

सिद्धस्थाने स्थिता व्युत्सगंप्रतिमा घ्रुवाः सिद्धाः ॥१३॥ (णिस्त्रममचल्मखोहा) निरुषमा उपमारहिताः। इदृष्ठाः पुमान् कोऽपि नास्ति येन सिद्धा उपमीधन्ते अचलाः स्वस्थानादासुरोकोटितमं भागमपि न परतो गण्डन्ति । असोहा-अक्षोमाः न क्षोमं प्राप्नुवन्ति । उक्तं च समन्तभद्रेषोरसर्पिणी-काले आगामिनि भविष्यसीर्थकरपरमदेवेन---

> काले कस्पन्नतेऽपि च गते शिवानां न विक्रिया लक्ष्या । उत्पातोऽपि यदि स्थात्त्रैलोक्यसंभ्रान्तिकरणपट्टः ॥१॥

को तीन काल में जितना सुख होता है सिद्धपरमेष्ठी के एक क्षणका सुख उससे अनन्तगुणा होता है।

सिद्ध परमेष्ठी शाझ्वत-सुख हैं---अविनाशो सुख से सहित हैं, शरीर रहित हैं ज्ञानमयमूर्ति के धारक हैं और आठ कमोंके बन्धन से युक्त हैं। ऐसे सिद्ध भगवान् सिद्ध प्रतिमा कहलाते हैं ॥१२॥

माथार्थ-वे सिद्धपरमेष्ठो निरुपम हैं, अचल हैं, सोम रहित हैं, (संसारावस्था के अग्तिमक्षणरूप उपादान से) निर्मापित हैं, अजंगमरूप से सिद्धस्थान में स्थित हैं, कायोत्सर्थं अथवा पद्मासन मुद्रा में स्थित हैं और शाख्वत हैं ॥१३॥

विशेवार्थ-सिद्ध भगवान् निरुपम हैं--- उपमारहित हैं। ऐसा कोई पुरुष नहीं जिससे सिद्धोंकी उपमा की जा सके। अचल हैं---अपने स्थान से सरसोंकी अनी के एक भाग भी इधर उधर नहीं जाते हैं। अक्षोभ हैं--क्षोमसे रहित हैं। जैसा कि आगामी उत्सपिंगी कालमें तीर्थकर परमदेव होने वाले समन्तभद्राचार्य ने कहा है---

काले—यदि तीनों लोकों में हल-वल मचा देने में समर्थ उत्पात भी . हो तो भी सैकड़ों कल्पकाल व्यतीत हो आने पर भी मुक्त जीवोमें विकार दुष्टिगोवर नहीं होता। वे सिद्ध भगवान स्थिर रूपसे निर्मापित हैं,

ŧ

(निम्मिविया जंगमेण रूवेण) स्थिररूपेण निर्मापिताः संसारात्स्यक्षणे निष्प-दिता एकसमयेन त्रैलोक्यशिखरं प्राप्ता धर्मास्तिकायाभावात्परतो न गण्छन्ति । अजङ्गमेन रूपेण स्थिररूपेण तिष्ठन्ति निश्वयस्थिरप्रतिमाभिधानाः । (सिद्धट्ठा-णम्मि ठिया) सिद्धानां मुक्तात्मनां स्थाने त्रिभुवनाग्रे तनुवातवलये स्थिताः मुक्तिशिलामीषदूनगव्यूतिमधो मुक्त्वा आकाक्षे निराधाराः स्थिताः (वोसर-पढिमा घुवा सिद्धा) व्युत्सर्गप्रतिमाः कायोत्सर्गेण पद्मासनेम वा स्थिता झुवाः शाक्ष्वता सिद्धाः प्रतिमा भवन्ति । तेऽपि वन्दनीया भवन्ति ॥१३॥।

पडिमा—प्रतिमाधिकारस्तृतीयः समाप्तः ।।३।।

अब श्री कुन्दकुन्दाचार्यं दो गाथाओं द्वारा दर्शनाधिकार कहते हैं----

दंसेइ मोक्खमग्गं सम्मत्तं संजमं सुधम्मं च । णिग्गंथं णाणमयं जिणमग्गे दंसणं भणियं ।।१४॥

दर्शयति मोक्षमार्गं सम्यक्त्वं संयमं सुधमं च ।

निग्रंन्थं ज्ञानमयं जिनमार्गे दर्शनं भणितम् ॥१४॥

(दंसेइ मोक्समग्गं) दर्शयति प्रकटयति मोक्षमार्गं सम्यग्दर्शन-ज्ञान चारि-त्ररुक्षणं यत्तदर्शनम् । ''कृत्यपुटोऽन्यत्रापोति'' वचनात् कर्त्तरि युट् प्रत्ययः ।

संसारावस्था के अन्तिम क्षणरूप उपादान से सिद्ध अवस्था को प्राप्त हुए हैं और एक समय में तीन लोक की शिखर को प्राप्त हुए हैं, धर्मास्ति-काय का अभाव होने से आगे नहीं जाते हैं किन्तु अजंगम-स्थिर रूपसे वहीं स्थिर हो जाते हैं। सिद्धस्थान-तोन लोकके ऊपर तनु वात-वल्य में स्थित रहते हैं। सिद्धशिला को कुछ कम गव्यूति प्रमाण नीचे छोड़कर आकाश में निराधार स्थित हैं। व्युत्सर्गप्रतिमा रूप हैं--कायोत्सर्ग अथवा पद्मासनसे स्थित हैं क्योंकि मोक्ष जाने वालों के यही दो आसन निश्चित हैं। ध्रुव हैं---अपनी इस सिद्धत्व-पर्याय से ध्रुव हैं, शाश्वत हैं। पूर्व तथा इस गाथा में बताये हुए विशेषणों से युक्त सिद्ध परमेष्ठी सिद्ध प्रतिमायें हैं, इन्हीं का स्थिर प्रतिमा भी कहते हैं।।(२३।)

इस प्रकार प्रतिमा नामक तृतीय अधिकार समाप्त हुआ ।।३॥

गाथार्थ---जो सम्यक्त्व, संयम और सुधर्म रूप मोक्षमार्ग को दिख-लाता है तथा स्वयं निग्रंन्य-परिग्रह-रहित और झानमय है वह जिनमार्ग में दर्शन कहा गया है। १४॥

विशेषार्थं ---जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्वारित्र रूप मोक्षमार्गं को दिखलाता है वह दर्शन है। यहाँ ''क्रस्ययुटोऽन्यत्रापि''

बोधप्राभृतम्

कोऽसी मोक्षमागों यं दर्शनं कर्तृंतथा दर्शयति । (सम्मत्तं) सम्यक्त्वं तत्त्वार्थश्रद्धा-नलक्षणं । तथा (संजर्म) चारित्रं पञ्च्यमहाव्रत-समिति-त्रिगुप्ति-लक्षणं दर्शयति (सुधम्मंच) सुघर्मं चानशनादिद्वादश्विधं तपश्च दर्शयति । कथंभूत दर्शनं ? (णिग्गंथं) बाह्याम्यन्तरपरिग्रहरहितं । भूयोऽपि कथंभूतं दर्शनं ? (णाणमयं) सम्यग्जानेन निवृंत्तम् । (जिणमग्गे दंशयं भणियं) जिनमार्गे सर्वन्नवीतरागप्रति-पादिते मार्गे दर्शनं भणितं यतिश्रावकाधारं प्रतिपादितं, अविरतसम्यय्वृष्ट्या-धारभूतं च ॥१४॥

जह फुल्लं गंधमयं भवदि हु खीरं स घियमयं चावि ।

तह दंसणं हि सम्मं णाणमयं होइ रूवत्यं ।।१५॥ यथा पुष्पं गन्धमयं भवति स्फुटं क्षोरं तद्घृतमयं चापि। तथा दर्शनं हि सम्यग्जानमयं भवति रूपस्थम् ॥१५॥

(जह फुल्लें गंत्रमयं) यथा पुष्पं गन्धमयं भवति । (भवदि हि सीर सं धिवमयं चावि) भवति हु-स्फुटं क्षीरं दुग्धं, स---तत् षृतमयं घृतयुक्तं चापि ।

व्याकरण के इस वचन से कर्तृंवाच्य में युट् प्रत्यय होकर दर्शन, शब्द सिद्ध हुआ है (वह मोक्षमार्ग क्या है जिसे दर्शन कर्ता बन कर दिख-रुगता है ? इस प्रश्न के उत्तर स्वरूप मोक्षमार्ग को दिखलाते हैं ।

तत्वार्थ-श्रद्धान रूप सम्यक्त्व, पांच महाव्रत, पांच समिति और तोन गुप्तियों रूप चारित्र, तथा अनशनादि बारह प्रकार के तप रूप सुधर्म, यह मोक्षमार्ग है। वह दर्शन निर्ग्रन्थ है—वाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह से रहित है, तथा ज्ञानमय है---सम्यग्ज्ञान से रचा हुआ है। जिनमार्ग-सर्वज्ञ वीतराग देवके द्वारा प्रतिपादित मार्गमें दर्शनको सम्यक्त्व रूप कहा है। यह सम्यक्त्व रूप दर्शन, मुनि और श्रावकों का तथा अविरत सम्यग्दुष्टि का आधारभूत कहा गया है। १४॥

गायार्थ-जिसप्रकार फूल गन्धमय और दूध घृतमय होता है उसी प्रकार दर्शन भो निश्चयसे सम्यग्ज्ञानमय होता है। यह सम्यग्दर्शन यति श्रावक और असंयत सम्यग्दुष्टिके रूप में स्थित है।। १५॥

विशेषार्य-जिस प्रकार पुष्प गन्धमय होता है अर्थात् पुष्पके प्रत्येक कणमें गन्ध विद्यमान रहता है और दूध घृतमय होता है अर्थात् दूधके प्रत्येक कणमें घृत व्याप्त रहता है उसीप्रकार दर्शन अर्थात् सम्यक्त्व भी

षट्प्राभृते

अपि शब्दादन्येऽपि कनक-पाषाण-काष्ठागिन-प्रभृतयो दृष्टान्ता झातव्याः । (तह दंसणं हि सम्मं) तथा दर्शनं सम्यक्त्वं हि निश्चयेन (णाणमयं होइ) सम्यक्तान-मयं भवति । रूवत्यं यतिश्रावकासंयतसद्दृष्टिमूर्तिस्थितं दर्शनं ज्ञातव्यमित्यर्थः । दर्शनाधिकार एकादर्शाधिकरेषु बोधप्राभृते चतुर्थः समाप्तः ॥१५॥ अथेदानों जिनधिम्बस्वरूपं निरूषयन्ति श्रीगृद्धपिच्छाचार्या भगवन्तः----जिणविम्बं णाणमयं संजमसुद्धं सुवीयरायं च ।

जं देइ दिक्खसिक्खा कम्मक्खयकारणेभ्तुद्धा ॥१६॥

जिनविम्ब ज्ञानमयं संयमशुद्धं सुवीतरागं च । यद् ददाति दीक्षाशिक्षे कर्मक्षयकारणे शुद्धे ॥ १६ ॥

(जिणविम्ब णाणमयं) जिनस्य विम्बमाकारो ज्ञानमयं मतिज्ञानश्रुतज्ञान-यया-संभवावधिज्ञान यथासंभव-मन-पर्यय-ज्ञानमयं भवति, तृतोयः परमेष्ठी आचार्यसंज्ञको जिनविम्बं ज्ञातव्य इत्यर्थः । (संजमसुद्धं सुवीयरायं ख) तदुक्त-लक्षणं जिनविम्बं कथंमूतं भवतीत्पाह----संयमघुद्धं संयमेन निरतिचारचारित्रेण घुद्धं निर्मलं, सुष्ठु अतिषायेन वीतरागं वीतः क्षयगतो रागः प्रीतिलक्षणो यस्मादिति

निश्चय से सम्यग्ज्ञान होता है। यहाँ 'घियमयं चावि' में जो अपि शब्द दिया है उससे सुवर्ण पाषाण तथा काष्ठापिन आदि अन्य दृष्टान्त भी जानने योग्य हैं बह दर्शन रूपस्य है अर्थात् मुनि श्रावक और असंयत सम्यग्दुष्टिके रूप में स्थित है॥१५॥

इस प्रकार बोधप्राभृत के ग्यारह अधिकारों में दर्शनाधिकार समाप्त हुआ ॥ ४ ॥

अब इस समय श्रो कुन्दकुन्दाचार्यं भगवान् जिनविम्ब का स्वरूप दिखलाते हें---

गायार्थ-जो ज्ञानमय है, संयम से शुद्ध है, अत्यन्त वीतराग है तथा कर्मक्षय में कारणभूत शुद्ध दीक्षा और शिक्षा देते हैं ऐसे आचार्य परमेष्ठी जिनविम्ब हैं॥ १६॥

विशेषार्थ---तीसरे आचार्य परमेष्ठो जिनविम्ब हैं---जिनके आकारको धारण करने वाले हैं। वे मतिज्ञान श्रुतज्ञान और यथासंभव अवधिज्ञान तथा यथासंभव मनःपर्ययज्ञानसे युक्त होनेके कारण ज्ञानमय हैं। संयम---

१. सुद्ध घ० ।

बीतरागं। 'अज क्षेपणे' इति धातोः प्रयोगात्। ''अजेर्वीः'' इति चनादजेर्धातो-वींरादेशः चकारात्तद्गुणाधिकारोपणा निषेधिका च जिनविस्बं भवति । (जं देष् दिक्ससिक्सा) यज्जिनविस्बमाचार्यः ददाति दीक्षां व्रतारोपणलक्षणां, शिक्षां च ढादशानुप्रेक्षा लक्षणां ददाति । (कम्मक्स्सय-कारणे सुद्धा) कर्मक्षयकारणे शुद्धां निर्मलां । जीवन्मुक्तजिनवदाचार्यों –माननीय इति भावार्यः । उक्तं च सोमदेवेन सूरिणा---

ज्ञानकाण्डे क्रियाकाण्डे चातुर्वर्ण्यंपुरःसरः ।

सुरिदेंव इवाराघ्यः संसाराब्धितरण्डकः ॥ १ ॥

तस्स य करह पणामं सव्वं पुज्जं च विणय वच्छल्लं।

जस्स य दंसण णाणं अस्थि घुवं चेयणाभावो ॥१७॥ तस्य च कुस्त प्रणामं सवी पूजां विनयं वात्सल्यं।

यस्य च दर्शनं ज्ञानं अस्ति घ्रुवं चेतनाभावः ॥ १७ ॥

(तस्स य करह पणामं) तस्य च जिनविम्बस्य जिनविम्बमूर्तेराचार्यस्य प्रणामं नमस्कारं पञ्चाज्जमष्टाज्ज् वा कुक्त यूयं हे भव्यजीवाः ! चकारादुपा-

निरतिचार चारित्रसे शुद्ध हैं और अतिशय वीतराग हैं-प्रीतिरूप रागसे रहित हैं। यहां 'सुवीयरायं च' पद में जो चकार दिया है उससे आवार्य परमेष्ठो के गुणों को अधिक रूपसे बढ़ाने वाली सिद्ध भूमिको भी जिन-विम्ब जानना चाहिये। आचार्यं परमेष्ठी कर्मक्षय में कारण निर्मल व्रत-षारण रूप दीक्षा और बारह अनुप्रेक्षा रूप शिक्षाको देते हैं। तात्पर्य यह है कि आचार्य जीवन्मक्त हैं अतः जिनेन्द्रके समान माननीय हैं। जैसा कि सोमदेव सूरि ने कहा है--

झानकाण्डे—-जो ज्ञानकाण्ड और क्रियाकाण्ड में शिक्षा और दीक्षामें ऋषि, यति, मुनि और अनगार इन चार प्रकारके मुनियों के अग्नसर हैं तथा संसाररूपी समुद्रसे पार करने के लिये नौका के समान हैं ऐसे आचार्य परमेष्ठी देवके समान आराधना करने के योग्य हैं॥ १॥

गायार्थ—उन जिनविम्बरूप आचार्य परमेष्ठी को प्रणाम करो, सब प्रकार की पूजा करो उनके प्रति विनय और वात्सल्य भाव प्रगट करो जिनके कि सम्यग्दर्शन तथा निश्चित रूपसे चेतनाभाव विद्यमान है ॥१७॥

विशेषार्थं----यहाँ जिनविम्ब शब्दसे जिनविम्बके समान मुद्राके घारक आचार्यं परमेष्ठीका ग्रहण है। हे मध्य जीवो ! तुम उन्हें पञ्चाङ्ग

१. जीवन्युस्तजिनवरा म० ।

घ्यायस्य सर्वसाधोश्च प्रणामं कुरुत तयोरपि जिनविम्बस्वरूपत्वात् (सब्वं पुज्जं च विणय वच्छत्लं) सर्वौ पूजामच्टविष्ठमर्चनं च कुरुत यूयमिति, तथा विनयं हस्त-योटनं पादपतनं सन्मुखगमनं च कुरुत, वात्सत्त्यं भोजनं पानं पादमदेनं शुद्ध-तैलादिनाङ्गाम्यञ्जनं तत्प्रक्षालनं चेत्यादिकं कर्म सर्वं तीर्थं क्रूर नाम कर्मोपार्जन-हेतुभूतं वैयावृत्यं कुरुत यूयम् । उक्तं च समन्तभद्रेण महामुनिना—

⁹व्यापत्तिव्यपनोदः पदयोः संवहिनं च गुणरागात् । 💷

वैयावृत्यं यावानुपग्रहोऽन्योऽपि संयमिनाम् ॥ १ ॥ तथा चकारात्पाषाणादिघटितस्य जिनविम्बस्य पञ्चामृतैः स्नपनं, अष्टविधैः पूजाद्रव्यैक्ष पूजनं कुस्त यूयम् । वन्दनां भक्तिं च कुस्त । यदि तथाभूतं जिन-विम्बं न मानयिष्यय गृहस्या अपि सन्तस्तदा कुम्भोपाकादिनरकादौ पतिष्यथ यूयम् । तथा चोन्तं सोमदेवेन^२ स्वाभिना---

अथवा अष्टाङ्ग प्रणाम करो। 'च' शब्द से सूचित होता है कि उपाध्याय और सर्व साधु को भी प्रणाम करो। क्योंकि वे दोनों भी जिर्नावम्ब स्वरूप ही हैं। सब प्रकार की अथवा अष्ट द्रव्य से होने के कारण अष्ट प्रकार की पूजा करो, इसके सिवाय विनय-हाथ जोड़ना, पैर पड़ना तथा सम्मुख जाना आदि भी करो। वात्सल्य स्नेह, भोजन, पान, पादमर्दन, शुद्ध तेल वादि के द्वारा शरीर का मालिश करना, तथा धोना आदि सब कार्य तीर्थंकर नामकर्म के बन्ध में कारणभूत वेय्यावृत्य भावना में शामिल हैं सो इन्हें भी करो। जैसा कि महामुनि समन्तभद्र स्वामो ने कहा है—

क्यापत्ति---संयमी जनोंकी व्यापत्ति-विघ्न बाधाको दूर करना, पैर दाबना तथा गुणोंमें राग होनेके कारण उनका जितना भी उपकार है वह सब वैय्यावृत्य है।

मूल गाया में 'तस्स' पदके आगे जो चकार का ग्रहण किया है उससे यह अर्थ सूचित होता है कि आप लोग पाषाण आदि से निमित जिन प्रतिमा का पञ्चामृत से अभिषेक और आठ प्रकारकी पूजा सामग्रीसे पूजा करो, वन्दना तथा भक्ति भी करो। यदि तुम लोग गृहस्थ होते हुए भी तथाभूत जिनप्रतिमा की मान्यता नहीं करोगे तो कुम्भोपाक आदि नरकों में पढ़ोगे। जैसा कि सोमदेव स्वामी ने कहा है---

- रत्नकरण्डश्रावकाचारः ।
- २. सोमदेव सूरिस्वामिना क० ।

-8. 82]

ैअपूर्जायत्वा यो देवान् मुनीननुपचर्यं च ।

यो भुञ्जीत गृहस्यः सन् स भुञ्जीत परं तमः ॥ १ ॥

परं रूप इति कोऽर्थः ? कुष्भीपलनरकः, सप्तमे नरके पठच विसासि तैषां नामानि ययां रौरवमहारौरवासिपत्रकूटशाल्मलोकुम्भीपाका इति सप्तमे मरके यानि चतुर्दिक्षु चत्वारि विलानि वतंन्ते तान्यर्ध रज्जुप्रमाणानि सन्ति, तेषां मध्ये यत्नुम्भीपाकसंज्ञकं पञ्च्चमं विलमरित तदेकयोजन-लक्ष-प्रमाणं वर्तते पञ्चभिर-पिरज्जुरेका भूमी रुद्धा वर्तते । (जस्स य दंसण णाणं) यस्य पूर्वोक्तलक्षणस्य जिनविम्बस्य दर्शनं ज्ञान च वर्तते । (अस्थिधुवं चेयणाभावों) झस्ति विद्यते धुवं निष्चयेन चेतनाभाव आत्यस्वरूपं स्थापनान्यासेनापीति तात्पर्यम् ।

तववयगुर्णोह सुद्धो जाणदि पिच्छेइ सुद्धसम्मत्तं । अरहंतमुद्द ऐसा दायारी दिक्खसिक्खा य ॥१८॥ तपोव्नेतगुणैः शुद्धः जानाति पश्यति शुद्ध सम्यक्त्वम् । अर्हन्मुद्रा एषा दात्रौ दीक्षा शिक्षाणां च ॥ १८॥

अपूजियित्या—जो मनुष्य गृहस्य होता हुआ भी देवों की पूजा और मुनियों की परिचर्या किये विना भोजन करता है वह परम तम को प्राप्त होता है।

```
प्रश्न-परम तम, इसका क्या अर्थ है ?
```

उ**त्तर---कुम्भो**पाक नरक ।

सातवें नरक के पाँच बिल हैं उनके नाम इस प्रकार हैं १ रोरव २ महारोरव ३ असिपत्र ४ कूट शाल्मली और ५ कुम्भीपाक। सातवें नरक की चारों दिशाओं में जो चार बिल हैं वे आधी रज्जु प्रमाण हैं और उन चारों बिलोके बीच में जो कुम्भीपाक नामका पाँचवाँ बिल है वह एक लाख योजन प्रमाण है। इन पाँचों बिलों के द्वारा एक राजू प्रमाण भूमि रकी हुई है। जिसका लक्षण पहले कहा जा चुका है ऐसे जिन-विम्ब रूप आचार्य परमेष्ठी के दर्शन तथा ज्ञान विद्यमान रहता है और निश्चय से चेतना भाव अर्थात् आत्मस्वरूपकी उपलब्धि रहती है। पाधाण आदि से निमित जिनविम्बमें चेतनाभाव स्थापना-निक्षेप से होता है॥ १७॥

गाथार्थ—जो तप व्रत और गुण से शुद्ध हैं, वस्तु स्वरूप को जानते

[.] यशस्तिलके ।

(तप वयगुर्थोहं सुढो) तपोभिर्ढादशभेदः, व्रतैरहिसासत्यास्तेयब्रह्मापरिग्रहैः पञ्चभिः गुणैः पूर्वोक्तलक्षणैश्चतुरशीतिल्झैः शुद्धो निष्कल् क्रूः । (जाणवि पिच्छेइ सुद्धं सम्पत्तं) जानाति सम्यग्ज्ञानवान पश्चति स्वरूपं वेत्ति, कस्य ? शुद्धसम्यक्त्त्य पञ्चविंशतिमलरहितस्य (अरहतमुद्द ऐसा) श्रीमद्भगवर्हत्सवंज्ञ-वीतरागस्य मुद्रा आकार एषा अर्माचार्यलक्षणा पाषाणघटित-विम्बस्वरूपा यन्त्र-मन्त्राराधनगम्या च जिनविम्बं भवति । (दायारी दिक्खखिक्खा य) कथंभूता मुद्रा ? दात्री दायिका, कासाम् ? दीक्षाधिक्षाणाम् । चकाराद्यात्राप्रतिष्ठादि-कर्मणां च प्रवर्तिका ।

जिणविव-इति श्री बोधप्राभृतेः जिनबिवाधिकारः पंचमः समाप्तः ॥५॥

अयेदानीमेकया गाथया जिनमुद्रां निरूपयन्ति श्रीमदेलाचार्यः---

दढसंजममुद्दाए इदियमुद्दा कसायवढमुद्दा । मुद्दा इह णाणाए जिणमुद्दा एरिसा भणिया ।।१९।।

हैं, तथा शुद्ध सम्यक्त्व के स्वरूप को देखते हैं ऐसे आचार्य ही अरहन्त मुद्रा हैं---जिनविम्ब है । यह अरहन्त मुद्रा दीक्षा और शिक्षा को देनेवाली है ॥१८॥

इसप्रकार बोधप्राभृत में जिनविम्ब नामका पांचवाँ अधिकार समाप्त हुआ ॥५॥

गायार्य---जो संयम की दृढमुदा से सहित है, जिसमें इन्द्रियोंका

बोधप्राभृतम्

दृढसंयममुद्रय इन्द्रियमुद्रा कषायदृढमुद्रा। मुद्रा इह ज्ञानेन जिनमुद्रा ईदृशी भणिता॥१९॥

(दढ संजममुद्दाए) दृढया वष्ठघटितप्रायया संयममुद्रया षड्जीवनिकाय-रक्षण-रुक्षणया षडिन्द्रियसंकोचस्वरूपया च मुद्रया वेषेण जिनमुद्रा भवति । (इंदियमुद्दा कषायदढमुद्दा) इन्द्रियाणां स्पर्शन-रसन-झाण-चक्षुःश्रोत्राणां द्रव्ये-न्द्रियाणां यत्र मुद्रणं कूमैवस्करणे - संकोचनमिन्द्रियमुद्रोच्यते सा जिनमुद्रा भवति । (कसायदबमुद्दा) कषायाणां दृढं गाउं मुद्रणां कषायदृढमुद्रा। (मुद्दा इइ णाणाए) मुद्रा इह जिनचासने ज्ञानेन भवति, अर्ह्शन्त्रां पठनपाठनादिना जिनमुद्रा भवति । (जिणमुद्दा एरिसा भणिया) जिनमुद्रेदृशी भणिता। मुनीनामाकारो जिनमुद्रा । (ब्रिणमुद्दा एरिसा भणिया) जिनमुद्रेदृशी भणिता। मुनीनामाकारो जिनमुद्रा । ब्रह्मचारिणामाकारक्ष्वक्रवर्तिमुद्रा ते उभये अपि माननीये। यदि कष्टिचद्दुरभि-निवेधेन तां न मानयति स पुनान् जिनमुद्राद्रोहो विशिष्टदैर्ण्डनीय इति भावार्थं ।

मुद्रण---संकोच है, जिसमें कषायोंका दृढ़ मुद्रण-नियन्त्रण है और जो सम्यग्ज्ञानसे सहित है, ऐसो मुनिमुद्रा ही जिनमुद्रा है। जिन शासनमें यहो जिनमुद्रा कही गई है।

विशेषार्थ---छहकाय के जीवोंकी रक्षा करना तथा छह इन्द्रियोंको संकुचित करना संयम मुद्रा है। जिसमें यह संयममुद्रा वज्य से निमित के समान अत्यन्त दृढ होती है वह मुनि-मुद्रा जिन-मुद्रा कहलातो है। जिस मुनिमुद्रा में स्पर्शन रसन झाण चक्षु और श्रोत्र इन द्रव्येन्द्रियोंका कछुए के समान संकोच किया जाता है तथा कोधादि कथायोंका अच्छी तरह नियन्त्रण होता है वह जिनमुद्रा कहलाती है। जिस मुनिमुद्रा में रात दिन पठन पाठन आदि के द्वारा जान का प्रचार होता है वह जिनमुद्रा है। जिनशासन में जिनमुद्रा ऐसी कही गई है। मुनियों के आकारको जिन-मुद्रा और ब्रह्मच रियों के आकारको चक्र्वात-मुद्रा कहते हैं। ये दोनों ही मुद्राए माननीय हैं---पदके अनुकूल आदर के योग्य हैं। यदि कोई दुष्ट अभिप्राय उस जिनमुद्राका सन्मान नहीं करता है तो वह जिनमुद्राका द्रोहो है तथा विशिष्ट जनों के द्वारा दण्डनीय है। घिर दाढ़ी और मूछ के केशोंका लोंच करना, मयूर-पिच्छ घारण करना, कमण्डलु हाथ में रखना और नीचेके बाल रखना यह जिनमुद्रा मुनि-मुद्रा है।

करचरणसंकोचनं म०, ड० प्रती 'कूमंदरकरणं संकोचनमिन्द्रियमुद्रोच्यते सा जिनमुद्रा भवति इति पाठो मास्ति'।

षट्प्राभृते

शिरः - कूर्चरमश्रुलाचा मयूरपिच्छघरः कमण्डलुकरोऽघः केशरक्षणं इति जिनमुद्रा सा मान्यते । तदुक्तमिन्द्रनन्दिना प्रतिष्ठाचार्येण---

मुद्रा सर्वत्रमान्या स्यान्निर्मुदो नैव मान्यते । राजमुद्राघरोऽत्यन्तहीनवच्छास्त्रनिर्णयः ॥ १ ॥ जिणमुद्दा—इति श्री बोधप्राभृते जिनमुद्राधिकारः षष्ठः समाप्तः । अयेदानीं ज्ञानाधिकारः प्रारम्यते—

संजमसंजुत्तस्स य सुझाणजोयस्स मोक्खमग्गस्स । णाणेण लहदि लक्खं तम्हा णाणं च णायव्वं ॥२०॥

संयमसंयुक्तम्य च सुध्यानयोगस्य मोक्षमार्गस्य । ज्ञानेन लभते लक्ष्यं तस्मात् ज्ञानं च ज्ञातव्यम् ॥२०॥

(संजमसंजुत्तस्स य) संयमेनेन्द्रियजयप्राणरक्षणलक्षणेन संयुक्तस्य सहितस्य । (सुम्नाणजोयस्स मोक्खमगगस्स) सुष्ठु-ध्यान-योगस्य आर्त-रौद्रघ्यानद्वयरहितस्य घ्यानस्य धर्म्यध्यानशुक्लध्यान-द्वयस्य योगेन संयोगेन सहितस्य, एवं विश्वेषणद्वय-विशिष्टस्य मोक्षमार्गस्य सम्बन्धित्वेन । (णाणेण लहदि लक्खं) ज्ञानेन करण-

इसका सम्मान किया जाता है। जैसा कि इन्द्रनन्दो प्रतिष्ठाचार्य ने कहा है---

मुद्रा—सत्र जगह मुद्रा माननीय होती है, मुद्रा-रहितका सन्मान नहीं होता । जिस प्रकार राजमुद्रा को घारण करने वाला अत्यन्त होन मनुष्य भी मान्य होता है । शास्त्रका यही निर्णय है ।।१९॥

इस प्रकार श्री बोधप्राभृत में जिनमुद्राधिकार नामका छठवां अधि--कार समाप्त हुआ ।

अब आगे ज्ञानाधिकार प्रारम्भ किया जाता है ।

गायार्थ-संयमसे संहित और उत्तमध्यान के योग से युक्त मोझ-मार्गका लक्ष्य ज्ञान से ही प्राप्त होता है, अतः ज्ञानको जानना चाहिये ॥ २० ॥

विशेषार्थं — जो मोक्षमार्ग इन्द्रिय-संयम तथा प्राणिसंयम से युक्त है एव आतैरौद्र रून खोटे व्यानों से रहित होकर धम्य और शुक्ल नामक उत्तम व्यानोंसे सहित है, उसके रुक्य-निजात्म-स्वरूपको यह ज़िव -8. ??]

भूतेन रुभते । किं कर्मतापल्नं ? रुक्ष्यं निजात्म स्वरूपम् । (तम्हा णाणं च णायव्वं) तस्मात्कारणाज्ज्ञानं च ज्ञातव्यं, न केवलमायतनादि -षट्कं ज्ञातव्य किन्तु ज्ञानं च ज्ञातव्यं । च शब्दः परस्परसम्च्चयार्थः ।। ।।

जह णवि लहदि हु लक्खं रहिओ कंडस्स वेज्जयविहीणो । तह णवि लक्खदि लवखं अण्णाणी मोक्खमग्गस्स ॥२१॥ यथा नापि लक्षयति स्फुटं लक्ष्यं रहितः काण्डस्य वेध्यकांवहीन । तथा नापि लक्षयति लक्ष्यं अज्ञानी मोक्षमार्गस्य ॥२१॥

(जह ण वि लहदि हु लक्खं) थया येन प्रकारेण नापि नैव लभते, हुन्स्पुटं, लक्ष्यं वेध्यं। कोऽसो वेध्यं न लभते ? (रहिओ कंडस्स वेजजयविहीणो) रहितोऽभ्यासरहितः, काण्डस्स वाणस्य, वेध्यकविहोनोऽनभ्यस्तवेध्यव्यधनः पुमान्। (तह ण वि लक्खदि लक्खं) तथा तेन प्रकारेण नापि लक्षयति जानाति लक्ष्यं परमात्मानं। (अण्णाणो मोक्खमग्गस्स) अज्ञानी ज्ञानरहितः पुमान् मोक्षमागंस्य सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रलक्षणस्य लक्ष्यं निजारमस्वरूपं न लक्षयति ॥ २१॥

भानके द्वारा प्राप्त करता है इसलिये ज्ञानको जानना चा हये। साधुके मात्र आय-न आदि छह पदार्थोंको हो नहीं जानना चाहिये किन्तु ज्ञानको भी जानना चाहिये। च शब्द परस्पर समुच्चय करने वाला है॥२०॥

गायार्थ-जिस प्रकार निशाना वेधने के अभ्यास से रहित पुरुष वाण के लक्ष्य निशानाको नहीं प्राप्त करता है उसा प्रकार अज्ञानी पुरुष मोक्षमार्गके लक्ष्य निजात्म-स्वरूप को नहीं प्राप्त करता है।।२१।।

विशेषार्थ— निशाना वेधने के अभ्यास से रहित पुरुष जिस प्रकार वाणके निशाना को नहीं प्राप्त कर पाता है, उसी प्रकार अज्ञानी-आत्म-स्वरूप के चिन्तनके अभ्यास से रहित पुरुष मोक्षमार्ग के लक्ष्य-निज आत्म-स्वरूप को नहीं प्राप्त कर सकता है। मोक्षमार्ग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्षारित्र रूप है ॥ २१ ॥

१. जायतनाभिषटकं क० ।

षट्प्राभृते

णाणं पुरिसस्स हबदि लहदि सुपुरिसो वि विणयसंजुत्तो । णाणेण लहदि लक्खं लक्खंतो मोक्खमग्गस्स ॥२२॥ ज्ञानं पुरुषस्य भवति लभते सुपुरुषोऽपि विनयसंयुक्तः ।

ज्ञानेन लभते लक्ष्यं लक्षयनु मोक्षमार्गस्य ॥२२॥

(णाणं पुरिसस्स हवदि) ज्ञानं श्रुतज्ञानं पुरुषस्यासन्नभव्यजीवस्य भवति संतिष्ठते । (लहदि सुपुरिसो वि विणयसंजुत्तो) लभते प्राप्नोति ज्ञानं सुपुरुषोऽ-त्यासन्नभव्यजीवः । अपि शब्दाद् ब्राह्मी-सुन्दरी राजमति¹ चन्दनादिवत् एकाद-शाङ्गानि लभन्ते, मृगलोचना अपि स्त्रीलिङ्गं छित्त्वा स्वर्गसुखं भुक्त्वा राजकुल्लदि-षूत्पद्य मोक्षं तृतीयेऽपि भवे लभन्ते । पुरुषास्तु । सकलं श्रुतं लब्ब्वा तद्भवेऽपि मोक्षं यान्ति । ईदृशं ज्ञानं कः प्राप्नोति ? विषय-संजुतो-विनयसंयुक्तो गुरुचरणरेणु-रक्षितभालस्यल इति भावार्थः (णाणेण लहदि लक्खं) ज्ञानेन श्रुतज्ञानेन लभते लक्ष्यं निजात्मस्वरूपं । (लक्खंतो मोक्खमगगस्स) लक्षयन् घ्यायन् लक्ष्यं लभते, कस्य लक्ष्यं ? मोक्षमार्गस्य रत्नत्रयस्य ॥ २२ ॥

प्रश्न-ऐसे ज्ञानको कौन पुरुष प्राप्त होता है ?

उत्तर---विनय से सहित अर्थात् गुरुओं की चरण-रज से जिसका मस्तक रंगा हुआ है ऐसा सत्पुरुष ही प्राप्त होता है। वह विनयी मनुष्य, श्रुतज्ञान के द्वारा रत्नत्रय रूप मोक्षमार्ग का चिन्तन करता हुआ लक्ष्य---निजात्मस्वरूपको प्राप्त होता है।

१. राजिमति म० क० घ० ।

मइधणु जस्स थिरं सद्गुण बाणा सुअत्थि रयणत्तं । परमत्यबद्धलक्खो ण वि चुक्कदि मोक्खमग्गस्स ॥२३॥

मतिधनुर्यस्य स्थिरं श्रुतगुणौ वाणाः सुसन्ति रत्नत्रयम् । परमार्थवद्धलक्ष्यो नापि स्खलति माक्षमार्गस्य ॥२३॥

(मइघणु जस्स थिरं) मतिमंतिज्ञानं यस्य मुनेधंनुश्चापं स्थिरं निष्ट्चलं । (सद्गुण) श्रुतज्ञानं गुणः प्रत्यञ्चा । / (डाणा सुअत्थि रयणत्तां) वाणाः शराः सुष्ठु अतिशयवन्तः सन्ति विद्यन्ते, किं ? रत्नत्रयं भेदाभेदलक्षणं रत्नत्रयं । (परमत्थबद्धलक्सो) परमार्थे निजात्म-स्वरूपे बद्धलक्ष्यः । निश्चलीकृतात्म----स्वरूपो मुनिः । (ण वि चुक्कदि मोक्समग्गस्स) न स्खलति मोक्षमार्गस्य लक्ष्ये इति सम्बन्धः । तथा चोक्तं श्रीवीरनन्दिशिष्येण पद्मनन्दिनाचार्येण----

प्रेरिताः श्रुतगुणेन होमुधीकामु केम हारवद्टृगादयः । बाह्यवेघ्यविषयेऽक्रुतश्रमाश्चिद्रणे प्रहतकर्मशत्रवः ॥ १ ॥ तया च सोमदेवस्वामिनापि श्रुतज्ञानस्य गुणस्तुतिः इता----

गाम्रार्थ-मतिज्ञान जिसका मजबूत धनुष है, श्रुतज्ञान जिसकी डोरी है, रत्नत्रय जिसके वाण हैं और परमार्थ में जिसने निशाना बाँध रक्सा है, ऐसा पुरुष मोक्षमार्गमें नहीं चूकता है ॥ २३ ॥

विशेषार्थ—जिस मुनिके पास मतिज्ञान रूपी निश्चल धनुष है, श्रुत-ज्ञान रूपी डोरो है, भेदाभेद रत्नत्रय रूप वाण हैं, और निजात्मस्वरूप परमार्थमें जिसने अपना लक्ष्य बाँध रक्खा है, ऐसा मुनि मोझमार्गके लक्ष्य में कभी नहीं चूकता। जैसा कि श्री वोरनन्दि के शिष्य पद्मनन्दि आचार्य ने कहा हैं---

प्रेरिता—जिन्होंने श्रुतज्ञान रूपी डोरी से युक्त मतिज्ञान रूपी धनुष के द्वारा वाणों की तरह सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रव को प्रेरित किया है– चलाया है और जो बाह्य पदार्थ रूप निशाने के विषय में अकृतश्रम– अनभ्यस्त हैं अर्थात् निजात्मस्वरूप रूपी लक्ष्य के वेघने में ही जिन्होंने श्रम किया है, ऐसे मुनि आत्मरण में कर्म-रूपी शत्रुओं को नष्ट कर पाते हैं।

इसो प्रकार सोमदेव स्वामोने भो श्रुतज्ञान के गुणोंको स्तुति को है— अत्यल्पायतिरक्षजा मतिरियं बोषोऽवधिः सावधिः, साक्ष्वर्यः क्वचिदेव योगिनि स च स्वस्पो मनःपर्ययः । दुष्प्रापं पुनरद्य केवलमिदं ज्योतिः कथागोचरं, माहात्म्यं निखिलार्थये तु सुलभे कि वर्णयामः ⁹श्रुते ॥ १ ॥ णाणं----इति श्री बोधप्राभृते ज्ञानाधिकारः सप्तम समाप्तः । ७ ॥ अयेदानीं गायाद्वयेन देवस्वरूपं निरूपयन्ति श्रीकुन्दकुन्दाचार्या :----

सो देवो जो अत्थं धम्मं कामं सुदेइ णाणं च। सो देइ जस्स अत्थि दू अत्थो धम्मो य पव्यउजा ॥२४॥

स देवो योऽर्थं धर्मं कामं सूददाति ज्ञानं च।

स ददाति यस्य अस्ति तु अर्थः धर्मश्च प्रब्रज्या ॥ २४ ॥ (सो देवो जो अत्य) स देवो योऽर्थं धनं निधि—रत्नादिक ददाति। (धम्मं कामं सुदेइ णाणं च) धर्मं चारित्रलक्षणं दयालक्षणं वस्तु-स्वरूपमात्मो-पलव्विलक्षणमुत्तमक्षमादिदशभेदं सुददाति सुष्ठु अत्तिशयेन ददाति। कार्म-अर्ध-मण्डलिक मण्डलिक महामण्डलिक बलदेव वासुदेव चक्कवतीन्द्र-धरणेन्द्र भोगं तीर्थंकर-

अत्यल्पा---इन्द्रियोंसे होने वाला यह मतिज्ञान अत्यन्त अल्प है, अवधिज्ञान अवधि-सोमा से सहित है, आरच्य से युक्त मन पर्ययज्ञान किसो मुनिके होता है फिर भो अत्यन्त अल्प है और यह केवल ज्ञानरूप ज्योति इस समय अत्यन्त दुर्लभ होने से मात्र कथां का विषय है परन्तु श्रुतज्ञान समस्त पदार्थों को विषय करता है तथा सुलभ भी है अतः उसके माहात्म्य का क्या वर्णन करें? अर्थात् उसका माहात्म्य वर्णना-तोत है।

इस प्रकार बोध-प्राभृत में सातवा ज्ञानाधिकार समाप्त हुआ। ७ ॥

गाधार्थ-देव वह है जो अर्थ, धर्म, काम और ज्ञानको अच्छी तरह देता है। लोक में यह न्याय है कि जिसके पास जो वस्तु होती है वही उसे देता है। देवके पास अर्थ है, धर्म है (चकार से) काम है और प्रब्रज्या-दीक्षा अथवा ज्ञान है।।२४।।

विशेषार्थ—अर्थं, निधि-रत्न आदि धनको कहते हैं। धर्मका लक्षण चारित्र, दया, वस्तु-स्वभाव, आत्मोपलब्धि, अथवा उत्तम क्षमा आदि दशभेद हैं। कामका अर्थं अर्धमण्डलिक, मण्डलिक-महामण्डलिक, बलभद्र,

१. अतेः म० ६० ४० ।

भोगं च यो ददाति स देवः । सुष्ठु ददाति ज्ञान च केवर्ल ज्योतिः ददाति । (सो देइ जस्स अत्थि दु) स ददाति यस्य पुरुषस्य यद्वस्तु वतंते असत्कयं दातुं समर्थः । (अत्थो घम्मो य पव्वज्जा) यस्यार्थों वतंते सोऽर्थं ददाति, यस्य घमों वर्तते स घर्मं ददाति, यस्य प्रव्रज्या दीक्षा वतंते स केवलज्ञानहेतुभूतां प्रब्रज्यां ददाति, यस्य रिसर्व सुखं वर्तते स सर्व-सोक्स्यं ददाति । उक्तं च गूणभद्रेण गणिना--

ैसवः प्रेप्सति सत्मुखाप्तिमचिरात्सा सर्वकर्मक्षयात् सद्वृत्तास्स च तच्च⊶बोधनियतं सोऽप्यागमात्स श्रुतेः । सा चाप्तात् स च सर्वदोषरहितौ रागादयस्तेऽप्यत---स्तं युक्त्या सुविचार्य सर्वसुखदं सन्तः श्रयग्तु श्रिये ॥ १ ॥ धम्मो दयाविसुद्धो पव्वज्जा सब्वसंगपरिचत्ता ।

देवो ववगयमोहो उदययरो भव्वजीवाणां ॥२५॥ 'धर्मो दर्याविशुद्धः प्रब्रज्या सर्वसङ्कपश्त्यिक्ता । देवो व्यपगतमोहः उदयकरो भव्यजीवानाम् ॥२५॥

नारायण, चक्रवर्ती, इन्द्र, धरणेन्द्र और तीर्थंकर के भोग हैं और ज्ञानका अर्थ केवलज्ञान रूप ज्योति है । जो इन अर्थ धर्म आदि को देता है वह देव हैं । जिस पुरुषके पास जो वस्तु होती है उसे हो वह देता है । अविद्य-मान वस्तु को देने के लिये कोई कैसे समर्थ हो सकता है । इस तरह यह सिद्ध हआ कि जिसके पास अर्थ--धन है वह देता है जिसके पास धर्म है वह धर्म देता है, जिसके पास प्रवज्यान्दोक्षा है वह केवलज्ञान को प्राप्ति में कारणभूत प्रवज्या को देता है और जिसके पास सब सुख है वह सब सुख प्रदान करता है । जैसा कि गुणभद्राचार्य ने कहा है---

सर्बः प्रेप्सति समस्त प्राणी शोघ ही समोचीन सुख प्राप्तिको इच्छा करते हैं, सुखको प्राप्ति समस्त कर्मोंके क्षयसे होती है समस्त कर्मोंका क्षय सदवृत्त-सम्यक् वारित्रसे होता है, सद्वृत्त-सम्यक् चारित्र ज्ञानके अधीन है, ज्ञान आगम से होता है, आगम श्रुतिसे होता है, श्रुति आप्तसे होती है, आप्त समस्त दोषोंसे रहित होता है और दोष रागादि हैं अतः सत्युष्य रूक्ष्मीके लिये युक्तिपूर्वक विचार कर सर्वं सुखदायी उस आप्तकी उपा-सना करें।

गायार्थ---दया से विशुद्ध धर्म, सर्वपरिग्रह से रहित प्रब्रज्या

१. आत्मानुचासने ।

(धम्मो दयाविसुढो) धर्मो दयया विशुढो निर्मरूः, यो दयां कुवंन्नपि चर्मकरुं पिबति, अजिन-तैल्मास्वादयति, कुतुपधृतं मुंबतें, भूतनाशनमत्ति, तस्य पुंसो धर्मो विशुढी न भवति स - ैयतिवेषधार्यापि म्लेच्छो ज्ञातव्यः । (पथ्वज्जा सव्यसंग-परिचत्ता) प्रव्रज्या सर्वसङ्घपरित्यक्ता भवति, यो दण्डं करे करोति, कम्बलमुप-दक्षति, शङ्ककरनारीस्पृष्टमन्नमस्नाति स कथं प्रव्रज्यावान् भवति । (देवो ववगयमोहो) देवो व्यपगतमोहः, या देवोऽर्धांगे वनितां दर्धाति, यो देवो हृदय-स्थले लक्ष्मोमुपवेश्यति, यो देवो दण्डं धरति, यो देवो वेश्यां चोपभुंक्ते, वशिष्ठ-पिता भवति स कथं देवः । (उदययरो भव्वजीवाणं) भव्य-जीवानामुदयकरः उत्कृष्टतीर्थंकरनामधुभदायकः स देवो ज्ञातव्यः ॥२५॥

देवं इति श्री बोधप्रामृते देवाधिकारोऽष्टमः समाप्तः ॥८॥

और मोह से रहित देव, ये तीनों भव्य जीवोंका कल्याण करने वाले: हैं॥२५॥

देव मोहसे रहित होता है। जा देव अर्धाङ्ग में स्त्रीको रखता है, जो देव हृदय स्थल पर लक्ष्मी को बैठाता है, जो देव हाथ में दण्ड धारण करता है, जो देव वेक्याका उपभोग करता है, और जो वसिष्ठका पिता होता है वह देव कैसे हो सकता है ? दयासे विशुद्ध धर्म, सर्वपरिग्रहसे रहित प्रब्रज्या और मोह से रहित देव ये तीनों भव्य जीवोंके उदयको करने वाले हैं अर्थात् उत्कृष्ट तीर्थंकर नामक श्म पदके देने वाले हैं ॥२५॥

इस प्रकार श्री बोधप्राभृत में देवाधिकार नामका आठवां अधिकार समाप्त हुआ ॥८॥

१. स यतिर्वेध म० क० ब० ।

अथेदानीं ं गाथाद्वयेन तीर्थं निरूपयन्ति श्रीपदानन्दिदेवाः----

वयसम्मत्तविसुद्धे पंचिदियसंजदे णिरावेक्खे । ण्हाएउ मुणी तिरथे दिक्खासिक्खासुण्हाणेण ॥२६॥ व्रतसम्यक्त्वविशुद्धे पञ्चेन्द्रियसंयते निरपेक्षे । स्नातु मुनिस्तीर्थे दीक्षांशक्षासुस्नानेन ॥२६॥

(वयसम्मत्तविसुद्धे) व्रतैर्रहिंसासत्यास्तेयब्रह्मापरिग्रहलक्षणैः पञ्चभिमंहाव्रतैः सम्पक्त्वेन च पञ्चरहिविंशतिमलहरीहितेन तत्वार्थश्रद्धानलक्षणेन, विशुद्धे विशेषेण निमंले च मंजलाद्यास्वादनरहिततयाष्कश्मले तीर्थे । (पाचिदियसंजदे णिरावेवस्ते) पचेन्द्रियसंयते पंचेन्द्रियाणि स्पर्शनरसन्द्राणचक्षुःश्रोत्रलक्षणानि संयतानि बद्धानि

अन्त्र आगेश्री कुंदकुंद देव दो गाथाओं ढारातीर्थ का निरूपण करते हैं।

गाथार्थं----मुनि, व्रत और सम्यक्त्व से विशुद्ध, पञ्चेन्द्रियों से निय-न्त्रित और बाह्य पदार्थों को अपेक्षा से रहित शुद्धात्मस्वरूप तीर्थमें दीक्षा तथा लिक्षा रूप उत्तम स्नान से स्नान करे ॥२६॥

िंगेषार्थ—यहाँ जिस शुद्ध बुद्धैकस्वभाव रूप लक्षण से युक्त एवं संसार समुद्रसे तारनेमें समर्थं निजात्मस्वरूप तीर्थ--जलाशय में मुनिको स्नान करनेको प्रेरणा की गई है, वह व्रत तथा सम्यक्त्व से विशुद्ध है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्यं और अपग्रिह ये पांच व्रत अथवा महा-द्रत हैं शङ्का, कांक्षा, विाचकित्सा, मुढदुष्टि, अनुपगूहन, अस्थितीकरण, अवात्सल्य और अप्रभावना नामक आठ दोष, ज्ञानमद आदि आठ मद, लोकमूढ्ता आदि तीन मूढताएँ और कुदेव आदि छह अनायतन इन पच्चीस मलोंसे रहित तत्त्वार्थका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। इन दोनों के द्वारा वह तीर्थ विशुद्ध है---अत्यन्त निर्मल है, साथ ही चर्मपात्र में रखे हुए जहने सेवन आदि से रहित हानेके कारण अकश्मल है---उज्ज्वल है। बह तोथ पञ्चेन्द्रियों से संयत है-स्पर्शन रसन झाण चक्षु और श्रोत्र ये पाँचों इन्द्रियां जिसमें संयत हैं-बद्ध हैं-स्पर्श रस गन्ध रूप और शब्द इन पांच विषयोंसे रहित हैं, इसके सिवाय वह तीर्थ निरपेक्ष है-बाह्य वस्तुओं की अपेक्षासे रहित है स्याति, लाम आदिकी आकांक्षाओंसे रहित है और माया मिय्यात्व तथा निदान इन तीन शल्योंसे वर्जित है। इसो तीर्थमें प्रत्यक्ष और परोक्ष ज्ञान से युक्त, महात्मा, महानुभाव, मुनि को स्नान

ŧŧ

षट्प्राभृते

स्पर्श-रसगन्धरूपशब्दलक्षणपंचविषयरहितानि यस्मिस्तीर्थे तत्तवोक्तस्तस्मिन् पंचेन्द्रियसंग्रते । पुनः कथंभूते तीर्थे ? निरपेक्षे वाह्यवस्तत्वपेक्षारहिते आकांक्षा-रहिते माया-मिथ्यानिदान शल्यत्रयाविर्वजिते । (ण्हाएउ मुणी तित्थे) स्नातु स्नानं करोतु-अष्ट-कर्ममलकलख्दू-प्रक्षालनं करोतु-केवलज्ञानाद्यनन्तचतुष्ट्रय संयुक्तौ भवतु । कोऽसौ ? मुनिः प्रत्यक्षपरोक्षज्ञानसंयुक्तो महात्मा महानुभावो जीवः , तीर्थे शुद्ध बुद्धैकस्वभावलक्षणे निजात्मस्वरूपे संसार-समुद्रतारणसमर्थे तीर्थे स्नातु विशुद्धो भवतु । केन छत्वा स्नातु ? (दिवस्ता-सिक्सा-सुण्हाणेण) दीक्षा पंच-महादत-पंचसमिति-पंचेन्द्रियरोधलोच-पडावश्यक-क्रियादयोऽष्टाविस्यतिमूलगुणा उत्तम-क्षमामदवार्जवसत्यशौचसयम तपस्त्यागाकिचन्यबह्यचर्याणि दशलक्षिको धर्मा-ऽष्टादशशीलसहसाणिचतुरशीतिलक्षगुणास्त्रयोदशविधं चारित्रं द्वादशविष्ठ तपक्ष्वेति सकलसम्पूर्णदीक्षा भवति, स्त्रीप्रसङ्गवर्जनं द्वादशानुप्रेक्षाचिन्तनं शिक्षा जिननावस्य, सुस्नानेन कर्मकिट्टि करण किट्टिन्छरेपत्वलक्षणेन स्नातेन स्नात्व ॥२६॥

करना चाहिये अर्थात् अष्ट कर्म मल रूप कलक्कुका प्रक्षालन करना चाहिये अथवा केवलज्ञान आदि अनन्त चतुष्टय से संयुक्त होना चाहिये ।

प्रश्न---किसके द्वारा स्नान करना चाहिये ?

उत्तर---दीक्षा और शिक्षारूप उत्तम स्नान के द्वारा ।

प्रश्न---दीक्षा क्या है ?

उत्तर---पांचमहाव्रत, पांचसमिति, पञ्चेन्द्रियरोध, लोच, तथा षडा-वश्यक किया आदि अट्ठाइस मूलगुण, उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य और ब्रह्मचर्य ये दश धर्म, अठारह हजारशीलके भेद, चौरासीलाख गुण, तेरह प्रकारका चारित्र और बारह प्रकार का तप ये सब मिलकर दोक्षा कहलाती है।

प्रकन---शिक्षा क्या है ?

उत्तर---स्त्रो प्रसङ्घका त्याग करना और अनित्य आदि बारह भावनाओंका चिन्तन करना जिनेन्द्रदेव की शिक्षा है।

प्रज्ञ----सुस्नान क्या है ?

उत्तर--जिसमें कमं रूपी किट्टि-कालिमाका अभाव हो जाय ॥२६॥

१. किट्रिकर क० ।

जं णिम्मलं सुधम्मं सम्मत्तं संजमं तवं णाणं । तं तित्यं जिणमग्गे हवेइ जदि संतिभावेण ॥२७॥

यन्निर्मलं सुधर्मं सम्यक्त्वं संयमस्तपः ज्ञानम् । तत्तीर्यं जिनमार्गे भवति यदि शान्तभावेन ॥२७॥

(जंणिम्मरुं सुधम्मं) यन्निमंलं निरतिचारं सुधर्मं सुष्ठु धोमनं वारित्रं तत्तीर्थं ज्ञातव्यम् । (सम्मत्तं संजमो तवं णाणं) सम्यक्त्वं तत्त्वार्यश्रद्धानलक्षणं तीर्यं भवति । संयम इन्द्रियाणां मनसक्ष्व संकोचनं पृथिव्यप्तेजोवागुवनस्पतिकाय-स्यावरजीव~रक्षणमविराधनम् । ^३द्वीन्द्रियादिपञ्चेन्द्रियत्रसजीवदया-करणं क्वजित्

गापार्थ-जो निरतिचार, धर्म, सम्यक्त्व, संयम, तप और ज्ञान है बह जिनमार्ग में तीर्थ है, वह भो यदि शान्तभाव से सहित हों। [यदि यह धर्म सम्यक्त्व आदि भाव क्रोध से सहित हैं तो तीर्थ नहीं कहलाते हैं।]

बह तोर्थ है, तत्त्वार्थ-श्रद्धान रूप सम्यक्त्व तीर्थ है, इन्द्रियों और मन को वश में करना, पुणिवी जल अग्नि वायू और बनस्पति इन पाँच स्थावर जीवोंको रक्षा करना अर्थात् निराधना नहीं करना और द्वीन्द्रियादि पञ्चेन्द्रियान्त त्रस जीवोंकी दया करना, यदि कहीं प्रमाद के दोष से विराधना हो भो जाय तो शास्त्रोक्तविधि से प्रायधिषत्त करना संयम कहलाता है। यह संयम भी संसार समुद्रसे तारने वाला होनेसे तीर्थ है। तथका लक्षण इच्छाओं का निरोध करना है, वह अनशन, अवमौदर्य, वत्ति-परिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त शय्यासन, कायक्लेश, प्रायश्वित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाघ्याय, व्युत्सर्ग और घ्यान के भेद से बारह प्रकारका होता है। तत्वार्यसूत्र-मोक्षशास्त्र के नवम अध्याय में विस्तार से तप का निरूपण किया गया है वहाँसे उसे आनना चाहिये। यह तप तीर्थ है। इसके सिवाय ज्ञान मो तीर्थ है। जिनमार्ग में निश्चयनयसे यहाँ सब तोर्थ कहलाते हैं। व्यवहार नयसे जगत् प्रसिद्ध, निश्चयतीर्थ की प्राप्तिमें कारण तथा मुक्त-अवस्थाको प्राप्त हुए मुनियों के चरणों से स्पृष्ट-ऊजयन्त (गिरनार) शत्रुञ्जय, लाटदेशका पावागिरि आमीर देशकी

२. द्वीन्द्रियाणि (?) कः चः ४० ।

१. तिम्मर्स ६० घ० म० ।

पिण्टोऽभिकां मधुरतामुपयाति यद्वत् । तद्वच्च पुष्थपुरुषैरुषितानि नित्यं आतानि तानि जगताभिह पावनानि ॥१॥

तुङ्गीगिरि नासिक नगर के समोप में स्थित गजकी पताकाओंसे युक्त गजपन्या, सिद्धवरकूट, तारापुर, केलाश, अध्टापद, चम्पापुरी, पावापुर, बाराणसी नगरका क्षेत्र, हस्तिनागपुर, सम्मेदशिखर, मुक्तागिरि, हिमाचल, ऋषिगिरि, अयोध्या, कौशाम्बो, विपुलगिरि, वैभारगिरि, रूप्यगिरि, सुवर्णगिरि, रत्नगिरि, शौर्यपुर, चूलगिरि, नर्मदावदीका तट, द्रोणगिरि, कुन्थुगिरि, कोटिशिलागिरि, जम्बूकवन, चेलना नदीका तट, तथा तीर्थं करोंके पञ्चकल्याणकों के स्थानको आदि लेकर जिनमार्ग में जो तीर्थं क्षेत्र प्रसिद्ध हैं वे कर्मक्षय के कारण हैं तथा वन्दना करनेके योग्य है, जो इम तीर्थोकी वन्दना नहीं करते हैं उन्हें मिथ्यादृष्टि जानमा चाहिये । तीर्थ-भ्रमणके बिना वे अनन्त संसारमें भ्रमण करेंगे और तीर्थ-भ्रमणकी बनुमोदनासे संसारको पार करेंगे । जैसा कि भगवान् पूज्यपादने कहा है—

इक्षोर---जिस प्रकार लोकमें गुड़ या शक्कर के रससे चूर्ण अधिक

१. भार्गे म० ।

जिनमार्ग-बाह्य यत्तीर्थ जलस्यानादिकं तन्न माननीयं । तत्कम् ? गङ्गा-य मुना-सरयू-मर्भदातापी-मागघीगोमतीकपीवसीरवक्ष्यागंभीराकालतोया कौषिकी कालमहीतोग्राऽरुणा निभुरा लोहित्य समुद्र कन्चुकाशोणनद बीजामेसलोदुम्बरी पनसातमसा प्रभृशा शुक्तिमती पम्पासरहछत्रवती चित्रवती माल्यवती बेणुमती विशालानालिका सिन्धुपारा निष्कुन्दरी बहुवष्ठारम्या ³सिकतिनीकुहासमतोया-कञ्जा कपिवती निविन्ध्या जम्ब्रुमती-वसुमत्यक्ष्वगामिनी-दार्करावती-सिप्राकृतमाला परिञ्जापनसाऽवन्तिकामा ³हस्तपानीका गन्धुनी व्याघी चर्मष्वती द्वतभागानन्दा-करभवेगिनी-धुल्लतापीरेवा-सप्तपारा-कौशिकी पूर्वदेशनद्यः । उक्तं च ब्राह्याणमते-

> प्रागुदीच्ची विभजते हंसः क्षीरोदकं यथा। विदूषां शब्दसिद्धधर्थं सा नः पातु शरावती ॥

अय दक्षिणे—तैला-इक्षुमती नकरवा भज्जा स्वसना वैतरणी माघवती महिन्दा शुष्कनदी सप्तगोदावर गोदावरी मानससरः सुप्रयोगा कृष्णवर्णा सन्नीरा प्रवेणी कुब्जा धैर्या चूर्णी वेला शूकरिका अम्बर्णा।

मधुरता को प्राप्त होता है उसी प्रकार पुण्य पुरुषों से निग्न्तर अधिष्ठित तीर्थ जगत् को पवित्र करने वाले होते हैं।

जिनमार्गसे बाह्य जो जलस्थान-मदी सरोवर आदि तीर्थस्थान हैं वे माननीय नहीं हैं । जैसे गङ्गा, यमुना, सरयू, नर्मदा, ताप्ती, मागघी, गोमती, कपीवतो, अवश्या, गम्भोरा, कालतोया, कौशिको, कालमही, तोषा, अरुणा, निभुरा, लोहित्य, समुद्र, कन्धुका शोणनद, बीजा, मेखला, उदुम्बरी, पनसा, तमसा, प्रभूशा, शुक्तिमती, पम्पासरोवर, छत्रवती, उदुम्बरी, पनसा, तमसा, प्रभूशा, शुक्तिमती, पम्पासरोवर, छत्रवती, चित्रवतो, माल्यवती, वेणुमती, विशाला, नालिका, सिन्धु पारा, निष्कुन्दरो, बहुवज्ञा, रम्या, सिकतिनी, ऊहा, समतोया, कज्जा, कपीवती, पिविन्ध्या, जम्बूमती, वसुमती, अस्वगामिनी, शर्करावती, सिप्रा, कृत-माला, परिज्जा, पनसा, अवन्तिकामा, हस्तिपानी, कार्गखुनी, व्याघ्री, चर्मण्वती, शतभागा, नन्दा करभवेगिनी, क्षुल्छतापी, रेबा, सप्तपारा, कौशिकी आदि पूर्वदेश की नदियाँ। बाह्यणमत में कहा भी है—

प्रागु—जिस प्रकार हंस दूध और पानीका विभाग करता है उसी प्रकार जो पूर्व और उत्तर देशोंका विभाग करती है तथा जो विद्वानों की शब्दसिद्धिका कारण है वह शरावती नदी हम सबकी रक्षा करे।

१. तोग्वा म० । २. सिकतनीम्युह्या म० । १. हस्ति म० !

१८२

अप पश्चिमे देशे—भैमरथी दारुवैणा नीरा मूला बाणा केता स्वाकरीरी प्रहरा मुररा मदना गोदावरी सापी लाङ्गला खातिका कावेरी तुङ्गभद्रा साभवती महीसागरा सरस्वतीत्यादयो नद्यों न तीर्थं भवन्ति पापहेतुत्वात्, तन्मतेऽपि विरुद्धत्वात् ।

> गङ्गाद्वारे कुशावर्ते वित्वके नीलपर्वते । स्नात्वा कनखले तीर्घे संभवेन्न पुनर्मवे ।। १ ।।

किमत्र विरोधः ?

दुष्टमन्तगंतं चित्तं तीर्थस्नानान्न शुद्धयति । शतकोऽपि जलैवीतं सुराभाण्डमिवालुचि ।। १ ।।

तित्यं इति श्रीबोषप्राभृते तीर्याषिकारो नवमः समाप्तः ॥ ९ ॥

अब दक्षिण दिशाको नदियां बतलाते हैं—तैला, इक्षुमती, नकरवा, चड्डा, श्वसना, वेतरणी, माषवती, महिन्द्रा, शुष्कनदी, सप्तगोदावर, गोदावरी, मानससर, सुप्रयोगा, कृष्णवर्णा, सन्नोरा, प्रवेणी, कुब्जा, धेर्या, घूर्णी, वेला, शूर्कारका, अम्बर्णा।

अब पश्चिम देशकी नदियां कहते हैं—भैमरथी, दाख्वैणा, नीरा, मूला, केता, स्वाकरीरी, प्रहरा, मुररा, गोदावरी, तापी, लाज्झला, खातिका, कावेरी, तुङ्गभद्रा, साभ्रवती, महीसाग़रा, सरस्वती आदि नदियां तीर्थ नहीं हैं क्योंकि ये पापके कारण हैं। साथ ही इस विषय को लेकर ब्राह्मण मतमें विरुद्ध कथन भी पाया जाता है। जैसे एक स्थान पर कहा है—

गङ्गा—गङ्गाद्वार, कुशावतं, विल्वक, नीलपर्वत, और कनखल तीर्घ-में स्नान कर मनुष्य पुनः संसार में उत्पन्न नहीं होता अर्थात् मुक्त हो जाता है।

तो दूसरे स्थान पर कहा है--

दुष्ट—जिस प्रकार मदिरा का वर्तन सैकड़ों बार जलसे घोने पर भी अशुद्ध ही रहता है उसी प्रकार मनुष्य का अन्तवंती चित्त दुष्ट ही रहता है, तीर्थ स्नानसे शुद्ध नहीं होता ।।२७।।

इस प्रकार श्री बोध-प्राभृत में तीर्थाधिकार नामका नौवां अधिकार समाप्त हुआ ॥९॥ अथेदानीं चतुर्दशभिर्गायाभिरहंस्त्वरूपमहाधिकारं प्रारभन्ते श्रीकुन्दकुन्दा-पार्थाः---

णामे ठवणे हि य संदथ्वे भावेहि सगुणपज्जाया । चउणागदि संपदिमं भावा भावंति अरहंतं ॥२८॥ नाम्नि स्थापनायां हि च संद्रव्ये भावे च स्वगुणपर्यायाः । ज्यवनमागतिः संगदिमं भज्या भावयन्ति अहंन्तम् ॥२८॥

(णामे) नामन्यासे सति । (ठवणे) स्थापनान्यासे सति । (हि) स्फुटं। भकारः पादपूरणार्थः । (संदब्वे) समीचीने द्रव्यन्यासे सति (भावे) य भाव-न्यासे च सति (सगुणपज्जाया) स्वगुणा अनन्तज्ञानानन्तवीर्यानन्तसुखसंज्ञा अर्हन्तो भवन्तीत्थुपस्कारः । स्वपर्यायाः दिव्यपरमौदारिकशरोराष्टमहात्रातिहार्यसमवधर-णरुक्षणाः पर्याया अर्हन्तो भवन्तोत्थुपस्कर्तव्यः । (चउणं) स्वर्गान्नरकाद्वा व्यवनं । (आगदि .) भरतादिक्षेत्रेष्टागमनं (संपत्) गर्भावतारात्यूवंमेव षष्मासान् रत्न-

अब आगे चौदह गायाओं द्वारा श्रो कुन्दकुन्दाचार्य अर्हत्स्वरूप नामक महाधिकारका प्रारम्भ करते हैं—

गायार्थ---नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव ये चार निक्षेप, स्वकीय-गुण, स्वकीयपर्याय, च्यवन, आगति, और संपदा इन नौ बातोंका आश्रय करके मव्य जीव अरहंत भगवानु का चिन्ठन करते हैं ॥२८॥

१. संपदिमे ग० ।

सुवर्णपुष्पगन्घोदकवर्षणं मातुरङ्गणे भवति, अवतीर्णे सति नवमासपर्यन्तं सुवर्ण-रत्नवृष्टि मातुरङ्गणे सौधर्मेन्द्रादेशात्कुवेरः करोति कनकमय-पत्तनं भवति । एत-त्सर्वं महापुराणात्सम्पद्विवरणमर्हतो जातव्यम् । (इमं) अर्हन्तं । (भावा) भव्य-जीवा आसन्नतरभव्यवर-पुण्डरोकाः । (भावति) भावयन्ति मिजहृदय-कमले निरुचलं धरन्ति । कम् ? (अरहतं) श्रीमद्भगवत्सर्वंज्ञवीतरागं । तथा चोक्तं---णामजिणा जिणणामा ठवणजिणा तह य ताह पडिमाओ ।

दर्ब्वजिणा जिणजीवा भावजिणा समवसरणत्था ॥१॥ दसण अणंतणाणे मोक्खो णट्ठट्ठकम्मबंधेण । णिरुवमगुणमारूढो अरहतो एरिसो होई ॥२९॥ दर्शने अनन्तज्ञाने मोक्षो नष्टाष्टकर्मबन्धेन । निरुपमगुणमारूढः अर्हन् ईदृशो भवति ॥२९॥

पूर्व लगातार माता के अज्जूण में सुवर्ण और रत्मों की वर्षा होती है तथा गर्भावतरण हो चुकने पर नौ मास पर्यन्त माताके अज्जूण में सौधर्मन्द्र की आज्ञासे कुवेर सुवर्ण और रत्नोंकी वर्षा करता है तथा उनका नगर सुवर्णमय हो जाता है, अरहन्त भगवान को इस समस्त संपत्तिका वर्णन महापुराण से जानना चाहिये । इन नौ बातों का आश्वय लेकर अत्यन्त निकट श्रेष्ठ भव्य जीव अरहन्त भगवान की भावना करते हैं अर्थात् उन्हें अपने हृदय-कमल में निक्चल रूपसे धारण करते हैं ।

जैसा कि कहा है----

णामजिणा—अरहन्तभगवाने के जो नाम हैं वे नामजिन हैं, उनको प्रतिमाएँ स्थापना जिन हैं, अईन्त भगवानका जोव द्रव्य जिन है । और समवशरण में स्थित भगवान भावजिन हैं ।।१।।

इस ब्लोक में नामादि चार निक्षेपोंकी अपेक्षा अरहन्त का दर्णन किया गया है ॥२८॥

गाथार्थ-जिनके अनन्तदर्शन और अनन्तज्ञान विद्यमान हैं, 'आठों कर्मोंका बन्ध नष्ट हो जाने से जिन्हें भावमोक्ष प्राप्त हुआ है तथा जो अनुपम गुणोंको प्राप्त हैं ऐसे अरहन्त होते हैं ॥२९॥

१. अरहन्त भगवान् के सातावेदनीय का बन्ध विद्यमान रहने से यद्यपि आठों कर्मोंके बन्धका अभाव सिद्ध नहीं होता तथापि सातावेदनीय में स्थिति अनु-भाग बन्ध न पड़ने से अबन्ध की ही विवक्षा की गई है। (दंसण अणंतणाणे मोक्सो) अनन्तदर्शने सत्तावलोकनमात्रलक्षणे सति । तथा अनन्तज्ञाने विशेषगोचरसाकारे सति मोक्षो भवतीति तावद्वेदितव्यम् । केन इत्ला ? (णट्टट्ठकम्मबंघेण) नष्टाष्टकमंबन्धेन । ननु 'मोहक्षयाज्झानदर्शनावरणा-तरायक्षयाच्च केवलम्' इत्युमास्वामिवचमात् चत्त्वार्येव कर्माण्यहंते नष्टानि कथं नष्टाष्टकमंबन्धेनेत्युच्यते ? साधूक्तं भवता, यथा सैन्यनायके पतिते सति जीव-त्यपि शत्रुवृन्दे तन्मृतवत्प्रतिभासते विक्वतिकारकत्वभावाभावात्तथा सर्वेषां कर्मणां मुख्यभूते मोहनीयकर्मणि नष्टे सति वेदनीयायुर्नामगोत्रकर्मचतुष्टये सत्यपि भगवतो विविध-फलोदयाभावादघातीन्यपि कर्माणि नष्टानीत्युच्यते । (णिहवम गुणमारूढो) निरुषमं गुणमनन्तचतुष्टय-लक्षणमारूढोऽहन्नष्ट-कर्मरहित उच्यते । (अरहंतो एरिसो होइ) अहंन्नीदृश्वो भवतीति मुक्त एवोपचर्यंत इति भावार्यः ॥२९॥

विशेषार्थ-पदार्थकी सत्ता मात्रका अवलोकन होना दर्शन है और विशेषताको लिये हुए विकल्प-सहित जानना ज्ञान कहलाता है। ज्ञाना-वरण के क्षय से अनन्तज्ञान और दर्शनावरण के क्षय से अनन्तदर्शन अरहन्त भगवानके प्रगट होता है। इन दोनों गुणोंके रहते हुए उनके आठों कर्मोंका बन्ध नष्ट हो जाने से मोक्ष--भावमोक्ष होता है।

प्रक्त—'मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्' मोहनीय तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय के क्षय से केवलज्ञान होता है—उमास्वामो के इस वचन से सिद्ध है कि अरहन्त भगवान के चार कर्म हो नष्ट हुए हैं फिर उन्हें 'नष्टाष्टकर्म-बन्ध' क्यों कहा जाता है ?

उत्तर—आपने ठोक कहा है, परन्तु जिस प्रकार सेनापति के नष्ट हो जाने पर शत्रुसमूह के जीवित रहते हुए भी वह मृत के समान जान पड़ता है क्योंकि विकार उत्पन्न करने वाले भाव का अभाव हो जाता है उसी प्रकार सब कर्मों के मुख्यभूत मोहनीय कर्म के नष्ट हो जाने पर यद्यपि अरहन्त भगवान के वेदनीय आयु नाम और गोत्र ये चार अधाति कर्म विद्यमान रहते हैं तथापि नाना प्रकार के फलोदय का अभाव होने से वे भी नष्ट हो गये, ऐसा कहा जाता है । उपमा-रहित अनन्त-चतुष्ट्य रूप गुणोंको प्राप्त हुए अरहन्त अष्ट कर्म से रहित कहे जाते हैं । उत्पर कही विशेषताओं से युक्त पुरुष होता है तथा उपचार से उसे मुक्त ही कहते हैं ॥२९॥

जरवाहिजम्ममरणं चउगइगमणं च पुण्णपावं च । हंतूण दोसकम्मे हुउ णाणमयं च अरहंतो ॥३०॥

जराब्याधिजन्ममरणं चतुर्गतिगमनं च पुण्पपापं च। हत्वा दोषकर्माणि भूतः ज्ञानमयोऽर्हुन् ॥३०॥ (जर) जरां हत्वा। (वाहि) व्याघि हत्वा, एतेन पदेन यत्महावीरस्वा-मिनः षण्मासिकमतीसार रोगं केवलिनः कथयन्ति तन्मतं निरस्तं भवति। (जम्से) जन्म गर्भवासं हत्वा, इदमपि पदमेतत् सूचयति यद्देवनन्दाया बाह्यण्या उदराद्दीरं निष्कास्य क्षत्रियाया उदरे प्रवेशितवानिन्द्रस्तदप्ययुक्तं । गतिदाता इन्द्रएवेति (चेत् ? न) जीवस्य कर्माधीनत्वं वृया भवतीति दोष-सद्भावात् । तथा (मरणं) हत्वा। (चडगइ गमणं च) चतुर्गतिगमनं च हत्वा। (पुण्णपावं

विज्ञेषार्य---जरा का अर्थ बुढापा है, व्याघि बीमारी को कहते हैं। इन्हें नष्ट करने से हो अरहन्त-अवस्था प्राप्त होती है अर्थात् अरहन्त भगवान के परमौदादिक शरीर में न बुढापा प्रगट होता है और न कोई बीमारी हो । यहाँ खास कर व्याधि को नष्ट करके अरहन्त होते हैं, इस कथन से स्वेताम्बरोंके उस मतका खण्डन हो जाता है जिसमें वे कहते हैं कि भगवान महावीर स्वामीको केवलज्ञानी अवस्थामें छह मासके लिये अतीसार नामक बोमारो हो गई थी। जन्मका अर्थ गर्भवास है, अरहन्त भगवान् इसे नष्ट करके अरहन्त होते हैं अर्थात् अरहन्त भगवान् अरहन्त बनने के बाद मोक्ष ही प्राप्त करते हैं, गर्भवासको प्राप्त नहीं करते। इस पद से भी यह सूचित होता है कि ''भगवान महावीर पहले तो देवनन्दा नामकी ब्राह्मणीके गर्भमें अवतीर्ण हुए थे बाद में इन्द्र ने उन्हें ब्राह्मणी के उदर से निकाल कर क्षत्रिया के मर्भ में प्रविष्ट कराया था" क्वेताम्बरों का यह कथन अयुक्त है। यदि यह कहा जाय कि इन्द्र ही जीव को गति देता है तो यह कहना ठोक नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर जीव की कर्माधोनता व्यर्थ हो जाती है। अरहन्त भगवान मरण को तथा चारों गतियों के गमनको नष्ट कर अरहन्त बनते हैं अर्थात् अरहन्त भगवान का न मरण होता है और न नरकादि चारों गतियों में उनका च) पुण्यं पापंच हत्वता (हंतूण, दोसकम्मे) हत्वा विनाक्य दोषानष्टा दश--दोषान् । के ते ?----

- 'क्षुत्पिपाताजरातङ्कजन्मान्तकभयस्मयाः ।

न रागद्वेषमोहारूच यस्याप्तः स प्रकीत्यंते ॥

चकाराच्चिन्तारति--निद्रा--विषादस्वेद--खेद--विस्मया गृह्यन्ते । कम्मे घाति-कर्माणि हंतूण-हत्वा (हुउ णाणमयं च अरहंतो) भूतः संजातः । कौदृशः ? णाण-मयं-ज्ञानमयः केवल्ज्ञानवान् । अर्हन्, इन्द्रादिकृतामहंणां पूजामनन्यसंभविनीमर्हती-त्यर्हन् सर्वज्ञः वोतरागः ॥३०॥

गमन होता है। वे पुण्य पापको भी नष्ट कर चुकते हैं, कषायोदय की मन्दता में होने वाले शुभ परिणाम पुण्य और कषायोदय की तोवता में होने वाले अशुभ परिणाम को पाप कहते हैं कषायोदयका अभाव होने से अरहन्त भगवान के पुष्य और पाप दोनोंका अभाव रहता है। अरहन्त भगवान दोषों तथा कर्मोंको नष्ट करके अरहन्त बनते हैं।

प्रश्न---दोषसे क्या अभिप्राय है ?

उत्तर---अठारह दोष । जैसे---

खुत्पिपासा—क्षुधा, प्यास, बुढापा, रोग, जन्म, मरण, भय, गर्ब, राग, द्वेष, मोह और चकारसे चिन्ता, अरति, निद्रा, विषाद, स्वेद, खेद, और विस्मय ये अठारह दोष हैं जिस पुरुषमें ये अठारह दोष नहीं होते हैं, वह आप्त कहलाता है।

उत्तर---धातिया कर्म ।

ज्ञानावरण, दर्श्वनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चार घातिया कर्मों को नष्ट करने से हो अरहन्त अवस्था प्रयट होती है ।

इन सब जरा, व्याधि आदिको नष्ट करके जब यह जीव ज्ञानमय-केवलज्ञान रूप हो जाता है तब अरहन्त कहलाता है। इसे प्राकृत भाषामें 'अरहत' और संस्कृत भाषा में 'अर्हत्' कहते हैं। अर्हत् शब्द 'अर्ह' धातु से सिद्ध होता है। उसका निरुक्तार्थ है—जो दूसरे जीवों में न पाई जाने वालो इन्द्रादिकृत अर्हणा-- पूजाको प्राप्त करनेको योग्यता रखता हो वह 'अर्हत्' है। समस्त पदार्थों के ज्ञाता होने से इन्हें सर्वज्ञ तथा रागद्वेषसे रहित होने के कारण वीतराग भी कहते हैं।।३०।।

१. रत्नकाण्डवावकाचारे।

गुणठाणमग्गणेहि य पज्जत्तीपाणजीवठाणेहि । ठावण पंचविहेहि पणयव्वा अरुहपुरिसस्स ॥३१॥

गुणस्थानमार्गणाभिरुच पर्याप्तिप्राणजीवस्थानैः । स्थापना पञ्चविर्धः प्रणेतव्या अर्हत्युरुषस्य ॥३१॥ (गुणठाणमग्गणेहि य) गुणस्थानेनाहंन् प्रणेतव्वो योजनीयः । कानि तानि गुणस्थानानि ? तन्निर्देशो गाथाद्वयेन क्रियते---

> भैमच्छा सासण मिस्सो अविरयसम्मो य देसविरओ य । विरया पमत्त इयरो अपुल्व अणियट्टि सुहमो य ॥**१॥** उवसंतखीणमोहो सजोग केवल्जिजोो अजोगी य । चउदस गुणठाणाणि य कमेण सिद्धाय णायव्वा ॥२॥

मार्गणाश्चतुर्देश निर्देश्यति । (पज्जत्ती) षड्भिः पर्याप्तिभिरह्नं प्रणेतम्यः । ता अपि निर्देश्यति । (पाणजीवठाणेहि) प्रार्णदेशभिरहंत् प्रणेतव्यः । तानपि निर्देश्यति । जीवस्थानानि चतुर्दशसु गुणस्थातेषु जीवा ये सन्ति तानि जीवस्था-नानि । तानि गुणस्थाननिर्देशेन ज्ञातब्यानि । (ठावण पंचविहेहि) एवं गुण-स्थानमार्गणा पर्याप्ति प्राणजीवस्थान-स्थापना पंचविर्धः स्थापना योजना

गायार्थ-गुणस्थान, मार्गणा, पर्याप्ति, प्राण और जीवस्थान इन पौंच प्रकारों से अरहत भगवान की स्थापना करना चाहिये ॥३१॥

विश्रेषार्थ—गुणस्थान के द्वारा अरहन्त की योजना करना चाहिये | वे गुणस्थान कौन हैं ? इसका निर्देश दो गाथाओं द्वारा किया जाता है—

मच्छा-१ मिथ्यादृष्टि २ सासादन ३ मिश्र ४ अविरतसम्यग्दृष्टि ५ देशविरत ६ प्रमत्तविरत ७ अप्रमत्तविरत ८ अपूर्वंकरण ९ अनिवृत्तिकरण १० सूक्ष्मसाम्पराय ११ उपशान्तमोह १२ क्षीणमोह १३ सयोगकेवलि जिन और ४४ अयोगकेवलिजिन ।

मार्गणा के द्वारा अरहत्त की योजना करना चाहिये। मार्गणाएँ चौदह हैं उनका निर्देश आगे करेंगे। छह पर्याप्तियोंके द्वारा अरहन्त का निरूपण करना चाहिये। उन पर्याप्तियोंका भी आगे निर्देश करेंगे। दश प्राणोंके द्वारा अरहत्त भगवान का वर्णन करना चाहिये। उन प्राणों का भी आगे निर्देश करेंगे। जीवस्थानों के द्वारा अरहन्तकी योजना करना चाहिये। चौदह गुणस्थानों में जो जीव रहते हैं वही जीवस्थान हैं।

१. जीवकाण्डे नेमिचन्द्रस्य ।

पंचप्रकारैः । (पणयव्या अरुह पुरिसस्स) प्रणेतव्या योजनीया अर्हत्पुरुषस्य अर्हज्जी-बस्येति ॥३१॥

तेरहमे गुणठाणे सजोइकेवलिय होइ अरहंतो । चउतीस अइसयगुणा होंति हु तस्सट्ठ पडि़हारा ।।३२।। त्रयोदशे गुणस्थाने सयोगकेवलिको भवति अहंन् । चतुर्स्त्रिशदतिशयगुणा भवन्ति हु तस्याष्ट प्रातिहार्याणि ।।३२॥

(तेरहमे गुणठाणे) त्रयोदशे गुणस्थाने । (सजोय केवलिय होइ अरहतो) स्योग-केवलिको भवत्यहंन् । (चउतीसअइसयगुणा) चतुस्त्रिंशदतिशयगुणाः । (होति हु तस्सट्ट पडिहारा) भवन्ति हु-स्फुटं तस्याईत्परमेक्वरस्याष्टप्रातिहा-र्याणि । के ते चतुस्त्रिंशदतिशया इति चेदुच्यन्ते---नित्यं निःस्वेदत्वं, निर्मलता मलमूत्ररहितता, तत्विनुस्तन्मातुश्च मलमूत्रं न भवति । उक्तं च---

गुणस्थानोंका निर्देश ऊपर कर आये हैं उसीसे जीवस्थानोंको जानना चाहिये । इसप्रकार गुणस्थान-मार्गणा-पर्याप्ति-प्राण--और जीव-स्थान; स्थापनाके इन पाँच प्रकारों से अरहन्तको योजना करना चाहिये.।।३१॥

अब आगे गुणस्थानकी अपेक्षा अरहन्त का वर्णन करते हें----

गाषार्थ---तेरहवें गुणस्थान में विद्यमान सयोगकेवलि जिनेन्द्र अरहन्त कहलाते हैं उनके चौंतीस अतिशय और आठ प्रतिहाय होते हैं ॥३२॥

१ नित्य निःस्वेदता अर्थात् कभी पसीना नहीं आना। २ निर्मलता अर्थात् मलमूत्रसे रहित शरीर का होना। न केवल तीर्थंकर अरहन्तके मलमूत्र का अभाव होता है किन्तु उनके माता पिता के भी मलमूत्र का अभाव होता है। जैसा कि कहा गया है— तिरथयरा तप्पियरा हलहर चक्की य अद्धचक्की य ।

देवा य भूयभूमा आहारो अत्थि णत्थि णीहारो ।

290

तथा तीर्थंकराणां श्मश्रुणी कूर्चश्च न भवति, शिरसि कुन्तलास्तु भवन्ति। तथा चोक्तम्---

देवा वि य नेरइया इलहरचक्की य तह य तित्ययरा ।

सब्वे कैसवरामा कामा निक्कुंचिया होति ।।

क्षीरगौररुषिरमांसत्वं, समचतुरस्रसंस्थानं, वज्जर्षभनाराच-संहननं, सुरूपता, सुगन्धता, सुरुक्षणत्वम्, अनन्तवीयं, त्रियहितवादित्वं, चेति दज्ञातिशया जन्मतोऽपि स्वामिनः शरीरस्य ।

गव्यूतिशत-चतुष्ट्यसुभिक्षता । गगनगमनम् । अप्राणिवधः । कवछाहारो न भवति-भोजनं नास्ति । उपसर्गो न भवति । केवछिनामुपसगं भूमित च ये कथयस्ति ते - प्रत्युक्ता भवन्ति । चतुर्मुंसत्वम् । सर्वविधानां परमेश्वरत्वम् । अच्छायत्वं-दर्पंजे मुख--प्रतिविम्बं न भवति शरीरच्छाया च न भवति । चक्षुचि मेपोन्मेपो न भवति । नखानां केशानां च वृद्धिनं भवति । एते पक्षातिषया धातिकर्मसयजा भवन्ति ।

तित्वयरा—तीर्थं कर उनके माता पिता, बलभद्र, चक्रवर्ती, अद्ध-चक्रवर्ती, देव और मोगभूमिया इनके आहार तो होता है परन्तु नीहार नहीं होता।

इसी प्रकार तीर्थंकरोंके डाढो और मूछ नहीं होतीं किन्तु शिर पर घुम्बुराले बाल होते हैं। जैसा कि कहा गया है----

देवाचि य-देव, नारकी, हलधर-बलभद्र, चकवर्ती, अर्धचकवर्ती, सब नारायण और कामदेव ये डाढी मुछ से रहित होते हैं।

३ दूधके समान सफेद खून और मांसका होना ४ समचतुरस्र—संस्थान का होना ५ वर्ज्यर्षभनाराच संहननका होना ६ सुन्दर रूपका होना ७ सुगन्धित शरीरका होना ८ उत्तम लक्षणोंका होना ९ अनन्त बल होना और १० प्रिय तथा हितकर वचन बोलना। ये दश अतिशय तीर्थंकर भगवानुके शरीर में जन्मसे ही होते हैं।

अब केवलज्ञान-सम्बन्धी दश अतिशय कहते हैं----

१ चारसौ गव्यूति पर्यन्त सुभिक्षका होना २ आकाश में गमन होना ३ प्राणीका वध नहीं होना ४ कवलाहार का न होना ५ उपसर्ग नहीं होना ।

क प्रतौ 'प्रत्यक्ता' इति संघोषितं केनापि ।

-४. ३२]

सर्वार्धमागधीया भाषा भवति । कोऽर्थः ? अर्धं भगवद्भाषाया भगघदेशभाषा-त्मकं, अर्धं च सर्वभाषात्मकं, कयमेवं देवोपनीतत्स्वं तदतिशयस्येति चेत् ? मगघ देव-सन्निधाने तथा परिणतया भाषया संस्कृतभाषया प्रकर्तते । सर्वजनता-विधया मैत्री भवति सर्वे हि जनसमूहा मागध-प्रीतिकर-देवातिशयवशान्मागधभाषया भाष-न्तेऽन्योन्यं मित्रतया च वर्तन्ते द्वातिशयौ । सवंतू नां फल्ज्लुच्छाः प्रवालाः पुष्पाणि च भूमौ तरवो भवन्ति । आदर्शतलसदृशो भूमिर्मनोहरा रत्नमयी भवति । वायुः पृष्ठत आगच्छति धीतो मन्दः सुरभिष्टच । सवंत्लेकानां परमानन्दो भवति । एकं योजनमग्रेऽभ वायवो भूमि सम्माजयन्ति स्वयं सुगन्ध मिश्रा धूलिकण्टक-तूण-कोटकान् कर्करान् पाषाणांश्च प्रसार्जन्ति । स्तनितकुमारा गन्धोदकं वर्षन्ति । पादा-धोऽम्बुजमेकं, अग्रतः सप्तकमलानि, पृष्ठतश्च सप्तपद्यानि योजनैक-प्रमाणानि,

(जो मनुष्य केवलियों के उपसर्ग तथा कवलाहार का वर्णन करते हैं उनका इस कथन से निराकरण हो जाता है।)

६ चारों दिशाओं में मुख दिखना ७ सब विद्याओं का ईश्वरपना ८ छायाका अभाव, (दर्पण में तीर्थंकर के मुखका प्रतिविम्ब नहीं पड़ता है और न उनके शरीरकी छाया पड़तो है) '९ नेत्रोंके पलक नहीं झपकना और १० नख तया केशोंकी वृद्धि नहीं होना; ये दश अतिशय भातिया कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न होते हैं।

अब देवकृत चौदह अतिशय कहते हैं----

१ सर्वार्धमागधीया भाषा----भगवान को सर्वार्ध मागधी भाषा होती है।

प्रश्न---इसका क्या अर्थ है ?

उत्तर-भगवान को भाषा में आधा भाग भगवान को भाषाका होता है जो कि मगध देशकी भाषा रूप होता है और आधा भाग सर्व-भाषा रूप होता है।

उत्तर—मगध देवोंके सन्निधान में संस्कृत भाषा उस भाषा रूप परिणमन करती है इसलिये अतिशयका देवोपनीतपना सिद्ध हो जाता है ।

सब जनता में मैत्री---भाव होता है अर्थात् समस्त जन-समूह मागघ और प्रीतिकर देवोंके अतिशय के दश मागघी माघा में सोछते हैं और थरस्पर में मित्रता से रहते हैं--ये दो अतिशय हैं । ३ पृथिवी पर ऐसे वृक्ष

१९१

प्रत्येकं सहस्रपत्राणि परारागमणिकेसराणि अर्घयोजनकानि भवन्ति । सर्वसस्य -निष्पत्तियुता भूमिभवति । शरत्कालसरोवरसदृशमाकार्शा निमलं भवति । दिशः सर्वा अपि तिमिरका घूझता त्यजन्ति तमो मुञ्चन्ति शलभा अपि दिशो नाच्छाद-यन्ति घूलिनोंड्ढोयते । ज्योतिष्कान् व्यन्तरान् कल्पवासिदेवान् भवनवासिन आह्नयन्ति महापूजार्थं त्वरितमागच्छन्तु भवन्त इति । अरसहस्रं रत्नमयं रवितेज-स्तिरस्कारकं घमंचकं अग्रेऽभे गगने निराधारं गच्छति । अष्ट मङ्गलानि भवन्ति । तानि कानि ? छत्र-ध्वज-दर्पण-कल्शाचामर मृङ्गार-ताल-सुप्रतिष्टक इत्यष्टमञ्ज्ञ-लानि चतुर्दशोऽतिशयाः । एते चतुर्दशातिशया देवोपनोता भवन्ति । तथाष्टप्राति-हार्याणि भवन्ति । कानि तानीत्याह-

प्रकट होते हैं जिनमें सब ऋतुओंके फलोंके गुच्छे, किसलय और फूल दिखाई देते हैं। ४ भूमि दर्पणतल के समान मनोहर और रत्नमयी हो जाती है ५ पोछेको औरसे शीतल मन्द और सुगन्धित वायु आती है। सब लोगोंको परम आनन्द होता है। ७ आगे आगे एक योजन तक सुगन्ध से मिश्रित वायू पृथिवी को स्वयं झाड़ती है और घूलि, कण्टक, तण, कोड़े, कंकह और पत्थरोंको साफ करती रहती है। ८ स्तनित कुमार देव गन्घोदक की वर्षा करते हैं, ९ भगवान् के पांवके नीचे एक, आगे सात और पोछे सात । ये कमल एक योजन प्रमाण होते हैं । ये सब कमल पर्य-राग मणिमय केशरसे युक्त तथा आधायोजन विस्तार वाले होते हैं। १० भूमि सब प्रकारके अनाजोंकी उत्पत्ति से सहित होती है। ११ आकाश शरद् ऋतुके सरोवरके समान निमँल होता है। १२ सब दिशाएं तिमिरिका-घन्द, धम्रता और अन्धकार को छोड़कर निमंछ हो जाती हैं, टिड्डियाँ भी दिशाओं को आच्छादित नहीं करतीं और न घूलि ही उड़ती है। सब दिशाएँ ज्योतिष्क, व्यन्तर, कल्पवासी और भवनवासी देवोंको यह कहकर बुलाती हैं कि आप लोग शोझ ही भगवान की महापूजाके लिये आवें। १३ आंगे-आगे आकाश में हजार आरोंसे युक्त, रत्नमय, तथा सूर्यंके तेजको तिरस्कृत करनेवाला धर्म-चक आकाशमें निराधार चलता हैं। १४ छत्र. ध्वजा, दर्पण, कलज्ञ, चामर, झारी, तालपत्र, और ठौना ये आठ मङ्गल द्रव्य होते हैं, यह चौदहवां अतिशय है। ये चौदह अतिशय देवोपनीत होते हैं । इनके सिवाय तीर्थंकर-अरहन्त भगवानुके आठ प्रतिहार्य होते हैं ।

प्रहन—वे आठ प्रतिहायं कौन हैं ? उत्तर---महते हें---

बोधप्रामृतम्

अज्ञोकवृक्षः सुरपुष्पधृष्टिर्दिब्यघ्वनिरुधामरमासनं च । भामण्डलं दुन्दुभिरातपत्रं सत्प्रातिहार्याणि जिनेस्वराणाम् ।। अब सागंणा की अपेक्षा अरहत्तका वर्णन करते हें---

गइइंदियं च काए जोए वेए कसायणाणे य । संजमदंसणलेस्सा भविया सम्मत्त सण्णि आहारे ।।३३॥ गतौ इन्द्रिये च काये योगे वेदे कषाये ज्ञाने च ।

संयमे दर्शने लेश्यायां भव्यत्वे सम्यक्तवे संज्ञिनि आहारे ॥३३॥ (गइ) नारकतियंङ्मनुष्यदेवगतीनां मध्येऽहंतो मनुष्यगतिः । (इंदियं च) स्पर्शन~रसन~म्राण वसुःश्रोत्र पञ्चेन्द्रिय-जातीनां मध्येऽहंत् पञ्चेन्द्रियजातिः ।

(काए) पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसकायानां मध्येऽहंन् त्रसकायः । (जोए) सत्य-मनोयोगासत्यमनोयोगोभयमनोयोगानुभयमनोयोगानामहतः सत्यानुभयमनोयोगो, सत्यवचनयोगासत्यवचनयोगोभयवचनयोगानुभयवचनयोगानां मध्येऽर्हतः सत्यानु-

अञोक—१ अञोक वृक्ष, २ देवोंके ढारा पुष्प–वृष्टि होना, ३ दिव्य-ध्वनि, ४ चामर, ५ सिंहासन, ६ भामण्डल, ७ दुन्दुभि बाजा ८ छत्रत्रय; ये जिनेन्द्रदेवके आठ प्रातिहार्य हैं ॥३२॥

गावार्थ---गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, संज्ञित्व, और आहारक इन चौदह मार्गणाओं में यथा--संभव अण्हन्त की योजना करना चाहिये ॥३३॥

भयवचनयोगो, औदारिककाययोगोदारिकमिश्वकाययोग-वैक्रियिककाययोगवैक्रियिक-मिश्रकाय-योगाहारके-काययोगाहारक-मिश्रकाययोग-कार्मणकाययोग इति त्रियोगाः । सत्प-हंतः औदारिककाययोगोदारिकमिश्रकाययोग-कार्मणकाययोग इति त्रियोगाः । सत्प-मनोयोगोऽनुभयमनोयोगः सत्यवचनयोगोऽनुभयवचनयोग औदार्रिककाययोग औदा-रिकमिश्रकाययोगः कार्मणकाययोगश्चतेति सप्तयोगाः । (बेए) स्त्रीपृन्नपु सक-वेदत्रयमध्येऽहंतः कोऽपि वेदो नास्ति । (कसाय) पञ्चनिद्यतिकपायाणां मध्येऽ-हंतः कोऽपि कथायो नास्ति । (जाले य) पञ्चनिद्यतिकपायाणां मध्येऽ-हंतः कोऽपि कथायो नास्ति । (णाले य) पञ्चनिद्यतिकपायाणां मध्येऽ-हंतः कोऽपि कथायो नास्ति । (णाले य) पञ्चनिद्यतिकपायाणां मध्येऽ हंतः कोऽपि कथायो नास्ति । (णाले य) पञ्चनिद्यतिकपायाणां मध्येऽ हंतः कोऽपि कथायो नास्ति । (जाले य) पञ्चन्नानानां मध्येऽहंतः केवल्जान-मेकम् । (संजम) सप्तानां संयमानां मध्येऽहंतः संयम एक एव यथास्यासचो-रित्रम् । । दंसण) चतुर्णां दशनानां मध्येऽहंतः संयम एक एव यथास्थासचो-रित्रम् । । दंसण) चतुर्णां दशनानां मध्ये दर्शनमेकमेव केवल्ठदर्शनम् (लेस्सा) धण्णां लेक्यानां मध्येऽहंतो लेक्ष्या एककाश्वुक्ललेक्त्या । (भविया) भव्याभव्ययय

योग, आहारक काययोग, आहारक मिश्र काययोग और कार्मण काययोग ये सात भेद है इसमें से अरहन्त के ओदारिक काययोग तथा समुद्धातको अपेक्षा औदारिक मिश्रकाययोग और कार्मण काययोग ये तीन काययोग हैं। इस तरह अरहन्त के सब मिलाकर सातयोग **होते** हैं जो इस प्रकार हे-१ सत्यमनोयोग २ अनुभयमनोयोग, ३. सत्यवचनयोग ४ अनुभव वचन योग ५ औदारिककाययोग ६ औदारिकमिश्रकाययोग और ७ कार्मणकाय योग । वेदमागंणाके स्त्री देद, पुरुषवेद और नपुंसक वेद ये तीन भेद हैं,, इनमें से अरहन्तके कोई भी वेद नहीं है। कषायके अनन्तानु-बंधी आदि पच्चीस भेद हैं उनमें से अरहन्तके कोई भी कधाय नहीं है। ज्ञानके मतिज्ञान आदि पाँच भेद हैं इनमें से अरहन्तके एक केवलज्ञान है। संयम मार्गणा के सामयिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्म-साम्पराय, यथास्त्रात, संयमासंयम और असंयम को अपेक्षा सात भेद हैं. इनमेंसे अग्हन्तके एक यथाख्यात चारित्र है। दर्शन के चक्षुर्दर्शन, अचक्षु-दंर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन ये चार भेद हैं इनमें से अरहन्तके एक केवलद्रजन हो हैं। लेश्याके कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल ये छह भेद हैं इनमें से अरहन्त के एक शुक्ल लेखा ही है। भव्यत्व मार्गणाके भव्य और अभव्य ये दो भेद हैं इनमें से अरहन्त भव्य ही हैं। सम्यक्त मार्गणाक औषर्शामिक सम्यवत्व, क्षायोपश्रमिक सम्यवत्व, क्षायिक सम्यवत्व, मिश्र, सामादन और मिथ्यात्व इस प्रकार छह भेद हैं इनमेंसे अरहन्तके एक क्षायिक सम्यक्त्व ही होता है। संज्ञी मार्गणा के संज्ञी और असंज्ञी ये दो मेद हैं इनमें से अरहन्त एक संझी ही हैं। और बाहार मार्गणा के क्षायिकसम्यक्त्वम् । (सण्णि) संज्ञिद्वयमघ्येर्ड्ल् संज्ञी ह्येक एव । (आहारे) आहारकानाहारकद्वयमघ्येर्ड्त आहारकानाहारकद्वयम् ॥३३॥

आहारो य सरीरो[°] तह इंदिय आणपाणभासा य । पज्जत्तिगुणसमिद्धो उत्तमदेवो हवद्द अरहो ॥३४॥

आहारश्च शरीरं तथा इन्द्रियानप्राणभाषाश्च। पयाप्तिगुणसमृद्वः उत्तम देवो भवति अहंन्॥३४॥

(आहारो य सरीरो) आहारः समयं समयं प्रत्यनन्ताः परमाणवोऽनन्यजन-साधारणाः शरोरस्थिति हेतवः पुण्यरूपाः शरीरे सम्बन्धं यान्ति, नोकर्मरूपा अहंत आहार उच्यते नत्वितरमनुष्यवद्भगवति कवलाहारो भवति तस्मान्निद्रा ग्लानि-रूपद्वते कथं भगवानहुँन् देवता कथ्यते । कवलाहारं भुञ्जानो मनुष्य एव । तथा चोक्तं समन्तभद्रेण भगवता---

आहारक अनाहारक की अपेक्षा दो भेद हैं इनमें से अहंन्त के दोनों मेद सम्भव हैं। तेरहवें गुणस्थान में सामान्यरूप से आहारक हैं और समुद्-घात की अपेक्षा अनाहारक हैं तथा चौदहवें गुणस्थान में अनाहारक हो हैं। ३३॥

आगे पर्याप्ति की अपेक्षा अरहन्त का वर्णन करते हैं---

गावार्य-आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन ये छह पर्याप्तियां हैं। अरहन्त भगवान इन पर्याप्तियों के गुण से समृद्ध तथा उत्तम देव हैं। ३४।।

१. सरीरो इन्द्रियमण जाम ग०।

षट्प्राभृते

भानुषीं प्रकृतिमम्यतीतवान् देवतास्वपि च देवता यतः । तेन नाथपरमाऽसि देवता श्रेयसे जिनवृष ! प्रसीद नः ॥

क्षुद्वेदनायां कवलाहारं भुञ्जानो भगवान् कथमनस्तसौख्यवानुच्यते वेदनायां मुखच्छेदत्वादित्यादि प्रमेयकमलमार्तण्डादिषु कवलाहारस्य निषिद्धत्वात्, स्त्री-मुक्तेरपि । शरीर-पर्याप्तिः । (तह इ'दिय आणपाण भामा य) तथा इन्द्रिय-पर्याप्तिः, आनप्राण पर्याप्तिः, कोऽधः ? उच्छ्वास निःश्वासपर्याप्तिः भाषा, पर्याप्तिः चकारान्मनःपर्याप्तिः, एवं कायवाङ्मनसां सत्तायां सत्यामपि भगवतः कर्मबन्धो नास्ति जीवन्मुक्तत्वात्तस्य । तथा चोक्तम—

> ^२कायवाक्यमनसां प्रवृत्तयो नाभवंस्तव मुनेश्चिकोर्षया । नासमीक्ष्य भवतः प्रवृत्तयो घीर ! तावक मचिम्ल्यमीहितम् ।।

मानुषीं—हे नाथ ! हे जिनेन्द्र ? आप चूँकि (आहार आदि के विषय में) मनुष्य की प्रकृति का उल्लंबन कर चुके हैं, अतः देवताओं में भो देवता हैं। आप उत्कृष्ट देवता हैं, इसलिये हमारे कल्याण के लिये प्रसन्न हूजिये।

क्षुधाकी वेदना होने पर यदि भगवान कवलाहार करते हैं तो वे अनन्तसुखसे सहित क्यों कहे जाते हैं ? क्योंकि वेदना होने पर सुख का घात हो जाता है। इत्यादि रूपसे प्रमेय-कमल-मार्तण्ड आदि ग्रन्थों में कवलाहार का निषेध किया गया है तथा स्त्रीमुक्ति का भो खण्डन किया गया है।

आहार पर्याप्ति, के सिवाय शरीर पर्याप्ति, इन्द्रिय पर्याप्ति, इवासो-च्छ्वास पर्याप्ति, भाषा पर्याप्ति और चकार से मनःपर्याप्ति भी अरहत्तके होती हैं। इस प्रकार काय वचन और मनकी सत्ता रहते हुए भी भगवानके कर्मबन्ध नहीं होता क्योंकि वे जोवन्मुक्त हो चुके हैं। जैसा कि कहा गया है---

कायवाक्य---हे मुनीन्द्र ! आपके शरीर वचन और मनकी प्रवृत्तियाँ करने को इच्छा से प्रवृत्त नहों होती हैं, किन्तु स्वयं होतो हैं, यह ठोक है, फिर भो आपकी प्रवृत्तियाँ वस्तुरूपको यथावत जाने बिना नहीं होती। इस तरह हे धोर वोर भगवन् ! आपकी चेब्टा अचिन्त्य है।

- १. बृहत्स्वयंम्भू स्तोत्रे ।
- २. बृहत्स्वयंभूस्तोत्रे ।

(पज्जत्तिगुणसमिद्धो) षट्पर्याप्तिगुणसमृद्धः संयुक्तः । (उत्तमदेवो हवइ बरहो) उत्तमदेवो भवत्यर्हन् न तु हरिहरहिरण्यगर्भादय उत्तमदेवा भवन्ति तेषां दोषसद्भावात् । उक्तञ्च---

> दुहिणाघोक्षजेशानशाक्यसूरपुरःसराः । यदि रागाद्यविष्ठानं कथं तत्राप्तता भवेत् ॥ १ ॥ रागादिदोषसंभूतिर्ज्ञेयामीषु तदागमात् । असतः परदोषस्य गृहोतौ पातकं महत् ॥ २ ॥ अजस्तिलोत्तमाचित्तः श्रीरतः श्रीपतिः स्मृतः । अर्घनारीश्वरः शम्भुस्तयाप्येषु किल्ठाप्तता ॥ ३ ॥

आगे प्राणों की अवेक्षा अरहन्त का वर्णन करते हैं----

पंचवि इंदियपाणा मणवयकाएण तिण्णि बलपाणा। आणप्पाणप्पाणा आउगपाणेण होति दह पाणा।।३५॥ पञ्चापि इन्द्रियप्राणा मनोवचः कायैः त्रयो बलप्राणाः। आनपानप्राणाः आयुष्कप्राणेन भवन्ति दश प्राणाः।।३५॥ (पंच वि इंदियपाणा) इंद्रियप्राणाः पञ्च भवन्ति। (मणवयकाएण तिण्णि बलपाणा) मनोवचः-कार्यबेलप्राणास्त्रयो भवन्ति। (आणप्पाणप्राणा)

अग्हन्त भगवान ऊपर कही हुई आहार आदि छह पर्याप्तियों के गुणसे समृढ हैं — संयुक्त हैं तथा उत्तम देव हैं । हरिहर ब्रह्मा आदि उत्तम-देव नहीं हैं क्योंकि उनमें दोषोंका सदमाव है । जैसा कि कहा है—

दुहिणा— ब्रह्मा, विष्णु, महेश बुद्ध तथा सूर्य आदि देव यदि राग आदिके आधार हैं अर्थात् इनमें यदि राग आदि दोष पाये जाते हैं तो उनमें आप्तपना कैसे हो सकता है ?

्रागादि—इन सबमें राग आदि दोषोंका सद्भाव उनके शास्त्रों से जानने योग्य है क्योंकि दूसरे के अविद्यमान दोष के ग्रहण करने में महान पाप है ।

अजस्—ब्रह्मा का चित्त तिलोत्तमा में लगा था, विष्णु लक्ष्मो में आसक्त थे और बम्भु अर्धनारीव्वर थे फिर भी इनमें आप्तपना है---इन्हें आप्त माना जाता है यह आक्ष्चर्य की बात है ॥३४॥

गायार्थ-पाँच इन्द्रिय प्राण, मन, वचन और कायके भेदसे तोन बल प्राण, क्वासोच्छ्वास प्राण तथा आयुप्राण ये दश प्राण हैं। अरहन्त के ये दशों प्राण होते हैं।।३५॥ आनप्राणप्राणा उच्छ्यासनिःस्वासलम्प्रण एकः प्राणः । (आउगपाणेण होति दह-पाणा) आयुकप्राणेन क्वत्वा दद्य प्राणा भवन्ति । यथा चायुःशब्दः सान्तो नपुंसक-लिंगे वतंते तथा आयु इत्युकारान्तोऽपि नपुंसके वतंते । एवं दश प्राणा भवन्तीति झातव्यम् ॥ ३५ ॥

आगे जीवस्थान की अपेक्षा अरहन्तका वर्णन करते हैं----

मणुयभवे पींचविय जीवट्ठाणेसु होइ चउदसमें। एदे गुणगणजुत्तो गुणमारूढो हवह अरहो।।३६॥ मनुजभवे पञ्चेन्द्रियो जीवस्थानेषु भवति चतुर्दशे। एतद्गुणगणयुक्तो गुणमारूढो भवति अर्हनु॥३६॥

(मणुयभवे पंचिदिय) मनुजभवेऽर्हन् कथ्यते पञ्चनिद्रयोऽहंन्नुच्यते । (जीवट्ठाणेसु होइ चउदशमे) जीवस्थानेषु मध्ये चतुर्दशे स्थानेऽहंन् भवति ।

विशेषार्थ— इन्द्रिय प्राण पाँच हैं। मन-वचन-कायके मेदस बल प्राण तीन होते हैं। क्वास का खोंचना और छोड़ना यह आनप्राण नामका प्राण है। इन सबको आयुप्राण के साथ मिलाने पर दश प्राण होते हैं। जिस प्रकार सकारान्त आयुष् शब्द नपु सक लिङ्कमें विद्यमान है उसो प्रकार 'आयु' यह उकारान्त शब्द भी नपु सक लिङ्कमें विद्यमान है। इस प्रकार अरहन्त के दश प्राण होते हैं, यह जानना चाहिये।। ३५ ।।

गाथार्थ— 'जीवस्थान की अपेक्षा अरहन्त, पञ्चेन्द्रिय मनुष्य कहलाते हैं । अरहन्त पद चौदहवें जीवस्थान-गुणस्थान में भी होता है । इन सब गुणों के समूह से युक्त मनुष्य जब तक गुणस्थानों में आरूढ़ रहता है तब तक अरहन्त कहलाता है, गुणस्थानों से पार होने पर सिद्ध कहलाता है । ३६ ॥

विशेषार्थ—मनुष्य भव में ही अरहन्त कहलाता है और वह भो पञ्चेन्द्रिय ही। जीवस्थान के जो चौदह भेद पहले बताये गये हैं उनमें से चौदहवें जीवस्थान में भी अरहन्त होता है। अर्थात् तेरहवें गुणस्थान में विद्यमान सयोगकेवली तो अरहन्त हैं ही चौदहवें गुणस्थान—वर्ती

मनुष्यभवे पठ्ठचेन्द्रियजीवे चतुर्दशमं गुणस्थानं भवति । एतैगुं णगणैः समूहैः युक्तो गुणं आक्ढोऽह्तंनु भवति (स × टी) ।

इस गांधाका अर्थं पण्डित जयचन्द्र जी की वचनिकामें अन्य प्रकार किया गया है।

अयोगकेवल्यप्यहेन् भवतीति भावः । (एदे गुणागणजुत्तो) एतद्गुणगणयुक्तः । (गुणामारूढो हवद्द अरहो) गुणस्थानमारुढोऽहंन् भवति गुणस्थानात्परतः सिद्ध उच्यते इति भावः ॥ ३६ ॥

आगे द्रव्य की अपेक्षा अरहन्त का वर्णन करते हैं—

जरवाहिदुक्खरहियं आहारणिहारवज्जियं विमलं । सिंहाण खेल सेओ णत्थि दुगंछा य दोसो य ॥३७॥ जराव्याधिदुःखरहितः आहारनोहारवर्जितो विमलः । सिंहाणः खेलः स्वेदो नास्ति दुर्गन्धरुच दोषश्च ॥३७॥

(जरवाहिटुक्स् रहियं) जरारहितो व्याघिरहितः ज्ञारीरमानसागन्तुटु.स-रहितोऽहंन् भवति । प्राकृते लिङ्गभेदत्वात् जरवाहिटुक्स्वरहियं इति नपुंस्कलिङ्ग-

अयोग--केवली भी अरहन्त होते हैं। इन सब गुणोंके समूह से युक्त मनुष्य यदि गुणस्थान में आरूढ है अर्थात् तेरहवें चौदहवें गुणस्थान में विद्यमान है तो अरहन्त होता है और यदि गुणस्थानोंसे परे हो गया है तो सिद्ध कहलाने लगता है।

[श्री पं॰ जयचन्द्र छावड़ा ने इस गाथाका अर्थ यों किया है----

वर्ष्य---'मनुष्य भव विर्षे पञ्चीन्द्रय नामा चौदमां जीवस्थान कहिये जोवसमास ता विर्षे इतने गुणनि के समूह करि युक्त तेरहमें गुणस्थान कू प्राप्त अरहंत होय है ।

भावार्थ---जीव समास चौदह कहे हैं एकेन्द्रिय सूक्ष्म, वादर, २ बे इन्द्रिय तेइन्द्रिय चौइन्द्रिय ऐसे विकलत्रय ३, पञ्च्चेन्द्रिय असैनी, सैनी २ ऐसें सात भये ते पर्याप्त अपर्याप्त करि चौदह भये तिनि में चौदहमां सैनी पर्ब्वोन्द्रिय जीवस्थान अरहन्त के है। गाथा में सैनो का नाम न लिया अर मनुष्य भवका नाम लिया सो मनुष्य सैनो ही होय है, असैनी न होय तातें मनुष्य कहने तें सैनी ही जानना ॥३६॥]

गायार्थ---अरहन्त भगवान बुढापा व्याघि और दुःख से रहित हैं, आहार और नीहारसे रहित हैं, मल-रहित हैं। अरहन्त भगवानमें नाक का मल, यूक, पसीना, ग्लानि उत्पन्न करने वाली घृणित वस्तु तथा वात वित्त कफ आदि दोष नहीं हैं।।३७॥

विशेषार्थ-अरहन्त भगवान बुढापा से रहित हैं, श्वास कास आदि बीमारियों से रहित हैं, शारीरिक मानसिक और आगन्तुक दुःखों से निर्वेशो ज्ञातव्यः, एवमुत्तरत्रापि । (आहारणिहारवज्जियं) आहारनिहारवर्जित. कवलाहाररहितोऽईन भवति नीहार-रहितो बहिर्भूमिवाघारहितः । अन्तेन वाक्येन श्वेतपटमतं निराकृतम् । (विमलं) शरीरे मलमहुंतो न भवति । (सिंहाण खेल सेओ) सिंहाणः नासायां मलो न भवति । खेलो निष्ठीवनमर्हति नास्ति, स्वेदश्च शरीरे प्रस्वेदोऽर्हति न वर्तते । (णस्थि दुगंछा य दोसो य) अन्यदपि जुगुप्सा-हेतुभूतं किमपि पिटकादिकं अर्हति न वर्तते दोषश्च वात्तित्तइलेप्माणोऽहंनि न वर्तन्ते ॥३७॥

दस पाणा पज्जत्ती अट्ठसहस्सा य लक्खणा भणिया । गोखोरसंखधवलं मंसं रुहिरं च सब्वंगे ॥३८॥

दश प्राणाः पर्याप्तयोऽऽटाधिकसहस्राणि च लक्षणानि भणितानि । गोक्षोरराङ्ख्यधवलं मानं रुधिरं च स्पर्वाङ्ग ३८॥ (द पाणा पज्जत्तो) दश प्राणाः पूर्वोक्तरुक्षणा अर्हति भवन्ति, षट् ध्यप्ति-यक्ष्वाईति भवन्ति । (अट्रसहस्सा य लक्ष्खणा भणिया) अष्टाधिक सहस्रमेकं

रहित हैं। प्राकृत में लिङ्ग भेद होने से 'जरवाहि दुक्खरहियं, यहाँ नपुं-सकलिङ्गुका निर्देश जानना चाहिये। इसो प्रकार का लिङ्ग भेद आगे भी जानना चाहिये। अरहन्त भगवान आहार और निहार से रहित हैं अर्थात् उनके कवलाहार नहीं होता और न नोहार--मलमूत्र की वाधा होती है। इस वाक्य से व्वेताम्बर मतका निराकरण हो जाता है। अरहन्त के शरीर में मैल नहीं होता है। नाकका मल, थूक तथा पसाना उनके शरीर में नहीं होता है। इसके सिवाय ग्लानि के कारण भूत अन्य पात्र आदि भी अरहन्त के नहीं होते हैं। वात पित्त और कफ ये दोय भी अरहन्त में नहीं होता है। इसके सिवाय ग्लानि के कारण भूत अन्य पात्र आदि भी अरहन्त के नहीं होते हैं। वात पित्त और कफ ये दोय भी अरहन्त में नहीं रहते हैं।। इसा

गाथार्थ----अरहन्त भगवान के दश प्राण, छह पर्याप्तियाँ और एक हजार आठ रुक्षण कहे गये हैं। उनके समस्त शरीर में गाय के दूध और शङ्ख के समान सफेद मांस और इविर होता है।।३८॥

विशेषार्थ---अरहन्त भगवान के पाँच इन्द्रिय, तोन बल, आयु और श्वासांच्छवास इस प्रकार दश प्राण, आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासांच्छ-वास, भाषा और मन ये छह (यॉप्तियाँ तथा एक हजार आठ लक्षण कहे गये हैं। इन एक हजार आठ लक्षणों में तिल मसक आदि नौ सौ रुक्षणानां भणितम् । तत्र नवशतानि तिरुमसकादीनि व्यञ्ज्वनानि भवन्ति, अष्टाघिकं शतं रुक्षणानां भवति । तथा चोक्तम्—-

> ⁹प्रसिद्धाष्टसहस्रेद्धलक्षणं त्वां गिरां पतिम् । नाम्नामष्टसहस्रेगतोष्टुमोऽभीष्टसिद्धये ॥१॥

तेषां लक्षणानां मध्ये कानिचिटुच्यन्ते । तथाहि--श्रीवृक्षः, शङ्खः, अब्जं, स्वस्तिकः, अंकुशः, तोरणं, चामरं, श्वेतच्छत्रं, सिंहासनं, ब्वजः, झषौ, कुम्भौः, कूर्मः, चक्रं, समुद्रः, सरोवरं, विमानं, भवनं, नागः, नर-नार्यौ, सिंहः, वाणः, धनुः, मेरुः, इन्द्रः, गङ्गा, पुर, गोपुरं, चन्द्रसूर्यौ, जात्यश्वः, व्यंजनं, वेणुः, वीणा, मृदङ्गः, सजौ, पट्टांशुकं, आपणः, कुण्डलादीनि विचित्राभरण्यनि, उद्यानं फलिनं, सुपक्वकल्फ्सक्षेत्रं, रत्न द्वीपः, वज्जं, मही, लक्ष्मीः, सरस्वती, सुरभिः, सौरभेयः, चूडारत्नं, महानिधिः, कल्पवल्ली, हिरण्यं जम्बूवृक्षः, गरुडः, नक्षत्राणि, तारकाः, सौधः, ग्रहाः, सिद्धार्थपादषाः, प्रातिहार्याणि, मङ्गलानि एवमादीनि अष्टोत्तरं शतं लक्षणानि । (गोस्नोर संस घवलं) गोक्षीरवच्छ्वह्वघवलमुज्ज्वलं । (मसं रुहिरं च सव्यंये) मासं गोक्षीर वद्धवलं, रुघिरं गोक्षीर वद्धवलं सर्वाङ्गे सर्वीस्मन् शरोरे ।।३८॥

व्यञ्जन होते हैं और एक सौ आठ लक्षण होते हैं। जैसा कि कहा गया है—-

प्रसिद्धाख्ट—हे भगवन् ! आपके एक हजार आठ देदीप्यमान रुक्षण प्रसिद्ध हैं तथा आप वचनों के स्वामी हैं । अभीष्ट सिद्धि के लिये हम एक हजार आठ नामोंके द्वारा आपकी स्तुति करते हैं ।

उन रुक्षणों के मध्यमें कुछ रुक्षण कहे जाते हैं। जैसे श्रीवृक्ष, शङ्खः कमल, स्वस्तिक, अंकुदा, तारण, चामर, सफेदछत्र, सिंहासन, ध्वजा, दो मोन, दो कलश, कछुआ चक, समुद्र, सरोवर, विमान, भवन, नाग, स्त्रोपुरुषका युगल, सिंह, वाण, धनुष, मेरु, इन्द्र, गङ्गा, पुर, गोपुर, चन्द्रमा और सूर्य, कुलोन घोड़ा, पङ्खा, वांसुरी, वोणा, मृदर्ङ्ग, दो मालार्ये पाटका वस्त्र, दुकान, कुण्डल आदि नाना आभूषण, फला हुआ बगीचा, पक्षे धान का खेत, रत्नद्वोप, वज्ज, पृथिवी, लक्ष्मी, सरस्वती, कामधेनु, बैल, चूडामणि, महानिधि, कल्वलता, सुवर्ण, जम्बूबुक्ष, गरुड़, नक्षत्र, तारा, पक्का महल, ग्रह, सिद्धार्थवृक्ष, प्रातिहार्य और मङ्गलद्रव्य इत्याद एकसौ आठ लक्षण होते हैं। भगवान के समस्त शरोर में गाय के दूध और शङ्ख के समान सफेद मांस और छघिर रहता है। 132।

१. महापुराणान्तर्गते सहस्रनामस्तोत्रे ।

षट्प्राभृते

एरिसगुर्णेहि सव्वं अइसयवंतं सुपरिमलामोयं । ओरालियं च कायं णायव्वं अरहपुरिसस्स ॥३९॥

ईदृशगुणैः सर्वः अतिशयवान् सुपरिमलामोदः ।

औदारिकश्च कायः ज्ञातव्यः अर्हत्रुरुषस्य ॥३९॥

(एरिसगुणोहि सब्वं) ईदृशगुणैः संयुक्तः सर्वः कायोऽह्त्पुरुषस्य झातव्य इति सम्बन्वः । (अइसयवंतं सुपरिमलामोयं) अतिशायवान् सुष्ठु अतिशयेन परि-मलेन विमर्दोत्यगन्धेन कर्पु रादिना सदृश आमोदो गन्धविशेषो यत्र काये स सुप-रिमलामोदः । (ओरालियं च कार्य) परमौदारिकः कायः शरीरमहत्पुरुषस्य भवति स्थिरः स्यूलरूपरचक्षुर्गम्य औदारिक उच्यते । (णायव्यं अरहपुरिसस्स) झातव्यो वेदितव्यः कायोऽर्हत्पुरुषस्य श्रीमद्भगवदर्हत्सर्वज्ञवीतरागस्य शरीरं झातव्यमित्यर्थः ॥३९॥

आगे भाव-निक्षेप की अपेक्षा अरहन्त का वर्णन करते हैं----

मयरायदोसरहिओ कसायमलवज्जिओ य सुविसुद्धो । चित्तपरिणामरहिदो केवलभावे मुणेयव्वो ॥४०॥ मदरागदोषरहितः कषायमलर्वाजतत्त्व सुविशुद्धः ।

चित्तपरिणामरहितः केवलभावे ज्ञातव्यः ॥४०॥

गाथार्थ-अरहंत भगवान का औदारिक शरोर ऐसे गुणोंसे युक्त, अतिशयों से सहित और उत्तम सुगन्धि से परिपूर्ण जानना चाहिये। द्रव्य-निक्षेप की अपेक्षा उक्त गुणविशिष्ट औदारिक शरोर ही अर-हन्त हैं॥३९॥

विशेषार्थ—श्रीमान् भगवान् अरहन्त सर्वंज्ञ वीतराग देवका परमो-दारिक शरीर पूर्वोक्त गुणोंसे संयुक्त, अतिशयों से सहित तथा संमर्दन-मोड़ने से उत्पन्न होने वाली कपूर आदि के समान उत्तम गन्ध से परिपूर्ण जानना चाहिये। उनका यह शरीर स्थिर, स्थूलरूप तथा नेत्रोंके द्वारा गम्य होता है ----दिखाई देता है।

[३७,३८ और ३९ वीं गाथा में अरहन्त भगवान के शरीर का वर्णन किया गया है। यहां द्रव्यनिक्षेप की अपेक्षा शरीर को ही अरहन्त कहा है।]।।३९।।

गायार्थ—भाव-निक्षेप की अपेक्षा अरहन्त भगवान् को मदरहित, राग–रहित, दोष-रहित, कषाय⊶रहित, नो-कषाय--रहित अतिशय विशुद्ध, मनोब्यापार--रहित और क्षायिक भावोंसे युक्त जानना चहिये । (मयरायदोसरहिओ) मदरहितो रागरहितो दोषरहितः । (कषायमल-बज्जिओ य सुविसुद्धो) कषायाः क्रोघमानमायाओभाः, मला हास्यरत्यरति--शोक-भयजुगुप्सास्त्रीपुन्नपुं सक-लक्षणा नोकषायास्तैर्वजितो रहितः, सुविशुद्धः झान्त-मूर्तिः । (्चित्तपरिणामरहिदो) मनो--व्यापार रहितः । (केवलभावे मुणेधस्वो) सायिकभावे मुनितग्यो (१) ज्ञातव्योऽहंन्तिति ॥४०॥

सम्महंसणि पस्सइ जाणदि णाणेण दव्वपज्जाया । सम्मत्तगुणविसुद्धो भावो अरहस्स णायव्वो॥४१॥

सम्यग्दर्शनेन पश्यति जानाति ज्ञानेन द्रव्यपर्यायान् ।

सम्यम्तवगुणविशुद्धो भावः अर्हतः ज्ञातव्यः ॥ ४१॥

(सम्मद्सणि पस्सइ) सम्यग्दर्शनेन पश्यति सम्यङ्निस्तुषतया दर्शनेन सत्तारूपलक्षणेन पश्यति वस्तुस्वरूपं गृह्णति । (जाणदि णाणेणे दव्यपज्जाया) जानाति ज्ञानेन केवलज्ञानेन विशेषगोचरेण साकाररूपेण सम्यग्जानाति द्रव्याणि जीवपुद्गलघर्माधर्मकालाकाशलक्षणानि । (सम्मत्त गुणविसुद्धो) सम्यक्त्वगुणेन

विशेषार्थ---अरहन्त भगवान ज्ञान आदि आठ मदोंने रहित हैं, ममता परिणाम रूप रागसे रहित हैं, क्षुधा तृष्णा आदि अठारह दोषोंस रहित हैं, कोध मान मापा लोभ रूप कषायों तथा हास्य रति अरति शोक भय जुगुप्सा स्त्रीवेद पुरुषदेद नपु सक वेद रूप नो-कषायों से रहित हैं, अत्यन्त विशुद्ध-शान्तमूर्ति हैं, मनके व्यापार से रहित हैं और केवलज्ञान आदि क्षायिकभावोंसे युक्त हैं, ऐसा जानना चाहिये ॥४०॥

गाधार्थ — जो केवलदर्शन के द्वारा समस्त द्रव्य और उनकी पर्यायों को अच्छी तरह देखता है, केवलज्ञान के द्वारा उन्हें भलीभांति जानता है, तथा सम्यक्त्व गुणसे विशुद्ध है। उस आत्माको हो अरहन्त का भाव-स्वरूप जानना चाहिये अथवा भाव निक्षेप की अपेक्षा वह आत्मा हो अरहन्त है, ऐसा जानना चाहिये ॥४६॥

विशेषार्थ—जो सत्ता मात्र रूप पदार्थ को ग्रहण करने वाले दर्शन— केवल दर्शन गुण के द्वारा निष्तुषरूपसे—निमल रूपसे वस्तु—स्वरूपको ग्रहण करता है, जो विशेषको ग्रहण करने वाले साकाररूप केवलज्ञान के द्वारा जोव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश द्रव्यों को अच्छी तरह जानता है और क्षायिक सम्यग्दर्शन से जो विशुद्ध है-निर्मल है शायिकसम्यक्त्वेन विशुद्धो निमंऌः । (भावो अरहस्स णायम्बो) भावः स्वरूपः अहंतः सर्वन्नस्य ज्ञातव्यो वेदितव्यः ॥४१॥

अरहंत----इति श्री बोधप्राभृतेऽहंदधिकारो दशमः समाप्तः ॥१०॥

अब आगे श्रीकुन्दफुन्दाचार्य सत्तरह गाथाओं द्वारा प्रव्रज्या—दीक्षाके स्वरूप-का निरूपण करते हैं---

सुण्णहरे तरुहिट्ठे उज्जाणे तह मसाणवासे वा । गिरिगुहविरिसिहरे वा भोमवर्गे अहव वसिते वा ।।४२।।

शून्यगृहे तरुमूले उद्याने तथा इमशानवासे वा । गिरिगुहागिन्धिखरे वा भीमवने अथवा वसती वा ॥४२॥

(सुण्णहरे तरुहिट्ठे) शून्यगृहे निवासः कर्तव्यः प्रव्रज्यावतेत्युपस्कारः । तरुहिट्ठे-वृक्षमूले स्थातव्यम् (उज्जाणे) उद्याने कृत्रिमवने स्थातव्यम् । (तह मसाणवासे वा) तथा श्मशानवासे वा पितृवनस्थाने स्थातव्यम् । (गिरिगुहगिरि-सिंहरे वा) गिरिगुह गिरेर्गुहायां स्थातव्यम्, गिरिशिखरे वा पर्वतोपरि स्थातव्यम् । (भीमवणे अहव वसिते वा) भीमवने भयानकायामटव्यां स्थातव्यम् । अथवा वसिते वा ग्रामनगरादी वा स्थातव्यं, नगरे पञ्चरात्रे स्थातव्यं, ग्रामे विशेषेण न स्थातव्यम् ॥ ४२ ॥

वह आत्मा हो अरहन्त सर्वज्ञ देवका भाव स्वरूप है अथवा भावनिक्षेप से वह आत्मा ही अरहन्त है, ऐमा जानना चाहिये ॥ ४१ ॥

इस प्रकार बोधप्राभृतमें अर्हदधिकार नामका दशवाँ अधिकार समाप्त हुआ ।। १० ॥

गायार्थ-दीक्षा के धारक मुनिको शून्यघर में, वृक्षके मूलमें, उद्यान-में, ब्मज्ञानमें, पर्वंत की गुफा में, पर्वतकी शिखर पर, भयंकर वनमें अयवा वसतिका में निवास करना चाहिये । ४२ ॥

विशेषार्थ---गाया में 'प्रव्रज्यावता निवासः कर्तव्यः' इन पदोंका ऊपर से सम्बन्ध मिलाना चाहिये। इस तरह गाथाका यह अर्थ हुआ कि प्रव्रज्या----दीक्षा के धारक मुनिको शून्यगृह में-----स्वामिहीन उजड़े मकान-में, वृक्षके नीचे, उद्यान----क्वत्रिमवन-बगीचा में, इमशानवास-मरघट में, पर्वंत की गुफा में, अथवा पर्वंत की शिखर पर, भयानक अटवी में, अथवा वसतिकामें-नगरके बाहर बने हुए मठ आदिमें या ग्राम नगर आदिमें रहना चाहिये नगरमें मुनिको पाँच रात तक रहना चाहिये। ग्राममें अधिक निवास न करना चाहिये ॥ ४२ ॥

208

स्ववशाः सत्वं तीर्थं वचःचैत्यालयश्व उक्तैः।

जिनभवनं अथ⁹ वेध्यं जिनमार्गे जिनवरा विदन्ति ॥४३॥ (सबसा सत्तं तित्थं) एते प्रदेशाः स्वव्धाः पराधीनत्वरहिताः स्वाध्याय-घ्यानयोग्याः । तत्र स्थित्वा कि कर्तव्यमित्याह-सत्त -छिद्यमाने भिद्यमानेऽपि ज्ञत-

विशेषार्थ - ४२ वों गाथा में सून्य घर आदि स्थानों में मुनियों को निवास करने का आदेश दिया गया है, उसका कारण बताते हुए कहते हैं कि ये प्रदेश स्ववश हैं पराधोनता से रहित हैं, मुनिके स्वाध्याय और अध्ययन के योग्य हैं। इस गाथा में कहते हैं कि उक्त स्थानों में स्थित रह कर क्या करना चाहिये ? मुनियोंको उक्त स्थानों में स्थित रह कर क्या करना चाहिये ? मुनियोंको उक्त स्थानों में स्थित रह कर क्या करना चाहिये ? मुनियोंको उक्त स्थानों में स्थित रह कर क्या करना चाहिये ? मुनियोंको उक्त स्थानों में स्थित रह कर क्या करना चाहिये ! अब सत्व आदि का स्वरूप स्पष्ट करते हैं-अपने शरीर के छिदजाने भिदजाने अथवा सौ टुकड़े किये जाने पर भो व्रतको खण्डित नहीं करना, चारित्र को निश्चल रखना और ब्रह्मनर्य की रक्षा रखना हमारा कर्तव्य है, इस प्रकारके साहस को सत्व कहते हैं। द्वादशाङ्ग को तीर्थ कहते हैं अथवा ऊर्णयन्त-गिरनार आदि क्षेत्र तीर्थ कहलाते हैं । ³वचश्चेत्यालय का अर्थ परमागम, शब्दागम और

- अहरोज्झं ग०। (अहव उज्झ त्थाज्यं विति कथयन्ति, यत् स सर्वेरपि कुमतिकैः आसक्तं व्याप्तं) ग० टि०
- २. पं० जयचन्द्रजी ने 'वच चइदा लत्त्यं च' की छाया 'वचक्चेंत्यालत्रिकं च' मानकर ऐसा अर्थ किया है— 'वहुरि वच, चेंत्य, आलय ऐसा त्रिक जे पूर्व उक्त कहिये आयतन आदिक परमार्थरूप, संयमी मुनि अरहन्त सिद्ध स्वरूप तिनिका नामके अक्षर रूप मन्त्र तथा तिनिकी आज्ञा रूप वाणी सो तो वच, अर तिमिके आकार घातु पाषाण की प्रतिमा स्थापन सो चेंत्य, अर सो प्रतिमा तथा अक्षर मंत्र वाणी जामें स्थापिये ऐसा आलय मन्दिर यन्त्र पुस्तक ऐसा वच चेंत्य आलय का त्रिक'।

षट्प्राभृते

खण्डं क्रियमाणेऽपि निजवारीरे सत्वमखण्डितव्रतत्वं निश्वलचारित्रं ब्रह्मचयंत्वं रक्षणीयमिति सत्वं साहसः वैध्यं भवति, तथा तीर्थं द्वादशाङ्गं ऊर्जयन्तादिर्वा वेष्यं घ्यानीयं घ्यातव्यं ज्ञातव्यम् । (वच चइदालत्तयं च बुत्तेहिं) वचर्व्यत्या-लयदच परमागम—राव्दागमयुक्त्यागमपुस्तकं च वेष्ठ्यं घ्यातव्यं भवति । तथा चोक्तं—

वारह अंगंगिज्जा दंसणतिलया चरित्त वच्छहरा।

चउदस पुब्बाहरणा ठावेदव्वा य मुअदेवी ॥

उक्तै-जिनवचनप्रमाणतया । (जिणभवणं अहवेज्जं) जिणभवनं जिनचैत्या-लयः, अयं मंगलभूतं सर्वभव्यजोवमङ्गलकरं क्वत्रिममाक्वत्रिम च वेघ्यं व्यातव्यम् । तथा चोक्तं नेमिचन्द्रेण चामुण्डरायराजमल्ल-देवगुरुणा विलोकसारग्रन्थे -

भवर्णाव्यतरजोइस विमाणणरतिरियलोय जिणमवणे । सम्वामरिदणरवद्द संपूजिय बंदिए बदे ।। सर्वक्रित्रमचैत्यालयसंख्यापरिझानार्गं श्वी पुज्यदेवरार्यां बक्रे—

युक्त्यागम रूप जिन शास्त्र है। (सिद्धान्त शास्त्रको परमागम, व्याकरण साहित्यको शब्दागम और न्यायशास्त्र को युक्त्यागम कहते हैं।) जैसा कि कहा है—

वारह—ढादशाङ्क जिसका शरीर है, सम्यग्दर्शन जिसका तिलक है, चारित्र जिसका वस्त्र है, और चौदह पूर्व जिसके आभरण हैं, ऐसी श्रुत देवीकी स्थापना करना चाहिये ।

जिनभवन शब्द से मज्झलभूत तथा समस्त भव्य जोवोंका मज्झल करने वाले कृत्रिम अकृत्रिम चैत्यालय समझना चाहिये। जिन वचन प्रमाण हैं और उनमें अकृत्रिम चैत्यालयोंका वर्णन है इसलिये वर्तमान में दृष्टि-गोचर न होते हुए भी उनका अस्तित्व स्वीकार्यं है जैसा कि चामु-ण्डराय और राजमल्ल देवके गुरु नेमिचन्द्राचार्यं ने त्रिलोकसार ग्रन्थ में कहा है---

भवण—भवन-वासी, व्यन्तर, ज्योतिषी, वैमानिक देव तथा निर-तियंग्लोक-मध्यलोक में समस्त इन्द्रों और राजाओंके द्वारा पूजित और वंदित जो जिनभवन हैं, मैं उनकी वन्दना करता हूँ ।

समस्त अक्रुत्रिम चैत्यालयों की संख्याका परिज्ञान करानेके लिये श्री पूज्यपाद स्वामीने आर्या छन्द लिखा है---- नवनवचतुःशतानि च सप्त च नवतिः सहस्रागुणिता षट् च । पंचाशत्यञ्चवियत्प्रहताः पुनरत्र कोटयोऽष्टौ प्रोक्ताः ॥

अक्तत्रिम चैत्यालयानां संख्या यथा---एकाशीत्यधिक चत्वारि शतानि सप्त-नवतिसहस्राणि षट्पञ्च्याशरूक्षाणि अध्टौ कोटयो भवन्ति । एकैकचैत्यालयेऽष्टा-धिकं शतं प्रतिमानां भवति । तासां संख्या यथा----

> णवकोडिसया पणवीसा लक्सा तेवण्ण सहससगवीसा। नवतिसय तह अडयाला जिणपडिम अकिट्रिमं वंदे।।

नवशतकोटयः पंचविंशति कोटयश्च 'त्रिशाल्लक्षा सप्तविंशतिसहस्नाध्च-त्वारि शतानि अष्टचत्वारिशदविकानि भवन्ति । ज्योतिषां व्यन्तराणां च चैत्या-लयानां संख्या नास्ति । (जिणमग्गे जिणवरा विति) जिनमार्गे जिनशासने जिन-वरा विदन्ति जानन्ति । सरवं, तीथं, शास्त्रं, पुस्तकं, जिनभवनं, प्रतिमाध्च एत-रसर्व वेष्यं मुनीनां श्रावकाणां च सम्यादृष्टोनां वेष्यं ष्यानावलम्बनीयं वस्त्वह्रीन्तः कथयन्ति । तद्ये न मानयन्ति ते मिथ्यादृष्टयो भवन्तीति भावार्थः ।। ४३ ॥

पंचमहव्ययजुत्ता पंचिवियसंजया णिरावेक्खा । सज्झायझाणजुत्ता मुणिवरवसहा णिइच्छन्ति ॥ ४४ ॥ पश्चमहाब्रतयुक्ता पञ्चेन्द्रियसंयता निरपेक्षाः । स्वाध्यायध्यानयुक्ता मुनिवरवृषभा नोच्छन्ति ॥४४॥

नवनव—आठ करोड़ तिरेपन लाख संतानवे हजार चारसौ इक्यासी अक्रुत्रिम चैत्यालयों की संख्या है। एक एक चैत्यालय में एकसौ आठ, एकसो आठ प्रतिमाएँ होती हैं सब चैत्यालयोंकी प्रतिमाओं को संख्या इस प्रकार है---

णवकोडि—नौ सौ पच्चोस करोड़ छप्पन लाख सत्ताईस हजार चार सौ अड़तालीस । ज्योतिषो और व्यन्तर देवोंके चैत्यालयोंकी संख्या नहीं है क्योंकि उनके यहाँ असंख्यात चैत्यालय आगममें बतलाये हैं। जिन-मार्ग-जिनशासन में अरहन्त देव ऐसा कहते हैं कि सत्व, तीर्थ, शास्त्र, पुस्तक, जिनभवन और जिन प्रतिमा ये सब, मुनियों, श्रावकों और अविरत सम्यग्दृष्टि जोवोंके ध्यानके आलम्बन हैं अर्थात् वे इनका ध्यान करते हैं। जो इन्हें नहीं मानते हैं वे मिथ्यादृष्टि हैं। ४३॥

गाधार्थ--जो पांच महाव़तोंसे सहित हैं, जिन्होंने पांच इन्द्रियोंको बग्न कर लिया है, जो प्रत्युपकार की वाञ्छासे रहित हैं बीर को स्वा- (पंचमहत्वयजूत्ता) पञ्च्चमहाव्रतयुक्ताः पूर्वोक्तपञ्चमहाव्रतयुक्ताः सर्व-जीवदया-प्रतिपालका ऋषयः सत्यवचसोऽचौर्यवतधारिणः ब्रह्मचर्यव्रतोपेता निष्परि-ग्रहा 'आखत्रय-प्रायोग्य----परिग्रहपरित्यक्ता रजनिभोजनवर्जिन एतद्वेघ्यं वस्तु निश्चयेनेच्छन्ति मानयन्ति जिनवचनप्रमाण-कारित्वत् (पंचिदिय संजया णिरा-वेक्खा) पञ्चिन्द्रियाणि संयतानि बद्धानि निज-विषयेषु प्रवर्तितु व्यावृत्तानि निषिद्धानि यैस्ते पञ्चेन्द्रियसंयताः । निरपेक्षाः प्रत्युपकारवाञ्छारहिता भव्य-जीव----सम्बोधनपरा एतद् वेध्यं नीच्छन्ति । (सज्झाय झाणजुत्ता) स्वाध्याय-चयानयुक्ताः । स्वाध्यायः पञ्चप्रकारः, वाचना----क्रिष्याणां व्युत्पत्तिनिमित्तं शास्त्रार्थकयनं, पृच्छना अनुयोगकरणं, अनुप्रेक्षा---पठितस्य व्याकृत्य च शास्त्रस्य पुनक्ष्वेतसि चिन्तनम्, आम्नायः-शुद्धपठनं, धर्मोपदेशः---महापुराणादिशास्त्रस्य मुन्नोनां आवकादीनामग्रतो व्यास्यानिधानं । ध्यानं-आतंध्यानरौद्रध्यानद्वयं परि-

ध्याय तथा ध्यानसे सहित हैं, ऐसे श्रेष्ठ मुनिराज उपयुंक्त सत्व तीर्थ आदि वेध्योंकी अत्यन्त इच्छा करते हैं ।। ४४ ॥

विशेषार्थ—जो पहले कहे हुए पाँच महाव्रतों से सहित हैं अर्थात सब जीवोंको दया पालते हैं, सत्य बचन बोलते हैं, अचीर्यव्रतको धारण करते हैं, ब्रह्मचर्यव्रत से सहित हैं, निष्परिग्रह हैं, आस्रव के योग्य परिग्रह से रहित हैं और रात्रिभोजन के त्यागी हैं ऐसे ऋषि ध्यान करने योग्य सत्त्व तीर्थं आदि वस्तुओं को निश्चयसे मानते हैं क्योंकि वे जिनवचनको प्रमाण-भूत स्वीकृत करते हैं । जिन्होंने स्पर्शनादि पाँच इन्द्रियों को संयत कर लिया है अर्थात अपने अपने विषयों में प्रवृत्त होनेसे रोक लिया है तथा जो प्रत्युपकार की इच्छा से रहित हो भव्य जीवों के सम्बोधने में सदा तत्पर रहते हैं ऐसे ऋषि उक्त वेध्यों की अत्यधिक इच्छा रखते हैं। इसी प्रकार जो स्वाध्याय तथा ध्यान से युक्त हैं। स्वाध्याय पाँच प्रकारका होता है--१ वाचना, २ पृच्छना, ३ अनुप्रेक्षा, ४ आम्नाय और ५ धर्मोपदेश । शिष्यों की व्युत्पत्ति के लिये शास्त्रके अर्थका कथन करना वाचना है **।** अज्ञात वस्तुकों समझनेके लिये अथवा ज्ञात वस्तुको दृढ़ करनेके लिये प्रश्न पूछना पृच्छना है । पठित अथवा व्याख्यात शास्त्रका चित्तमें पुनः पुनः चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है। शुद्ध पाठ करना आम्नाय है और मनियों तथा श्रावकों के आगे महापूराणादि शास्त्रों का व्याख्यान करना

 अश्रवणप्रायोग्य क॰ म॰ क॰ प्रतौ अपि पश्चात् केनचित् आश्रवण इति मंशोषितम्

बोषप्राभृतम्

हूत्य धर्म्यंच्यानचुक्लघ्यालद्वये प्रवर्तनं विधिनिधेधरूपं । (मुणिवरवसहा णिइच्छंति) मुनिवरवृषभाः सर्वपाषण्डिम्योऽधिकश्रोष्ठाः सर्वलोक-प्रशंसनीयाः परमार्थयतयः दिगम्बरा नि--अतिशये नेज्छन्ति वेध्यं वाञ्छन्ति पुनः पुनरम्यासं कुर्वन्ति ॥४४॥

गिहगंथमोहमुक्का वावीसपरीसहा जियकसाया । पावारंभविमुक्का पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥४५॥ गृहग्रन्थमोहमुक्ता द्वाविंशतिपरीषहजितकषाया । पापारम्भविमुक्ता प्रबज्या ईदशी भणिता ॥४५॥

(गिहर्गथमोहमुक्का) गृहस्य निवासस्य, प्रन्थस्य परिप्रहस्य बाह्यस्य दश-प्रकारस्य मोहेन मुक्ता ममेदंभावरहिता प्रव्रज्या दीक्षा भवति । के ते दश बाह्य परिप्रहाः ? क्षेत्र संस्याधिकरणं । वास्तु गृहं । हिरण्यं रूप्य^२ द्रघ्यादि । सुवर्ण काञ्च्यनं । धनं गोमहिष्यादि । धान्यं त्रीह्यादि । दासो कर्मकरी । दासः पुंनपुंस-कवर्गः कर्मकर: । कुप्यं क्षौम-कार्पास-कौशेय-चन्दनागुर्वादि । चतुर्दशाम्यन्तरपरिग्रह-रहिता³ के ते चतुर्दशाम्यन्तरपरिग्रहाः ?

भर्मो ग्देश है। आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान को छोड़कर धर्म्यध्यान तथा शुक्लध्यान में प्रवृत्ति करना इस तरह विधि निषेध रूप ध्यान है। ऐसे दिगम्बर साधु, सब साधुओंसे अधिक श्रेष्ठ हैं, सब लोगों के द्वारा प्रशंस-नीय हैं तथा परमार्थं यति हैं---वास्तविक साधु हैं, वे इन वेध्यों-ध्यान-योग्य वस्तुओं की अतिशय इच्छा रखते हैं---बार बार इनका अभ्यास करते हैं ॥ ४४॥

गायार्थ-जो निवास स्थान और परिग्रह के माहसे रहित है, बाईस परीषहोंको जीतनेवाली है, कषायसे रहित है तथा पापके आरम्भ से अथवा पापपूर्ण खेती आदिके आरम्भ से मुक्त है ऐसी दीक्षा कही गई है ॥४५॥

विशेषार्थ—गृहग्रन्थमोहमुक्ता—गृह का अर्थ निवास-स्थान है, ग्रन्थ परिग्रह को कहते हैं, वह परिग्रह बाह्य और अभ्यम्तर के भेद से दो प्रकार का है। उनमें बाह्य परिग्रहके दश भेद हैं—१ क्षेत्र-जहाँ अनाज पैदा होता है, २ वास्तु-मकान, ३ हिरण्य-चांदी से निमित पदार्थ, ४ सुवर्ण-सोना ५ धन-गाय भेंस आदि, ६ धान्य-धान गेहूँ आदि अनाज ७ दासी-काम करने वाली स्त्री ८ दास कार्यं करने वाला पूरुष अथवा नपुंसकों

- २. रूपद्रम्मादि ४० म०। रूप्यदुमादि उ०।
- रहिता क० स॰ ग॰ घ॰ छ॰ म॰ ।

१. गरीसहाजि अकसाया म०।

मिथ्यालवेदौ हास्यादिषट् कषायचतुष्टयम् । रागद्वेषौ च सङ्गाः स्युरन्तरङ्गाश्चतुर्दंश ॥

षट्प्राभूते

(बावीसपरीसहजियकषाया) द्वाविश्वति-परिषहजित् प्रवज्या भवति । के ते द्वाविंशति परीषहाः ? क्षुघाजयः, पिपासा-तृषाजयः, शीतजयः उष्णजयः, दश-मशक सर्वोपघातसहनं, नग्नत्वसहनं, अरतिजयः, स्त्रीपरिषहजयः, चर्या-गमनं तस्य जयः, मिषधा-उपवेशनं तस्य जयः, शय्यासहनं, आक्रोशजयः, अनिष्टयचन-सहनं, वधसहनं, याचनसहनं —न किमपि याचते, अलाभसहनमन्तराय-सहनं रोगसहनं, तृणस्पर्शं सहनं, मलसहनं, लोचसहनं च, सत्कारपुरस्कारः-पूजाया

का वर्ग, ९ कुप्य-रेशमी सूती कोशा आदिके वस्त्र तथा १० चन्दन अगुरु आदि सुगन्धित पदार्थ । अभ्यन्तर परिग्रह के चौदह भेद हैं---

मिन्यात्व-मिध्यादर्शन, वेद हात्यादि छह नो-कषाय, कोघादि चार कषाय-राग और द्वेष ये चौदह अन्तरङ्ग परिग्रह हैं।

जिन दीक्षा, निवास स्थान और बाह्याभ्यन्तर भेदवाले चौबीस प्रकारके परिग्रह से रहित हैं । बाईस परीषहों को जीतने वाली है तथा कथाय से रहित हैं। वे बाईस परोषह कौन हैं ? इसके उत्तर में बाईस परोषहों के नाम गिनाते हैं-क्षुधाजय-भूखकी बाधाको जीतना, २ पिपासा-जय-प्यास की बाधाको जोतना, ३ शीतजय-शीतको बाधा को जीतना, ४. उष्णजय-गर्मी की बाधा को जोतना, ५ दंशमशक सर्वोपधात सहन-डांस मच्छर आदिके सब उपद्रव सहन करना, ६ नग्नत्व–सहन∽नग्न रह कर विकारीभाव नहीं लाना, ७ अरतिजय-अप्रीति को सहन करना, ८ स्त्रोपरिषहजय-स्त्रियों के द्वारा किये हुए हाव भाव आदि उपद्रवों के होते हुए निर्विकार रहना, ९ चर्या-पैदल चलनेका दुःख सहन करना, १० निषद्या-बहुत देर तक एक ही आसन से बैठने का दु:स सहन करना, ११ शय्या-कॅकरोली पथरीली शय्या पर शयन करने का दुःस सहन करना, १२ आक्रोश जय-अनिष्ट वचनोंको सहन करना, १३ वध सहन-मारपीट आदिका दुःख सहन करना, १४ याचन सहन–याचना नहीं करना, १५ अलाभ सहन–आहार आदि में अन्तराय आने पर दुःख नहीं करना, १६ रोग सहन--रोगोंकी पीड़ा सहन करना, १७ तृणस्पर्शसहन कौटे आदिका <u>दुःख सहन</u> करना, १८ मलसहन–लोचसहन∽शरीरपर *छ*गे हुए मलका सहन करना तथा केशलोंच का दुःख उठाना, १९ सत्कारपुरस्कार-पूजा न करने और सन्मान पूर्वक अग्रासन न देनेका दुःख सहन करना, २० प्रज्ञापरीषहजय-ज्ञानका गर्व दूर करना, २१ अज्ञानपरीषह जय-यह अकरणस्य सन्मानाप्रासनादानस्य च सहनं सत्कार-पुरस्कारजयः, प्रज्ञापरीपहजयो, ज्ञानमदनिरासः, अज्ञानोऽयमिति वचनसहनमज्ञानपरीषहजयः, अदर्शनपरीषहजयोः रुक्त्यभावसहनं । तथा चोक्तमुमास्त्रामिना---

क्षुप्तिपासाक्षीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्याक्रोशवघया चनाऽ-लाभरोगतुणस्पर्शमळसर्लारपुरस्कारप्रझाऽक्षानादर्शनानि ।

अकसाया—-कषायरहिता प्रवज्या भवति । (पावारंभ विमुक्का) पापारम्भ-विमुक्ता सेवाक्वविवाणिज्यादिपापारम्भस्तस्माद्विमुक्ता ।

एतेन किमुक्त भवति ? यद् द्राविडसंचा औनामासा वदन्ति तत्प्रत्युक्तम्----बोएसु परिच जीवो उज्मसणं पत्थि फासुगं कल्टि। सावज्जं ण हु मण्णइ ण गणइ गिह कष्पियं अट्ठ ॥ १॥ कच्छं सेतं वसहि वाणिज्जं कारिऊण जीवंतो। ण्हंतो सीयऌनीरे पावं पठरं समण्जेदि॥ २ ॥

(पम्बज्जा एरिसा भणिया) प्रव्रज्या---बीक्षा ईदृशी भणिता ।। ४५ ॥

अज्ञानो है, इस प्रकारके वचनोंका सहन करना, और २२ अदर्शन परीषह जय-ऋदि आदिके न होने पर भी गृहीत मार्गके प्रति अश्रद्धा न होने देना। जैसा कि उमास्वामी महाराज ने कहा है---

बोएसु →बोजों में जोव नहीं हैं, खड़े होकर भोजन करना आवश्यक नहीं है, प्रासुक का विकल्प नहीं है, सावद्य-पापपूर्ण कियाके त्यायको धर्म नहीं मानते, गृह कार्यों में जो आत्तंध्यान होता है वह नहीं गिना जाता, इसका निराकरण हो जाता है।

कड्छ —द्राविड संघोध जैनाभास कछ्वाड़ा, खेत, वसतिका तथा व्यापार कराकर जीवित रहते हैं, ठण्डे पानी में नहाते हैं, इस तरह प्रचुर यापका संबय करते हैं।

जिन-ज्ञासन में दीक्षा ऐसी कही गई है ॥४५॥

धणधण्णवत्थवाणं हिरण्णसयणासणाइ छत्ताइं। कुद्दाणविद्रहरहिया पव्वज्जा एरिसा भणिया।।४६॥

धनधान्यवस्त्रदानं हिरण्पशयनासनादि छत्रादि। कुदानविरहरहिता प्रव्रज्या ईद्शो भणिता॥४५॥

(घणघण्णवत्थदाणं) धनं गवादि, धान्यं गोधूमादि वस्त्रं पट्टाम्बरादि, एतेषां दानं विश्राणनं मुनयो न कुर्वन्ति । (हिरण्णसयणासणाइ छत्ताइ) हिरण्यं रूप्यक्षटितं नाणकं सुवर्णघटितं नाणकं ताम्ररूप्य मिश्र-घटितं नाणकं केवलताम्रादि-घटितं नाणकं हिरण्यमुच्यते, तद्दानं मुनयो न कुर्वन्ति । शयनं अष्टशल्या खट्वा पल्यक्ट्वः तद्दान मुनयो न कुर्वन्ति । आसनं पीठं आदिशब्दात् पट्लं, छत्रमातपत्रं आदिशब्दाद् ध्वजाचामरादिकं मुनयो न ददाति । (कुद्दाणविरहरहिया) कुत्सित-दानस्य विशेषेण रहस्त्यागस्तेन रहिता (पब्वज्जा एरिसा भणिया) प्रज्ञज्या दीक्षेदृधी भणिता श्रीगौतम-स्वामिना वीरेण तीर्थकृता प्रतिपादिता । इत्यनेन येऽनन्त-सरस्वती-नरसिंह---भारतो-वासुदेव-सरस्वती-प्रभृतयः सांन्यासिका अपि सन्तः कुत्सितानि दानानि ददति तन्मतं निराकृतमिति भावः ॥ ४६ ॥

गायार्थ--धन धान्य तथा वस्त्रका दान, चाँदी सोना आदिका सिक्का तथा शय्या आसन और छत्र आदि खोटी वस्तुओंके दानसे जो रहित है, ऐसी दीक्षा कही गई है।।४६।।

विश्लेषार्थ—गाय आदिको धन कहते हैं, गेहू आदि को धान्य कहते हैं, पाट आदि के वस्त्रको वस्त्र कहते हैं, मुनि इनका दान नहीं करते हैं । चौदी से बना सिक्का, सुवर्ण से बना सिक्का, ताम्बा और चाँदोके मेल से बना सिक्का और केवल ताम्बा आदिसे बना सिक्का हिरण्य कहलाता है, मुनि इनका दान नहीं करते हैं । आठ लकड़ियों को सलाकर बनाई हुई खाट तथा पलंग को शय्या कहते हैं, मुनि इसका दान नहीं करते हैं । पोठ तथा आदि शब्दसे पाटला आदिको आसन कहते हैं । घाम से रक्षा करने वाला छत्र तथा आदि शब्द से ध्वजा और चामर आदिका दान मुनि नहीं देते हैं । इस प्रकार जो उग्यु क्त खोटो वस्तुओंके नाना प्रकार-के दान से रहित हैं, वह दीक्षा है, ऐसा श्रो गौतम स्वामी तथा तीर्थंकर वीर भगवान ने कहा है । इस कथन से जो अनन्त सरस्वती नर्रीसंह, भारती, और वासुदेव सरस्वती आदि संन्यासी होते हुए भी कुस्सित दान देते हैं उनके मतका निराकरण हो जाता है ॥४६॥

सत्तूमित्ते व समा पसंसणिवा अलदिलदिसमा । तणकणए समभावा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥४७॥ शत्रुमित्रे च समा प्रशंसानिन्दाऽलब्धिलब्धिसमा । तृणकनके समभावा प्रव्रज्या ईदृशी भणिता ॥४७॥

(सत्तूमित्ते व समा) धत्रौ वैरिणि, मित्रे सुहुदि समा रागद्वेष-रहिता। (पसंसणिदा अलद्धिलदिसमा) प्रशंसायां गुणस्तुतौ, निन्दायामवर्णवादे, छब्धौ निरन्तराय-भोजने, अलम्धौ भोजनाद्यन्तराये च समा सद्द्व्शो प्रद्रज्या भवति। (तणकणए समभावा) तृणे कनके सुवर्णे च समभावा अनादरादर-रहिता। (पब्वज्जा एरिसा भणिया) प्रव्रज्या ईदृशो भणिता चिरन्तनाधार्येः प्रति-पादिता॥ ४७॥

उत्तममज्झिमगेहे दारिद्दे ईसरे णिरावेक्खा । सन्वत्य गिहिदर्पिडा पन्वज्जा एरिसा भणिया ॥४८॥

उत्तममध्यमगेहे दरिद्रे ईश्वरे निरपेक्षा । सर्वत्र गृहीतपिण्डा प्रव्रज्या ईदृशी भणिता ॥ ४८ ॥ (उत्तममज्झिमगेहे) उत्तमगृहे उत्तुङ्गतोरणादि-सहिते राजसदनादौ, मध्य-मगेहे नोचैगृंहे, तृणपर्णादिनिर्मिते, निरपेक्षा उचैगृंहं गच्छामि नीचैगृंहं अहं न

गावार्य—जो शत्रु और मित्र में सम है, प्रशंसा, निन्दा, अलाभ और लाम में सम है, तथा तृण और सुवर्ण में समभाव रखती है, ऐसी दोक्षा कही गई है ॥४७॥

विशेषार्थ—शत्रु और मित्र में जो सम है अर्थात् राग द्वेष से रहित है, प्रशंसा अर्थात् गुणों की स्तुति, निन्दा अर्थात् अवर्णवाद-मिष्यादोष कहना, लब्धि निरन्तराय भोजन होना और अलब्धि अर्थात् भोजन आदि में अन्तराय हो जाना इनमें जो सम है, तथा तृण और सुवर्ण में जो सम-भाव है—अनादर और आदर से रहित है, ऐसी जिनदीक्षा प्राचीन आचार्यों के द्वारा कही गई है ॥४७॥

गायार्थ—जो उत्तम मध्यम घरों एवं निर्धन और धनवान् के विषय में निरपेक्ष है, तथा जिसमें समस्त योग्य घरोंमें आहार ग्रहण किया जाता है ऐसी दीक्षा कही गई है ॥४८॥

 बजामि, न प्रविधामीत्पपेक्षा रहिता प्रवज्या भवति (दारिद्दे इसरे णिरावेक्सा) बरिप्रस्म निर्धनस्य गृहं न प्रविधामि, ईश्वरस्य धनवतो गृहे प्रविधाम्यहं निबेधे इत्यपेकारहिता प्रवज्या भवति । (सब्वत्य गिहिदर्पिडा) सर्वत्र योग्यगृहे गृहीत-पिण्डा स्वीक्टताहारा प्रवज्या ईदुधी भवति । कि तदयोग्यं गृहं यत्र भिक्षा न बुझाते इत्याह---

भायकस्य तकारस्य नीचकर्मोपकीविनः ।

मालिकस्य विलिङ्गस्य वेश्यायास्तैसिकस्य च ।। १ ।। अस्यायमर्थः----गायकस्य गन्धर्वस्य गृहे न भुज्यते । तलारस्य कोटपालस्य, नीचकर्मोपजीविनः चर्मजल्ह्याकटादेवहिकादेः श्रावकस्यापि गृहे न भुज्यते । मालि-कस्य पुष्पोपजीविनः, विलिङ्गस्य भरटस्य, वेश्याया गणिकायाः, तैस्निकस्य ²मांचिकस्य ।

> ³दीनस्य सूतिकायाश्च छिम्पकस्य विश्वेषसः । मचविकयिणो मद्यपायिसंसमिणस्य न ॥ २ ॥

मध्यम गृह हैं जो दीक्षा इनके विषय में निरपेक्ष रहती है अर्थात् साघु ऐसा विकल्प नहीं करता है कि मैं भिक्षा के लिये उच्चगृह में जाता हूँ और नीचगृह में प्रवेश नहीं करता हूँ। जो दीक्षा दारिदय और धन-सम्पन्नता के विषयमें निरपेक्ष रहती है अर्थात् कभी ऐसा अभिप्राय नहीं रखती है कि मैं भिक्षाके लिये दरिद्व-निर्धन के घर में प्रवेश नहीं करूँ और ईष्वर-धनाढध के घर में प्रवेश करूँ, जो समस्त योग्य गृहोंमें आहार करती है वह प्रवज्या-दोक्षा है।

प्रश्न---वह अयोग्य गृह कौन हैं जिनमें भिक्षा नहीं सी जाती है ?

उत्तर--गायक-गाने बजाने वाले गंधवं, तलार-कोटवार, नीचकर्मोप-जीवी, चमड़े की मझक से जल मरने वाले, मालिक-फूलोंका काम करने वाले, विलिंग-भरट-माड़ चलाने वाले, वेक्या और तैलिक--तेली के घर मुनि भिक्षा ग्रहण नहीं करते हैं॥१॥

- ९. वानिकस्य म० ।
- गीतिसारे इलानम्बिनः ।

१. नीतिसारे इन्द्रनन्दिनः ।

दीनस्य श्रावकोऽपि सन् यो दीनं भाषते । सूतिकायाः-या बालकानां जननं कारयति । अन्यरशुगमम् ।

> ⁹कोसिको ²मालिकध्वैव कुम्भकारस्तिलंतुदः । नापितश्वेति विज्ञेयाः पञ्च्वैते पञ्चकारवः ॥ ३ ॥ रजकस्तक्षकस्वैव अयःसुवर्णकारकः । दुषत्कारादयक्ष्वेति कारवो बहवः स्मृताः ॥ ४ ॥ क्रियते भोजनं गेहे यतिना मोक्तुमिच्छुना । एवमादिकमप्यन्यच्चिन्तनीयं स्वचेतसा ॥ ५ ॥ वरं स्वहस्तेन कृतः पाको नान्यत्र दुदुधाम् । मन्दिरे भोजनं यस्मात् सर्वसावद्यसंगमः ॥ ६ ॥

णिग्गंथा णिस्संगा णिम्माणासा अराय णिद्दोसा । णिम्मम णिरहंकारा पव्यक्ता एरिसा भणिया ॥४९॥ निर्ग्रन्था निस्सङ्गा निर्मानाशा अरागा निर्दोषा । निर्ममा निरहङ्खारा प्रवज्या ईदृशी भणिता ॥४९॥

जो मंदिरा बेचता है, और मद्यपायीसंसर्गी~जो मंदिरा पीने वालोंके साथ संसर्ग रखता है, उसके घर खास कर साघु आहार नहीं लेते हैं ।।२॥

कोछिको---कोलिक-कपड़ा बुनने वाला-जुलाहा मालाकार, कुम्म-कार, तेली और नाई ये पाँच स्पुध्य कारु कहलाते हैं ।।३॥

रजकस्—धोबी, बढ़ई, छोहार, सुनार और सिलावट इत्यादि बहुतसे कारु माने गये हैं ॥४॥

क्रियते—मोक्षका अभिलाषी मुनि इनके घर भोजन नहीं करता है । इन्हींके समान अन्य लोगोंका भी अपने मनसे विचार कर लेना चाहिये ॥५॥

् **वर स्वहत्सेन**—अपने हाथसे रसोई पका लेना अच्छा है परन्तु मिथ्या-दृष्टियों के घर मोजन करना अच्छा नहीं है क्योंकि उससे समस्त सावद्यों-पापोंका संगम होता है ।।६।।

गाचार्थ---जो निर्ग्रन्थ हो--परिग्रह से रहित हो अथवा निर्प्रन्थ हो नि-अतिशयपूर्ण ग्रन्थों से सहित हो, निःसङ्ग हो--स्त्री आदिके संपर्क से

২. ছালিকা म॰।

१. नीतिसारे इन्द्रनन्दिनः ।

> ⁹प्राज्ञेन ज्ञातलोकव्यवहृतिमतिना तेन मोहोज्झितेन । प्राग्विज्ञातः सुदेशो द्विजनृपतिवणिग्वर्ण ^२वर्ण्योऽङ्गपूर्णः ॥

रहित हो अथवा निश्चितक्षोभमान बारह अङ्गों से सहित हो अथवा निश्चित आठ अङ्गों और उपाङ्गों से सहित हो, निर्मानाशा हो—निर्माना-आठ में से रहित हो तथा निराशा आशासे रहित हो, अथवा निरक्वा-घोड़ा हाथो बैल आदिके वाहन से रहित हो, अरागा-राग रहित हो अथवा अराजा-राजा आदिके साथ स्नेहसे रहित हो, निर्दोषा हो-द्वेषसे रहित हो अथवा वात पित्तादि दोषोंसे रहित हो, निर्मोम हो-ममता भावसे रहित हो, अथवा म-तीन मकार और मा-रुक्ष्मी से रहित हो और निरहंकारा-अहंकार से रहित हो अथवा निष्पाप होकर निज शुद्ध स्वरूप के निकट हो-उसमें लीन हो वह दीक्षा कही गई है ॥४९॥

विशेषार्थं प्राकृत के 'णिग्गंथा' शब्द की संस्कृत छाया निग्रंन्था अथवा निग्रन्था होती है अतः दोनों रूपोंको दृष्टिमें रखकर अर्थ किया गया है कि जो ग्रन्थेभ्यो निगंता अर्थात् परिग्रहों से रहित हो, अथवा नि-नितरां-अतिशयपूर्णं ग्रन्थों--शास्त्रों से सहित हो (नितरां अतिशय-पूर्णाः ग्रन्थाः शास्त्राणि यस्यां सा) । प्राकृतके 'णिस्संगा' खब्दकी निस्सङ्गा, निःस्वङ्गा अथवा निःस्वाङ्गा छाया है उसोके आधार पर उसका अर्थ है कि जो निस्सङ्गा-स्त्री आदिके संसगंसे रहित हो, अथवा निश्चित उत्तम अङ्गों-द्वादशाङ्गों से सहित हो-जिसमें द्वादशांगोंका पठन पाठन होता हो (निश्चितानि सुष्ठु-शोभनानि अंगनिद्वादशांगोंका पठन पाठन होता हो (निश्चितानि सुष्ठु-शोभनानि अंगनिद्वादशांगांकि यस्यां सा) अथवा शरीर के निश्चित आठ अंगों और उपांगोंसे सहित हो (निश्चितानि स्वस्य-स्वशरीरस्य अङ्गानि यस्यां सा) । दोक्षा कौन ले सकता है ? इसका वर्णन आचारसारमें श्री वोरनन्दो आचार्यं ने इस प्रकार किया है---

प्राज्ञेन--- लोकव्यवहार और लोक-बुद्धिके ज्ञाता, निर्मोह आचार्य जिसे

- १. आचारसारे ।
- २. वर्ण्माङ्गम०।

+¥. 89.]

भूभुल्लोकाविरुद्धः स्वजनपरिजनोन्मोचितो वीतमोह—-

^{*}श्विन्तापस्माररोग द्यपगत इति च ज्ञातिसंकीर्तनाद्यैः ।।

इति वीरनन्दिभिष्क्तत्वात् । अथ कानि तान्यष्टावङ्गानीति चेत् ?

^२णलया बाहू य तहा णियंबपुठ्ठी उरं च सीसं च ।

बट्ठेव दु अंगाई सेस उवंगाइ देहस्स ।। कुरूपिणो हीनाधिकाङ्गस्य कुष्ठादिरोगिणश्च प्रव्रज्या न भवति । (णिम्माणासा) निर्माना अष्टमद रहिता, निराशा आशा रहिता । उक्तञ्च---

> ^अक्षाशागर्तः प्रतिप्राणि यस्मिन् विक्ष्यगणूपमम् । कस्य कि कियदायाति वृथा वो विषयैषिता ॥

पहलेसे जानते हों, जो उत्तम देशका रहने वाला हो, ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णमें से किसी वर्णका हो, अङ्गोंसे पूर्ण हो--विकलाङ्ग अथवा अधिकाङ्ग न हो, राजाका अपराधी न हो,स्वजन और परिजन के लोगों-ने जिसे छोड़ दिया हो--दीक्षा लेनेकी अनुमति दे दी हो, मोहरहित हो, चिन्ता तथा अपस्मार (मूच्छीविशेष) आदि रोगोसे रहित हो। अब वे आठ अङ्ग कौन हैं जिनकी पूर्णता साधुको आवश्यक है। इसका उत्तर देते हैं---

णलया—दो पैर, दो भुजा, नितम्ब, पृष्ठ, छाती और शिर ये शरीरके आठ अङ्ग हैं और शेष उपाङ्ग कहलाते हैं ।

कुरूपी, हीनाङ्ग, अधिकाङ्ग और कुष्ठादिरोगसे युक्त मनुष्यकी दीक्षा नहीं होती है ।

प्राकृत के 'णिम्माणासा' शब्दकी निर्मानाशा और निर्मानाश्वा ये दो संस्कृत छाया होती हैं अतः दोनोंको दृष्टिमें रखते हुए अर्थ किया गया है कि जो निर्माना-आठ मदसे रहित हो, और निराशा-तृष्णासे रहित हो (मानरच आशा च मानाशे, निर्गते मानाशे यस्याः सा निर्मानाशा)। आशा बहुत दुःखदायी है जैसा कि कहा गया है---

अाझागर्तः----प्रत्येक प्राणीके सामने ऐसा आशा रूपी गड्ढा खुदा हुआ है जिसमें समस्त संसार अणुके समान है । फिर किसके लिये कितना

३. आत्मानुशासने गुणभद्रस्य ।

१. विचता म० ।

२. कर्मकाण्डे नेमिचन्द्रस्य ।

নঘৰা—

आज्ञा दासीक्रुता येन तेन दासीक्रतं जगत्। आजाया यो भवेदासः स दासः सर्वदेहिनाम् ॥

निरक्वा अस्वरहिता तदुपरूक्षणं गजवृषादीनाम् । (अराय) रागरहिता, अयवा प्रवज्यायां राजमि: सह स्तेहादिकं न कर्तव्यम् । तदुपरूक्षणं मन्त्र्यादीनां प्रत्यक्षन-रकपातवद्व्याक्यातत्वात् । केचिच्च जिनघर्मप्रभावनार्थं मुनीनां सुस्यिर्थ्यं च तन्निषेघं न कुर्वन्ति, म्लेच्छादि पीडानिराकरणहेतुत्वात् । (णिद्दोसा) अप्रीति-

प्राप्त हो सकता है ? अर्थात् सबकी मनोऽभिलाषा पूर्ण नहीं हो सकती, इसलिये हे संसारी प्राणियों ! तुम्हारी विषयोंकी इच्छा करना व्यर्थ है !

और भी कहा है---

बाझा--जिसने आशाको दास बना लिया उसने संसारको दास बना लिया और जो आशाका दास है, वह सब प्राणियोंका दास है।

'निर्मानाझ्वा' छायाके पक्षमें अर्थं इस प्रकार है कि जो निर्माना-आठ मदसे रहित हो तथा निरझ्वा-अझ्व आदिसे रहित हो । यहां अध्व राब्द हायी तथा बैल आदिका उपलक्षण है। दिगम्बर साधुदीक्षा इन घोड़ा हाथी आदि वाहनोंके परिकरसे रहित होती है।

'अराय' इस प्राकृत शब्दकी संस्कृत छाया अरागा और अराजा होती है। 'अरागा' का अर्थ है जो रागसे रहित हो और 'अराजा' का अर्थ है जो राजासे रहित हो। साधुदीक्षामें राजाओंके साथ स्नेह नहीं करना चाहिये। यहाँ राजा शब्द उपलक्षण है इसलिये मन्त्री आदिका मी प्रहण समझना चाहिये। साधुओंके लिये राजा तथा मन्त्री आदिका मी प्रहण समझना चाहिये। साधुओंके लिये राजा तथा मन्त्री आदिका मी प्रहण समझना चाहिये। साधुओंके लिये राजा तथा मन्त्री आदिका मी प्रहण समझना चाहिये। साधुओंके लिये राजा तथा मन्त्री आदिका मी प्रहण समझना चाहिये। साधुओंके लिये राजा तथा मन्त्री आदिका सम्पर्क प्रत्यक्ष नरकपातके समान बतलाया गया है। कोई लोग जिनधर्मकी प्रसायनाके लिये तथा मुनियोंको अच्छो स्थिति बनी रहे इस उद्देश्यसे इसका निषेध नहीं करते हैं। क्योंकि म्लेच्छ आदिके द्वारा मुनियोंको पीड़ा पहुँचाई जानेपर उसके निराकरण करनेके लिये राजा तथा मन्त्री आदिका सम्पर्क आवश्यक होता है।

'णिद्दोष।' प्राकृत शब्दकी संस्कृत छाया निर्द्वेषा और निर्दोषा होती है जिनका अर्थ इस प्रकार है-जो निर्द्वेषा-अप्रीति रूप द्वेषसे रहित हो अथवा निर्दोषा-चात पित्त कफ आदि दोषोंसे रहित हो ।

'णिम्मम' प्राकृत शब्दकी छाया निर्ममा है जिसकी व्याख्या इस प्रकार है 'मम' यह ममता वाची अव्यय शब्द है (निर्गतं मम वस्या सा निर्ममा)

बोषप्राभृतम्

रुक्षण ढेषरहिता अथवा वातपित्तरुरुम्मादिदोषरहितस्य प्रक्वज्या भवसीति निर्दोषा । (णिम्मम) निर्ममा ममेति झम्दोऽव्ययः निर्गतं ममेति यस्यां प्रक्वज्यायां सा निर्ममा, अथवा मक्ष्यं मा च ममे निर्गते ममे द्वेयस्याः सा निर्ममा मद्यमांसमघु मकारत्रय-रहिता रुक्ष्मीस्वोकाररहिता चेत्ययः । तथा चोक्तम्---

> अकिज्बनोऽहमित्यास्स्व त्रैलोक्याघिपतिमंबे: । योगिगम्पं तव प्रोक्तं रहस्यं परमात्मनः ै।। १ ।।

(णिरहंकारा) अहंकाररहिता कर्मोदयप्रघाना सुखंवा दुःखंवा जीवस्य कर्मोदयेन भवति मयेदं क्रूतमित्यहक्क्वारो न कर्तव्ये इत्यर्थः । तथाचोक्तं समन्त-मद्रेण तार्किकदिारोमणिना---

जिसमेंसे मम ममता माव निकल गया हो वह निर्ममा है। जिन-दीक्षामें किसो बाह्य पदार्थके साथ ममता नहीं रहती है। अथवा नामके एक देशसे सर्व देशका ग्रहण होता है इसलिये 'म' से मद्यमांस और मधु इन तीनों मकारोंका ग्रहण होता है और 'मा' का अर्थ लक्ष्मी है इसलिये म और मा सब्दका इन्द्र समास कर निर् शब्दके साथ वहुव्रोहि समास करने पर निर्ममाका अर्थ होता है कि जो तीन मकारके सेवन तथा लक्ष्मीके स्वीकार से रहित हो (मक्ष्व मा च ममे, निगते म मे यम्पाः सा निर्ममा)। जिन दीक्षामें रञ्चमात्र लक्ष्मीका स्वीकार करना सर्वथा निषिद्ध है। जैसा कि कहा है—

अकिंखनोऽह---'मैं अकिञ्चन हूँ'-मेरा कुछ परिग्रह नहीं, ऐसी मावना करता हुआ तू चुपचाप बैठ। इस भावनासे तू तीन लोकका अधिपति बन सकता है। हे साधो ! मैंने तेरे लिये परमात्माका वह रहस्य बतलाया है जिसे योगी ही जान सकते हैं।

'णिरहंकारा' इस प्राकृत पदकी छाया 'निरहङ्कारा' और 'निरघं कारात्' की है इसलिये इसका अर्थ इस प्रकार है जो निरहङ्कारा-अहंकार से रहित है। जिन-दीक्षा कमोंदयको प्रधान मानती है अर्थात् जोवको जो सुख अथवा दु:ख होता है वह कमोंदयसे ही होता है इसलिये 'मैंने यह किया' इस प्रकारका अहंकार नहीं करना चाहिये। जैसा कि तार्किक-शिरोमणि श्री समन्तभद्राचार्य ने कहा है---

२. कर्तव्यमित्यर्चः २०।

१. आत्मानुशासने गुणभद्रस्य ।

ैअस्रङ्खधसक्तिर्भवितव्यतेगं हेतुद्वयाविष्कृतकार्यसिङ्झा । अनीश्वरो जन्तुरहंक्रियात्तांः संहत्य कार्योष्विति साम्वस्वादि^र ॥१॥ संहत्य कार्योम्वति कोऽर्थः ? सुखादि-कार्योत्पादकेषु मन्त्र--तन्त्रादि--सहकारि-कारणेषु मिलित्वा । अथवा णिरहंकारा--र्णिरहं--निरहं -निष्पापं सर्वसावद्य-योगरहितत्वं यथा भवत्वेवं--कारात् । कस्य झुद्धबुद्धकस्वभावस्य निजात्मस्वरूपस्य आरात्समीपतो वर्तते कारात्, चिच्चमत्कार-रुक्षण-क्रायकैक-स्वभावटङ्कोत्कीणं-निजात्मनि तल्लीना प्रत्रज्या भवतीति ज्ञातव्यम् । 'पापक्रियाविरमणं चरणं

अलङ्ख्य--अन्तरंग और वहिरंग-उपादान और निमित्त दोनों कारणों से प्रगट हुए कार्य ही जिसकी पहिचान है, ऐसी यह भवितव्यता होनहार अलङ्ख्यशक्ति है, इसकी सामर्थ्यको कोई लाँघ नहीं सकता है। अहंकार से पीड़ित हुआ यह प्राणी मिलकर भी कार्योंके विषयमें असमर्थ रहता है-जब तक जिस कार्यको भवितव्यता नहीं आ पहुँची है तब तक यह प्राणी अकेला नहीं अनेक के साथ मिलकर भो कार्य करनेमें असमर्थ ही रहता है। हे भगवन् ! ऐसा आपने ठीक ही कहा है।

प्रश्न---'संहत्व कार्येषु' इस पदका क्या अर्थ है ?

अब 'निरघ कारात्' छायाके अनुसार व्याख्या करते हैं। प्राकृत में 'घ' के स्थान में 'ह' हो जाता है इसलिये 'णिरहं' की छाया 'निरघं' की गई है। और कारात् शब्दके अन्त हलका प्राकृतमें लोप कर कारा शब्द बना था उसे संस्कृतमें 'कारात्' स्वीकृत किया गया। इस तरह निरघं और कारात् ये दो शब्द हैं इनमें निरघं शब्द क्रिया—विशेषण है जिसका अर्थ होता है निरघं अर्थात् निष्पाप। 'क' शब्दका अर्थ है शुद्धबुद्ध-वीत-राग और सर्वन्नता स्वभावको लिये हुए निज आरमाका स्वरूप। आरात् अव्यय समीप अर्थमें आता है इसलिये 'कस्य आरात् कारात्' इस समास के अनुसार कारात् का अर्थ हुआ आत्मस्वरूपके समीप-वर्ती। इस तरह निरघं कारात् शब्दका सामूहिक अर्थ यह हुआ कि जो समस्त पाप सहित योगोंका त्यागकर आत्मस्वरूप के निकट है अर्थात् आत्मस्वरूप की प्राप्ति का प्रमुख कारण है। जिनदीक्षा, चिच्चमत्कार लक्षण मात्र ज्ञायक

- १. वृहत्स्वयंभूस्तोत्रे ।
- २. साध्यवादी: क० ।

२२०

किलेति' वचनात् । (पब्बज्जा) प्रव्रज्या दीक्षा । (एरिसा) ईदृष्टी उक्तलक्षणा । (भणिया) गौतम्रस्वामिना प्रतिपादिता ॥४९॥

णिण्णेहा णिल्लोहा णिम्मोहा णिव्वियार णिक्कलुसा । णिब्भय णिरासभावा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥५०॥

निःस्नेहा निल्लोंभा निर्मोहा निविकारा निष्कलुषा।

निर्भया निराशभावा प्रव्रज्या ईदृशी भणिता ।।

(णिण्णेहा) निःस्नेहा पुत्रकलत्रमित्रादिस्नेहरहिता, अथवा तैलाराभ्यङ्ग-रहिता निःस्नेहा। (णिल्लोहा)) हे मुने ! हे तपस्विन् ! तवेदं वस्तु वस्त्रादिकं दास्यामि मम गृहे भिक्षा गृहातां भवतेति लोभरहिता, अथवा सुवर्णरजतताझा-यस्त्रपुरांगादिभाजनविवर्जिता मिलोंभा। (णिम्मोहा) दर्शनमोहो मिथ्यात्वं

स्वभाव से निरन्तर युक्त निजस्वरूप में लोन होती है । शास्त्रों में ऐसा कहा भी है कि 'पापक्रियासे विरत होना चारित्र है'^र गौतमस्वामी ने जिन-दीक्षाका स्वरूप ऐसा कहा है ॥४९॥

गायार्थ—जो स्नेह रहित हो, लोभ रहित हो, मोह रहित हो, अथवा निश्चित प्रमाण के तर्कंसे संहित हो, विकार रहित हो अथवा निश्चित विचार से संहित हो, कलुषता-रहित हो, निर्भय हो और निराश भाव से संहित हो, आगामी आशा से रहित हो वह जिनदीक्षा कही गई है ॥५०॥

विशेषार्थ---स्नेहका अर्थ पुत्र स्त्री तथा मित्र आदिका प्रेम और तैल आदिका मर्दन है। जिनदीक्षा निःस्नेह होती है---पुत्र स्त्री मित्र आदिके स्नेह से रहित होती है अथवा तेल आदि सचिक्कण पदार्थोंके मालिशसे शून्य होती है। जिनदीक्षा निर्लोभ-लोभ रहित होती है अर्थात् हे मुनि-राज ! हे तपस्विन् ! मैं तुम्हारे लिये यह वस्त्रादिक दूँगा आप हमारे घर पर भिक्षा ग्रहण कोजिये, इस प्रकार के लोभ से रहित है अथवा सोना, चांदी, ताम्बा, लोहा रांगा आदिके पात्रोंसे हित होनेके कारण निर्लोभ है। जिनदीक्षा निर्मोह है-मोहसे रहित है। दर्शन-मोहको

- १. नि॰ टी॰ ।
- २. हिसानृतचीर्येभ्यो मैथुनसेवापरिग्रहाभ्याञ्च।

पापप्रणालिकाच्यो विरतिः संज्ञस्य चारित्रम् ॥

-रलकरण्डभावकाचरे समन्तसद्रसाः

त्रविषं चारित्रमोहः पंचविंशतिप्रकारस्तद्दाम्यामपि रहिता निर्मोहा, अयवा निष्टिंचताया अकलंकदेवसमन्तभद्रविद्यानन्दिप्रभाषंद्रादिभिस्ताकिकौनिर्वारिताया माया प्रत्यक्षपरोक्षलक्षणोपलक्षिताया प्रमागद्वयस्य उन्हो वितकौ विचारणा यस्यां प्रव्रज्यायां सा निर्मोहा। (णिब्वियार) निर्विकारा वस्त्राभरणादिवेषविकार-रहिता निर्विकारा, अयवा निष्टिचतो विचारो विवेको भेदज्ञानं यस्यां सा निर्वि-चारा आत्मा पथक् कर्म पृथक् इति विवेकोपेता उक्तं च--

मानुष्यं सत्कुले जन्म लक्ष्मीबुंदिः कृतज्ञता । विवेकेन विना सर्वं सदप्येसन्न किंचन ॥१॥ अन्यञ्च—

> आत्मा भिन्नस्तदनुगतिमत्कर्मं भिन्नं तयोर्था प्रत्यासत्तेर्भवति विक्रुतिः सापि भिन्ना तप्रैव । कालक्षेत्रप्रमुखमपि यत्तच्च भिन्नं मतं मे । भिन्नं भिन्नं निजगुणकलालंकृतं सर्वमेतत् ॥१॥

मिथ्यात्व कहते हैं उसके गृहीत अगृहीत और सांघायिकके भेदसे तीन भेद हैं अथवा मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृतिके भेद से तीन भेद हैं । चारित्र मोह पच्चीस प्रकारका है जिनदीक्षा दोनों प्रकारके मोहों से रहित है । अथवा 'निश्चिता मा निमा, तस्या ऊहो यस्यां सा निमोहा' इस समास के अनुसार अकलंक देव समन्तभद्र, विद्यानन्दि और प्रभाचन्द्र आदि तार्किक विद्वानोंके द्वारा निर्धारित प्रत्यक्ष परोक्ष भेदों से युक्त दोनों प्रमाणोंके ऊह-विसर्क अथवा विचारणासे सहित है । निर्विकार है-वस्त्रआमूषण आदिसे निर्मित वेषके विकारसे रहित है अथवा 'निश्चितो विचारो यस्यां सा' इस समासके अनुसार निश्चित विचार-विवेक अथवा भेदज्ञानसे सहित है । क्योंकि जिन-दीक्षा 'आत्मा पृथक् है और कर्म पृयक् है ।' इस विवेक से सहित होती है । कहा भी है---

े मानुष्यं-मनुष्य पर्याय, उत्तमकुरु में जन्म, रुक्ष्मी, बुद्धि और कृत-ज्ञता ये सब रहते हुए भो एक दिवेक के बिना कुछ नहों है ।

और भी कहा है-

बारमा---आत्मा भिन्न है, उसके साथ लगा हुआ कम भिन्न है, दोनोंकी निकटता से जो विकार होता है वह भी भिन्न है, काल क्षेत्र बादि जो कुछ है वह भी भिन्न है, तथा अपने अपने गुणोंकी कला से ब्रह्लुत यह सब कुछ जिन्न-मिन्न है। (णिक्कलुसा) निष्कलुषा निष्पापा । (णिक्भय) निर्मया सप्तभयरहिता । (णिरासभावा) निराशमावा आधारहितस्वभावा। (पम्वञ्जा एरिसा भणिपा) प्रद्रज्या ईदुशी भणिता श्रीवृषभनायेनेति शेषः ।

जहजायरूवसरिसा अवलंबियभुअ णिराउहा संता । परकियणिलयणिवासा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥५१॥ यथाजातरूपसदृशा अवलम्बितभुजा निरायुधा शान्ता । परक्वतनिलयनिवासा प्रब्रज्या ईदशी भणिता ॥

(जहजायरूवसरिसा) ययाजातरूपसदृशा नग्नरूपा इत्यर्थः । (अवलंबिय-भुव) अवलम्बितभुजा प्रायेण कापोत्सर्गस्थिता पद्मासनादिस्थिता वा । पद्मा-सर्न कि ?---

> ⁹संन्यस्ताम्यामघोऽह्रिम्यामूर्वोरुपरि युक्तितः । भवेज्य समगुल्फाम्यां पद्मवीरसुखासनं ॥१॥

जिनदीक्षा निष्कलुष है-पाप से ब्रेरहित है। निभंध है-ऐहलौकिक, पारलौकिक, वेदना, मरण, अत्राण, अगुष्ति और आकस्मिक इन सात भयों से रहित है। और निराशभाव-आशारहित स्वभावसे युक्त है। इस प्रकार भगवान् वृषभ नाथ ने जिन दीक्षाका स्वरूप कहा है॥५०॥

जहजाय—गायार्थ—जो तत्काल उत्पन्न हुए बालक के समान नग्न सहित रूपसे है, जिसमें भुजाएँ नोचे की ओर लटकी रहती हैं, जो शस्त्र से रहित है अथवा प्रासुक प्रदेशों पर जिसमें गमन किया जाता है, जो शान्त है तथा दूसरे के द्वारा बनाये हुए उपाश्रय में जिसमें निवास किया जाता है, वह जिनदीक्षा कही गई है ॥५१॥

विशेषार्थ—जिस प्रकार तत्काल का उत्पग्न हुआ बालक निर्विकार और नग्न रहता है उसी प्रकार जिन दोक्षामें निर्विकार नग्न रूप घारण किया जाता है। जिनदीक्षामें भुजाएँ नीचे को ओर लटकी रहती हैं अर्थात् घ्यानके लिये प्रायः कायोत्सगं मुद्रा में खड़ा हुआ जाता है और पर्षासन आदि आसनों से भी बैठा जाता है।

प्रश्न----पद्मासन क्या है ?

उत्तर-संन्यस्ताम्यां पैरोंको जौंघोंके नोचे रखने पर पद्मासन, जाँघों

१. वसस्तिलकचम्प्यां सोमदेवस्य ।

षद्भाष्तुते

तत्र सुसायनस्पेदं लक्षण----

ैगुल्फोत्तानकरांगुष्ठरेखारोमालिनासिकाः ।

समदृष्टिः समाः कुर्यान्नातिस्तब्बो न वामनः १॥१॥

(णिराउहा) निरायुषा दण्डाद्यायुषरहिता, अथवा निरायुर्हा प्रासुकान् प्रदेशान् हन्ति गच्छतीति निरायुर्हा । (संता) शान्तरूपा अक्रूरस्वभावा । (पर-

के ऊपर रखने पर वीरासन और उस तरह मिलाकर रखने पर जिसमें कि दोनों की गाँठें समभाग रहे सुखासन होता है ।।१।।

उनमें सुखासन का यह लक्षण है—

जिन दोक्षा निरायुधा होती है---दण्ड आदि आयुधों से रहित होती है अथवा 'निरायुही' संस्कृत छाया मान कर यह अर्थ भी हो सकता है कि जिनदीक्षा निरायु:-निर्जीव--प्रासुक स्थानों पर ही गमन करती है | संस्कृत व्याकरण में 'हन्द' धातुका हिंसा और गति इन दोनों अर्थों में प्रयोग होता है | जिन दोक्षा शान्त है-कूर स्वभावसे रहित है और जिनदीक्षा में किसी दूसरे के द्वारा बनाये हुए उपाश्रय में निवास किया जाता है | जिस प्रकार सर्व अपना बिल स्वयं नहीं बनाता, अपने आप बने हुए अथवा किसीके द्वारा बनाये हुए बिलमें निवास करता है उसी प्रकार जिनदीक्षा का धारक साधु अपना उपाश्रय स्वयं न बनाकर पर्वंतकी

- १. यशस्तिलकचम्प्वां सोमदेवस्य ।
- २. आराषनासारटीकायां भासनानां लक्षणानि यथा-"स्याज्जङ्घयो रघोमागे पादोपरि कृते सति । पर्यङ्को नाभिगोत्तान दक्षिणोत्तरपाणिकः ॥" अयमेवैक-जंङ्घाया अधोभागे पादोपरि कृतेऽर्घपर्यङ्कः "वामोऽङ्घिदक्षिणोरूध्वं वामोरूपरि दक्षिणः । घ्रियते यत्र तद्वीरोचितं वीरासनं स्मृतम् ॥" जङ्घायामध्यभागेषु संश्लेषो यत्र जङ्घया । पद्मासनमिति प्रोक्तं तदासन-विचक्षणैः ॥"

कियमिसम्यनिवासा) परेण केनचित्कृते निरुये उपाश्रये निवासः स्थितियंस्यां सा परकृतनिरुयनिवासा सपैवत् । (पवज्जा एरिसा मणिया) प्रम्रज्या दीझेदृष्ठी भणिता प्रतिपादिता प्रियकारिणीपूत्रणेति छेवः ।

उवसमखमबमजुत्ता सरीरसक्कारवज्जिया रुक्खा । मयरायदोसरहिया पव्यञ्जा एरिसा भणिया ॥५२॥ जपशमक्षमादमयुक्ता शरीरसंस्कारवर्जिता रुक्षा । मदरागदोषरहिता प्रव्रज्याः ईदृशी भणिता ॥ (उवसमखमदमजुत्ता) अपशमेन कर्मक्षयेण निर्जरया संवरेण अक्रूरपरि-षामेन वा युक्ता, क्षमया उत्तमक्षमया युक्ता । उक्तं च क्रुभचन्द्रेण योगिना-'आक्रष्टोऽहं हतो नैव हतो वा न द्विघाइतः ।

मारिसो न हलो घर्मो मदीयोऽनेन बन्धुना ॥१॥

दमेन युक्ता जितेन्द्रिया व्रतोपपन्ना वा। (सरीरसक्कारदज्जिया) बारीर-संस्कारदर्जिता दन्तनस्रकेशमुखाद्यवयन्त्रुक्काररहिता। (रुक्खा) तैलाद्यभ्यंग-

गुफा तथा वृक्षको कोटर आदि अपने आप बने हुए अथवा किसी अन्य धर्मारमा के द्वारा बनवाये हुए मठ आदि में निवास करता है। प्रिय-कारिणो के पुत्र भगवान् महावीर ने जिनदीक्षा का स्वरूप ऐसा कहा है॥ ५१॥

गाबार्य-जो उपशम, क्षमा और दम से सहित है, शरीरके संस्कार से रहित है, रूक्ष है, और मद, राग, द्वेष अथवा दोषोंसे रहित है, वह जिनदीक्षा कही गई है।।५२।।

किशेवार्च-जिन-दोक्षा, उपशम अर्थात् कर्मोके क्षय, निजेरा, संवर बयवा दया रूप परिणाम तथा उत्तम क्षमा से युक्त है। जैसा कि शुम-चन्द्र योगो ने कहा है---

काक्वर्व्याइहं---किसी दूसरेके द्वारा उपसर्य किये जानेपर मुनिराज इस प्रकार विचार करते हैं कि इस भाईने मुझे खींचा ही तो है मारा नहीं है, अथवा मारा ही तो है मेरे दो टुकड़े तो नहीं किये, अथवा दो टुकड़े कर मारा ही तो है मेरा धर्म तो नहीं नष्ट किया ।।१।।

दमका अर्थ इन्द्रियोंको जीतना अथवा वृत धारण करना है। जिन-दीक्षा दमसे सहित है-इन्द्रियों को जीतने वाली अथवा अहिसा आदि

- १. यशस्ति लकचम्प्याम् ।
 - 84 -

रहिता। (मयरायदोसरहिया) मदरहिता मायारहिता वा, प्रीतिलक्षणराग-रहिता, अप्रीतिलक्षणद्वेषे रहिता दोषो वा व्रतादिष्यतीचारस्तेन रहिता। (पव्वज्जा एरिसा भणिया) प्रव्रज्या दीक्षेदृशी भणिता प्रतिपादिता सिद्धार्थनम्दने-नेति शेषः ।

> विवरीयमूढभावा पणट्ठकम्मट णट्ठमिच्छत्ता । सम्मत्तगुणविसुद्धा पव्यज्जा एरिसा भणिया ॥५३॥

विपरीतमूढभावा प्रणष्टकर्माष्टा नष्टमिथ्यात्वा। सम्यक्त्वगुणविशुद्धा प्रव्रज्या ईदुशो भणिता।।

(विवरीयमूढभावा) विपरीतमूढभावा विश्वेषेण परि समन्तात् इतो गतो नष्टो मूढभावो जडतात्वरूपं यत्थाः सा विपरीतमूढभावा। (पणट्ठकम्मट्ठ गट्ठमिच्छत्ता) प्रपष्टानि कर्मांण्यष्टौ यत्थां सा प्रणष्टकर्माष्टा नष्टमिथ्यात्वा पंचमिष्यात्वरहिता। उक्तं च----

> ^२एयंत बुद्धदरिसी विवरीओ बंभ तावसो विगवो । इंदो वि य संसयिदो भक्कडियो चेत्र अण्णाणी ॥१॥

वतों से युक्त है। जिनदीक्षा, शरीर के संस्कार से रहित है अर्थात् दन्त, नख, केश और मुख आदि अवयवों को सजावट से रहित है। तेल वादिके मर्दन से रहित होनेके कारण रुक्ष है, मद अथवा माया से रहित है, अप्रांति रूप द्वेष से रहित है अथवा व्रत आदिमें अतिचार लगने रूप दोष से रहित है। राजा सिद्धार्थ के पुत्र-भगवान् महावीर ने जिनदीक्षा का ऐसा स्वरूप कहा है।।५२।।

गाथार्थ-जिसमें मूढताएँ नष्ट हो चुकती हैं, जिसमें आठ कर्म नष्ट हो जाते हैं, जिसमें मिथ्यात्व नष्ट हो चुकता है और जो सम्यक्त्वरूप गुणसे विशुद्ध है, वह जिनदीक्षा कही गई है ॥५३॥

विशेषार्थ---जिनदोक्षा में मूढभाव---जड़ता विशेष रूप से नष्ट हो चुकती है, ज्ञानावरणादि आठ कर्म नष्ट हो जाते हैं और एकान्त आदि पांच प्रकारका मिथ्यात्व नष्ट हो चुकता है। पांच प्रकार के मिथ्यात्व और उनमें प्रसिद्ध पूरुषों का उल्लेख करते हुए कहा गया है---

एगंत---एकान्त मिथ्यात्व में बौद्ध, विपरीत मिथ्यात्व में ब्रह्मवादी,

२. जीवकाण्डे नेमियन्द्रस्य ।

१. दोष म० ।

बोषप्रामृतम्

-8. 43]

बस्पा अयमर्थः ---- सर्वया क्षणविनाखवादी बुद्धः । अह्यवादी विपरीतः आत्मनं शाक्ष्यतमेवैकान्तेन मन्पते । तापसो वैनयिकः सर्वविनयेन सोक्षं अस्पते सुणदोष-विचारणा तन्मते नास्ति । इन्द्रचन्द्रनागेन्द्रवादी संज्ञयमिष्यादृष्टिः अतुरपरजैना-भासारच । संज्ञथवादी किलैवं मन्यते----

ैसेयंबरों य आसंबरों य बुढों य तह य अण्णो थ ! समभावभावियप्पा लहेइ मोबर्क्ष ण संदेही ॥१॥ मस्करपूरणः सल्वेवं वदति----

^२अण्णाणादो मोक्सं पाणं पत्थिति मुक्कजीवाणं ।

पुणरागमणं भर्मणं मने भवे जल्दि जीवाणं॥१॥

(सम्मत्तगुणविसुदा) सम्यक्त्वमेव गुणस्तेन विशुद्धा निर्मला, अववा सम्य-क्त्यगुर्णनिःशकितनिष्कांक्षितनिर्विचिकित्सितामूढदृष्टिउपगूहन स्वितीकरणवात्सल्य-प्रभावनालक्षणैरष्टभिः सम्यक्त्वगुर्णीवशुद्धा विश्वेषेण निर्मला पंचविश्वतिदोषरहिता

वैनयिक`मिथ्यात्व में तापस, संयम मिथ्यात्वमें इन्द्र नामका स्वेताम्बर गुरु और अञ्चान मिथ्यात्व में मस्करी प्रसिद्ध हुआ है ॥१॥

इस गाथाका स्पष्ट अर्थ यह है--- 'समस्त पदार्थों का सब प्रकार से अणक्षण में विनाश होता है' इसप्रकार एकान्तसे समस्त पदार्थोंको झणिक मानने वाला बुद्ध एकान्त मिथ्यादृष्टि है । ब्रह्मवादो विपरीत मिथ्यादृष्टि है वह आत्माको एकान्त से नित्य हो मानता है । तापस वैनयिक मिथ्या-दृष्टि है वह सब को विनय से मोक्ष मानता है । तापस वैनयिक मिथ्या-दृष्टि है वह सब को विनय से मोक्ष मानता है उसके मतमें गुण दोषका विचार नहीं है । इन्द्रचन्द्र 'नागेन्द्र' नामका वादो संशय मिथ्यादृष्टि है, इसो प्रकार शेष चार जैनामास भो संशय मिथ्यादृष्टि हैं । संशय-वादो मिथ्यादृष्टि ऐसा मानता है कि----

सेयंवरो---व्येताम्बर हो चाहे दिगम्बर, बुद्ध हो चाहे अन्य कोई, यदि उसको आत्मा समभावसे सुसंस्कृत है तो वह मोक्ष प्राप्त कर सकता है, इसमें संशय नहीं है ॥१॥

ंगस्करपूरण ऐसा कहता है—

्र अण्णाणाबो—अज्ञान से मोक्ष होती है, मुक्त जोवोंके झान नहीं है। मुक्त जोवों का पूनरागमन और भवभव में अमण नहीं होता है।

जिन दोक्षा सम्यक्त्व रूप गुणसे विशुद्ध रहती है अथवा सम्यग्दर्शन के निःशङ्कित निःकांक्षित, निर्विचिकिस्सित, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थिति-करण, वात्सल्य और प्रभावना इन आठ गुणोंके द्वारा विशुद्ध-विशेषरूप

१-२. बीक्काण्डे नेमिचनास्य ।

बद्प्राभृते

सम्बद्धवनुमविश्वद्धाः । (पञ्चज्जा एरिसा भणिया) प्रव्रज्या दीक्षा ईवुको भणिताः प्रतिपाषिता चतुर्विक्षतितमेन तीर्थकृतेति खेवः ।

जिणमग्गे पञ्चज्जा छहसंघयणेसु भणिय णिग्गंथा । भावंति भव्वपुरिसा कम्मक्खयकारणे भणिया ॥५४॥

जिनमार्गे प्रवज्या षट्संहननेषु अणिता निम्नंन्या । भावयन्ति भव्यपुरुषाः कर्मक्षयकारणे भणिता ॥

(जिणमम्मे पक्वज्जा) जिनमार्गे आहंतशासने प्रव्रज्या दीक्षा। (छहसंवयणेसु) षटसंहननेषु वर्ष्ठार्थननाराचनकाराचनाराचार्धनाराचकीलिकाश्राप्तासृपाटिक-नामसु षट्सु संहननेषु । (भणिस णिग्गंथा) मणिता प्रतिपादिता श्रीन्द्रभूति-नामगणधरदेवेनेति शेषः । कयंभूता भणिता, - निग्र न्था यथाजातरूपधारिषो यतोर्डस्मन् क्षेत्रेऽन्त्यो निग्र न्यो वीराङ्गजो यो भविष्यति पंचमकाल्स्पान्ते स किलाप्राप्तासुपाटिको संहननो भविष्यति तेन बष्ठेऽपि संहनने निग्र न्थप्रवज्या ज्ञातब्या । (मार्वति भव्यपुरिसा) भावयन्ति मानयन्ति एतद्वचनं, के ? भव्यपुरुषा आसन्तभव्यजीवाः । (कम्मक्खयकारणे भणिया) पारम्पर्येण कर्माक्षयकारणे मोक्ष-प्राप्तिनिमित्त भणिता प्रतिपादिता ।

से निर्मल होती है। तीनमूढता, छह अनायतन, शङ्कादि आठ दोष और आठमद इन पच्चीस दोषों से रहित होनेसे विशुद्ध है। चौबोसर्वे तीर्थंकर श्री महावीरस्वामी ने जिन दीक्षाका इस प्रकार स्वरूप बत्तलाया है ॥५३॥

गायार्थ-अरहन्त भगवान् के शासन में जिनदोक्षा छहों संहनतों में कही गई है। जिन-दीक्षा निर्ग्रन्थ है---परिग्रह-रहित है और कर्मक्षय के कारणों में कही गई है, ऐसा भव्य पूरुष चिन्तन करते हैं ॥५४॥

विश्लेवार्ब---जिन मार्ग-अरहन्त भगवान के शासन में जिनदीक्षा बज्जवभनाराच, बज्जनाराच, नाराच, अर्थनाराच, कोलक और असंप्राप्ता-सृपाटिका इन छह संहननोंके धारक जीवोंके कही गई है। क्योंकि इस क्षेत्र में पञ्चम कालके अन्तमें जो वीराज्जज नामका अन्तिम निर्ग्रन्थ-मुनि होगा वह असंप्राप्तासृपाटिका संहनन का धारो होगा इससे छठ संहनन में मो निर्ग्रन्थ--दीक्षा होतो है, यह जानना चाहिये। जिन दोक्षा निर्ग्रन्थ होती है समस्त परिप्रहों से रहित हातो है, तथा कर्मक्षय कारणों में कही गई है अर्थात् जिनदोक्षा परम्परा से मोक्ष प्राप्तिका निमित्त है, ऐसा निकट-मब्ध जीव मानते हैं ॥ अशा

१. निग्रन्था क० म० ।

तिल्आेसत्तनिमित्तं समबाहिरगंथसंगहो जत्यि । पावज्ज हवद्द एसा जह भणिया सव्यदरितीहि ॥५५॥ तिल्कोशत्वमात्रं समबाह्यप्रन्थसंग्रहो नास्ति । प्रव्रज्या भवति एषा यथा भणिता सर्वदर्शिभिः ॥

(तिल ओसत्तनिमित्तं) तिलस्य पितृप्रियबीजस्य कोशत्वमात्रं तिस्मुषमात्र-मपि अश्रमणपरियहः । (समबाहिरगंधसंगहो णत्थि) तिलतुषमात्रसमोऽपि बाह्य-ग्रन्थस्य संग्रहो नास्ति न विद्यते । (पावच्ज हवइ एसा) प्रव्रज्या भवत्येषा । (जह भणिया सव्वदरिसीहि) यथा भणिता सर्वदर्शिभिः सर्वन्नदेवीरिति ।

उवसग्गपरिसहसहा णिज्जणदेसे हि णिच्च अत्येद्द । सिल कट्ठे भूमितले सब्दे आरुहइ सब्बत्य ॥५६॥ उपसर्गपरोषहसहा निजनदेशे हि नित्यं तिष्ठति ।

शिलायां काष्ठे भूमितले सर्वाणि आरोहति सर्वत्र ॥५६॥ (उवसग्गपरिसहसहा) उपसर्गारच तियंग्मानवदेवाचेतनभवाधचतुःप्रकाराः, परीषहास्च पूर्वोक्ता ढाविंशतिः उपसर्गपरीषहास्तान् सहते तेषु वा सहा समर्वा उपसर्गपरीषहसहा । (णिज्जणदेसे हि णिच्च अत्येइ) निजनदेशे मनुष्परहित-

गाधार्थ--जिसमें तिल तुषके अग्रभागके बराबर भी बाह्य परिप्रह का संग्रह नहीं है वही जिन दीक्षा है, ऐसा सर्व-दर्शी---जिनेन्द्र भगवान ने कहा है ॥५५॥

विशेषार्थ-तिलका दाना अत्यन्त छोटा होता है उसके तुषके अग्र-भागके बराबर भी बाह्य परिग्रह का संग्रह मुनिके नहीं होता है ऐसा सर्वन्न देवने कहा है ॥५५॥

गायार्थ---जिन दीक्षा उपसगं और परीषहों को सहन करती है, इसके धारक निगन्तर निर्जन स्थान में रहते हैं तथा सर्वत्र शिला, काष्ठ अथवा भूमितल पर आरूढ होते हैं---बैठते अथवा शयन करते हैं ॥५६॥

विशेषार्थ--तियंञ्च, मनुष्य, देव और अचेतन पदायोंसे उत्पन्न होनेके कारण उपसगंके चार भेद हैं। परीषहके बाईस भेद पहले कहे जा चुके हैं। जिन दीक्षा उन उपसगं और परीषहोंके सहन करनेमें समर्थ हैं। जिन दीक्षा-जिन दीक्षाके धारक मुनि निष्चयसे निरन्तर निर्जन देश-मनुष्यरहित बनमें रहते हैं और सर्वत्र शिला काठके पाटे, भूमितल अथवा कुण-समूह पर आरूढ़ होते हैं--बैठते हैं तथा सयन करते हैं। यहाँ प्रदेशे बने हि स्फूट नित्यं तिष्ठति । (सिल कट्ठे सूमितले) शिलाबां दृषदि, काष्ठे दारुफलके, सूमितले सूमा "तुणायां हा। (सल्त्रे आरुहइ सब्बत्व) एतानि सर्वाणि, बारोहति ज्यविशति श्रेते च सर्वंत्र वने ग्रामनगरादौ हा ॥ ५६ ॥

पसुमहिलसंढसंगं कुसीलसंगं ण कुणइ विकहाओ । सज्झायझाणजुत्ता पथ्वज्जा एरिसा भणिया ॥ ५७ ॥

पशुमहिलाषण्ढसंगं कुशोलसंगं न करोति विकथाः । स्वाध्यायध्यानयुक्ता प्रव्रज्या ईदृशी भणिता ॥५७॥

(पसुप्रहिलसंढसंगं) यत्र पशवो भवन्ति तत्र न स्थीयते, यत्र महिला भवन्ति, यत्र पंढा नपुंसकानि भवन्ति तत्र न स्थीयते। (कुसीलसंगं ण कुण्इ विकहाओ) कुशीलस्य कुत्सिताचारस्य साधुलोकशिक्षापराङ्मुसस्य संगं न करोति^{-- 3}तस्संगती दुर्ध्यानमुत्पदाते, न करोति विकथाश्व राजकथास्त्रीकयाभोजन-कयाचोरकवाश्चेति। (सज्झायझाणजुल्ला) स्वाच्यायेन वाचनाप्रच्छनानुप्रेक्षाम्नाय-धर्मोपदेशलक्षणेन पंचविधेन युक्ता प्रव्रज्या भवति, घ्यानेन धर्म्यघ्यानशुक्लध्यानद्व-येन युक्ता आर्त्तरीद्रदुर्घ्यानद्वयरहिता। (पत्र्यज्ञा एरिसा भणिया) प्रव्रज्या

सव्वत्थ (सर्वंत्र) शब्दसे सूचित होता है कि मुनियोंका निवास वन अथवा ग्राम नगर आदिमें भी होता है ।। ५६ ।।

गाधार्च---जो पशुओं, महिलाओं, नपुंसकों और कुशील मनुष्योंका संग नहीं करती है, विकयाएँ नहीं करती है तया स्वाध्याय और घ्यानमें युक्त रहती है वह जिन दीक्षा कही गई है ॥ ५७ ॥

विशेवार्थ-जिसमें, जहां पशु होते हैं वहां नहीं बैठा जाता है, जहां रित्रयां तथा नपुंसक रहते हैं वहां भी नहीं बैठा जाता है, खोटे आचारके घारक अथवा मुनिजनोंकी शिक्षासे पराङ्मुख मनुष्यकी संगति नहीं की जाती है क्योंकि उसकी संगति में खोटा ध्यान उत्पन्न होता है। जिसमें राजकया, स्त्री कथा, भोजन कथा और चोर कथा ये विकथाएँ नहीं की जाती हैं और जो वाचना, प्रच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश इन पांच प्रकारके स्वाध्याय से युक्त रहती हैं तथा धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान इन दो ध्यानोंसे सहित एवं आर्त्त और रौद्र इन दो खोटे

- १. तुणायां म०।
- **२. सरसंगते म०।**

जैन दीक्षा ईदृशी एतल्लक्षणविराजमानां भणिता प्रतिगदिता अकलक्रुदेवेनेति शेषः ॥ ५७ ॥

तववयगुणेहि सुद्धा संजमसम्मत्तगुणविसुद्धा य । सुद्धा गुणेहि सुद्धा पव्यज्जा एरिसा भणिया ॥५८॥

तपोन्नतभुणैः शुद्धा संथमसम्यक्त्वगुणविशुद्धा च । शुद्धा गुणैः शुद्धा प्रव्रज्या ईदृशो भणिता ॥५८॥

(तववयगुणेहि सुद्धा) तपोभिरिच्छानिरोधलक्षणैद्वीदिशभिः, व्रतैरहिंसादिभिः पंचभिः रात्रिभोजनपरिहारव्रतघठैः, गुणैदधतुरवीतिलक्षलक्षणोः शुद्धा उज्वला । (संजमसम्मत्तगुणविसुद्धा य) संयमा इन्द्रियप्राणसंयमलक्षणा द्वादश, सम्यक्त्वानि दक्षप्रकाराणि द्वित्रिप्रकाराणि च, ते च ते गुणा आत्मोपकारकाः परिणामविशेषा-स्तैविधुद्धों निर्मेछा प्रव्रज्या भवति । निसर्गजमधिगमर्ज सम्यक्त्वं द्विविधं, उपस्रम-वेदकक्षायिकमेदात्सम्यक्त्वं त्रिविधं ।

ध्यानोंसे रहित होती है वह जिन दीक्षा है, ऐसा अकलर्ख्न देव-वोत राग जिनेन्द्र देवने कहा ॥ ५७ ॥

गापार्थ-जो तप, व्रत और गुणोंसे शुद्ध है, संयम और सम्यक्त्व रूपी गुणोंसे विशुद्ध है और मूलगुणों से निर्दोष है वही शुद्ध दीक्षा कही गई है ॥५८॥

चिशेषार्थ---इच्छा-निरोध रूप छक्षण से युक्त तपके अनशन-अवमोदर्य आदि बारह भेद हैं, व्रतके आँहंसा आदि पाँच और रात्रिभोजन त्याग नामका छटवाँ इस प्रकार छह भेद हैं, गुणोंके चौरासी लाख भेद हैं। संयमके छह इन्द्रिय-संयम और छह प्राणसंयम इस प्रकार बारह भेद हैं। संयमके छह इन्द्रिय-संयम और छह प्राणसंयम इस प्रकार बारह भेद हैं। संयमके छह इन्द्रिय-संयम और छह प्राणसंयम इस प्रकार बारह भेद हैं। संयमके छह इन्द्रिय-संयम और छह प्राणसंयम इस प्रकार बारह भेद हैं। संयमके छह इन्द्रिय-संयम और छह प्राणसंयम इस प्रकार बारह भेद हैं। संयमके छह इन्द्रिय-संयम और छह प्राणसंयम इस प्रकार बारह भेद हैं। संयमके छह इन्द्रिय-संयम और छह प्राणसंयम अभयक्त के दश, दो अथवा तोन भेद हैं। निसर्गज और अधिगमज की अपेक्षा सम्यक्त्व दो प्रकारका है। उपशम, वेदक और क्षायिक के भेदसे तीन प्रकारका है तथा 'आज्ञामार्ग' इस आयभिं कहे हुए १ आज्ञासमुद्भव, र मार्गसमुद्भव, ३ उपदेशभव, ४ सूत्रभव, ५ बीजभव, ६ संक्षेपभव, ७ विस्तारभव, ८ अर्थभव, ९ अवगाढ और १० परमावगाढके भेदसे दश प्रकारका है। इन दश भेदोंके स्वरूप का वर्णन करने वाले तीन पद्य इस प्रकार हैं--- "वाज्ञामार्गर्समुद्भवमुपदेखास्यूत्रवीजसंक्षेपात्" । विस्तारार्धाम्यां भवमवपरमावादिगाढं च" इत्यायकिषिताः सम्यक्स्वस्य दशप्रकारा ज्ञातव्याः । तद्विवरणं वृत्तत्रयं यया-³आज्ञासम्यक्स्वस्य दशप्रकारा ज्ञातव्याः । तद्विवरणं वृत्तत्रयं यया-³आज्ञासम्यक्स्वसुक्तं यदुत्त विरुच्चितं वीतरागाज्ञयैव त्यक्तप्रन्धप्रपंचं शिवममुतपचं व्यद्धन्मोहशान्तेः । मार्गश्रद्धानमाहुः पुरुषवरपुराणोपदेशोपजाता-या सद्ज्ञानागमाव्घिप्रसृतिभिरूपदेशादिरादेशि दृष्टिः ॥ १ ॥ आकर्ण्याचारसूत्रं मुनिचरणविधेः सूचनं श्रद्धानः सूक्तासौ सूत्रदृष्टिर्दुराधिगमगतेर्थंसार्धस्य बोर्जः । कौष्स्पज्ञातोपलब्धेरसमशमवद्याद्वी बद्धिः पदार्थान् सक्षेपेणैव बुद्ध्वा रुचिमुपगतवान् साधु संक्षेपदृष्टिः ॥ २ ॥ यः श्रुत्वा द्वादशाङ्गी कृतरुचिरिह तं विद्वि विस्तारदृष्टि संजातार्थात्कुतश्चित्प्रवचनमवनान्यन्तरेणार्थदृष्टिः । दृष्टिः साङ्गाङ्गवाद्यप्रवचनमवगाद्धोत्थिता याऽक्लाढा कौनल्यालोक्तितार्थे रूचिरिह परमावादिगाढेति च्ढा ॥ ३ ॥

आज्ञासम्यक्त्व--- १ वीतराग सर्वज्ञ देव की आज्ञा मात्रसे जो श्रद्धा होती है उसे आज्ञा सम्यक्त्व कहते हैं। २ ग्रंथोंके विस्तार को छोड़कर दर्शनमोह-कर्मके उपशमसे आनन्ददायी मोक्षमार्ग की जो श्रद्धा होती है उसे मार्ग-सम्यक्त्व कहते हैं। ३ शलाका पुरुषोंके पुराणके उपदेश से जो सम्यक्त्व होता है उसे सम्यग्ज्ञानके वर्धक आगम रूप सागरका प्रसार करने वाले मुनि उपदेश सम्यक्त्व कहने हैं। ४ मुनियों के चारित्र की विधिका वर्णन करने वाले आचार सूत्रको सुनकर जो श्रद्धा होती है उसे सूत्र सम्यक्त्व कहते हैं। ५्अनुपम[ं]प्रझम गुणके कारण किन्हीं बोजोंके द्वारा दुर्जेय अर्थ को जो श्रद्धा होती है उसे बोज दृष्टि कहते. हैं। ६ संक्षेप से ही पदार्थों को जानकर जो श्रद्धाको प्राप्त होता है वह संक्षेप दृष्टि है। ७ द्वादशाङ्ग को सुनकर जो श्रद्धाको प्राप्त होता है उसे विस्तार दृष्टि कहते हैं। ८ जो शास्त्रके वचनके बिना किसी अर्थते श्रद्धान होता है वह अर्थ सम्यक्त है। ९ अङ्ग तथा अङ्ग बाह्य शास्त्रोंका अवगाहन करनेसे जो श्रदा उत्पन्न होती है उसे अवगाढ सम्यक्त्व कहते हैं और १० केवलज्ञानके द्वारा देखे हुए पदार्थों में जो श्रदा होती है उसे परमाव-गाढ सम्यक्तव कहते हैं।

१-२. वात्मानुसासने गुणभात्व ।

(सुद्धा गुणेहिं सुद्धा) या प्रवच्या गुणेः इत्ला शुद्धा सा शुद्धा कम्यते न तु वेषमात्रेण शुद्धोध्यते । (पब्वच्या एरिसा भणिया) प्रवच्या दोक्षेदृशी मणिता प्रतिपादिता शान्तिनाथेनेति शेषः ॥५८॥

एवं आयत्तणगुणपज्जत्ता बहुविसुद्ध सम्मत्ते । णिग्गंथे जिलमग्गे संखेवेणं जहाखादं ॥५९॥

एवं आत्मतत्वगुणपर्याप्ता बहुविशुद्धसम्यक्त्वे । निग्र न्थे जिनमार्गे संक्षेपेण यथारूयातम् ॥५९॥ (एवं) पूर्वोक्तप्रकारेण । (आयत्तणगुणपज्जत्ता)⁹ आत्मतत्वगुणपर्याप्ता परिपूर्णा, ^२आत्मगुणभावनारहितेयं प्रव्रज्या परिपूर्णा न भवति, आत्मगुणभावना-सहिता तु स्तोकापि प्रव्रज्या पर्याप्ता सम्पूर्णा भवतीति भावार्थः । (बहुविसुद्ध-सम्मत्ते) बहुविशुद्धसम्यक्त्वे मुनौ प्रव्रज्या पर्याप्ता भवति मिष्यात्वदूषिते तु मग्नेऽपि मुनौ दीक्षा अदीक्षा भवति संसारविच्छेदरहितत्वात् । जत्कृष्टतया

इस प्रकार जो अनशनादि बारह तपों, अहिंसा आदि छह वतों और चौरासोलाख उत्तर गुणोंसे शुद्ध है । बारह संयमों, तथा दो तोन अथवा दश प्रकारके सम्यग्दर्शन रूपो गुणोंसे विशुद्ध है और अट्ठाईस मूलगुणों से शुद्ध है---निरतिचार है वहो जिनदीक्षा है ऐसा श्रो शान्तिनाथ भगवान् ने कहा है । यहाँ यह भाव स्पष्ट किया गया है कि जो दीक्षा गुणोंसे शुद्ध है वही शुद्ध दीक्षा कहलाती है, मात्र देषसे दीक्षा शुद्ध नहीं कही जाती ॥ ५८॥

गायार्थ—इस प्रकार अत्यन्त विशुद्ध सम्यक्त्वसे युक्त मुनि में प्रव्रज्या आत्मगुणों की भावना से परिपूर्ण होती है। [कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं कि मैंने] निग्रंन्य जैन मार्ग के विषय में जो कहा है वह संक्षेप से ही कहा है ॥५९॥

विशेषार्य-पूर्वोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जो प्रव्रज्या आत्मतत्व के गुणोंसे परिपूर्ण है वही पूर्ण प्रव्रज्या है। जो प्रव्रज्या आत्म-गुणोंकी भावना से रहित है वह परिपूर्ण नहीं होती। इसके विपरीत जो प्रव्रज्या आत्मगुणों की भावना से सहित है वह छोटी होनेपर भी परिपूर्ण होती है। यह प्रव्रज्या अत्यन्त विशुद्ध सम्यक्त्व से युक्त मुनि में पूर्णताको प्राप्त

- १. आत्मत्व म० घ० ।
- २. आत्मभावना गुण के॰ मे॰ ।

ैनवमग्रं वैयकपदं लक्क्वापि मिच्यादृष्टयस्तपस्विनः युनः संसारे पतन्तीति ज्ञाला पुनः पुनः भणाभि सम्यक्त्ववता मुनिना भवितव्यं । उक्तं चानेनैव भगवता कुन्दकुन्दाचार्येण—

सम्मं चेव य भावे मिच्छाभावे तहेव बोद्धव्या।

चहजण मिच्छभावे सम्मम्मि उवट्ठिरे बंदे ॥ १ ॥

(णिग्गंचे) निग्नंन्चे। (जिल्लमग्गे) जैनमार्गे नग्ने जिनमार्गे, वस्त्रसहितस्तु मोक्षं प्राप्नोतीति मिथ्यादृष्टिमार्गः। (संखेवेण) संक्षेपेण समाप्तेन। (जहाबार्य यया भया कथितं प्रव्रज्यालक्षणं स सर्वोऽपि संक्षेप इति ज्ञातव्यमिति मावः। विस्तरस्तु गौतमस्वामिसूत्रे बोढव्यः ।

पव्यज्जा---प्रव्रज्यास्वरूपं निरूपितम् ।

प्रव्रज्या कोऽर्थः ? परिव्राज्यं तस्य सूत्रपदानि सप्तविधतिर्जिनसेनाचार्येः हक्तानि । तथा हि----

होती है। मिथ्यात्वसे दूषित मुनि भले ही नग्न रहता हो उसकी दीक्षा दीक्षा नहीं होती क्योंकि वह संसारके विच्छेद से रहित है। यद्यपि मिथ्या-दृष्टि मुनि उत्कृष्ट रूपसे नवम ग्रैवेयकके पदको भी प्राप्त करलेते हैं तो भी पुनः संसार में ही पड़ते हैं ऐसा जानकर में बार-बार कहता हूँ कि मुनिको सम्यग्दृष्टि होना चाहिये। जैसा कि इन्हीं भगवान् कुन्दकुन्दा-चार्य ने कहा है—

सम्मं—जिस प्रकार सम्यक्त्व रूप भाव हैं उसी प्रकार मिथ्यात्व रूप भी भाव होते हैं। उनमेंसे मिथ्यात्व रूप मावोंको छोड़कर जो सम्यक्त्व भाव को प्राप्त हुए हैं, मैं उन्हें वन्दना करता हूँ।

जिनमार्ग परिग्रह से रहिंत है---नग्न रूप है। 'वस्त्र सहित मनुष्य मोक्षको प्राप्त होता है' यह मिथ्यादृष्टियों का मार्ग है। इस जैनमार्ग में जैसा कुछ प्रवज्या का लक्षण मैंने कहा है वह संक्षेप से ही कहा है, ऐसा जानना चाहिये। इसका विस्तार श्री गौतम स्वामीके परमागम में जानना चाहिये।

इस प्रकार प्रव्रज्या के स्वरूपका निरूपण किया।

प्रदन-प्रवरुया इसका क्या अर्थ है ?

उसर----प्रव्रज्याका अर्थ पारिव्रज्य है। उसके सत्ताईस सूत्र श्री जिन-सेनाचार्यने कहे हैं। जो इस प्रकार हें---

१. नवर्षं वेयक घ०।

जातिर्मृतिश्च तत्रस्यं रूक्षणं सुन्दराङ्गता । प्रभामण्डरूजकाणि तथाभिषवनायते ॥१॥ सिंहासनोपधाने च छत्रचामरघोषणाः । अँशोकवृक्षनिषयो गृहशोभावगाहने ॥२॥ भैन्नेत्राप्ते तत्समा कीर्तिवंद्यता वाहनानि च । भाषाहारसुखानीति जास्यादिः सप्तविंशतिः ² ॥३॥ इति त्रिभिः सर्लोकैः सर्त्तविंशतिः प्रवज्यासूत्रपदानि ज्ञातव्यानि । एतेषां विवरणं तैरेद कृत वर्तते तथा हि---

> जात्यादिकानिमान् सप्तविंशति परमेष्ठिनाम् । गुणानाहुर्भजेद्वीक्षां स्वेषु तेष्वकृतादरः ॥१॥ जातिमानप्यनुत्सिक्तः संभजेदह्रंतां क्रमौ ।

यतौ जात्यन्तरे जात्यां याति जाति चतुष्टयीं^४ ॥२॥ जातौ भवा आत्या तां जात्यां छत्तमां जाति मुनिर्याति । कस्मिन् जात्यन्तरे चतुःप्रकारजातिमेदे । किं कुर्वाणः ? अहंत्क्रमी मजमानः ।

बातिर्---जाति, मूर्ति, उसमें रहने वाले लक्षण, घारीरकी सुन्दरता, प्रमा. मण्डल, चक्र, अभिषेक, नाथता, सिंहासन, उपधान, छत्र, चामर, घोषणा, अशोक वृक्ष, निधि, गृहशोभा, अवगाहन, क्षेत्रज्ञ, आज्ञा, समा, कीरि, बन्दनीयता, वाहन, भाषा, आहार और सुख ये जाति आदि सत्ताईस सूत्रपद कहलाते हैं ॥१~३॥

इन तीन श्लोकोंके ढारा प्रव्रज्या के सत्ताईस सूत्र पद जानना चाहिये। इनका वर्णन उन्हीं जिनसेनाचार्य ने किया है जो इस प्रकाराहै—

वास्पाविका—ये जाति आदि सत्ताईस सूत्र पद परमेष्ठियों के गुण कहलते हैं। उस भव्य पुरुष को अपने जाति आदि गुणोसे आदर न करते हुए दीक्षा धारण करना चाहिये। (ये जाति आदि गुण जिस प्रकार परमेष्ठियों में होते हैं उसी प्रकार दीक्षा लेने वाले शिष्य में भी यया— संभव रूपसे होते हैं परन्तु शिष्यको अपने जाति आदि गुणों का सन्मान

- क्षेत्रज्ञाज्ञासभाः महापुराणे ।
- २. महापुराणे पर्व ३९ ।
- १. स्तेषु म०।
- Y. महानुराचे १६६-१६७ वर्ष ३९

बट्प्राभुते

ैजातिरैन्द्री भवेदि्क्या चक्रिणा विजनाधिता । परमा जातिराहुंन्स्ये स्वत्मोत्खा सिद्धिमीयुषाम् ॥ ३ ॥ भूत्यादिष्व्वपि नेतव्या कल्पनेयं चतुष्ट्यो । पुराणजैर्रासंमोहात्ववचिष्व्य त्रित्तयी मता ॥ ४ ॥ कर्यायन् मूर्तिमात्मीयां रक्षन् मूर्त्तीः जरीरिणां । तपोऽधितिष्ठेद्विव्यादिमूर्तीराप्तुमना मुनिः ॥ ५ ॥ स्वलक्षणमनिर्देश्यं मन्यमानो जिनेशिनां । लक्षणान्यभिसंधाय तपस्येत्कृतलक्षणः ॥ ६ ॥ म्लापयन् स्वाङ्गसौन्दर्यं मुनिरुग्रं तपश्चरेत् । बाङछन् दिव्यादिसौन्दर्यमनिवार्यं परं परं ॥ ७ ॥

नहीं कर परमेष्ठियों के ही जाति अर्धद गुणोंका सन्मान करना चाहिये क्योंकि ऐसा करने से वह शिष्य अहंकार आदि दुर्गुणों से बचकर अपने आपका उत्थान शीघ्र हो कर सकता है)। स्वयं उत्तम जाति वाला होने-भर भी अहंकार-रहित होकर अरहन्त देवके चरणों को सेवा करनी चाहिये क्योंकि ऐसा करनेसे वह भव्य दूसरे जन्म में उत्पन्न होनेपर दिव्या, विजयाश्रिता, परमा और स्वा इन चार उत्तम जातियों को प्राप्त होता है। ॥१-२॥

जातिरैन्द्री---इन्द्रके दिव्या जाति होती है, चक्रवर्तियों के विजया-श्रिता, अरहन्त देवके परमा और माक्षको प्राप्त हुए जीवोंके अपने आत्मा से उत्पन्न होनेवाली स्वा जाति होती है ॥ ३॥

इन चारों को कल्पना मूर्ति आदि में कर लेनी चाहिये अर्थात् जिस-प्रकार जातिके दिव्या आदि चार भेद हैं उसी प्रकार मूर्ति आदिके भी समझ लेना चाहिये। परन्तु पुराणों को जानने वाले आचार्य मोह--रहित होनेसे किसी-किसी जगह तीन ही भेदोंको कल्पना करते हैं अर्थान् सिद्धोंमें स्वा मूर्ति नहीं मानते हैं ॥४॥ जो मुनि दिव्य आदि मूर्तियोंको प्राप्त करना चाहता है उसे अपना शरीर क्वश करना चाहिये तथा अन्य जोवों के शरीरों की रक्षा करते हुए तपश्चरण करना चाहिये ॥५॥ इसी प्रकार अनेक लक्षण धारण करने वाला वह पुरुष अपने लक्षणों को निर्देश करने के अयोग्य मानता हुआ जिनेन्द्र देवके लक्षणोंका चिन्तवन कर तपश्चरण करे ॥६॥ जिनको परम्परा अनिवार्य है ऐसे दिव्य आदि सौन्दर्यों की

महापुराणे । पवं ३९ इस्रोक १६८-२०० ।

बोधप्रामृतम्

ब्युत्स्च्टस्वकायप्रभवप्रमः । मलीमसाञ्जो प्रमोः प्रभां मुनिर्घ्यायन् भवेत्सिप्रं प्रभास्वरं ॥ ८ ॥ स्वं मणिस्नेहदीपादितेजोऽपास्य जिनं भजन् । योगी स्यासेजोवलयोज्वलः ॥ ९ ॥ तेजोमयमयं त्यक्त्वाऽस्त्रवस्त्रज्ञाणि प्रक्तिनानि प्रसान्तभाकु । जिनमाराच्य योगीन्द्रो धर्मचक्राधिपो भवेत् ॥ १० ॥ त्यक्तस्नानादिसंस्कारः संश्रित्य स्नातकं जिनं । मुस्ति मेरोरवाप्नोति परं जन्मामिषेचनं ॥ ११ ॥ स्वं स्वाम्पमैहिकं त्यक्त्वा परमस्वामिनं जिनं । सेवनीयत्वमेष्यत्येष जगज्जनैः ॥ १२-॥ सेवित्वा स्वोचितासनभेदानां त्यागात्त्यक्ताम्बरो मुनिः । सिंह विष्टरमध्यास्य तीर्यप्रस्थापको भवेत् ॥ १३ ॥ योऽभून्निरुपधिम<u>ूंनिः ।</u> स्वोपधानाद्यनादृत्य श्वयानः स्थण्डिले बाहुमात्रापितशिरस्तटः ॥ १४ ॥

इच्छा करता हुआ वह मुनि अपने शरीर के सौन्दर्यं को मलिन करता हुआ कठिन तपेंश्चरण करें ॥७॥ जिसका शरीर मलिन हो गया है, जिसने अपने शरीरसे उत्पन्न होनेवाली प्रभाका त्याग कर दिया है और जो अरहन्त देवकी प्रभा का ध्यान करता है ऐसा साधु शीघ्रही देदीप्यमान हो जाता है अर्थात् दिव्य-प्रमा आदि प्रमाओं को प्राप्त करता है।।८।। जो मुनि अपने मणि और तेल के दीपक जादिका तेज छोड़कर तेजोमय जिनेन्द्र भगवान् की आराधना करता है वह प्रभामण्डल से उज्ज्वल हो उठता है ॥९॥ जो पहले के अस्त्र, वस्त्र और शस्त्र आदिको छोड़कर अत्यन्त ज्ञान्त होता हुआ जिनेन्द्र भगवान् की आराधना करता है वह योगिराज धर्मचक्रका अधिपति होता है ॥१०॥ जो मुनि स्नान आदिका संस्कार छोड़कर केवली जिनेन्द्र का आश्रय लेता है अर्थात् उनका चिन्तवन करता है वह मेरु पर्वतके मस्तक पर उत्क्रुष्ट जन्मामिषेक को प्राप्त होता है ॥११॥ जो मुनि अपने इस लोक-सम्बन्धी स्वामीपनेको छोड़कर परम-स्वामी श्री जिनेन्द्र देवको सेवा करता है वह जगत् के जीवोंके द्वारा सेवनीय होता है अर्थात् जगत् के सब जीव उसको सेवा करते हैं ॥१२॥ जो मुनि अपने योग्य अनेक आसनों के भेदोंका त्याग करके दिगम्बर हो जाता है वह सिंहासन पर आरूढ होकर तीर्थको प्रसिद्ध करने वाला अर्मात् तीर्थंकर होता है ॥१३॥ जो मुनि अपने तकिया आदिका अनादर

230

षट्प्रामृते

स महाम्युदयं प्राप्य जिनो भूखाऽऽप्तसत्क्रियः । देवैविरचितं दीप्रमास्कन्दत्युपधानकं ॥ १५ ॥ रेयक्तशीतातपत्राणसकलात्मपरिच्छदः त्रिभिष्छत्रैः समुद्भासिरत्नेरुद्भासते स्वयं ॥ १६ ॥ विविधव्यजनत्यागादनुष्ठिततपोविधिः चामराणां चतुःषष्टधा वीज्यते जिनपर्यये ॥ १७ ॥ उज्मितानकसंगीतघोषः कृत्वा तपोविषं । स्याद्द्युदुन्दुभिनिर्धोषैषुं व्यमाणजयोदयः 11 86 11 उद्यानादिकृतां छायामपास्य स्वां तपो व्यघात् । यतोञ्चमत एवास्य स्यादशोकमहाद्रुमः ॥ १९ ॥ स्वं स्वापतेयमुचिनं त्यक्त्वा निर्ममतामितः । स्वयं निषिभिरम्येत्य सेव्यते द्वारि दूरतः ॥ २० ॥ गृहशोभां कृतारक्षां दूरीकृत्य तपस्यतः। श्रीमण्डपाविकोशस्य स्वतोऽम्येति पुरोगतां ॥ २१ ॥

कर परिग्रहरहित हो जाता है और केवल अपनी भूजा पर किरका किनारा रखकर पृथिवी के ऊँचे नीचे प्रदेश पर शयन करता है वह महा-अभ्युदव को पाकर जिन होजाता है। उस समय सब लोग उसका आदर-सत्कार करते हैं और वह देवोंके द्वारा बने हुए देदीप्यमान तकिया को प्राप्त होता है ।।१४-१५॥ जो मुनि शीतल छत्र आदि अपने समस्त परिग्रह का त्याग कर देता है वह स्वयं देदीप्यमान रत्नोंसे युक्त तीन छत्रोंसे सुझोभित होता है ॥१६॥ अनेक प्रकारके पह्लाओंके त्यागसे जिसने तपद्घरण की विधिका पालन किया है ऐसा मुनि जिनेन्द्र पर्याय में चौंसठ चमरोंसे वीजित होता है अर्थात् उस पर चौंसठ चमर ढुलाये जाते हैं ॥१७॥ जो मुनि नगाड़े तथा संगीत आदि की घोषणा का त्यागकर तपश्चरण करता हैं उसके विजयका उदय स्वर्ग के दुन्दुभियों के गंभीर शब्दोंसे घोषि**त** किया जाता है।।१८।। चूँकि पहले उसने अपने उद्यान आदिके द्वारा की हुई छाया का परित्याग कर तपक्चरण किया था इसलिये ही अब उसे (ँ अरहन्स अवस्या में) महा अशोक वृक्ष की प्राप्ति होती है ॥१९॥ जो अपना योग्य धन छोड़कर निर्ममत्वभाव को प्राप्त होता है वह स्वयं आकर दूर दरवाजे पर खड़ो हुई निधियोंसे सेवित होता है अर्थात् समव-सरण भूमि में निधियां दरवाजे पर खड़े रहकर उसको सेवा करती हैं ॥२०॥ जिसकी रक्षा सब ओरसे की गई थी। ऐसी घरकी घोषाको लोड-

बोधप्रामृतम्

गहनान्यषितिष्ठतः । तपोऽविगाहनादस्य त्रिजगज्जनतास्यानसहं स्यादवगाहनं ॥ २२ ॥ क्षेत्रवास्तुसमुत्सर्गात्सेत्रज्ञत्वमुपेयुषः त्रिजनत्सेत्रमेश्यमस्योपजायते ॥ २३ ॥ स्वाधोर्न मौनमास्थितवानयं । आज्ञाभिमानमुत्सुज्य सुरासुरशिरोधृतां ॥ २४ ॥ प्राप्नोति परमामाज्ञां स्वामिष्टभृत्यबन्ध्वादिसभामुत्सुष्टवानयं परमारमपदप्राप्तावध्यास्ते त्रिजगत्सर्था ॥ २५ ॥ स्वमुणोत्कीर्तनं त्यन्त्वा त्यक्तकामो महातपाः । स्तूतिनिन्दासमो भूप: कीर्त्यंते भुवनेश्वरै: ॥ २६ ॥ बन्दित्वा बन्दामहंन्त यत्तोऽनुष्ठितवास्तपः । ततोऽयं वन्द्यते वन्दीरनिन्द्यगुणसन्निधिः ॥ २७ ॥

कर इसने तपहचरण किया इसोलिये श्रीमण्डप की शोभा अपने आप इसके सामने आती है ॥२१॥ जो तप करनेके लिये सधन वनमें निवास करता है उसे तोनों जगत् के जीवोंके लिये स्थान दे सकनेवाली अवगाहन शक्ति प्राप्त होजाती है अर्थात् उसका ऐसा समवसरण रचा जाता है जिसमें तीनों लोकोंके जीव सुखसे स्थान पा सकते हैं ॥२२॥ जो क्षेत्र मकान आदिका परित्याग करके शुद्ध आत्माको प्राप्त होता है उसे तीनों जगत्के क्षेत्रको अपने अधोन रखने वाला ऐश्वयं प्राप्त होता है ॥२३॥ जो मुनि आज्ञा देनेका अभिमान छोड़कर मौन घारणा करता है उसे सुर और असुरोंके द्वारा शिर पर धारण की हुई उत्कृष्ट आज्ञा प्राप्त होती है अर्थात् उसकी आज्ञा सब जीव मानते हैं।।२४।। चूंकि इस मुनिने अपने इष्ट सेवक तथा भाई आदिकी सभाका त्यांग कियाँ या इसलिये उत्कृष्ट अरहन्त पदकी प्राप्ति होनेपर बह तीनों लोकों की सभा अर्थात् समवसरण भूमिमें विराजमान होता है ॥२५॥ जो सब प्रकार की इच्छाओं का परित्याग कर अपने गुणोंकी प्रशंसा करना छोड़ देता है और महातपश्चरण करता हुआ स्तुति तथा निन्दा में समान भाव रखता है वह तीनों लोकोंके इन्द्रों-के द्वारा प्रशंसित होता है अर्थात् सब लोग उसकी स्तुति करते हैं ॥२६॥ चुँकि इस मुनिने वन्दना करने योग्य अरहन्त देवकी वन्दनाकर तपश्चरण किंवा था इसीलिये यह वन्दना करने के योग्य पूज्य पुरुषों के द्वारा वन्दना किया जाता है तथा प्रशंसनीय उत्तम गुणोंका भण्डार हुआ है।।२७॥

| ¥. 48-

तपोऽयमनूपानत्कः विवाहनः । **पादचा**री चरणन्यासमहंति ॥ २८ ॥ पद्मगर्भेषु कृतवान् वाग्गुप्तो हितवाग्वृत्या यतोऽयं तपसि स्थितः । ततोऽस्य दिव्यभाषा स्यात्त्रीणयन्त्यमसिलां सभां ॥ २९ ॥ अनास्त्रान्नियताऽऽहारपारणोऽतप्तयत्तपः दिव्यविजयपरमामृततूप्तयः ॥ ३० ॥ तदस्य त्यक्तकामसुखो भूत्वा तपस्यस्थाच्चिरं यतः । ततोऽयं सुखसाद्भूतः परमानन्दथ् भजेत् ॥ ३१ ॥ यथाविधं । यद्य दिष्टं किमत्रबहुनोक्तेन त्यजेन्मुनिरसंकल्पस्तत्तत् सूतेऽस्य तत्तपः ॥ ३२ ॥ प्राप्तोत्कर्षं तदस्य स्यात्तपश्चिन्तामणेः फलं । यतोऽहंज्जातिमूत्यांदिप्राप्तिः सैषानुवर्णिता ॥ २२ ॥ जैनेश्वरीं परमाज्ञां सूत्रोद्दिष्टां प्रमाणयन् । तपस्यां यद्पादत्ते पारिद्वाज्यं तदाव्जसं ॥ ३४ ॥

जो जूता और सवारीका परित्याग कर पैदल चलता हुआ तपश्चरण करता है वह कमलोंके मध्यमें चरण रखनेके योग्य होता है अर्थात् अग्हन्त अवस्था में देवलोग उसके चरणोंके नीचे कमलोंकी रचना करते हैं ॥२८॥ चूंकि यह मुनि वचन गुप्तिको धारण कर अथवा हित मित वचन रूप भाषा समितिका पालन कर तपदचरण में स्थित हुआ था इसलिये ही इसे समस्त सभा को. संतुष्ट करने वाली दिव्यष्वनि प्राप्त हुई है ॥२९॥ इस मूनिने पहले उपबास धारणकर अथवा नियमित आहार और पारणाएँ कर तप तपा था इसलिये ही इसे दिव्य तुष्ति, विजय तुष्ति परमतुष्ति और अमृत तृष्ति ये चारों ही तृष्तियां प्राप्त हुई हैं ॥ ३० ॥ चूँकि यह मुनि काम जनित सुसको छोडकर चिर काल तक तपश्चरण में स्थिर रहा था इसलिये ही यह सुखस्वरूप होकर परमानन्द को प्राप्त हुआ है ॥३१॥ इस विषय में बहुत कहनेसे क्या लाभ है ? संक्षेपमें इतना ही कह देना ठीक है कि मुनि संकल्प-रहित होकर जिस जिस वस्तुका परित्यांग करता है उसका तपश्चरण उसके लिये वही वही वस्तु उत्पन्न कर देता है।।३२॥ जिस तपश्चरण रूपी चिन्तामणिका फल उल्ह्रेष्ट पद-को प्राप्ति आदि मिलता है और जिससे अरहन्त देवकी जाति तथा भूति आदिकी प्राप्ति होती है ऐसी इस पारिव्रज्य नामकी किया का वर्णन किया ॥३३॥ जो आगम में कही हुई जिनेन्द्रदेवकी आज्ञाको प्रमाण मानता

बन्यच्च बहुवाग्जाले निबद्धं युक्तिबाघितं । पारिवाज्यं परित्याज्यं ग्राह्मं चेदमनुत्तरं ॥ ३५ ॥ पंधत्रिशच्छ्लोकैः प्रवज्या वर्णिता । इति श्रीबोधप्रामृते प्रवज्याधिकार एकादशः समाप्तः ॥ ११ ॥ अयेदानीं बोधाप्राभृतस्य चूलिकां गाथात्रयेण निरूपयन्ति— रूवत्थं सुद्धत्थं जिणमग्गे जिणबर्रोहि जह भणियं । भव्वजणबोहणत्थं छक्कायहियंकरं उत्तं ॥ ६०॥

हुआ तपस्या धारण करता है अर्थात् दीक्षा ग्रहण करता है उसीके वास्त-विक पारिव्रज्य होता है ।।३४॥ अनेक प्रकार के वचनों के जालमें निबद्ध तथा युक्तिसे बाधित अन्य लोगोंके पारिव्रज्य को छोड़कर इसी सर्वोत्कृष्ट पारिव्रज्य को अहण करना चाहिये ।।३५॥ इस प्रकार पैतीस श्लोकोंके द्वारा प्रव्रज्याका वर्णन किया गया है* ॥५९॥

इस तरह श्री बोधप्राभृतमें प्रव्रज्याधिकार नामका ग्यारहवाँ अधिकार समाप्त हुआ।

आगे तीन गाथाओंके द्वारा बोधप्राभृतकी चूलिकाका निरूपण करते हैं—

गाथार्थ-जिनमार्ग में जिनेन्द्र देवने जिस प्रकार वर्णन किया है उसी

* पं० जयचन्द्रजी ने 'आयत्तण गुणपज्जता' की छाया 'आयतनगुणपर्याप्ता' स्वीक्रुत की है तथा 'बहुविसुद्ध' सम्मत्ते' इसे 'जिणमग्गे' का विशेषण माना है । ऐसा मान कर उन्होंने इस गाधाका अर्थ निम्न प्रकार किया है— ऐसे पूर्वोक्त प्रकार आयतन जो दीक्षा का ठिकाना निर्प्रांग्य मुनि ताके गुण जे ते हैं तिनकरि पज्जत्ता कहिये परिपूर्ण, बहुरि अन्य भो जे बहुत दीक्षामें वाहिये ते गुण जामें होंय ऐसी प्रव्रज्या जिनमार्ग में जैसे ख्यात कहिये प्रसिद्ध है तैसे संक्षेप करि कही, कैसा है जिनमार्ग, विशुद्ध है सम्यक्त्व जामें अति-बार रहित सम्यक्त्व जामें पाइये है, बहुरि कैसा है जिनमाग निर्ध्र न्यर्क्स है जामें बाह्य अन्तर परिव्रह नाही है । भावार्थ —ऐसी पूर्वोक्त प्रवज्या निर्मंख सम्यक्त्व सहित निर्ग्रन्य रूप जिनमार्ग विषे कहो है, अन्य नैयायिक, वैशे-षि क, सांख्य, वेदान्त, मीमांसक, पातंजलि बौद्ध आदिक मतमें नांही है, बहुरि काल दोष तें जैनमत तें च्युत भये अर जैनो कहावें ऐसे स्वेताम्बर आदिक तिनिमें भो नाहीं हैं ॥ १५९ ॥

198

षट्प्राभृते

रूपस्थं शुद्धचर्थं जिनमार्गे जिनवरेर्यंथा भणितम् । भव्यजनबोधनार्थं षटकायहितंकरं उक्तम् ॥

(रूबत्थं सुद्धत्यं) रूपस्थं निग्रं न्यरूपस्थितमाचरणं मयोक्तमिति सम्बन्धः । किमर्थं भणितं, सुद्धत्थं बुद्धचर्थं कर्मक्षयनिमित्तं । (जिणमग्गे जिणवरेहि जह भणियं) जिनमार्गे जिनशासने जिनवरैतीर्थकरपरमदेवैगौतमान्तगणघरदेवैश्च यषा येन प्रकारेण भणितं । (भव्वजणबोहणत्यं) आसन्नभव्यजीवसम्बोधनायं । (छक्कायहियंकरं उत्तं) षट्कायहितंकरं सर्वजीवदयाप्रतिपालनार्थं उक्तं निरूपितम् ॥६०॥

सद्दवियारो हूओ भासा' सुत्तेसु ज जिणे कहियं। सो तह कहियं ³णायं सीसेण य भद्दबाहुस्स ॥६१॥

शब्दविकारो भूतः भाषासूत्रे षु यत् जिनेन कथितम् । तत् तथा कथितं ज्ञातं शिष्येण च भद्रवाहोः॥

(सद्दवियारो हुओ) अब्दविकारो भूतोऽहंद्घ्वनिर्गतः (भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं) सर्वार्धमागधीभाषासूत्रेषु यज्जिनेन कथितं श्रीवीरेणार्थरूपं शास्त्रं

प्रकार छह काय के जीवोंका हित करने वाला यह निग्रन्थ रूपका आच-रण कर्मक्षय के निमित्त मैंने भव्यजीवोंको संबोधने के लिये कहा है। दि०॥

विशेषार्थ—जिन शासनमें तोर्थंकर परमदेव अपना गौतमान्त गण-घरों ने जिस प्रकार कहा है उसी प्रकार निकट-भव्य जीवोंको सम्बोधने के लिये छहकाय के जीवोंका हित करने वाला यह निग्रं न्यमुद्राधारी मुनिका आचरण मैंने कर्मक्षय रूप शुद्धिके प्रयोजन से कहा है।।६०॥

विशेषार्थ—अरहन्त भगवान् को दिव्यध्वनि से जो पदार्थ निकला था बह शब्द विकार रूप परिणत हुआ अर्थात् गणधरों ने उसकी शास्त्र रूप रचना की । भगवान् की दिव्यध्वनि सर्वार्धमागधी भाषा रूप थी । उसमें जिनेन्द्र भगवान् ने (वर्तमान की अपेक्षा अन्तिम तीर्थंकर श्री महा-

र. चुत्तेसु ग०।

२. वार्चम०।

कथितं । (सो तह कहियं णायं) तत्तथा कथितं ज्ञातमवगतं । (सीसेण य भद्दबाहुस्त) केन ज्ञातं? शिष्येणान्तेवासिना भद्रबाहुशिष्येण अहँढळिगुप्ति-गुप्तागरनामद्वयेन विशाखाद्यायँनाम्ना दशपूर्वभारिणामेकादशानामात्त्रार्याणा मध्ये प्रथमेन ज्ञातं ।

वारसअंगवियाणं चउदसपुब्वंगविउलवित्थरणं । सुयाणिभद्दबाहू गमयगुरूभयवओ जयओ ॥६२॥ द्वादशाङ्गविज्ञानः चतुर्दशपूर्वाङ्गविपुलविस्तरणः । श्रुतज्ञानिभद्रबाहुः गमकगुरुः भगवान् जयतु ॥

(वारसअंगवियाणं) द्वादशाङ्कविज्ञानयुक्तः । चउदसपुश्र्यंगविउलवित्यरणं चतुर्दशानां पूर्वाङ्कानां विपुर्लं पृथु विस्तरणं यस्य स चतुर्दशपूर्वाङ्गविपुलविस्तरणः । (सुयणाणिभट्दबाहू) पंचानां श्रुतकेवलिनां मध्येऽन्त्यो भद्रबाहुः । (गमय-गुरूभयवओ जयओं) यादृशः सूत्रेऽयंस्तादृशो वाक्यार्थ्यंस्तं उग्रनन्तीति गमकास्तेषां गुरुरुशाध्यायो भगवान् इन्द्रादीनामाराध्यो जयतु सर्वोत्कर्षेण वर्ततां तस्मायस्माकं नमस्कार इत्यर्थः ।

बोर भगवान् ने) जो अर्थ रूा शास्त्र जिसप्रकार कहा था उसे भद्रवाहुके जिष्यने उसी प्रकार कहा तथा जाना है। यहाँ भद्रवाहुके शिष्यसे विशाखा-चार्य का ग्रहण है। इन विशाखाचार्य के 'अर्हद्वलि और 'गुप्ति गुप्त' ये दो नाम और भो हैं, तथा ये दश पूर्वके धारक ग्यारह आचार्योके मध्य प्रथम आचार्य थे।।६१।।

गायार्थ-जो द्वादशाङ्ग के ज्ञानसे युक्त थे, जिन्होंने चौदह पूर्वोका अत्यन्त विस्तार किया था तथा जो गमकों-व्याख्याकारोंके गुरु थे वे भगवान श्रुतज्ञानी भद्रबाहू जयवंत हों ।।६२।।

विशेषार्थ---इस पद्य में श्री कुन्दकुन्द स्वामो ने अन्तिम श्रुतकेवली श्रोभद्रबाहुके प्रति विनय प्रगट करते हुए कहा है कि जो बारह अंगोंके ज्ञाता थे, चौदह पूर्वोंका जिन्होंने बहुत विस्तार किया था, जो पूर्ण श्रृतज्ञानी थे----पाँच श्रुत केवलियों में अन्तिम श्रुतकेवली थे, जो गमकोंके गुरु अर्थात् उपाध्याय थे और इन्द्र आदिके द्वारा आराधना के योग्य होने से भगवान् थे, वे भद्रबाहु महाराज जयवंत रहें उनके लिये हमारा ममस्कार है। शास्त्रके शब्द और उसके अनुरूप अर्थको जो जानते हैं वे गमक कहलते हैं ॥ ६२ ॥

षट्प्रामृते

इति अभियसनन्दिकुन्दकुन्दाचार्यवक्रगीवाचार्येछाचार्यपृद्धपिच्छाचार्यनामपंचक विराजितेन श्रीसीमन्धरस्वामिज्ञानसंबोधितभव्यजनेन श्रीजिनचन्द्र सूरिभट्टारक-पट्टाभरणभूतेन कलिकालसर्वज्ञेन विरचिते षट्प्राभृतग्रन्थे सर्वमुनिमण्लीमण्डितेन कछिकालगौतमस्वामिना श्रीमल्लिभूषणेन भट्टारकेणानुमतेन सकलविद्वज्जनसमाज-सम्मानितेनोभयभाषाकविचक्रवर्तिना श्रीविद्यानन्दिगुर्वन्तेवासिना सूरिबरश्रीश्रुत-सागरेण विरचिता बोधप्राभृतस्य टीका परिसमाप्ता ।

इस प्रकार श्री पद्मनन्दी, कुन्दकुन्दाचार्यं, वक्रग्रोवाचार्यं, एलाचार्यं और गृद्धपिच्छाचार्यं इन पाँच नामोसे विराजित, श्रीसीमन्धर स्वामीके ज्ञानसे भव्यजनों को सम्बोधित करने वाले, श्रीजिनचन्द्र सूरि भट्टारक के पट्टके आभूषण, कलिकालसर्वंज्ञ श्री कुन्दकुन्दके द्वारा विरचित षट्-प्राभृत ग्रन्थ में समस्त मुनियों की मण्डलो से सुशोभित, कलिकालके गौतमस्वामी, श्रीमल्लिभूषण भट्टारकके द्वारा अनुमत, समस्त विद्वज्जन-के समूहसे सन्मानित जभयभाषा के कवियों में श्रोष्ठ श्रीविद्यानन्दि गुरुके शिष्य सूरिवर श्री श्रुतसागर के द्वारा विरचित बोधप्राभृत की टोका समाप्त हई।

भाव प्राभृतम्

अथेदानीं भावप्राभृतं कुवंन्तः श्रीकुन्दकुन्दाणार्या इष्टदेवतां नमस्कुर्वन्ति----णमिऊण जिणवरिंदे णरसुरभवणिदवंदिए सिद्धे । वोच्छामि भावपाहुडमवसेसे संजदे सिरसा ॥१॥ नमस्कृत्वा जिनवरेन्द्रान् नरसुरभवनेन्द्रवन्दितान् सिद्धान् । वक्ष्यामि भावप्राभृतं-अवशेषान् संयतान शिरसा ॥१॥

(णमिऊण जिणवरिंदे) नमस्कृत्य, कान् ? जिनवरेन्द्रान सप्तप्रकृतिक्षयेण इत्वैकदेशेन जिनाः सदृष्टयः श्रावकादय एकादशगुणस्थानवर्तिनः क्षोणकषायास्य सयोगकेवलिपर्यन्ती जिना उच्यन्ते गणघरदेत्राश्च तेषां मध्ये वराः श्रेष्ठा अपर-केवलिनश्च तेषामिन्द्राः स्वामिनस्तीर्थकरपरमदेवा जिनवरेन्द्राः कथ्यन्ते तान् नत्वा। कथंभूतान् जिनवरेन्द्रान्, (णर सुरभवणिदवर्दिए) नरेन्द्रसुरेन्द्रभावने-न्द्रवंदितान्। (सिद्धे) तादृग्विशेषणविशिष्टान् सिद्धांश्च नत्वा (वोच्छामि माबणाहुढं वक्ष्यामि) कथयिष्यामि, किं तद्भावप्राभृतं। न केवल्जमर्ह्तिसद्धान्

् अब इस समय भाव प्राभूत को रचना करते हुए श्रीकुन्दकुन्दाचार्य इष्ट देवताको नमस्कार करते हैं—

गायार्थ-मनुष्य, देव और भवनवासियोंके इन्द्रोंसे वन्दित तीर्यंकर परमदेव, सिद्ध परमेष्ठी तथा अन्य संयमी मुनियोंको शिरसे नमस्कार कर मैं भावप्राभृतको कहूँगा ॥१॥

विशेषार्थ—मिथ्यात्व, सम्यगमिथ्यात्व, सम्यक्त्व प्रकृति तथा अनन्तानुबन्धो कोध मान माया लोभ-इन सात प्रकृतियोंके क्षय की अपेक्षा से अविरत सम्यग्दृष्टि, श्रावक पञ्चम गुणस्थानको आदि लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक के जीव, क्षीणकषाय, संयोगकेवली और गणधर देव जिन कहलाते हैं। इनमें वर-श्रेष्ठ अपर केवली हैं, उनके इन्द्रस्वामी तीर्थंकर परमदेव जिनवरेन्द्र कहे जाते हैं। ये जिनवरेन्द्र नरेन्द्र सुरेन्द्र और भाव-नेन्द्रों के द्वारा वन्दित होते हैं। ये जिनवरेन्द्र नरेन्द्र सुरेन्द्र और भाव-नेन्द्रों के द्वारा वन्दित होते हैं। जिनके समस्त कर्मोंका क्षय हो चुका है वे सिद्ध कहलाते हैं, सिद्ध भी नरेन्द्र सुरेन्द्र और भावनेन्द्रों के द्वारा वन्दित हैं। इन अरहन्त और सिद्धके सिवाय आचार्य उपाध्याय और सर्व साथु नामक तीन प्रकारके संयमी और हैं। इस तरह इन पाँचों परमेष्ठियों वन्दित्वाऽपि तु (अवसेसे संजदे) अवशेषान् संयतान् आचार्योपाध्यायसर्वसाधून् त्रिविधान् मुनीन् नत्वा केन, (सिरसा) उत्तमांगेन जानुकूर्परशिरः पंथकेन प्रणिपत्यरेयर्थः ।

भावो य पढमलिंगं ण दव्वलिंगं च जाण परमत्थं । भावो कारणभूदो गुणदोसाणं जिणा विति ॥२॥ भावश्च प्रथमलिंगं न द्रव्यलिंगं च जानोहि परमाथम् । भावः कारणभूतः गुणदोषाणां जिना विदन्ति ॥२॥ (भावो य पढमलिंगं) भावश्च प्रथमलिंगं दीक्षाचिन्हं भावो भवति । चकाराद्द्रव्यलिंगं धृत्वा भावलिंगं प्रयथमलिंगं दीक्षाचिन्हं भावो भवति । प्रकटीभवति तथा द्रव्यलिंगिनो मुनेर्भावलिंगं प्रकटं भवति पुरुषशक्तिः प्रकटीभवति तथा द्रव्यलिंगिनो मुनेर्भावलिंगं प्रकटं भवति पुरुषशक्तीर्भावस्य च लोचनानामगोचरत्वात् । उक्तं चेन्द्रनन्दिमा भट्टारकेण समयभूषणप्रवचने—

> द्रव्यलिगं समास्थाय भावलिंगी भवेद्यतिः । विना तेन न वन्द्यः स्पाल्नामात्रतघरोऽपि सन् ॥१॥

को शिरसे अर्थात् दो घुटने दो कोहनीं और शिरर्इन पाँच अर्झ्नों से नमस्कार कर मैं भावप्राभृत ग्रन्थको कहूँगा । ऐसा श्रीकुन्दकुन्द स्वामी ने मङ्गलाचरण के साथ प्रतिज्ञा-वाक्य को प्रगट किया है ।।१।।

आगे भाव-लिङ्गकी प्रमुखता का वर्णन करते हैं---

गाथार्थ---भाव ही प्रथम लिङ्ग है, द्रव्य-लिङ्ग परमार्थ नहीं है, अथवा भावके बिना द्रव्यलिङ्ग परमार्थ की सिद्धि करने वाला नहीं है, गुण और दोषोंका कारण भाव हो है, ऐसा जिनेन्द्र भगवान् जानते है। २॥

विशेषार्थ-भाव प्रथम लिङ्ग है अर्थात् दीक्षाका प्रथम चिह्न है। 'भावो य'-'भावरच' यहां 'च' शब्द से यह सूचित किया है कि द्रव्य-लिङ्ग धारण करके भावलिंग प्रगट किया जाता है। जिस प्रकार सन्तान की उत्पत्ति से मनुष्य की पुरुषत्व शक्ति प्रगट होती है उसी प्रकार दिव्य-लिंगी मुनिके भावलिङ्ग प्रकट होता है क्योंकि मनुष्यकी पुरुषत्व शक्ति और भाव नेत्रों के विषय नहीं हैं---आँ सों से दिखाई नहीं देते हैं। जैसा कि श्रीइन्द्रनन्दी भट्टारक ने समयभूषण प्रवचन में कहा है---

द्रव्यलिङ्ग —मुनि द्रव्यलिङ्ग धारण कर भावलिङ्गी होता है क्योंकि नाना वर्तों का धारक होने पर भी मुनि द्रव्यलिङ्ग के बिना वन्दनीय नहीं है---नमस्कार करनेके योग्य नहीं है ॥ १ ॥ इस द्रव्यलिङ्गको भावलिङ्ग- -4. २]

द्रव्यलिममिदं ज्ञैथं भावलिंगस्य कारणं। तदघ्यात्मकुर्तं स्पष्टं न नेत्रविषयं यत्तः ॥२॥ मुद्रा सर्वंत्र मान्या स्याग्निमुंद्रो नैव मान्यते। राजमुद्राघरोऽत्यन्तहीनवच्छास्त्रनिर्णयः ॥३॥

(ण दव्वस्तिंगं च जाण परमत्थं) द्रव्यलिंगे सति भावं विना परमार्थसिद्धिनं भवति तेन कारणेन द्रव्यलिंगं परमार्थसिद्धिकरं न भवति मोक्षं न प्रापयति, तेन कारणेन द्रव्यलिंगपूर्वकं भावलिंगं वर्तव्यमिति भावार्थः । ये तु गृहस्थवेषधारिणोऽपि

का कारण जानना चाहिये क्योंकि भावलिङ्ग आत्मा के भीतर होनेसे स्पष्ट ही नेत्रोंका विषय नहीं है। २ ॥ सब जगह मुद्रा मान्य होती है, मुद्रा-हीन मनुष्यकी मान्यता नहीं होती। जिस प्रकार राजमुद्रा (चपरास) को धारण करने वाला अत्यन्त हीन व्यक्ति भी लोक में मान्य होता है, उसी तरह द्रध्यलिङ्ग नग्नदिगम्बर मुद्राको धारण करने वाला साधारण पुरुष भी मान्य होता है, यह शास्त्रका निर्णय है।।३।।

द्रव्य-लिंग होनेपर भी यदि भाव-लिंग नहीं है तो वह द्रव्य-लिंग पर-मार्थ को सिद्धि करने वाला नहीं है इसलिये द्रव्य-लिंग पूर्वक भाव-लिंग धारण करना चाहिये । इसके विपरोत जो गृहस्थ वेषके धारक होकर भी 'हम भावलिंगी हैं क्योंकि दीक्षाके समय हमारे अन्तःकरणमें मुनिव्रत धारण करनेका भाव था' ऐसा कहते हैं उन्हें मिथ्यादृष्टि जानना चाहिये, क्योंकि वे विशिष्ट जिन लिंगके विरोधो हैं----उससे द्वेष रखनेवाले हैं। युद्ध को इच्छा करते हुए कायर की तरह स्वयं नष्ट होते हैं और दूसरों को भी नष्ट करते हैं। मुख्य व्यवहार धर्मके लोपक होनेके कारण दे विधिष्ट पुरुषों द्वारा दण्डनीय हैं । केवल ज्ञान आदि गुणोंका और नरक-पात आदि दोषोंका कारण भाव ही है। यदि कोई मुनि द्रव्यलिंग-नग्त-मुद्रा को धारण करके राग द्वेष मोह आदि में पड़ता है तो उसका वह भाव संसार का कारण होता है। और यदि द्रव्यलिंग धारण कर मैं 'नीराग हूँ'---राग रहित हूँ, निर्द्रेष हूँ---द्वेष रहित हूँ एवं निर्मोह हूँ---मोह रहित हूँ ऐसी भावना भाता है तो वह केवल ज्ञान आदि गुणोंको उत्पन्न करता है तथा मुक्तिको प्राप्त होता है।इस अर्थको केवली-जिनेन्द्र जानते हैं ॥ २ ॥

[यहां कुन्दकुन्द स्वामीने प्रकट किया है कि भावलिंग ही प्रमुख लिंग है। भावलिंग के बिना मात्र द्रव्य-लिंग परमार्थ नहीं है। जिसके भाव

षट्प्राभृते

वयं भावलिंगिनो वर्तामहे दीक्षायामन्तर्भावत्वात्ते मिष्यादृष्टयो ज्ञातव्या विशिष्ट-जिनलिंगविद्वेषित्वात्, योद्धुमिच्छवः कातरवत्स्वयं नक्ष्यन्ति, अपरानपि नाधायन्ति, ते मुख्यव्यवहारघमंलोपकत्वाद्विशिष्टैदंण्डनीयाः । (भावो कारणभूदो) भावः परममुक्तिकारणभूतः । (गुणदोसाणं) गुणानां केवलज्ञानादीनां, दोषाणां नरक-पातादीनां च कारणभूतो भाव एव । यदि द्रव्यलिगं घृत्वा रागद्वेषमोहादिषु पतति

लिंग होता है उसके द्रव्य लिंग होता ही है पर जिसके द्रव्य-लिंग है उसके भावलिंग होता भी है और नहीं भी होता है। जिनेन्द्र भगवान् ने मोक्ष-प्राप्ति के लिये दोनों लिंगों को आवश्यक बतलाया है । द्रव्य-लिंग के बिना मात्र भावलिंग से मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता और भाव-लिंगके बिना मात्र द्रव्य-लिंग से आत्माका कल्याण नहीं हो सकता । यहाँ भाव-लिंग पहले होता है। इसका यह अर्थ नहीं समझना चाहिये कि सप्तम गुणस्थानका भाव पहले होता है और वस्त्र-त्याग रूप द्रव्यलिंग पीछे होता है क्योंकि ऐसा मानने से सवस्त्र अवस्थामें सप्तम गुणस्थान मानना पड़ेगा, पर ऐसा मानना शास्त्र-सम्मत नहीं है। इसलिये प्रथम भावलिंग होता है, इसका अर्थ यह है कि संसार की मोह-ममतामें लीन प्राणी प्रथम उससे विरक्ति का दुढ़ निइचय करता है—मैं परिग्रह त्याग कर दैगम्बरो दीक्षा धारण करूँ, ऐसा भाव हृदय में उत्पन्न करता है। इस भावना से प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय उत्तरोत्तर मन्दसे मन्दतर होता जाता है, उसी मन्द मन्दतर अवस्थामें वह केशलोंच तथा वस्त्र-त्याग आदिकी क्रिया करता है और उसके बाद सप्तम गुणस्थान को प्राप्त होता है। तदनन्तर सप्तम गुणस्थान से गिरकर छठवें गुणस्थान में होता है। इसका यह छठवें सातवें गुणस्थानका कम हजारों बार चलता रहता है। संस्कृत टीकाकार ने जो यह लिखा है कि 'द्रव्यलिंग धारण कर भाव-लिंग प्रकट किया जाता है' वह इसी अभिप्राय से लिखा है कि केशलोंच तथा वस्त्र-त्याग आदिकी क्रिया पहले हाती है, सप्तम गुणस्थान का भाव पीछे होता है। करणानूयोम की अपेक्षा भावों की गति का पहिचानना प्रत्येक व्यक्तिके लिये शक्य नहीं है, अतः मुनि या श्रावकके आचारकी व्यवस्था चरणानुयोगके आधार पर ही शास्त्रकारों ने की है, करणानुयोग के आधार पर नहीं। इस स्थिति में जो अन्य साघुवस्त्र धारण कर गृहस्थ के वेष में रहते हुए भी यह कहते हैं कि हम भाव-लिंग की अपेक्षा मनि हैं, द्रव्य-लिगकी अपेक्षा तग्न नहीं हुए तो क्या हुआ ? सो उनका वैसा

मुनिस्तदा स तस्य भावः संसारकारणं भवति । यदि इव्यलिंगं घृत्वा नीराग-निर्द्वेषनिर्मोहभावनां भावयति तदा केवलज्ञानादीनां गुणानुत्पादयति मुक्ति गच्छति : एतदर्थं (जिण विति) केवलिनो जानन्ति ।

भावविसुद्धिणिमित्तं वाहिरगंथस्स कोरए चाओ । वाहिरचाओ विहलो अब्भन्तरगंथजुत्तस्स ॥३॥ भावविशुद्धिनिमित्तं बाह्यप्रन्थस्य क्रियते त्यागः ।

बाह्यत्यागो विफलः अभ्यन्तरग्रन्थयुक्तस्य ॥३॥

(भावविसुद्धिनिमित्तं) भावस्थात्मनो विशुद्धिनिमित्तं कारणं। (बाहिर-गंथस्स कीरए चाओ) बाह्यग्रन्थस्य क्रियते त्यागः वस्त्रादेर्मोचनं विधीयते। (बाहिरचाओ विहलो) बाह्यत्थागो विकजोऽन्तर्गंडुर्भवति। (अब्भंतरगंथजुत्तस्स) अभ्यन्तरपरिग्रहयुक्तस्य नग्नस्यापि वस्त्रादेराकांक्षायुक्तस्येति भावः। तथा चोक्त--

बाह्यग्रन्थविहीना दरिद्रमनुआः स्वपापतः सन्ति ।

यः पुनरत्तःसंगत्यागी लोके स दुर्लभः साद्यः ।।१।। भावरहिओ न सिज्झइ जइ वि तवं चरइ कोडिकोडीओ । . जन्मंतराइं बहुसो लंबियहत्यो गलियवत्थो ।।४।।

कहना ठीक नहीं है वे जिन-लिङ्ग के द्वेषी हैं तथा कर्म रूपी शत्रुओं से युद्धके इच्छुक होते हुए भी कायर मनुष्यों को तरह स्वयं नष्ट होते हैं और अपने शिथिलाचार से दूसरों को भी नष्ट करते हैं। विवेकी मनुष्य भाव-लिंगके अनुसार व्यवहार धर्मका अवश्य पालन करते हैं।]

गाथार्थ—भावोंको विशुद्धि के लिये बाह्य परिग्रहका त्याग किया जाता है। जो अन्तरङ्ग परिग्रह से सहित है उसका बाह्य त्याग निष्फल है॥ ३॥

विशेषार्थं---भाव----आत्माकी विशुद्धता के निमित्त वस्त्र और बाह्य परिग्रहका त्याग किया जाता है, पर जो बाह्यमें नग्न होकर भो अन्तरङ्ग-परिग्रह से युक्त है--वस्त्र आदि को आकांक्षा रखता है उसका वह बाह्य-त्याग निष्फल है। कहा भी है---

बाह्य-दीरद्र मनुष्य अपने पापके कारण बाह्य परिग्रह के स्थागो तो स्वयं है परजो जन्तरङ्ग का त्यागी है, ऐसा साधु लोकमें दुर्लभ है ॥१॥ गाबार्थ---भावरहित साघु यद्यपि कोटी-कोटी जन्मतक हाथोंको नीचे भावरहितो न सिद्धवति यद्यपि तपत्र्चरति कोटकोटी । जन्मान्तराणि बहवः लम्बितहस्तो गल्जितवस्त्रः ॥४॥

(भावरहिओ न सिज्झइ) भावरहित आत्मस्वरूपभावनारहितो विषय-कषायभावनासहितस्तपस्वो अपि न सिद्धचति न सिद्धि प्राप्नोति । (जद्द वि तवं चरइ कोडिकोडीओ) यद्यपि तपरचरति करोति कोटकोटो (जम्मंतराइ) जन्मान्तराणि । (बहुसो) बहुकोऽनेककोटोकोटोजन्मान्तराणि । कथंभूतः सन्, (लंबियहत्यो) अधोयुक्तबाहुद्वयः (गल्यिवत्थो) नग्नमुद्राघरोऽपि सन् ।

परिणामस्मि असुद्धे गंथे मुच्चेइ बाहरे य जई । बाहिरगंथच्चाओ भावविहूणस्स कि कुणइ ॥५॥

परिणामे अशुद्धे ग्रन्थान् मुञ्चति बाह्यान् च यदि । बाह्यप्रन्थत्यागो भावविहोनस्य किं करोति ॥५॥

(परिणामम्मि असुद्धे) परिणामे मनोव्यापारेऽशुद्धेऽपि विषयकषायादिभिर्म-लिने सति । (गंथे मुच्चेइ बाहिरे य जई) ग्रन्थान् मुञ्च्वति परिग्रहान् वस्त्रादोन् त्यजति यतिजिनलिंगघारी मुनिः । (बाहिरगंथच्चाओ) बाह्यग्रन्थत्यागो वस्त्रा-दित्यजनं । (भावविहूणस्स किं कुणइ) भावविहोनस्यात्मभावनारहितस्य बहि-

लटका कर तथा वस्त्रका परित्याग कर तपक्ष्चरण करता है तो भो सिद्धि-को प्राप्त नहीं होता है ॥ ४ ॥

विशेषार्थ---भाव-आत्म-स्वरूपकी भावना से रहित और विषय कषाय की भावना से सहित साधु तपस्वी होनेपर भी सिद्धि को प्राप्त नहीं होता है भले ही वह अनेक कोटी कोटी जन्म तक दोनों भुजाओंको नीचेकी ओर लटका कर तथा नग्न-मुद्राका धारी होकर तपश्चरण भी करता रहा हो ॥४॥

गाधार्थ—भावके अशुद्ध रहते हुए यदि कोई बाह्य परिग्रह का त्याग करता है तो उस भावविहोन मनुष्यका वाह्य परिग्रह त्याग क्या कर देगा ? अर्थात् कूछ नहीं॥५॥

विशेषार्थ--परिणाम अर्थात् मनोव्यापार के अशुद्ध होनेपर भी विषय कषाय आदि से मलिन रहने पर भी यदि कोई जिन-लिङ्ग धारी मुनि वस्त्रादि बाह्य परिग्रहका त्याग करता है तो उसका वह बाह्य त्याग भाव-विहीन अर्थात् आत्मा की भावना से रहित बहिरात्मा जीवका क्या रात्मनो जीवस्य कि करोति, न किमपि कर्मसंवरनिर्जरालक्षणं कार्य करोतीति भावार्यः ।

जाणहि भावं पढमं कि ते लिंगेण भावरहिएण । पंथिय सिवउरिपंथं जिणउवइटुं पयत्तेण ॥६॥ जानीहि भावं प्रथमं कि ते लिंगेन भावरहितेन ।

पथिक ! शिवपुरीपथः जिनोपदिष्ट: प्रयत्नेन ॥६॥

(जाणहि भावं पढम) जानीहि भावमात्मस्वरूपभावानां प्रथमं मुख्यं । (किं ते लिंगेण भावरहिएण) किं तव लिंगेन भावरहितेन किं, न किमपि संवरनिर्जरा-दिलक्षणं कार्यं, अपि तु न किमपि कार्यं भवति लिंगेन वस्त्रादित्यजनलक्षणेनात्म-स्वरूपभावनारहितेन । (पंथिय) हे पश्चिक ! मोक्षमार्गमार्गक ! (सिवउरिपंयं) मोक्षनगरीमार्गः । (जिणउवइट्ठं) जिनोपदिष्टः । (पयत्तेण) प्रयत्नेन यतः कारणादिति क्षेधः ।

भावरहिएण सउरिस अणाइकालं अणंतसंसारे । गहिउज्झियाइं बहुसो बाहिरनिग्गंथरूवाइं ॥७॥ भावरहितेन सत्पुरुष ! अनादिकालं अनन्तसंसारे । - गृहोतोज्झितानि बहुशः बाह्यनिग्रंन्थरूपाणि ॥७॥

कर सकता है ? अर्थात् कर्मोंके संवर और निर्जरा रूप कुछ भी कार्यं नहीं कर सकता है ॥५॥

विशेषार्य---भाव--आत्मस्वरूप की भावना को प्रमुख जानो अथवा सबसे पहले भावको पहिचानो, भाव-रहित लिङ्ग से---मात्र द्रव्य-लिङ्गसे तुझे क्या प्रयोजन है ? उससे संवर निर्जरा आदि रूप कुछ भो कार्य नहीं होता है । हे पथिक ! तू मोक्षमार्ग की खाज कर रहा है । सो मोक्षपुरी का मार्ग जिनेन्द्र भगवान् ने बड़े प्रयत्न से--बतलाया है । तू उसी मार्ग पर चल ॥६॥

गाथार्थ--हे सत्पुरुष ! तू ने भाव-रहित होकर अनादि कालसे इस अनन्त संसार में बहुत बार बाह्य निग्रॅन्थ मुद्रा को ग्रहण किया तथा छोड़ा है ॥७॥ (भावरहिएम सउरिस) भावरहितेन सत्पुरुष ! भावविवर्जितेनात्मरूप-भावनारहितेन त्वया । (अणाइकालं अपंतसंसारे) अनादिकालमनन्ससंसारे । (गहिउज्झियाइ बहुसो) गृहीतान्युज्झितानि च बहुधोऽनेकवारान् । (बाहिर-निग्गंयरूवाइ) बहिनिग्रंन्यरूपाणि आत्मरूपभावनारहितानीति भावार्थः ।

भोसणणरयगईए तिरियगईए कुदेवमणुगइए । पत्तोसि तिव्वदुक्खं भावहि जिणभावणा जीव ॥८॥

भीषणनरकगतौ तिर्यग्गती कुदेवमनुष्यगतौ । प्राप्तोऽसि तीव्रदृःखं भावय जिनभावनां जीव ।।८।।

(भीषणणरयगईए) भोषणा भयानका या नरकगतिस्तस्यां भीषणनरक-गत्यां। (तिरियगईए) तियंगारयां (कुदेवमणुगइए) कुत्सितदेवकुत्सितमनुष्य-गत्योर्विषये। (पत्तोसि तिव्वदुक्सं) प्राप्तोऽसि तीव्रदुःसं एकान्तेन दुःसं। (भावहि जिणभावणा जीव) यया विना त्व तीव्रं दुःसं प्राप्तध्चतुर्गतिषु तां भावय जिनभावनां जिनसम्यक्त्वभावनां हे जीव ! हे आत्मन ! बहिरात्मत्त्वं मिथ्यादृष्टित्वं परित्यज्य सम्यग्दृष्टिभव त्वं। तेन तव चतुर्गतिदुःसं विनंध्यति स्तोकेन कालेनात्पभवान्तरेण तीर्थंकरो भूत्वा मुक्ति यास्यसि। तथा चोक्तं---

विशेषार्थ—हे सत्पुरुष ! आत्मस्वरूप को भावना से रहित होकर तू ने अनादि कालसे इस अनन्त संसार में अनेकों बार बाह्य निर्ग्रन्थ मुद्रा को धारण किया तथा छोड़ा पर उससे तेरा कुछ भी कल्पाण नहीं द्रुआ ॥७॥

गाथार्थ---हे जीव ! जिस जिन भावना के बिना तू भयंकर नरक गतिमें, तिर्यञ्च गति में, कुदेवगति में और कुमानुष गति में तीव्र दुःख को प्राप्त हुआ है, अब उस जिनभावना का चिन्तन कर ॥८॥

विशेषार्थ-भयानक नरक गति, तिर्यञ्च गति, भवनत्रिक आदि कुत्सित देवगति तथा कुत्सित मनुष्यगति में तू ने एकान्त रूप से तीव दुःख, जिस जिन-भावना-जिन सम्यक्त्व भावना ने बिना प्राप्त किये हैं, हे जीव ! हे आत्मन् ! अब तो उस जिनभावना का चिन्तन कर अर्थात् बहिरात्मा-मिथ्यादृष्टि अवस्था का परित्याग कर, सम्पर्युष्टि हो जा । उससे तेरे चतुर्गति के दुःख थोड़े ही समय में नष्ट हो जावेंगे और तू थोड़े ही भावों के बाद तीर्थंकर होकर मोक्षको प्राप्त कर लेगा । जैसा कहा है--

१. जीवा ग। जीवो घ०।

भावप्राभृतम्

-4.6]

एकापि समर्थेयं जिनमन्तिदुंगींत निवारयितुं । पुष्पानि च पूरयितुं दातुं मुक्तिश्चियं क्वतिनः ॥१॥ कासौ जिनमावना ? लोकप्रसिद्धं दोधकमिदम्---जिण पुज्जहिं जिणवरु युणहि जिणहं म खंडहि आण । जे जिणधम्मिसु रत्तमण ते जाणिज्जइ जाण ॥ एक्कहि फुल्लहि माटिदेइ जु सुरतररिद्धडी । एही करइ कुसाटिवपु भोलिम जिणवरतणी ॥ अन्यच्च----

> भुखयतु सुखभूमिः कामिनं कामिनीव सुतमिव जननो मां शुद्धशीला भुनक्तु । कुलमिव गुणभूषा कन्यका संपुनीता-ज्जिनपतिपदपदाप्रेक्षिणी दृष्टिलक्ष्मीः ॥१ध

एकापि समर्थेयं----यह एक ही जिन-भक्ति, दुर्गति को दूर करने, पुण्य को पूर्ण करने तथा कुशल मनुष्यको मोक्ष--लक्ष्मी प्रदान करने के लिये समर्थ है।।१॥

प्रश्व----वह जिन-भावना क्या है ?

उत्तर---इस लोक-प्रसिद्ध दोहा में जिनभावना का स्वरूप स्पष्ट है।

जिणपुर्ज्जहि---जिनेन्द्र भगवान्को पूजा करो, जिनेन्द्र देव को स्तुति करो, जिनेन्द्र देवकी आज्ञा का खण्डन न करो । जो जिन धर्मके धारकोंमें रक्तचित्त हैं---सह-धर्मी जनों से वात्सल्य--भाव रखते हैं वे ही ज्ञानो हैं, ऐसा जान ।

एक्कहि—जो भगवान्को एक फूल चढ़ाता है उसे समवसरणमें अनेक फूल प्राप्त होते हैं अर्थात् वह पुष्पवृष्टि नामक प्रातिहार्य को प्राप्त होता है। वह जीव ज्यों ज्यों जिनेन्द्र भगवान् की पूजा करता है त्यों त्यों उसके पाप नष्ट होते जाते हैं।

और भी कहा है—

सुखयतु—जिस प्रकार वैषयिक सुखकी भूमि स्वरूप स्त्री अपने पति को सुखो करती है उसी प्रकार आत्म-जन्य सुखकी भूमि, जिनेन्द्र देवके वरण कमलों का अवलोकन करने वाली सम्यग्दर्शन रूपी लक्ष्मी मुझे सुखी कौँ। जिस प्रकार शुद्धशोला--पातिव्रत्य धर्मसे युक्त माता पुत्र को

१, रत्नकरण्ड श्रावकाचारे समन्तभद्रस्य ।

षट्प्रामृते

एवमर्थं ज्ञात्वा ये जिनपूजनस्नपनस्तवननवजीर्णचैत्यचैत्यालयोद्धारणयात्रा-प्रतिष्ठादिकं महापुण्यं⁹ कर्मविष्ट्यंसकं तीर्थंकरनामकर्मदायकं विशिष्टं निदानरहितं प्रभावनाङ्गं गृहस्थाः सन्तोऽपि निषेधन्ति ते पापात्मनो मिथ्यादृष्टयो नरकादि-दुःखं चिरकालमनुभवन्ति अनन्तसंसारिणो भवन्तीति भावार्थः ।

सत्तसु नरयावासे दारुणभोसाइं असहणीयाइं । भुत्ताइं सुइरकालं दुक्खाइं निरंतरं सहियाइं ॥९॥ सप्तसुनरकवासे दारुणभोष्माणि असहनोयानि । भुक्तानि सुचिरकालं दुःखानि निरन्तरं स्वहित ॥९॥ (सत्तसुनरयावासे) सप्तानां सुनरकाणां महानरकाणां वासे निवासे सति

हे जीव ! (दारुणभीसाइं) दारुणानि तीवाणि, भीष्माणि भयानकानि । (अस-हणीयाइं) असहनीयानि असह्यानि सोढुमशक्यानि । (भुत्ताइं) भुक्तानि अनुभूतानि । (सुइरकालं) सुष्ठु अतीव चिरकालं दीर्घकालं एकसागरमारम्य

रक्षा करती है उसी प्रकार शुद्धशोला निरतिचार शोलव्रतों से युक्त सम्यग्दर्शन रूपी लक्ष्मी मेरी रक्षा करे और जिस प्रकार गुणभूषा--गुण-रूपी आभूषणों से युक्त कन्या कुलको पवित्र करती है उसी प्रकार मूल-गुण अथवा प्रशम संवेग आदि गुणोंसे युक्त सम्यग्दर्शनरूपी लक्ष्मी मुझे पवित्र करो ॥१॥

इस तरह अर्थ को जानकर जो जिन पूजन, जिनाभिषेक, जिन स्तवन, नवोन अथवा जोगं मूर्ति और मन्दिरों का निर्माण अथवा जीर्णो-द्धार, यात्रा तथा प्रतिष्ठा आदि महान् पुण्य कर्मका और कर्मोंको नष्ट करने वाले, तीर्थंकर नाम कर्म के दायक, निदान रहित विशिष्ट प्रभावना अङ्गका गृहस्थ होते हुए भी निषेध करते हैं, वे पापी मिथ्यादृष्टि चिर काल तक नरकादि दुःख को भोगते हैं और अनन्त संसारी होते हैं अर्थात् अनन्त कालतक संसारमें भ्रमण करते रहते हैं ॥८।।

गाथार्थ-हे स्वहित ! हे आत्म-हित के वाञ्छक भव्य-पुरुष ! तूने सात नरकोंके निवास में अत्यन्त कठोर भयंकर असहनीय दुःख चिरकाल तक निरन्तर भोगे हैं ॥९॥

विशेषार्थ-हे जोव ! तूने सात महानरकोंके निवासमें तीव भयानक, असहनीय दुख दीर्धकाल तक अर्थात् उत्कृष्ट आयुकी अपैक्षा एकसागरसे

१. सहायुष्यं कर्म म० ।

त्रयस्त्रिक्षागरोपमपर्यन्तमुत्कृष्टाधक्तं । (दुक्खाइ' निरन्तरं) दु:खान्यसातानि कष्टानि भुक्तानि निरन्तरसविच्छिन्तं ! (सहिय) हे स्वहित ! हे आत्महित ! कि त्वया आत्मनो हित्तं क्वतमित्याक्षेपः ।

खणणुत्तावणवालणवेयणविच्छेयणाणिरोहं च । पत्तोसि भावरहिओ तिरियगईए चिरं कालं ॥१०॥ खननोत्तापनज्वालमब्यजनविच्छेदनानिरोधं च । प्राप्तोऽसि भावरहितः तिर्यंग्मतौ चिरं कालम् ॥१०॥

(खणण) पृथिवीकायस्त्वं यदा जातस्तदा खननं कुद्दालादिनाऽवदारणदुःखं त्लया सोढं। (उत्तावण) अप्कायस्त्वं यदाभूतस्तदाऽम्न्युपर्युत्तापनदुःखं त्वया क्षमितं। (वालण) अप्निकायिको जीवो यदा त्वं जातस्तदा ज्वालनदुःखं त्वया-नुभूतं। (वेयण) वायुकायिको जीवो यदा त्वं जातस्तदा व्यजनादिनावोजनदुःखं त्वया तितिक्षितं। (विच्छेयणा) हे जोव ! वनस्पतिकायिको जीवो यदा त्वं उत्पन्नस्तदा विच्छेदना कुठारादिना नैकर्तनं दुःखं त्वया मृषितं। (णिराहं च) शङ्कशुक्तिवृश्चिकगोमिश्रमरमक्षिकावलीवर्दमहिषादिकस्त्वं समुत्यन्नस्तदा निरो-षादिदुःखं त्वया भुक्तं। इति स्थावरत्रसदुःखानि अनुक्रमेण सूचितानि भवन्तीति श्रात्वयं। (पत्तोसि भावरहित्रो) प्राप्तोऽसि भावरहितो जिनभक्तिश्रष्ट आत्म-

लेकर तेतोस सागर तक निरन्तर--लगातार भोगे हैं। हे स्वहित ! हे आत्महितके अभिलाषो प्राणो ! तूने अपना हित क्या किया ? ॥९॥

गाथार्थ---हे जोव ! तू भाव--रहित होकर तियंञ्च गतिमें चिरकाल तक खोदा जाना, तपाया जाना, जलाया जाना, पङ्खाका झला जाना, छेदा जाना तथा रोका जाना आदिके दूःखको प्राप्त हथा है ॥१०॥

विशेषार्थ— हे जोव ! जब तू पृथिवो-कायिक हुआ तब तूने कुदाली आदिके द्वारा खोदे जानेका दुःख सहा । जब जलकायिक हुआ तब अग्निके कपर तपाये जानेका दुःख सहा । जब अग्निकायिक हुआ तब जलाये जानेका दुःख भोगा । जब वायुकायिक हुआ तब पंखा आदिके द्वारा प्रेरिस होनेका दुःख सहा । जब वनस्पति कायिक जीव हुआ तब कुठार आदिके द्वारा छेदे जानेका दुःख सहन किया और जब शख, शुक्ति, विच्छ, गोभी, भ्रमर, मक्खी, बेल तथा भेंसा आदिक त्रस में उत्पन्न हुआ तब निरोध-रोका जाना आदिका दुःख तूने भोगा है । इस प्रकार जिन-

१. वर्षमं म० ।

बट्प्राभूते

भावनादूरीकृतश्च । (तिरियगईए चिरं कालं) तिर्यंगातौ दीर्घं कालं वसंस्थात-वर्षपर्यन्तं वनस्पतिकायापेक्षयानन्तकालं चेत्यागमानुसारेण ज्ञातव्यम् ।

आगंतुक माणसियं सहजं सारोरियं च चत्तारि । टुक्खाइं मणुयजम्मे पत्तोसि अणंतयं कालं ॥११॥ आगन्तुकं मानसिकं सहजं शारीरिकं च चत्वारि । टुःखानि मनुजजन्मनि प्राप्तोसि अनन्तकं कालम् ॥११॥ (आगनुक) आगन्तुकं टुःखं विद्युत्पातादिकं । (माणसियं) मानसिकटुःसं स्त्रीकटाक्षादिताडने सति तदप्राप्तो भवति । तथा चोक्तं—

संसारे नरकादिषु स्मृतिपथेऽप्युढ्रेगकारोण्पलं, . दुःखानि प्रतिसेवितानि भवता तान्येवमेवासताम् । तत्तावत्स्मरमि स्मरस्मित-'सितापार्ज्जरनञ्जायुर्ध– र्वामानां हिमदग्धमुग्धतस्वद्यारप्राप्तवान्निर्धनः ॥१॥

(सहजं) व्याधिवेदनोत्पन्नं दुःखं। (सारीरियं) छेदनभेदनादिकं दुःखं।

भक्ति से भ्रष्ट होकर अर्थात् आत्मा की भावना से दूर रहेकर तूने तियंञ्च गतिमें दीर्घ काल तक---असख्यात वर्षों तक अथवा वनस्पति-कायिक की अपेक्षा अनन्त कालतक दुःख प्राप्त किये हैं ॥१०॥

गाथार्थ—आगन्तुक, मानसिक, सहज और शारीरिक इस तरह चार प्रकारके दु:ख तूने मनुष्य जन्म में अनन्त काल तक प्राप्त किये हैं ॥११॥

संसारे—संसार में, नरकादि गतियोंके काल में स्मरण आते ही अत्यन्त उद्वेग करने वाले जो दुःख आपने सेवन किये हैं वे इसी तरह रहें उनका इस समय स्मरण नहीं है किन्तु निर्धन अवस्था में स्त्रियोंके कामसे खिले सफेद कटाक्ष रूपी कामके वाणों से तुषार से जलकर मूछित खड़े बुक्षकी भौति जो दुःख प्राप्त किया है उसका स्मरण तो है।

बीमारी की वेदनासे जो दुःख उत्पन्न होता है वह सहज दुःख है और छेदन मेदन आदिका दुःख शारीरिक दुःख है । यहां 'चकार' शब्द उक्त

१. शितां म०।

क्कार उक्तसमुच्चयार्थस्तेन सरुवनोक्तमिच्यावचनश्रथणे यद्दुःसं भवति तत् केनापि सोढुं न शक्यते । तदुक्तं रुद्रटेन महाकविना—

> धल्यमपि स्खलदन्तः सोढुं शक्येत हालाहालदिग्धं । धोरैनं पुनरकारणकुपितखलालीकदुर्वचनं ।।१।।

(चत्तारि) एतानि चत्वारि। (दुःखाइं) दुःखानि। (मणुयजम्मे) मनुजजन्मनि मनुष्यभवे। (पत्तोसि) प्राप्तोऽसि हे जीव! त्वं प्राप्तवानसि भवसि। (अणंतयं कालं) अनन्तकं कुत्सितमनन्तं कालं समयमिति।

सुरनिलएसु सुरच्छरविओयकाले य माणसं तिव्वं । संपत्तोसि महाजस दुःखं सुहभावणारहिओ ।।१२।। सुरनिलयेषु सुराप्यरावियोगकाले च मानसं तीव्रम् । संप्राप्तोऽसि महायधाः ! दुःखं शुभभावनारहितः ।।१२॥

(सुरनिलएसु) स्वर्गेषु । (सुरच्छरविओयकाले) देवोवियोगावसरे (य) क्कारात्त्रं देवी जाता तदा देववियोगकाले । (माणसं तिष्वं) इन्द्रविभूति दृष्ट्वा

समुच्च्यार्थक है अर्थात् कहने से जो शेष रह गया है उसका संग्रह करने वाला है, इसलिये दुष्ट मनुष्योंके द्वारा कहे हुए मिथ्यावचन सुनने से जो . दुःश्व होता है वह किसीके द्वारा नहीं सहा जा सकता । जैसा कि महाकवि स्ट्रट ने कहा है—

गावार्ष-हे महायशके घारक जीव ! तूने शुभ-भावनासे रहित होकर स्वर्गोंमें देव अथवा देवाज्जनाओंके वियोगके समय अथवा अन्य कालमें तीव्र मानसिक दुःख प्राप्त किया है ॥१२॥

विक्षेदार्च-स्वर्गोंमें यदि देव हुआ तो देवीके वियोगके समय और देवी हुआ तो देवके वियोगके समय हे जीव ! तूने तीव्र मानसिक दुःख मानसं मनसि भवं दुःखं त्वं प्राप्तः, तद्दुःखं तीव्रमत्युत्कृष्टं, हा ! मया मनुष्यभवे प्राप्तेऽपि निर्मलं चारित्रं न पालितं अनेन तु निरतिचारं चारित्रं प्रतिपालितं तेनायं मम किल्विपादेरादेशं ददाति स तु दुरतिक्रमः कथं मया नानुष्ठीयते इत्यादि मानसं तीव्रं दुःखं हे जीव ! त्वं (संपत्तोसि) सम्यन्प्रकारेण प्राप्तोऽसि अनुभूत-वानसि । (महाजस) महत् त्रैलोन्यव्यापनशोलं यशः पुण्यगुणानुकीर्तनं यस्य स भवति महायशाः तस्य सम्बोधनं क्रियते कुन्दकुन्दाचार्येण हे महायशः । (दुसं सुहभावणारहिओ) ईदृग्विधं दुःखं कस्मात्प्राप्तमित्याह-सुहभावणारहिओ-शुभस्य विशिष्टपुण्यस्य भावनारहितः । कासौ शुभभावना ? दर्शनविशुद्धघादयः षोडश-भावनाः शुभास्तीर्थकरनामकर्मोपार्जनहेतुत्वात् । अतिशयेन शुभाऽत्र जिनसम्यक्त्व-भावना, मिष्यात्वभावना त्वतीव पापोयसी । तथा चोक्तं समन्तभद्रेण महा-कविना---

प्राप्त किया है। इसी प्रकार यदि तू सामान्य देव हुआ तो इन्द्रकी विभूति देखकर तूने तीव मानसिक दुःख प्राप्त किया है। उस समय तू विचार करता है कि हाय मनुष्य भव प्राप्त होनेपर भो मैंने निमल चारित्र का पालन नहीं किया था और इस इन्द्रने निर्मल चारित्रका पालन किया इसोलिये यह इस समय मुझे किल्विष आदि हीन देवोंका आदेश दे रहा है । इसका यह आदेश अनुल्लङ्घनीय है, मैं इसका किस तरह पालन करूँ इत्यादि तोव्र मानसिक दुःखको हे जीव ! तूने अच्छी तरह प्राप्त किया है-भोगा है। यहाँ श्रोकुन्दकुन्दाचार्य इस जीवको 'महायश' पदसे सम्बोधन करते हुए उसके स्वरूप की स्मृति दिलाते हैं—हे जीव ! तू तो महायश का धारक है, तेरा यश तोनलोकमें फैलने की क्षमता रखता **है**, तू तीर्थंकर हो सकता है और तब तेरे पुण्यगुणोंका वर्णन तीनों लोकों में व्याप्त हो सकता है, फिर शुभ भावना को छोड़कर कहाँ भटक रहा है ? यह सब दु ख तू शुभ भावनासे रहित होकर हो उठा रहा है। शुभका अर्थ विभिष्ट पुण्य है, तु उसकी भावनासे रहित हो रहा है। यह अर्थ 'शुभस्य भावना' इस षष्ठो तत्पुरुष समासको दृष्टिमें रखकर किया गया 🖁 । दर्शन विशुद्धि आदि सोलह भावनाएँ शुभ भावनाएँ हैं कि वे शुभ-तीर्थंकर नामकेम के बन्धकी कारण हैं। इन सब भावनाओं में जिन सम्यक्त्व भावना-दर्शन-विशुद्धि भावना अत्यन्त शुभ है और मिथ्यात्व भारतना अत्यन्त पाप रूप है---अशुभ है। जैसा कि महाकवि समन्तभद्र ने कहा है---

न सम्यक्त्वसमं किचित्त्रैकाल्ये त्रिजगत्वपि । श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनभुताम ॥१॥

सम्यक्त्वभावनयाः एकयापि तीर्थंकरनामकमं बढघते पंचदशापरभावना विनापि । तस्य सम्यक्त्वस्य शुद्धता चर्मजलघृततैर्ल्लाहंगुवर्जनेन भवति । अन्येनाप्यु-पासकाध्ययनादिशास्त्रेणोक्तेनाचारेण विस्तरेण ज्ञातव्या । तथा चोक्तं भिवकोटि-नावार्येण---

> चर्मपात्रगतं तोयं धृतं तैरुं प्रदर्जयेत् । ⁹नवनीतंप्रसूनादिशाकं नाद्यालदाचन ॥१॥

कंस्प्पमाइयाओ पंच वि असुहादिभावणाई य । भाऊण दर्घ्वालगी पहीणदेवो दिबे जाओ ॥१३॥ कार्न्द्यीत्यादयः पंच अपि अशुभादिभावनाश्च । भावयित्वा द्रव्यलिङ्गी प्रहोणदेवः दिवि जातः ॥१३॥

(कंदल्पमाइयाओ) कान्दर्पी इत्येवमादिकाः । (पंच वि असुहादिमावणाई य) पंचापि अधुभशब्दादयो भावनारूच कान्दर्पीप्रभृतयः पंचाधूभभावना इत्यर्थः ।

न सम्यक्तव—तीनों काल और तीनों लोकोंमें जीवोंका सम्यक्त्वके समान कल्याण कारक और मिथ्यात्वके समान अकल्याण-कारक दूसरा नहीं है ।

् **विशेषार्थ---**कान्दर्पी आदि पाँच अशुभ भावनाएँ हैं इनका चिन्तवन

१. नवनीत प्रसुनादि म० 1

(माळण दब्बॉरूंगी) तास्त्वं भावयिस्वा द्रव्यालंगः सन् । (पहीणदेवो दिवे जात्नो) प्रहीणदेवो-हीनदेवः प्रकर्षेण नीचदेवः किल्विधादिको देवः दिवे-स्वर्गे हे जीव ! त्वं जात उत्पन्नः । कास्ताः पंचाशुप्रभावना इत्याह-कान्दर्भा, कैल्विधी, आसुरो, सांमोही, आभियोगिकी चेति एतासां नामानुसारेणार्थाहचन्तनीयः । उक्तं च शभचन्द्रेण योगिना---

कान्दर्पी कॅल्विषी चैव भावना चाभियोगिकी। दानवी चापि साम्मोही ैत्याज्या पंचतयो च सा॥ १॥ पासत्थभावणाओ अणाइकालं अणेयवाराओ। भाऊण दुहं पत्तो कुभावणाभावबीएहि॥१४॥ पार्झ्वस्थभावना अनादिकालं अनेकवारान्। भावयित्वा दुःखं प्राप्तः कुभावनाभावबीजैः॥१४॥

(पासत्यभावणाओ) पार्स्वस्यभावनाः । (अणाइकालं अणेयवाराओ) अनादिकालमादिरहितकालपर्यंन्तं अनेकवाराननन्तवारान् । (भाऊण दुहं पत्तो) भावयित्वा दुःखं हे जीव ! त्वं प्राप्तवान् । (कुभावणाभावब्रीएहि) कुभावनानां

करके हे जोव ! तू द्रव्य-लिङ्गी रहा तथा अन्तमें मरकर स्वर्गमें किल्विषक आदि जातिका अत्यन्त नीच देव हुआ ।

प्रकन-वे पांच अशुभ भावनाएँ कौन हैं ?

उत्तर-१ कान्दर्पी, २ कैल्विषी, ३ आसुरी, ४ सांमाही और ५ आभि-योगिको । इनका अर्थ नामके अनुसार चिन्तन करना चाहिये । शुभचन्द्र मुनिने भी कहा है---

कान्दर्पी—कान्दर्पी, केल्दिषी, आभियोगिकी, दानवो और साम्मोहो ये पाँच प्रकार की भावनाएँ छोड़ने योग्य हैं ॥१-१३॥

गाधार्थ--हे जोव ! तू अनादि कालसे अनेक बार पार्श्वस्थ माव-नाओंका चिन्तन कर खोटी भावनाओंके भावरूप बोजोंके ढारा दुःखको प्राप्त हुआ है ॥१४॥

विशेषार्थ--हे जीव ! तूने अनादिकालसे अनन्तोंबार पार्श्वस्थ भाव-नाओंको भावना करके कुभावनाओं-खोटो भावनाओंके परिणामरूपी बीजोंके द्वारा दुःख प्राप्त किया है ।

१, तासां पञ्चतयी च सा० क० ख० ग० घ० ।

मावाः परिणामास्त एव बीजान्यंकुरोत्पत्तिहेतवस्तैः कुमावनाभाववीर्ज्ञः । कास्ताः पार्खस्थपंचभावनाः ? यो वसतिषु प्रतिबद्ध उपकरणोपजीवी श्रवणानां पार्श्वे तिष्ठति स पार्श्वस्थः । क्रोघादिकषायकलुषितात्मा व्रतगुणशीलैः परिष्ठीनः संवस्या-विनयकारी कुशील उच्यते । वैद्यकमंत्रज्योतिषोपजीवी राजादिसेवकः संसक्तः कप्यते । जिनवधनानभिज्ञो मुक्तचारित्रभारो ज्ञानचरणभ्रष्टः करणाल्सोध्वसन्न आभाष्यते । त्यक्तगुरुकुल एकाकित्वेन स्वच्छन्दविहारौ जिनवचनदूषको मृग-चारित्रः परित्प्यते स्वछन्द इति वा, एते पंचश्रवणा जिनघर्मबाह्या न वन्दनीयाः । तेषां कार्यवशात्¹ किमपि न देयं जिनघर्मोपकारार्थमिति ।

प्रक्त---वे पार्श्वस्थ आदि पाँच भावनाएँ कौन हैं---

उत्तर---जो मुनि वसतिकाओं में नियम-बद्ध निवास करता है तथा यन्त्र मन्त्र आदि उपकरणों से उपजीविका-आहारादि प्राप्त करता हुआ साधओंके पार्श्व-समीप में स्थित रहता है, वह पार्श्वस्थ है। क्रोध आदि कषायोंसे जिसकी आत्मा कर्लुषत है, जो वत गुण और शीलसे रहित है तया मुनिसंघको अविनय करता है---अहंकार-वज्ञ उद्दण्ड आचरण करता है, वह कुशील कहलाता है। जो वैद्यक मन्त्र और ज्योतिष द्वारा उप-जीविका करता है तथा राजा आदिको सेवा करता है---अधिकतर उनके संपर्कमें रहता है वह संसक्त कहलाता है। जो जिन-वचन-जैन शास्त्रों से अनभिज्ञ है, चारित्रका भार छोड करके जो ज्ञान और चारित्रसे अध्ट हो चुका है तथा कियाओंके करनेमें आलसी रहता है वह अवसन्त कहा जाता है और जो गुरुकूलको छोड़कर अकेला विहार करता है तथा जि**नेन्द्र** देवके वचनोंमें दोष लगाता है वह मुगचारित्र अथवा स्वच्छन्द कहलाता है। ये पाँच प्रकारके मुनि जिनधर्म से बाह्य हैं, अतः वन्दना करनेके योग्य नहीं हैं। जिनधर्मके उपकारके लिये इन्हें कार्यवश कुछ भी नहीं देना चाहिये क्योंकि भ्रब्ट मनियोंको आहार आदि देने तथा उनकी भक्ति वन्दना आदि करनेसे जिनधर्मका अपवाद होता है। इन पाँच प्रकारके मुनियोंसे सम्बन्ध रखनेवाली पार्श्वनाथ आदि पाँच भावनाएँ हैं। इस **बीवने अ**नादि कालसे अनन्तों बार इनकी भावना की है तया उसके फलस्वरूप बहुत दुःख प्राप्त किया है ॥१४॥

१. किमपि देवं म० घ०।

देवाण गुणविहई इड्ढी माहण्य बहुविहं दट्ठुं । होऊण होणदेवो पत्तो बहुमाणसं दुक्खं ॥१५॥ देवानां गुणविभूति ऋद्धि माहात्म्यं बहुविधं दृष्ट्वा । भूत्वा हीनदेवः प्राप्तो बहुमानसं दुःखम् ॥१५॥ (देवाण गुणविहुई) देवानां गुणान्---

अणिमा महिमा लघिमा गरिमान्तद्धनिकामरूपित्वं । प्राप्तिकाम्यवशित्वेशित्वाप्रतिहततत्वमिति वैक्रियिकाः ॥१॥ इत्यार्योक्तलक्षणान् गुणान् दृष्ट्वा (इड्ढी) ऋद्धि इंद्राणोप्रमुखपरिवारं ।

चक्तं च—

शची पद्मा झिवा श्यामा कालिन्दी सुलसाञ्जुका । भाग्वास्था दक्षिणेन्द्राणां विख्वेषामपि कीर्तिताः ॥१॥ उदीचां श्रीमती रामा सुसीमा च प्रभावती । जयसेना सुषेणा च सुमित्रा च वसुन्धरा ॥२॥

गाथार्थ- हे जीव ! तूने होन देव होकर दूसरे देवोंको गुण विभूति, ऋदि तथा बहुत प्रकारका माहात्म्य देखकर बहुत मानसिक दुख प्राप्त किया है ॥१५॥

विशेषार्थ-देवोंमें अनेक गुण होते हैं जैसे--

अणिमा—अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, अन्तर्धान, कामरूपित्व, प्राप्तिकाम्य, वशित्व, ईशित्व और अप्रतिहतत्व ये देवोंके विकिया जन्य गुण हैं। इनके सिवाय देवों का जो इन्द्राणी आदिका प्रमुख परिवार है बह सब ऋद्धि कहलाता है। जैसा कि कहा गया है।

शची —स्वर्गोंके इन्द्र दक्षिणेन्द्र तथा उत्तरेन्द्रके भेदोंमें विभाजित हैं। दक्षिणेन्द्रों की प्रमुख देवियाँ इस प्रकार हैं—

शचो पद्मा—शची, पद्मा, शिवा, श्यामा, कालिन्दी, सुलसा, अञ्जूका और भानु ।

उत्तरेन्द्रोंको प्रमुख देवाङ्गनाएँ इस प्रकार हैं---

श्री उदीचां----श्रीमती, रामा, सुषीमा, प्रभावती, जयसेना, सुषेणा, सुमित्रा और वसुन्धरा । षोडशाद्ये सहस्राणि विक्रियोत्थाः पृथक्च ताः । द्विगुणा द्विगुणास्तस्मात्परत्र सममात्मना ॥३॥ १६०००-३२०००-६४०००-१२८००० २५६०००-५१२०००-१०२४००० । क्रमाद्द्वात्रिशदष्ट द्वे सहस्राः पंचधत्पथ । अर्घार्धाद्य त्रिषष्ठिरुच सप्तस्थानेषु वल्लभाः ॥४॥

सप्तस्थानानि कानि ? सौधर्मेशानौ १, सानत्कुमारमाहेन्द्रौ २, ब्रह्मब्रह्मोत्तरौ ३, लान्तवकाषिष्ठौ, ४, शुक्रमहाशुक्रौ ५, शतारसहस्रारौ ६, आनतप्राणतारणा-ध्युताश्वत्वारः स्वर्गा एक स्थानमिति सप्तस्थाना नि, इत्यादि देव्यादिऋदि दृष्ट्वा। (प्राहम्म बहुविहं दट्ठु) इन्द्रवाचा दीर्घायुरपि क्रियते अल्पायुषोऽप्या-युनं 'त्रुटवते इत्यादि माहात्म्यं बहुविधं दृष्ट्वा। (होऊण हीणदेवो) हीनदेवो भूत्वा। (पत्तो बहुमाणसं दुःखं) प्राप्तोऽसि बहुतरं प्रचुरं मनसि भवं मानसं दुःख हे जोव ! व्वमिति कारणात् जिनभक्ति कुर्विति भावार्थः ।

षोडशाद्ये—प्रथम स्वर्ग में सोलह हजार देवियोंका परिवार है। विक्रियासे अनेक रूप बनाने वाली देवाज्जनाएँ इनसे पृथक् हैं। आगे आगे के स्वर्गोंमें इनकी संख्या क्रमसे दूनी दूनी होती जाती है, जो इस प्रकार है १६०००, ३२०००, ६४०००, १२८०००, २५६०००, ५१२०००, १०२४००० क्रमाद नीचे लिखे सात स्थानों में इन्द्रों के क्रमसेबत्तीस हजार, वाठहजार, दोहजार, पाँचसौ, ढाइसौ, सवासौ और तिरेशठ, बल्लभिकाएँ यानी- अत्यन्त प्रिय देवाज्जनाएँ होती हैं। सप्त स्थान इस प्रकार हैं---

१ सौधर्मेशान, २ सानत्कुमार माहेन्द्र, ३ ब्रह्मब्रह्मोत्तर, ४ लान्तव कापिष्ठ, ५ शुक्रमहाशुक्र, ६ शतारसहस्रार और ७ आनत प्राणत आरण अच्यत इन चार स्वर्गोका एक स्थान ।

देवोंका माहातम्य भी नाना प्रकारका होता है जैसे इन्द्रके कहनेसे दीर्घाय मनुष्य भो मर जाता है और अल्प आयु वालेकी भी आयु जल्दी समाप्त नहीं होती। हे जीव ! अन्य होन देव होकर देवोंकी गुण रूप विभूति, ऋदि तथा बहुत प्रकारका माहात्म्य देख कर तूने बहुत मान-सिक दु:ख प्राप्त किया है इसलिये अब तू जिन-भक्ति कर, जिससे होन देवकी अवस्था पुनः प्राप्त न हो ॥१५॥

१. त्रुद्यति म० ।

चउविहविकहासत्तो मयमत्तो असुहभावपयडत्थो । होऊण कुदेवत्तं पत्तोसि अणेयवाराओ ॥१६॥

चतुर्विधविकथासक्तः मदमत्तः अशुभभावप्रकटार्थः । भुत्वा क्रुदेवत्वं प्राप्तोऽसि अनेकवारान् ।।१६॥

(चउविहविकहासत्तो) चतुर्विधविकथासक्तः आहारकथा-स्त्रीकथा-राज-कथा-चौरकथालक्षणासु विकथासु चतुर्विधास्वासक्तः । (मयमत्तो) अष्टमदैर्मत्तो गवितः । (असुहभाववयडत्थो) अशुभभावः पापपरिणानः प्रकटः स्फुटीभूतोऽर्थः प्रयोजनं यस्य स अशुभभावप्रकटार्थः । (होऊण कुदेवत्तं) अशुभभावप्रकटार्थो भूत्वा कुदेवत्तं कुत्सितदेवत्वं । (पत्तोसि) प्राप्तोऽसि । हे जोव ! असुरादिकुदेव-गतीरनेकवारान् प्राप्तोऽसि ।

असुईवोहत्येहि य कलिमलबहुलाहि गब्भवसहोहि । वसिओसि चिरं कालं अणेयजणणीण मुणिपवर ।।१७।। अशुचिवोभत्यासु कलिमलबहुलासु गर्भवसतिषु । उषितोसि चिरं कालं अनेकजननीनां मुनिप्रद्वर ॥१७॥

(असुईबीहत्येहि य) अधुचिषु अपवित्रासु बीभरसासु, च विरूपकासु। (कलिमलबहुलाहि) पापबहुलासु। (गब्भवसहीहि) गर्भगृहेषु उद्दरवसतिषु।

गायार्थ—हे जीव ! चार विकथाओं में आसक्त होकर, मदसे मत्त होकर तथा अशुभ भावको ही प्रयोजन बनाकर तू अनेक वार कुदेव-नीच देवकी पर्यायको प्राप्त हआ ।।१६।।

विशेषार्थ—हे जीव ! तू आहार कथा, स्त्रीकथा, राजकया और चोर--कया इन चार प्रकारकी विकथाओं में अासक रहा है। ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप और शरीर इन आठ पदार्थोंके मदसे सदा मत्त रहा है। तथा पाय-रूपी परिणामको हो तूने अपना प्रयोजन बनाया है। इसकारण तू कुदेव--असुर आदि नीच देवोंकी गतिको अनेक वार प्राप्त हुआ है।। १६।

गाधार्थ---हे मुनिप्रवर ! तूने अनेक माताओंको अपवित्र, घृणित और पाप रूप मलसे परिपूर्ण गर्भ वसतिकाओं में चिरकाल तक निवास किया है ॥१७॥

विशेषार्य — यहाँ आवार्यने मुनियोंको उपदेश देते हुए उन्हें 'मुनि-प्रवर' इस सम्बोधनसे सम्बोधित किया है जिसका अर्थ होता है हे -4. 86]

(बसिबोसि चिरं कालं) उषितोऽसि स्थितोऽसि चिरं दीघंकालमनन्तकालमनादि-कालं (अणेयअणणीण मुणिपवर) गर्भवसतिषु अनेका अनन्ता जनन्यो जाताः, हे मुनिप्रवर ! हे मुनीनामुत्तम ।

पीओसि थणच्छीरं अणंतजम्मंतराइं जणणीगं । अण्णण्णाण महाजस सायरसलिलादु अहिययरं ।।१८।।

पीतोऽसि स्तनक्षीरं अनन्तजन्मान्तराणि जननीनाम् । अन्यासामन्यासां महायशः ! सागरसलिलादधिकतरम् ॥१८॥

(पीओसि थणच्छीरं) पीतोऽसि पीतवान् धयितवानसि स्तनक्षीरं अपवित्रं वसीस्हसीरं स्तनदुर्ग्ध । (अणंतजम्मंतराइं) अनन्तजन्मान्तराणि अनन्तभवान्तरेषु । (जणणीणं) जननीनां अनन्तमातृणां । (अण्णण्णाण) अन्यासामन्यासां (महा-जस) महत् त्रैलोक्यव्यापकं यशो यस्य भवति महायशास्तस्य सम्बोधनं क्रियने हे महायशः । (सायरप्रलिङादु अहिययरं) सागरसलिलादप्यधिकतरं अतिशये-नाधिकतरमनन्तसागरजलसमानं ।

मुनियोंमें उत्तम । वे कहते हैं कि मुनिप्रवर ! तुम्हारा यह मुनि पद तो कर्मसयका कारण था पर मात्र द्रव्यलिङ्ग धारण करके तुम संसारमें ही भटकते रहे । पहले विकार आदि में आसक्त होकर होन देव-पर्यायको प्राप्त किया तदनन्तर वहाँ से च्युत होकर मानुषी के अपवित्र एवं घृणित गर्मवास में तुमने निवास किया है, वह भी एकाध वार नहीं किन्तु अनेक बार । अनादि कालसे यहो करते आ रहे हो । इस बीचमें तुम्हारी अनेक माताएँ हो चुकी हैं ॥१७॥

गायार्थ--हे महायश के धारक मुनि ! तूने अनन्त जन्मोंमें अन्य-अन्य माताओंके स्तनका इतना दूध पिया है जो समुद्रके जलंसे भी अत्यन्त अधिक है-अनन्तगुणित है ॥१८॥

विशेषार्थ---हे महाशय ! हे त्रैलोक्य-ज्यापक यशके धारक मुनि ! तूने द्रव्यलिङ्ग धारण करके, मनुष्यके अनन्त जन्म धारण किये और उनमें अन्य अन्य माताओंके अपवित्र स्तन के दूधको इतना अधिक पिया कि वह समुद्र के जलसे भो अतिशय अधिक है अर्थात् अनन्त समुद्रों के अलके समान है ॥१८॥

तुह मरणे दुक्खेणं अष्णण्णाणं अणेयजणणीणं । रुण्णाण णयणणीरं सायरसलिलादु अहिययरं ॥१९॥

तव मरणे दुःखेन अन्यासामान्यासां अनेकजननीनाम् । रुदितानां नयननीरं सागरसलिलात् अभिकतरम् ॥१९॥ (तुह मरणे दुन्स्रेणं) तव मरणे सति दुःखेन कृत्वा "डसा दि दे इ ए तु ते उय उब्भ तुब्भ तम्ह तुमाइ तुमो तुमे तुव तुहं तइ तुहाः" इति प्राक्ततव्याकरणसूत्रेण तव शब्दस्य तुह इत्यादेशः । (अण्णण्णाणं) अन्यासामन्यासां मानुषीसिंहीव्याघ्री-मार्जारीमृगीगोगवरीबडवाकरेणुप्रभृतीनां । (अण्येवजणणीणं) अनेकजननीनां प्रत्येकमनन्तमातृणां (रुण्णाणः) रुदितानां । (णयणणोरं) लोचनडाप्पजलुं । (सायरसलिलादु अहिययरं) सागरसलिलादधिकतरं प्रत्येकं समुद्रतोयदप्यधिकतर-मानन्तसागरसलिलपरिमाणं भवति ।

भवसायरे अणंते छिण्णुज्झियकेसणहरणालट्ठी । पुंजेइ जइ को वि जए हवदि य गिरिसमघिया रासी ॥२०॥

भवसागरे अनन्ते छिन्नोज्झितकेशनखरनालास्यप्रिनि । पुञ्जयति यदि कश्चित् देवो भवति च गिरिसमधिका राशिः ॥२०॥ (भावसायरे अणंते) भावसागरेऽनन्ते संसारसमुद्रेऽन्तरहिते । (छिण्णु-ज्यियकेसणहरणाल्ठ्ठी) छिन्नानि उज्झितानि मुक्तानि अुरेण नखलुना छुरिक्या

गाथार्थ---हे जीव ! तेरा मरण होनेपर दुःख से रोतो हुई अन्य अन्य अनेक माताओं का अश्रुजल समुद्रके जलसे अत्यन्त अधिक है ॥१९॥

विशेषार्थ---हे जोव ! तूने द्रव्य लिङ्गके कारण नानायोनियोंमें भ्रमण करके मानुषी, सिही, व्याझो, मार्जारी, मृगी, गौ, भैंस, घोड़ी तथा हस्तिनी आदिको माता बनाया है तथा अपना मरण होनेपर दुःखसे इन अनन्त माताओंको इतना रुलाया है कि उनके आँसू समुद्रके जलसे भी बहुत अधिक हैं अर्थात् अनन्त समुद्रोंके जलके बराबर हैं । गाथा में संस्कृत 'तव' शब्दके स्थानमें 'डपादि दे'--आदि प्राकृत व्याकरणके सूत्रसे 'तुह' आदेश हो गया ॥१९॥

गाथार्थ---हे जीव ! तूने अनन्त संसार सागर में जिन केश, नख, माभिनाल और हड्डियोंको कटने के पश्चात छोड़ा है यदि कोई यक्ष उन्हें इकट्ठा करे तो उनकी राशि पर्वत से भी अधिक हो जाय ॥२०॥

विशेषार्थ—हे जीव ! इस अनन्त संसार सागर में मज्जनोन्मज्जन

રદ્દદ્

पूर्वं छिन्नानि पक्ष्वादुज्जितानि केशनखरनालास्थीनि । (पुंजेइ जइ को वि जए) पुंजयति राशीकरोति यदि चेत् कोऽपि शक्रसन्तानागतः कश्चिद्देवः । (हवदि य गिरिसमघिया रासी) भवति च गिरेमेंरोरपि समधिका राशिः केशादीनां प्रत्येकमनन्तमेरुसमा राशयो भवन्तीति भावार्थः ।

जलथलसिहिपवणंबरगिरिसरिदरिकुरुवणाइं सव्वत्तो । वसिओसि चिरं कालं सिहुवणमज्झे अणप्पवसो ॥२१॥ जलस्थलशिखिपवनांवरगिरिसरिद्रंगेकुरुवनादिषु सर्वत्र । उषितोसि चिरं कालं त्रिभवनमध्येऽनात्मवद्य: ॥२ ॥

हे जीव ! हे चेतनानाथ ! (जल) त्वं जले उदके उपितोऽपि निवासं चकर्थ । (बल) बले भूम्यां । (सिहि) झिखिनि हुताशने । (पवण) पवने झंझामारु-तादौ (अंबर) अम्बरे विहायसि । (गिरि) पवंते । (सरि) सरिति नद्यां दरि दर्या गुहायां । (कुरुवणाइ) देवकुरूतरकुरूत्तमभोगभूमिकल्पवृक्षवने । आदि-बब्दाद्भरतहैमबतहरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरावतादयो लम्यन्ते । (सव्वत्तो) कि बहुना सर्वतः सर्वत्र । (वसिओसि चिरं कालं) उषितोऽसि चिरं दीर्घमनन्तौ

करते हुए तूनै इतने अधिक जन्म घारण किये हैं और उनमें केश, नख, नाभिका नाल तथा हडिूयोंको इतना अधिक क्षुरा, नख-भव्ज्जिका तथा क्षुरी भादिसे काट काट कर छोड़ा है—जहाँ तहाँ फेंका है यदि इन्द्रकी आज्ञासे आया हुआ कोई देव उन्हें इकट्ठा करे तो केश आदिकी वह राशि सुमेरु पर्वतसे भी अधिक अर्थात् अनन्त सुमेरु पर्वतोंके बराबर हो सकती है ॥२०॥

गाथार्थ- हे जीव ! तूने अनात्म-वश होकर-आत्मस्वभावसे भिन्न वस्तुओंके वशीभूत होकर तीनों लोकोंके मध्य जल, स्थल, अग्नि, वायु, आकाश, पर्वत, नदी, गुफा तथा देवकुरु उत्तरकुरु आदि स्थानोंमें सब जगह चिरकाल तक निवास किया है ॥ २१ ॥

विशेषार्थ—हे चेतनानाथ ! तूने अनात्मवश होकर-निज शुद्ध बुद्ध रूप एक स्वभाव से युक्त चैतन्यचमत्कार मात्र टङ्कोत्कोणं एक ज्ञायक स्वभाव वाले आत्म-तत्वको भावना अथवा जिनेन्द्र देवके द्वारा प्रतिपादित सम्यक्तकी भावना से अध्ट होकर जलमें, स्थलमें, अग्निमें, वायुमें, आकाशमें, पर्वंतमें, नदीमें, गुफामें, देव कुरु उत्तर कुरु नामक उत्तम भोग-भूमि-सम्बन्धी कल्पवृक्षोंके वनमें तथा आदि शब्दसे भरत, हैमवत, हॅरि,

२६७

कालमनन्तोत्सर्पिण्यवसर्पिणोकालसमयपर्यन्तं । (तिहुवणमज्झे अणप्पवसो) त्रिभु-वनमच्येऽनात्मवक्षः तिज्ञुद्धबुद्धैकस्वभावचिच्चमत्कारलक्षणटकोत्कीणंज्ञायकैक-स्वभावात्मभावनाजिनस्तामिसम्यकत्वभावनाभ्रष्ट इत्यर्थः ।

> गसियाइं पुग्गलाइं भुवणोदरवत्तियाइं सव्वाइं । पत्तोसि तो ण तित्ति पुणरूवं ताइं भुंजंतो ॥२२॥

ग्रसिताः पुद्गला भुवनोदरर्वातनः सर्वे ।

प्राप्तोसि तन्न तृप्ति पुनारूपं तान् भुंजानः ॥२२॥

(गसियाइं पुग्गलाइं) ग्रसिताः पुद्गलाः सर्वेऽप्यणवः । (भुवणोदरवत्तियाइं सव्वाइं) भुवनोदरवत्तिनः सर्वेऽपि । (पत्तोसि तो ण तित्ति) प्राप्तोऽसि तदपि न तृष्ति धूर्ति । (पुणरूवं ताइं भुंजतो) पुनारूपं पुनर्नवमिति तान् पुद्गलान् भुंजानः । उक्तं च पूज्यपादेन गणिना—-

भुक्तोण्झिता मुहुर्मोहान्मया सर्वेऽपि पुद्गलाः ।

उच्छिष्टेष्विव तेष्वद्य मम विज्ञस्य का स्पृहा ॥

तिहुयणसलिलं सयलं पीयं तिण्हाएं पीडिएण तुमे । तो वि ण तिण्हाछेओ जाओ चितेह भवमहणं ॥२३॥

त्रिभुवनसलिलं सकलं पीतं तुष्णया पोडितेन त्वया ।

तदपि न तृष्णाछेदो जातः चिन्तयं भवमथनम् ॥२३॥

_____***

विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत आदि क्षेत्रोंमें अधिक क्या कहें तोनों लोकोंमें सर्वत्र चिरकाल तक-अनन्त उत्सर्पिणो और अवसर्पिणीके कालपर्यन्त निवास किया है ॥ २१ ॥

गायार्थ-हे जीव ! तूने संसारके मध्य वर्तमान समस्त पुद्गलोंको यद्यपि ग्रसा है-खाया है तथापि तृप्तिको प्राप्त नहीं हुआ । अब उन्हें नया समझ कर फिरसे खा रहा है ॥ २२ ॥

विशेषार्थ—हे प्राणिन् ! तोन लोकके अन्दर अनन्तानन्त परमाणु व्याप्त हैं तूने उन सब परमाणुओंको यद्यपि ग्रहण किया है तथापि तू संतोषको प्राप्त नहीं हुआ । पुनः उन्हीं गृहीतोज्झित पुद्गल परमाणुओंको नवोन समझ कर ग्रहण कर रहा है। पूज्यपाद आचार्य ने कहा भो है—

भुक्तोज्झिता-मैंने मोहके कारण सभी पुद्गलोंको भोगकर छोड़ा है सो अब जूँठे को तरह स्थित उन पुद्गलोंमें मुझ ज्ञानोको क्या इच्छा हो सकती है ? अर्थात् कुछ नहीं ।। २२ ॥

गायार्थ- हे जीव ! तूने प्यासंसे पोड़ित होकर तीन लोकका समस्त

भावप्राभृतम्

(तिद्रुयणसलिलं सयलं) त्रिमुवनसलिलं सकलं । पीयं पीतं त्वया। (तिण्हाए) तृष्णया। (पीडिएण) पीडितेनावमाढेन ! (तुमे) त्वया भवता। "तुमइ तुमाइ तुमे तुमए तुमं तु इ तु ए ते दि दे भे ट्या" इति व्याकरणसूत्रेण टावचनेन सह युष्मदः तुमे आदेशः । (तो वि) तदपि । (ण) नैव । (तिण्हा-छेओ) तृष्णाच्छेदः (जाओ) जातः । (चितेह भवमहणं) हे जीव ! त्वं चिन्तय अन्वेषस्व भवस्य संसारस्य मथनं विनाशनं सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्रत्रयमिति भावार्थः ।

गहिउझियाइं मुणिवर कलेवराइं तुमे अणेयाइं । ताणं णत्थि पमाणं अणस्तभवसायरे धीर ॥२४॥ गृहीतोज्झितानि मुनिवर ! कलेवराणि त्वया अनेकानि । तेषां नास्ति प्रमाणं अतन्तभावमागरे धीर ! ॥२४॥ (गहिउज्झियाइं) गृहीतोज्झितानि । (मुणिवर) हे मुनिवर मुनिश्रेष्ठ ! (कलेवराइं) कलेवराणि शरीराणि । (तुमे अणेयाइं) त्वयाज्नेकान्यनन्तानि ।

पानो पो डाला तो भो प्यास का नाश नहीं हुआ अतः संसार को नष्ट करने वाले रत्नत्रय का चिन्तवन कर ॥ २३ ॥

विशेषार्थं --- हे आत्मन् ! तूने स्वरूप से अष्ट होकर अनन्त भव घारण किये हैं और उन भवोंमें तृष्णा प्यास से पीडित होकर यद्यदि तूने तोन लोकका समस्त पानी पिया है तो भी तेरी तृष्णा-प्यासका नाश नहीं हुआ। यहाँ श्लेषसे तृष्णका दूसरा अर्थ अप्राप्त वस्तु की इच्छा भी है तो उस तृष्णासे पीड़ित होकर तूने तीन लोककी समस्त वस्तुओंको ग्रहण किया पर उनसे तेरी तृष्णा शान्त नहीं हुई, अब ऐसा प्रयत्न कर कि जिससे भव धारण ही न करना पड़े। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् वारित्र भवको संसारको नष्ट करने वाले हैं अतः इन्हींका चिन्तवन कर। गाथा में आया हुआ 'तुमे' शब्द युष्मद् शब्दके तृतीया का एक वचन है। टाप्रत्यय के साथ साथ युष्मद् शब्दके स्थान में 'तुमइ तुमाइ' आदि प्राकृत व्याकरण के सूत्रसे 'तुमे' आदेश हुआ है॥ २३॥

गाथार्थ---हे धोर वोर ! मुनिवर ! इस अनन्त संसार सागरके बीच तूने जिन अनेक शरोरों को ग्रहण कर कर छोड़ा है उनका प्रमाण नहीं है ॥ २४ ॥

विशेषार्थ --- जो मुनियों में श्रेष्ठ है उसे मुनिवर कहते हैं तथा जो ध्येय-ध्यान करने योग्य पदार्थकी ओर बुद्धिको प्रेरित करे उसे धीर कहते (ताणं गत्थि पमाणं) तेषां कलेवराणां सास्ति न विद्यते प्रमाणं गणनमनन्त-त्वात् । (अणन्तमवसायरे धोर) अनन्तभवसागरेऽन्तातोतसंसारसमुद्रे हे धीर ! घ्येयं प्रति धियमरियतीति धारस्तस्य सम्बोधनं क्रियते हे घीर ! हे योगीश्वर ! भावचारित्रं विनेति शेष: ।

विसवेयणरत्तक्खयभयसत्थग्गहणसंकिलेसाणं । आहारुस्सासाणं णिरोहणा खिज्जए आऊ ॥२५॥

विषवेदनारक्तक्षयभयशस्त्रग्रहणसंक्लेशानाम् ।

आहारोच्छवासानां निरोधनात् क्षीयते आयुः ॥२५॥

(विसवेयणरत्तवखयभयसत्थग्गहणसंकिलेसाणं) विषवेदनारक्तक्षयभयशस्त्र-ग्रहणसंक्लेशानां । (आहारुस्सासाणं) आहारोच्छवासानां । (णिरोहणा) निरो-घनात् । (खिज्जए आऊ) क्षोयते आयुः ।

हैं। गाथा में आचार्यने मुनिवर और 'धीर' दोनों पदोंका सम्बोधन में प्रयोग करते हुए कहा है कि हे धीर वीर ! मुनिश्रेष्ठ ! तूने भावचारित्र-के बिना मात्र द्रव्यलिङ्ग धारण कर अनन्त संसार सागर में जो अनेक शरीर धारण किये तथा छोड़े हैं उनका प्रमाण नहीं है अर्थात् तूने अनन्त शरीर धारण कर छोडे हैं ।।२४।।

आगे आय क्षीण होनेके कारण बतलाते हैं--

गाधार्थ-विधकी वेदना, रक्तक्षय, भय, शस्त्र की चोट, संक्लेश तथा आहार और ब्वासोच्छ्वास के निरोधसे आयु क्षीण हो जाती है।२५।

विशेषार्थ---हे जीव ! मात्र द्रव्य-लिङ्गको धारण कर तूने ऐसे अनेक भव प्राप्त किये हैं जिनमें विषजनित वेदना, रक्तक्षय, भय, शस्त्र-ग्रहण, संक्लेश तथा आहार और श्वासोच्छ्वासके रुक जानेसे असमयमें ही आयु क्षोण हई है अर्थात् अकाल-मरण हुआ है।

जहाँ आयु कर्मके निषेक, अपनो निषेक-रचना के स्वाभाविक क्रम-को छोड़कर एकदम खिर जाते हैं उसे अकाल-मरण कहते हैं। यह अकालमरण उपपाद जन्मवाले देव और नारकियोंके, चरमशरीरी मनुष्यों-के, भोगभूमिमें उत्पन्न हुए असंख्यात वर्षकी आयुवाले मनुष्य और तिर्यञ्चों के नहीं होता है। कर्मभूमिके अवशिष्ट मनुष्य और तिर्यञ्चोंके ही होता है। आज कल कुछ लोग ऐसा कहने लगे हैं कि केवलजानीके ज्ञान में जीवोंकी जितनो आयु दिखती है उतनी ही आयु पूरी कर उनका मरण होता है, अतः अकालमरण नामको कोई चीज नहीं है, सबका काल-

हिमजलणसलिलगुरुयरपव्वयतरुरुहणपडणभंगेहि । रसविज्जजोयधारणअणयपसंगेहि विविहेहि ॥२६॥ हिमज्वलनसलिलगुरुतरपर्वंततरुरोहणपतनभङ्गैः । रसविद्यायोगधारणानयप्रसंगैः विविधैः ॥२६॥

(हिम) केषांचिञ्जन्तूनां मानवानां च शीतेनापमृत्युर्भवति। (जलणं) केषांचिञ्ज्वलनेनाग्निनापमृत्युर्भवति (सलिल) कषांचित्सलिलेन समुद्रादिजलेना-पमृत्युर्भवति । (गुरुयरपव्वयत्तरुह्लणपडणभंगेहि) गुरुतरा अत्युन्नतशिखरास्ते च ते पर्वतास्तुं गोगिर्यादयः, तथा तरवो वृक्षा गुरुतरपर्वततरवस्तेषां रोहणेण पतनेन च कृत्वा ये भंगाः शरीरामर्दनानि ते तथा तैः हिमञ्चलनसलिलगुरुतरपर्वततरु-

मरण हो होता है। परन्तु उनका ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि अकाल-मरण की परिभाषा ऊपर दो जा चुकी है, उसके अनुसार जिन जीवोंके आयु कमँके निषेक अपने स्वाभाविक क्रमको छोड़ एक साथ खिरते हैं उनका अकाल-मरण कहलाता है। केवल-ज्ञानमें भी यही बात आती है कि इस जीव की आयु इतनी है परन्तु उसके निषेक अमुक समय में अमुक कारण से एक दम खिर जावेंगे। जिनागम में अपवर्त्यायुष्क और अनप-वर्त्यायुष्क दानों प्रकार के जोवों का उल्लेख है, अतः सबको अनपर्या-युष्क कहना आगम-सम्मत नहीं है। [कोई कोई लोग यह कहते देखे जाते हैं कि निक्ष्यनय से अकाल-मरण नहीं है, व्यवहार नयसे है, पर वे यह भूल जाते हैं कि निक्ष्य नयसे जीवका न मरण होता है और न जन्म होता है।] जन्म और मरण दोनों का उल्लेख व्यवहार नयका ही विषय है।]

आगे आयु क्षीण होनेके कुछ कारण और बताते हैं—

गाथार्थ-हे जीव ! हिम, अग्नि, पानी, बहुत ऊँचे पर्वत अयवा वृक्षोंके अपर चढ़ने और गिरने के समय होने वाले अङ्ग भङ्ग से तथा रस-विद्याके योग धारण ओर अनीतिके नाना प्रसङ्गोंसे आयु क्षीण होती है ॥ २६ ॥

विशेषार्थ-कितने ही जन्तुओं और मनुष्यों की शीतसे अपमृत्यु होती है, किन्हीं की अग्निसे अपमृत्यु होती है, किन्हीं की समुद्रादि के जलसे अामृत्यु होती है, किन्हीं की अत्यन्त ऊँची शिखरवाले तुंगीगिरि आदि पर्वत तथा वृक्षोंके ऊपर चढ़ने और गिरनेके कारण उत्पन्न अङ्गमङ्गसे रोहणपतनभगैः (रसविज्जजोयधारणअणयपसंगेहि) रसस्य विषस्य या विद्या विज्ञानं तस्या योगोऽनेकौषधमेलनं तस्य धारणं सेवनमास्वादनं अनयप्रसगर्स्यान्या-यकरणं ते रसविद्यायोगधारणानयप्रसंगास्तै रसविद्यायोगधारणानयप्रसंगैः । (विदि-हेहि) विविधननाप्रकारैः । तथा चोक्तं लक्ष्मीधरेण भगवत्ता---

> ैअण्णाएण दालिद्दियहं अरे जिय दुहु आवग्गु। लक्कडियइ विणु सोडयहं मग्गु सचिक्सलु दुग्गु ॥ १ ॥

इय तिरियमणुयजम्मे सुइरं उववज्जिऊण वहुवारं । अवमिच्चुमहादुक्खं तिव्वं पत्तोसि तं मित्त ॥२७॥ इति तिर्यङ्मनुध्यजन्मनि सुचिरं उपपद्य बहुवारम् ।

अपमृत्युमहादुःखं तीव्रं प्राप्तोऽसि त्वं मित्र ॥ २७ ॥

(इग्र तिरियमणुयजम्मे) इति पूर्वोक्तप्रकारेण तियंङ्मनुष्यजन्मनि । (सुइरं) सुचिरं सुष्ठु दीर्घकालं । (उववज्जिऊण बहुवारं) उपपद्य उत्पद्य जन्म गृहीत्वा बहुवारमनेकवारं । (अवमिच्चुमहादुक्खं) अपमृत्युमहादुःख (तिव्वं पत्तीसि) तीव्रं दुःखमसहनीयमसातं प्राप्तोर्ऽसि । (तं मित्त) त्वं भूगवन् हे मित्र ! हे बन्धो ! हे सुद्धूत् ।

और किन्होंको रस अर्थात् विषविद्याके योगसे-अनेक औषधियों के मेलसे, किन्हींकी विष निर्मित औषधियों के सेवनसे तथा किन्हों की नाना प्रकार-के अनय प्रसङ्गसे अर्थात् अन्याय करनेसे अपमृत्यु होती है। जैसा कि भगवान लक्ष्मीधरने कहा है---

अण्णाएण-हे जोव ! अन्याय के कारण दरिद्र पुरुषोंको सदा दुःख ही दुःख प्राप्त होता है, सो ठीक ही है क्योंकि खोटे पुरुषोंके तो लकड़ोके सहारेके बिना कीचड़ वाला मार्ग दुर्गम ही होता है ।

गावार्थ-हे मित्र ! इस प्रकार तिर्यञ्च और मनुष्य जन्ममें चिरकाल तक अनेक वार उत्पन्न होकर तू अपमृत्यु के तीव्र महादुःखको प्राप्त हआ है ॥२७॥

१. सावयधम्मदोहा ॥ १४८ ॥

छत्तीसं तिष्मि सया छावट्टिसहस्सवारमरणाणि । अंतोमुहुत्तमज्झे पत्तोसि निगोयवासम्मि ॥२८॥ षट्त्रिंशतं त्रीणि शतानि षट्षष्ठिसहस्रवारमरणानि । अन्तमुं हूर्त्तमध्ये प्राप्तोऽसि निकोतवासे ॥ २८॥ (छत्तीसं तिष्मिसया) षट्प्रिंशदकिर्वावरानि । (छावट्टिसहस्सवारमर-णानि) षट्षष्ठिसहस्रवारान् मरणानि ६६३३६ । (अन्तोमुहुत्तमज्झे) अन्तमुं हू-त्तमघ्ये । (पत्तोसि निगोयवासम्मि) प्राप्तोऽसि निकोतवासे ।

वियलिदिए असीदी सट्ठी चालीसमेव जाणेह । पंचिदिय चउवीसं खुद्भवंतो मुहुत्तस्स ॥२९॥ विकलेन्द्रियाणामशीति धष्ठि चत्वारिशदेव जानीत । पञ्चेन्द्रियाणां चतुर्विशति क्षुद्रभवान् अन्तर्मु हूर्त्तस्य ॥ २९॥ (वियलिदिए असीदी सट्ठी चालीसमेव जाणेह) विकलेन्द्रियाणां द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियजीवेषु अनुक्रमेण मरणसंस्यामन्तमूँहूर्तस्य करोति । तथाहि । द्वीन्द्रिया जीवा अन्तमुँहूर्तेन अशीतिवारान् स्नियन्ते । त्रोन्द्रिया जीवा जन्तमुँहूर्तेन

गावार्य-तू निकोत-वासमें अन्तर्मु हूतके भोतर छ्यासठ हजार तीनसौ छत्तीस वार भरणको प्राप्त हुआ है ॥२८॥

गायार्थ-विकलेन्द्रिय जोवोंके अन्तमु हूर्तसम्बन्धी सुद्रभव क्रमसे अस्सी, साठ और चालीस जानो तथा पञ्चेन्द्रियोंके चौबीस समझो ॥२९॥

विशेषार्थ-डीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय ये विकलत्रय कहलाते है। इनमें दो इन्द्रियोंके अस्सी, तीन इन्द्रियोंके साठ और चतुरिन्द्रियोंके पालीस क्षुद्रभव होते हैं। पञ्च्चेन्द्रिय जीवोंके चौबीस होते हैं। तात्पर्य यह है कि डीन्द्रिय जीव अन्तमुं हूर्तमें अस्सी बार भरते हैं, तीन इन्द्रिय जीव अन्तर्मुहुर्त में साठवार मरते हैं, चौ इन्द्रिय जीव जालीस बार और १८

षट्प्राभृते

षष्ठिवारान् भ्रियन्ते । चतुरिन्द्रिया जीवा अन्तर्मुहूर्तेन चत्यारिंशतं वारान् ग्रियन्ते । (पंचिदिय चउवीसं) पंचेन्द्रिया जीवा अन्तर्मुहूर्तेन चतुर्विर्धातं वारान् भ्रियन्ते । (खुद्दभवंतोमुहुत्तरसं) क्षुद्रभवा अन्तर्मुहूर्तस्य क्रमेण ज्ञातव्याः ।

रयणत्ते सुअलद्धे एवं भमिओसि दीहसंसारे । इय जिणवरेहि भणियं तं रयणत्तं समायरह ॥३०॥

पञ्चेन्द्रिय जीव चौबीस बार मरते हैं। उक्त जीवोंके अन्तर्मुहूतं कालमें अपर बताए हुए मरण होते हैं और इतने ही क्षुद्र मब होते हैं' ॥२९॥ गाथार्थ---हे जीव ! रत्नवयके प्राप्त न होनेसे तू इस तरह दोर्घ

१----अन्तर्मुहूर्तमें किस जोवके किराने क्षुद्रभव होते हैं इसका स्पष्ट वर्णन गोम्मटसार जीवकाण्डमें इस प्रकार दिया है----

तिण्णिसया छत्तीसा छार्बाट्रसहस्सगाणि मरणाणि ।

अन्तोमुहुत्तकाले तावदिया चेव खुद्दभवा।) १२२।। अर्थ----एक अन्तमुँहूतै में एक लब्ध्यपर्याप्तक जीव छ्यासठ हजार तीनसौ छत्तीस मरण और इतने ही भवों (जन्म) को भी धारण कर सकता है अर्थात् एक लब्ब्यपर्याप्तक जोव यदि निरन्तर भवोंको धारण करे तो ६६३३६ जन्म और इतने ही मरणों को धारण कर सकता है, अधिक नहीं कर सकता।

सोदी सट्टी तालं वियले चउदोस होंति पंचनखे ।

छावट्टिं व सहस्सा सयं च वत्तीस मेयक्खे ॥ १२३ ॥

अर्थ---विकलेस्ट्रियोंमें द्वीन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तकके ८० भव, त्रीन्द्रिय लब्ध्य-पर्याप्तकके ६०, चतुरिन्द्रिय सब्ध्यपर्याप्तक के ४० और पञ्च्वेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक के २४ तथा एकेन्द्रियोंके ६६१३२ भवों को घारण कर सकता है, अधिकको नहीं।

पुढविदगामणिमाघद साहारणधूल सुहुमपत्तेया ।

एदेसु अपुण्णेसु य एक्नेक्के वार सं छक्कं ॥ १२४ ॥

अर्थ-पृथिवो कायिक, जल कायिक, अग्नि कायिक, वायु कायिक और साधारण वनस्पति कायिक इन पाँचके स्यूल तथा सूक्ष्म की अपेक्षा दो-दो भेद और एक प्रत्येक वनस्पति कायिक इन ग्यारह प्रकारके लब्ज्यपर्याप्तक जीवोंमें प्रत्येक के ६०१२ क्षुद्रभव होते हैं।

इसप्रकार एकेन्द्रिय के ६६१३२, द्वीन्द्रियके ८०, त्रीन्द्रियके ६०, चतुरि-न्द्रियके ४० और पञ्च्चेन्द्रियके २४, कुल मिलाकर ६६३३६ हीते है ॥१२४॥ रत्नत्रये स्वलब्धे एवं भ्रमितोऽसि दीर्वसंसारे ।

इति जिनवरैमंणितं तत् रत्नत्रयं समाचर ॥ ३० ॥

(रयणत्ते सुभलद्धे) रत्नत्रये सुष्ठु अलब्धे सति । (एवं भमिझोसि दीह-संसारे) एवममुनाप्रकारेण अमितोऽसि पर्यटितवान् दीर्घसंसारेऽनादौ संसारे भवे । (इय जिणवरेहि भणियं) इत्येतद्वचनं जिनवरैस्तीथंकरपरमदेवैभंणितं प्रतिपादितं । (तं रयणत्तं समायरह) तत्तस्मात्कारणात् तज्जगत्प्रसिद्धं वा तत् त्वं वा रत्नत्रयं वा समाचर सम्धगाडियस्त वा ।

तं रयणत्तयं केरिसं हवदि । तं जहा । तद्रत्तत्रयं कोदृशं भवति ? तद्यया-तदेव निरूपयति—

अप्पा अप्पम्मि रओ सम्माइट्ठी हवेइ फुडु जीवो । आणइ तं सण्णाणं चरदिह चारित्तमग्गोत्ति ॥३१॥

आत्मा आत्मनि रतः सम्यग्दुष्टिः भवति स्फूटं जीवः । जानाति तत् संज्ञानं चरतीह चारित्रमागं इति ॥ ३१ ॥ (अण्पा अप्पन्मि रओ) वात्मा वात्मनि रत आत्मनः श्रद्धानपरः । (सम्माइट्री

संमारमें भ्रमण करता रहा है ऐसा जिनेन्द्र देवने कहा है अतः रत्नत्रय का आचरण कर ॥३०॥

विज्ञेषार्थं---सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको रत्नत्रय कहते हैं। रत्नत्रयके व्यवहार और निष्चयकी अपेक्षा दी मेद हैं इनमें से व्यवहार रत्नत्रय तो इस जीवको कईबार प्राप्त हुआ परन्तु निश्चय रत्न-त्रय प्राप्त नहीं हो सका। उसी निश्चय रत्नत्रय की ओर संकेत करते हुए गाथामें 'मु अलद्वो' लिखा गया है जिसका अर्थ होता है रत्नत्रयके सम्बक् प्रकारसे प्राप्त न होने से अर्थात् निरुचय रत्नत्रय की प्राप्ति न होनेसे यह जीव अनादि संसार में भटकता रहता है, ऐसा तीर्थंकर परम देवने कहा है अतः हे भव्य प्राणी ! तू उस निश्चय रत्नत्रयका अच्छी तरह आचरण कर अथवा उसका अच्छी तरह आदर कर ॥३०॥

आगे वह रत्नत्रय कैसा होता है ? वही निरूपण करते हैं---गाणार्थ---आत्मामें लीन हुआ जीव सम्यग्दुष्टि है, जो आत्माको आनता है वह सम्यग्ज्ञान है और जो आत्मा में चरण करता है वह चरित्र मार्ग है ॥३१॥

१, मगुत्ति म० ।

हवेइ फुडु जीवो) सम्यग्दुष्टिभवति स्फूटं निक्ष्यानयेन, व्यवहारनयेन तु तत्वार्थ-श्रद्धानं सम्यग्दर्शनं भवति, जीव वात्मा सम्यग्दृष्टिरिति ज्ञातव्यः । (जाणइ तं सज्जाणं) जानाति तं आत्मानं तत्सद्ज्ञानं सम्यग्ज्ञानं भवति, व्यवहारेण तु सप्त-तत्त्वानि जानाति तत्सम्यग्ज्ञानं भवति । (चरदिह चारित्तमग्गोत्ति) तमात्मानं जीवो यच्चरति तन्मयो भवति आत्मन्येकलोलीभावो भवति, इहास्मिन् संसारे, चारित्रमार्गं इति, व्यवहारेण तु पापक्रियाविरमणं चरणं भवति ।

अण्णे कुमरणमरणं अणेयजम्मंतराइं मरिओसि । भावहि सुमरणमरणं जरमरणविणासणं जीव ।।३२॥

अन्यस्मिन् कुमरणमरणं अनेकजन्मान्तरेषु भृतोऽसि ।

भावय सुमरणमरणं जन्ममरणविनाशनं कीव ॥३२॥ (अण्णे क्रुमरणमरणं) अन्यस्मिन् मवसमूहे कुमरणमरणं-कुस्सितमरणभरणं यवा भवत्येवं । तथा (अणेयजम्मंतराइं) अनेकजन्मान्तराण्यनन्तभवान्तरेषु । "अन्यार्थे अन्या" इति प्राक्कतव्याकरणसूत्रेण सप्तम्यर्थे द्वितीया । (मरिओसि) मृतोऽसि मरणं प्राप्तोऽसि । (मावहि सुमरणमरणं) भावय सुमरणमरणं पंडित-पंडितमरणं । कथंभूतं सुमरणमरणं (जरमरणविणासणं)- जरामरणविनाशनं परममोक्षदायकं । हे (जीव) जीव हे खेतनस्वभाव ! आत्मन्निति ।

विद्योवार्थ-आत्म-श्रद्धान में तत्पर जीव निश्चय से सम्यग्दृष्टि है जोर व्यवहार नयसे जीवादि तत्वोंका श्रद्धान करने वाला सम्यग्दृष्टि है। जो आत्माको जानता है वह निश्चयसे सम्यग्ज्ञान है और व्यव-हारनय से जो सात तत्वोंको जानता है वह सम्यग्ज्ञान है। जो आत्मा में चरण करता है अर्थात् उसीमें लोन होता है वह निश्चय से चारित्रका मार्ग है और पापक्रियांसे विरत होना व्यवहारसे चारित्रका मार्ग है। बिश

गायार्थ-हे जीव ! तू अन्य अनेक भवोंमें कुमरण करके मृत्युको प्राप्त हुआ है, अब जन्म और मरणको नष्ट करनेवाले सुमरण मरण पण्डितपण्डित मरणको भावना कर ॥३२॥

विज्ञोषार्ण----हे आत्मन् ! तू अन्य अनेक जन्मान्तरों-भवान्तरों में आत्ती रौद्रध्यान से मरकर कुमरण को प्राप्त हुआ है, अतः अब जरा और मरण को नष्ट करनेवाले परम मोक्षदायक सुमरण मरणको भावना कर । निरन्तर ऐसा हो विन्तवन कर कि मेरा पण्डितपण्डितमरण हो । 'अणेय जम्मंतराइ'' यहाँ पर 'अन्यार्थे अन्या' इस प्राक्त व्याकरण के सूत्रसे सप्तमोके अर्थ में द्वितीया विभक्तिका प्रयोग हुआ है ।

भावप्रामृतम्

-4. ३२]

समुद्रादिकस्लोलवत्प्रतिसमयमायुस्त्रुट्यति तदावीचिकामरणं स्थितिप्रदेश-वीचिकाभेदात्तद्द्विविधमप्येकविधं । भवास्तरप्राफिरनन्तरोपसुष्टपूर्वभवविगमनं तद्भवमरणमुच्यते । तत्त्वनन्तशः प्राप्तं जीवेनेति ज्ञातव्यं, तेन तद्भवमरणं न दुर्लमं । अवधिमरणं नाम कथ्यते-यो यादृशं मरणं साम्प्रतमुपैति तादृशसेव यदि मरणं भविष्यत् तदवधिमरणं, तद्द्विविधं देशावधिमरणं सर्वावधिमरणं चेति । तत्र सर्वावधिमरणं नाम यदायुर्ययाभूतमुदेति साम्प्रतं प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशैस्तवा-भूतमेवायुः प्रकृत्यादिविधिष्टं पुनर्बंघ्नात्युदेष्यति ध यदि सर्वावधिमरणं । यत्साम्प्रत-मुदेत्यायुर्ययाभूतं तथाभूतमेव बध्नाति देशतो यदि तद्देशावधिमरणं । एतदुन्तं

आगे मरण के सत्तरहर भेदों का संक्षिप्त स्वरूप कहते हैं---

१ आवीचिका मरण, २ तद्भव मरण, ३ अवधि मरण, ४ आद्यन्त मरण, ५ बालमरण, ६ पण्डित भरण, ७ आसन्त मरण, ८ बालपण्डित सरण, ९ सशल्य मरण, १० पलाय मरण, ११ वशार्त्तं मरण, १२ विप्राणस मरण, १३ गृढपुष्ठ मरण, १४ भक्त-प्रत्याख्यान मरण, १५ प्रायोपगमन मरण, १६ इङ्गिनी मरण और १७ केवलिमरण। इनका स्वरूप इस प्रकार है—

१. आवीचिका मरण- समुद्रादि की लहरों के समान जो आयु प्रति-समय कम होती जाती है वह आवीचिका मरण है। यह मरण स्थिति बीचिका और प्रदेश वीचिका के मेदसे यद्यपि दो प्रकारका है तथापि सत्तरह भेदों में एक सामान्य मेद ही लिया गया है।

२. तद्भव-मरण—भवास्तर को प्राप्ति होना अर्थात् आगामी अनन्तर शरीर के द्वारा उपसृष्ट होनेपर पूर्व भवका छूट जाना तद्भव मरण है। यह तद्भवमरण इस जोवने अनन्त बार प्राप्त किया है इसलिये दुलैंभ नहीं है।

३ अवधि-मरण — जो प्राणी जिस प्रकारका मरण वर्तमान कालमें प्राप्त करता है वैसा ही मरण यदि आगामी कालमें हो तो उस मरण को अवधि-मरण कहते हैं। यह अवधि-मरण १ देशावधि मरण और २ सर्वा-वर्षि मरण के भेद से दो प्रकारका है। जो आयु वर्तमान में प्रकृति-रिवति-अनुभाग और प्रदेश सहित जैसी उदय में आती है वैसो ही आयु फिर प्रकृत्यादि विशिष्ट बंधकर यदि उदयमें आवेगी तो उसका सर्वावधि

 मरणाणि सत्तरस देसिदाणि तित्यंकरों ह जिलवयणे । तत्व वि य पंच इत् तंत्रहेव मरवाणि वोष्क्रामि । — प्रथम वाद्यास मवचती जारावना ।

१. प्रक्रियति म० ।

षद्प्राभृते

भवति-देशतः सर्वतो वा सादृष्ट्येनावधीकृतेन विशेषितं मरणमवधिमरणमिति । सम्प्रतेन मरणेनासादृश्यभावि यदि मरणमाद्यन्तभरणमुच्यते । आदिशब्देन साम्प्रतं प्राथमिकं मरणमुच्यते, तस्यान्तो विनाशभावो यस्मिन्नुत्तरमरणे । तदेतदाद्यन्तमरण-मुच्यते । प्रकृतिस्थित्यनुभवप्रदेशैर्यंथाभूतैः साम्प्रतमुपैति मूर्ति तथाभूता यदि सर्वतो देशतो वा नोपैति तदाद्यन्तमरणं । बालमरणमुच्यते बालस्य मरणं बालमरणं । स च बालः पंचप्रकारोऽव्यक्तबालो व्यवहारबालो झानबालो दर्शनबालश्चारित्रदालः । धर्मार्यकामकार्याणि न वेत्ति न तदाचरणसमर्यधारीरोऽव्यक्तबालाः । लोकदेधसमय-व्यवहारान् न वेत्ति शिशुर्वा व्यवहारबालः । मिध्यादृष्टयो दर्शनबालाः । वस्तुया-थाल्यप्राहिज्ञानहीना झानवालाः । अचारित्राख्वारित्रबालाः । दर्शनबालस्तरणं द्विद्ध

मरण कहते हैं और जो आयु वर्तमान कालमें प्रकृत्यादि विशिष्ट होकर जैसी उदय आती है, वैसी ही आयु यदि किसी अंश में सदृश होकर बैंधेगी और मविष्यत् कालमें उदय आवेगी तो उसे देशावधि मरण कहते हैं। अभिप्राय यह है कि कुछ अंश में अथवा पूर्ण रूपसे सादृश्य जिसमें भया जाता है ऐसा अवधिसे विशिष्ट अर्थात् जिसमें पूर्ण सादृश्य मर्यादिस हुआ है अयवा कुछ हिस्सेमें सादृश्यकी मर्यादा है और कुछ हिस्सेमें नहीं है ऐसे मरणको अवधि मरण कहते हैं।

अखल्त मरण-वर्तमानकालमें जैसा मरण जीवको प्राप्त हुआ है वैसा अर्थात् सदृश मरण आगे प्राप्त म होना आद्यन्त-मरण कहा जाता है । यहाँ आदि शब्द से वर्तमानकालिक प्रथम कहा जाता है उसका अन्त अर्थात् विनाश जिस आगामी मरण में हो वह आद्यन्त मरण कहलाता है (आदेः अन्तो यस्मिस्तत् आद्यन्तं तच्च तन्मरणञ्चेति आद्यन्त-मरणम्) । तात्पर्यं यह है कि वर्तमान में जीव, जिसप्रकारके प्रकुति, स्थिति, अनुमद और प्रदेशके द्वारा जैसी मृत्युको प्राप्त होता है वैसी मृत्युको एक-देश अथवा सर्व-देश रूपसे भविष्यत् में प्राप्त न हो तो वह आद्यन्त मरण कहा जाता है ।

4. बालमरण-अब बालमरण कहा जाता है। बालकका मरण सो बालमरण है। वह बाल पाँच प्रकार का है-१ अव्यक्त बाल, २ व्यवहार बाल, ३ ज्ञान बाल, ४ दर्शन बाल और ५ चारित्र बाल। जो घर्म अर्थ और कामके कार्यको नहीं जानता है और न उनके आचरण में जिसका शरीर समर्थ है वह अव्यक्त बाल कहलाता है। जो लोक वेद और समयके व्यवहार को नहीं जानता है अथवा छिन्नु अवस्था वाला है इच्छाप्रवृत्तमनिच्छाप्रवृत्तं चेति । तत्रेच्छाप्रवृत्तमग्निना धूमेन शस्त्रेण विषेणोदकेन मस्त्रपातेनोच्छ्वासरोधेन शीलपातेनोग्णपातेन रज्वा क्षुघा तृषा जिक्होत्पाटनेन विख्याहारसेवनेन च मरणसिच्छामरणं । कालेऽकाले वाऽघ्यवसानादिना विना विजीविषोमंरणमनिच्छाप्रवृत्तं । पंडितमरणमुच्यते-पंडितश्चतुर्घा व्यवहारपंडितः सम्पद्स्वपंडितो ज्ञानपंडितश्चारित्रपंडितश्चेति ! लोकवेद समयगतव्यवहारपिडितः । म्रिवधान्यतमसम्पद्त्वः दर्शनपंडितः । र्यंचविधज्ञानपरिणतो ज्ञानपंडितः । पंचविधन् वारित्रान्यतमचारित्रपरिणतञ्चारित्रपंडितः । नरकेष्म्भवनेषु विमानेषु ज्योतिष्केषु वानव्यन्तरेषु द्वोपसमुद्रेषु च ज्ञानपंडितमरणं । भनःप्र्ययमरणं मनुष्यलेक एव

उसे व्यवहार बाल कहते हैं। मिथ्यादृष्टि जोव दर्शन बाल हैं। जो वस्तु-के गयार्थ स्वरूप को ग्रहण करने वाले ज्ञानसे रहित हैं वे ज्ञान-बाल हैं और जो चारित्रसे रहित हैं वे चारित्र-बाल कहलाते हैं। इनमें से दर्शन बालमरण दो प्रकारका है—१ इच्छा प्रवृत्त और अनिच्छा प्रवृत्त । उनमें इच्छा पूर्वक अग्नि, धुवा, अस्त्र, विष, पानी, पर्वतसे गिरना, श्वासरोकना, शीतमें पड़ना, उष्णमें पड़ना, रस्सी, भूस, प्यास, जिह्वाका उखाड़ना और बिरुद्ध आहारके सेवन से जो मरण होता है, वह इच्छा मरण कहलाता है। योग्य कॉल अथवा अकाल में मरनेके अभिप्राय के बिना जोवित रहनेके इच्छुक प्राणीका जो मरण है वह अनिच्छा प्रवृत्त मरण है।

१, मनुष्यलोक एव केवलमन पर्यंयज्ञानपण्डितमरणं भवति-भगवती आराधता ।

मरणं । आसन्नमरणमुच्यते---निर्वाणमार्गं प्रस्थितसंयतसार्थात् प्रस्थृतः आसन्न उच्चते, तदुपल्क्षणं पार्वदंस्यस्वच्छन्दकुशीलसंसक्तानां । ऋद्रिंप्रिया रसेष्व्वास्थता दुःखभीरवः सदा दुःखकातराः कषायपरिणताः संज्ञावशगाः पाप¹--श्रुताभ्यास-कारिणः त्रयोदशक्रियास्वलसाः सदा संक्लिष्ट चेतसः भक्ते उपकरणे च प्रतिधदा निमित्तमंत्रौषधयोगोपजीविनः गृहस्थवैयावृत्यकरा गुणहीना गुप्लिसमितिष्वनुद्यता मन्दसंत्रेगा दश्धर्माकृतबुद्धयः शदलचारित्रा आसन्ता उच्यन्ते । ते यद्यन्ते आत्म-शुद्धं कृत्वाझियन्ते तदा प्रशस्तमेव मरणं । ज्ञालपंडितमरणं श्रावकस्य । सशस्य-भरणं सुगमं । पलायमरणमुच्यते विनयवैयावृत्यादावकृतादरः प्रशस्तक्रियोदहनालसः त्रयोदश्वचारित्रेषु वीर्यनिगूहनपरो वर्माचन्त्रयां निद्राघूर्णित इव घ्याननमस्कारादेः पलायते पलायमरणं । इन्द्रियवेदनाकषायनोकषायात्तंमरणं वशातंमरणं ^२अप्रति-सिद्धेऽननुझाते च मरणे विप्पाणसमरणं, विप्राणसमरणमुच्यते-गृष्ठपृष्ठियति संज्ञिते

ज्योतिष्क देवोंमें, व्यन्तर देवोंमें तथा द्वोप समुद्रोंमें ज्ञान-पण्डित मरण होता है, परन्तु मनः पर्यंय ज्ञान मरण मनुष्य लोक (अढाई द्वोपमें) ही होता है।

७. वासन्स्मरण-अब आसन्स मरणका स्वरूप कहा जाता है। मोझमार्गमें चलने वाले संयमीजनोंके समूहसे जा च्युत हो गया है, उसे वासन्स कहते हैं। यह आसन्स शब्द उपलक्षण है, अतः पार्श्वस्थ, स्वच्छन्द, कुशील और संसक्त इन अख्ट मुनियोंका भी उसीसे ग्रहण समझना चाहिये। जिन्हें ऋद्वियां प्रिय हों, जो रसोंमें आसक्त हों, दुःखसे बरते हों सदा दुःखके समय दीनता दिखलाने वाले हों, कषाय भावसे युक्त हों, आहारादि संजाओंके वशोभूत हों, पापके समर्थक शास्त्रोंका अभ्यास करने वाले हों, तेरह प्रकारकी कियाओंके पालन करने में आलसी हों, जिनका चित्त सदा संक्लेश से युक्त रहता है, जो आहार तथा अप-करणोंमें सदा उपयुक्त रहते हैं, निमित्त ज्ञान, मन्त्र, औषध तथा विष-शोधनकी कला आदिसे आजीविका करते हें वर्थात् इन कार्योंके द्वारा गृहस्थों को आहार देनेके निमित्त अपनी ओर आकृष्ट करते हैं, गृहस्थोंकी वयावृत्य करते हैं, गुणोंसे होन हैं अर्थात् मूलगुणोंका जो निर्दोष पालन नहीं करते हैं, गुण्ते और समितियोंके विषयमें अनुद्यमी हैं, जिनका संवेग

- १. यापश्रत्याम्यास० म० ।
- २. अत्रसिंद्धे म०।

-५. ३२]

इसे प्रवर्तेते । दुर्भिक्षे कान्तारे दुरुत्तरे पूर्वक्षत्रुभये दृष्टनृपमये स्तेनमये तिर्यंगुपसर्गे एकाकिनः सोढुमशक्ये ब्रह्मव्वतगशादिचारित्रदूषणे च जात्वे संविग्नः पापभीरुः

अल्प है अर्थात् जिन्हें संसारसे पूर्णं भय नहीं है। अथवा जो धर्म और धर्मके फलके विषयमें अनुत्साहो हैं, जिनको बुद्धि उत्तमक्षमादि दश धर्मों-में नहीं लगती है तथा जो दोषयुक्त चारित्रके धारक हैं वे आसन्त कह-लाते हैं। 'वे आसन्त मुन्ति यदि अन्तिम समय आत्मशुद्धि करके मरते हैं तो उनका मरण प्रशस्त हो अहलावेगा।

८. बारुपण्डित मरण—वारुपण्डित सम्यग्दृष्टि श्रावक को कहते हैं क्योंकि वह पूर्ण चारित्रका धारक न होनेसे बाल है और सम्यग्दृष्टि हो जाने के कारण पण्डित है। उसका जो मरण है उसे बालपण्डित मरण कहते हैं।

९. स्वाल्य मरण---³संशल्य मरणका स्वरूप सूमम है । [मिण्यादर्शन,

- एवंभूताः सन्तो मृत्वा वराका भवसहस्रेषु अमन्ति । दुःसानि भुक्त्वा भुक्त्वा पार्ख्वरूपेण सुचिरं विद्वस्यान्त आत्मनः धुद्धि कृत्वा यदि मृतिमुपैति प्रशस्तमेव मरणं भवति । भगवती आराचना ।
- . ३. सन्नल्यमरणं द्रिविधं यतो द्विविधं शल्यं द्रव्यशल्यं भावशल्यमिति । मिथ्या-दर्शन-माया-निदान-शल्यानां कारणं कम द्रव्यशस्यम् । द्रव्यशस्येन सह मरणे पञ्चानां स्थावराणां भवति असंज्ञिनां त्रसानां च । ननु द्रव्यचाल्यं सर्वत्रास्ति ततिः मुच्यते स्थावराणामिति । भावशत्य-विनिमुं क्तं द्रव्यशत्यमपेक्ष्यते । एतद्रक्तं----सम्यक्त्वातिचाराणां दर्शनशल्यत्वात्सम्यग्दर्शनस्य च स्थावरेषु बभावात् त्रसेषु च विकलेन्द्रियेषु । इदमेव स्यादनागतकाले इति मनसः प्रणिषानं निदानं । न च तदसंशिष्विति । मार्गस्य दूषणं, मार्गनाशनं, उन्मार्ग प्रस्पणं, मार्गप्रहूपणं, मार्गस्थानां भेदकरणं मिथ्यादर्शनशल्यानि । तत्र निदानं त्रिविधं प्रवस्तमप्रशस्त भोगकृतं चेति । परिपूर्णसंयममाराषयित्-, कामस्य जन्मान्तरे पुरुषादि--प्रार्थना प्रशस्तं निदानं, मानकथाय-प्रेरितस्य कुलरूपादि--प्रार्थनमनागतभवविषयं अप्रशस्तं निदानं । अथवा क्रोघाविष्टस्य स्वधनुबध-प्रार्थना वशिष्ठस्येवोग्रसेनोन्मुलने । इह परत्र च भोगा अपि इत्यं-भूता अस्माद् व्रतशोलादिकाद्भवन्त्विति मनः प्रणिधानं भोगनिदानं । असंगत-सम्पादृष्टेः संयतासयतस्य वा निदानशल्यं भवति । पार्श्वस्थादि-स्पेन चिरं विहत्य परवादपि झालोचनामन्तरेण यो मरणमुपैति तन्मायाश्वरूपं मर्ग तस्य भवति । एतत्संयते, संयतासंयते, अविरत-सम्यग्द्रध्टावपि भवति ।

षट्प्रामृते

कर्मणामुदयमुपस्थितं झात्वा सोढुमशक्तः तन्निस्तरणस्यासव्युपाये सावद्यकरणमीदः विराधनमरणभीदृश्च एतस्मिन्-¹कारणे जाते कालेऽमुष्मिन् कि भवेस्कुझलमिति गणयता यद्युपसर्गत्रासितोऽहं संयमाद्भ्रश्यामि ततः संयमभ्रष्टो दर्शनादपि न ^रवेदनासंक्लिष्टः सोढुं प्रव्रज्यामुत्सहे । ततो रत्नत्रयाराघनाच्युतिर्ममेति निश्चित-

निदान और मायाके भेदसे शल्यके तीन भेद हैं। शल्य सहित जीवका मरण सशल्यमरण कहलाता है।]

१०. पर्खाय मरण---जो विनय तथा वैयावृत्य आदिमें आदर नहीं करता है, प्रशस्त क्रियाओंके करनेमें आलसो रहता है, तेरह प्रकारके चारित्र में अपनी शक्ति छिपाता है, धर्मके चिन्तन में मानो निद्रासे झूमने लगता है और घ्यान तथा नमस्कार आदिसे दूर भागता है, उसे पलाय कहते हैं। पलाय के मरणको पलायमरण कहते हैं।

११. वधार्त मरण---इन्द्रिय, वेदना, कषाय और नो कषायसे पीडित व्यक्तिके मरणको वधार्त मरण कहते हैं।

१२. विप्राणस मरण---विप्राणसमरण और गृध्यपृष्ठं मरण नामवाले दो मरणोंका जैनागममें तिषेत्र नहीं है और अनुज्ञा मो नहीं है। इनमें विप्राणस मरणका स्वरूप कहते हैं---

दुष्कालके पड़ने पर, जिसका पार करना कठिन है ऐसे जज्जल में फँसजाने पर, पूर्वशत्रु का भय, दुष्टराजाका भय अथवा चोरका भय उपस्थित होनेपर, जिसका अकेले सहन करना असम्भव है, ऐसा तिर्यञ्च कृत उपसगं उपस्थित होनेपर, तथा ब्रह्मचयं व्रतका नाश आदि चारित्र का दोष उत्पन्न होनेपर संसारसे भयभीत तथा पापसे डरनेवाला मुनि विचार करता है कि मेरे कमंका जो उदय आया है उसे सहन करनेके लिये मैं असमर्थ हूँ, तथा इस उपद्रवसे पार होनेका कुछ उपाय भो नहीं है, ये पापकायंके करनेसे डरता हूँ तथा चारित्र की विराधना कर असंयमी अवस्था में मरनेसे भी भयभीत हूँ, ऐसे कारण उपस्थित होनेपर इस समय मेरी कुशल किस तरह हो सकतो हैइस प्रकारका विचार करता हुआ बह पुनः सोचता है कि यदि मैं उपसगेसे भयभीत हो संयम से च्युत होता हूँ तो सयमसे ऋष्ट कहलाऊँगा और संभव है सम्यग्दर्शनसे भो झब्द हो

- १. करणे म० क० ।
- २. वेदनामसंक्लिप्टः म० ।

भावप्राभृतम्

मतिनिमायः चरणदर्शनविशुद्धः धृतिमान् ज्ञानसहायोऽनिदानोऽहंदन्तिके आलोचना-मासाध केत्रत्वशुद्धिलेक्यः प्राणापाननिरोधं करोति यत्तदिप्पाणसमरणमुच्यते । शस्त्रग्रहणेन यद्भवति तद्गृद्यपृष्ठमित्युच्यते । मरणविकल्पसंभवप्रदर्शनमिदम् सर्वंत्र कर्तव्यतयोपदिश्यते । भक्तप्रत्याच्यानं, प्रायोपगमनमरणं, इंगिनीमरणं, ³केवलि-मरणं चेति । इत्येतान्येवोत्तमानि पूर्वपुरुषैः प्रवर्तितानि । सप्तदशसुमघ्ये त्रीण्युत्त-मानि सुमरणानि । प्रायोपगमनं दर्भांसने स्थितः स्वयमुपसर्गं न निवारयति,

जाऊ, मैं बेदना से संविल्ल्ड होकर दीक्षाका निर्वाह करनेमें समर्थ नहीं हूँ, इन सब का मे मेरो रत्नत्रयकी आराधना छूटने वाली है इस प्रकार का जिसे निश्चय हुआ है जिसने अपराधको छिपाने रूप मायाका त्याग कर दिया है, जो चारित्र और दर्शनमें विशुद्धता रखता है, धेयेंसे सहित है, ज्ञान ही जिसका सहायक है, और जो निदान से रहित है, बरहन्त भगवानुके समीप वालोचना को प्राप्त कर जिसने अपनी लेश्याको धुद्ध कर लिया है, ऐसा मुनि जो श्वासोच्छवासका निरोध करता है, वह विप्राणस मरण कहलाता है।

१३. गृध्रपृष्ठमरण—,उपयुंक्त कारण उपस्थित होनेपर शस्त्र ग्रहण करके जो मरण किया जाता है वह गुध्रपृष्ठ मरण है।

इसप्रकार मरणके जितने विकल्प सम्भव होसकते हैं उनका प्रदर्शन किया गया है। अब सर्वत्र करने योग्य मरणोंका उपदेश किया जाता है। भक्त-प्रत्याख्यान, प्रायापगमन, इङ्गिनीमरण और केवलि-मरण। ये मरण ही उत्तम-मरण हैं तथा पूर्व-पुरुषों के ढारा प्रवर्तित हैं।

१४. भक्त प्रत्याख्यानमरण--एक साथ जीवन पर्यन्तके लिये अथवा कम कमसे कुछ समयको अवधि लेते हुए आहारका त्याग करके जो समाधिमरण किया जाता है, उसे भक्त-प्रत्याख्यान कहते हैं। उपयुंक्त सत्तरह मरणोंमें प्रायोपगमन, इज्झिनीमरण और केवलि-मरण ये तीन मरण उत्तम मरण कहलाते.हैं।

१५. प्रायोपगमन मरण—प्रायोपगमन मरणमें कुझासन पर बैठा हुआ मुनि स्वयं उपसर्गका निवारण नहीं करता है, यदि कोई दूसरा करता है तो करने देता है।

१. कृतशुद्धिलेश्य म० ।

२. केवल म०।

चेकोपि निवारयति तदा निवारयितुं ददाति। इंग्निनीमरणे निवारयितुमपि न ददाति । केवल्मिरणं तीर्यंकरनणघरानगारकेवलिमरणं ज्ञातव्यं । एतन्मरणत्रयं सुमरणं हे जीव ! त्यं भावय ।

सो णत्थि दव्वसवणो परमाणुपमाणमेत्तओ णिलओ । जत्थ ण जाओ ण मओ तियलोयपमाणिओ सब्वो ॥३३॥

> स नास्ति द्रव्यश्रमणः परमाणुप्रमाणमात्रो निलयः । यत्र न जातो न मृतस्त्रिलोकप्रमाणकः सर्वः ॥३३॥

(सो पत्यि) स नास्ति न विद्यते । (णिलओ) गुहं स्थानं । कथंभूतो निल्ध्यः, (परमाणुपमाणमेत्तओ) परमाणुप्रमाणमात्रः अविभागी परमाणुर्यावन्तं प्रदेशं रुपद्धि तम्मात्रोऽपि निल्ध्यो नास्ति । स कः प्रदेशः । (जत्य) यत्र प्रदेशे । (दब्यसवणो) द्रब्यदिगम्बरः मिष्य्यादृष्टिरसपस्वी । (ण आलो) न जातो नीत्पन्नः । (ण मलो) न मृतो न मरणं प्राप्तः । स निरूयः कियान्, (तियलो-यपमाणिओ) त्रिवभुवनेन मापितः । (सम्वो) समस्तोऽपि ।

१६ **इज़िनो मरण**—इज़िनी मरण में दूसरे को भो निवारण नहीं करने देता।

१७. केवलि मरण—तीर्थंकर, गणधर और अनगार~केवलियों का भरण केवलि मरण जानना चाहिये। यह तीन प्रकारका मरण सुमरण है। हे जीव ! त् इन्हीं को भावना कर ॥३२॥

गायार्थ---ऐसा परमाणु प्रमाण भी स्थान नहीं है जहाँ द्रव्य-लिज्ज्ञी मुनि न उत्पन्न हुआ हो और न मरा हो । समूचा तीन लोक उसका स्थान है ॥३३॥

विशेषार्थ---द्रव्य-लिङ्गी मुनिका मुनिपद मुक्तिका कारण नहीं है किन्तु संसारका हो कारण है, यह बताते हुए श्रीकुन्दकुन्द-स्वामी दरशाते हैं कि परमाणुके बराबर भी ऐसा स्थान नहीं है जहां द्रव्यलिङ्गी साधु--मिथ्यादृष्टि तपस्वी न उत्पन्न हुआ हो और न मरणको प्राप्त हुआ हो, उसका स्थान तो समूचा तोन लोक है अर्थात् तीनों लोकोंमें ऐसा एक भी प्रदेश नहीं है जहां द्रव्यलिङ्गी मुनि न उत्पन्न हुआ हो और न मरा हो ॥ ३३ ॥

कालमणंतं जीवो जम्मजरामरणपीडिओ दुक्खं । जिणलिगेण वि पत्तो परंपराभावरहिएण ॥३४॥

कालमनन्तं जीवः जन्मजरामरणपीडितः दुःखम् । जिनलिङ्गेन अपि प्राप्तः परम्पराभावरहितेन ॥३४॥

(कालमणंतं जीवो) कालं समयमनेहसमिति यावत्, अनन्तमन्तरहितं कर्मतापन्नं जीव आत्मा दुःखं प्राप्त इति क्रियाकारकसम्बन्धः । कालाघ्वदेशभावानां कर्मसंज्ञा सिद्धैव वतेते । कथंभूतो जीवः, (जम्मजरामरणपीडिओ) जन्मजराम-रणपीडितः चम्पितः । (जिणल्गिंग वि) अर्हद्रूपविशिष्टोऽपि । अपि शब्दा-दविशिष्टोपि कथंभूतेन जिनल्गिंन (परमाराभावरहिएण) परम्परा आचार्य-प्रवाहस्तदुपदिष्टं शास्त्रं च परम्परा शब्देन लम्यते तत्र भावरहितेन प्रतीतिवजितेन

गाथार्थ-इस जीवने जिनलिङ्ग भी धारण किया परन्तु आचार्य-प्रवाहके द्वारा उपदिष्ट तत्व अथवा शास्त्र की प्रीतिसे रहित होकर धारण किया इसलिये अनन्त काल तक जन्म जरा और मरणसे पीडित होता हुआ यह दुःखको प्राप्त हुआ है ॥ ३४॥

प्रकन-वह परम्परा क्या है ?

समाधान-----इस अवर्सांपणी युगके तृतीय कालके अन्तमें श्री भगवान् क्षमनाधने अर्थ रूपसे शास्त्रका उपदेश दिया था और वृषभसेन गणधरने मिष्यादृष्टिना जीवेनेत्यर्थः । कासौ परंपरा ? अस्यामवसर्पिण्यां तृतीयकालप्रान्ते श्रीवृषभनायेनार्थशास्त्रमुक्तं, वृषभसेनगणघरेण ग्रन्थः कृतः, तत्परम्परया वीरेण भगवतार्थः प्रकाशितः गौतमेन गणिना ग्रन्थितः, तदनुक्रमेण पंचमकाले प्रमाण-भूतैनिरम्वराचार्येरारातीयैरुपदिष्टं तच्छास्त्रं प्रमाणीक्तंक्यं विसंघादिभिर्मिष्या-दृष्टिभिः कृतं शास्त्र न प्रमाणनीयं । अथ के ते आचार्या यैः कृतं धास्त्रं प्रमाणी-क्रियते इत्याह----

> श्रीभद्रबाहुः श्रीचन्द्रो जिनचन्द्रो महामतिः । गृष्ठापिच्छगुरुः श्रीमाल्लोहाचार्यो जितेन्द्रियः ॥१॥ एलाचार्यः पूज्यपादः सिंहनन्दी महाकविः । वीरसेनो जिनसेनो गुणनन्दी महातपाः ॥२॥ समन्तभद्रः श्रीकुंभः शिवकोटिः शिवंकरः । शिवायनो विष्णुसेनो गुणभद्रो गुणाधिकः ॥३॥ अकलञ्क्लो महाप्राज्ञः सोमदेवो विदांवरः । प्रमाचद्रो नेमिचन्द्र इत्यादिमुनिसलमैः ॥४॥ यच्छार्स्त्र दचितं नूनं तदेवाऽदेयमन्यकैः । विसंचै दचितं नैव प्रमाणं साध्वपि स्फूटं ॥५॥।

उसे ग्रन्थरूपसे परिणत किया था, उसी परम्परामें भगवान महावीरने अर्थका प्रकाश किया और गौतम गणघरने उसे ग्रन्थ रूपमें परिणत किया अर्थात् द्वादशाङ्ग की रचना को। उसी अनुक्रमसे पञ्चम कालमें प्रामाणभूत दिगम्बर आचार्योंने उपदेश दिया है सो उन्हों आचार्योंके द्वारा उपदिष्ट शास्त्र को ही प्रमाण मानना चाहिये। मूलसंघको विघटित करके विरुद्ध अथवा विविध संघोंकी स्थापना करने वाले मिख्यादृष्टि लोगोंके द्वारा रचित शास्त्रको प्रमाण नहीं मानना चाहिये। अब वे आचार्य कोन हैं? जिनके द्वारा रचित शास्त्र प्रमाण किये जाते हैं? इसका उत्तर देते हुए कुछ आचार्योंके नाम प्रकट किये जाते हैं।

श्रीभद्रबाहु---श्रीभद्रबाहु, श्रीचन्द्र, जिनचन्द्र, महामति, गृद्धपिच्छ-गुरु, इन्द्रियोंको जीतनेवाले लोहाचार्य, एलाचार्य, पूज्यपाद, महाकवि सिंहनन्दी, वीरसेन, जिनसेन, महातपस्वी गुणनन्दी, समन्तभद्र, श्रीकुम्भ, कल्याणकारी शिवकोटि, शिवायन, विष्णुसेन, अधिक गुणोंके धारक गुण-भद्र, महाबुद्धिमान् अकलक्तु, विद्वानोंमें श्रेष्ठ सोमदेव, प्रमाचन्द्र और

२८७

पडिवेससमयपुग्गलआउगपरिणामणामकालट्टं । गहिउज्झियाद्दं बहुसो अणंतभवसायरे जीव ॥३५॥ प्रतिदेशसमयपुद्गलायुपरिणामनामकालस्थम् । गृहीतोज्झितानि बहुशः अनन्तभवसागरे जीव ॥३५॥ (पडिदेस) यावन्तः प्रदेशा लोकाकाशस्य वर्तन्ते एकैकं प्रदेशं प्रति शरीरा-णीति पुर्वोक्तमेव ग्राह्यं गृहतोज्झितानि । तथा (सम्यपुग्गल) प्रतिसमयं-समयं समयं

नेमिचन्द्र' इत्यादि श्रेष्ठमुनियोंने जो शास्त्र रचे हैं यथार्थमें वे ही शास्त्र ग्रहण करने योग्य हैं। अन्य विविध अथवा विरुद्ध संघवालोंके द्वारा रचित शास्त्र ठीक होनेपर भो प्रमाण नहीं मानना चाहिये^२ ॥ १-५ ॥

गायार्थ—हे जीव ! तूने भाव-लिङ्गके बिना अनन्त संसार सागरमें प्रत्येक देश, प्रत्येक समय, प्रत्येक पुद्गल, प्रत्येक आयु, प्रत्येक परिणाम,

- १. यहाँ आचार्योंकी जो नामावस्त्री दी है उसमें काल-क्रमकी अपेक्षा नहीं की गई है तथा अन्य जिन प्रामाणिक आचार्योंके नाम रह गये हैं उनका 'इत्यादि मुनिससमैः' पदमें दिए हुए इत्यादि पदसे संकलन जानना चाहिये।
- २. ३४ वीं गायाका भाव पं० अपचन्द्रजोने अपनी भाषा वचनिकामें इसप्रकार स्पष्ट किया है---

भावार्थ---द्रव्यलिङ्ग धारधा अर तामैं परम्परा करि भी भाव लिङ्ग-की प्राप्ति न भई यातें द्रव्यलिङ्ग निष्फल गया, मुक्तिकी प्राप्ति नहीं भई, संसार ही मैं भ्रम्या ।

यहाँ आशय ऐसा जो द्रव्यलिङ्ग है सो भावलिङ्गका साघन है परन्तु काललब्धि बिना द्रव्यलिङ्ग घारे भी भावलिङ्गकी प्राप्ति न होय यातें द्रव्यलिङ्ग निष्फल जाय है ऐसैं मोक्षमार्ग प्रघानकरि सावलिंग ही है । यहाँ कोई कहै है ऐसें है तो द्रव्यलिंग पहले काहे कूँ घारणा ? ताकूँ कहिये ऐसें मानें तो व्यवहारका लोप होय है तातें ऐसें मानना जो द्रव्यलिंग पहले धारघा, ऐसा न जानना जो थाही तैं सिद्धि है, भावलिंग कूँ प्रघान मानि तिसकैं सन्मुख उपयोग राखनां, द्रव्यलिंग कूँ यत्न त साघना, ऐसा श्रद्धान माला है।। ३४ ॥ प्रति प्रतिसमयं शरीराणि गृहीतोजिम्नतानि । प्रतिपृद्गलं प्रतिपरमाणु-परमाणुं परमाणुं प्रति प्रतिपरमाणु अनन्तानि शरीराणि गृहीतोजिम्नतानि । (बाउगं) प्रत्यायु आयुः आयुः प्रति प्रत्यायुः अनन्तानि शरीराणि गृहीतोजिम्नतानि । (परिणाम) परिणामं परिणामं प्रति प्रतिपरिणामं क्रोधमानमायालोभमोहराग-द्वेधादिपरिणामान् प्रति प्रतिपरिणामं अनन्तानि शरीराणि गृहीतोजिम्नतानि । (णाम) नाम नाम प्रति प्रतिनामं नपुं सकं चेति वचनादाऽदन्तो निपातः, यावन्ति नामानि गतिजात्यादीनि वर्तन्ते तावन्ति प्रति अनन्तानि शरीराणि गृहीतोजिम्नतानि । (काल्ट्रं) प्रतिकालस्यं उत्सपिण्यवर्सापणीकालस्यं यथा भवत्येवं तत्समयादम प्रति प्रतिकालस्यं बनन्तानि शरीराणि गृहीतोजिमतानि (गहिउज्झियाइ बहुसो) गृहीतोजिम्नतानि बहुधोऽनन्तवारान् । (अणंतभवसायरे जीव) अनन्तभवसागरेऽ-नन्तानन्तसंसारसमुद्रे हे जोव ! हे आत्मन्ति । जिनसम्यक्त्वं विनेति भावार्थः । जिनसम्यक्त्वमावेन त्वनन्तसंसार उच्छित्वते स्तोककालेन मुक्तो भवति ।

प्रत्येक नामकर्म और प्रत्येक कालमें स्थित हो अनन्त घरोर घारण किये तथा छोड़े हैं ॥ ३५ ॥

विश्लेषार्य-हे आत्मन् ! सम्यक्त्वरूप भावलिङ्गके विना तूने लोका-काशके जितने प्रदेश हैं, एक एक कर उन सब प्रदेशों पर स्थित होकर अनन्त शरीर धारण किये तथा छोडे हैं । प्रत्येक समयमें तुने अनन्त शरीर धारण किये तथा छोड़े हैं। पुद्गलके प्रत्येक परमाणु पर स्थित हो तुने अनन्त शरीर धारण किये तथा छोडे हैं। प्रस्येक आयुमें तुने अनन्त इरीर धारण कर छोड़े हैं अर्थात् जधन्य आयुसे लेकर उस्कृष्ट आयु तक आयके जितने विकल्प हैं उन सबमें उत्पन्न होकर तुने अनन्त शरीर धारण किये तथा छोड़े हैं। कोध, मान, माया, लोभ, मोह, राग, द्वेष आदि समस्त परिणामोंकी अपेक्षा तूने अनन्त शरीर धारण किये तथा छोडे हैं। गति जाति आदि नाम कर्मके जितने विकल्प हैं उन सबकी अपेक्षा तने अनन्त शरीर धारण किये तथा छोड़े हैं। और उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणी कालमें स्थित हो उसके प्रत्येक समयकी अपेक्षा तुने अनन्त शरीर धारण किये तथा छोडे हैं। इस तरह अनन्तानन्त संसार सागर के बीच हे जोव ! तुने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव इन पाँच परिवर्तनोंको अनन्तवार पूरा किया है। तेरे इस परिभ्रमणका कारण जिन-सम्यक्त्वका अभाव रहा है। जिनसम्यक्त्वरूप भावके द्वारा अनन्त संसारका छेद हो जाता है तथा अल्प कालमें जीव मुक्त हो जाता 8 113411

तेयाला तिण्णिसया रज्जूणं लोयखेत्तपरिमाणं । मुत्तूणट्टपएसा जत्थ ण ढुरुढुल्लिओ जीवो ।।३६।।

त्रिचत्वारिंशत्त्रीणि शतानि रज्जूनां लोकक्षेत्रपरिमाणं । मुक्त्वाऽष्टो प्रदेशान् यत्र न भ्रमितः जीवः ॥३६॥ (तेयाला तिण्णि सया रज्जूणं) त्रिचत्वारिंशदधिकत्रिशतरज्जूधनाकार-रज्जूनां ैच (लोयकवेत्तपरिमाणं) लोकक्षेत्रपरिमाणं भवति (मुत्तूणट्रपप्सा) मुक्त्वाऽष्टौ प्रदेशान् मेरुकदे गोस्तमाकार्रेण येऽष्टप्रदेशा वर्तन्ते तन्मध्ये जीवो नोतान्नो न मृतः अम्यत्र सर्वत्र जातो मृतश्चायं जीवः । तेऽष्टौ प्रदेशा निजात्मशरीरमध्ये

गाथार्थ---तीनसौ तेतालीस राजु लोक क्षेत्रका परिमाण है । इसके आठ मध्य प्रदेशोंको छोड़कर, ऐसा कोई प्रदेश नहीं जिसमें यह जीव नहीं धुमा हो ।।३६॥

- १, अन 'च' शब्दोऽधिकः प्रतिभाति ।
- २. जीवके सर्वं जवन्य शरीरकी अवगाहना घनांगुलके असंख्येय भाग प्रमाण होती है। यह अवगाहना लोकके बाठ मघ्यप्रदेशों से बहुत बड़ो होती है इमलिये उनमें समूचे जीवकी न उत्पत्ति हो सकती है और न मरण हो सकता है किन्तु क्षेत्र परिवर्तन को पूरा करते समय जीव उन बाठ मध्यप्रदेशोंको अपने शरीरके मध्य प्रदेश बनाकर अनन्त बार उत्पन्न हुआ तथा मरा है। बीकुन्बफ्रुन्दस्वामी ने इस गाथामें -मुत्तूणट्ठपएसा'-----आठ प्रदेशोंको छोड़-कर जम्यन सब जगह भ्रमण करनेकी बात लिखी है परन्तु उन्हीं कुम्बकुन्द-

गृहीतास्तम्मध्ये नोत्पन्न इति वृद्धा । (जत्य ण ढुरुकुल्लिओ जीवो) यत्रात्मा न पर्यटितः स कोऽपि प्रदेशो नास्ति । ''पर परी ढुस ढुम कुम् गुम् भुम झंप रुंट तल्यंट भमाड भमड भम्मड चक्कम्म ढंढल्ल ढुढुल्ल टिरिटिल्ल ढुरुढुल्लभ्रमेः" इति प्राकृतव्याकरणसूत्रेण अमघातोः ढुरुढुल्ल इत्यादेशः । धनपालकृतदेशीलक्ष्म्यां तु ''घालिय ढुंढुल्लियाइ भमियत्थे' सूत्रं ।

एक्केक्कंगुलिवाही छण्णवदी होंति जाणमणुयाणं । अवसेसे य सरीरे रोया भण कित्तिया भणिया ॥३७॥

तीनसौ तेतालीस घनराजु प्रमाण लोकक्षेत्रमें आठ प्रदेशोंको छोड़कर ऐसा एक भी प्रदेश नहीं है जहाँ इस जोवने भ्रमण न किया हो । 'ढुरुढुल्लिओ' यहाँ पर 'पर परी ढुस ढुम'—आदि प्राक्वत व्याकरण सूत्रके ढारा भ्रम धातुके स्थानमें 'ढुरु ढुल्ल' आदेश हो गया है परन्तु धनपाल कृत देशी लक्ष्मीमें घोलिय ढुढूल्लियाइ भमियत्थे' यह सूत्र है ।।३६॥

गाथार्थ---हे जीव ! मनुष्योंके एक एक अंगुक्रमें छियानवें रोग होते हैं फिर समस्त शरीरमें कितने रोग कहे गये हैं सो कह !। ३७ ॥।

स्वामी ने वारसणुपेक्खा की संसार भावना में निम्नलिखित गाया ढारा समस्त लोकक्षेत्रमें भ्रमण करनेका निरूपण किया है—

सन्वम्हि लोयखेत्ते कमसो तण्णत्यि जण्ण उप्पर्ण ।

उग्गाहणेण बहुसो परिभमिदो खेत्तसंसारे ॥३६॥

अर्थ—समस्त लोक क्षेत्रमें वह स्थान नहीं है जहाँ यह जीव क्रमसे उत्पन्न न हुआ हो । अपनी अवगाहन के द्वारा इस जीवने क्षेत्रमें अनेकवार भ्रमण किया है ।

यही गाथा श्रोपूज्यपाद स्वामीने सर्वार्थसिद्धिमें भी ज्यों की त्यों उद्धृतकी है तथा लिखा है कि यह जीव लोकके बाठ मघ्य प्रदेशोंको अपने शरीरके मघ्य प्रदेश करके उतनी बार उत्पन्न होता है जितने कि घनांगुल्के असंख्येयभाग प्रमाण अवगाहनाके प्रदेश होते हैं। संस्कृत टीकाकार श्री श्रुतसागर सूरिने दोनों कथनोंकी संगति बैठाने का प्रयत्न किया है।

 पंचेव य कोडीयो तह चेव अडसट्ठिलक्खाणि । णवणर्जीद च सहस्सा पचसया होति चुलसोदी ।। अर्थ-समस्त शरीर में पाँच करोड अठमठ ला

अर्थ-समस्त शरीर में पाँच करोड़ अठसठ लाख निन्धानवें हजार यांचसो चौरासी रोग हैं। -4. 36]

एकैकाङ्गुलौ व्याधयः षण्णवतिः भवन्ति जानाहि मनुष्यानास् । अवद्येषे च शरीरे रोगा भण कियन्तो भणिताः ॥३७॥

(एक्केक्कंगुलिवाही) एकंकांगुली व्याघयो रोगाः । (छण्णवदी होति जाण मणुयाणं) षण्णवतिर्भवन्ति हे जीव ! त्वं जानीहि मनुआनां मनुष्याणां शरीरे । (अवसेसे य सरीरे) अवशेषे च शरीरे एकाङ्गुले रुद्धरितादवशिष्टे शरीरे । (रोया भण-कित्तिया भणिया) रोगा व्याधयस्तवं भण कथय कियन्तो भणिता इति ।

ते रोया विय सयला सहिया ते परवसेण पुथ्वभवे । एवं सहसि महाजस किंवा बहुएहि लविएहि ॥३८॥

ते रोगा अपि च सकलाः सोढा त्वया परवशेन पूर्वंभवे । एवं सहसे महायशः ! किं वा बहुभिः लपित्तेः ॥

(ते रोया वि य सयला) ते रोगाः सकला अपि सर्वेऽपि । (सहिया ते परवसेण पुक्तभवे) सोढास्त्वया परवशेन कर्माधीनतया पूर्वभवे पूर्वजन्मान्तरसमूदे । (एवं सहसि महाजस) एवममुनाप्रकारेण त्वं सहसेऽनुभवसि हे महायखः !। (किं वा बहुएहिं लविपूर्षिहे) कि वा बहुभिर्ल्ठपितैर्जल्पतैः ।

विशेषार्थ--हे आत्मन् ! मनुष्योंका शरीर रोगोंका घर है उसके एक एक अगुल में छियानवे छियानवे रोग होते हैं, तब समस्त शरीरमें कितने रोग होंगे, इसका अनुमान तू स्वयं लगा ॥३७॥

गावार्थ--हे महायशस्वी मुनि ! तूने वे सब रोग पर-भवमें पर-वश होकर सहन किये हैं और इसो प्रकार इस समय भी सह रहा है, अघिक कहनेसे क्या लाभ है ॥ ३८ ॥

पिसंतमूत्तफेफसकालिज्जयरुहिरखरिस किमिजाले । उयरे बसिओसि चिरं नवदसमासेहिं पत्तेहिं ॥३९॥

पत्तात्रन्मूत्रफेफसयकुदुधिरखरिसकुमिजाले ।

उदरे वसितोसि चिरं नवदशमासैः पूणेंं: || ३९ || (पित्तं) च मायुः । अंत्राणि च परीतंति । (मूत्रं) च प्रस्नावः । (फेफसश्च) प्लोहा । (काल्ज्जिय) यक्वत् "उदयों जलावारो हृदयस्य दक्षिणे यक्वत् कालसण्डं क्लोम वामे प्लोहा ^पपुष्पसश्चेति'' वैद्याः । वरहल इति देश्यों । (रुहिर) रुविरं च । (सरिस) सरिसश्च, अपक्वविटमिश्ररुधिरुरुलेष्मा सरिसः कथ्यते । सर्जरिय इति देश्यात् । (किमि) क्रम्पश्च द्वीन्द्रिया जोवास्तेषां (जालं) समूहो यत्रोदरे तत् पित्तान्त्रमूत्रपुष्पसकाल्यिकछिर सरिसयक्रमिजालं तस्मिन् । (उपरे वसिकोसि चिरं) उदरे कुक्षिमध्ये उषितोर्जस निवासं क्रूत-वानसि त्वं चिरं दीर्घकालं, अनन्त्रनर्भंग्रहणापेक्षया चिरमिति विशेषणं । (नवद-समासेहिं पत्तेहि) नवभिदंशभिर्ची मासैः प्राप्तैः परिपूर्णेर्जातैः तन्मध्ये तदुपरि च कियान् कालो लम्पते प्राप्तशब्देनेति ।

गायार्थ---पित्त, आँत, मूत्र, प्लीहा, यकृत्, रुधिर, खरिस और क्रमि-के समूहसे युक्त माताके उदर में तूने पूरे नौ दस मास चिरकाल तक निवास किया है ॥ ३९ ॥

विशेषार्थ—पित्त, आँत और मूत्रका अर्थ प्रसिद्ध है। फेफस प्लोहाको कहते हैं। यकुल् लीवर को कहते हैं यह पेटमें जलका आधार है तथा हृदयके दाहिनी ओर होता है, इसे यकुल्, कालखण्ड अथवा क्लोम कहते हैं। हृदय के बाई ओर जो जलाधार है उसे प्लोहा अयवा पुष्पस कहते हैं, ऐसा वैद्योंका कहना है। देशी शब्दोंमें उसे 'परहल' कहते हैं (कहीं कहीं तिल्ली या वाउट भी कहते हैं) अपक्व मलसे मिला हुआ रुधिर और कफ का जो समूह है उसे खरिस कहते हैं। देशी शब्दोंमें इसे 'खउरिय' कहते हैं (कहीं कहीं जाव भी कहते हैं) अपक्व मलसे मिला हुआ रुधिर और कफ का जो समूह है उसे खरिस कहते हैं । देशी शब्दोंमें इसे 'खउरिय' कहते हैं (कहीं कहीं जाव भी कहते हैं) सूक्ष्म लटके आकार दो इन्द्रिय धोवोंको कृमि कहते हैं । इन सबसे भरे हुए माताके पेटमें इस जोवने चिरकाल तक निवास किया है अर्थात् अनन्तवार गर्भ घारण कर नौ नौ दश दश मास तक माताके गर्भमें निवास किया है इसलिये हे मुनि ! यदि गर्भवासके इन दुःखोंसे बचना चाहता है तो भावलिज्ज को घारण कर ॥ ३९ ॥

१. पुषस् कः । दृष्प० ज्ञ ० ।

दियसंगट्टियमसणं आहारियं मायभुत्तमण्णंते । छद्दिखरिसाण मज्झे जठरे वसिओसि जणणीए ॥४०॥

द्विजसङ्गस्थितमशनमाहृत्य मातृभुक्तमन्नान्ते । र्छीदखरिसयोर्मध्ये जठरे उषितोषि जनन्याः ॥ ४० ॥

हे जीव ! त्वं जनन्या मातुः । (जठरे) उदरे (वसिओसि) उपितोऽसि निवासं चकर्यं । कथंमूते जठरे, (छह्सिरिसाणमज्झे) छर्दिश्च वान्तमन्नं, खरि-सहच अपक्वं दर्दर मलं रुधिरलिप्तं तेषां छहिस्सरिसाणं तयोः छर्दिसरिसयो मेध्ये मध्यविशिष्टे । अथवा जठरे उषितोऽसि कुत्रोषितोऽसि छर्दिसरिसयोमेध्ये त्वमु-षितोऽसि । किं कृत्वापूर्वं, (असणं आहारियं) अशनं भोजनं आहृत्य आहार इत्या । कथंभूतमधानं, (दियसंगट्टियं) द्विजानां दन्तानां अस्थ्यङ्कुराणां संगे स्थितं, चर्वणवेलायां मातृमुखे दन्तानां समीपे स्थितं अस्थिभिः स्पृष्टं उण्छि-ष्टीकृतं । क्व अधितोऽसि, (मायभुत्तमण्णते) यन्मात्रा भुक्तं तस्यान्नस्यान्ते मध्ये उषितोऽसि । अथवा मात्रन्नं भूत्तं-मूक्तं तेत्वया । तथा चोक्तं—

गाषार्थ--हे जीव ! तूने माताके उदरमें उसके द्वारा खाये हुए अन्नके मध्य तथा वमन और अपक्व मलके बीच निवास किया है और माताके द्वारा खाये तथा उसके दांतोंके संगसे दले हुए भोजन को ग्रहण किया ॥ ४० ॥

विशेषार्थ --- हे जीव ! भाव~लि झुके बिना गर्भवासके दुःख उठाते हुए तूने माताके उदरमें निवास किया है वह भी वमन तथा आमाशय अथवा माताके द्वारा खाये हुए अन्नके मध्य निवास किया है और चबाते समय माताके दांतोंके संगर्भ स्थित अर्थात् दान्तोंसे छूकर जूठे हुए आहारको ग्रहण किया है । अथवा 'मायन्नं भुत्तं ते' ऐसा भी पाठ है उसका अर्थ होता है कि इस जीवने माताके द्वारा खाया हुआ तथा उसके दौतों से चर्वित जूठा अन्न ही खाया है । जैसा कि कहा गया है---

हे प्राणी ! तूने कमोंके अधीन हो चिरकाल तक माताके उदरमें स्थित मलके मध्य निवास किया है। वहाँ मूख प्याससे पीड़ित होकर बड़ी तृष्णासे तूने मुख विवरमें भीतर पड़ते हुए अन्नकी इच्छाकी है। गर्भाशयमें सिकुड़े रहनेके कारण तू निश्चेष्ट रहा है तथा कृमि-कुलके साय सूने निवास किया है। इस तरह जन्मके समय जो क्लेश उठाना पड़ता है उससे मयभीत होकर ही तू जन्मके कारणभूत मरणसे डरता है। ैअन्तर्वान्तं वदनविवरे क्षुत्तृषात्तंः प्रतीच्छन् कर्मायत्ताः सुषिरमुदरावस्करे वृद्धगृढपा। निष्पन्दात्मा क्वमिसहचरो जन्मनि क्लेवाभीतो मन्ये अन्मिन्नपि च मरणात्तन्निमित्ताद्विसेषि॥ १॥

सिसुफाले य अयाणे असुईमज्झम्मि लोलिओसि तुमं । असुई असिया बहुसो मुणिवर बालत्तपत्तेण ॥४१॥

> शिञुकाले च अज्ञाने अञ्जुचिमध्ये लुठितोसि त्वम् । अशुचि: अशिता बहुद्यः मुनिवर ! बालत्वप्राप्तेन ॥४१॥

(सिसुकाले य अयाणे) गर्भरूपकाले स्तनन्वयायसरेआने निविवेके । (असुईमज्जाम्मि लोलिओसि तुमं) अधुचिमध्ये गूथमध्ये लोलितो लुठितस्त्वं भवान् । (असुई असिया क्रुसो) अधुचिविष्टा अमेष्यमशिता मक्षिता बहुकोऽनेकवारान् । (मुणिवर बालत्तपत्तेण) हे मुनिवर ! यतिवराणां ज्ञानिनां मध्ये श्रेष्ठ ! परभ प्रशस्य बालर्ल्यप्राप्तेन अव्वक्तवालत्त्वं गतेन । तथा चोक्तं---

भाषार्थ—यह जीव मरणसे इसीस्तिये डरता है कि मरनेके बाद फिर जन्म घारण करना पड़ेगा और उसके भारी दु:ख सहन करने पड़ेंगे ॥४०॥

गाबार्थ—हे मुनिवर ! तू ज्ञान-रहित शिशुकालमें विष्ठा आदि अपवित्र वस्तुओं के मध्य लेटा है तथा उसी बाल्य-अवस्था की प्राप्तिके कारण तूने अनेक बार अशुचि वस्तुका भक्षण किया है ॥४१॥

१, धारमानुवासचे युणभद्रस्य ।

भाषप्राभृतम्

'बाल्ये वेस्सि न किंचिदय्यपरिपूर्णाङ्गो हितं वाहितं । कामान्धः खलु कामिनीद्रुमघने आम्यन् वने यौवने । मघ्ये बृद्धतृषाजितुं वसु पशुः विरुध्नासि इष्य्यादिभि--दर्घिंक्येऽर्घमृतः क्व जन्मफलिते धर्मो भवेन्निर्मलः ॥१॥

मंसद्विसुक्कसोणियपित्तंतसवत्तकुणिमढुग्गंघं । खरिसवसपूयखिब्भिसभरियं चितेहि देहउडं ॥४२॥

मांसास्थिशुक्रकोणितपित्तान्त्रस्रवत्कुणिमदुर्गन्धम् । खरिसवसापूर्याकल्बिषभरितं चिन्तय देहकुटम् ॥४२॥

हे जोव ! शुद्धबुद्ध कस्वभाव आत्मन् ! त्वं (देहरुडं) कायकुर्ट शरीरघटं । (चितेहि) चिन्तय विचारय पर्यालोचयस्व । कथंभूतं देहकुर्ट, मंसेत्यादि मांसं च पिशितं, अस्थीनि च हड्डानि, शुक्रं च सप्तमो घातुः बीजं वीर्यं चेति मावत्, शोगितं इधिरं-रक्तं स्रोहितमिति यावत्, पित्तं च उष्णविकारो मायुरिति, अंत्राणि च पुरीतंति, एतैः स्नवद्गलत् (कुणिमं) शटितमृतकं तद्वदृदुर्गन्धमसुरमि । पुनः कयंमृतं देहकूटं स्वं चिन्तय, खरिसश्च अपक्वमल्डाधरमिश्रितं द्रव्यं । वसा च

बास्ये—हे जीव ! बाल्य-अवस्थामें अङ्गोंकी पूर्णता न होनेसे तू हित और अहिसको कुछ भी नहीं जानता है। यौवन अवस्थामें कामसे अन्धा होकर स्त्रीरूप वृक्षोंसे सघन वनमें अमण करता है। मध्यअवस्थामें बढ़ीहुई तुष्णासे धन-उपार्जन करनेके लिये पशुकी तरह अज्ञानी हो खेती आदिके द्वारा क्लेश उठाता है और बुढ़ापेमें अर्धमृतकके समान होजाता है फिर तेरा जन्म सफल हो तो कहाँ हो ? और तेरा धर्म निर्मल हो तो कहाँ हो ॥४१॥

गाथार्थ-हे जीव ! तू ऐसा चिन्तन कर कि यह शरीर रूपी घड़ा मांस, हड्डी, वीर्य, ६षिर, पित्त और आंतोंसे निकलतो हुई सड़े मुरदे की भांति दुर्गन्धसे युक्त है तथा खरिस, चर्वी, पीप और विष्ठा आदि बस्तुओंसे भरा हुआ है ॥४२॥

विशेषार्थ---हे जीव ! हे शुद्ध बुद्ध एक स्वभावके धारक आत्मन् ! तेरा यह शरीर रूपी घट कैसा है ? योड़ा इसका चिन्तवन तो कर । यह मांस हद्दी वीर्य रुघिर, पित्त और आंतों से झरती हुई सड़े मुरदे जैसी

१. जात्मानुवासने जुनभारय ।

षट्प्रामृते

वपा भेद इति यावत् शुद्धमांसस्वेद इत्यर्थः । पूर्यं च विनष्टर्शवरं । पूइ इति पाठेऽभवित्रं । किल्विषं च कश्मलं एतैभंरितं पूरितं ।

भावविमुत्तो मुत्तो ण य मुत्तो वंधवाइमित्तेण । इय भाविऊण उज्झन् गंघं अब्भंतरं धीर ॥४३॥

भावविमुक्तो मुक्तः न च मुक्तः बान्धवादिमित्रेण । इति भावयित्वा उज्झय गन्धमभ्यतरं धीर ॥४ ॥

(भावविमुत्तो मुत्तो) बान्धवादीनां प्रेपलधणेन भावेभ विमुक्तो रहितो मुनिर्विमुक्तः कथ्यते । (ण य मुक्तो बन्धवाइमित्तेण) न च नैव मुक्तो यतिरु-च्यते, कीदृशः ? बान्धवादिकुटुम्बेन मुक्तस्त्यक्तो मुक्त उच्यते बान्धवादिमात्रेण मुक्तो मुनिर्नाच्यते-किं तींह उच्यते-गृहस्य एवोच्यते इति भावार्थः । (इय भावि-ऊण उज्झसु) इतीदृश्वमर्थं भावयित्वा सम्यग्विचार्यं उज्झसु--परित्यज परिहर । क (गंधं अब्भंतरं घीर) गन्धं परिमलं वासनां भावनां । कर्थभूतं गन्धं, अम्य-न्तरं मनसि स्थितं बान्धवादिस्नेहं । हे घीर ! हे योगीस्वर ! घ्येयं प्रति धियं बुद्धिमीरयति प्रेरयतीति चीर इति व्युत्पत्तेः ।

दुगंन्धसे युक्त है तया खरिस–अपक्वमल और रुधिरसे मिश्रित द्रव्य-औंव, चर्वी, पूर्य-बिगड़ा खून-पीप और कश्मल-विष्टा आदि पदार्थोंसे भरा हुआ है । ऐसे घृणित शरीरको प्राप्ति भावको पहिचान न होनेसे ही हई है ॥४२॥

गाथार्थ--जो मुनि भावसे मुक्त है वहो मुक्त कहलाता है, बान्धवादि इष्टजनों से मुक्त 'मुक्त' नहीं कहलाता, ऐसा विचार कर हे योगोश्वर ! तू आम्यन्तर गन्ध-स्नेह को छोड़ ॥४३॥

विशेषार्थ-ध्येयके प्रति जो धो-बुद्धिको प्रेरित करे वह धोर है, इस व्युत्पत्तिसे धोरका अर्थ योगोश्वर होता है। योगोश्वरका सम्बोधित करते हुए आचार्य कहते हैं कि अहो योगोश्वर ! जो मुनि बान्धव आदि कुटुम्बी जनोंके प्रेमरूप भावसे छूटा है यथार्थमें वही छूटा हुआ कहलाता है, मात्र बान्धव आदि कुटुम्बी जनोंसे छूटा मुनि, छूटा नहीं कहलाता है किन्तु गृहस्थ ही कहलाता है। इस अर्थका अच्छी तरह विचार कर, तू आभ्यन्तर गन्धको-मनमें स्थित बान्धवादिके सम्बन्ध अथवा स्नेहको छोड ॥ ४३ ॥ वेहादिचत्तसङ्को माणकसाएण कर्लुसिओ धीर ।

अ<mark>त्तावणेण जादो बाहुवल्गे कित्तियं कालं</mark> ॥४४॥ देहादित्यक्तसङ्गः मानकषायेन कलुषितो घीर।

आतापनेन जातो बाहुबलिः कियंत कालम् ॥४४॥

(देहादिचत्तसंगो) देहः शरीरं, आदिशब्दाढस्त्यश्वरथपदातिसमूहः पुत्रकल-त्रादिवर्गश्च लम्यते तस्मात्त्यक्तसंगो निष्परिग्रहः (माणकसाएण कलुसिओ धीर) संज्वलनमानेनेषत्कषायेण कलुषितो मलिनितः हे धीर! (अत्तावणेण जादो) आतापनेन योगेन उद्भकायोरसर्गेण (बाहुवली कित्तियं कालं) श्रीबाहुवलिस्वामी कियंतं कालं वर्षपर्यन्तं कालं कलुषित इति सम्बन्धः । तथा चोक्तं—

> ैचक विहाय निजदक्षिणबाहुसंस्थं यत्प्राव्रजन्मनु तदैव स तेम मुंचेत्। क्लेश किलाप स हि बाहुबली चिराय मानो मनागपि हति महतीं करोति॥१॥

गायार्थ —अहो यतिवर शरीरादिसे स्नेह छोड़ देनेपर भी बाहुबली स्वामी मान कषायसे कलुषित रहे, अतः आतापन योगके द्वारा उन्हें कितने समय तक कलुषित रहना पड़ा ॥४४॥

चक्र विहाय-अपनी दाहिनो भुजा पर स्थित चक्र रत्नको छोड़कर बाहुबलीने जो दीक्षा ली थी उससे वे उसो समय मुक्त हो सकते थे परन्तु चिरकाल तक बलेश पाते रहे। सो ठीक ही है क्योंकि थोड़ा भी मान बहुत भारी हानि करता है।।४४॥

१. आरमानुसासने गुणमद्रस्य ।

महुपिंगो णाम मुणी देहाहारादिधत्तवावारो । सवणत्तणं ण पत्तो णियाणमित्तेण भवियणुय ॥४५॥ मधुपिंगो नाम मुनिः देहाहारादित्यक्तव्यापारः । श्रमणत्वं न प्राप्तः निदानमात्रेण भव्यनूत ॥ ४९ ॥

(मुहुपिंगो णाम मुणी) मधुपिंगो नाम मुनिः । (देहाहारादिचत्तवावारो) शरीराहारादित्यक्तव्यापारः । (सवणत्तणं ण पत्तो) श्रमणत्वं दिगम्बरत्वं न प्राप्तः द्रव्यल्गि बमूवेत्यर्यः । (णियाणमित्तेण भवियणुय) निदानमात्रेण सगरं सकुटुम्बं क्षयं नेष्यामीति निदानमात्रेणेति हे भविकनुत ! भव्यजीवस्तुतमुने ! इयं कथा महापुराणादिषु दिश्रुता वर्तते । तथा हि । अथेह भरतक्षेत्रे चारण-युगलनगरे राजा सुयोधनः, राज्ञी अतिथिः, सुता सुलसा । तस्याः स्वयंवरे सर्वंत्र दूता गताः । सर्वे नृपा चारणयुगले पुरे मिलिताः । अयोघ्यापतिस्तत्र सगर आगन्तुमुद्यमं चकार । पश्चात्स्नाने सति तैलोपलेपिना सगरेण राज्ञा पल्ति केर्बा

गावार्थ---हे मव्य-नुत ! हे मव्य जीवोंके द्वारा स्तुत मुनिराज ! देखो, मधुपिङ्ग नामक मुनिने यद्यपि शरीर तथा आहार आदि समस्त व्यापारका परित्याग कर दिया था तथापि वे निदान मात्रके कारण श्रमणपनेको--भावसे मुनि अवस्था को प्राप्त नहीं हुए थे।

विशेषार्थ----मधुपिङ्ग नामक मुनिने दीक्षा धारण कर शरीर तथा आहार आदि व्यापारका परित्यास कर दिया था फिर भी वे इस निदानसे कि 'मैं सगरको सकुटुम्ब नष्ट कर दूँगा' भाव----भुनि अवस्थाको प्राप्त नहीं हुए अर्थात् द्रव्यलिङ्गी बने रहे। हे मुनि ! तू भव्य जीवोंके द्वारा स्तुत हो रहा है अर्थात् भव्य जीव तेरी स्तुति करते हैं सो इतने मात्र से तू अपने आपको कृत-कृत्य मत समझ, भाव शुद्धिकी ओर लक्ष्य दे यह कथा महापुराण आदिमें प्रसिद्ध है जो कि इस प्रकार है---

मधुपिङ्ग मुनिको कथा

अथानन्तर इसी भरत क्षेत्रके चारण युगल नगरमें एक राजा सुयो-धन रहता था। उसकी स्त्रीका नाम अतिथि था। उन दोनोंकी सुलसा नामकी पुत्री थो। सुलसाका स्वयंवर निश्चित हुआ, अत: सब ओर दूत मेजे गये। सब राजा चारण-युगल नगरमें एकत्रित हुए। अयाध्याके राजा सगरने भी वहाँ जानेका उद्यम किया। पीछे स्नान कर जब सगर राजा तैल लगा रहा था तब शिरमें सफेद वाल देखकर वह वहाँ

भाषप्रामृतम्

दृष्ट्वा तत्र गमने विरक्तेन बभूवे । तद्रावसरे मन्दोदरी धात्री राजानमुवाथ । देव ! नवं पलितमिदं तवापूर्वद्रव्यालामं वदति तत्रैव विद्य्वभूःमंत्री कथयति । हे राजन् ! सुरूसा परनृपान् मुक्त्वा त्वामेव वरयिष्यति तथाहं कुशलतया करिष्यामि । तत्श्रूत्वा हृष्ट्वा राजा तत्र चतुरङ्गसंन्येन चचाल । तत्र केषुचिद्दिवसेषु गतेषु मन्दोदरी सुरूसान्तिकं गत्वा हे पुत्री ! कुलरूपसौन्दर्यविक्रमनयविनयविभवबन्धु-सम्पदादयो ये गुणावरे विलोक्यन्ते ते सर्वेऽपि साकेतपतौ सगरे सन्तीत्युवाच । तत्श्रुत्वा सा तत्र रक्ता बभूव । अतिथिस्तज्जात्वा युक्तिवचनैस्तं दूषयित्वा हे पुत्रि ! सुरम्यदेशे पोदनापुरे बाहुबलिकुले सर्वराजसु ज्येष्ठो मम स्राता तृण-पिंगलः राज्ञी सर्वयशास्तत्युत्रो मधुपिंगलः सर्वेवरंगुणराढ्यो⊶ै नवे वयसि वर्तते स ल्या वरमाल्या मदाक्षेपेण माननीयः । साकेतपतिना सपत्नोदुःखदायिना किं

जानेमें विरक्त हुआ। उसी समय मन्दोदरी नामक धायने राजासे कहा—देव ! यह नवोन सफेद वाल आपको अपूर्व द्रव्यका लाभ बतला रहा है। वहीं विष्वभू नामका मन्त्री था, वह मो कहने लगा कि हे राजन् ! सुलसा सब राजाओं को छोड़कर तुम्हें ही वरेगी ऐसा मैं चतुराई से उद्यम करूँगा। यह सुनकर हर्षित हो राजा चतुरज्ज्ञ सेनाके साथ वल पड़ा। वहां कितने ही दिन ब्यतोत हो जानेपर एक दिन मन्दोदरी सुलसा के पाम जाकर बोली कि हे पुत्रि ! कुल, रूप, सौन्दर्य, पराक्रम, राजनीति, विनय, विमव, भाई बन्धु और सम्पत्ति आदि जो गुण वरमें देखे जाते हैं वे सभी गुण अयोध्याके स्वामी सगरमें विद्यमान हैं। यह सुनकर सुलसा उसमें अनुरक्त हो गई।

जब सुलसाकी माता अतिथिको इस बातका पता चल गया तब उसने युक्ति-पूर्ण वचनोंसे राजा सगरको दूषित कर अर्थात् उसमें अनेक दोष दिखाकर कहा कि हे पुत्रि ! सुरम्यदेशके पोदनापुर नगरमें बाहुबली-के कुलमें सब राजाओं में श्रेष्ठ तूणपिङ्गल नामका मेरा भाई है । उसकी स्त्रीका नाम सर्वयशा है । उन दोनोंका मधुपिङ्गल नामका पुत्र है जो वरके समस्त गुणोंसे सहित है तथा नई अवस्थामें विद्यमान है । तुझे मेरे कहनेसे वरमालाके द्वारा उसे ही सन्मानित करना चाहिये । सौतके दुःखको देनेवाले अयोध्याके राजा सगरसे तूक्या करेगी ? माताने यह सब कहा परन्तु सुलसाने उसके अनुरोध को स्वीकृत नहीं किया । तद-मन्तर अतिथिने किसी उपायसे सुलसाके पास मन्दोदरी धायका प्रवेश

१. युक्त इति स० पुस्तके ।

षटप्राभूते

करिष्यसि ? इत्यवदत् । सुलसा तु तदुपरोघं नामन्यत । अतिथिरुपायेन मंदोदरी-प्रवेशं तत्र निवारयामास । सा निजस्वामिनं नध्टं कार्यं जगाद् । राखाह हे विध्वभू-मंन्त्रिन् ! इदं मम कार्यं त्वया सर्वधा कार्यं । तत्श्रुत्वा तेन विध्वभुवा स्वयंवर-विघानं नाम सामुद्रिकं शास्त्रं नवीनं रचयित्वा तत्पुस्तकं मंत्रूषायां निक्षिप्य यथा कोऽपि न जानाति तथा वनमध्ये भू-तिरोहितं निदघे । तत्रोद्या नभूशोधनं कार-यन् हलाग्रे लग्नां मंजूषां समानीय मया लब्धेयं चिरन्तनशास्त्रसंयुक्ता मंजूषा । स्वयमजानग्निध राजपुत्राणामग्रे वाचितवान् । वरकदम्बके कन्या पिङ्गाक्षं मालया न संभावयेत् । संभावयेच्चेर्त्तार्ह सा कन्या क्रियते । पिङ्गाक्षेण सभामध्ये न प्रदेष्ट-व्यं । पापभयास्लजित्तव्यं च प्रधानान्म बिभेति च न लज्जते । तदा स पापी निर्घाटनीयः । सरसर्वं श्रुत्वा तद्गुणत्वाल्लज्जया निर्गत्त्य हरिषेणगुरुपादमूले दीक्षां जग्राह । तज्जात्वा सगरो विध्वभूत्वच मुदं प्रापतुः । अन्ये च कुटिला मुदं

रोक दिया। मन्दोदरी ने अपने स्वामी राजा सगरसे कह दिया कि कार्य नष्ट हो गया है। राजाने विश्वभूमन्त्री से कहा कि हे मन्त्रिन् ! तुम्हें मेरा यह कार्य सब तरहसे सिद्ध करना चाहिये। यह सुनकर विश्वभू-मन्त्री ने स्वयंवर-विधान नामक एक नवीन सामुद्रिक शास्त्र की रचना कर उसकी पुस्तक को एक पेटीमें रक्खा और जिस तरह कोई न जान सके इस तरह पेटीको वनके मध्य पृथिवी के अन्दर छिपा दिया।

तदनन्तर मन्त्रीने उसी स्थानपर बगोचाके लिये भूमिको साफ कराना शुरू किया। वह पेटी हल को नोंकमें आ लगी। मन्त्रीने उस पेटोको लाकर प्रकट किया कि मुझे प्राचीन शास्त्रसे युक्त यह पेटी मिली है। तथा स्वयं अनजान-जैसा बनकर राजपुत्रोंके आगे उसने वह पुस्तक बँचवाई। उसमें लिखा था कि वरोंके समूह में कन्या ऐसे वरको वर-मालासे सन्मानित न करे जिसके नेत्र पोले हों। यदि करेगी तो वह कन्या मर जावेगो। पीले नेत्र वालेको सभाके बीच प्रवेश नहीं करना चाहिये तथा पापके भयसे उसे लज्जित होना चाहिये। इतने पर भी यदि वह सभाके प्रधानसे भयभीत न हो तथा लज्जित न हो तो उस पापोको निकाल देना चाहिये। यह सुन कर अपनेमें वह गुण होनेसे अर्थात् पोले नित्र होनेसे मधुपिङ्गल लज्जाके कारण सभासे स्वयं बाहर निकल गया और वहाँ उसने हरिषेण गुरुके पादमूल में दीक्षा ग्रहण कर ली। यह जानकर सगर राजा तथा विश्वभूमन्त्री हर्षको प्राप्त हुए। इनके सिवाय अन्य कुटिल परिणामी मनुष्य भो हर्षको प्राप्त हुए। सन्मुरुष और उनके प्रापुः । सस्पुरुषास्तदान्खवाश्च विषादं प्रापुः । वञ्च्चनाक्वतं पापर्माधनो न पश्यन्ति । अयाष्टदिनानि महापूजां जिनेशिनामभिषेकं च क्वत्वा स्नातालंकृतां शुद्धतिथिवारा-दिसन्निष्ठौ कन्यां पुरोहितो रथमारोप्य नीत्वा सुभटपरिवृतान् भद्रासनारूढान् नृपान् स्वयंवरमण्डपे यथाक्रमं पृथक्कुलजात्यादिकं विनिर्दिश्य विरराम । सा तु समासक्ता सगरं वरमाल्या वरयामास । निर्मरक्षरं राजमण्डलं तु तुतोष । अनयो-रनुरूपः संगमो विधात्रा कृत इति । विवाहविधौ च जाते सगरः सुलसासहित-स्तत्र कानिचिहिनानि तत्र सुखेन स्थित्वा साकेतं गतः । भोगसुखमनुभवन् स्थितः । मधुर्पिगलस्तु साघुः कस्मिश्चित्पुरे भिक्षार्थं प्रविशन् केनचिज्जैनेन नैमित्तिकेन दृष्टः । राज्याईलक्षणोऽयं भिक्षाशी किलक्षणशास्त्रेणेति निनिन्द । तदाकर्ण्यापर एवं बभाषे । राजलक्ष्मीं भुंजान एथ सगरमंत्रिणा वृथा दूषितः कृत्रिमं सामुद्रिकं

इष्ट जन विषादको प्राप्त हुए । ठीक ही है स्वार्थी मनुष्य वञ्चनाके द्वारा किये हुए पापको नहीं देखते हैं ।

तदनन्तर लगातार आठ दिन तक जिनेन्द्र भगवान् की महापूजा और अभिषेक किया गया। तथा शुद्ध तिथि और शुद्ध वार आदिके उपस्थित होनेपर जिसे स्नान कराकर उत्तमोत्तम अलंकार पहिनाये गये थे और जो उत्तम योर्द्धाओंसे घिरी थी ऐसी उस कन्या को रथ पर बैठा कर पुरोहित स्वयंवर मण्डपमें ले आया और उत्तमोत्तम आसनों पर बैठे हुए राजाओंको लक्ष्य करके क्रम क्रमसे उनके अलग अलग कुल तथा जाति आदिका निर्देश करके च्रुप हो रहा। किन्तु कन्या तो सगर राजामें वासक्त थी इसीलिये उसने वरमालासे उसे वर लिया। वहाँ जो राजा ईर्ष्या-रहित थे वे 'विधाताने इनका योग्य सम्बन्ध जुटाया है' यह कहते हुए सन्तुष्ट हुए। विवाह विधिके हो जाने पर सगर मुलसाके साथ बहां कुछ दिन तक सुखसे रहकर अयोध्या चला गया और भोग सम्बन्धी सुबका अनुमव करता हुआ रहने लगा।

उधर मधुपिंगल मुनि भिक्षाके लिये किसी नगरमें प्रवेश कर रहे थे। प्रवेश करते समय किसी जैन निमित्त-झानीने उन्हें देखा। उन्हें देखकर वह यह कहकर सामुद्रिक शास्त्र को निन्दा करने लगा 'कि यह पुरुष तो राज्य-प्राप्तिके योग्य लक्षणोंसे सहित है परन्तु भिक्षा-भोजी हो रहा है लक्षण शास्त्र से क्या प्रयोजन है ? अर्थात् लक्षण शास्त्र मिथ्या है। निमित्त ज्ञानीको बात सुनकर दूसरा आदमी इस प्रकार कहने लगा कि यह तो राज्यलक्ष्मीका ही उपभोग करता था परन्तु सगर राजाके मन्त्रीने रचयित्वेति लज्जितस्तपो जप्राह, सुलसा सगरं च । तत्श्रुत्वा कोपानिदोपितो निदानं चक्रे, तपः फलेन सगरकुलं सर्वं जन्मान्तरे निर्मू लयिष्यामीति । ततोऽसौ मृत्वाऽसुरेन्द्रस्य प्रथममहिषानीके चतुः धष्ठिसहस्रासुरस्वामी बभूव । स महाकाला-सुरतामा निजदेवैवेष्टितो विभगेन पूर्वाभवसम्बन्धं झात्वा पापी चेतसा मंत्रिणि तत्प्रभो सगरे च प्ररूढवैरोऽपि तौ हन्तुमनिच्छन्तस्युग्रं पापं तयोरिच्छन् तदु पायं सहायांश्च संचिन्त्य स्थितः । मम महापापं भविष्यतीति नाचिन्तयत् घिग्मूढता । तदभिन्नायसाधनमिदमन्नान्यस्त्रकृतं । तथा हि अत्र भरते धवलदेशे स्वस्तिका-वतिपुरे हरिवंशजो राजा विश्वावसुः । देवी श्रीमती पुत्रो बसुः । तत्रैव क्षीर-कदम्बनामा सर्वशास्त्रज्ञो ब्राह्मणोऽघ्यापकोत्तमः पूज्यो विख्यातश्य । तत्पुत्रः पर्वतो देशान्तरागतो नारदो विश्वावसुपुत्रो बसुश्च एते त्रयोऽपि विद्यानां पारं प्रापुः ।

कृत्रिम सामुद्रिक शास्त्र रचकर इसे व्यथं हो दूषित ठहरा दिया इसलिये लजिजत होकर इसने तप ग्रहण कर लिया और सुलसा ने राजा सगरको। यह सुनकर मधुपिंगल मुनिने क्रोध-रूपो अग्निसे प्रदोप्त हो निदान किया कि मैं तपके फलसे अन्य जन्ममें सगरके समर्स्त कुलको निमूर्ल कर दूँगा, जड़से नष्ट कर दूँगा। तदनन्तर वह मरकर असुरेन्द्रकी प्रथम महिष सेनामें चौंसठ हजार असुरोंका स्वामी हुआ। वह महाकाल नामक असुर अपने देवोंसे परिवृत हो विभंगावधि ज्ञानसे पूर्व भवका सब सम्बन्ध जान गया। वह पापी यद्यपि हृदयसे मन्त्री और उसके स्वामी राजा सगर पर अत्यधिक वैर धारण कर रहा था तथापि उन्हें मारना नहीं चाहता था। वह उनसे किसी भयंकर पापको कराना चाहता था इसलिये उसके योग्य उपाय और सहायकोंका विचार करता हुआ चुप रह गया। इस विचारसे मुझे महापाप लगेगा ऐसा उसने विचार नहीं किया। सो ठीक ही है क्योंकि मूढ़ता को धिक्कार है। अब आगे जो कथा लिखी जाती है वह इसी अभिप्राय को साधने वाली है।

इस भरत क्षेत्रके धवल देश-सम्बन्धी स्वस्तिकावती नामक नगरमें हरिवंशमें उत्पन्न हुआ राजा विश्ववसु रहता था। उसको स्त्रोका नाम श्रीमती था और पुत्रका नाम वसु था। उसो नगरमें एक क्षीर-कदम्ब नामका ब्राह्मण रहता था जो सब शास्त्रोंका ज्ञाता था, अध्यापकों में श्रेष्ठ था, पूज्य था और अतिशय प्रसिद्ध था। क्षीर कदम्बकका पुत्र पर्वत, दूसरे देशसे आया हुआ नारद और राजा विख्ववसुका पुत्र वसु ये तीनों उसके पास पढ़कर विद्याओके पारको प्राप्त हो भुके थे। उम तीनों

भावप्राभृतम्

तेषु भवतोऽकीर्तिविपरीतार्थंग्राही वसुनारदी यथोपदिष्टार्थंग्राहिणी । ते त्रयोऽपि सोपाध्याया दर्भादिकं चेतुं वनं गताः । तत्र गिरिशिल्लोपरि ^२स्थितः ³श्रुतघर-गुरुः । मुनित्रयं तस्मादष्टाङ्गनिमित्तं पपाठ । तत्समाप्तौ स्तुति कृत्वा सुसं संस्थौ तस्य निपुणतापरीक्षार्थं गुरुः पत्रच्छ । भो मुनित्रय ! अधीयानस्य छात्रत्रयस्यास्य कि नाम, कस्य कि कुल्ं को भावः प्रान्ते कस्य का गतिर्म-विष्यतीत्युक्ते एकः प्राह—अस्मत्समीपगो वसुः, राज्ञः सुतः, तीव्ररागादि-

शिष्योंमें पर्वंत की कीर्ति ठीक नहीं थी, वह विपरीत अर्थको ग्रहण करता था परन्तु वसु और नारद जैसा उपदेश दिया गया था वैसा ही अर्थ ग्रहण करते थे। एक दिन वे तीनों शिष्य उपाध्याय के साथ कुशा आदि इकट्ठा करनेके लिये वनको गये थे । वहाँ पर्यंत की शिलाके ऊपर एक श्रुनघर गुरु विराजमान थे तथा तीन मुनि उनसे अष्टांग निमित्त शास्त्र पढ़ रहे थे। पाठकी समाप्ति होनेपर स्तुति करके तीनों मुनि सुससे बैठे थे। उनकी चतुराई की परीक्षा करनेके लिये गुरुने पूछा-हे मुतित्रय ! ये जो तीन छात्र पढ़ रहे हैं इनमें किसका क्या नाम है, क्या कुल है, क्या भाव है, और अन्तमें किसकी क्या गति होगी ? गुरुके ऐसा कह चुकने पर एक मुनि बोला कि हमारे पास जो बैठा है इसका नाम वसु है, यह राजाका पुत्र है, तोव्र राग आदिसे दूषित है और हिंसा धर्म है, ऐसा निश्चय कर नारकी होगा । दूसरा मुनि बोला-जो बीच में बैठा है वह पर्वत है, बाह्यणका लड़का है, दुर्बु दि तथा कूर परिणाम बाला है, महाकालके उपदेशसे अथवंण (अथवं वेद) नामक पाप शास्त्र-को पढ़कर सोटे मार्गका उपदेश करेगा, तथा 'हिंसा हो धर्म है' इस प्रकारके रौद्रध्यानमें तत्पर हो बहुत जनोंको नरक मेजकर स्वयं भी नरक जावेगा। तीसरा मुनि बोला--यह जो पीछे बैठा है इसका नाम नारद है, यह बाह्यण है, बुद्धिमान् है, धर्मध्यानमं तत्पर रहता है, आश्रित मनुष्योंको अहिंसा धर्मका उपदेश देता है, यह गिरितट नगरका स्वामी होगा और अन्तमें दीक्षा लेकर सर्वार्थ सिद्धि जावेगा। उन तीनों मुनियोके द्वारा कहे हुए उत्तर को सुनकर श्रुतधर गुरु 'आपलोगोंने निमित्त शास्त्रको अच्छी तरह पढ़ा है' यह कहते हुए संतुष्ट हुए ।

- रे. अकीतिविपरीतार्थग्राही छ ।
- ेरे. स्वितं मुनित्रयं क० ।
 - ३. अुतवरमुनिः इ ।

षट्प्राभृते

हूषितः, हिंसाघर्मं विनिश्चित्य नारको भावी । द्वितीयो मुनिः प्राह-मध्यस्थितो पर्वतः, द्विजपुत्रः, ³दुर्बुद्धिः करूरः, महाकालोपदेशादधर्वणं पापधास्त्रं पठित्या दुर्मागंदेशको हिंसँव घर्मं इति रौद्रध्यानपरायणो बहून् नरके प्रवेश्य स्वयमपि नरकं यास्यति । तृतीयो मुनिश्वाच-एष परुचारिस्थतो नारदः, द्विज, घीमान्, घर्म-ध्यानपरायणोऽहिंसालक्षणं धर्म श्रितानां व्याकुर्वाणो भावीगिरितटाख्यपुरम्य स्वामी भूत्वा दीक्षित्वा सर्वार्थसिद्धि यास्यति । तन्मुनित्रयोक्तं क्षुतघरः श्रुत्वा साघु पठितं निमित्तं भवदिभरिति तुश्टाव । क्षीरकदम्ब उपाघ्यायः समीपतरतरुहमाश्रय-स्तदाकर्ण्यं तदतदिधिचेष्टितमशुभं धिगिति मणित्वा किमत्र मया क्रियते इति विचिन्त्य तत्रस्थित एव मुनीनभिवन्द्यं वैमनस्येन शिष्यैः सह नगरं प्रविवेश । तदनन्तरमेकदर्षेण ³शाल्त्रे बालल्वे पूर्णे जाते विद्यावसूर्वसंवे राज्यं दत्वा दीक्षां

क्षोर-कदम्ब उपाध्याय निकटवर्ती एक वृक्षके नीचे बैठा-बैठा यह सब मुन रहा था सुनकर 'यह सब विधिको चेष्टा है, विधिको इस अशुभ वेष्टाको धिक्कार है' ऐसा कहकर वह विचार करने लगा कि इस विषय व मैं क्या कर सकता हूँ ? तदनन्तर वहाँ बैठे बैठे ही मुनियोंको नमस्कार कर वह बेमनसे शिष्योंके साथ नगरमें प्रविष्ट हुआ।

तदनन्तर एक वर्षमें जब बसुका शास्त्र विषयक बाल्य अवस्था पूर्ण हो गई अर्थात् उसका जब शास्त्राध्ययन समाप्त हो गया तब विश्ववसुने उसके लिये राज्य देकर दीक्षा ग्रहण कर ली । वसु निष्कण्टक राज्य करने लगा । एक दिन वह कीड़ा करनेके लिये वनमें गया । वहां कुछ पक्षी उड़ रहे थे । वे पक्षी अचानक रुककर नीचे गिर गये, उन्हें देख वसु विचार करने लगा कि पक्षी आकाशमें उड़ते-उड़ते गिर जाते हैं उसमें कुछ कारण अवश्य होगा, ऐसा विचार करके उसने उस स्थानपर अपना बाण छोड़ा 1 परन्तु वह वाण भो वहां रुक गया । तदनन्तर वसुने सारयिके साथ वहां स्वयं जाकर वहां का स्पर्श किया । यह आकाश स्फटिकका स्तम्भ है, यह जानकर वसु उसे ले आया तथा इसका किसीको हाल मालूम नहीं होने दिया । उसने उसके चार बड़े-बड़े पाये बनवाकर सिंहासनका निर्माण कराया । वह उस सिंहासन पर बैठा, राजा आदि उसकी सेवा करने लगे । राजा वसु सत्यके माहात्म्यसे अन्तरिक्ष सिंहासन पर बैठा है, इस प्रकार आक्चर्य करते हुए लोगोंने उसकी उन्नति की घोषणा शुरू कर दी ।

- १, भन्दबुद्धिः क० ।
- २. शस्त्रेण म० ।

भावप्राभृतम्

षप्राह । वसुनिष्कण्टकराज्यं कुवंन्नेकदा वनं क्रीडिलुंगतः तत्राकाधे उड्डीयमानाः [उड्डीयमानान्] पक्षिणः स्खलित्वा पतितान् दृष्ट्वा चिन्तयामास । आकाधे उड्डीयमाना यत्पक्षिणः पतन्ति तत्र किमपि कारणं भविष्यतीति तस्मिन् प्रदेधे वाणं मुमोभ । सोऽपि तत्र स्खलितः, तत्र स्वयं जगाम सारयिना सह तत्र पस्पर्श्व । आकाधरफटिकस्तंभं विज्ञार्य परैरविदितं तमानयामास । तस्य पादचतुष्ट्य पृथु निर्माप्य तस्सिहासनमारुह्य नृपादिभिः सेव्यमानः सत्यमाहात्म्यात् खे सिहासने स्थितो वसुरिति विस्मयमानेन लोकेन धोषितोन्नतिस्तस्यौ । एवमस्य काले गच्छति पर्वतनारदावेकदा समित्पुष्पार्थं वनं गतौ । तत्र नदीतटे मयूरा जलं पीत्वा गतास्तन्मार्गदर्शनान्नारदः प्राह-ये मयूराः पानीयं पीत्वा गतास्तेष्वेको मयूरः सप्त मयूर्यो वर्तन्ते । तत् श्रुत्वा पर्वतः प्राह-मूथा वार्तासौ । मनस्यसहमानः पणित-

इस प्रकार वसुका समय व्यतीत हो रहा था। एक दिन पर्वंत और नारद समिधा तथा फूलोंके लिये वन गये। वहाँ नदीके तटपर पानी पीकर कुछ मयूर जाचुके थे । उनका मार्गदेखकर नारदने कहा कि जो मयर गानी पोकर गये हैं उनमें एक मयूर है और सात मयूरो हैं। यह सुन कर पर्वत ने कहा कि यह बाल मिथ्या है। तथा मनमें सहन न करते हुए उसने एक शर्त बॉंधली । तदनन्तर कुछ दूर जाकर नारदके कथनको सत्य जान-कर वह विस्मय करने लगा । पश्चात् आगे जानेपर उन्होंने हाथियोंका मार्ग देखा ! उसे देख नारद ने कहा-यहाँसे जो हस्तिनी गई है वह बाँयें नेत्रसे अन्धी थीं, उसके ऊपर रेशमी वस्त्र पहिने हुए एक गॉभणी स्त्री बैठी थी तथा आज उसने पुत्र उत्पन्न किया है। इसके उत्तर में पर्वतने कहा कि जिस प्रकार कभी अचानक अन्धा सर्प अपने विलमें प्रवेश कर आता है उसी प्रकार अत्यानक तुम्हारा पहलेका वचन सत्य होगया परन्त यह तो मिथ्या है। मेरे द्वारा अविदित-अज्ञात क्या है ? ऐमा कौन पदार्थ है जिम में जान न सक्र । इस प्रकार मन्द हास्य करके उसने ईष्यकि साथ हृदयमें विस्मय प्राप्त किया और नारदके कथन को असत्य करनेके लिये हस्तिनीके पीछे चलता हुआ वह नगर में जा पहुँचा । वहाँ जाकर नारदने जैसा कहा था वैसा ही पर्वतने देखा।

घर आकर पर्वत ने माताके आगे कहा कि हे मातः ! मेरे फिताने जिस प्रकार नारदको पढ़ाया है उस प्रकार मुझे नहीं पढ़ाया। इनके

[:] थोपितोऽनेति म॰ ।

बन्धनं बबन्ध । तत्र किंचिदन्तरं गत्वा नारदोक्तं सद्भूतं झात्वा विस्मित्याग्रे गत्वा करेणुमागं ददर्शं । तं दृष्ट्वा नारद उवाच-एषा हस्तिनी गता, सा वामलोचने-नान्घा, तामारूढा गीभणी स्त्री, पट्टाम्बरसहिता, अद्य पुत्रमजोजनत् । अन्व-सर्पविलप्रवेशवत् पूर्वोक्तं तव वचनं यादृच्छिकं सत्यमभूत्, इदं तु मिध्या मयाऽ-विदितं किम्स्तीति स्मित्वा स सासूयं विस्मयं चित्ते प्राप्य तदसत्यं कर्तुं हस्तिनी-मनुगतः पुरं प्रविवेश । नारदोक्तं तर्यंव ददर्श । गृहमेत्य पवंतो मातुरग्रे जगाद । किं जगाद ? मातः ! मे पिक्षा यया नारदं शिक्षितवांस्तया मा नापीपठत्, अस्य चेतसि नारदो वर्तते नाहमिति । तेन वचनेन विप्राया हृदयं विदारितं । पापोदया-द्विपरीतं तथा विचारितं । शोकं च झाह्यणी चकार । क्षोरकदम्बस्तु स्नात्वा आग्नहोत्रादिकं कृत्वा भुक्त्वा च स्थितः । तं प्रति ब्राह्यण्युवाच-त्वमो पुत्रो न शिक्षितः, लोको व्युत्पादितः । कीरकदम्ब उवाच-प्रिये ! अहं निर्विशेषोपदेशः

हृदयमें नारद है, मैं नहीं। पुत्रके इस वचनसे बाह्यणोका हृदय विदीर्ण होगया । पापके उदयसे उसने विपरीत विचार किया । ब्राह्मणीने गोक किया । जब क्षीरकदम्ब स्नान, होम तथा भोजून कर बैठा तब ब्राह्मणी बोली कि तुमने संसारको तो व्युत्पन्न बनाया, पर पुत्र को शिक्षित नहीं किया। क्षीरकदम्ब बोला-प्रिये ! मैं एक समान उपदेश देता हूँ परन्तु प्रत्येक पुरुषमें बुद्धि भिन्न भिन्न होतो है इसलिये नारद कुझल होगया । प्रिये ! तुम्हारा पुत्र स्वभावसे ही मूर्ख है तथा नारदसे ईर्ष्या रखता है, क्या किया जाय ? इतना कहकर उसने स्त्रीको विश्वास उत्पन्न करानेके लिये पर्वतके सामने नारदसे पूछा । हे नारद ! तुमने वनमें घूमते हुए किस कारण पर्वतको बहुत आश्चर्य में डाल दिया था ? नारद बोला--स्वामिन् ! पर्वतके साथ जाता हुआ में हास्य कथा कर रहा था। उसी समय पानी यी चुकने वाले मयूरोंका एक झुण्ड नदीसे लौट रहा था। उनमें एक मयूर अपने चन्द्रक समूहको पानोके मध्य डूबजाने से भारी होनेके कारण भयभोत हो लोटकर उल्टे पैर रखता हुआ गया था। शेष मयूर थोड़े जलसे भोगने के कारण पंसोंको फड़फड़ा कर गये थे। वह देखकर मैंने अनुमानसे कहा था कि उन मयूरोंमें एक तो पुरुष था और बाकी स्त्रियाँ धीं। सदनन्तर वनके मध्यसे आकर कोई पुरुष नगरके समीप हस्तिनी पर बैठी स्त्राको नगरकी ओर लिये जा रहा था। ठहरने के स्थान पर हस्तिनीने पेशाब को थी। वह पेशाब उसके पिछले पीनोंसे सटती हुई गिरी थी इसलिये मैंने उसे हस्तिनी कह दिया था। वह हस्तिनी जिस मार्गसे आई थी उसके दांयें भागके वृक्ष तथा लताएँ भग्न हुई षीं इस-

भावप्राभृतम्

पुरुषं पुरुषं प्रति "मतयस्तु भिन्नाः सन्ति । तेन नारदो कुझले बभूव । प्रिये ! स्वत्पुत्रः स्वभावेन मन्दो नारदेऽसूयते कि क्रियते । इत्युक्त्वा स्त्रिया विश्वास-मुत्पादयितुं पर्वतसमीपे नारदं पप्रच्छ । हे नारद ! त्वं वने प्राम्यन् डेन कारणेन पर्वतस्य बहुविस्मयं कारितवान् । नारद उवाच-स्वामिन् ! पर्वतेन सह वनं भच्छन नमंकयापरः पीतवारां मयूराणां संघो नद्या निवर्तने स्वचन्द्रककलःशपाम्बुमघ्यमज्जन-गौरवात् भीत्वा व्यावृत्य विमुद्धं इत्तपश्चात्पदस्थितिः शिखी च गतवानेकः । शेषास्त्वोषज्जलादिता पत्रभागं विधू य अगुः । तं दृष्ट्वाह्यमुक्तवान्-पुमानेकः होषाः स्त्रिय इत्यनुमानात् । ततो वनान्तरात्कश्चिदागत्य पुरसमीपे करिष्याक्रढां स्त्रियं नयन् पुरं प्रति परिचमपादाभ्यां प्रयाणके स्वमूत्र घट्टनात् करिणीमकच्ययं । दक्षिणे भागे तश्वी रद्भगेन वामलोचनेऽन्धां जगाद । मार्गात्प्रच्युत्य श्रमादास्टव्योषितः शीतच्छायाभिलाषेण पुलिनस्थले सुप्ताया उदरस्यर्शमार्गेण गर्भिणीं गुल्मरूग्नद्वाया स्त्रियं च⁻²वेद । करेणुश्चितमार्गे गृहोद्यत्सितकेलुद्दर्शनेन पुत्रजन्माक्तवान् । तत्श्वुत्सा विश्रो निजापराधाभावं भार्याया अवयत् । तदा पर्वतमाता प्रसन्ना जाता । प्रिये !

िये मैंने उसे बांयें नेत्रसे अन्वी कहा था। उसपर बैठी हुई स्त्रीने बकावट के कारण मार्गसे कुछ दूर हटकर शीतल छाया की इच्छासे नदीके तटपर घयन किया था। उसके पेटका स्पर्श होनेसे वहां जो चिह्न बनगये थे उनसे उसे गॉभणी तथा झाड़ीमें लगे हुए वस्त्रके छोरसे स्त्री जाना था। हस्तिनी जिस मार्गसे गई थी वहां गृहके ऊपर सफेद पताका फहरा रही थी इस लिये पुत्र-जन्म हुआ है, ऐसा कहा था। नारद का उसर सुनकर बाह्यणने स्त्रीसे कहा कि इसमें मेरा अपराध नहीं है। जब पर्वत की माता प्रसन्न होगई तब ब्राह्यणने यह कहा कि प्रिये! मुस्तिने कहा था कि पर्वत नरक जावेगा। मुनिके कथन की प्रतीतिके लिये भार्या तथा स्वयं बाह्यणने एकान्त में जाकर चून के दो बकरे बनाये और पुत्र तथा छात्र-के मावकी परोक्षाके लिये बाह्यणने एक बकरा पुत्रके लिये वॉर दूसरा शिष्यके लिये दिया। साथ ही यह आदेश दिया कि तुम लोग जहां कोई देख न सके ऐसे स्थानमें जाकर गन्ध, पुष्ठप तथा मज्जल द्रव्योंसे इनकी पूत्रा करो और कान काटकर दोनों बकरोंको आज हो वापिस लाओ।

उन दोनोंमें पापी पर्वतने 'इस वन में कोई नहीं है' यह विचारकर बकरेके दोनों कान काट लिये और आकर पितासे कह दिया कि पूज्य !

१. प्रति-मतयस्तु मध्ये बदानि पाठः म० ।

٤.

् २. ब वेद क० ड०, जिवेद म० ।

मुनिना भाषितं यत्पर्वतो नरकं यास्यति । तत्प्रीत्ययं भार्या स्वयं च एकान्ते गत्वा पिष्टेन ढो वस्तौ निर्माय पुत्रच्छात्रभावपरीक्षणार्थं द्विजोत्तम एकं पुत्राय द्वितीयं छात्राय ददौ । परादृश्यप्रदेशे गत्वा गन्धपुष्यमंगर्लर्राचत्वा कणंच्छेदं क्रत्वा एता-वद्यैवानय तं युवा । तत्र पर्वतः पापी अस्मिन् वने न कोऽपि वतंते इति कणौं छेदयित्वा पितरमागत्य पूच्य ! यथा त्वयोक्तं मया तथैव क्रतमित्यवदत् । नारदस्तु वनं गत्वा विचारयति गुरुणोक्तमदृश्यप्रदेशेऽस्य कणौं छेदनीयाविति । चन्द्रः पश्यति । रविनिरीक्षते । नक्षत्राणि विलोकन्ते । ग्रहास्तारकाश्च पश्यन्ति । देवता निरीक्षन्ते । सन्निहिताः पक्षिणो मृगजातयश्च निषेद्धं न शक्यन्ते इति विचाय कर्णयोक्छेदमक्कत्वा गुरुसमीपमागतो नारदः । यतोऽयं भव्यात्मा वनेऽदृष्टदेशस्या-संभवात्, नामस्यापनाद्रव्यभावानां विचारचतुरः पापापक्ष्यातिकारणक्रियाणाम-कर्तव्यत्त्वादर्ह्यमिमं छागं विच्छिन्नावयवं नाकार्थमित्युवाच । तत्भुत्वा क्षोरकदम्बः

आपने जैसा कहा था वैसा मैंने कर दिया है । परन्तु नारद दनमें जाकर विचार करता है कि गुरु ने कहा था—अदृश्य स्थान में जाकर इसके कान <mark>काटना चा</mark>हिये। यहाँ चन्द्रमा देख रहा है, सूर्य देखता है, नक्षत्र देखते हैं, पक्षी और नाना प्रकारके मृगोंको नहीं रोका जा सकता, यह विचार कर नारद कानोंको बिना काटे ही गुरुके पास आगया क्योंकि वह भव्य जीव था। उसने कहा कि वनमें ऐसे स्थानका मिलना असम्भव था जिसे कोई नहीं देख रहा हो। मैं नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव निक्षेपके विचार करनेमें चतुर हूँ, पाप और अपकोर्तिको कारण जो क्रियाएँ हैं उन्हें नहीं करना चाहिये, इस विचारसे मैंने इस बकरेको छिन्नांग नहीं किया है अर्थात् इसके कान नहीं काटे हैं। नारदका उत्तर सुनकर क्षोर-कदम्ब अपने पुत्रकी मूर्शताको जान गया। वह विचारने लगाकि मिथ्यादृष्टि एकान्त से कहा करते हैं कि कार्यकी सिद्धि कारण से होती है, वह असत्य है। यहाँ कारण गुरु है और शिष्यकी बुद्धिका उत्कर्ष होना कार्य है परन्तु वह नियमसे नहीं होता क्योंकि मेरे पढ़ाने पर भी मेरा पुत्र मूर्श है । इसल्प्रिये एकान्त मतको धिक्कार है । आखिर वह कुमत ही है । कारण के अनुसार कार्य कहीं होता है और कहीं नहीं होता है 'ऐसा अनेकान्त मत ही सत्य है' इस तरह उसने अनेकान्त मतको अनेक बार स्तुति की । नारद की योग्यता को जानकर क्षीरकदम्ब ने कहा-हे नारद ! तुम्हीं सूक्ष्म-बुद्धि और यथार्थ झाता हो, आजसे में तुम्हें उपा-ध्याय पद पर स्थापित करता हूँ, तुम्हें सब शास्त्रोंको व्यास्था करनी

भावप्रामृतम्

स्वपुत्रस्य जडत्वभावं ज्ञात्वा विचारयामास । यन्मिथ्यावृष्टय एकान्तेन वुवन्ति कारणात्कार्यसिद्धिरिति तदसत्यं अत्र कारणं गुरुः कार्यं शिष्याबुद्धयुत्कर्षः तत्त्कुमतमेव । न भवति यतो मयि पाठ्यत्यपि मत्पुत्रो जड इति तेन घिगेकान्तं मर्त तत्कुमतमेव । कारणानुगर्तं कार्यं क्वचिद्भवत्येव क्वचिन्न भवत्येवेत्यनेकान्तमतं सत्यमित्यनेक-शस्तुष्टाव । नारदस्य योग्यत्वं ज्ञात्वा नारद ! त्वमेव सूक्ष्मबुद्धियंथार्थज्ञाता । अद्य प्रभूत्युपाघ्यायपदे त्वं मया स्थापितः । सर्वधास्त्राणि त्वया व्याकर्तव्यानि इति तं प्रपूज्य प्रावर्धयत् । घीमतां सर्वत्र गुणैरेव प्रीतिः । निजसन्मुर्खं स्थितं पुत्रं अगादन्त्वं विवेकमन्तरेणैव एतदिरूपकं चकर्थं, शास्त्रादपि तव कार्याकार्य-विवेको नास्ति, मच्चक्षु:परोक्षे त्वं अरे कथं जीविष्यसि मूर्खे । एवं धोकेन दत्तशिक्षो नारदे वद्धवैरो बभूव । कुधियामीदृशी गतिर्भवति ।

चाहिये। इस प्रकार उसका सत्कार कर उसे खूब बढ़ावा दिया। बुद्धि-मानों को सब जगह गुणोंसे ही प्रेम होता है। अपने सामने बैठे हुए पुत्र से उसने कहा कि तूने विवेक के बिना ही यह विरुद्ध कार्य किया है। शास्त्रसे भी तुझे कार्य तथा अकार्य का विवेक नहीं हुआ। अरे मूर्ख ! मेरे नेत्रोंके पीछे अर्थात् मेरे मरने के बाद तू कैसे जीवित रहेगां? इस प्रकार पिता ने तो उसे शिक्षा दी परन्तु शोक के कारण वह नारद पर बैर बाँध बैठा। सो ठीक हो है क्योंकि दुबुंद्धि मनुष्यों की ऐसी ही गति होती है।

एक दिन क्षीरकदम्ब गृह आदिका त्यांग करता हुआ वसुके पास जाकर बोला कि यद्यपि पर्वंत और उसकी माता दोनों ही मन्द-बुद्धि हैं तथापि भद्र ! मेरे पीछे उनकी सब तरह से रक्षा करना । वसुने कहा---हे पूज्यपाद ! आपके उपकार से मैं प्रसन्न हूँ । यह कार्य तो बिना कहे ही सिद्ध था, इस कार्यमें मुझसे यह क्या कहना था ? इसमें सन्देह नहीं करना चाहिये । आप यथायोग्य अपना परलोक सुधारिये । इस प्रकार की मनो-हर वार्ता रूपी अम्लान मालाके द्वारा राजा वसुने बाह्यण की पूजा की । क्षीरकदम्ब उपाध्याय ने समीचीन संयम को प्राप्त कर अन्तमें संन्यास-मरणके द्वारा उत्तम स्वर्ग लोक प्राप्त किया । इधर पर्वत पिताका स्थान प्राप्त करके सब दिशाओंसे आगत शिष्योंके लिये शास्त्रोंका व्यास्यान करने लगा । सूक्ष्म-बुद्धि नारद भी उसी नगरमें स्थान बनाकर विद्वानोंके साथ रहने लगा और व्याख्यासे यशको धारण करने लगा अर्थात् शास्त्रों-की क्याक्या से उसका यश सब बोर फैलने लगा । उपाध्यायस्त्रेभवा गृहाविकं त्यचन् वसुं गरवोवाच-पर्वतस्तन्माता च ढावपि मन्दवियो तवापि मत्परोक्वे त्या सर्वथा भद्र ! पालनीयाविति । वसुझ्वाच---हे पूज्यपाद भवदमुप्रहादहं प्रीतोऽस्मि ! एतदनुक्तमेद सिद्धं । अस्मिन् कार्ये ममेदं कि वक्तव्यं । अत्र सन्देहो न कत्तव्यः । यद्योचितं परलोकं कर्तुं महंति भवान् । इति मनोहरकवा म्लानमालया द्विजोत्तमं नृप जानचं । क्वोरकदम्ब अपा-ध्यायस्तु सम्यक्तयमं प्राप्य संन्यासं इत्योत्तमं स्वर्गकोकमवाप । पर्वतस्तु पितृ्स्यान-मध्यास्य ³विश्वदिक्षिच्याणां ³व्याकर्तुं रति चकार । तस्मिन्नेव नगरे नारदो विद्वज्जनान्दितः सूक्ष्मबुद्धिविहितस्थानो व्याक्याया यशो बभार । एवं तयोः काले गच्छति सत्येकदा विद्वसभाय "अर्ज्याक्त्युं रति चकार । तस्मिन्नेव नगरे नारदो विद्वज्जनान्दितः सूक्ष्मबुद्धिविहितस्थानो व्याक्याया यशो बभार । एवं तयोः काले गच्छति सत्येकदा विद्वसभाय "अर्ज्याक्त्युं रति चकार । तस्मित्नेव नगरे नारदो विद्वज्जनान्दितः सूक्ष्मबुद्धिविहितस्थानो व्याक्याया यशो बभार । एवं तयोः काले नच्छति सत्येकदा विद्वसभाय "अर्ज्याक्तरहितं यवबोजं त्रिवद्यस्वं अर्जमिति कष्मते तद्विकारेण वन्दिमुखे देवार्चनं विद्वांसो यज्ञं वदन्ति । पर्वत उपन्यसति स्म अजशबद्येन पद्युभेदस्तद्विकारेण हिरण्यरेतसि होत्रं ^४मन्नो विधीयते । इति तयोः

इस तरह पर्वत और नारद दोनोंका समय बोत रहा था। एक दिन विदानोंकी सभामें "अजैयंष्टव्यम्" इसका वर्थ निरूपण करनेमें विवाद उठ लड़ा हुआ। नारद कह रहा था कि अंकुर की शक्तिसे रहित तोन वर्षके पुराने जौ 'अज' कहलाते हैं। उनसे बने हुए साकल्यके द्वारा अग्नि-कुण्ड में देव पूजा करनेको विद्वान् लोग यज्ञ कहते हैं और पर्वत कहता था कि अज शब्दसे पशुका एक मेद अर्थात् बकरा लिया जाता है उसके द्वारा निमित सामग्रीसे अग्नि में होम करना यज्ञ कहलता है। इस प्रकार उन दोनों विद्वानोंके व्यास्थान को सुनकर साघु स्वभाववाले श्रेष्ठ ब्राह्मण बोले कि प्राणि-वर्षसे वर्म नहीं होता। नारदके ऊपर ईर्ष्यालु होनेके कारण यह दुष्ट पर्वत पृथिवी पर अधर्म चलानेके लिये ऐसो व्यास्था कर रहा है। यह पापी है तथा साथ साथ वार्तालाप का नहीं करना चाहिये। ऐसा कह कर लोगोने उसे चाँटों से पीटा और अपमानित कर लोकमें घोषित कर दिया कि यह मापी है। दुर्बु दिका यही ऐसा फल होता है।

- १. म्हानं मालाया द० ।
- २. विकारिक विकामां न॰ विस्य शिकामां ह० ।
- रे. जाक्ट्रॉंगेति नकार #+ ।
- ४. (বয়ৗয়য়ি পীয়৾)

-4.84]

सुषोप्रघ्योरुपन्यासं अक्ता ब्राह्मणमुख्याः साघवः प्राष्ठुः प्राणिवधाद्धर्मो न भवति । नारदे मत्सरिस्वात् पर्वतोऽवन्यामघर्मं प्रवतंथिक्षुं दुरात्मोपन्यास्यत् । पतितोऽयम-योग्यः सहसंभाषणादिषु, इत्युक्त्वा चपेटाभिस्ताडितः निर्भार्त्सतोऽयं पापारमा लोके घोषितः । दुर्खुं द्वेः फलमत्रैवेदृशं भवति । एवं सर्वेरपि बहिष्कृतो मानर्भगाद्वनं जगाम तत्र ब्राह्मणवेषेण कृतान्तारोहणासन्नसोपानपदवीमिव बल्लीरुद्वहता अन्छ-बक्षुषेव मुहुः स्खलता विरलेनां सितेन मूर्धजेन ततं राजतं शिरस्त्राणं समीपयम-जाद्भयादिव दघता जराङ्गनासमासन्नसुखेनेव मीलज्ज्वक्षुषा चलच्छिन्नकरेण करि-णेव कुपितसर्पेणेव ऊर्घ्वश्वासिना राजवल्लभेनेवाऽग्रतो भक्षुटं पश्यता भग्नपृष्ठेन बपटुजलिपतेन अमेन योग्यदण्ढेन राज्ञेव त्रिगुणीकृतमुपवीतंघारयता विख्वभूनृप-सुलसासु निजं बद्धकोर्घं वक्तुमिव स्वाभिमतारंभसिद्धिगवेषिणा पर्वते पर्यटन् पर्वतो महाकालासुरेण दृष्टः सन् तसभिगम्यानम्य चाभिवादनमम्यघात् । महाकालर्स्तं

इस प्रकार सबके द्वारा बहिष्कृत होकर मान भंगके कारण पर्वंत वनमें चला गया ।

वहाँ वनमें मधुपिङ्गल मुनिका जीव महाकाल नामका असुर धूम रहा था। वह ब्राह्मणके वेषमें था, यमराजके चढ़नेके लिये निकटवर्ती सीढ़ियोंके मार्गके समान अनेक बलियों-सिकुड़नोंको धारण कर रहा था, अन्धे मनुष्य की तरह वार वार गिर रहा था। उसके शिर पर विरल तथा सफेद बाल व्याप्त थे जिससे ऐसा जान पड़ता था मानो समीपवर्ती यमराज से होनेवाले भयके कारण चौदीका शिरस्त्राण ही धारण कर रहा हो। उसके नेत्र कुछ कुछ बन्द थे उनसे ऐसा जान पड़ता था कि मानों वृद्धाधस्था रूपी स्त्रीके आलिङ्गलसे उत्पन्न सुखसे ही उसके नेत्र बन्द हो गये थे। वह उस हाथीके समान जान पड़ता था जिसकी कटी सूँ हिल रही हो। कुद्ध सौंपके समान ऊपर को श्वास खींच रहा था, राजा के प्रिय मनुष्यके समान आगे स्पष्ट नहीं देखता था, उसकी पीठ झुकी हुई थी वार्तालाप अस्पष्ट था, हाथमें योग्य दण्ड लिये हुए था इसलिये योग्य दण्ड-सेनासे सहित राजाके समान जान पड़ता था। विश्वमू मन्त्रो, सगर राजा और सुलसा स्त्री पर अपने बद्ध क्रोधको प्रकट करनेके लिये ही मानों तीन लड़ का यज्ञोपवीत धारण कर रहा था और अपने इष्ट कार्यके आरम्भ-सम्बन्धी सफल्रता की खोज कर रहा था।

- र. जनतः स्मृटं 🕫 ।
- १. बस्रमेन योष्यब्खेन म॰ ।

समाक्वास्य सादरं तव स्वस्त्यस्त्विस्वयुवाच । तर्मविज्ञातपूर्वत्वात्प्राह लं कुतस्त्यो वने पर्यंटनं कस्मादिति । पर्वंतस्तु निजवृत्तान्तमादितः । प्राह । तत्श्रुत्वा महाकाल-ष्टिचन्तयामास । मम शत्रुं सगरं निवैश्वीकर्तुं समर्थ एष स्यात् । भोः पर्वत ! तव पिता स्थंडिलः अहं विष्णुरूपमन्युः । एतौ द्वावपि भौमोपाष्य्यायशिष्यौ शास्त्रा-म्यासमकारिषातां । त्वत्पित मम घर्मभ्राता तमहं दृष्टुमागतः ममा गमनंत्वन्तर्गडु जातं । पुत्र पर्वत ! मा त्वं भैषीः तव शत्र्वविष्वसेऽह सहायो भविष्यामि । इति क्षीरकदम्ब पुत्रेष्टार्थस्यानुगता अधर्वणगताः ^२षष्ठिसहस्त्रप्रमिताः पृथक् ऋचो वेदरहस्यानीति स्वयमुत्याद्य पर्वतमध्याप्य शान्तिपुष्ट्यभिचारात्मक्रियाः पूर्वोक्त-मत्रणैनिश्विताः पवनोपेताग्निज्वालासमा इष्टेः फल्टमृत्यादयिष्यन्ति, पशुहिंसनात्प्र-

पर्वत भी वहीं एक पर्वत पर घूम रहा था। महाकाल असुरने उसे देखा। पर्वत ने संमुख जाकर तथा नमस्कार करके अभिवादन का उच्चारण किया। महाकाल ने उसे आक्वासन देकर कहा कि तुम्हारा कल्याण हो और पहलेसे परिचित न होनेके कारण कहा कि तुम कहाँसे आये हो और वनमें किस लिये घुम रहे हो ? पर्वतने प्रारम्भसे अपना सब वृत्तान्त कहा । उसे सुनकर महाकाल ने विचार किया कि मेरे शत्र्सगरको निर्वंश करनेके लिये यह समर्थ हो सकता है। उसने कहा कि हे पर्वत ! तुम्हारे पिता स्थण्डिल (क्षीरकदम्ब) और मैं विष्णु रूप मन्यु, ये दोनों ही भौम नामक उपाध्यायके शिष्य थे तथा उनके पास शास्त्रका अभ्यास करते थे । तुम्हारे पिता मेरे धर्म माई थे. इसलिए मैं उन्हें देखनेके लिये आ रहा था परन्तू मेरा आना व्यर्थ हुआ । बेटा पर्वत ! तुम डरो मत, तुम्हारे शत्रुके नाशमें मैं सहायक होऊँगा । इस प्रकार क्षीरकदम्ब के पुत्र (पर्वत) के अभि-लपित अर्थसे सम्बन्ध रखनेवाली अधवंवेद सम्बन्धी साठ हजार पृथक् ऋचाएँ पूर्वोक्त मन्त्रोसे तीक्ष्ण-शक्तिशालिनी होती हैं और 'ये वेदके रहस्यको बतलाने वाली हैं,' ऐसा कह कर उस महाकाल असुरने स्वयं बनाई तथा पर्वत को पढाई और कहा कि शान्तिक, पौष्टिक तथा अभि-चारात्मक (बलिद)नात्मक) किंपाएँ यदि पशु-हिंसाके साथ प्रयोगमें लायी जाती हैं तो बायु से युक्त अग्नि की ज्वालाके समान यज्ञका फल उत्पन्न करती हैं । इसके बाद उक्षने पर्वंतसे यह भी कहा कि हम साकेत-अयोध्या

- १. क्षीरकदम्बस्य द्वितीय नाम (क×टी) ।
- २. धट्सहस्र ऋचो वर्तन्ते पूर्वं। एका मेकां ऋचं प्रति शतं शतं ऋचः प्रक्षेपित-बान् तेन वच्टिसहस्रप्रविद्या भएचो बाताः (क + टो)।

मावप्रामृतम्

युक्ताः सस्य इति । ततः साकेतपुरमघ्यास्य शांतिकादिफछप्रदं हिंसायोगं समारम्य प्रभावं वयं कुर्महे । इति पर्वतमुक्त्वा वैरिविनाशार्थं निजतीव्रदैत्यान् सगरराष्ट्रस्य बाधां ज्वरादिभिःयूथ कुरुघ्वमिति सम्प्रेध्ध पर्वतेन युतः साकेतं महाकालासुरो गतः । पर्वतो मंत्रर्गौभताशोवदिनालोक्यं सगरस्य स्वप्रभावं प्रकाशितवान् । हे राजन् ! त्वद्देशप्राप्तं विषममशितं अहं 'सुमित्रण यज्ञेन लघु ^२ शेषयिष्यामि ।

> "यज्ञार्थ पछावः सृष्टाः स्वयमेव स्वयंभुवा । यज्ञो हि वृद्धर्षं सर्वेषां तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः ॥''

इति कारणात् स्वर्गमहासुखसाघनं पुण्यमेव भविष्यतीति पापी प्रत्याय्य तं जगाद। हे राजन् थागसिद्धार्थं पशूनां षष्ठिसहस्राणि तद्योग्यमन्यद्द्रव्यं च संगृहाण । सगरोऽपि सर्वं मेलयित्वा तस्मै समर्पितवान् । पर्वतो यागं प्रारम्य पशूनभिमंत्रयामास महाकालासुरस्तान् वषट्कुतान् शरीरेण सह स्वर्गं गतोऽयं स्वर्गं गतोऽम्मिति विमानारूढानाकाधे नीयमानान् दर्शयामास । देशस्याधिवोपसर्गं तदैव

नगरी में रह कर वहाँ शान्तिक आदि फलको देनेवाला हिंसायज्ञ प्रारंभ करेंगे और उसका प्रभाव दिखलावेंगे । इस प्रकार पर्वतसे कह कर वैरियों का विनाश करनेके लिये उसने अपने तीव्र आज्ञा-कारी दैत्योंको 'तुम लोग सगर के देशमें ज्वर आदि से वाघा करो' ऐसी आज्ञा देकर सगरके देशमें मेजा और स्वयं भी पर्वतके साथ अयोध्या जा पहुँँचा । पर्वतने पंत्र-गर्भित आशीर्वाद देकर राजा सगरका दर्शन किया तथा उसके सामने अपना प्रभाव प्रकाशित करते हुए कहा कि हे राजन् ! तुम्हारे देशपर जो बहुत भारी अनिष्ट आया है, मैं उसे सुमित्र नामक यज्ञसे शोध्र ही समाप्त कर दूँगा ।

इस कारण यज्ञसे स्वगंके महान सुखको देनेवाला पुण्य ही होगा इस प्रकार विक्वास दिलाकर पापी पर्वंत ने राजा सगरसे कहा–हे राजन ! यज्ञकी सिद्धिके लिये साठ हजार पशु और उसके योग्य अन्य द्रव्यका संग्रह करो। सगर ने भो सब सामग्री इकठ्ठी कर उसके लिये सौंप दी। पर्वंत ने यज्ञ प्रारम्भ कर पशुओंको मन्त्रित किया। महाकाल असुर होमे

१, यस्मिन् यज्ञे चतुःपष्ठिसहस्राणां पशूनां वधः क्रियते स सुमित्रो यज्ञः कष्यते ।

२. सोवविष्यामि म० ।

निराचकार । तद् दृष्ट्वा सुरखाः प्राणिनस्तद्वंचनया मोहिताः सत्तः स्वर्गगतवे स्पृहवन्तो यागमूर्ति भूसमावकांक्षुः । सुभित्रयज्ञावसाने जास्यस्वमेकं विधिपूर्वकं हुतवान्, राजाजया सुरुसां च खलो वषट्चकार । प्रियकान्तावियोगदुः सदावानरु-ज्वालाभिः प्लुष्टकायो राजा नगरं प्रविष्टः, शय्योपरि शरीरं निचिन्नेप । प्राणि-हिंसमं महददं वृत्तं किमयं धर्मः किमधर्मः इति संशयानः स्थितः अन्यस्मिन्नहनि यतिवरनामानं मुनिमभिवन्द्य विज्ञप्तवान । भट्टारक ! मयारब्धं कर्म पुण्यं पाप वा सम्यक्त्रथय । यतिवरः प्राह धर्मशास्त्रबाह्यमिदं कर्म कर्तारं सप्तमं नर्र्फ प्रापयेत् । स्वामिन्नस्ति तत्राभिज्ञानं । युनिराह-राजन् सप्तमे दिने तव मस्त-

गये उन पशुओं को 'यह शरीरके साथ स्वर्ग गया, स्वर्ग गया' इस प्रकार कहता हुआ विमानमें बैठे आकाशमें छे जाते हुए छोगोंको दिखाता था। देशके ऊपर जो अनिष्टकारी उपसर्ग आया था उसे भी उसने उसी समय दूर कर दिया। यह देख भोले प्राणी उसकी मायासे मोहित हो स्वर्ग आने की इच्छा करते हुए यज्ञ में मरने की तीव्र आकांका करने रूगे। सुमित्र नामक यज्ञके अन्तमें उसने एक उत्तम जातिक घोड़ेको विधिपूर्वक होम दिया । यही नहीं, उस दुष्टने राजाकी आज्ञासे उसकी रानी सुलसा का भी होम दिया। प्रिय स्त्रीके वियोग-जन्य दूःस रूपी दावानल की ज्वालाओं से जिसका कारीर जल गया था, ऐसा राजा सगर नगर में प्रविष्ट हुआ और शय्याके उत्पर लेट रहा। उसके मनमें संशय उठा कि यह बहुत भारी प्राणि-हिंसा हुई है यह धर्म है या अधर्म ? दूसरे दिन उसने यतिवर नामक मुनिको वन्दना करके निवेदन किया कि स्वामिन् ! मेरे द्वारा प्रारम्भ किया कार्य प्रण्यरूप है या पाप रूप ? ठोक ठोक कहिये । मुनिराज बोले-यह कार्य धर्म-शास्त्रसे बाह्य है तथा करने वालेको सातवें नरक पहुँचा सकता है । सगरने कहा-स्वामिन् ! इसका कुछ परि-चायक है ? मुनिराज ने कहा--राजन् ! सातवें दिन तुम्हारे मस्तक पर क्छ गिरेगा, इस परिचायक चिह्नसे तुम सातवें नरक जाओगे । यह सुन कर राजाने भयभोत हो पर्वत से कहा। पवंठने कहा-राजन् ! यह नग्न साधु क्या जानता है ? फिर भो यदि तुम्हें शङ्का है तो इसकी भी शान्ति करते हैं, इस प्रकारके वचनोंसे उसके मनको स्थिर करके शिथिल कर दिया। पूनः उसने सुमित्र नामका ही यज्ञ प्रारम्भ किया।

तदनन्तर सात्तमें दिन पापी असुर की मामा से आकाश में खड़ी सुरूसा कर रही की कि मैं देव परको प्राप्त हुई हूँ। पहले जो पशु मारे

भावप्राभृतम्

केऽवानिः पतिष्यति इत्यभिज्ञानेन त्वं "सप्तमं नरकं यास्यसि । तथाकव्यं रात्रा भोत्वा पर्वताय निवेदयामास । पर्वतः प्राह-राजम्नसौ नग्नः क्षपणकः कि वेति तथापि यदि तव संका वर्तते तदत्र सान्तिविधीयते इति वचनैस्तस्य मनः सम्घार्य विथिलोचकार । पुनः सुमित्रमेव यज्ञं प्रारव्धवान् । ततः सप्तमे दिने पापासुरस्य मायया सुरुसा आकाशे स्थिता देवत्वं प्राप्ता पूर्वं पश्वग्रेसरो यागमृत्युफलेनैषा मया देवगतिलंज्धा ? तं प्रमोदं तव निरूपयितुमहं विमानेनागता तव यज्ञेन देवाः पितरश्च प्रोणिता इत्यभाषत । तद्वचनात्प्रस्यक्षं यागमृत्युफलं दृष्टं, जैनमुनेर्वाक्यम-सत्यं आतं । तदनु राजा तत्तीत्रेण दित्तमात्प्रस्यक्षं यागमृत्युफलं दृष्टं, जैनमुनेर्वाक्यम-स्त्यं आतं । तदनु राजा तत्तीत्रेण दित्तमातुरागेण सद्धर्मद्वेषेण संजातदुर्ध्यारणामेन मूलोत्तरविकल्पितात् तत्प्रायोग्यसमुत्कृष्टदुष्टसंक्लेशसाधनात् नरकायुराद्यघटकर्म-स्त्वोचितस्थितेः अनुभागवन्धनिकाचित्तवन्धने सति भीषणाशनिरूपेण ³कालासुरेण तन्मस्तके पतिते सति यागकर्मासक्तनिसिल्प्राणिभिः सह सगरः सप्तमे नरके पपात । स कालासुरस्तत्वणेन महाक्रोधस्तं दण्डयियुं तृतीयनरकपर्यन्तं पृष्ठतो जगाम । तमदृष्ट्वा साकेतमागतः विक्वभू प्रभूतिवरित्वगंमारणार्थ ४निःशूकः सुरुसासंयुक्तं सगरं विमानमारूढं क्योम्नि वर्धायामास । पर्वतप्रसादेन यक्तप्र्वनाहं

ग़ये थे मैं उन सब में अग्रे सरो हूँ -----प्रधान हूँ। यज्ञ में मृत्यु होनेके फल स्वरूप ही मुझने यह देव गति पाई है। उस आनन्द को तुम्हें बतलानेके लिये मैं विमान से आई हूँ। तुम्हारे यज्ञसे सब देव तथा पूर्व पुरुष प्रसम्न हुए हैं। सुलसाके कहने से यज्ञमें मरनेका फल प्रत्यक्ष दिख गया, इसलिये जैन मुनि का कहना असत्य होगया। तदनन्तर राजा सगरको तीव हिंसाके अनुराग, समीचोन धर्मके साथ होनेवाले द्वेष तथा मूल-प्रकृति और उत्तर-प्रकृति के विकल्पसे युक्त उस पर्यायमें होने योग्य सर्वाधिक दुष्ट संक्लेशके कारणों से उत्पन्न होनेवाले खोटे परिणामों से नरकायु आदि बाठ कर्मोंका अपने योग्य स्थिति बन्ध तथा अनुभाग बन्धका निकाचित बन्ध होगया। उसी समय भयकर वज्जरूप कालासुर (यमराज) मस्तक पर गिरा जिससे यज्ञ कार्य में लगे समस्त प्राणियों के साथ राजा सगर सातर्वे नरक में जा पड़ा। महाक्रोधसे भरा कालासुर उसे दण्ड देनेके लिये उसी समय तीसरे नरक तक पीछे पीछे गया परन्तु उसे वहाँ न देखकर अयोध्या को लौट आया। वहाँ आकरके उस दुष्टने विक्ष्वभू मन्त्री आदि

- १. उप्समे म॰ ।
- ২, যাৰা বীবলৈ দ০।
- ই. কাজাব্রুবৈ হ০।

¥. जिस्तः (क॰ टि•)।

स्वगं गतः सुखं प्राप्तवानिति प्रश्वशंस । सगरपरोत्रे विषवभूसचिवी राजा जातः । महामेधे उद्यमं चकार । महाकालासुरेण विमानगता देवाः पितरस्चाकारो सर्वेवां व्यक्तं दशिताः । ते ऊचुः-भो विश्वभूस्स्वया महामेधः कृतः पुण्यवता स्वत्प्रसादेन वयं सर्वेऽपि वषट्कृताः स्वर्गसुर्खं प्राप्ता इति स्तुति चकुः नारदस्तापसारच तत् श्रुत्वानेन दुरात्मना एष दुर्मागोंऽधिकृतो लोकस्य प्रकाशितः, धिक् पर्वतं, निवारणी-योऽयमुपायेन केनचित् पापपण्डितोऽयमिति साकेतमागताः । यथाविधि विश्वभुवं विलोक्य ऊचुः-ये पापिनो नरा भवन्ति तेऽपि अर्थायं कामार्थं च प्राणिनां वर्धं न कुयुं: ! केऽपि ववापि धर्मार्थं प्राण्तां घातकाः कि सन्ति । अहो पर्वत ! वेदविद्-भिन्नंह्यनिरूपिते वेदे औहिंसक एव वेद उक्तः । अहिंसा तु मातेव सस्तीव कल्प-वल्लीव जगते हितोक्ता इति पूर्वंधिवाक्यस्य प्रामाण्यं स्वयेच्छता कर्मनिबन्धनं कर्मतद्वधप्रायं त्याज्यमेवेति तापसंरक्तां । ते तापसाः सर्वप्राणिहितीषणः । विश्व-भूरुवाच भोस्तापसाः ! साक्षात्स्वर्गसाधनं दृष्टं कर्मं कथं त्याज्यं मयेति । नारदो विश्वभुवं प्रत्याह-सचिवोत्तम ! त्वं विद्वान् किसिदं कर्म स्वर्गसाधनं भवति ? सर्परिवारं सगरं निमूं लयितुं कांक्षता केनचित्कुहकेनायमुपायः कृतो मुग्धानां मोहकारणं । ततः ^२शोलोपवासादिकं कर्मं स्वर्यसाघनमार्षांग्रीक्त त्याप्र्याचर्त्ता ।

शत्रुओंके समूहको मारनेके लिये सुलसा से सहित राजा सगर को विमान में बैठा हुआ आकाशमें दिखलाया। विमानमें बैठा सगर प्रशंसा कर रहा था कि मैंने पर्वतके प्रसादसे जो यज्ञ किया या उसीके पुण्य से स्वर्ग पहुँच कर सुखको प्राप्त हुआ हूँ।

सगरके पीछे विश्वभू मन्त्री राजा हुआ। उसने भी महायज्ञ का उद्यम किया। महाकाल नामक असुरने विमानों द्वारा आये हुए देव तथा पितर (पूर्व पुरुष) आकाशमें सबको दिखाये। वे कहने लगे कि हे विश्वभू ! तुझ पुण्य-शालीने महामेध (महायज्ञ) किया है उसमें तुम्हारे प्रसाद से होमे गये हम सभी स्वर्ग-सुखको प्राप्त हुए हैं। इस तरह उन देवों तथा पितरोंने विश्वभू मन्त्री की स्तुति की।

इधर नारद तथा अन्य तापसोने जब यह सुना तब वे यह विचार करके अयोध्या आये कि इस दुष्टने यह खोटा मार्ग अपना कर लोगोंको बतलाया है, इस पर्वतको धिक्कार है, इसे किसी उपाय से रोकना चाहिये, यह पाप-पण्डित है अर्थात् पापके चलाने में निपुण है। वे सब

१. विद्ये क० ।

२. शीतोप म०।

विक्वभूः पर्वतं प्राह--पर्वतं ! नारदः किलैवं वक्ति तत्त्वया श्रुतं ? पर्वतोऽसुरोक्तेन सास्त्रेण मोहितो दुर्मतिः प्राह-हंहो सचिवोत्तम ! इदं शास्त्रं नारदः कि न शुश्राव ? मम गुरुरस्य च मम पितैवासीत् । न चान्यः कोऽपि एष नारदः । तदापि मयि समत्सरः इदानीं कि वोच्यते मैद्गुरोघर्मभ्राता स्थविरनामा जगति विख्यातः । सोऽपि श्रौतं रहस्यं यागमृत्युफलमेव प्रतिपादितवान् । मयापि साक्षात्प्रकटीक्वतं । यदि तव प्रत्ययो नास्ति तर्हि विघ्ववेदसमुद्रपारगं वसुं पृच्छेः । यः सत्येन गगने स्थितो वर्तते । तत्श्रुत्वा नारद उवाच-को दोषः स एव पृच्छचता । इदं तावद्-विचाराहः चेद्वघोऽत्र धर्मंसाधनं तहि अहिंसादानशीलादि पापप्रसाधनं भवेत् । एवं चेदस्ति तर्हि ³दाशादीनां परमा गतिरस्तु सत्यधर्मतपोव्रह्यचारिणां अधोगतिरस्तु । यज्ञे पशुवधाद्धर्मो वर्तते नान्यत्रेति चेन्न वधस्य दुःखप्रत्ययत्वे उभयत्र सादृ्ध्यात् फलेनापि सदृश्चेन भाव्यं । अथं त्वं एवं वक्षि, पशूनां सुष्टिः स्वयंभुवा यज्ञार्थं कृता

विख्वभूको देखकर बोले-जो पापी मंतुष्य होते हैं वे भी धन तथा कामके लिये प्राणियोंका वध नहीं करते। क्या कहीं भी कोई भी धर्मके अर्थ प्राणियों का घात करने वाले हैं ? वेदके जानने वाले विद्वानों ने ब्रह्मति-रूपित वेदमें अहिंसक वेदको ही वेद कहा है। 'अहिंसा माताके या सखीके अथवा कल्पलताके समान जगत्के हित करने के लिये कही गई है' पूर्व ऋषियों के इस वाक्य को यदि तुम प्रमाण मानते हो तो कर्मका बन्ध करने वाला तथा अधिकतर हिंसासे परिपूर्ण यह कार्य छोड़ ही देना चाहिये, ऐसा तापसों ने कहा । वे तापस सब प्राणियों का हित चाहने वाले थे। विश्वभू ने कहा कि तापसो ! जो काम साक्षात् स्वगंका साधन देख लिया गया है उसे मैं कैसे छोड़ सकता हूँ ? नारद ने विश्वभू से कहा-हे मन्त्रि-श्रेष्ठ ! तुम तो विद्वान् हो, क्या यह कार्य स्वर्गका साधन है ? परिवार सहित सगरको निमूल नष्ट करनेकी इच्छा रखने वाले किसी कपटीने भोले लोगोंको ऑन्ति में डालने वाला यह उपाय रचा है। इसलिये शील तथा 'उपवास आदि कार्यं स्वर्गके साधन हैं, ऐसा आर्ध-आगममें कहा गया है, तुम भी उसे मान्य करो । विष्वभू पर्वतसे बोला-पर्वत ! नारद जो ऐसा कह रहा है उसे तुमने सुना ? कालासुरके द्वारा कहे हुए शास्त्रसे मोहित दुर्बुद्धि पर्वंत बोला-अहो मन्त्रि-अष्ठ ! यह

- .२. दासादीनां म० क० । 'कैवर्ते दाशघीवरी' इत्यमरः ।
- ३. त्वमेव वजि क० ।

१. मम गुरो म० ।

षट्प्राभृते

तन्म, अन्यथा विनियोगस्यागच्छमानत्वात् । अयमागमोऽतिमुग्धाभिलाषः विदुषां गहितः । यद्यदर्थं सृष्टं ततोऽन्यत्र विनियोगेऽर्थकृत कर्यं स्यात् । इलेष्मदिशमनौषधं ततोऽन्यत्र कयमुपयोगि स्यात् । क्रयविक्रयादौ हलानोभार वाहनादौ महादोषः स्यात् ^२हे दुबँलं ! त्वां वादिनं दृष्ट्वा सन्मुखमप्यागत्य³ बूमः । यथा शस्त्रादिभिः प्राणि-घाती पापेन बध्यते तथा मंत्रादिनापि घातकृत्पापेन बध्यते एवाविद्येषत्वात् । हंहो पर्वत ! पश्वादिलक्षणा सृष्टिर्व्यंज्यतेऽयवा क्रियते ? चेत्क्रियते तर्हि सर्वष्ठम-ष्यविद्यमानं कथं न क्रियते । अथ विद्यमानंव सृष्टिर्यज्ञार्थं व्यज्यते तर्हि सर्ववजन 'करणप्रतिपादकमनर्थंकं स्यात् 'प्रदीपज्वलनमेव घटादे: पूर्वमन्धकारप्ररूपकं

शास्त्र क्या नारदने नहीं सुना है ? मेरे तथा इसके गुरु मेरे पिता ही थे। यह नारद कोई दूसरा नहीं है। उस समय भी यह मुझपर समत्सर था अर्थात् मुझसे ईर्ष्या रखता था फिर अब तो कहना ही क्या है ? भेरे मुख्का धर्म भाई स्थविर नामका विद्वान् था जो कि जगत् प्रसिद्ध था उसने भी यज्ञमें मृत्यु प्राप्त करना ही श्रुतिका रहस्य बतलाया था तथा मैंने भी साक्षात् प्रकट किया है अर्थात् लोगोंको स्पष्ट दिखलाया है कि यज्ञ में मरे हुए प्राणी स्वर्ग गये हैं। यदि तुम्हें विश्वास नहीं है तो समस्त बेद रूपी समुद्र के पार-गामी राजा वसुसे पूछ लो जो सत्यके कारण

- १. वाहनादौ भ० ।
- २. दुर्बलं त्थां म० ।
- ३. सन्मुबमागस्य म०।
- **४. पूर्व दखनं** म∘।
- ५, इतः पूर्व 'अधाभिव्यज्यते सस्य वाष्म्यं प्राक्प्रतिबन्धकम्' इति भावनिरूपकेण गद्यांघेन भवितव्यं, किन्दुपलज्य-प्रतिषु न दृध्यते सः ।

यतः । अनावृतस्यैव व्यक्तिः क्रियते इति घेत्तींह सृष्टिवादो ैभवद्भिः पूर्वं क्रियतां ? इति नारदेन क्रुतमुपन्यासमाकण्यं ³सर्वेऽपि सभास्यास्तं तुष्टुवुः । अथ सम्या ऊवुः-द्वयीविवादो वसुना चेच्छेद्यते र्तीह स एव अभिगम्यतां । इति श्रुत्वा ताम्यां नारदपर्वताभ्यां [समं] सर्वापि संसत् स्वस्तिकावतीमुच्चचाल । तत्र पर्वताः सर्वं वृत्तान्तं स्वमात्रे निवेदयामास । सा तेन युता वसुं ददर्श । पुत्र वसो ! पर्वतोऽपरिणीतः । ³तपोयुजा गुरुणापि तवायर्मीपतः । नारदेन सह तव प्रत्यक्षे वादो भविष्यति, तत्र यद्यस्य भंगो भविष्यति तदास्य यमगृहप्रवेशो भविष्यतीति निष्टिचनु । अस्य शरणमन्यो न वर्तते । वसुरुवाच । मातः ! गुरुशुश्रूषकोऽइं वर्ते ।

आकाशमें स्थित रहता है । यह सुनकर नारद ने कहा—क्या हानि है ? उसीसे पूछ लिया जाय । विचारने योग्य बात तो यह है कि—

यदि हिंसा धर्मका साधन है तो अहिंसा, दान, शोल आदिको पापका साधन होना चाहिये। यदि ऐसा है तो धीवर आदिकी उत्कृष्ट गति हो और सत्य धर्म, तप तथा ब्रह्मचारियों की अधोगति हो । यदि तुम्हारा यह कहना है कि यज्ञमें पशु वधसे धर्म होता है अन्यत्र नहीं, तो यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि वध यज्ञमें हो चाहे यज्ञके बाहर हो-दोनों स्थानों पर दुःखका कारण है, अतः सदृशताके कारण फल भी समान होना चाहियेँ। यदि तुम यह कहो कि पशुओंकी सृष्टि विधाता ने यज्ञके लिये की है, तो यह कहना ठोक नहीं है क्योंकि फिर अन्य प्रकारसे पशुओंका उपयोग संगत नहीं होता अर्थात् यज्ञ वधके सिवाय **से**ती भादिके कार्योंमें उनका उपयोग नहीं होना चाहिये, यह आगम अर्थात् 'यज्ञार्थं व्हाव: सृष्टाः--' इत्यादि शास्त्र अत्यन्त मूर्ख जनोंकी इच्छा मात्र हे तथा विद्वानों के लिये निन्दनीय हैं । जो जिसके लिये रचा जाता है उससे अन्य कार्य में उसका उपयोग होनेपर वह सार्थक कैसे हो सकता है ? कफ आदिको शान्त करने वाली औषधि दूसरे रोगमें उपयोगी कैसे हो सकती है ? खरी-दना बेचना आदिमें तथा हल, गाड़ी और बोझा ढोना आदिमें महानू दोष होना चाहिये। है दूबँल ! तूझे वादी देख सन्मख आकर हम कहते हैं---

- २. सभास्तारास्तं म+ सभावस्तारा ह० ।
- तपोसता स० ।

 ⁽भवद्भिः क्रियताम्' इत्यत्र 'भवद्भिरूरोक्रियताम्' इति पाठः सुष्ठु प्रतिभाति ऊरो क्रियतामुस्वीक्रिमताम् स्रयर्थः ।

''गुस्वद्गुस्पुत्र' गुरुकलन्द्र च पश्येत्'' इत्यहं नीतिकाऽस्य वयं करिष्यामि । त्वं मैषीर्मा । अथान्येद्युरते तथाविधं सिंहासनमारूढं वसुं ददृशुः । तत्र विख्यभूत्रभृतयः संपप्रच्छुः । हे राजन ! त्वत्तः पूर्वंभपि अहिंसाधर्मरक्षणे तत्परा अत्र चत्वारो राजानो हिमगिरिमहागिरिसमगिरिवसुमिरिनामानो हरिवंशजाः पुरा च संजाताः । तत्रैव वंशे विखावसुमहाराजः संजातः । ततश्च भवान् संबभूव । तत्राहिसाधर्म-रक्षित्वे किमुच्यते । त्वमेव सत्यवादीति प्रधोषस्त्रिभुवने वर्तते । वस्तुसंदेहे त्वं विष्वत् वन्हिवत् तुल्जवत् वर्तसे । प्रत्ययोत्पादी त्वमेव, तेनास्माकं प्रभो ! संशयं छिद्धि । नारदः खल्वहिंसालक्षणं धर्मं पक्षं कक्षीचकार । पर्वतस्तु तद्विपरीतमा-चिक्षेत्र । तत्कषयतु भवानुपाध्यायस्योपदेशमित्यर्म्याधितः । गुस्पत्न्या पुरा प्रायित उपाध्यायोपदेशं जानम्नपि राजा महाकालोत्पादितमहामोहो दुःषमकालनिकटर्वति-त्वात् विषयसंरक्षणानन्दनामरोद्रध्यानतत्परः पर्वतीक्तं तत्थं वर्तते । प्रत्यक्षे वस्तु-

जिस प्रकार शस्त्र आदिके द्वारा प्राणीका घात करने वाला पापसे बद्ध होता है उसी प्रकार मन्त्र आदिके द्वारा घात करने वाला पुरुष भी पापसे बद्ध होता है क्योंकि दोनोंमें कोई विशेषता नहीं है। हे पर्वत ! यह भी तो कहो कि पर्यु आदि की सृष्टि विधाताके द्वारा प्रकट की जाती है या नवोन रची जाती है? यदि नवीन रची जाती है तो आकाशके फूल आदि अविद्यमान वस्तु भी क्यों नहीं रची जाती है ? यदि यह कहते हो कि पहले से विद्यमान सृष्टि ही यज्ञके लिये प्रकट की जाती है तो 'सृष्टि की जाती है' इस अर्थकों प्रतिपादन करने वाले सभी वचन निरयंक हो जावेंगे । यदि यह मान लिया जाय कि विद्यमान सुष्टि ही विधाता के द्वारा प्रकट की जाती है तो फिर उसका प्रतिबन्धक क्या है ? क्योंकि दीपकका जलना ही यह बतलाता है कि पहले घटादि पदार्थ अन्धकारसे आच्छादित थे । अर्थात् जिस प्रकार पहले अन्धकारसे आच्छादित घटादि को दीपक प्रकट करता है, उसी प्रकार यहाँ बतलाना चाहिये कि सृष्टि पहले किससे आच्छादित थी ? इस दोषसे बचने के लिये यदि यह कहते हो कि सुष्टि किसासे आवृत नहीं थी, अनावृत सुष्टि ही प्रकट की जातो है तो फिर आपको सृष्टिवाद ही स्वीक्रुत करना चाहिये। इस प्रकार नारदके द्वारा किये हुए प्रस्तावको सुनकर सभामें बैठे हुए सब लोग उसकी स्तुति करने लगे ।

तदमन्तर समासदोंने कहा कि यदि दोनोंका विवाद वसुके द्वारा समाप्त होता है तो उसोके संमुख चला जाय। यह सुनकर सभी सभा उन नारद बोर पर्वत के साथ स्वस्तिकावती को चल पड़ो। वहाँ जाकर

भावप्राभतम्

न्यनुपपन्नता का । पर्वसोक्तयागेन सस्त्रीकः सगरः स्वर्गमवाप । ज्वस्नतं प्रदीपं कोऽन्यो दीपो यस्तं प्रकाशयेत् । तेन पर्वतोक्तं यज्ञं स्वर्गसाधनं भयं त्यक्त्वा यूय कुरुष्वं । इति हिंसानृतानन्दबद्धनारकायुर्मिच्यापापादपवादाच्चाभीरुजंगाद । तबा ब्रह्माण्डं स्फुटितमिवाकाशे ध्वनिः संजातः, आकाशः स्वल्वित्याक्रोशं चकारेव । किमाक्रोशयदाकाशः अहो नारद ! अहो तापसाः ! पृथिवीपतेर्मुलावीदृशमपूर्वं घोरं वचनं संजातमिति । नद्यः प्रतिकूल्जलस्त्रवाः संजाताः । सर्रासि सद्यः शुष्काणि । रुषिरवर्षणमनारतं बभूव । सूर्यांशवो मन्दाः संजाताः । सर्वा दिशो मलीमसाः सम्पद्यन्ते स्म । भयविह्वलाः प्राणिनः कम्पं दघुः । तदा भूमि-द्विधा भक्ति गता । तस्मिन् महारन्ध्रे वसोः सिंहासनं ममज्ज । आकाघो स्थिता देवविद्याघरेषा इत्युचुः-अहो वसुनरेन्द्र महाबुद्धे ! धर्मविष्ठ्वसनं मार्गं मा त्वमोद्धां वाद्यीरित्यघोषयन् । सिंहासने निमग्ने सति पर्वतो वसुरुच

पर्वंतने सब वृत्तान्त अपनी मातासे कहा । माता पुत्रके साथ वसुसे मिली और उससे बोली बेटा वसु ! पर्वंत अविवाहित है, तप घारण करते हुए गुरुने भी इसे तुम्हारे लिये सौंपा था । नारदके साथ तुम्हारे सामने इसका बाद होगा, उसमें यदि इसकी पराजय होगी तो इसका यमके घरमें प्रवेश होगा । ऐसा निश्चय करो 1 तुम्हारे सिवाय इसका और शरण नहीं है । बसुने कहा—'माता ! मैं गुरुका सेवक हूँ । गुरुके पुत्र और गुरुकी स्त्रीको समान ही देखना चाहिये । मैं इस नीतिको जानता हूँ अतः इसकी जीत करूँगा, तुम डरो मत ।'

तदनन्तर दूसरे दिन सब लोगोने उस तरहके अर्थात् अन्तरोक्ष दिखने वाले सिंहासन पर आरूढ़ राजा वसुके दर्शन किये। वहां विश्वभू आदिने पूछा कि हे राजन् ! आप से पूर्व भा यहां अहिंसा धर्मकी रक्षा करनेमें तत्पर रहने वाले हिमगिरि, महागिरि, समगिरि और वसुगिरि नामके चार राजा पहले हो चुके हैं। ये सब हरिवंश में उत्पन्न हुए ये उसी हरिवंश में विश्वावसु महाराज भी हुए ये और उनसे आप उत्पन्न हुए हैं। उस वंशमें अहिंसा धर्मकी रक्षा सदासे होती आई है इस विषयमें क्या कहना है। 'आपही सत्यवादो हैं' इस प्रकार की जोरदार घोषणा तोनों लोकोंमें हो रही है। वस्तुमें संदेह उपस्थित होनेपर आप विषके समान, अग्निके समान अयवा तुलाके समान विद्यमान हैं। हे प्रभो ! चूँकि विक्वासको उत्पन्न करने वाले आप ही हैं, अतः हम लोगोंका संशय दूर

[🐌] क्लार भू ।

परिस्छानमुखी बभूवतुः । तो तादृशो निरोक्ष्य महाकालस्य किंक रास्तापसाकारं गृहीत्वा समूचुः ---- हे पर्वत हे वसो ! युवां भीति मा काष्टीमित्युक्त्वा स्वयमुत्या-पितं सिंहासनं दशयामासुः । तत्र स्थितो वसुरुवाच । अहं तत्ववित् कथं बिभेमि पर्वतस्य सत्यवचनं जानन्निति बुवाणः कण्ठपर्यन्तं निमग्नवान् । तद् दृष्ट्वा साधवो जगदुः । अनेन मिथ्यावादेन भूपतेरियमवस्था संजाता । हे राजन् ! अद्यापि मिथ्यामार्गं त्यजेति साधुभिः प्रार्थितोऽपि तथापि मूर्खो यज्ञमेव सन्मार्गं कथितवान् । भूम्या कुपितथा सर्वाङ्गोऽपि निगीर्णः सप्तमं नरकं जगाम ! तदा कालासुरो लोकप्रत्ययमिमित्तं गगने स्थितं सगरवसुरूपद्वयं दिव्यं दर्शयामास । आवा

करो। नारद ने अहिंसा लक्षण धर्मका पक्ष स्वीकार किया है और पर्वत उसके विपरोत आक्षेप कर रहा है। अतः आप गुरुका उपदेश कहिंगे अर्थात् यह बताइये कि गुरु-क्षोरकदम्ब का क्या उपदेश था। इसप्रकार बिरुवभू मन्त्री आदिने राजा वसुसे प्रार्थना की।

गुरुपत्नी अर्थात् पर्वत की माता जिससे पहले प्रार्थना कर चुको थी, महाकाल असूरने जिस महामोह-तोव्रमिथ्यात्व उत्पन्न कराया था तथा जो विषय संरक्षणानन्द नामक रौद्र ध्यान में तत्पर था ऐसा राजा वसु गरुके द्वारा प्रदत्त उपदेशको जानता हुआ भो दुःधमकाल-पंचम कालके निकटवर्ती होनेसे लगा कि जो तत्व पर्वतने कहा है, वही ठीक है । प्रत्यक्ष वस्तुमें अनुपपत्ति क्या है ? पर्वत के द्वारा कहे हुए यज्ञके द्वारा सगर पत्नों सहित स्वर्गको प्राप्त हो चुका है । जलते हुएँ दोपकको दूसरा कौन दीपक है जो प्रकाशित कर सके ? इसलिये आप लोग पर्वंतके द्वारा कहे हुए यज्ञको स्वर्गका साधन समझ, भय छोड़कर करो । इस प्रकार हिंसा-नन्द और मुषानन्द रोद्रध्यान के द्वारा जिसे नरकायु का बन्ध पड़ गया था तथा जो मिथ्या पाव और अपवादसे नहीं डर रहा था ऐसे वसुने कहा। उस समय आकाशमें ऐसा शब्द हुआ मानों ब्रह्माण्ड फट गया हो । ऐसा जान पड़ने लगा मानो आकाश ही चिल्ला चिल्ला कर कह रहा हो---अहो नारद ! अहो तापसो ! राजाके मुखसे ऐसा अपूर्व भयंकर वचन उत्पन्न हुआ है। नदियोंके जलका प्रवाह उल्टा बहने लगा, तालाब शोध सूख गये, रक्तकी वर्षा निरन्तर होने लगो, सूयंकी किरणें फीकी पड़ गईं, सब दिशाएँ मलिन हो गईँ, प्राणी भयसे विह्वल होकर कांपने लगे। उसी समय पृथिवो फट गई और उस महाछिद्रमें वसुका सिंहासन धेंस गया। आकाश्रमे स्थित देव और विद्याधरोंके अधिपति यह कहने रूगे-अहो महा-बुद्धिमान् ! राजा वसु ! तुम इस तरह धर्मका विष्वंस करने थाले मार्गका

भावप्राभूतम्

गगश्रद्धया दिवमवापाव । यूपं नारदस्य वचनं मा मानयतेति प्रोच्य अन्तदंधौ कालासुरः । अथ कोकाश्चर्ययुक्तेन जनेन वसुः स्वगं गतो, न हि न हि नरकं गत इति विसंवदमानेन सह विश्वभूः प्रयागं गत्वा राजसूयविधि विदधे । महा-पुराधिपप्रमुखा लोकस्य मूढत्वं निन्दन्तः परमब्रह्मार्निदिष्टमार्गे मनाक् स्थितास्त-स्युः । नारदेन धर्ममर्यांदा रक्षितेति तं प्रशस्य गिरितटनाम्नीं पुरं तस्य ददुः । तापसास्तु दयाधर्मनाधास्य कारणं कल्फिकालं कल्यन्ती यथास्थिति विधुराशया बग्मुः । अथान्येखुनारदो दिनकरदेवं विद्याधरं निजमभीष्टं प्रत्यवाच-पर्वतस्य विश्वदाचरणं त्वया निवार्यतामिति । सोऽपि क्षथा करिष्यामोति नागान्तं गत्वा

कथन मत करो । सिंहासन के धँस जाने पर पर्वत और वसु म्लान-मुख हो गये । उन्हें वैसा देख महाकालके किंकर तापसोंका आकार रख कर अर्थात् तापसोंके वेषमें आकर कहने लगे—हे पर्वत ! हे वसु ! तुम दोनों भय मत करो । इस प्रकार कह कर उन्होंने वसुके सिंहासन को ऊपर उठा हुआ दिखलाया । उस सिंहासन पर बैठा हुआ वसु कह रहा था — 'मैं तत्वका जानने वाला कैंसे भयभीत हो सकता हूँ । मैं पर्वत के वचनों-को सत्य जानता हूँ' इस प्रकार कहता हुआ वसु कण्ठ पर्यन्त पृथिवीमें धँस गधा । यह देख साधुआंने कहा—इस असत्य कथन से वसु राजाकी यह दशा हुई है । हे राजन् ! अब भी मिथ्यामार्ग छोड़ दो उस प्रकार यद्यपि साधुओंने उससे प्रार्थना की थी तथापि वह मूर्ख यज्ञको ही सन्मार्ग कहता गया ! कुपित पृथिवी ने उसे सर्वाङ्ग निगल लिया तथा मर कर वह सातव नरक गया । उस समय कालासुरने लोगों को विश्वास दिलाने के लिये आकाशमें स्थित सगर और वसुके दो दिव्य रूप दिखलाये ! वे कह रहे थे कि हम दोनों यज्ञकी श्रदासे स्वर्गको प्राप्त हुए हैं, तुम सब नारदका वचन मत मानो र्ग्य इस प्रकार कह कर कालासुर अन्तर्हित हो गया ।

तदनन्तर शोक और आश्चर्य में निमग्न लोगोंमें कोई तो कहता था कि वसु स्वर्ग गया है और कोई कहता था कि नहीं नहीं नरक गया है। इस प्रकार विवाद करते हुए लोगोंके साथ विश्वभूने प्रयाग जाकर राज-सूय यज्ञको विधि को। महापुर के राजा आदि जो प्रमुख पुरुष थे वे सोगोंकी मूढ़ता को निन्दा करते हुए परमब्रह्म जिनेन्द्र देवके द्वारा निर्दिष्ट मार्गमें ही स्थित रहे। 'नारद ने धर्ममर्यादा की रक्षा की है' इस तरह उसकी प्रशंसा कर उसके लिये गिरितट नामको नगरी दी। निजविद्यया धारपन्नगान हूय तत्प्रपंच निवेदयामास । घारपन्नागास्तु संग्रामे काळासुरं मंक्त्वा यागविघ्नं चकुः । विस्वभूपवेतौ तद् दृष्ट्वा शरणान्वेषणौ याव-दासतां तावत्महाकालमग्रतः स्थितं ददृशतुः तदग्रे तं वृत्तान्तं निवेदयाञ्चकतुः । कालासुर उवाच-अस्मद्देषिणो नागास्तैरयमुपद्रवो विहितः । विद्यानुप्रवादोक्ता नागविद्यास्तासां विज् भणं जिनविम्बानामुपरि न भवति ततः सुरूपान् जिनाकारान् चतुर्षु दिक्षु निवेध्य पूजयित्वा च यज्ञविधि युवां कुरुतमिति । तमुपायं श्रुत्वा तौ तया चकतुः । पुनविद्याघराधिपो यागविघ्नं कर्तुं मागताः । जिनबिम्बानि दृष्ट्वा नारदाय कथयति स्म यन्मेविद्या अत्र न क्रामन्तीति स्वस्थानं जगाम । तदनन्तरं यत्रो निर्विघ्नो बभूव । तदनु विश्वभूः पर्वत्तश्व सप्तमं नरकं गतौ । दीर्घकालं महादुःखमनुबभूवतुः । अथ महाकालोऽभिन्नेतं साघयित्वा निजरूप

तापस लोग कलिकाल को दयाधर्मके नाशका कारण समझते हुए दु:खित-हृदयसे यथा-स्थान चले गये ।

तदनन्तर किसी दिन नारदने दिनकर देव नामक विद्याधरसे अपने मनकी बात कही----आपके द्वारा पर्वतके विरुद्ध आचरणका निवारण किया जाना चाहिये। दिनकर देवने 'वैसा करू गा' इस तरह अपनी स्वोकृति दे दी। उसने नाग जातिके देवके पास जाकर अपनी विद्याके द्वारा धारपन्नग नामक देवोंको बुलाया और पर्वतका यह सब प्रपञ्च कह सुनाया । धारपन्नग देवोंने संग्राममें कालासुरकों पराजित करके यज्ञमें विष्टन उत्पन्न कर दिया। विश्वभू और पर्वत उस विष्टनको देखकर जब शरण की खोज करते हैं तब सामने खड़े हुए महाकाल को देखते हैं। उन्होंने महाकाल के आगे सब वृत्तान्त कहा। कालासुर बोला---नाग **देव हमारे द्वेषी हैं उन्होंने** यह उपद्रव किया है । विद्यानुप्रवाद में नाग विद्याएँ कही गई हैं उनका प्रभाव जिन प्रतिमाओं पर नहीं होता इसल्यि चारों दिशाओं में सुन्दर जिन प्रतिमाएँ रखकर पूजा करो, इस प्रकार यज्ञ की विधिको तुम दोनों पूरा करो । उस उपाय को सुनकर विष्वभू और पर्वंत ने वैसा हो किया। विद्याधरों का राजा फिर से यज्ञ में विघ्न करने के लिये आया परन्तु जिन प्रतिमाओं को देखकर नारद से बोला कि मेरी विद्याएँ यहाँ नहीं चलती हैं। ऐसा कहकर वह अपने स्थान पर चला गया। तदनन्तर यज्ञ निर्विघन समाप्त हो गया। पश्चात् विद्यम् और पर्वत सप्तम नरक गये तथा दीर्घकाल तक महा दुःख भोगते रहे।

भावप्राभृतम्

धृत्वा लोकान् प्रत्याह— पोदनापुरे पूर्वभवेऽहं मधुपिङ्गलो नाम राजा आसं । सुल्सानिमित्तं मया महत्पापमुपार्जितं अहिंसालक्षणो घर्मो जिनेन्द्रैः कथितः स भवदिभः कर्तव्यो घर्मिष्ठरिति संप्रोच्य अन्तदघो । पुनर्दयार्द्रधीः सन् सुदुक्चेष्टा-पापस्य प्रायस्चित्तं स्वयं चकार । कि प्रायस्चित्तं ? सम्मोहात्कृतस्य पापस्य निवृत्तिरेव प्रायस्चित्तं तामसौ चकार । अथ दिव्यबोर्घमुंनिभिरित्युक्तं विक्त्वभू-प्रमुखा हिंसाप्रवर्तका नारका बभूवुः । तत्त्थुत्ला पर्वतौदि्ष्ट दुर्मार्गं केचित् पाप-भीरवो नाशिश्रियुः । केचित्तु दीर्घसंसारिणस्तस्मिन्नेव दुर्मार्गे स्थिता इति ।

इति श्रीभावप्राभृते मधुपिंगलद्रव्यलिगिनः कथा सामाप्ता^भ ।

अण्णं च वसिट्टमुणी पत्तो दुक्खं नियाणदोसेण । सो णत्थि वासठाणो जत्थ न ढुरुढुल्लिओ जीव ॥४६॥ अन्यच्च वशिष्ठमुनिः प्राप्तः दुःखं निदानदोषेण । तन्नास्ति बासस्थानं यत्र न भ्रान्तो जीव ! ॥ ४६॥

तदनन्तर महाकाल ने इष्ट कार्य सिद्ध कर अपना असली रूप धारण किया और लोगों से कहा कि मैं पूर्व-भव में पोदन-पुरमें मधु-पिंगल नामका राजा था। सुलसा के निमित्त मैंने यह महापाप उपार्जित किया है। जिनेन्द्र देवने जो अहिंसा लक्षण धर्म कहा है आप अब धर्मात्माओं को उसीका पालन करना चाहिये। ऐसा कह कर वह अन्तर्हित हो गया। पुनः दयासे आद्र –बुद्धि होकर उसने अत्यन्त दुष्ट चेष्टा रूप पापका स्वयं प्रायदिचत्त किया। क्या प्रायदिचत्त किया ? अज्ञान से किये हुए पापका छोड़ देना ही प्रायस्चित्त है, इसी प्रायस्चित्त को उसने किया। तदनन्तर दिव्य ज्ञान के धारक अवधिज्ञानी मुनियों ने कहा कि हिंसा धर्म की प्रवृत्ति कराने वाले विश्वभू आदि नारकी हुए हैं अर्थात् नरक में गये हैं। यह सुनकर पापसे डरने वाले कितने ही लोगोंने पर्वतके इारा उपदिष्ट मार्ग का आश्रय नहीं लिया अर्थात् रह आये।

इस प्रकार मधुपिङ्गल की कथा समाप्त हुई।

गायार्थ-और भी, वसिष्ठ मुनि निदान के दोषसे दुःख को प्राप्त हुआ सो ठीक ही है क्योंकि हे आत्मन् ! ऐसा कोई स्थान नहीं है जहाँ यह जोव न घूमा हो ॥ ४६ ॥

परिसम्पूर्णा क० ।

(अण्णं च वसिट्ठमुणी) अन्यच्च भावरहितद्रव्यमुनिदृष्टात्सकयानकं वर्तते। तर्तिक वशिष्ठमुनिः । (पत्तो दुक्खं नियाणदोसेण) प्राप्तो दुःखं निदानदोषेण शत्रुवषप्रार्थननिदानदोषेणतवमेन विष्णुना यः कंसनामा नृपो मारितः स वशिष्ठ-मुनिचरो मल्ल्युद्धे मरणदुःख प्राप्तः । (सो णरिष वासठाणो) तन्नास्ति दास-स्थानं जन्ममरणस्थानं । (जत्य न ढुघढुल्लिओ जीव) हे जीव ! हे आत्मन् ! यत्र त्वं न जातो नोरपन्नस्च ढुध्ढुल्लिओ भ्रान्त इति । वशिष्ठस्य कथा यथा---

गंगागन्धवत्योर्नधोः संगमे जठरकौशिकं नाम तापसानां पल्ली बमूव । तत्र वशिष्ठो नायकः पंचाग्निव्रतं चरन्नास्ते स्म । तत्र गुणुभद्रवीरभद्रनामचारण-मुनिवरौ अगबतुः---अज्ञानकृतमिदं तप इति । तत्तश्रुत्वा वशिष्ठः कुष्ठीः सकोषं तयोः पुरतः स्थित्वा पप्रच्छ---कस्मान्मेऽज्ञानतेति । तत्र गुणभद्रो भगवानाह यतः

विशोषायं—भाव रहित द्रव्य मुनिका दूसरा दृष्टान्त भी है। वह यह कि वसिष्ठ नामका मुनि जो आगे चलकर कंस हुआ था, शत्रु के मारने की अभिलाषा रूप निदान के दोषसे नोवें नारायण श्री कृष्ण के द्वारा मल्ल युद्ध में भरण के दुःखको प्राप्त हुआ। वह जन्म-मरण का स्थान कोई ऐसा नहीं है जहाँ हे जीव ! तून उत्पन्न हुआ हो, अथवान घूमा हो। वशिष्ठ मुनिकी कथा इस प्रकार है—

गङ्गा और गन्धवतो नदियों के संगम स्थान पर जठर कौशिक नामकी तापसियों की वसति थी। उसका नायक वशिष्ठ नामका साधु था जो पञ्चाग्नि व्रतका आचरण करता हुआ रहता था। एक वार वहाँ गुणभद्र और वीरभद्र नामक चारण ऋदि धारी मुनिराज पहुँचे। उन्होंने वशिष्ठ से कहा कि तुम्हारा यह तप अज्ञान के द्वारा किया हुआ है। यह सुनकर दुबुंदि वशिष्ठ ने कुद्ध हो उनके आगे खड़ा होकर पूछा कि मेरी अज्ञानता किस कारण है ? उनमें भगवान गुणभद्र ने कहा क्योंकि सत्पुष्प हितभाषो होते ही हैं। उन्होंने जटाओं के समूह में उत्पन्न जुएँ तथा लीखोंके निरन्तर घात को, जटाओं के मध्यमें लगी हुई छोटो छोटी लीखोंको तथा जलते हुए काठके मध्यमें स्थित कीडोंको दिखा कर सम-झाया कि तुम्हारा अज्ञान यह है। काललबिध पाकर उस वशिष्ठ साधुने बुद्धिमान हो निग्न न्य तप अर्थात् दिगम्बरो दीक्षा धारण कर ली और उपवास के साथ आतापन योग ग्रहण किया। उसके महान् तपके माहात्म्य से सात व्यन्तर देवताओं ने आगे खड़े होकर कहा—मुनिराज ! 'आज्ञा देओ'। मुनिने कहा इस समय मेरा कोई प्रयोजन नहीं है इसलिये तुम

भावप्राभृतम्

संपुरुषा हि हितमाषिणो भवन्ति । चटाकछापसंजासयूकाछिकाभिषट्टनं सतत स्नानेन जटामघ्यरुग्नम्वमीनकान् दह्यमानकाष्ठमघ्यस्थितकीटकान् प्रदर्श्य इदं तवाज्ञानामति प्रासोधयत् काल्ल्लिंचमाश्रित्य स वशिष्ठः सुवीर्भूत्वा गुणभद्रचरणान्ते तपो निप्र'न्थ गृहीत्वा सोपवासमातापनयोगं जग्राह । तत्तपोमाहात्म्यात् सप्तव्यन्तर-देवता अप्रतः स्थित्वा क्रुवन्ति स्म—मुने ! आदेशं देहीति । मुनिराह----इदानीं मम प्रयोजनं नास्ति गच्छत यूयं । जन्मान्तरे मच्छिष्टि करिष्यथ । एवं तपः कुवँन् वशिष्ठः क्रमेण मथुरापुरीमालगाम । तत्र मासोपवासी सन्नतापनयोगे स्थितवान् । स उग्रसेनेन राज्ञा दृष्टः । भक्तिवशेन पुर्यां घोषणां कारयामास—अयं मुनिर्मद्-मृहे एव भिक्षां मृह्णतु नान्यत्रेति । सोऽपि पारणादिने मथुरां जगाम । तत्राग्नि-

सब जाओ। जन्मान्तर में मेरा शेष कार्य पूरा करना। इप प्रकार तप करते हुए वशिष्ठ मुनि क्रम क्रमसे मथुरापुरी में आये। वहाँ एक मासके उपवासका नियम लेकर वे आतापन योगमें स्थित हो गये। राजा उग्रसेन ने उनके दर्शन किये तथा भक्ति--वश नगर में घोषणा करा दी कि ये मुनि मेरे घर हो भिक्षा ग्रहण करें, अन्यत्र नहीं।

पारणा के दिन मुनिराज भी मथुरा गये परन्तु वहाँ उठती हुई अग्निको देख लौटकर वनमें वापिस आगये और एक महीने के उपवास का नियम लेकर ध्यानारूढ होगये । मासोपवास समाप्त होने पर वे पुनः पारणा के निमित्त नगर में गये, परन्तु याग हस्तीका क्षोभ देखकर वन में लौट आये, पुनः एक मासके उपवास कर पारणा के लिये नगर गये परस्तु उस दिन जरासन्ध का पत्र देखकर राजा व्यग्रचित्त या इसलिये भूनि फिर लौट आये। जब अत्यन्त दूर्बल शरीर के धारक वसिष्ठ मुनि हौट रहे थे तब उन्हें देख किसी मनुष्य ने कहा कि यह राजा मुनि को मारे डालता है, स्वयं भिक्षा देता नहीं है और दूसरों को रोकता है, न जाने इसका क्या अभिप्राय है ? यह सुनकर वशिष्ठ मुनिने पापके उदय हे निद्दान किया कि मैं अपने दुष्कर तपके फल-स्वरूप इस राजा का पुत्र होऊँ और इसका निग्रह कर इसका राज्य ग्रहण करूँ। इस खोटे मरिणाम से मरकर वह राजा उग्रसेन को पद्मावती रानी के गर्भ में पुत्र इससे स्थित हुआ । गर्भस्थित बालक की क्रूरता से उसे दोहला हुआ कि में राजा के हुदय का मांस खाऊँ। उस मांसको न पाने से वह दुर्बछ हो नई। यह जान कर मन्त्रियोंने कुत्रिम मांस देकर उसका दोहला पूरा कर विवा सो ठीक ही है विद्वान क्या नहीं कर सकते हैं ? मनोरण पूर्ण होनेपर

मुल्यितं दृष्ट्वा व्याघुटघ वनमाजगाम । पुनर्मासोपवासं जग्नाह् । पुनः पारणार्थं भासोपवासावसाने पुरं गतः । तत्र यागहस्तिनः क्षोभं दृष्ट्वा दनमागतः । पुनर्मासोपवासपारणायां नगरं गतः । तदा जरासन्घपत्रकं दृष्ट्वा राजनि व्यग्नचित्ते सति पुनर्वलितः । तदा झोणशरीरं वधिष्ठमुर्नि दृष्ट्वा लोको जगाद-अनेन राज्ञा मुनिर्मारितः, स्वयं भिक्षां न ददाति परान् वारयतीति न ज्ञायते कोभिप्रायो नृप-स्यति । तत्श्रुत्वा वशिष्ठो मुनिः पापोदयान्निदानं चकार । मम दुष्करतपः-फलादस्य राज्ञः पुत्रो भूत्वा अमु निगृह्य अस्य राज्यं गृह्यासमहमित्यनेन दुष्परि-णामेन मृत्वा पद्मावतीगर्भे पुत्रतया स्थितः । सा गर्भार्भककौर्येण दोहदं चकार– राज्ञो हृदयमांसमद्मीमोति । तदप्राप्नुवन्तो दुर्बला बभूव । तज्ज्ञात्वा मंत्रिणः

रानीमे पापी पुत्रको उत्पन्न किया। जब वह उत्पन्न हुआ तब अपना ओठ डस रहा था, भौंहकी भङ्गसे सहित था और मुट्ठो बाँधे था। उसे देख माता-पिता ने विचार किया कि यह पालन-पोषण करने योग्य नहीं है, अतः उसे छोड़ने का उपाय किया। एक काँसेकी पेटी लाकर उसमें सब समाचार के साथ कंसको (उस बालकको) रख दिया तथा यमुना के प्रबाह में छोड़ दिया।

कोशाम्बी नगरी में मन्दोदरी नामकी एक कल्पपाली (कलारन) रहती थी उसने प्रवाह के बीच कसिकी पेटी में रखे हुए उस बालक को देखा और पुत्र रूपसे उसका पालन किया। आचार्य कहते हैं कि तपस्वियों के हीन कोटिके पुण्य भो क्या नहीं करते हैं ? अर्थात् उनसे भी विशिष्ट लाभकी प्राप्ति होती है। कितने ही दिनों में वह बालक उलाहना आदिको सहन करने वाली अवस्थाको प्राप्त होगया। खेलता हुआ वह विना कारण ही समस्त बालकों को चाँटा, घूँसा तथा दण्ड आदिसे मार देता था तथा हिंसाका पाप बांधता था। उसके दुराचार के उलाहनों को जब मन्दोदरी नहीं सह सकी तब उसने उस पुत्र को छोड़ दिया। अब वह कंस शौर्यपुर जाकर वसूदेवका सेवक बन करके उनकी सेवा करने लगा।

इसी बोच में तोन खण्ड पृथिवी के अधिपति राजा जरासन्धका एक कार्य वाकी रह गया था उसको पूर्ति के लिये उसने समस्त राजाओं के समूह के पास इस आशयके पत्र भिजवाये कि सुरम्यदेश में पोदनपुरके स्वामी सिंहरथको युद्ध में बाँधकर जो लावेगा उसके लिये मैं आधा देश तथा कालिन्द सेना से उत्पन्न अपनी जीवद्यशा नामकी पुत्री दूँगा उस पत्र को लेकर बसुदेव ने बचवाया और अपने घोड़ोंको सिंहके मूत्रसे संस्कारित प्रयोगेण विहितं दोहद पूरयन्ति स्म । विद्वांसः किन्न कुर्युः । तदा सा पूर्णमनोरया सुतपातकमसूत । मातापितरौ दष्टोष्ठं सभूभंगं बद्धमुष्टिं तं दृष्ट्वा न योषणे योग्योध्यमिति विचिन्त्य दद्विसर्जनोपायं चक्रतुः । कंसमयीं मंजूषामानीय सवृत्तकं कंसं तस्यां निषाय यमुनाप्रवाहे मुमुचतुः । कोशाम्बीपुरे मन्दोदरी नाम कल्पपाली, तया प्रवाहे मंजूषामध्ये स दृष्टः पुत्रतया पालितश्च । तपस्विनां हीनान्यपि पुण्यानि किं न कुर्युः । कैरिचद्दिनैर्लंभनादिसहं वयः प्राप । आफ्रीडमानो निष्कारण सकल-बालकान् चपेटया मुष्ठिना दण्डादिना च प्रहारं ददाति वधपापं बष्नाति । तद्ददुरावारोपलभान् असहमाना मन्दोदरी तं तत्याज पुत्रं सोऽपि शौर्यपुरं गत्वा बसुदेवयदातिर्भूत्वा तत्सेवां करोति यावत् अत्रान्तरे जरासन्धो राजा त्रिखण्ड-मेदिनीपतिरपि कार्यदेषवान् ववृते । सुरम्यदेशे पोदनापुराधीशं सिंहरयं युद्धे वद्ध्वा य आनयति तस्मै वेशार्ध मत्सुतां कार्लिदसेनासंजातां ैजीवद्यशोनामानं ददामीति पत्रमालां राज्ञां समूहान् प्रति प्रेषयामास । तत्पत्रं वसुदेवो गृहीत्वा प्रवाचितवान् । निआख्वान् सिंहमूत्रेण भावयित्वा तैर्बाह्य रेषयामारह्य संग्रामे तं जित्वा करेने

कर उन्हें रथ में जोता तथा उस रथ पर आरूढ हो संग्राम में सिंह-रथको जीता तथा अपने सेवक कंससे बैंधवाकर उसे जरासंघ को सौंप दिया । जरासंघ संतुष्ट होकर अपनी पुत्री और आधा देश देने लगा परन्तु वसुदेव ने उस कन्याको स्रोटे लक्षणों वाली देखकर कह दिया कि हे देव ! मैंने सिंहरथको नहीं बाँधा है, यह कार्य कंसने किया है इसलिये आपके पास भेजने वाले इस कंसके लिये ही कन्या दी जावे । यह सुनकर जरासंघ ने कंपका कुल जानने के लिये मन्दोदरी के पास दूत भेजा। उसे देख मन्दोदरी 'क्या मेरे पुत्रने वहाँ भी अपराध किया है ?' इस भयसे उस मजूषाको साथ लेकर वहाँ गई । जरासंघ के आगे मंजुषा रखकर मन्दोदरी ने कह दिया कि यह इसकी माता है। कौसको मंजूषा में रखा हुआ यह बालक यमुना के जलमें बहता आया था मैंने प्राप्त करके इसे पाला-पोषा और बढाया तथा कांसे की मंजूषा में मिलने के कारण मैंने इसका कर नाम . रक्खा। इसे स्वभाव से हो अपनी शूरता का घमण्ड है यह बाल्य-अवस्था में भी निरगैल स्वच्छन्द था। पीछे लोगोंके सैकड़ों उलाहने आने लगे, तब मैंने इसे छोड़ दिया । यह सुनकर मंजूषा से पत्र लेकर जोरसे बच-वाया तथा उसे राजा उग्रसेन और पद्मावतो का पुत्र जानकर उसके लिये पुत्रो और आधा राज्य दे दिया ।

१. जीवचचा नामानं क० ।

षट्प्राभृते

निजमुत्येन बन्धयित्वा सिंहरथं राज्ञे अर्थयामास । जरासन्यस्तु तुष्ट्वा निजसुतो देशार्घं च ददौ । वसुदेवस्तु तां कन्यां दुष्टल्काणां दृष्ट् वोदाच --- देव ! नाहं सिहरषं बद्धवान्, कर्मेदं कंसः कृतवान्, भवरप्रेषणकारिणेऽस्मै कन्या प्रदीयतां । तत्श्रुत्वा जरासन्धः कंसस्य कुरुं विज्ञातुं मन्दोदरों प्रति दूतं प्रजिषाय । तं दृष्ट्वा मन्दोदरी मम पुत्रः किं तत्रापि कृतापराध इति मीत्वा समंजूषा तत्र जगाम । जरासन्धाग्रे मंजूषां निक्षिप्य इयमस्य मातेत्युवाच । देव ! कैंसमंजूषा-मधिष्ठायाऽभंक आगतो यमुनाजले मया लब्धः प्रतिपात्य बर्धितक्ष्व तत्र एव नाम्ना कंसः कृतः । अयं स्वभावेन शौर्यदर्पिष्ठः शिशुत्वेऽपि निरर्गलः पहचादुपालंमश-तैल्टोंकानां मया वर्जितः । तत्त्र्युत्वा मंजूषायाः पत्रं गृहीत्वा उच्चवीचयामास । उप्रसेनपद्यावत्याः सुतं विज्ञाय सुतामर्धराज्यं च तस्मै विततार । कंसोऽपि जातमा-त्रोऽहं नद्यां प्रवाहित इति क्रोवेन मथुरापुरं स्वयमादाय मातरपितरौ बन्वस्यौ कृत्वा गोपुरे घृतवान् । विचारविकलाः पापौयांसः कुपिताः कि कि न कुयुं रिति । अय वसुदेवं महीपति पुरमानीय निज्रानुजां देवकी दत्वा तत्र तं स्यापितवान् महाविभूतिमन्तं तं चकार एवं सुक्षेन कंसस्य काले मण्डति सत्वेकदाऽतिमुक्तको

कंस ने भी 'मुझे उत्पन्न होते ही इन्होंने नदी में बहा दिया था' इस क्रोधसे मथुराग्रुरो आकर तथा स्वयं माता पिताको बन्धन में डालकर गोपूर के ऊपर रख दिया सो ठोक ही है क्योंकि विचार-हीन पापी मनुष्य कुद्ध होकर क्या क्या नहों कर बैठते हैं ? तदनन्तर कंसने राजा वसुदेव को अपने नगर लाकर उन्हें अपनी छोटी बहिन देवकी दी तथा उन्हें वहीं रखकर महा विभूति से युक्त कर दिया। इस प्रकार कंसका समय सुखसे बीत रहा या कि एक दिन अतिमुक्तक नामका मुनिराज भिक्षाके लिये राजभवन में प्रविष्ट हुए उन्हें देख हर्षित होती हुई जीवद्यशा ने हास्य भावसे कहा कि मुनि ! देवकी नामक तुम्हारी छोटो बहिन अपना यह ऋतु-कालीन वस्त्र तुम्हें दिखलाती है और अपनी चेष्टा को प्रकट करती है। वह सुन मुनिने कोध करके तथा वचन-गुप्तिको तोड़कर कहा कि मूर्खे ! क्यों हॉकत होती है, देवकी का जो पुत्र होगा वह तेरे भर्ताको अवस्य मारेगा। यह सुन जीवद्यशा ने उस वस्त्रके दो टुकड़े कर दिये। मुनिने फिर कहा कि मूर्खे ! न केवल तुम्हारे पतिको ही मारेगा किन्तु तुम्हारे पिताकों भो मारेगा। इतना कहने पर उसने कुपित होकर उस वस्त्रको पैरों से रौंद दिया। यह देख मुनिने फिर कहा कि मूर्खे ! तेरी

१. कंसस्य तुगविद्येषस्य मंजूषा तां ।

मुनिभिक्षार्थं राजमन्दिरं प्रविष्टः । तं दृष्ट्वा जीवद्यशा हर्षमाणा [°]तं हास्येनो-वाच — हे मुने ! देवकी तव लघुभगिनी पुष्पजानन्दवस्त्रं तवैत्तदृशांयति वस्त्रेण स्वचेष्टितं प्रकाशयतीति । ततत्र त्वा मुनिः कोपं क्वत्वा वाग्गुप्ति मित्वा जगाद — मुग्धे ! किं हृष्यसि देवक्या यो भविष्यति पुत्रः स तव भर्तारमवर्ध्य हनिष्यति । तत्श्रुत्वा जीवद्यशा कोपेन तद्वस्त्रं द्विधा चक्रे । मुनिराह-मुग्धे ! न केवलं तव पतिमेव हनिष्यत्यनेन पितरमपि तव हनिष्यति । इत्युक्ते सा कुपित्वा तद्वस्त्रं पादाम्याममर्दयत् । तद्वृष्ट्वा मुनिजंगाद – मुग्धे ! अनेन सागरावधि पृथ्वीं नारीमिव पालयिष्यति । जीवद्यशास्तत्श्रुत्वा गत्वै कान्तं भर्त्रे निवेदयामास । कसो भीत्वा हास्येनापि प्रोक्तं मुनेः सफल भविष्यतीति

इस चेष्टा से सिद्ध होता है कि वह सागरान्त पृथिवी का स्त्री की तरह पालन करेगा। जीवद्यशा ने यह सुन एकान्त में जाकर पतिसे सब समाचार कहा। मुनि हास्यभावसे यदि कुछ कहदे तो वह सफल—सत्य होता है यह सोचकर कंस डर गया। उसने राजा वसुदेव के पास जाकर स्नेह के साथ यह याचना को कि पूर्व दत्त वर दानसे देवको हमारे घरके भीतर ही प्रसूति करे। कंसके उपरोध में आकर वसुदेवने 'तथास्तु' ऐसा हो हो, कह दिया सो ठीक ही है क्योंकि अवश्य होनहार कार्योंमें मुनि भी भूल कर जाते हैं।

तदनन्तर उन्हीं मुनिने एक दिन भिक्षा के लिये देवकी के घर में प्रदेश किया। वसुदेव और देवकी ने उन्हें पड़िगाह करके आहार कराया। परुचात हम दोनों क्या दीक्षा घारण कर सकेंगे? इस तरह छलसे पुत्रोत्पत्तिके विषय में पूछा। मुनि उनका अभिप्राय जानकर बोले-तुम दोनोंके सात पुत्र होंगे, उनमें छह पुत्र दूसरेके स्थान में वृद्धिको प्राप्त कर मोक्ष जावेंगे परन्तु मातवा पुत्र अपने छत्र की छाया द्वारा पृथिवोको संतुष्ट कर चक्कवर्ती (नारायण) होता हुआ उसका पालन करेगा। तदनन्तर देवकी ने तीन युगल पुत्र प्राप्त किये अर्थात् कमसे तीन बार युगल पुत्र उत्पन्न किये। ज्ञानी इन्द्रने उन सबको चरम शरीरी जानकर नेगमर्थ नामक देवसे कहा कि इनकी तुम रक्षा करो। उस देवने भद्रिलपुर में अलका नामकी वर्णिक पुत्री के आगे उन पुत्रोंको रखकर तथा उसके उस समय हुए मृत युगल पुत्रोंको लाकर देवकी के आगे रख दिया। कस उन युगल पुत्रोंको मरा देखकर 'ये मेरा क्या करेंगे? इस तरह मुनिका

१. तव चेष्टितेन ।

वसुदेवं राजानं गत्वा सस्नेहमिदमयाचत देवकी मम गृहान्तरे प्रसूति 'कुर्यान्मता-दिति । वसुदेवस्तेनोपरुद्धः संस्तयास्त्विति जमाद ब्रवस्यंभाविकार्येषु मुनिरपि मुद्धति । अर्थंकदा स मुनिर्देवकीगेहं भिक्षार्थं प्रविवेश । वसुदेवो देवकी च तं प्रतिगृहा ^२भोजयित्वोवाच---आवयोर्दीक्षा भविष्यतीति छद्मना जगदतुः । मुनि-स्तदिङ्गितं जात्वोवाच युवयोः सप्त पुत्रा भविष्यतीति छद्मना जगदतुः । मुनि-स्तदिङ्गितं जात्वोवाच युवयोः सप्त पुत्रा भविष्यतीति छद्मना जगदतुः । मुनि-स्तदिङ्गितं जात्वोवाच युवयोः सप्त पुत्रा भविष्यतीति छद्मना जगदतुः । मुनि-स्तदिङ्गितं जात्वोवाच युवयोः सप्त पुत्रा भविष्यत्ति तेषु षट् पुत्राः परस्याने वृद्धिमित्वा मोक्षं यास्यन्ति सप्तमस्तु पुत्रो निजच्छत्रच्छायया पृथ्वीं निर्वाप्य चक्रवतीं दीर्थंकालं पालयिष्प्यति । देवकी ततस्त्रियमलान् ³लेभे । तान् ज्ञानवान् शक्रघरमाङ्गान् ज्ञात्वा नंगमर्ष देवं प्रोवाच एतांस्त्वं रक्ष । स च भद्रिलपुरे अलकाया वणिक्पुत्र्याः पुरो निक्षिप्य तत्पुत्रांस्तदा भूतात् गृहीत्वा मृतान् यमान् देवक्यग्रे निचिक्षेप । कंसस्तान् मृतान् यमान् दृष्ट्वा किममो मे मृताः करिष्यन्तीति

वचन झूठ होगया' यह कहने लगा फिर भी कुछ आशङ्का से युक्त हो उन्हें शिला पर पछाड़ता गया ।

पश्चात् देवको ने सातवां पुत्र सातवें हो मास में अपने घर में हो उत्पन्न किया । वह पुत्र महाशुक स्वर्ग से च्युत होकर आया था तथा निनामक मुनिका जीव था । वसुदेव और बलभद्र नीतिके जानकार थे, अतः उन्होंने देवको को सब समाचार बतलाकर उससे बालक ले लिया । बलभद्र ने बालक को उठाया और पिताने छत्र लगाया तथा रात्रिमें ही उसे बाहर निकाल दिया । पुत्रके पुष्पसे नगर देवता बैलका रूप रख अपने सींगोंपर रखीं मणिमय दीपिकाओं से प्रकाश करता हुआ मार्ग दिखाता जा रहा था । उस बालक के परके स्पर्श से गोपुर के किवाड़ शोघ ही खुल गये । वहाँ बन्धन में पड़े उग्रसेन बोले कि किवाड़ोंका उद्घाटन कौन कर रहा है ? बलदेव ने कहा-जो तुम्हें बन्धन से मुक्त करेगा, अतः चुप रहो । 'ऐसा ही हो' इस प्रकार आशीर्वाद के द्वारा उसका अभिनन्दन कर उग्रसेन चुप हो गये । अब बलदेव और वसुदेव यमुना नदी के पास पहुँचे । होनहार चकवर्ती के प्रभावसे यमुनाने भी दो भागों में विमाजित हो मार्ग दे दिया सो ठीक ही है क्योंकि समान वर्ण वाला [पुत्रकी कान्ति काली थी तथा यमुना का पानी भो काले रङ्गका था इसलिये पुत्र और

- २. म प्रतौ उवाच नास्ति ।
- ३. त्रियंमान् म० ।

१. पूर्वदत्तवरदानात् (क० टि०) ।

मुनेर्वाक्यमसत्यमभू दिति प्रोच्य साशंकः शिलायामास्फालयामास । पश्चाद्देवकी सप्तमं पुत्रं सप्तम एव मासे अनितवती निजगृहे एव महाशुक्राज्च्युतं निर्नामकचरं मुनिवरं । वसुदेवो बरूभद्रश्च नीतिमन्ती, देवकी झापयित्वा गृहीतवन्तौ, बलेन बाल उद्धृतः, पिता घृतच्छत्रो रात्रावेव निष्कासितः । तत्पुष्प्येन पुरदेवता वृषभ-रूपेणाग्रेऽग्रे निअन्ध्र द्वामणिदीपिकाकृतोद्योता मार्ग दर्शयामास । ैतद्वाल्पाद-स्पर्शाद्गोपुरमुद्घाटिताररं सद्यो जातं । तत्र बन्धनस्थित उग्रसेन उवाच कपाटोद्घाटनं कः करोति ? बलदेव उवाच—यस्त्वां बन्धान्मोचयिष्यतीति तूष्णीं तिष्ठेति । उग्रसेन एवं भवत्वित्याशीभिरभिनन्द्य स्थितः । तौ तु यमुना-मितौ । सा मविष्यच्चक्रिश्रभावेन द्विधा भूत्वा मार्ग ददौ । सवर्णः का वा

यमुना में कविने संवर्णता बतलाई है] ऐसा कौन साई-दयालु (यमुना-पक्षमें जलसे सहित) है जो सहायता न करे। आश्चर्य से युक्त बलदेव और वसुदेव यमुना को पार कर जब आगे गये तो उन्होंने बालिकाको लेकर आते हुए नन्दगोप को देखा । उसे देखकर उन्होंने कहा कि हे भद्र ! तुम अकेले रात्रिमें यहां किस लिये आये हो ? नन्द गोपने प्रणाम कर कहा कि मेरी प्रियाने जो कि आपकी सेविका है पुत्र-प्राप्ति के लिये गन्ध आदि से देवता को पूछा कर याचना की थो–हे देवि ! तू मेरेलिये पुत्र दे। मेरी उस प्रिया ने आज रात्रि पुत्री प्राप्त की। वह बोली कि यह स्त्रीरूप सन्तान उन्हीं देवताओं के लिये दे आओ। हे स्वामिन् ! शोकसे युक्त प्रिया के कहने से यह स्त्री रूप सन्तान देवताओं को दैनेके लिये मेरा यह प्रयास हो रहा है, ऐसा नन्दगोपने कहा । उसके बचन सुन बलदेव और वसुदेव 'हमारा कार्य सिद्ध हो गया' इसलिये हॉफत होते हुए उससे बोले तुम हमारे अमीष्ट हो इसलिये तुमसे एक गूढ़वात कही जाती है । यह बालक चक्रवर्ती होगा तुम इसका पालन करो और यह बालिका हमारे लिये दे दो । बालिका को लेकर बलदेव और वसुदेव गुप्त रूपसे नगर की ओर चल दिये तथा नन्दगोप घर जाकर अपनी स्वीसे बोला—प्रिये ! देवताओं ने संतुष्ट होकर तुम्हें महा पुण्पवान पुत्र दिया है वे बहत प्रसन्न हैं, यह कह कर नन्दगोप ने वह पुत्र स्त्रों के लिये सौंप दिया ।

इधर कंसने जब सुना कि देवको ने पुत्रीको जन्म दिया है तो उसने वहां जाकर उस पुत्रीको भग्ननासा कर दिया अर्थात् उसकी नाक विक्रत

४. कपाट ।

षट्प्रामृते

सन्मुतां सार्झे न कुर्यात् । तो विस्मितौ यमुनां स्पत्तिकम्य बालिकामुद्घृत्याग-च्छन्तं नन्दगोपतिं ददृशतुः । तं दृष्ट्वा तावूचतुः ---भद्र ! स्वमसहायो रात्रावत्र किमित्यागतः । स प्रणम्योवाच----मम प्रिया युष्मत्प्रचारिका पुत्रार्यं गन्धादिभिः पूजित्वा देवतां याचितवती----देवि ! पुत्रं मे देहीति । ैसाद्य रात्रौ धुत्रीं लेभे । सोवाचेति स्त्र्यपत्यं ताभ्य एव देहि । तस्याः सघोकाया वचनादिदं स्त्र्यपत्यं देवताभ्यो दातुं मम प्रयासोऽयं स्वामिन्निति जगाद् । तद्वचनं तौ श्रुरवाऽस्मत्कार्यं सिद्धिमिति प्रहृष्य तमूचतुः----रद्यमस्माकमभोष्टस्तेन तव गुद्धं कथ्यते, अवं बालक्चक्रो भविष्यति त्वं पाछयेति । इयं तु बालिकाऽस्मम्यं दीयतामिति । तां गृहीत्वा ग्रूढतया पुरं गतौ । नन्दगोपस्तु गृहं गत्वा प्रियां प्राह-प्रिये ! देवता तुष्टा महापुण्यं पुत्रं तुभ्यं ददुः प्रसन्ना इति प्रोच्य तं पुत्रं तस्यै समर्पयामास । कंसस्सु देवको पुत्री प्रसूत्वतीति श्रुत्वा तत्र गत्वा तां सुतां भग्ननासां चकार । मात्रा तु सा बालिका भूमिगेहे वर्धिता प्रौढयौवना नासाविकृति विलोक्य आधिकापार्श्व

कर दी। माताने उस पुत्री का भूमि-गृह-तलघर जैसे गुप्त स्थानमें उसका पालनपोषण किया। जब वह प्रौढयौवनवती हुई तो त्रासा को विक्वतिको देख उसने शोकवश आर्थिका के पास उत्तम व्रतों से युक्त दीक्षा ग्रहण कर ली। तथा विन्ध्य पर्वंत पर स्थान का योग लेकर अर्थात् यहाँ से अन्यत्र न जाऊँगी ऐसा नियम लेकर रहने लगी। कुछ वनवासी लोग 'यह देवता है' ऐसा समझ उसकी पूजा कर गये ही ये. कि रात्रिमें व्याघ्रते उसे खा लिया तथा मरकर वह स्वर्गलोक गई। तदनन्तर दूसरे दिन उन वनवासियोने उसके हाथकी तीन अंगुलियां देखीं। उस देशके अवि-वेकी निवासियोने उन तीन ऊंगुलियों को दूध तथा केशर आदिसे पूजा कर उस आर्या को विन्ध्यवसिनी देवी रूपसे प्रमाणिक किया।

तदनन्तर उस नगरमें बड़े-बड़े उत्पात होने लगे। उन्हें देख कंसने वरुण से पूछा कि इनका फल क्या है ? वह बोला कि तुम्हारा बड़ा भारी शत्रु उत्पन्न हो चुका है। निमित्त-ज्ञानीके वचन सुनकर राजा कंस चिन्ता-निमग्न हो गया। उसी समय पूर्वोक्त देवताओं ने आकर पूछा कि क्या कार्य करनेके योग्य है ? कंसने कहा---मेरा पापी शत्रु कहीं उत्पन्न हो चुका है सो उसे खोजकर तुम लोग मार डालो। यह सुनकर सातों ही देवता 'तथास्तु' कहकर चल दिये। उन देवताओं में एक पूतना नामकी देवी थी। वह विभज्जावधिज्ञान से वासुदेवको जान गई तथा उसे मारने के

१. यशोदा ।

सुब्रतां दीक्षां जग्राह शोकेनेति । विन्ध्यपर्वते स्थानयोगं गृहीत्वा स्थिता । वनवा-सिषु देवेतेति पूजयित्वा गतेषु रात्रो व्याधोण भक्तिता स्वगंलोकं जगाम। **वया**परस्मिन् दिने व्यार्थहेंस्ताङ्गुलित्रयं दृष्टं । क्षीरकुंकुमादिभिः पूजित देशवासि-भिविमूढात्मभिरसावार्या विन्ध्यवासिनी देवतेति प्रमाणिता । अय तस्मिन् पुरे महोत्पाताः प्रसुताः । तान् दृष्ट्वा कंसेन वरुणः पृष्टः किमेषां फलमिति स आह-तव धत्रुः समुत्पन्नो महान इति । नैमित्तिकवचनं श्रुत्वा राजा चिन्तावस्यो बभूव तदा पूर्वोक्ता देवताः समागताः कि कर्तव्यमिति पप्रच्छु: । स आह-मम शत्रं पापिष्ठं क्वचिंदुत्पन्नमन्विष्य मारयत यूथं तत्श्रुत्वा सप्तापि गतास्तयास्त्विति । तत्र पुतना विभंगात् ज्ञात्वा वासुदेवं भारयितुं यशोदात्तन्मातृरूपं गृहीत्वा विषस्तनपानो-पायेन दुष्टा मारणं चिकीढौंकिता । तद्वालपालनोद्युक्ता काचिदन्या देवता स्तनदा-नावसरे बलवरपीडां चकार । तत्पीडां सोढुमसमर्था मृताहमित्याक्रोशं क्रुत्वा पला-**सिता (१)। द्वितीया देवता शकटाकार गृहीत्वा** शिज्ञूपरि घावन्ती तेन पाराम्यां ताहिता नष्टा (२) । अपरेद्युनंन्दगोधी कटघामुदूसलं बद्घ्वा जलमा-मेतुं गता तथापि शिशुरम्वगमत् । तदा तं बालं मारयितुं द्वे देवते अर्जुनतरू भूत्वा तदुर्थार पतन्त्यौ मूलादुन्मूलयामास (३-४)। विष्णोश्चंक्रमण वेलायामेका तालतक्ष्यूंत्वा तन्मस्तके फलानि दृषदोऽपि निष्ठुराणि पातयितुमुद्यता (५) । अपरा

लिये उसने बालक को माता थशोदा का रूप ग्रहण किया। वह दुष्टा विष भिश्रित स्तन पिलाने के उपाय से बालक को मारने की इच्छा करती हुई आईं। उस बालक की रक्षा करने में तत्पर किसी दूसरी देवी ने स्तन देने के समय उसके स्तन में बहुत जोर की पोड़ा पहुँचाई। पूतना देवों उस पोड़ा को सहन करने के लिये असमर्थ हो 'मैं मरी' इस प्रकार चिल्ला कर भाग गई (१) दूसरी देवो शकट—गाड़ी का आकार रख बालकके ऊपर दौड़ती आ रहो थी कि बालक ने उसे पैरों की ठाकर से नष्ट कर दिया (२) दूसरे दिन नन्दगोप की स्त्री अर्थात यशोदा बालक की कमर में एक उखला बाँधकर पानी भरने के लिये गई थीं फिर भी बह उसक पोछे पाछे चला गया। उस समय दो देवियां अर्जुन वृक्ष का रूप रख कर उस बालकके ऊपर गिरना चाहतो थीं कि बालक ने उन्हे जड़ से उखाड़ दिया (३-४)। जव विष्णु घूस रहे थे तब एक देवी ताड़का वृक्ष बनकर उनके मस्तक पर कठार फल और पत्थर गिराने को उद्यत हुई (५) । तथा दूसरी देवो गधो बन कर उन्हें काटने के

१. संक्रमण क० ।

रासभी भूत्वा तं दष्टुमागता । तां रासभीं चरणे घृत्वा तयैव तं वृक्षमताडबत् (६) । अन्यस्मिन् दिनेऽन्या देवता तुरंगमो भूत्वा तं मारयितुमागता । तस्य वद्दनं मुष्टिना जघान (७) । एवं सप्तैव देवताः कंसमागत्योचुः----वयं तव कात्रुमाहत्तुं न समर्थाः स्म इति । विद्युत इव विलीनाः । देवतानामपि झक्तयः पुष्यवज्जने न समर्थाः एकवच्चे ऽरिशस्त्राणीव । अन्यस्मिन् दिनेऽरिष्टनामा देवस्तत्पराक्तमं दृष्टुं तत्पुरमागतः कृष्णवृयाकारः, तस्य ग्रोवाभंजने स उद्यमं चकार । तन्माता यशोदापि तं तर्जयति स्म-पुत्र ! एवमादित एवाफलचेष्टितात् मलेकाान्तरसम्पादका-द्विरमेति पुनः पुर्नानवारितोऽपि मदोत्कटस्तच्चेष्टितां चकार । महौजसोऽपदार्वे निवारयितुं न शवयन्ते । तत्मौरुषं क्ष्यातं लोकवधनादाकष्यं देवकीवसुदेवौ तद्दर्शन

लिये आई। विष्णु ने उस गधीका पैर पकड़ कर उसीसे उस वृक्षको ताड़ित किया (६)। किसी दूसरे दिन एक देवी घोड़ा बनकर उन्हें मारने के लिये आई तो उन्होंने धूँसे के द्वारा उसका मुख तोड़ दिया। इस तरह सातों ही देवियां कंसके पास आकर कहने लगी कि हम लोग तुम्हारे शत्रुको मारने के लिये समर्थ नहीं हैं। इस प्रकार कह कर वे बिजली की तरह विलीन हो गई। सो ठीक ही है क्योंकि जिस प्रकार इन्द्रके वज्ज पर शत्रुओं के शस्त्र असमर्थ रहते हैं उसी प्रकार पुण्यवान् मनुष्य पर देवताओं की शक्तियां भी असमर्थ रहती हैं।

किसो एक दिन अरिष्ट नामका देव उसका पराक्रम देखने के लिये उस नगर में आया और एक काले बैरु का रूप रखकर घूमने लगा। बालक श्रीकृष्ण उसकी गर्दन तोड़ने का उद्यम करने लगा। माता यशोदा ने उसे मना भी किया कि बेटा ! इस तरह प्रारम्भ से ही अन्य कलेशों को उत्पन्न करने वाली निष्फल चेष्टा से दूर रहो । बार बार मना करने पर भी गर्वसे भरा कृष्ण अपनी उस चेष्टा को करता ही रहा सो ठीक ही है क्योंकि तेजस्वी मनुष्य पराक्रम के कार्य में रोके नहीं जा सकते । इस प्रकार श्रीकृष्ण के पराक्रम को चर्चा सर्वत्र फैल गई । लोगोंके कहने से जब देवकी और वसुदेव ने यह कथा सुनी तो वे भी उसे देखने के लिये उत्काण्ठत हो, गोमुसी नामक उपनास के बहाने दे बलभद्र तथा अन्य परिवार के साथ बड़े ठाट बाट से गोदावन (गोकुल) गये उसी समय कृष्ण गर्वसे भरे वृषभेन्द्र की गर्दन तोड़ कर बहुत भारी पराक्रम का अवलम्बन कर बैठे ये । उन्हें उस प्रकार का देख देवकी तथा वसुदेवने चन्दन और माला आदि से सन्पानित कर विभूषित किया । तदनन्तर प्रदक्षिणा करती हुई देवकी के स्वर्ण कल्याके सदृश स्वर्था स्व हे से ब्रू करने

मानप्राभृतम्

-4. 85

उत्कण्ठितौ । गोमुझीनामोपवासमिषेणा । सीरिणा सह महत्या विभूत्या गोदावनं गोष्ठं परिवारेण सह गतौ । तस्मिन्नेव दर्पवद्वृथभेन्द्रग्रीयार्भगावसरे कृष्णं महावर्लं समालम्भ्य स्थितं दृष्ट्वा ैगश्वमाल्यादिसन्मानानन्तरं भूषयामासतुः तदनन्तरं प्रदक्षिणं कुर्वत्या देवक्याः शातकुंभकुंभसदृत्रायोः स्तनयोः क्षीरं सुश्राव कृष्णस्था-भिषेकं कुर्वत्या देवक्याः शातकुंभकुंभसदृत्रायोः स्तनयोः क्षीरं सुश्राव कृष्णस्था-भिषेकं कुर्वत्या दवक्याः शातकुंभकुंभसदृत्रायोः स्तनयोः क्षीरं सुश्राव कृष्णस्था-भिषेकं कुर्वत्या इव । बल्रस्तद्वीक्ष्य मंत्रभेदभयादुपवासपरित्रान्ता माता मूर्छितेति जल्पन् सुधीः कुंभपूर्णपयोभिस्तां समन्ततोऽम्युक्षितवान् । ततो ^रगोष्ठवृष्टादीनामपि तत्त्रोग्यं पूजनं कृत्वा गोपालकुमारैः सह कृष्णं भोजयित्वा स्वयं च मुक्त्वा माता पिता च ³विकुर्वाणौ ^४पुरं प्रविविद्यातुः । कदाचिन्महावर्षपाते जाते गोवर्धनाल्य-पर्वतमृद्घृत्य हर्रिगवामावरणं चकार । तेन ज्योत्स्नेव तत्कोतिरझिलं जगत् भ्याप्नोति स्म शत्रुमुसकमलसंकोचकारिणी । तन्नगरस्थापनाहेतुभूतजिनाल्ल्यसमीपे

लगा मानों वह कृष्णका अभिषेक ही कर रही हो ! यह देख बुद्धिमान बलदेव ने मन्त्र भेदके भय से 'उपवास के कारण थक कर माता मूच्छित हुआ चाहती है' यह कहते हुए घड़े भर दूष से उसका अभिषेक कर दिया अर्थात् उस पर घड़ा भर दूध उड़ेल दिया। तदनन्तर गोकुल के वृक्ष आदि का भी यथा-योग्य पूजन कर माता-पिता ने गोपाल कुमारों के साथ कृष्ण को भोजन कराया और स्वयं भी भोजन कर हर्षित होते हुए नगर में प्रवेश किया।

किसी समय जोर की वर्षा हुई, उस समय श्री कृष्णने गोवर्धन नामक पर्वत को उठा कर गायोंको छाया की । इस घटना से शत्रु के मुख कमल को संकुचित करने वाली चौदनी के समान उनकी कीर्ति समस्त जगत् में फैल गई। उस नगर की स्थापना के हैतुमूत जिनालय के समीप पूर्व दिशा में एक देवता के गृह में श्रीकृष्ण के पुण्यातिशयसे नागशय्या, धनुष बौर शङ्ख्य ये तीन रत्न प्रकट हो गये, जो कि देवताओं के द्वारा रक्षित ये तथा नारायण की होनहार लक्ष्मी को सूचित करने वाले थे। उन्हें देख कसने मयभीत हो वरुणसे पूछा कि इनकी उत्पत्तिका क्या फल है ? वरुण ने कहा--हे राजन् ! इन तीन रत्नों को शास्त्रोक्त विधिसे जो सिद्ध कर लेता है वह चक्रवर्ती होगा। यह सुन कंस स्वयं ही उन तीनों रत्नों को

४. प्रतिसंसतुः क० । प्रविशतुः स् ।

१. संन्मानानन्तर क० ।

२. ৰুবা০ জ্।

३. हर्षमाणौ ।

पूर्वदिशि द्वेवतागृहे हरिपुण्यातिरेकात् नागशय्या धनुः शंखरुष त्रीणि रत्नानि देवतारक्षितानि नारायणस्य भविष्यल्लक्ष्मीसूषकानि समुत्पन्नानि । तानि दृष्ट्वा कंसो वरुणं सभयः पप्रच्छे----एतेषां प्रादुप्रूतः कि फल्लमिति । स प्राह---हे राजन् ! एतानि त्रीणि रत्नानि शास्त्रोक्त वधिना यः साधयति स चक्रवर्ती भवि-ध्वतीति । तत्श्रुत्वा कंसः स्वयं तत्त्रितयं साषयितुमिच्छुरपि साधयितुमशक्तो मनाक् खिल्नः साधनादिरराम । उक्तवाश्च यो नागशय्यामारुह्यं केन छस्तेन शंखं पूरयति द्वितीयेन करेण धनुरारोपयति युगपत्कार्यंत्रयं करोति तस्मं निजपुत्री दात्यामीति स्वधत्रुं परिज्ञातुं साशंकः पुरे घोषणामचीकरत् । तदातौ श्रुत्वा सर्वे राजान आगताः । राजगृहात् कंसश्यालकः स्वर्भानुनामा भानुनामानं स्वपुत्रं भानुसदृक्षमादायाजगाम । निवेशं चिकीषुं गॉदावनसमीपे महासपनिवाससरोवरतटे

सिद्ध करने की इच्छा करने लगा परन्तु सिद्ध करने में समर्थ नहीं हो सका, अतः कुछ खेदखिन्न हो चुप हो रहा । उसने कहा कि जो नागशय्या पर चढ़कर एक हाथ से शङ्ख को पूरेगा और दूसरे हाथ से घनुष को चढ़ावेगा अर्थात् तीनों काम एक साथ करेगा उसके लिये मैं अपनी पुत्री दूँगा। इस प्रकार आशङ्का से युक्त कंस ने अपने शत्रु का पता चलाने के लिये नगर में घोषणा कराई । इस बात को सुनकर सब राजा वहाँ मा पहुँचे। राजगृह से कंस का साला स्वर्भानु, सूर्य के समान अपने भानु नामक पुत्रको लेकर आ गया । आते समय वह गोदावन (गोकूल) के समीप महासर्प निवास (जिसमें बड़े बड़े सौंपों का निवास या) सरोवर के तट पर अपना पड़ाव डालना चाहता था। उसने गोपाल कुमारों से सुना कि कृष्ण के बिनाओं र कोई इस सरोवर से जल नहीं ला सकतो जतः उसने श्रीकृष्ण को बुलवाकर ययास्थान पर अपना पड़ाव डाला। कृष्ण ने कहा---राजन् ! आप कहाँ जा रहे हैं ? उत्तर में स्वर्भानुने श्रीकृष्णको अपना मधुरा जाने का प्रयोजन बतलाया। कृष्ण ने फिर कहा---राजन् ! यह कार्यं क्या हमारे-जैसे लोगोंके द्वारा भो किया जा सकता है ? यह सुनकर स्वर्भानू विचार करने लगा कि यह केवल बालक ही नहीं है, सातिशय पुण्यात्मा भी है । कृष्ण से उसने कहा कि यदि तुम उस कार्य के करने में समर्थ हो तो आओ । इस प्रकार सुभानु जिसकां दूसरा नाम था ऐसा स्वर्भानु कृष्ण को अपने पुत्र के समान साय छेकर मथुरा पहुँचा। वहाँ जाकर उसने कस के यथा योग्य दर्शन किये। उस कार्य के करने में जिसका मान खण्डित हो चुका या ऐसे बहुत से

-4. ¥₹]

तिवासं कर्तु मना गोपालकुमारेम्यः श्रुत्वा कृष्णं विनाऽस्य सरसो जलमानेतुं परैनं शक्यमिति तमाहूय ययास्थानं स्कन्धावारं निवेशयामास । कृष्ण उवाच--राजन् ! त्यम कुत्र गम्यते इति । स्वर्भानुमंधुरागमनप्रयोजनं तस्योक्तवान् । कृष्ण उवाच-राजन् ! एतत्कमं किमस्मद्विधैरपि कर्तुं भवेत् तत्प्र्युत्वा स्वर्मानुष्टिचन्तयामास असौ शिशुः पुण्याधिकः केवलो न वर्तते इति । तस्य कर्मणः शक्तिरुच्चेदागच्छेति निज-युत्रमित तं गृहीत्वा सुभान्वपरनामा स्वर्भानुर्मधुरां जगाम । ययाहं कसं ददर्श तत्कर्मकरणे बहून् भन्नमानान् दृष्ट्वा कृष्णः स्वर्भानुसुतं मानुं समीपगं कृत्वा कर्मत्रय समकालं चकार ! ततः सुभानुना दिष्टणदिष्टः कृष्णो गोष्ठं जगाम । कैष्टिनत्पुरुषैः कंसो मणितः ''तत्कमं भानुना कृत्तं'' । कैष्टिचत्तद्वक्षकैरुक्तं ''न भानुना तत्कर्म कृतं अन्येन भिल्लेन कुमारेमेति'' । तत्श्रुत्वा कंसः प्राह-सोप्र्याञ्च्यानीयतां तस्मै कन्या प्रदीयते इति । स कस्य, किं कुल, कस्मिन्तिति । तावन्नन्दगोपेन सम्यग्विद्यातं अनेन मत्युत्रेण तत्कर्मं सम्यक्कुतमिति भीत्वा गोमण्डलं नोत्या पलायांबमू वे शिलास्तंममुद्धतुं तत्र सर्वे जनाः प्राप्तास्ते नाहाकनुवन् । कृष्णेन केवलेनैव समुद्धृतः । तत्साहतात् सर्वे जना विस्मित्य अहयुः । पराघ्यांशुका-भरणादिदानेन पूज्यामासुः । नन्दगोपस्तु ममास्थ ^२पुत्रस्वप्रमावेण कृत्वोऽपि भयं

राजाओं को देख कृष्ण ने. स्वर्भानु के पुत्र भानुको अपने पास ही खड़ा कर उक्त तीनों कार्य एक साथ सम्पन्न कर दिये । तदनन्तर सुभानु का आदेश पा कर कृष्ण उसी समय गोष्ठ-गोकुल चले गये ।

ध्धर कितने ही पुरुषोंने कस से कहा कि यह कार्य मानु, ले किया है और उसके कितने ही रक्षकों ने कहा कि भानु ने वह काम नहीं किया है किन्तु किसो अन्य मल्ल कुमार ने किया है । यह सुनकर कंसने कहा कि उस दूसरे कुमार को खोजकर लाया जाय, उसके लिये यह कन्या दी जाती है । वह किसका लड़का मा, उसका क्या कुल है और कहां रहता है ? इसका पता लगाया जाय । जब नन्दगोप को अच्छी तरह मालूम हो गया कि वह कार्य मेरे इस पुत्र ने ही किया है तो भय से वह अपने गोमण्डल को लेकर भाग गया । गोकुल में एक पत्थर का बड़ा भारी सम्भा लगा था उसे उसाइनेके लिये लोग पहुँचे प्रत्तु समर्थ न हो सके परन्तु कृष्णने उसे अकेले हो उसाड़ दिया । कृष्णके इस साहस्से सब स्रोग विस्मय करते हुए इर्षित हो उठे । उन्होंने श्रेष्ठ वस्त्रआभूषण

- १. मल्लेन, य प्रतौ नास्ति ।
- २. पुत्रप्रसंति म० ।

नास्तीति प्राक्तनमेव स्थानं गोकुलं निनाय । अन्वेषकैस्तु नन्दगोपसुतेनैतत्कमं कृतमिति राज्ञे निवेधते स्म । तथापि तदनिश्चये सहस्रवलं कमलमहोशरक्षितं प्रेष्यतामिति राज्ञा नन्दगोप आज्ञापितः शत्रोजिज्ञासया तत्श्र ला नन्दगोपः शोका-दाकुलो बमूव "राजानः किल प्रजानां पालका भवन्ति रूख्मेतत् तेऽद्य मारकाः संजाता इति ।'' निविध पुत्र ! त्वं याहि राजविष्टिरोदृशी वर्तते इति । त्वयैवो-यसपरक्षितानि कमलानि राज्ञः प्रदातव्यानीति जगाद । कृष्णः प्राह—कोऽपि पदार्थाः कि दुष्करो मम वर्तते इत्यपूर्वतेजा नागसरो जगाम । त्वरितं तत्र निःशंकं प्रविवेधे च । तं ज्ञात्वा कोपेन वेपमानो लेलिहानः स्वःनिक्वाससमुद्भू ज्वलज्ज्वा-लाकणान् किरन् फणारत्तप्रमाभासिफणाप्रकटाटोपभयानकः प्रवलद्ररसनायुगलो

देकर कृष्णका सन्मान किया। नन्दगोप ने विचार किया कि मुझे इस पुत्र के प्रभाव से किसी से भय नहीं है यह सोच कर वह अपने गोमण्डल को पूर्वस्थान पर ही ले आया। यद्यपि सोज करने वालों ने राजा से कहा था कि यह कार्य नन्दगोप के पुत्र ने किया है तथापि उसका पूर्ण निश्चय नहीं हो सका अतः राजा ने शत्रु को जानते की इच्छा से नन्दगोप को आज्ञा मेजी कि तुम नागेन्द्र के द्वारा रक्षित सहस्र दल कमल मेजी। यह आज्ञा सुनकर नन्दगोप शोकसे आकुल हो गया। वह कहने लगा कि राजा तो प्रजा के रक्षक होते हैं परन्तु सेद है कि वे आज मारने वाले हो गये। बड़ी उदासीनता के साथ नन्द ने कृष्ण से कहा---पुत्र ! तुम जालो राजा की लाजा ऐसी है मयंकर सर्पों से रक्षित कमल तुम्हारे द्वारा ही राजा के लिये दिये जाना चाहिये। कृष्ण ने कहा-मेरे लिये क्या कोई भी पदार्थ दूष्कर है ? इस प्रकार कह कर अपूर्व तेज से युक्त कृष्ण नाग सरोवर की ओर चल पड़ा और शीघ्र ही निःशङ्क होकर उसमें जा घुसा। यह जानकर जो कोड से कांप रहा था अपनो व्वास के साथ निकली हुई देदीप्यमान ज्वालाओं के कणों को सब ओर बिखेर रहा था, फणा पर स्थित रत्न की कान्ति से सुशोभित फणा के प्रकट विस्तार से जो अत्यन्त भयानक था, जिसकी दों जिह्वाएँ लपलपा रही थीं, खुले हुए नेत्रों से जो अत्यन्त भयंकर दिख रहा था, तथा यभराज के समान जिसका आकार था ऐसा नागेन्द्र कृष्ण को निगलने के लिये उद्यत हुआ। परन्तु कृष्ण यह मेरा वस्त्र है इसके पछाड़ने के लिये यह खासो अच्छी शिला है, ऐसा कह अपना गीला पीताम्बर खोलकर फणा पर

१. आज्ञा (क.टि) वेगार इति ।

विस्कृरदीक्षणाऽस्युग्नवीक्षणः अत्युत्थाय इतान्ताकारस्तं निगरितुमुखतः । इष्णस्तु मम वसनमिक्ष्मस्य ताडने शुद्धशिळा भवत्विति जछाद्रं पीतवस्त्रं मुक्त्वा फटायां तं निष्ठुरं ताडयामास । तस्माद्धस्वपाताद्वज्ञपातादपि दुर्धरात् पूर्वपुष्पोदयाज्व भीतः कार्क्र्यारिः फणीन्द्रोऽदृष्यतां जयाम् । हरियंथेष्टं कमछानि गृहीत्वा शत्रोः समीपं प्राप्यामास । तानि दृष्ट्वा कंसो निजशत्रुं दृष्टवानिव नन्दगोपसमीपे मम शत्रुवंतंते इति निष्टिकाय । एकदा नन्दगोपालमादिष्टवान् मत्ल्युद्धमीक्षिसुं निजमल्लैः सहाऽप्राच्छेरिति । स च तत्सन्देशं श्रुत्वा कृष्णादिभिर्मल्लैः सह प्रविवेश । तत्र मत्त-पणं वीतवन्धनं इतान्ताकारं भदयन्धाकृष्टरवद्श्रमरसेवितं नियमच्युतराजकुमारवत् निरंकुशं दन्तमुद्धलाघातनिभिन्नसुधामन्दिरम् धावन्तं विल्ठोक्य कष्टिचत् संमुखं प्रढौक्य दसमेकमुत्पाट्य तेनैव तं ताडयामास । गजोऽपि भीतो दूरं जगाम । तद्दृष्ट्वा हरिभूं शं तुष्टः सन्नुवाच---अनेन निमित्तेन कुटुम्बप्रकृटीइन्तो जयोऽस्माकं भविष्य-सीति गोपान् समुरसाह्य कंससंसदं विवेश । वसुदेवोऽपि राजा कंसाभिप्राय विदित्या विबसेनां सन्नाह्यां कत्र स्थितः बलभद्रोऽपि कृष्णेन सह रंगं प्रविष्ट इव दोदण्डा-स्मलमघ्यनि इत्वा समन्तात् परिभ्रमत् कंसविनाशेऽद्य तव समय इति समाख्य य मित्रामा । तदा कंसादेशेन विष्णुविधेया गोपकुमाराः प्रदर्यवन्तः मुजानास्फाल्य

उसे बड़ी निष्ठुरता से पछाड़ने लगे। उनके उस पीताम्बर से जो कि बज्रपात से भी कहीं दुर्धर था तथा पूर्व पुण्य के उदय से भयभीत हुआ कालिया नाग नामक नागेन्द्र अदृश्यता को प्राप्त हो गया। कृष्ण ने इच्छानुसार कमल लाकर शत्रु के पास पहुँचा दिये। उन्हें देख कस को ऐसा लगा मानो मैं अपना शत्रु ही देख रहा हूँ। उसने निझ्चय कर लिया कि मेरा शत्रु नन्दगोप के समीप है।

एक दिन कंस ने नन्दगोभ को आदेश दिया कि तुम अपने मल्लों के साथ मल्ल युद्ध देखने के लिये आओ । नन्दगोभ उस संदेश को सुनकर इष्ण आदि मल्लों के साथ प्रविष्ट हुआ । उसी समय एक मदोन्मत्त हाथी बिसने बन्धन तोड़ दिया था, जिसका आकार यमराज के समान था, मद को गन्ध से खिचे एवं गुनगुनाते अमर जिसकी सेवा कर रहे थे, जो नियम से च्युत राजकुमार के समान निरकुंश था और दन्त रूपी मुशलों के आधात से जिसने बड़े-बड़े मकान गिरा दिये थे, सामने से दौड़ता चला आ रहा था, उसे देख किसी ने सामने जाकर उसका एक दौत उसाड़ लिया और उसी दौत से उसे पीटना शुरू कर दिया

१. मन्द म० ।

गृहीतमल्लपरिष्ठवाः कर्णानन्दकारिवाविषद्धः व्यनिभिरेकत्रीभूत्या [य] परणोत्सोपविनिक्षेपाः प्रोन्नतभुजद्वयोत्कष्टाः पर्याकर्माततप्रेषणीयध्रू भगभया-नकशब्दानिवर्तनशतावतंनसंघ्रमणवल्गनपत्थनसमवस्वानैरस्य स्फुटैः करणैः रंग-समीपमलंकृत्य नयनमनोहरास्तस्यिवांसः । कंसमरूछाइच प्रोद्वृत्ताध्याणूरप्रमुखा विक्रमैकरसा रंगाम्यर्णं समाक्रम्य स्थितवन्तः विष्णुध्ध रंगस्य मध्ये समुदात्तमनाः प्रसरो वीर उष्ठमल्लप्रणीः प्रतिमल्लयुद्धविजयं प्रागेव प्राप्त इव दीप्ततेजा ⁹देवोऽवतीर्णोऽधुना मल्लत्वं प्राप्तो भास्वानिव अहं जेध्यामीति प्रवृद्धपराक्रमैकरसः ³स्वयं संभावयन् निविद्यरिगृहीतपरिधानः ³प्रबद्धकोशः स्वभावेन मसूणाङ्गो विकूर्वविष्यसंवृत्तिवित्तोऽप्रतिमल्लै ^४गोपमल्लै निरन्तराम्यस्तनियुद्धत्वाद-विकल-

जिससे भयमीत होकर हाथी दूर माग गया। यह देख कृष्ण बहुत संतुष्ट होते हुए बोले कि इस निमित्त से कुटुम्ब को प्रकट करने वाली हमारी जीत होगी। इस प्रकार गोपों को उत्साहित कर कृष्ण ने कस को सभा में प्रवेश किया। राजा वसुदेव भी कंस का अभिप्राय जानकर अपनी सेना को तैयार किये हुए एक ओर बैठे थे। बलभद्र भी कृष्ण के साथ रङ्गमूमि (असाड़े) में प्रविष्ट हुए की तरह मुजदण्ड के आस्फालन का शब्द कर सब ओर घूमने लगे और धोरे से 'आज तुम्हारा कंस को मारनेका समय है' यह कह कर बाहर निकल गये। उस समय कंस की आज्ञा से कृष्णके आज्ञाकारी गोपकुमार रङ्गमूमिके समीप हो बैठे थे। वे गोपकुमार गर्व से भरे थे, भुजाओंका आस्फालन कर मल्ल का वेध धारण कियेँ थे । कानोंको आनन्द देने वाली बाजों की चञ्चल घ्वनि से एकत्रित होकर पैरोंको ऊपर उठाते और नीचे पटकते थे, ऊपर उठी हुई दोनों भुजाओंसे भयंकर दिखाई देते थे, क्रमसे नचाई गई देखने योग्य भौहों के भेज्ज से भयानक हो रहे थे तया शब्दोंके अनिवर्तन, शतावर्तन, संभ्रमण, बलान, प्लवन समवस्थान तथा अन्य-अन्य प्रकारके आसनोंसे रज्जभूमि के समीपवर्ती प्रदेश को अलंकृत कर रहे थे एवं नेत्र और मनको हरने वाले थे। पूरे ऊँचे तथा पराक्रम से परिपूर्णं चाणूर आदि कंस के मल्ल भी रङ्गभूमिके निकट अधिकार कर जमे हुए थे।

- **१**. देवोद्रवत्तीर्ण म० ।
- रे. सुष्ठु अयः स्वयः तम् ।
- प्रवद्धकोचः म० प्रवृद्धकोधः क० ।
- ४. व प्रती गोपवल्हैः नास्ति ।

मावप्रामृतम्

सम्बजयलाभः सर्वेरपि संभावितोत्साहः स्थिरतरपादनिवेशो वष्ठसारास्थिवन्धो भुजागंलापरविवाधी मुच्टिसंमायिमध्यप्रदेशः इतानेककरणसमूहो लघुसंचरंग-प्रकीणोर्ज्रतकठिनविस्तीणंवकाःस्थलो बृहन्गीलपवंतोतुङ्गो दर्पप्रवृद्धित्रिगुणितनिज-भूतिव्वंलितबस्तितनेत्रत्व दर्दुनिरोक्ष्यसांमुक्योऽतिशयेनाशनिपातवदुयो नन्दनन्दनः स्वितः सन् यमस्याप्युच्चैभयमसहनीयमुत्पादयन् वरमसिलं शौर्यं मूर्तिमन्मिलितमिव समस्तं रहो मनुष्याकारमागतमिव सिंहाकारः सहसाकृतसिहध्वनिः रंगादंगणमिव नभोङ्गणमलंषत पुनराकाशादकनिवदवनिमापत्थ आत्मपादपाताभिषात्तचलिताचल-समिवन्यो मुहूर्वल्गन् परिसरंश्च प्रतिजृभमाणसिदूररंजितभुजदण्डौ समुदयौ कुद्धः

इधर जिनके मनका प्रसार बहुत भारी था, जो वोर थे, बड़े-बड़े मल्लों में बग्ने सर थे, जो प्रतिद्वन्द्वी मल्लसे युद्धमें विजय को पहले ही प्राप्त हुए के समान देदीप्यमान तेजसे युक्त हो रहे थे तथा ऐसे जान पड़ते थे मानों बाकाश से उतर कर सूर्य ही मल्लपनेको प्राप्त हुआ हो 'मैं जीतू गा' इस भावना से जिनका पराकम-सम्बन्धी अद्वितीय उत्साह खूब वृद्धि को प्राप्त हो रहा था, जो उत्तम भाग्य की सराहना कर रहे थे, जिन्होंने बस्य को बच्छा कसकर पहिना था, बालोंको अच्छी तरह बाँध रक्खा था, जिनका घरीर स्वभाव से ही चिकना था, जो दाढ़ी-मूँछ से रहित थे, जिनको चित्त-वृत्ति अत्यन्त प्रसिद्ध थी, अद्वितीय गोपमल्लों के साथ बाहु-युद का निरन्तर अभ्यास करनेके कारण जिन्हें पूर्ण विजय प्राप्त होने बाली थो, सभी लोग जिनके उत्साह को सराहना करते थे, जिनके पैर बड़ी मजबूती के साथ रखे जाते थे, बिनकी हडि्डयों का बन्धन वज्यके समान सुदुढ़ था, जो अपने बाहुरूपी अर्गलाके द्वारा दूसरों को बाधा कुंचाते थे, जिनकी कमर मुष्टिमेय अर्थात् अत्यन्त पतली थी, जो अनेक बासनों के समूह को करने वाले थे, जो बड़ी तेजी के साथ रञ्जभूमि के सब झोर संचार करने में प्रवीण थे, जिनका वक्षास्थल अत्यन्त कठोर बौर चौड़ा था, जो बड़े भारी नोल पर्वंत के समान ऊँचे थे, गर्व की वृद्धिसे जिनका शरीर तिगुना सा जान पड़ता था, देदीप्यमान सबल नेत्रोसे सहित होनेके कारण जिनके सामनें देखना भी कठिन था, और जो बज्जपात के समान अत्यन्त उग्न थे ऐसे नन्दपुत्र श्रीकृष्ण रङ्गभूमिके मघ्यमें खड़े हुए। उस समय वे यमराजको भो बहुत भारी असहनीय भय उत्पन्न कर रहे थे। ऐसा जान पड़ता था मानों समस्त उत्कृष्ट शूरवीरता हो मूर्ति-धारी होकर इकट्ठी आ मिली हो, अथवा समस्त वेग ही मनुष्य के वाकार को प्राप्त हुआ हो, वे सिंह के आकार वे और सिंह के समान

प्रवलयन् श्रोणिदितयभागविलंबिपीतवस्त्रो नियुद्धकुशलं पर्वतशिक्षरोन्नतं प्रतिमल्लं चाणूरमाहत्य सहसा सिंहवदावभासे । तं दृष्ट्वा रुघिरोद् मोग्रलोचनः कसः स्वयं मल्लतां प्राप्यागच्छति स्म । तमुग्रसेनतनयं जन्मान्तरद्वेषात् करेण चरणे संगृह्या-काशे भ्रामयन्नल्पाण्डमिव यमराबस्य समीप उपायनीकृतुं मिव स कृष्णो भूमावा-स्फालयामास । तदा कृष्णमस्तके व्याग्नः कुसुमानि प्रपेतुः देवदुंदुभयो ध्वनि चकुः । वसुदेवसेनासमुद्रे प्रक्षोभणात् कोलाहलध्वनिरुत्तस्य । मुझालीवीरवरो विरुद्ध-नृपतीनाक्रम्य रंगे स्थितः । स्वानुत्रं स्वीकृत्य ौगजितं चकार । विष्णुस्त्रिसण्ड-लक्ष्म्या कटाक्षितः ।

इति श्रीभावप्राभृते द्रव्यलिंगिनो वशिष्ठमुनेः कथा ^२परिसमाप्ता ।

गर्जना कर रङ्गभूमि से आकाश में ऐसे उछले मानों घरके अङ्गण में ही जा पहुँचे हों। पुनः आकाश से वज्जके समान पृथिवी पर आ पड़े। उस समय उन्होंने पृथिवी पर पैर इतने जोरसे पटके कि उनके आघात से पर्वतोंके सन्धि बन्धन भी विचलित हो गये। वे बार-बार उछलते थे, रङ्ग-भूमि में चारों ओर चक्कर लगाते थे, बढ़ते हुए सिन्दूर से रॅंगे दोनों भुज-दण्डों को क्रोध-पूर्वक घुमाते थे, तथा उनको कमर को दोनों ओर पीता-म्बर लटक रहा था। वे देखते-देखते बाहुयुद्धमें कुशल तथा पर्वतके शिखर के समान ऊँचे प्रतिद्वन्द्वी चाणुर मल्लको मार कर सिंहके समान सुशोभित होने लगे। चाणर को मरा देख रुधिर के निकलने से भयकर नेत्रोंको धारण करनेवाला कंस स्वयं मल्ल बनकर आया । कृष्ण ने जन्मान्तर के अण्डेके समान आकाश में घुमा दिया और यमराज के भेंट भेजने के लिये ही मानों उन्होंने उसे पृथिवों पर पछाड़ दिया । उस समय कृष्ण के मस्तक पर आकाश से पुष्प बरसे और देव दुन्दुभियोंने शब्द किये। वसुदेव को सेनारूपी समुद्र में क्षोभके कारण कोलाहल का शब्द उठा । वीरशिरोमणि बलदेव भी विरुद्ध राज।ओं पर आक्रमण कर मैदान में खड़े हो गये। बलदेव ने अपने छोटे भाई को स्वोकार कर गर्जना की अर्थात् सबके सामने परिचय देते हुए प्रकट किया कि कृष्ण हमारा छोटा भाई है। तीन खण्ड की लक्ष्मी ने श्रीकृष्ण की ओर कटाक्षपात किया।

इस प्रकार भावप्राभृतमें द्रव्यलिङ्गी वशिष्ठमुनिकी कथा समाप्त हुई ।

- १. गर्ज कण् ।
- २. परिसंपूर्णा क०।

सो णत्थि तं पएसो चउरासीलक्खजोणिवासम्मि । भावविरओ वि सवणो जत्य ण ढुरुढुल्लिओ जीव ॥४७॥

स नास्ति त्वं प्रदेशः चतुरशीतिलक्षयोनिवासे ।

भावविरतोऽपि श्रमणो यत्र न भ्रान्तः जीव ॥४७॥ पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते। हे जीव ! हे चेतनस्वरूपात्मन् ! (बत्व) यत्र प्रदेशे। (तं) त्वं भवान् । (ण ढुरुढुल्ळिजो) न भ्रान्तः स प्रदेशः संसारे नास्ति । कस्मिन्, (चडरासोलक्खजोणिवासम्मि) चतुरशीतिल-क्षयोनिवासे स्थाने । कयंभूतस्त्वं, (भावविरको वि समणो) श्रमणो दिगम्बरो-अप सन् भावविरतो जिनसम्यक्त्वरहितः । उक्तं च ैगुम्मटसारग्रन्थे नेमिचन्द्रेण गणिना---

णिच्चिदरघादु सत्तय तरु दस वियलिदिएसु छच्चेव ।

सुरनरयतिरियचदुरो चउदस मणुए सदसहस्सा ॥१॥

अस्था अयमर्थः—-नित्पनिकोतजीवानां सप्तलक्षा जातयः ७००००० । इतर-तिगोदजीवानां जातयः सप्तलक्षाः ७००००० । षातूनां पृथिवीकायजीवानां अप्कायजीवानां तेजःकायजीवानां वायुकायजीवानां जातयः चतुणौ प्रत्येकं सप्त-लक्षाः । पृथ्वी ७००००० । अप ७००००० । तेजः ७००००० । वायु ७००००० । तरु दह---वनस्पतिकायजीवानां जातयो दशलक्षा १०००००० । वियलिदिएसु छच्चेव--द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियजीवानां जातयः समुदायेन षड्लक्षाः । द्वीन्द्रिय

गायार्थ—हे जोव ! चौरासी लाख योनियों के निवास में वह प्रदेश नहीं है जहाँ तू भावरहित साघु होकर न घूमा हो ॥४७॥

विशेषार्थ- हे चेतन स्वरूप आत्मन् ! यह संसार चौरासी लाख योनियोंना निवास स्थान है । इतने बड़े संसार में ऐसा एक भी प्रदेश नहीं है जहाँ तू भाव-रहित-जिन सम्यक्त्व से रहित दिगम्बर साघु होकर भो नहीं घूमा हो । भावरहित दिगम्बर मुद्रा संसार से पार करने वाली नहीं है । चौरासी लाख योनियों का वर्णन करते हुए नेमिचन्द्र आचार्य ने गोम्मटसार ग्रन्थ में कहा है-

णिष्मित्रवर—इस गाथाका अर्थ यह है—नित्यनिगोद जीवोंकी सात लाख, इतर निगोद जोवोंकी सात लाख, घातु अर्थात् पृथिवी कायिक, जलकायिक, अग्निकायिक और वायू कायिक जीवों में प्रत्येक सात सात लाख, वनस्पति कायिक जीवोंकी दश लाख, विकलेन्द्रिय अर्थात् द्वीन्द्रिय,

१. गोम्मटसार इति प्रपलितं नाम ।

भावेण होइ लिंगी ण हु लिंगी होइ वस्वभित्तेण । तम्हा कुणिज्ज भावं कि कोरइ वर्ख्वलिंगेण ॥४८॥ भावेन भवति लिङ्गो न हु भवति द्रव्यमात्रेण ।

तस्मात् कुर्याः भावं कि क्रियते द्रव्यलिंगेन ॥४८॥॥

(भावेण होइ लिंगी) भावेन निदानादिरहिततया जिनसम्यक्त्वसहिततया लिंगी सन् लिंगी भवति निदानादिसहितो जिनसम्यक्त्वरहितो लिंगी मुनिलिंगी जिनलिंगी सत्यलिंगी न भवति । (ण हु लिंगी होइ दव्यमित्तेण) न हुन्स्फुटं-लिंगी सन्तपि लिंगी न भवति द्रव्यमात्रेण शिरोलोचमयूरपिच्छकमण्डछुग्रहणवस्त्र-त्यजनमात्रेण लिंगी सन्नपि लिंगी न भवति पुनः संसारपतनहेतुत्वात् । (तम्हा कुणिज्ज भावं) तस्मात्कारणात् कुर्यास्त्वं । कं भावं --जिनसम्यक्त्वनिर्मल्परि-णामं । (किं कोरइ दव्यलिंगेण) पूर्वोक्तद्रव्यलिंगेन किं क्रियते न किमपि मोक्षसुर्ख क्रियत इति भावः ।

त्रोन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवोंकी सबकी मिलाकर छह लाख देव नार-कियों और तिर्यञ्चोंकी चार चार लाख तथा मनुष्यों को चौदह लास इस तरह सब मिलाकर चौरासी लाख योनियाँ हैं॥४७॥

गाथार्थ---मनुष्य भावसे ही लिङ्गका धारक मुनि होता है द्रव्य मात्रसे लिङ्गी-मुनि नहीं होता अतः भावको प्राप्त करना चाहिये मात्र द्रव्य लिङ्गसे क्या किया जा सकता है ?

विशेषार्थ—भाव अर्थात् निदान आदिसे रहित तथा जिन सम्यक्त से सहित होनेके कारण हो यह मनुष्य लिङ्गी अर्थात् साधु होता है जिन सम्यक्त्व से रहित मुनि, मुनिलिङ्गी, जिनलिङ्गी अर्थात् साधु होता है जिन सम्यक्त्व से रहित मुनि, मुनिलिङ्गी, जिनलिङ्गी अर्थवा सत्यलिङ्गी नहीं होता । द्रव्य मात्र अर्थात् केशलोंच, मयूर पिच्छ और कमण्डलु का ग्रहण त था वस्त्र के त्याग रूप बाह्यवेष से मुनि होता हुआ भी पारमार्थिक मुनि नहीं होता क्योंकि मावके बिना मात्र द्रव्य वेष संसार पतन का हेतु है । इस कारण हे आत्मन ! तू मावको कर बर्यात् जिन सम्यक्त्व से निर्मल परि-णाम को प्राप्त कर । मात्र द्रव्यलिङ्ग से क्या किया जाता है अर्थात् कुछ भो मोझ सूख नहीं किया जाता ॥४८।।

वंडयणयरं सयलं डहिउं अब्भंतरेण दोसेण । जिर्णालगेण वि बाहू पडिओ सो रउरवं नरयं ॥४९॥

दण्डकनगरं सकलं दग्धवा अभ्यन्तरेण दोषेण । जिनलिंगेनापि बाहः पतितः स रोरवं नरकम् ॥४९॥

(दंडयणयरं सयलं) दण्डकस्य राज्ञो नगरं सकलं। (डहिउं अब्भंतरेण दोसेण) दण्ध्वा अभ्यन्तरेण दोषेण क्रोधेन इत्ला। (जिणलिंगेण वि बाहू) जिन-लिंगेनापि जिनलिंगसहितोऽपि बाहुर्नाममुनिः। (पडिओ सो रउरवं नरयं) पतितो गतः रौरवं नाम नरकं। अस्य कथा-दक्षिणापथे अरतदेशे कुम्भकारकटनगरे दण्डको नाम राजा। तन्महादेवी सुव्रता। बालको नाम मंत्री। तत्र अभिनन्दनादयः पंच-वातमुमयः समागताः। खण्डकेन मुनिना बालको मंत्री वादे जितः। ततो रुध्टेन तेन भंडो मुनिरूपं कारयित्वा सुव्रतया समं रममाणो दर्शिनः। भणितं च तेन देव।

गाथार्थ—बाहु मुनि जिन लिङ्ग से सहित होने पर भी क्रोध कषाय रूप आभ्यन्तर दोष से राजा दण्डक के समस्त नगरको भस्म कर स्वयं रौरव नामक नरक में पडा ॥४१॥

विशेषार्थ---मात्र खाह्य लिङ्ग मनुष्य का कुछ उपकार नहीं कर सकता इसके समर्थन के लिये यहां बाहु मुनिका दृष्टान्त दिया गया है। यद्यपि वे बाह्य में जिनलिङ्ग से सहित थे, दिगम्बर मुद्राके धारी थे तथापि अन्तरङ्ग में क्रोध कषाय की प्रबलता हो जाने के कारण उनका मावलिङ्ग नष्ट हो गया, मात्र द्रव्य-लिङ्ग रह गया। उसी समय राजा दण्डक के समस्त नगरको भस्मकर वे रौरव नरक में जा पड़े----इनकी कथा इस प्रकार है---

बाहु मुनिकी कथा

दक्षिणापथके भरत देशमें एक कुम्मकारकट नामक नगर था उसमें दण्डक नाम का राजा रहता था। उसकी स्त्रीका नाम सुव्रता था और मन्त्रीका नाम बालक था। वहाँ एक बार अभिनन्दन आदि पाँचसौ मुनि आये। उन मुनियों में एक खण्डक नामके मुनि थे। उन्होंने बालक नामक मन्त्री को वाद में परास्त दिया। उससे रुष्ट होकर उसने एक माँडको मुनिका रूप रखा कर उसे सुव्रता रानी के साथ हँसी करते दिखाया तथा राजा से जाकर कहा कि हे देव ! आप दिगम्बर साधुओंको मक्ति करने में चूँकि बहुत प्रमुख हो इसलिये उन्हें अपनी स्त्री मी देना चाहते हो। विगम्बरेषु अक्त्यातिमुक्योऽसि येन भार्यामपि तेम्यो दातुमिच्छसि । ततो रुध्टेन राज्ञा मुनयो यंत्रे निष्पीछिताः । ते तमुपसर्गं प्राप्य परमसमाघिना सिद्धि गताः । पश्चात्तत्मगरं बाहूर्नाम मुनिरागतः । स लोकैर्वारितः । अत्र नगरे राज्ञा दुष्टो वर्तते तेन पंचशतमुनयो यन्त्रे पीडिता भवन्तमपि तथा करिष्यति । तद्वचनेन बाहू रुध्टः । तेजोऽशुभसमुद्धातेन राज्ञा मंत्रिणा च सह सर्वं नगरं भस्मीचकार । स्वयमपि मृतः । रौरवे नरके पतितं राजानं मंत्रिणं चान्वेष्टुमिव तत्र गतः । को नाम रौरवो नरक इति चेत् ? सप्तमे नरके पंच विल्जानि वर्तन्ते तेषु पूर्वदिशि रौरवः । दक्षिणेऽतिरौरवः । पश्चिमेऽसिपत्रः । उत्तरे कूटशाल्मलिः । मध्ये कुंभी-पाक इति ।

'अवरोत्ति दव्वसवणो दंसणवरणाणचरणपब्भट्ठो । दीवायणुत्ति णामो अणंतसंसारिओ जाओ ॥५०॥

अपर इति द्रव्यश्रमणो दर्शनवरज्ञानचरणप्रभ्रष्टः । द्वीपायन इति नामा अनन्तसंसारिको जातः ॥५०॥

इस घटना से रूट हुए राजा ने मब मुनियों को घानी में पिलवा दिया। वे सब मुनि उस भारी उपसगं को प्राप्त कर उत्कृष्ट समाधिसे सिद्धि को प्राप्त हुए । पश्चात् एक बाहु नामक मुनि उस नगर में आये । लोगोंने उसे रौका भो कि इस नगर में राजा दुख्ट है उसने पाँच सौ मुनियोंको घानीमें षिलवा दिया है आपको भी वैसा ही करेगा । उन लोगोंके वचन सुन कर बाहु मुनि रुट हो गये जिससे उन्होंने अशुभ तैजस समुद्घात के द्वारा राजा और मन्त्रो सहित समस्त नगर को भस्म कर डाला और स्वयं भी मर गया । मरकर वह रौरव नामक नरक में जा पड़ा मानों उस नरक में यडे हुए राजा और मन्त्रो को स्रोजनेके लिये ही वह वहां गया था ।

उत्तर—सातवें नरक में पांच बिल हैं उनमें से पूर्व दिशामें रौरव, दक्षिण दिशामें अति रौरव, पश्चिम दिशामें असिपत्र, उत्तर दिशा में कूट शात्मलि और बीच में कुम्भी पाक नामका बिल है ॥४९॥

गायार्थ—ढीपायन नामका एक दूसरा साघु भो द्रव्य अमण हुआ है जो कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्**चारित्र से भ्रष्ट होकर अनन्त** संसारी हुआ है ॥५०॥

१. अवरोवि क० ।

भावप्रामृतम्

(अवरोसि दब्वसवजो) अपर इति प्रव्यत्र मणो भावरहितो मुनिजिनवचन-प्रतीतिरहितः । (दंसणवरणाणचरणपब्भट्ठो) दर्शनेम जिनसम्यक्स्वेन वरं श्रेठ्ठ यज्ज्ञानं चरणं च चारित्रं तेम्यस्त्रिभ्याऽपि प्रऋष्टः पतितः सम्यग्दृष्टीनां मुनीनाम-पाङ्क्तेयः । (दोवायणुसि णामो) द्वीपायन इति नामा । (अणंतसंसारिओ जाबो) अनम्तसंसारिकः अनन्ते संसारे नियुक्तः नियोगवान् कर्मपरवश इत्यर्थः, जातो भवति स्म । द्वीपायनस्य कथा यथा—श्रीनेमिनाघो बलभद्रेण पृष्टः स्वा-मिन् ! इयं द्वारवती पूरी किं कालान्तरे समुद्र निमंक्ष्यति कारणान्तरेण वा विनंक्ष्यति भगवानाह—रोहिणोन्नाता द्वीपायनकुमारस्तव मातुलोऽम्याः पूर्या रुषा दाहको भविष्यति द्वादशे वर्षे मद्यहेतुस्वात् । तत्अ्रत्या द्वीपायनकुमार इदं जैन-वचनमसत्यं विकोधुं दींझा गृहीत्वा पूर्वदेशं गतः । द्वादशविधिपूरणार्थं तपः कर्तु'-मारब्धवान् । जरत्कुमारेण कृष्णमरणमाकर्ण्यं बलभद्रादयो नेमिनायं नमस्कृत्य सर्बेऽपि यादवा द्वारवतीं विविशुः । ततः कृष्णो बलभद्रश्च पुर्यां घोषणां मद्य-

विशेषार्थ-----दूसरा द्रव्य श्रमण द्वीपायन है। भाव रहित अर्थात् जिनेन्द्र भगवान् के वचनों का श्रद्धा से रहित मुनि द्रव्य श्रमण कहलाता है। वह जिन सम्यक्त्व, सम्यग्द्वान तथा सम्यक्चारित्र से पतित था अर्थात् सम्यग्दृष्टि मुनियों की -पंक्ति में बैठने के अयोग्य था और इसी कारण अनन्त संसारी हुआ था। इसको कथा इस प्रकार है----

द्वीपायन मुनि को कथा

तदनन्तर कृष्ण और बलभद्रने नगरी में मद्यनिषेध की वोषणा कर-बाई। उस बोषणा से मद्य-पायी लोगोंने पिष्ट किण्व आदि मदिरा बनानेके निवेषिणीं कारयामासतुः ततो मद्यपैमंद्याङ्गानि पिष्टकिष्वादीनि मद्यानि च कदम्बवने गिरिगह्लरे फिछामाण्डानि आस्फालितानि । सा मदिरा कदम्बवनकुण्डेषु गता । कर्मवियाकहेतुत्वेनावस्थिता । श्री नेमिनायः पत्लवदेशे गतः । जिनेन सह भव्यलोक उत्तरापथमुच्चलितः । द्वीपायनस्तु द्वाददां वर्षं आत्स्याप्रतीतं मत्वानो जिना-देशो व्यतिक्रान्त इति ध्यात्वा सम्यक्त्वहीनो द्वारवतीमागर्थ्य मिरेनिकटनगरआह्य-मार्गे आतापमयोगे स्थितः । वनक्रोडापरिधान्तास्तृष्ण्या व्याकुलीवृताः कादम्ब-कुण्डेषु जलमिति ज्ञात्वा शंभ वादयस्तां सुरां पिबन्ति स्म कदम्बवनस्थितां कदम्ब-कृत्या स्थितां विद्युष्टां कादम्बरीं पीत्वा कुमारा विकारांइच प्राप्तुः । सा पुराणापि बारणो परिपाकवशात् तरुणीवत्तरुणान् वशेऽकरोत् । ते कुमारा असंबद्धं गायन्तो नृत्यन्तइच स्खलितपादाः प्रमुक्तकुन्तलाः पुष्पकृतावतंसाः कष्ठास्तम्वित्रपुष्प्रमालाः सर्वे पुरं समा गच्छन्तः सूर्यप्रतिमास्थितं द्वीपायनमुनि दृष्ट्वा धूणंमाननयना इत्यूचुः सोऽयं द्वीपायनो यतिर्यो द्वारवतीं घक्ष्यति सोऽस्माक्मग्रतः क्व यास्यति वराक इति प्रोच्य सर्वतो लोष्ट्रिः पाषाणांश्च तावत्रप्रकान्न्यांवद् भूमौ पपात ।

साधनों को, मदिरा को तथा पत्थर को कुण्डी आदि वर्तनोंको कदम्ब वन-सम्बन्धी पर्वंत को एक गुफा में फॅक दिया। वह मदिरा कदम्बवनके कुण्डों में जा पहुँची और कर्मोदय के कारण वहां अवस्थित रही आई। श्री नेमिनाथ भगवान् का विहार पत्लव देश में हो रहा था तथा भव्य लोग जिनेन्द्रदेवके साथ उत्तरापथ की ओर चल रहे थे। इधर द्वीपायन मुनिने भ्रान्तिसे बारहवें वर्ष को पूर्ण हुआ मान यह समझ लिया कि अबतो जिनेन्द्रदेवकी आज्ञा निकल चुको है अतः सम्यक्त्व से हीन द्वीपायन द्वारिका आकर पर्वतके निकट नगर के बाहर मार्ग में आतापन योग धारण कर स्थित हो गया।

वन कोड़ा से बके तथा प्याससे पीड़ित शंभव आदि कुमारों ने कदम्बवनके कुण्डों में 'यह जल है' ऐसा जानकर उस मदिराको पी लिया। कदम्बवन में स्थित तथा इकट्ठी होकर सामूहिक रूपसे स्थित उस छोड़ी हुई मदिराको पीकर कुमार विकारको प्राप्त हो गये। यद्यपि वह मदिरा पुरानो पड़ गई थो तथापि कर्मोदयसे उसने तरुणीके समान उन तरुणोंको अपने वशमें कर लिया था। वे सब कुमार नशाके कारण असम्बद्ध गाना गा रहे थे, लड़खड़ाते पैरोंसे नाच रहे थे, उनके बाल बिखरे हुए थे, फूलों के कर्णफूल बनाकर पहने हुए थे और कण्ठ में फूलों की मालाए लटकाथे हुए थे। इस तरह सब मस्ती करते हुए नगर की ओर बा रहे थे। उसो

भावप्राभृतम्

एवं तैनिसू कैस्ताडित उत्पन्नाधिककोधो दघ्टोष्ठो यदूनां स्वतपासश्च विनाशाय प्रकुटिं चकार कुमारास्तु पुरीं प्रति गमनं चकुः कैश्चित्तद्दुराचारो विष्णोबंलस्य रुषु निवैदितः । तत्श्वत्वा द्वारवत्या प्रलयं जिनोक्तं प्राप्तं ³तदापि मेनृति परिच्छेदरहितौ मुनिसमोपं गतौ । अग्निमिव ज्वलन्तं क्रोघेन संक्लिघ्टघियं ³भूमंग-विषमवक्त्रं दनिरीक्ष्येक्षणं क्षीणकण्ठगतप्राणं विभीषणस्वरूपं दहस्रतुः इताञ्जलिपुटौ महादरात्प्रणिगत्य याचनां वन्ध्या जानन्तावपि मोहाधाचितवन्तौ । हे साघो ! चिरं परिकितस्तपोभारः क्षमामूलः क्रोधाग्निना धक्ष्यते मोक्षसाधनं परिरक्ष्यतां परिरक्ष्यतां । मूर्ढैः प्रमादबहलैंदु'विचेष्टितं भवतः कृतं तत्त्क्षम्यतां क्षम्यतां । क्रोधश्चतुर्वंगैशत्रुः, क्रोधः स्वपरनाधकः, अस्मम्धं प्रसादः कियतां मुने ! इति प्रियधादिनौ तौ पादयोर्लगित्वा प्राधितवन्तो तथापि सोऽनिवर्तकः संजातः ।

समय उनकी दृष्टि आतापन योगमें स्थित द्वीपायन मुनिकी ओर पही। नशाके कारण नेत्रों को धुमाते हुए वे कहने लगे कि यह वही द्वीपायन मुनि है जो द्वारिका को जलावेगा। अब यह दीन हमलोगों के आगेसे कहा जायगा ? इस प्रकार कहकर सब ओर से ढेले तथा पत्य रोंसे वे उसे तब तक मारते रहे जब तक पृथिवी पर न गिर पड़ा । इस प्रकार निर्दय कुमारों के द्वारा ताडित होनेसे द्वीपायन को अत्यधिक कोध उत्पन्न हो गया। ओंठ डसते हुए उसने यादवों और अपने तपके विनाश के लिये भौंह चढ़ाली । कुमार द्वारिका को ओर चल्लेगये । किन्हों लोगोंने कुमारोंके इस दुगचार को सूचना बलभद्र और कृष्णको शोध ही दी । वह सुनकर उन्होंने उसी समय मान लिया कि जिनेन्द्रदेवने जो द्वारिका का प्रलय कहा बा बह आ पहुँचा है। वे उसी समय परिकरसे रहित हो मुनिके समीप गये। उस समय द्वीपायन मुनि कोधसे अग्निके समान जल रहा था, उसकी बुद्धि अत्यन्त संक्लेश से युक्त थी, भौहों के भङ्गसे उसका मुख अत्यन्त विषम हो रहा था, उसके नेत्रोंको ओर देखना कठिन था। उसके प्राण क्षीण होकर कण्ठगत हो रहे थे तथा उसका स्वरूप अत्यन्त भयकूर था। ऐसे मुनिको बलभद और कृष्णने देखा। देखते हो उन्होंने हाथ ओड़ कर बड़े आदर से मुककर नमस्कार किया और यह जानते हुए भी कि हमारी याचुता निष्फेल होगी, मोह वंश इस प्रकार याचना को । हे साधो ! चिरकाल से

- १. निर्देयीः ।
- २. तदपि क॰ ।
- ३. जुभजु विषम म०।

सर्वप्राणिसंयुक्तदारवती दाहे पापची कृतनिक्चयः युवामेव न घक्ष्यामीत्यङ् गुलि-द्वियेन संझां चकार । अनिवर्तककोधं ज्ञात्वा विषण्णौ व्याघुट्य कि कतंव्यतामूढौ पुरीं प्रविष्टौ । तदा शंभवाद्याक्ष्वरमाङ्ग्रका यादवाः पूर्या निष्कम्य दीक्षा गृहोत्वा गिरिगुहादिषु तस्थिवांसः । द्वीपायनस्तु क्रोघज्ञत्येन मृत्वा भवनामरो बभूव । सोऽग्निकुमारनामा विमंगेन पूर्ववैरं स्मृत्वा द्वारवतीं बालवृद्धस्त्रीपश्चसमेतां विष्णु-बलौ मुक्त्वा ददाह । तौ दक्षिणापथे वनां प्रविष्टौ । तत्र विष्णुजंरत्कुमारभिल्लेन पादे वाणेन ताडितो मृतः 'तुतीय' नरक' जगाम । द्वीपायनस्तु अनन्तसंसारी बभूव ।

जिसकी आपने रक्षा की है, क्षमा ही जिसकी जड़ है तथा जो मोक्षका साधन है ऐसे तपके समुह को रक्षा को जाय। मुर्ख तथा प्रमादसे भरे कुमारों ने आपके प्रतिजो खोटो चेष्टाको है उसे क्षमा किया जाय। कोध चतुर्वर्ग का शत्रु है, क्रोध निज और पर को नष्ट करने वाला है। हे मुनि ! हम लोगोंके लिये प्रसन्नता कीजिये । इस प्रकार प्रिय वचन कहते हए कृष्ण और बलभद्रने यद्यपि उनके चरणों में लगकर प्रार्थना की तथापि वह पोछे नहीं हटा । जिसको बुद्धि पाप-पूर्ण थी तथा समस्त प्राणियों से संयुक्त द्वारिका के जलाने का जो निरचय कर चुका था ऐसे उस द्वीपायन ने दो अँगुलियां उठाकर संकेत किया कि मात्र तुम दोनोंको नहीं जलाऊँगा। 'इनका क्रोध दूर नहीं किया जा सकता' ऐसा जानकर खेद से भरे कृष्ण और बलदेव आदि किंकत्तैव्य-विमुढ़ हो लौटकर नगरी में प्रविष्ट हुए । <mark>उ</mark>सी समय शंभवकुमार आदि परम-शरीरी यादव नगर से निकल कर सवा बीक्षा लेकर पर्वत की गुफाओं आदि में स्थित हो गये ! और द्वीपायन क्रोध को शल्यसे मरकर मवन-वासी देव हुआ | वह अग्निकुमार नामका भवनवासी हुआ था। उसने विभज्ज अवधि ज्ञानके द्वारा पूर्व बैर का स्परण कर बाल वृद्ध और पशुओं से सहित द्वारिकाको भस्म कर दिया, मात्र कृष्ण और बलदेव को छोड़ा । वे दोनों द्वारिका से चलकर दक्षिणापय के वनमें प्रविष्ट हुए । सीलके वेष के धारण करने वाले जरत्कुमार ने कृष्ण के पैर में वॉर्णसे प्रहार किया जिससे मरकर वे तोसरे नरक गये और द्वीपायन अनन्त संसार का पात्र हुआ ॥५०॥

१. प्रथमं म०।

भावप्रामृतम्

भावसकणो य घीरो जुवईयणवेडि्ढओ विसुद्धमई । णामेण सिवकुमारो परित्तसंसारिओ जावो ॥५१॥

भावश्रमणक्त धोरो युवतिजनवेष्टितो विशुद्धमतिः।

नाम्ना शिवकुमारः परीतसंसारिको जातः ॥५१॥

(भाव समणो य घोरो) भावश्रमणक्त्व जिनसम्यक्त्वयासितः घीरो दृढ-सम्यक्त्व: अविषलितामल्जििमनाः । (जुवईयण वैढिओ विसुद्धभई) युवतीजन-वेष्टितः हावभावविभ्रमविलासोपेत राजकन्यात्मयुवतिसमूहपरिवृतोऽपि विशुद्धमतिः निर्मलब्रह्मच्यं निष्कलुषचित्तः । (णामेण शिवकुमारो) नाग्ना क्रत्वा शिवकुमारो नरेन्द्रपुत्रः । (परिससंसारिओ जादो) अल्पसंसारिकः परित्यक्तसंसार आसन्त-

गाथार्थं —िशवकुमार नामक भाव-श्रमण युवतिजनों से वेष्टित होने पर भी निर्मल बुद्धिका धारक धीर, संसारको पार करने दाला हुआ ॥५१॥

विशेषार्थ----जो माव श्रमण थे अर्थात् जिन-सम्यक्त्व से सहित थे, घीर थे अर्थात् दृढ़ सम्यक्त्व से युक्त थे विकट परिस्थिति में भी जिनका मन विचलित तथा मलिन नहीं हुआ था, जो हाव भाव विश्वम तथा विलास से सहित राज-कन्याओं रूप अपनी तरुण स्त्रियोंके समूह से परि-दृत होकर भी विशुद्ध बुद्धिसे युक्त रहे अर्थात् निर्मल ब्रह्माचर्य से जिनका चित्त कलुषित नहीं हुआ ऐसे शिवकुमार नामा राजपुत्र संसारका परित्याग कर निकट-भव्य हुए। अर्थात् इस भरत क्षेत्र में जम्बू नामक अन्तिम केवली हुए। शिवकुमारकी कथा इस प्रकार है---

शिवकुमारकी कथा

अपानन्तर राजा श्रेणिक ने विपुलाचल पर स्थित श्रीमहावीर भगवान् को प्रणाम कर श्री गौतम स्वामी से कहा-हे मगवन् ! इस भरत क्षेत्रमें अन्तिम केवली कौन होगा ?

तदनन्तर श्री गौतम स्वामी ज्योंही कथा का निरूपण करनेके लिये उद्यम करते हैं त्यों ही वहां उसी समय ब्रह्मस्वर्ग का स्वामी ब्रह्म हृदय नामक विमान में उत्पत्न हुआ दिद्युन्माली देव जिसका कि मुकुट देदी-प्यमान तेजसे सुग्नोसित था, जो नाम और अपने दर्शन से प्रिय या तथा विद्युत्प्रमा और विद्युद्वेगा आदि अपनी देवियों से घिरा हुआ था, आ पहुँचा और जिनेन्द्र देवकी वस्दना कर यथा-स्थान देठ गया। उसे देख

্ব

भव्यो जातः, इष्ट भरतक्षेत्रे जम्बूनामान्त्यकेवली बभूवेति क्रियाकारकसम्बन्धः । शिवकुमारस्य कथा यथा—अय श्रेणिकः श्रीवीरं विपुर्लागरौ समवस्थितं प्रणम्य श्रीगौतमस्वामिनं प्रत्याह—अय भरतक्षेत्रे पश्चिमकेवलीकोभविष्यति भगवन्निति । ततः कथां यावन्निरूपयितुं श्रीगौतम उद्यमं करोति स्म तस्मिन्नेवावसरे झहाकल्पा-धीशो बह्यहृृद्ध्याह्वविमानजो विद्युन्मालीजाज्वत्यमानतेजोविराजमानमुकुटः स्व-नाम्ना स्वदर्शनेन च प्रिया विद्युत्प्रभाविद्युद्वेगादिनिजदेवीभिवृंत आगत्थ जिनं वन्दित्वा यथास्थानं स्थितः । तं दृष्ट्वा राजन् ! अनेन केवरूज्योतिषः परिसमा-

गौतम स्वामीने राजा श्रेणिक से कहा---राजन् ! इसी व्यक्ति के द्वारा केवल ज्ञान रूपी ज्योति की समाप्ति होगी। वह किस तरह ? यदि यह जानना चाहते हो तो कहता हूँ। आजसे सातवें दिन यह ब्रह्मेन्द्र स्वर्ग से आकर इस राजगृह नगर में अर्हद्दास सेठ की प्रिय भार्या जिनदासी के यहाँ हाथी, सरोवर, शालिवन, प्रज्वलित ज्वालाओं से युक्त निर्घूम अग्नि तथा देवकूमारों के द्वारा लाये गये जामून के फल स्वप्न में दिखा कर जम्बू नामका महान् कान्तिमान्, अतिशय प्रसिद्ध और विनीत पुत्र होगा। अनावृत देव उसकी पूजा करेगा। तथा यौवन के प्रारम्भ में भी वह निर्विकार रहेगा। जब जम्बूस्वामी का यौवन काल रहेगा तभी श्री वर्धमान भट्टारक—भगवान् महावीर स्वामी पावापुर में मोक्ष प्राप्त करेंगे। उसी समय मुझे केवल ज्ञान उत्पन्न होगा। सुघम गणघर के साथ ससार रूपी अग्नि से संतप्त भव्य प्राणियों को धर्मामृत रूप जलसे आह्लाद करते हुए हम इसी राजगृह नगरमें आकर इसी विपुलाचलपर स्थित होंगे। यह समाचार सुनकर चेलनी रानी का पुत्र कुणिक राजा समस्त परिवारके साथ आकर मेरी तथा सुधर्म गणघर की पूजा कर दान शील उपवास आदिक स्वर्ग और मोक्षके साधक धर्म को ग्रहण करेगा । कुणिक के साथ आया हुआ जम्बू कुमार भो वैराग्य को प्राप्त कर दीक्षा ग्रहण करनेके लिये उत्सुक होगा। उसके कुटुम्बके लोग उससे कहेंगे कि कुछ वर्षोंके व्यतीत हो जाने पर हम सब भी तुम्हारे साथ दीक्षा ग्रहण करेंगे। कुटुम्ब के लोगोंने जो कहा जम्बूकुमार न तो उसे सहन करने के लिये समर्थ होगा और न निराकरण करने के लिये। अन्त में वह नगर में वापिस आवेगा। वहाँ उसे मोह उत्पन्न करनेके लिये कुटुम्बी जनोंके द्वारा सुखकारी बन्धन विवाह प्रारम्भ किया जावेगा। यथार्थं में बान्धव जन, कुटुम्ब परिवार कल्याणके बाधक हैं। अन्त में बह सागर दत्त और

रिर्भविष्यति । तत्कथं चेत्कथयिष्यामि । अस्माद्दिनात् सप्तमे दिनेज्यं ब्रह्मेन्द्रः स्वर्गादम्येत्यास्मिन् राजगृहे नगरेऽहद्दासेम्यस्य प्रियभार्याजिनदास्यां गर्ज सरोवर शाल्विनं निर्धू मानलं प्रज्वलज्ज्वालं स्वर्गकुमारसमानीयमानजम्बूफलानि च स्वप्ने दर्शयित्वा महाद्युतिर्जम्बूनामाऽनावृतदेवाप्तपूजोऽतिविख्यातो विनीत्तः सुतो भवि-ष्यति । यौवनारम्भेऽपि निर्विक्रियो भावी । तस्मिन् जम्बूस्वामियौवनकाले श्रीवीर-भट्टारकः पावापुरे मुक्ति यास्यति तस्मिन्नेव समये मम केवलज्ञानमुत्पत्स्यते सुधर्म-गण घरेण सह संसाराग्नितप्तानां भव्यप्राणिनां धर्मामृतावकेनाल्हादं करिष्यन्निद मेव राजगृहपत्तनमागत्यास्मिन्नेव विपुलाचलेऽहं स्यास्यामि । तत्समाकर्ण्यं चेलनी-सुतः कुणिको नृपः सर्वपरिवारेण समागत्य मां सुधर्मे च यूजयित्वा दानहोलेपवा-सादिकं वर्म ग्रहोष्यति । तेन सहागता जम्बूनामा निर्वेदं प्राप्य दीक्षाग्रहणोत्सुको भविष्यति । तं कुटुम्वं वदिष्यति स्तोकेषु वर्षेषु गतेषु त्यया सह वय सर्वेऽपि दीक्षा ब्रहीष्यमि इति । तेन प्रोक्त सोखम्धक्तुवन्निराकतुं च तदक्षमः पुरमायाम्यति । तस्य मोहमुत्पादयितुं सुखबन्धनं विवाह आरप्त्यति तेन कुटुम्बवर्गेण बान्ध्या हि श्रेयसो विष्नाः । सागरदत्तपद्मावत्योः सुता श्रियोत्कृष्टा सुलन्नप्रकाणि दा स्रियसो विष्नाः । सागरदत्तपद्मावत्योः सुता श्रियोत्कृष्टा सुलन्नप्रा प्रान्नीः, कुवेरदत्तकन मालयोः स्रता सुला सुलोचना कनकथीः वैश्वयणदत्तदिन्यक्र्योघूं दा

पदावती की पुत्रो, लक्ष्मी से उत्कृष्ट, अच्छे लक्षणों वाली पदा श्रो, कुबेर दत्त और करक मालाकी पुत्री सुन्दर लोचनोंसे युक्त कनक श्री, वैश्ववण दत्त और विनयवतीकी पुत्री, मृग नेत्रो तथा सुन्दरी विनय श्री और उसो बैश्रवण दत्त को दूसरी स्त्री धन श्री की पुत्रो रूप---श्री इन चारोंको विधिपूर्वक विवाह कर समीचीन रत्नोंमय दीपोंको कान्तिसे अन्धकार-रहित शयनागार में नाना रत्नों के समोचीन चूर्ण से निर्मित रङ्गावली से सुशोभित एवं नाना प्रकार के फूलों के उपहार से सहित पृथिवी तल पर बैठेगा 1

सुरम्यदेश सम्बन्धी पोदनपुर के राजा विद्युद्राज और उसकी रानी विमलमति का पुत्र विद्युत्त्रभ किसी कारण अपने बड़े भाई से कुपित होकर पाँचसो योद्धाओं के साथ अपने मगर से निकल पड़ा था और उसने बपना विद्युच्चोर नाम रक्खा था। वह पापो मनुष्यों में सबसे आगे स्मरणोय था, दुष्ट लोगों के द्वारा वन्दना करने योग्य था, दुर्गुणी था, बनुत्सुक था एव स्वभाव से तीक्ष्ण था। चौर शास्त्रके उपदेश से वह मन्त्र-तन्त्र के सब विधान सीख गया था अतः शरीर को अदृश्य बनाना तथा बन्द किवाड़ों को खोलना आदि कार्योंका अच्छा जानकार था जिस समय बम्ब कुमार शयनागार में अपनी नव विद्याहित स्त्रियोंके साथ बैठा उसा

मुग्रलोचनावरुगेकनीया विनयश्रोः, तस्यैव वैश्ववणदत्तस्य वनश्रियाः सुता रूपश्रीः एताक्वतस्ता विधियूर्वकं परिणीय सौधागारे समीचीन रत्नदोपदीप्तिभिनिरस्तान्यकारे नानारत्लसमीचीनचूर्णरंगवल्लीसंशोभिते विचित्रपुष्पोपहारसहिते जगतीतले स्था-स्यति । एतस्य माता अयं मे सुतो रागेण प्रेरितः स्मितहासकटाक्षेक्षणादिना विकृति भजन् कि भवेन्न वा भवेदित्यात्मानं तिरोधाय पश्यन्ती स्थास्यति । तस्मिन्नवसरे सुरम्यदेशपोदनापुरेशविद्युद्राजविमलवत्योः सुतः पापिष्ठानां धुरि स्मर्यो दुरात्मनां वन्दनीयोऽमुणवानुत्सुकश्च तीक्ष्णो विद्यत्प्रभनामा केनापि कारणेन निजज्येष्ठभ्रात्रे कुपित्वा पंचशतसभर्टनिगंतो विद्युच्चोरनामानमात्मानं कृत्वा चौरशास्त्रोपदेशेन मंत्रतंत्रविधानादृदुस्यशरीरत्वकपाटीदृघाटनादिकं जानन्नहंहासगृहाम्यन्तररत्नधाना-दिकं चोरयितुं प्रविस्य जिनदासीनुपनिद्रां विलोक्ययानं निवेद्य किमर्थं विनिद्रा त्वमेवमिति प्रध्यति ? मम एक एव पुत्र प्रातरेवाहं तपोवनं गमिष्णामीति संकल्पास्थिती वत्तते तेनाहं शोकिनी सती जागींग । त्वं बुद्धिमान् दृध्यसे यदि त्वमियमाग्रहादुधायैवीरयसि तत्त्वभोण्मितं घनं सर्वमहं दास्यामीति वदिव्यति । सोऽपि तत्वतिपच्चवं सम्पन्नभोगोऽयंकिल विरंखति. इह घनमाहत प्रकिष्टं मां विगिति स्वनिन्दनं कूर्वन्निः चंकं तदन्तिकं प्राप्य ते तासां कन्यकानां ^२साध्यतयातिष्ठितं कुमारं प्रसरत्पदुर्बुद्धि पंजरगतं पक्षिणमिव,

समय वह विद्युच्चोर जम्बू कुमार के पिता अर्हद्दास सेठ के घर के भीतर रत्न तथा घन आदि को चुराने के लिये घुसेगा। उस समय जम्बू कुमारकी माता जिन-दासी जाग रही होंगो----पुत्रके वैराग्यको बात सुनकर उसे निद्रा नहीं बावेगी। उसे जागतो देख विद्युच्चोर पूछेगा कि तू इस तरह क्यों जाग रही है ? जिनदासी कहेगी कि 'मेरे एक ही पुत्र है और वह भो 'मैं प्रातःकाल हो तपोवन को जाऊँगा' ऐसा संकल्प करके बैठा है, इसी कारण शोकसे युक्त हो मैं जाग रही हूँ। तुम बुद्धिमान् दिखाई देते हो यदि तुम इसे उपायों द्वारा इस हठसे निवृत्त कर सको तो मैं तुम्हारा मन चाहा सब घन दे टूँगी'।

जिनदासी की उक्त बातको सुनकर विद्युच्चोर विचार करेगा कि यह इस तरह भोगों से सम्पन्न कुमार तो विरक्त होगा और मैं यहाँ धन हरनेके लिये प्रविष्ट हुआ हूँ, मुझे घिक्कार हो, इस प्रकार अपनो निन्दा करता हुआ वह निःशङ्क भाव से जम्बूकुमार के पास पहुँचेगा। उन

- १, फिल विसति ४० ।
- २. क प्रती केलापि संग्रीवेरी कामकाकां मध्ये तपरेऽविण्ठितं ।

जारूजन मृसबालकमिव, अपारकदंमेमग्नः भद्रजातिगताघिपतिमिव, स्रोह-पजरेंनिरुद्धं सिंहमिव प्रत्यासन्नसंसारक्षयं सम्प्राप्तनिर्वेदं समीक्ष्य विद्युच्चोरः सृषीराष्टाच्यानं वदिष्यति हे कुमार ! त्वया श्रूयता----कष्टिवत्कमेलक; स्वेच्छ्या परनेकदा गिरेस्नतप्रदेशात् तृण खादन्नेतन्मघुरसोन्मिश्रं सक्रदास्वाद्योत्सुकस्ता-दृष्टमेवाहमाहरिष्यामीति मघुपानाभिवाञ्च्छ्या तृणान्तरचरणगतिपराङ् मुखस्तस्यौ भमे च तथा त्वमप्येतानुपस्थितान् भोगाननिच्छन् स्वर्गभोगार्थी बुद्धिरहितः क्रमेलकावस्थां प्राप्स्यसि (१) इति चौरप्रतिपादितं श्रुत्वा कुमारः प्रत्युत्तरं दास्यति---कष्टिचत्मुमान् महादाहकरेण रविणा परिपीडितो नदीसरोवरतडागा-दिपानीयं पुनः पुनः पीत्वा तथापि न विनष्टतृष्णस्तृणाग्रस्थितजलकणं पिवन् किं तूर्णित याति तथायं जीवोऽपि चिरकालं दिय्यसुद्धं भुक्त्वाप्यतृप्तोऽनेन मनुष्यभव-जातेन स्वल्पेन राजकर्णास्थिरेणास्वादुना तृप्ति यायात्----अपि तु न यायात (२) इति तद्याचं श्रुत्वा स एकागारिकः कथयिष्यति कथां---एकस्मिन् वने किरात-

कन्याओं के साध्यमाव से सहित अर्थात् पूर्वोक्त कन्याएँ जिसे वश करने के लिये घेरकर बैठी होंगी तथा जिसको समीचीन बुद्धि विस्तृत हो रही होगी ऐसे जम्बू कुमार को वह विद्युच्चोर ऐसा देखेगा जैसे पिजड़े में पड़ा पक्षी हो, अथवा जालमें फँसा मृगका बालक हो, अथवा अपार कोचड में फँसा भद्रजातिका गजराज हो अथवा लोहेके पिजड़ों से रुका सिंह हो। पश्चात् जिसके संसारका क्षय अत्यन्त निकट है तथा जिसे पूर्ण क्रेपसे वेराग्य प्राप्त हो चुका है ऐसे जम्बू कुमार को देखकर वह बुद्धि-मान् विद्युच्चोर आठ कथाएँ कहेगा---

(१) हे कुमार ! सुनो, एक ऊंट अपनी इच्छासे चरता हुआ एक बार किसी पर्वंत के पास पहुँचा। वहाँ पर्वंत के ऊँचे प्रदेश से मधु की कुछ बूँदे टपक कर घास पर पड़ गई थीं, मधु रससे मिश्रित उस घास को एकबार खा कर वह ऊँट इतना उत्सुक हो उठा कि मैं तो सदा ऐसी ही घास खाऊँगा। इस तरह मधुपान की इच्छासे दूसरी घास खाने से विमुख हो निराहार बैठा रहा तथा मर गया। इसी प्रकार तुम भी इन उपस्थित भोगोंको न चाहते हुए स्वर्गके भोगोंकी इच्छा कर रहे हो सो तुम बुद्धि-रहित हो, उँटकी अवस्था को प्राप्त होओ थे।

इस प्रकार चोर के ढ़ारा कही कथा को सुनकर जम्बू कुमार उत्तर े देगा---

(२) एक पुरुष ने महा संताप उत्पन्न करने बाले सूर्वसे पीछित होडर

श्वण्डो महातरुमाघारं कृत्वा गण्डान्तं धनराक्तव्य वाणेन वारणं जधान । तरुकोटर-स्थितसर्पदेष्टस्तं सर्पं भारयित्वा स्वयं च मृतः । अध तान् त्रीन् किरातसर्पंगजान् मृतान् दृष्ट्वा कोष्टाऽतिलुक्यस्तावदेतास्त्रीन्नामि पूर्वं धनुमौर्वी प्रान्तस्यितां च स्नुसां भक्षयामीति कृतोद्यमस्तच्छेदं वैधेयश्चकार । सद्यो धनुरग्रनिभिन्नगलः सोऽपि मृतः । ततोऽतिगृष्नुता त्वया त्याज्या (३) । इति श्रुत्वा कुमारश्चिन्तयित्वा सूक्तं प्रवश्यति चतुर्मागंसमायोगदेशमध्ये सुग्रहं रत्नरार्शि प्राप्य पश्चिको मूर्खंस्तदात्-भना दायकेनापि कारणेन गतः पुनर्वनादागत्य तं देशं तं रत्नपुंजं कि पुनर्लंगते तथा गुणमाणिक्यसंचयं दुष्प्रापमगृह्णन् संसारसमुद्रे कयं पुनः प्राप्नुयात् (४) । तदा मलिम्लुचोऽन्यदन्यायसूचनमुपाख्यानं ददिष्यति कश्मित्तप्रगालो मुर्खस्थितं मास-

नदी सरोवर तालाब आदिका पानी बार-बार पिया फिर भी उसकी प्यास नष्ट नहीं हुई। वह अब क्या तृणके अग्र भाग पर स्थित जलके कणको पीता हुआ क्या तृप्तिको प्राप्त हो जावेगा ? उसी प्रकार यह जीव भी चिर काल तक स्वर्गके सुख भोगकर भी तृप्त नहीं हुआ। अब क्या मनुष्य भव में उत्पन्न होनेवाले, बत्यन्त अल्प और हाथी के कानके समान बस्थिर अमनोज्ञ सुख से क्या तृप्ति को प्राप्त हो सकता है अर्थात् नहीं हो सकता।

जम्बुकुमार के वचन सुनकर चोर फिर कथा कहेगा---

(३) एक वन में चण्ड नामका अथवा अत्यन्त कोध करने वाला एक भोल रहता था। उसने एक वार किसी महावृक्ष को आधार बना कर अर्थात् उस पर चढ़कर गाल पर्यन्त धनुष खींच वाण द्वारा हाथी को मारा। उसी वृक्ष की कोटर में एक सौंप रहता था उस साँपने भोलको काट खाया। मील ने बदले में साँपको मार दिया और वह स्वयं मर गया। तदनन्तर किरात, साँप और हाथोको मरा देख कर लोभी प्रुगाल बहाँ आया। वह कहने लगा कि मैं तीनों को अभी खाता हूँ, पहले धनुष के छोर पर लगी ताँतको खाता हूँ। ऐसा विचार कर उस मूर्ख ने तांत को काटने का उद्यम किया। फलस्वरूप धनुष के अग्रभाग से उसका गला फट गया और वह मर गया। इसलिये तुम्हें अधिक लोभका त्याग करना चाहिये।

यह सुन जम्बूकुमार विचार करके एक सुभाषित कहेगा---

(४) एक पथिक को चौराहे पर ऐसी रत्नों की राशि मिली जिसे

शतनना स+ 1

पिण्डं मुक्त्या संक्रीडमानं भीनं भक्षितुं जले पपात । जलवेगवहत्प्रवाहेण प्रेयंमाणो मृतः । मीनस्तु दीर्घायुजलमघ्ये सुस्तं तस्थौ । एवं श्रुमालवदतिलुब्धो मरिष्यति (५) । एवं मुख्यतस्करवाचं श्रुत्वा प्रत्यासन्नमुक्तिः कुमारो भणिष्यति किहिच-निम्द्रालुको वणिक् निद्रासुस्तरतः परार्घ्यंरत्नगर्मनिजकच्छपुटः सुप्तः । चौरँरपहृते माणिक्यसचये तद्दुः सेम दुर्मृ तिर्मृ ति प्राप । तथायं जीवो विषयाल्पसुस्तासक्तो रागचौरकैर्दर्शनज्ञानचारित्ररत्नेष्वपह्नूतेषु निर्मूलं नश्यति (६) । दस्युस्थ गदिष्यति स्वमातुलानी द्रुवं चनकोपेन काचित्कन्या तस्तले सर्वाभरणमण्डिता स्थिता । मरणोपायमजानती व्याकुलमनाः सुवर्णहारकेण पापिना मार्दङ्गिकेण दृष्टा । तदा-भरणानि जिघृक्षुणा तस्या 'लम्बनोपायो दर्शयामासे । स्वकीयं मदलं वृक्षतले समुद्भं संस्थापयांवभूव । तस्या गलपाश्चदानशिक्षणार्थं मदलोपरि पादौ धृत्वा गले पार्थ चकार । केनापि कारणेन मर्दले पतिते मार्दाङ्गिकस्य गले पाशे लम्मस्तना

बह अच्छी तरह ग्रहण कर सकता था परन्तु वह मूर्ख उसे उठाये बिना किसी कारण से वनको चला गया । पीछे लौटकर उस स्थान पर आया तो उसे वह रत्नराशि क्या मिल सकती थी ? इसी प्रकार यह जीव अत्यन्त दुर्लभ गुण रूपी मणियोंके समूह को यदि अभी ग्रहण नहीं करता है तो संसार समुद्र में फिर कैसे प्राप्त कर सकता है ?

तदनन्तर चोर अन्याय को सूचित करने वाली एक दूसरी कथा कहेगा—-

(५) कोई एक श्रुगाल मुख में स्थित मांस-पिण्डको छोड़कर कोड़ा करती हुई मछली को खानेके लिये पानी में गिर पड़ा और जलके वेगसे बहते हुए प्रवाह से प्रेरित होता हुआ मर गया परन्तु दीर्घ आयु वाली मछली पानीके मध्य में सुख से रही आई। इस प्रकार अतिशय लोभी तुम श्रुगालके समान मरोगे।

इस प्रकार मुख्य चोरके वचन सुन अत्यन्त निकट मुक्तिको प्राप्त करने वाला जम्बू कुमार कहेगा—

(६) निद्रा सुखमें निमग्न रहनेवाला कोई एक निद्रालु वणिक् था बह अपनी कॉंछमें श्रेष्ठ मणियोंको छिपा कर सो गया। परन्तु पोरोंने उसका मणियों का समूह चुरा लिया उसके दुःखसे कुमरण को प्राप्त होता

१. सम्बनोपार्य दर्शयात्रास म+ म+ ।

सलीभूतकण्ठः प्रोद्गतलोचनः शमनमन्दिरं प्राप । कन्या तद्दृष्ट्वा मरण-भयात् गृहमागता तथा कुमार त्वया लोभो हेयः (७) । इति तस्य वाग्जाल-माकर्ण्य जम्बूनामा कुमारोऽसहमानस्तं प्रति भणिष्यति कस्यचिद्रान्नो महादेवी ललिताङ्गनामघेयं घूर्तविटं दृष्ट्वा मदनविह्वला संजाता । तस्य विटस्या-नयननिरस्तरोपायनियुक्ता तद्धात्री तं गुप्तमानीत्वती । सा महादेवी यथा भर्ता न जानाति तथैकान्तप्रदेशे ययेष्टं तं रममाणा स्थिता बहु भिदिनैः शुद्धान्तरक्षकैः ज्ञाता राजो ज्ञापिता च । उपपत्यपनयोपायमजानत्यः परिसारिकास्तं सलं लोरवा वस्कर-गृहे निधिप्तवत्यः । स तत्रातिदुर्गन्धेन तत्कीर्टक्ष्च दुक्षं प्राप । पापोदयेनात्रैव नरकावासं प्राप्तः । तद्वदल्पसुद्धाभिलाघिणो जीवस्य निघोरनरकादिषु महापदो भवन्ति (८) । कुमारः पुनरप्येकं प्रपत्वं कथयिष्यति येन श्रुतेन सता लघु संसार-निर्वेगो भवति । जोदोऽयं पथिकः संसारकान्तारे आग्रम्यन् मृत्यु मत्तग्रेल जिर्घा-

हुआ मर गया। इसी प्रकार यह जीव विषय रूपी अल्प मुख में आसक्त हो रहा है। राग रूपी चोरोंके द्वारा दर्शन ज्ञान चारित्र रूपी रत्नोंके चुरा लिये जाने पर वह नष्ट हो रहा है।

इसके बाद चोर कहेगा----

(७) समस्त आभरणों से सुशोभित कोई एक कन्या अपनी मामीके कटुक वचनों से उत्पत्न हुए कोघके कारण वृक्षके नीचे स्थित थो। वह मरने का उपाय नहीं जानती हुई मन ही मन बहुत व्याकुल हो रही थो। सुवर्णको हरने वाले किसी पापो मृदङ्ग-वादक ने उसे देख लिया। यह उसके आभूषण लेना चाहता था इसलिये उसने उसके लिये वृक्ष से लट-कने का उपाय बतलाया। उसने अपना मृदङ्ग वृक्षके नीचे खड़ा रक्खा। फिर उस लड़की को गले में फाँसी देनेकी शिक्षा देनेके लिये उसने मृदङ्ग पर दोनों पैर रखकर अपने गले में फाँसी लगाई। इतने में किसी कारण मृदङ्ग गिर पड़ा जिससे उसके गलेमें फाँसी का फंदा पक्का लग गया। इससे उसका कण्ठ फैंस गया और आँखें निकल आई तथा वह यमराजके गृहको प्राप्त होगया अर्थात् मर गया। यह देख कन्या मरण के भय से घर आ गई। हे कुमार ! इसी तरह तुम्हें लोभ छोड़ना चाहिये।

इस प्रकार चोरके वाग्जाल को सुनकर जम्बू कुमार सहन न करता हथा उसके प्रति कहेगा—

(८) किसी राजा की महारानी ललिताङ्ग नामके एक धूर्त विटको देखकर काम से विह्वल होगई। उस **बिटको लानेके लिये रा**नोने एक सुना क्यानुयातोऽतिभी ६ः पलायमानो मनुष्यस्वत ६व रान्त रहितस्तन्मू ले कुलगोत्रादि विचित्र बल्लीसमाकुले जन्मकूपे पतित आयुर्वल्लीलग्नकायः सितासितदिवसानेक-मूषिकोच्छिद्यमानतदुल्लीकः सप्तन रकप्रसारितमुख सप्तसपंनिकटः । तद्वृक्षेष्टार्य-पुष्पोत्पन्नसुखमघुरसलालसस्तद्ग्रहणोत्थापितसमग्रा पन्मस्निकाभक्षितः तत्सेवामुखं ज्ञात्वा सर्वोऽपि विषयलंपटो दुबुंद्विर्जीवति तथा घीमान् दुर्वहं तपोऽकुर्वन्नत्यक्तसंगः कथं वर्तते ? इति तस्य वचनमाकर्ण्य माता कन्याक्ष्वौरक्ष्य संसारक्षरीरभोगेष्वति-विरायत्वं यास्यन्ति । तदान्वकारं निराक्तस्य कोकं प्रियया कुमारं दीक्षयेव योजयन् निवकरैः समाक्रम्य कुमारस्य मनःकमलमिव रंजयन्तुदयाद्वेः शिखरे रविस्तपसि कुमार

धायको नियुक्त किया । सा वह धाय गुप्त रूपसे उसे ले आई । महा-रानी, जिस तरह राजा को पता न चल सके उस तरह एकान्त में उनके साथ रमण करती हुई रहने लगी । बहुत दिन बाद अन्तःपुरके रक्षकों को इस बातका पता चल गया और उन्होंने राजासे कह भी दिया । रानी की सेविकाए उपपति को अलग करने का उपाय नहीं जान सकीं इसलिये उन्होंने उस दुष्टको लेजाकर अशौच गृह में गिरा दिया । वह बहाँ अत्यन्त दुर्गन्ध तथा उसके कीड़ों से दुःख को प्राप्त हुआ । पापके उदय से उसने यहीं पर नरक का निवास प्राप्त कर लिया । इसी के समान अल्प सुख की इच्छा करने वाले जीवको अत्यन्त भयंकर नरक आदि में बहत भारी द्रःख प्राप्त होते हैं ।

कुमार फिर भी एक कथा कहेगा जिसके सुनने से सत्पुरुषों को शोध हो संसार से वैराग्य हो जाता है----

यह जीव एक पथिक है, संसार रूपो अटवो में घूम रहा है, घात करनेका इच्छुक मृत्यु रूपी मत्त हाथो कोधसे उसका पीछा कर रहा है, अत्यन्त भयभीत हो भागता हुआ वह मनुष्य पर्याय रूपी वृक्ष पर चढ़ गया, उस वृक्षके नीचे कुल गोत्र आदि नाना प्रकारको लताओं से व्याप्त संसार रूपी कुआँ है उसी कुएँ में वह गिर गया, परन्तु आयु रूपी लता में उसका शरीर संलग्न होकर रह गया, शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष के दिन रूपी अनेक चूहे उस लता को काट रहे हैं, उस संसार रूप कुएँ में सात नरक रूपी सात सर्प मुख फैलाकर बैठे हुए हैं, उस वृक्षके ऊगर इष्ट अर्थ रूपी पुष्प से उत्पन्त सुख रूपी मघु लगा हुआ है उसके रसको लाल रकी हुई अनेक आपत्ति रूप मघु मिल्सवा उसे काट रही हैं जिर इवोदष्यति । सर्वसन्तापकारी तीक्ष्णकरोऽनवस्थितः क्रूरो दिवाकुवलयष्यंसी तदा सूर्यः कुनृपस्योपमां घरिष्यति । नित्यादयो बुघाधोकोऽखण्ड विशुद्धमण्डलः प्रवृद्धः पद्माल्हादी सुराजनं वार्ऽ्यमाजेष्यति । अस्य कुमारस्य बान्धवा भववैमुख्यं विज्ञाय कुणिकमहाराजश्रेणयोऽष्टादशापि देवोऽनावृत्तश्च सर्वे संगम्य मंगलजर्लंरभिषेक करिष्यन्ति । अथ कास्ता अष्टादशश्रेणयः स्निमपत्तिर्गणको राजश्रेष्ठी दण्डाधिपो मंत्री ^रमहत्तरो ³बलवत्तरः चत्वारो वर्णः चतुर्रगं बलं पुरोहितोऽमात्यो महामात्य

भी उसको प्राप्तिको सुख जान कर सभी विषय लंपट दुर्बु दि मनुष्य जीवन व्यतीत करते हैं परन्तु जो बुद्धिमान् है वह कठिन तप किये तथा परिग्रह को छोड़े बिना कैसे रह सकता है ?

इस प्रकार जम्बू कुमार के वचन सुन उसकी माता, चारों कन्याएँ और चोर संसार शरीर तथा भोगों से अत्यन्त वैराग्य को प्राप्त हो जावेंगे। उस समय अन्धकार को नण्ट कर चकवा को चकवी के साथ मिलाना और अपनी किरणों से कमल को अनुरञ्जित करता हुआ सूर्य उदयाचल पर उस तरह उदित होगा जिस तरह कि तप पर जम्बू कुमार। वह सूर्य चकवा को चकवी के साथ इस तरह मिला रहा था, जिस तरह कि कुमारको दीक्षकि साथ और अपनी किरणों से कमल को उस तरह अनुरोञ्चत कर रहा था जिस तरह जम्बू कूमारके मनको । उस समय सूर्य खोटे राजाकी उपमा को भारण कर रहा था क्योंकि जिस प्रकार खोटा राजा सर्व-संतापकारो होता है-सबको दुःख देने वाला होता है उसी प्रकार सूर्य भी सर्व संताप-कारी थी-सबको गर्मी पहुँचाने वाला था, जिस प्रकार खोटा राजा तीक्ष्ण कर-अत्यधिक टैक्स लगाने वाला होता है उसी प्रकार सूर्य भी तीक्ष्ण कर--उष्ण किरणों वाला था, जिस प्रकार सोटा राजा अनवस्थित होता है--चञ्चल-बुद्धि होता है उसी प्रकार वह सूर्य भी अनवस्थित था-सदा एकसा न रहने वाला था, जिस प्रकार खोटा राजा क्रार-स्वभाव का दूष्ट होता है उसी प्रकार सूर्य भी करू-अत्यन्त उष्ण प्रकृति वाला था और जिस प्रकार खोटा राजा दिवा कुवय-लष्वंसीदिन में पृथिवी मण्डल को नष्ट करने वाला होता है उसी प्रकार सूर्य भी दिवा कुवलयध्वंसी दिन में नीलकमलों को निमोलित करने

- १. कुणिक म० क० ।
- २. दानाध्यक्षः (क० टि०)
- ३. तस्रवरः (क+ टि॰)।

भावत्राभृतम्

इति । असौ कुमारस्तत्कालोचितवेषो देवनिर्मितां शिविकामारुह्य भूरि भूस्या उच्चे तिपुलाचलशिखरे स्थितं मां महामुनिभिनिषेवितं समभ्यैत्य भक्त्या त्रिःपरीत्य यथाविधि प्रणम्य वर्णत्रयसमुत्पन्नैर्भूयोभिविनेये विद्युच्चौरेण तत्पंचश्वतसेवकैश्च समं सुष्ठमंगणधरपा दमूले समचित्तः संयमं ग्रहीष्यति । द्वादशवर्षान्ते मयि मोक्षं गते सुष्ठमां केवली भविष्यति जम्बूनामा श्रुतकेवली भविष्यति ततो द्वादशवर्षण्यंन्ते सुधर्मणि निर्वाणं गते जम्बूनाम्नः केवलज्ञानमुत्पत्स्यते । जम्बू नाम्नः शिष्यो भवो

वाला था। अथवा वह सूर्य किसी उत्तम राजा को जीतने वाला होगा क्योंकि जिस प्रकार उत्तम राजा निस्योदय होता है-निरन्तर अभ्युदय से युक्त होता है उसी प्रकार सूर्य भी नित्योदय प्रतिदिन उदित होनेवाला होता है। जिस प्रकार उत्तम राजा बुधाधीश-विद्वानों का स्वामी होता है। उसी प्रकार सूर्य भी बुधाधीश-विद्वानों का स्वामी होता है। उसी प्रकार सूर्य भी बुधाधीश-विद्वानों का स्वामी था, जिस प्रकार उत्तम राजा अखण्ड विशुद्ध नामक ग्रहका स्वामी था, जिस प्रकार उत्तम राजा अखण्ड विशुद्ध नामक ग्रहका स्वामी था, जिस प्रकार उत्तम राजा अखण्ड विशुद्ध नण्डल अखंडित और विशुद्ध राष्ट्र के सहित होता है उसी प्रकार सूर्य भी निर्दोष मण्डल पूर्ण तथा निर्दोष परिधि से सहित था। जिस प्रकार उत्तम राजा प्रवृद्ध-अत्यन्त विस्तार से युक्त रहता है उसी प्रकार सूर्य भी भवृद्ध-अत्यन्त वृद्ध होगा और जिस प्रकार उत्तम राजा पद्माह्लादी-लक्ष्मीको हर्षित करने वाला होता है उसो प्रकार सूर्य भी पद्माह्लादी-कमलों को हर्षित करने वाला होगा।

इस कुमार को संसार से विमुखता जान इसके कुटुम्बी जन, कुणिक महाराज को अठारह श्रेणियाँ तथा अनावृत देव सब मिलकर मङ्गल जलसे इसका अभिषेक करेंगे । अब वे अठारह श्रेणियाँ कौन हैं ? इसका उत्तर देते हैं-सेनापति, गणक, राज-श्रेष्ठो, दण्डाधिकारी, मन्त्रो, महत्तर, बलवत्तर, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैक्य और झूद्र ये चार वर्ण, हाथी, घोड़ा, रथ और प्रिमादा-ये चार चतुरङ्ग सेना, पुरोहित, अमात्य और महामात्य ये अठोरह श्रेणियाँ हैं ।

उस समय के योग्य वेष को धारण करनेवाला वह कुमार देव--निर्मित पालको में सवार होकर बड़ी विभूति के साथ उन्नत विपुलाचल की शिखर पर स्थित तथा बड़े बड़े मुनियों से सेवित मेरे सामने आवेगा, भक्तिपूर्वक तीन प्रदक्षिणाएँ देकर विधिपूर्वक प्रणाम करेगा और त्रिवर्ण में उत्पन्न बहुत से शिष्यों विद्युच्चर चोर और उसके पाँच सौ सेवकों के

१. विमये म० ।

षट्प्राभृते

नाम चत्वारिशद्वर्षाणीह भरतक्षेत्रे विहरिष्यति । तदाकर्ण्यं श्रेणिकं स्पितेऽनावृतो देवो मदीयवंशस्येदं माहात्म्यमुद्धृतमीदृशमन्यत्र न दृष्टमित्पुरुचैरानन्दनाटकं [इतवान् तं] दृष्ट्वा श्रेणिक उवाच----कस्मादनेनबन्धुस्वमस्य देवस्थेति ? भगवान् गौतमो बभाण---जम्बूनाम्नो वंशे पूर्वं धर्मेप्रियश्रेष्ठी गुणदेवी श्रेष्ठिनी । तयोरर्हद्दासः सुतो धनयौवनमदेन पितुः शिलामगणयन् कर्मवशात् सप्तव्यसनेषु निरंकुशो बभूव । निजदुराचारेण दरिद्री संजातः । पद्दचादुत्पन्नपद्त्वात्तापो मरिपतुः शिक्षा मया न श्रुता. उत्पन्नशमभावः किचित्यूण्यमुपार्ज्यानावृतनामा

साथ सुधर्म गणधर के चरण मूल में समचित्त होकर संयम ग्रहण करेगा | बारह वर्ष के बाद जब मैं मोक्ष चला जाऊँगा तब सुधर्माचार्य केवली होंगे और जम्बू स्वामी श्रुत केवली होंगे तदनन्तर बारह वर्षके बाद जब सुधर्माचार्य मोक्षको प्राप्त होंगे तब जम्बू स्वामी केवली होंगे | जम्बू स्वामी का एक शिष्य जिसका कि नाम भव होगा व्यालीस वर्ष तक इस भरत क्षेत्र में त्रिहार करेगा ।

यह सुनकर राजा श्रेणिक के रहते हुए अनावृत देव कहेगा कि इसने (जम्बू कुमार ने) हमारे वंशका माहाम्स्य बढ़ाया है ऐसा अन्यत्र नहीं देखा, ऐसा जोरसे कहकर वह हर्ष से नृत्य करने लगेगा। उसे देख राजा श्रेणिकने कहा कि जम्बूकुमारके साथ इस देवकी बन्धुता किस प्रकार है ? भगवान गौतम स्वामी कहने लगे-जम्बू कुमार के वंशमें पहले धर्मप्रिय नामका एक सेठ था उसकी गुणदेवी नामकी स्त्रो थी। उन दोनोंके अईद्दास नामका पुत्र था, दह धन और यौवन के मदसे पिताकी शिक्षा को न गिनता हुआ कर्मवश सात व्यसनों में स्वच्छन्द हो गया। अपने इस दुराचारके कारण वह दरिद्र हो गया। पीछे उसे इस बात का पश्चाताय हुआ कि मैंने अपने पिता की शिक्षा को नहीं सुना। इस तरह शमभाव उत्पन्न होनेपर किञ्चित् पुण्यका उपार्जन कर वह अनावृत नामका व्यन्तर देव हुआ। वहां इसे सम्यग्रूपी सम्पत्ति उत्पन्न हुई है इसलिये जम्बूकुमार के प्रति इसे बन्धुता के कारण प्रीति उत्पन्न हुई है।

तदनन्तर श्रेणिक ने कहा—हे स्वामिन् ! यह विद्युन्माली किस कारेण आया ? इसने पूर्व भव में क्या पुण्य किया था ? इसकी प्रभा आयु के अन्त तक अनाहत है । श्रेणिक के उपकार की बुद्धि से ही भगवान् गौतम स्वामी कहने लगे—

इस जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र सम्बन्धी पुष्कलावती देशमें एक बीतशोक नाम का नगर है उसमें महापद्म नामका राजा रहता था उसकी

भावजभूतम्

म्पन्तरो जातः, तत्र समुत्पन्नसम्पक्त्वसम्पदिति बन्धुताप्रीतिरस्य । अय श्रोणिकः प्राह—स्वामिन्नयं विद्युन्माली देवः करमादागतः, कि पुष्यं पूर्वभवे कृतवान्, अस्य प्रभा आयुरन्तेऽप्यनाहतेति । तदनुप्रहबुद्धर्यंव भगवान् गौतमः प्राह—अत्र जम्बू-द्वीपे पूर्वविदेहे पुष्कल्लावतीविषये बीतशोकपत्तने महापद्मो राजा तन्महादेवी वनमाला । तयोः सुतः शिवकुमारः नवयौवनसम्पन्नः सर्वयोभिवनं विहृत्य पुनराग-म्छन् गन्वपुष्पादिमंगलद्रक्योत्तमपूजया सह जनानागच्छतो दृष्ट्वा समुत्पन्नविस्मयो 'बुद्धिसागरमंत्रिणः पुत्रं किमेतदिति पत्रच्छ । स प्राह—कुमार ! प्राणु—सागर-दक्तनामा मुनीन्द्रः श्रुतकेवलो दीप्ततपोमण्डितो मासोपवासपारणायौ पुरं प्रविष्ठ । कामसमुद्रो नाम श्रेष्ठो विधिपूर्वकं भक्त्या दानं दत्वा पंचाइचर्यं ^२प्राप तेनोत्यन्त-

रानी का नाम वनमाला था। उन दोनों के शिवकुमार नामका पुत्र था। एकदिन नवयौवन से सम्पन्न शिवकुमार अपने मित्रों के साथ वन विहार के लिये गया था। जब वहां से वापिस आ रहा था, तब गन्ध पुष्प आदि मज्जल द्रव्य रूपो उत्तम पूजा की सामग्री के साथ लोगोंको आते देस उसे आश्चर्य उत्पन्न हुआ। उसने अपने बुद्धि सागर मन्त्री के पुत्र से पूछा कि यह क्या है? मन्त्री ने कहा—कुमार ! सुनो, सागरदत्त नामके मुनिराज जो कि श्रुत केवली तथा दीप्त तपसे सुशोभित हें एक मांसके उपवास के बाद पारणा के लिये नगर में प्रविष्ट हुए थे। काम-समुद्ध नामक सेठने विधिपूर्वक भक्तिसे दान देकर पंचाञ्चर्य प्राप्त किये हैं। इससे जिन्हें कौतुक उत्पन्न हुआ है ऐसे नगरवासी लोग मनोहर नामक उद्यान में निवास करने वाले उक्त मुनिराज की पूजा कर बन्दना करने के लिये परम भक्ति से जा रहे हैं। शिवकुमारने कहा कि इन मुनिराज ने सागरदत्तनामक, श्रुत केवली अवस्था तथा अनेक ऋदियों को किस कारण प्राप्त किया? मन्त्रि पुत्र ने भी जैसा सुन रक्खा या वैसा कहना प्रारम्भ किया—

पुष्करुखती देश में भुण्डरीकिणी नामकी नगरी है। उसके राजा का नाम चक्रवर्ती वज्जदत्त था उसकी स्त्री का नाम यशोधरा था जब वह गमिणी हुई तो उसे दोहला उत्पन्न हुआ। दोहला की पूर्ति के लिये वह बह्रां सोता नदी समुद्र में मिलती है वहां बड़े देभव के साथ गई और

- १. बुद्धिसागर पुत्रं क० ।
- २. प्राप्य में• ।

षट्प्रामृते

कौतुकाः पौरास्तं मनोहरोद्यानवासिनं पूजयित्वा वन्दितुं परमभक्त्या यान्तीति । शिवकुमारः प्राह—अयं सागरदत्ताख्यां 'सश्रुततां विविधर्धींक्व कथं प्राप । मंत्रि-पुत्रोऽपि यया श्रुतं तया प्राह—पुष्करुलवतीविषये पुण्डरीकिणी नगरी, तस्याः पतिश्चक्री वज्जदत्तः । तस्य महादेवी यशोघरा गॉभणी समुत्पन्नदौह्नुदा । सा सीतासागरसंगमे महाविभूत्या गत्वा महाद्वारेण समुद्रं प्रविष्टा । जलकेलीविषाने जलजानना आसन्ननिर्वृति पुत्रं प्राप । तेन हेतुनास्य ³सनाभयः सागारदत्ताख्यां चक्रुः । अथ सागरदत्तः परिप्राप्तयौवनः स्वपरिवारमण्डितो हर्म्यतले स्थितो नाटकं पश्यन्ननुकूलाख्यनाम्ना चेटकेनोक्तः । हे कुमार ! त्वमारुचर्यं पश्य मेर्वा-कारोऽयं मेधस्तिष्ठति । तं मेधं लोचनप्रियं सोन्मुस्नो निरीक्षितुमैहिष्ट । स मेघस्त-

महाद्वार से समुद्र में प्रविष्ट हुई। जल-क्रीडा के समय ही उस कमल मुखी ने निकट मोक्षगामी पुत्रको उत्पन्न किया इसो कारण इसके कुटुम्बी जनोने इसका सागरदत्त नाम रक्खा। तदनन्तर एक बार तरुण सागर-दत्त अपने परिवार के साथ महलकी छत पर बैठकर नाटक देख रहा था उसी समय अनुकुल नामक सेवक ने उनसे कहा कुमार ! तुम यह आश्चर्य देखो, मेरु पर्वंत के आकार यह मेघ स्थित है। उस सुन्दर मेघ को देखने के लिये ज्यों ही वह ऊपर की ओर मुँह उठाकर देखने की चेष्टा करता है त्यों ही वह मेघ तत्काल नष्ट हो गया। सागरदत्त विचार करने लगा कि जिस प्रकार यह मेघविनश्वर है उसी प्रकार यौक्न, धन, शरीर जीवन तथा अन्य समस्त पदार्थं विनश्वर हैं। इस प्रकार विचार कर वह वैराग्य को प्राप्त हो गया। दूसरे दिन वह मनोहर नामक उद्यान में धर्म तीय के नायक अमत सागर नामक तीथँकर को वन्दना करने के लिये अपने पिता वज्रदत्त के साथ गया। वहां धर्मका श्रवण कर इसने सर्वस्थिति का निष्स्य किया तथा समस्त बन्धु जनों को विदा कर बहुत से राजाओं के साथ संयम ग्रहण कर लिया। मनःपर्यंय ऋदि रूपी संपत्तिको प्राप्त कर धर्मोपदेश द्वारा अनेक देशों में विहार कर वे यहाँ वीतशोक नगरमें पधारे हैं । इस प्रकार मन्त्रिपूत्रके वचन सुनकर शिवकुमार बहुत प्रसन्त हुआ और स्वयं जाकर मुनिराज की स्तुति कर तथा उनसे धर्मामृत का पान कर कहने लगा भगवन् ! आपके दर्शन कर मुझे बड़ा हर्ष हुआ है इसका क्या कारण है ? भगवान् सागरदत्त कहने लगे-

- १. सधुतां म० क० ।
- २. गोत्रिमः ।

३६६

रकाल एव नष्टः । सागरवत्तरिचन्तयामास यौवनं धनं शरीरं जीवितमन्यच्च सर्व बस्तु विनश्वरं वर्तंते यथायं मेघ इति निर्वेगं गतः । अपरेद्युमनोहरोद्याने धर्म-तीर्थनायकममृतसागरं नाम तीर्थंकरं वच्चदत्तेन निजवष्त्रा सह वन्दितुमितः । तव धर्म श्रुर्था निश्चित्तसर्वस्थितिः सर्वबन्धुविसर्जन क्रुर्त्या बहुभी राजभिः समं संयमं जग्राह । मनःपर्ययर्द्धिमपदं प्राप्य धर्मापदेशेन देशान् विहृत्यात्र वीतशोकपुर-मागतः । इति मंत्रिपुत्रवचनानि श्रुत्वा शिवकुमारः प्रीतमनाः स्वयं च गत्वा मुनिवरं स्तुत्वा धर्मापृतं ततः पीत्वा जगाद भयवन् ! भवन्तं दृष्ट्वा मम महान् स्तेहः संजातः । तत्र कः प्रत्यय इत्यपृच्छत् । भगवान् सागरदत्तः प्राह अव जम्ब् द्वीपे भरतक्षेत्रे मगधदेशे वृद्धामे राष्ट्रकूटो नाम वर्णिक् । तस्य भार्या रेवती । तयोद्वी पुत्रौ भगदत्तभवदेवौ । तयार्मध्ये भगदत्तः सुस्थितनामगुहं नत्वा दीक्षां जग्राह । विनयान्वितो गुरुणा सह नानादेशान् विद्वृत्य स्वजन्मप्राममाजगाम । तदा तद्वान्धवाः

इसी जम्बूद्वीप में भरत क्षेत्र सम्बन्धी मगधदेश के वृद्ध ग्राम में राष्ट्र-कूट नामका एक वणिक् रहता था। उसकी स्त्रो का नाम रेवती था। जन दोनोंके भगदत्त और भवदत्त नामके दो पुत्र हुए । उनमें भगदत्त ने सुस्थित नामक गुरुको नमस्कार कर दोक्षा धारण करली । विनयी भगदत्त गुरुके साथ नाना देशों में विहार कर अपने जन्मके ग्राम आया । तब उसके सभी कुटुम्बो जनों ने हर्षित हो मिलकर सुस्थित नामक मुनिराज की प्रदक्षिणा देकर पूजा की । पूजा करने के बाद सब लोग वार्पिस आने को उद्यत हुए। उसी प्राम में एक दुमर्षण नामका वैश्य रहता था। उसकी नागवसु नामकी स्त्री थी। उन दोनों की नामश्री नामकी पुत्री थी। उन्होंने वह पुत्री भगदत्त के भाई भवदेव के लिये दी थी। भगदत्त का आगमन सुनकर भवदेव भी कुछ विकार करता हुआ वहाँ आया और भगदत्तको विनय-पूर्वक प्रणाम कर बैठ गया । भगदत्त ने आशीर्वाद दिया जिससे उसका मन आई हो गया। भगदत्त ने धर्म का स्वरूप और संसार की विरूपता का उपदेश देकर भवदत्त का हाथ एकान्त में पकड़ कर एकान्त में कहा—भाई ! तुझे संयम ग्रहण करना चाहिये । भवदेव ने कहा---नागश्री से छुट्टी लेकर आपका कहा करूँगा । भगदत्त ने कहा--हे भाई ! संसार में स्त्रों आदिके जाल में बैंबा हुआ जीव आत्मा का हित कैसे कर सकता है ? इस मोह को छोड़ो । तब कोई उत्तर न देख भवदेव ने बड़े भाईके अनुरोध से दीक्षा लेनेका विचार कर लिया। भगदत्त ने उसे अपने गुरु सुस्थित मुनिराज के पास छे जाकर संसारका छेद करने के

लिये शीध्र ही मोक्ष की दीक्षा दिला दी सो ठीक ही है क्योंकि सत्पुरुषों का भाई-चारा ऐसा ही होता है। भवदत्त द्रव्यसंयमी होकर गुरुओं के साथ बारह वर्ष तक विहार करता रहा। किसी समय वह अज्ञानी अकेला ही अपने वृद्धप्राम आया। वहाँ सुव्रता नाम की गणिनी को देखकर बोला-हे मात: ! क्या यहाँ कोई नागश्री नामकी स्त्री है ? वह उसके अभिन्नायको जानकर बोली हे मुने ! मैं नागश्री के वृत्तान्त को अच्छी तरह नहीं जानती । यह सुन कर भवदत्त मुनि उदासीनता को प्राप्त हो गया उसे संयम में दृढ़ करने के लिये सुव्रता नामकी गणिनो मुणवती आर्यिका को लक्ष्य कर एक कथा कहने लगी---

(१) एक सर्व समृद्ध नामका वैश्य था, उसकी दासीका एक लड़का या जो निरन्तर घिनावना रहता था तथा दारक उसका नाम था। अपनी माता अर्थात् वैश्यकी स्त्रीने उससे कहा कि तुझे हमारे सेठका जूँठा मोजन खाना पड़ेगा। हठ कर उससे कहा, खिला भी दिया। परन्तु दारक

 सुबता कामा गर्मकर्मी अर्थास्थानकं गुरुवती प्रक्ति वगाव इति पूर्वापर सम्बन्धः । (प्र+ टीन) ।

काचिन्नागंत्रीर्थामा काचिद्रस्ति म० । क प्रती नामास्ति, काचित् पदं केनापि निःसापितम् ।

तद्दासीसुतोऽघुचिर्दारकामिषेयः स्वमात्रा प्रोचे— अस्मत्श्रोष्ठ्युच्छिष्टमोजनं तु त्याऽधानीयमिति । निबंन्धादभोजितः । स जुगुप्सया वान्तवान् । तत् कंसपात्रेण धृताऽऽच्छाद्य धृतं । दारुकः पुनर्बु भुक्षुः स्वमातरं भोजनं ययाचे । तया तत्कंसपात्रं वान्तभृतमृतमृपढौकित । क्षुत्पीडितोऽपि स आत्भवान्तं न जग्राह । सोऽछुचिरपि चेत्ता-दृशस्तर्हि साधुः कयं त्यक्तमभोप्सतीति (१) । गुणवति ! पुनरेकमर्थाक्यानकं निजं मनो निइचलं इत्या त्वं श्रुणु । नरपालनामा नरेन्द्र एकं स्वानं कुतूहलेन मृष्टान्नेन संपोष्य कनकाभरणभूषितं सदा वनक्रीडादौ सुवर्णरचिता शिविकामारो-त्यैव मन्दमतिस्तमपालयत् । एकदा शिविकारूढः सरमासुतो गच्छन बालविष्टा-मालोक्य तामालेढुमापपात । तद्द्दृष्ट्वा राजा लकुटोताडनेन तमपाचकार । तथा पुत्रि ! साधुः सर्वेषां पूजनीयः पूर्वंत्यक्तां पुनर्वाञ्छन् पराभवं प्राप्नोति (२) । हे गुणवति ! पुनरेकां कथां श्रुणु-क्वचित्कोपि पथिकस्तद्वनान्तरे सुगन्धिफलपुष्पा-दिसेवया युतस्तं तरुं त्यक्त्वा सन्मागं विहा महाटवीसंकटे पतितः । तत्र जिघांसुकं चमूरं दृष्ट्वा ततो भीत्वा घावन्नेकस्मिन् भीमे कूपे बिम्यत् पपात । तत्रय पापा-च्छीतादिभिर्दोषत्रयसंभवे वाग्दृष्टिश्च्यूतिसतिप्रभृतिहीनं सर्पादिवाघ निकटं तस्मा-

ने उसे ग्लानि वश उगल दिया। सेठानी ने उस वमन को कौंसे के पात्रमें रखकर कपड़े से ढाँक कर रख दिया। दारुक को पुनः भूख लगी तब उसने अपनी माता से भोजन माँगा। माता ने वमन से भरा वह ही कौंसेका पात्र उसे दे दिया था। दारुक ने भूखसे पीडित होने पर भी अपने वमनको नहीं खाया। उस दारुक ने घिनावना होने पर भी जब अपना वमन नहीं खाया तब साघु अपनी छोड़ी वस्तुको कैंसे इच्छा कर सकता है ?

(२) हे गुणवति ! अपना मन निश्चलकर एक कथा और सुन । नरपाल नाम का एक राजा था उसने एक कुत्तेको मिठाई खिला-खिलाकर पाला था वह उसे सुवर्ण के आभूषणों से विभूषित कर सदा वन-कीडा आदिके समय सुवर्णनिर्मित पालको में बैठाकर साथ ले जाता था । इस तरह वह मूर्स राजा उस कुत्ते का पालन करता था । एक दिन पालकी पर चढ़ा कुत्ता जा रहा था सो बालक की विष्ठा देख उसे चाटनेके लिये कूद पड़ा । राजा ने यह देख उसे डण्डे से पीट कर भगा दिया । हे पुत्रि ! इसी तरह सबका पूजनीय साघु यदि पहले छोड़ी हुई वस्तुकी इच्छा करता है तो तिरस्कारको प्राप्त होता है ।

(३) हे गुणवति ! एक कथा और सुन । कहीं कोई एक पथिक किसी कामें एक वृक्षके नीचे ठहरा था उसके सुगन्धित फल और फूल आदिका २४ निर्मगमनोपायमजानन्तं तं कोऽपि भिषपवरो यदृष्ठ्या गच्छम् दृष्ट्वा दयाद्रंचित्तः केनाप्युपायेन महोदरान्निष्कास्य मंत्रौषधिप्रयोगेण विहितचरणप्रसारणं सूक्ष्मरूप-समालोकनोन्मीलितनेत्रं स्फुटाकणने विज्ञाननिजद्यक्तिकर्णयुगलं व्यक्तवावप्रसर-संयुक्तजिन्हं स चकार । पुनः सर्वरमणोयं पुरं तन्मार्गदर्शनेन प्रस्थापयामास । निर्मलहूदयाः कस्योपकारं न विदघ्युः । पुनः स विषयाक्तमतिः पथिकदुर्मतिः प्रक टीक्वतिरिग्भागमाहः प्राक्तनकूपकं सम्प्राप्य तस्मिन् पुनः पतितः तथा क्वचित्संसारे मिथ्यात्यादिकपंचोधभ्याघयो दीप्रयुपायता जन्मकूपे क्षुधादाहाद्या त्तमङ्गिनं वीध्य गुरुः सन्मतिर्वेद्यो दयालुत्वादर्मास्थानोपायपण्डितस्तस्मान्निगमय्य जिनवागौषधि-निषेवन्ना (णा) त् सम्यक्त्वल्येचनमुन्मील्य सम्यग्ज्ञानश्रुतियुगलमुद्धाटय्य सद्वृत्त-पादौ प्रसारितौ विषाय दयामयी जिह्वां व्यक्तां विधाय विधिपूवं पंचप्रकारस्ताच्या-यवचनानि तं वादयित्वा स्वर्गापवगयोर्मां सुधीः साघ्वगमयत् । तत्र केचिद्दीर्घ-संसाराः स्वपापोदयात् भ्रमरा इव सुगन्धिवन्घुरोदिभन्नचम्पकसमीपवर्तिनस्तर्सौ-

उपभोग करता हुआ रहता था। वह उस वृक्षको छोड़ आगे गया तो सन्मार्गको भूल संघन जंगलमें जा पड़ा। वहाँ एक चीता उसे खानेके लिये आया उसे देख भयभीत होता हुआ वह भागा और भागता भागता एक भयंकर कुएँमें जा पड़ा । वहाँ पापके कारण शीत आदि लगनेसे उसे त्रिदोष को बीमारो हो गई। उसकी बोलने देखने सुनने तथा चलने आदि की शक्ति नष्ट होगई, सर्प आदिकी बाधा उसके निकट ही थी, वह बहाँसे निकलने का उपाय भी नहीं जानता था, भाग्य-वश स्वेच्छासे कोई वैद्य वहाँसे निकला, उसने उसे देखा, देखते ही उसका चित्त दयासे आई हो गया, अतः उसने किसी उपायसे उसे उस महा कृपसे निकाला तथा मन्त्र और औषधिके प्रयोगसे ठीक किया। चलने में उसके पैर पसरने लगे, सूक्ष्म रूपके देखने में उसके नेत्र खुल गये, अच्छी तरह सुनने में उसके दोनों कान अपनी शक्तिसे युक्त हो गये, तथा उसकी जिह्वाभी स्पष्ट वचन बोलने लगो | वैद्य ने उसे ठोक कर उसके सब सुन्दर नगरको उसका मार्ग दिखाकर रवाना कर दिया, सो ठोक ही है क्योंकि निर्मल हृदय वाले मनुष्य किसका उपकार नहीं करते ? परन्तू वह दुबुंद्धि पयिक बिषय आसक्तचित्त हो दिग्भाग में मूढताको प्रकट करता हुआ उसी पहले कुएँ में जा पड़ा । उसी प्रकार कहीं संसार में मिथ्यात्व आदि पञ्च भयकर बीमारियां प्रबलताको प्राप्त हो रही हैं, और यह जीव संसाररूप अर्थ में पड़ा पड़ा क्षुधाकी दाहसे दुसी हो रहा है उसे देस सद्वुदिके

-4. 48]

गम्ध्यावनोघरहिताः पार्श्वस्थाख्याः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रसमीपवर्तनात्, क्रोधादि-कषायस्पर्शादिविषयलौकिकज्ञानचिकित्सादिकुज्ञानाः जिह्नायामध्टघा स्पर्शेषु च लम्पटा दुराशयाः कुशोलनामानः निषिद्धेषु द्रव्येषु भावेषु च लोलुपाः संसक्ताह्नया, हौयमानज्ञानादिका अवसानसंज्ञाः, समाचारबहिर्भूता मृग-चर्यानामधेयका महा-मोहानिवृत्या कृत्वा 'आजर्वजवागस्तदन्धकूपे पेतुर्निपतन्ति च (३) भवदेव इति श्रुत्वा सम्प्राप्तशान्तभावो बभूव । सुत्रता गणिनी सर्वार्याग्रेसरी तद्विज्ञाय दारिद्रो-त्यादितदौस्थित्यां नागश्रियमानाय्य तं दर्शयामास । भवदेवोऽपि ता दृष्ट्वा संसार-स्थिति स्मृत्वा धिगिति निन्दित्वा पुनः संयम गृहीत्वाऽध्युः प्रान्ते भ्रात्रा भगदत्तेन सह आराषमां शिश्राय । समाधिना मृत्वा माहेन्द्रकल्पे बलभद्र विमाने सामानिको

धारक गुरु रूपी वैद्य जो कि धर्मोपदेशरूपी उपायके जानने में निपूण हैं, दयालु होनेसे उसे उस संसार कूपसे बाहर निकलवाते हैं, जिनवाणी रूपी औषधिका सेवन कराकर उसके सम्यक्त्व रूपी लोचनको खोलते हैं, सम्य-ग्ज्ञान रूपी कानोंके युगलको खोलते हैं, सदाचार रूपी पैरोंको पसारते हैं, रया रूपी जिह्वाको प्रगट करते हैं, विधिपूर्वक पाँच प्रकारके स्वाध्याय के वचन उससे बुलवाते हैं, और यह सब कह कर बुद्धिमान् वैद्य उसे स्वगं तथा मौक्षके मार्गमें अच्छी तरह रवाना कराता है। उनमें कितने ही दीर्घसंसारी जीव अपने पापके उदयसे उन भ्रमरों के समान जो सुगन्धिसे युक्त खिले हुए चम्पाके समोपवर्ती होकर उसकी सुगन्धिके झान से रहित हैं, पार्श्वस्थ नाम धराते हैं, क्योंकि वे सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-पारित्रके समीपमें रहते हैं । कितने ही लोग कोधादि कषाय तथा स्पर्गादि दिषयोंके लौकिक ज्ञान और औषध आदि के मिथ्याज्ञान से युक्त हो जिह्वा इन्द्रिय के तथा आठ प्रकार के स्पर्शीक विषयमें लम्पट होकर कुर्धोल नाम धराते हैं, इनका अभिप्राय खोटा रहता है । कितने हो लोग निषिद्ध द्रव्य और भावोंमें लुभाकर संसक्त कहलाने लगते हैं । कितने हो लोग जिनके ज्ञान आदिक निरन्तर घटे रहते हैं, अवसान नाम रखाते हैं और कितने ही समीचीन आचारसे बाह्य होकर मृगचर्या नाम पाते हुए महामोह के दूर न होनेके कारण संसार पतन के कारण अपराध को करते हैं तथा अन्धकूप में पड़े हैं और वर्तमान में पड़ रहे हैं।

भवदेव इन सब कथाओं को सुनकर शान्तभाव को प्राप्त होगया। तदनन्तर समस्त आर्यिकाओं की प्रधान सुब्रता गणिनी ने दरिद्रता से

[.] १. आजवंजवास्ताधकूपे म० म० ।

देवः सप्तसागरोपमायुबंभूव । अहं भगदत्तचरः सागरदत्तत्त्चक्रिसुतः संजातः । त्वं भवदेवचरः शिवकुमारोऽत्र बभूविथ । स इति श्रुत्वा संसाराद्विरक्तो दोक्षां गृहीतु-मुद्यक्तो बभूव । वनमाल्या मात्रा महापद्मेन पित्रा च वारितो वीतक्षोकं नगरं प्रविक्ष संजातसंवित् अप्रासुकाहारं नाहरिष्यामीति व्रतं गृहीत्वा स्थितः । एतावतीदीक्षां विना प्रासुकाहारः कुतः ? भूपस्तदातौं श्रुत्वा प्राह—यः कोऽपि शिवकुमारं मोजयति तस्मै सम्प्रायितमहं दास्यामीति सभायां घोषयामास । तद्विज्ञाय सप्तस्यानसमाश्रयो दृढघर्मनामा श्रावकः समागत्य शिवकुमारं प्राह । अथ कानि तानि सप्तस्याचा-नीति चेतु—

सज्जातिः सद्गृहस्यत्वं परित्राज्यं सुरेन्द्रता । साम्राज्यं परमाहंन्त्यं निर्वाणं चेति सप्तषा ॥ १ ॥ अय द्द्रघर्मा कि प्राहेति चेत् ? हे कुमार ! तव ज्ञातयः तव ज्ञत्रवः पापस्य

जिसकी खराब दशा हो रही थी ऐसी नागश्री को बुलाकर दिखलाया। भवदेव भी उसे देखकर तथा संसारकी स्थितिका रमरण कर धिक्कार देता हुआ अपनी निन्दा करने लगा। उसने पुनः संयम धारण किया और आयु के अन्तमें भाई भगदत्तके साथ माराधना का आश्रय लिया। समांधिसे मर कर वह माहेन्द्र स्वर्ग में बलभद्र विमानमें सात सागरकी आयु वाला सामानिक जाति का देव हुआ मैं भगदत्तका जीव चक्रवर्तीका पुत्र सागरदत्त हुआ हूँ और तू भवदेवका जीव शिवकुमार हुआ है। इस प्रकार सुनकर शिवकुमार संसारसे विरक्त हो दीक्षा लेने के लिये उद्यत हो गया । वनमाला माता और महापद्म पिता ने उसे दीक्षा लेने से मना किया तो वह वीतकोक नगरमें प्रवेश कर आत्म-ज्ञानसे युक्त हो यह नियम लेकर रहने लगा कि मैं अप्रासुक आहार नहीं करू गा। इतनी दीक्षाके विना उसे प्रासूक आहार कैसे प्राप्त होता या ? इसका उत्तर यह है कि राजाने उस बातको सुन कर सभामें ऐसी घोषणा करा दी थी कि जो कोई शिवकुमारको आहार करावेगा मैं उसके लिये मन-चाही वस्तु **दूंगा । यह जानकर सप्त स्यानोंके आश्रयभूत** दृढधर्म नामक श्रावक ने आकर शिवकुमार से कहा। वे सप्त स्थान कौन हैं यदि यह जानना चाहते हो तो उसका उत्तर इस प्रकार है—

सज्जाति—सज्जाति, सदगुहस्य, पारिव्रज्य, सुरेन्द्रता, साम्राज्य, उत्कृष्ट आहेन्त्य पद और निर्वाण ये सात परम स्थान हैं।

दृढ़धर्म आवक ने शिवकुमार से कहा या कि हे कुमार ! तुम्हारे

भाषप्राभृतम्

कारणं स्वपरघातका वर्तन्ते । तेन त्वं भावसंयममघातमकृत्वा तव प्रासुकाशनं संपादा पर्यु पासनमहं कुर्वे । बन्धुवियोगं विना संयमे प्रवृतिस्तवापि दुर्लंभेति हितं वघनं जगाद च । सोऽपि तद्विदित्वा आचाम्ल्जनिविकृतिरसरहितभोजनः सन् दिव्यस्त्रीसन्तिघौ स्थित्वापि सदा विकाररहितमनाः स्त्रियास्तृणाय मन्यमानः खज्जतीक्ष्णघारायां संवर्तमानो द्वादशसंवत्सरांस्तपः कृत्वा संन्यासं गृहीत्वा जीवितान्ते ब्रह्मेन्द्रनाम्नि कल्पै विद्युन्माली देहदीप्तिव्याप्तदिक्तटो देवो बभूव । विद्युन्मालिन एवाष्टदेव्यो-अत्वगस्य जम्बूनाम्नः तत्र चतस्तो भार्याः पद्मकनकविनयरूपश्चियो भूत्वा निजभत्रौ सह दीक्षित्वाऽच्युतकल्पं गत्वा स्त्रीलिंगच्युता देवा भूत्वा पद्द्वाद्रत्रान्य मोक्षं यास्यन्ति । सागरदत्तनामा स्वर्गं गत्वात्रागत्स्य निर्वाणं यास्यति । इति जम्बूस्वामि— चरित्रं श्रुरवा श्रेणिको जहर्ष ।

इति श्रीभावप्राभृते शिवकुमारकथा समाप्ता ।

परके लोग तुम्हारे शत्रु हैं, पापके कारण हैं तया स्वपरका घात करने बाले हैं। इसलिये तुम भाव संयमका घात किये बिना प्रवृत्ति करो अर्थात् संयम धारण करने का जैसा तुम्हारा भाव है उसके अनुसार प्रवृत्ति करो, मैं प्रासुक आहार देकर तुम्हारी सेवा करता हूँ। घरके लोगोंको छोड़ बिना संयम में तुम्हारी भी प्रवृत्ति दुर्लम है, इस प्रकारके हितकारी वचन कहे। शिवकुमार ने भी यह जान कर आचाम्ल, निर्विकृति तया नीरस भोजन का नियम ले लिया। वह सुन्दर स्त्रियोंके पास रह कर भी सदा निविकार चित्त रहता था और स्त्रियोंके तृष्ण के समान तुच्छ मानता हुआ खङ्ग तीक्ष्ण धारा व्रतका लगातार बारह वर्ष तक पालन करता रहा । अन्त में सन्यास धारण कर ब्रह्मेन्द्र नामक स्वर्ग में शरीर की प्रभासे दिशाओं को व्याप्त करता हुआ विद्युन्माली नामक देव हुआ। विद्युन्माली देवकी जों आठ देवियाँ थीं उनमें चार देवियाँ जम्बू कुमार की पर्यश्री, कनकश्री, विनयश्री और रूपश्री नामकी स्त्रियाँ होकर अपने पतिके साथ दीक्षा लेवेंगी और अच्युत स्वर्ग जाकर स्त्री लिङ्ग <mark>छेद देव</mark> होंगी पीछे यहाँ आकर मोक्ष जावेंगीं । सागरदत्त नामक मुनि पहले स्वग् जावेंगे फिर यहाँ आकर निर्वाण को प्राप्त होंगे।

्हस प्रकार जम्बूस्वामीका चारित्र सुनकर राजा श्रेणिक हर्षित हुवा। इस तरह भावप्राभृत में सिवकुमार की क्या समाप्त हुई।

अंगाइं दस य दुण्णि य चउवसपु व्याइं सयलसुयणाणं। पढिओ अ भव्वसेणो ण भावसवणत्तणं पत्तो॥५२॥

अङ्गानि दश च द्वे च चतुर्दशपूर्वाणि सकलश्रुतज्ञानम् । पठितश्च भव्यसेनः न भावश्रमणत्वं प्राप्तः ॥५२॥

(अंगाइं दस दुण्णि य) अंगानि दश च हे च अंगे । (चउदसपुक्वाई) चतु-दंशपूर्वाणि (सयलसुयणाणं) सकलश्रुतझानं । (पढिओ अ) पठितश्च । (भव्य-सेणो) भव्यसेननामा मुनिः । (ण भावसवणत्तणं पत्तो) भावश्रमणत्वं न प्राप्तः । जैनसम्यक्त्वं विनाऽनन्तसंसारी बभूवेति भावार्थः । अत्र भव्यसेनो मुनिरेकादशा-ज्ल्लानि । शब्दतोऽर्थंतश्च पठितस्तद्वलेनैव द्वादशस्याज्लस्य चतुर्दशपूर्वाणां चार्थपरि-भायकत्वात् श्री कुन्दकुन्दाचार्येण सकलश्रुतेमधीमं प्रोक्तमिति ज्ञातव्यं सकलश्रुते-

गायार्थ—भव्यसेन मुनिने बारह अङ्ग तथा चौदह पूर्व रूप समस्त श्रुतज्ञान को पढ़ा फिर भी वह भाव श्रमण अवस्था को प्राप्त नहीं हो सका॥५२॥

विशेषार्थं अव्यसेन नामक मुनि, ढ्रादशाङ्ग तथा चतुर्दश पूर्व रूप सकल श्रुतका पाठी होने पर भी भाव-मुनि नहीं हो सका अर्थात् जैन सम्यक्त्व के बिना अनन्त संसार का पात्र रहा। यहां भव्यसेन मुनि ने ग्यारह अङ्गोंको तो शब्द तथा अर्थ दोनों रूपसे पढ़ा था और चौदह पूर्वों को वह अर्थ मात्रसे जानता था इसी दृष्टिसे कुन्दकुन्द स्वामी ने उसे सकल श्रुतका पाठी कह दिया है, ऐसा जानना चाहिये। क्योंकि समस्त श्रुतको पढ़ने वाला पुरुष संसार में नहीं पड़ता, ऐसा आगमका वचन है। भव्यसेनको कथा इस प्रकार है—

भव्यसेन की कथा

विजयार्धं पर्वत की दक्षिण श्रेणीमें मेघ-कूटपत्तन नामका नगर है उसमें सुमति महादेवीका पति चन्द्रप्रभ नामका राजा रहता था। वह चन्द्रशेखर नामक पुत्रके लिये राज्य देकर परोपकार के अर्थ तथा जिनदेव और जिन मुनियों की वन्दना एवं भक्तिके अभिप्राय से कुछ विद्याओंको घरता हुआ दक्षिण मथुरामें आकर मुनि गुप्ताचार्यके समोप क्षुल्लक हो गया। वह एक समय जिन मुनियोंकी वन्दना और भक्तिके लिये उत्तर मथुरा की ओर जाने लगे। चलते समय उन्होंने श्रीमुनि गुप्त आचार्यसे पूछा कि किससे क्या कहना है ? गुप्तमुनिराज ने कहा कि सुब्रत मुनिके ऽघोती संसारे न पततीस्यागमः । भव्यसेनस्य कथा यथा—विजयाढंगिरौ दक्षिणश्रेणौ मेधकूटपत्तने राजा चन्द्रप्रभः सुमतिमहादेवीकान्तरुचन्द्रश्रेखराय राज्य दत्वा परोपकारार्थं जिनमुनिवन्दनाभक्त्यर्थं च कांश्चन विद्यां दधानो दक्षिणमथु-रामागत्य मुनिगुप्ताचार्यंसमोपे क्षुल्ठको जातः । स एकदा जिनमुनिवन्दनाभक्त्यर्थ-मुत्तरमथुरां चलितः सन् श्रीमुनिगुप्तमाचार्यं प्रपच्छ किं कस्य कथ्यत इति । गुप्त उवाच----सुब्रतमुनेनंमोऽस्तु वरुणमहाराजमहादेव्या रेवत्या धर्मवृद्धिरिति वक्तव्यं त्लया । एवं त्रीन् वारान् पृष्टो मुनिस्तदेवोवाच क्षुल्ठकः स्वगतं एकादशाङ्ग-धारिणो भव्यसेनाचार्यंस्याग्येषां च नामापि भगवान् नादत्तं तत्र प्रत्ययेन मवि-तव्यमिति विचार्यं तत्र गतः । सुन्नतमुनेभंट्टारकीयां वन्दनां कथयित्वा तदीयं विधिष्ट वात्सल्यं च दृष्ट्वा भव्यसेनवसतिं जगाम । तत्र भव्यसेनेन संभाषणमपि न इतं । कुण्डिकां गृहीत्वा भव्यसेनेन सह बहिर्भूमि गत्वा विकुवंणां कृत्वा इरित-कोमलतृणांकुरच्छन्नो मार्गो दर्धितः । तं मार्गं दृष्ट्वा भव्यसेन आगमे किल्तै

लिये नमोस्तू और महाराज वरुणकी महादेवी रेवतीसे धर्मवृद्धि कहना । इस तरह क्षुल्लकने तोन बार पूछा और मुनि ने. तीन ही बारे वही उत्तर दिया। क्षुल्लकने अपने मनमें विचार किया कि ग्यारह अङ्गके धारी भव्य-सेनाचार्यं तथा अन्य मुनियोंका भगवान् नाम भी नहीं लेते हैं उसमें कुछ कारण अवध्य होना चाहिये ऐसा विचार कर वे चले गये । सुन्नत मुनिके लिये भगवान् मुनि गुप्ताचार्यं की वन्दना कह कर तथा उनका विशिष्ट वात्सल्य देखकर क्षुल्लक भव्यसेन की वसतिका को गये। वहाँ भव्यसेन ने उनके साथ संभाषण भी नहीं किया । क्षुल्लक कमण्डलु लेकर भव्यसेन के साथ बाह्यभूमि में गये और विकिया कर उन्होंने हरे कोमल तृण कुरोंसे बाच्छादित मार्ग दिखाया । उस मार्गको देखकर भव्यसेन आगम में ये जीव कहे जाते हैं, ऐसा कह आगममें अश्वदा करता हुआ तुणोंके ऊपर चलने लगा। जब भव्यसेन शौचके लिये गया तब क्षुल्लक ने कमण्डलुका जल सुखा कर कहा—भगवन् ! कमण्डलु में पानी नहीं है तथा पासमें कहीं ईंट आदि पदार्थ भी नहीं देख रहा हूँ अतः इस निर्मल सरोवर में मिझेसे शुद्धि कर लीजिये। तदनन्तर वहाँ भी उसने 'तथास्तु' कह कर धुदि कर ली। इन सब घटनाओंसे क्षुल्लकने द्रव्यलिंगी मिथ्यादृष्टि जान-कर अव्यसेनका 'यह तो अभव्यसेन हैं' इसप्रकार दूसरा नाम रख दिया। <u> इ</u>दनन्तर किसी दिन उस क्षुल्लक ने पूर्व दिशा में ब्रह्माका रूम दिखाया । उस समय वह पद्मासन से बैठा था, चारों दिशाओं में उसके चार मुख

जीवाः कथ्यन्ते इति भणित्वा आगमेऽर्घाच क्रत्वा तृणानामुपरि गतः । शौचसमये कुण्डिकाजलं शोषयित्वा क्षुल्लक उवाच---भगवन् ! कुण्डिकायामुदकं नास्ति तथा विकृती श्वेष्टिकादिकाः क्वापि नाहभीक्षे । अतोऽत्र निर्मलसरोषरे मृत्स्नया शौचं कुरु ततस्तत्रापि तथैव भणित्वा शौचं चकार । ततस्त मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगिनं झात्वा भव्यसेनस्याभव्यसेनोऽयमिति नामान्तरं चकार । ततोऽन्यदिने पूबंस्यां दिशि पद्यासनस्यं चतुर्वं कत्रमुपवीतदर्भमुंजीदण्डकमण्डलुप्रभृतिसहितं देवदानववन्द्यमानं ब्रह्म-रूपं दर्शयामास । तत्र राजादयो भव्यसेनादयश्च गताः । रेवतो कोऽयं ब्रह्मनाम ब्रह्म-रूपं दर्शयामास । तत्र राजादयो भव्यसेनादयश्च गताः । रेवतो कोऽयं ब्रह्मनाम देव इति भणित्वा लोकैः प्रेरितापि तत्र न गता । अन्यस्मिन् दक्षिणस्यां दिशि गरुडारूदं चतुर्भुत्रं चक्रशंखगदादिधारकं वामुदेवरूपं दर्शयामास । पश्चिमदिशि वृषभारूढं सार्धचन्द्रजटाजूटमौरीमणोपेतं शंकररूपं, उत्तरस्यां दिशि समवसरणमघ्यं प्राति-हार्याष्टकमहितं सुरनरविद्याधरमुनिवृन्दवन्द्यमानं पर्यंकस्थ तीर्यंकरस्थ दर्शयति सम । तत्र सर्वे लोका गच्छन्ति स्म । रेवतो तु लोकैः प्रेयंमाणापि न गता । नर्वव वासुदेवः, एकादशैव रुद्रा, चतुर्विशतिरेव तोर्थंकरा जिनागमे प्रतिपादितास्ते तु सर्वेऽप्यतीताः । कोऽप्ययं मायावो वतंते इति विचिन्त्य स्थिता । ब्रह्मा तु कोऽपि नास्ति । उक्तं च---

दिखाई देते थे, यज्ञोपवीत दर्भ, मूंज, दण्ड तया कमण्डलु आदिसे सहित था, और देव दानवोंके द्वारा वन्दनीय था। राजा आदि तथा भव्यसेन आदि सब लोग वहाँ गये। परन्तू रेवती रानी 'यह ब्रह्मा नामका कौन देव हैं, ऐसा कहकर लोगोंके द्वारा प्रेरित होने पर भी नहीं गई। दुसरे दिन क्षुल्लकने दक्षिणमें नारायणका रूप दिखाया । वह नारायण गरुड पर बैठा था, उसके चार भुजाएँ थीं और चक्र, शंख तथा, गदा आदिका धारक था। इसी प्रकार एक दिन पश्चिम दिशामें वृषभ पर बैठे, अर्ध-चन्द्र, जटाजूट पार्वती तथा गणों सहित शङ्कर का रूप दिखाया तथा एक दिन उत्तर दिशा में समवसरण के बीच आठ प्रातिहायों से सहित, सूर, नर, विद्याधर और मुनियोंके समूह से वन्दनीय पद्मासन से स्थित तीथँ-कर का रूप दिखाया। वहाँ भी सब लोग गये परन्तू रेवती रानी लागोंके द्वारा प्रेरित होनेपर भी नहीं गई। वह यह सोच कर अपने घर स्थित रही कि नारायण नो हो होते हैं, रुद्र ग्यारह ही होते हैं और तीर्थंकर चौबीस ही जिनागम में बतलाये गये हैं तथा वे सब हो चुके हैं यह कोई मायावी है। और ब्रह्मा नामक कोई देवता तो है ही नहीं क्योंकि कहा है—

आत्मनि मोक्षे ज्ञाने वृत्ते ताते च भरतराजस्य ।

वह्येति गीः प्रगीतान चापरा विद्यते ब्रह्मा ॥१॥

अन्यस्मिन् दिने चर्यावेलायां व्याधिपीडितक्षुल्लकरूपेण रेवतीगृहसमीपप्रतोली-मार्गे मायामूच्छ्या पतितः । रेवती तदाकर्ण्य भक्त्योत्याप्य नीत्वोपचारं क्वत्वा पथ्यं विषापयितुमारेभे । स च सर्वमाहारं भुक्त्वा दुर्गंन्धवमनं चकार तदपनीय हा ! विरूपकं पथ्यं मथा दत्तमिति रेवतीवचनमाकर्ण्य प्रतोषान्माथामुपसंहृत्य तां देवीं वन्दित्वा गुरोराशीर्वादं पूर्ववृत्तान्तं च कथयित्वा लोकमच्ये तस्या अमूढदृष्टि-मुच्चैः प्रशस्य स्वस्थानं चन्द्रप्रभा जगाम । धरुणमहाराजस्तु शिवकीतंये निजपु-त्राय राज्यं दत्वा दीक्षामादाय माहेन्द्रकल्पे देवो बभूव । रेवती तु तपः कृत्वा ब्रह्मकल्पे देवो बभूव ।

इति श्री भावप्राभृते भव्यसेनमुनिकथा समाप्ता ।

तुसमासं घोसंतो भावविसुद्धो महाणुभावो य । णामेण य सिवभूई केवल्णाणी फुड जाओ ॥५३॥ तुषमाषं घोषयन् भावविशुद्धो महानुभावरूच । नाम्ना च शिवभूतिः केवल्झानी स्फुटं जातः ॥ ५३॥

इस प्रकार श्रों भावप्राभृत में भव्यरोन मुनिकी कथा समाप्त हुई। गावार्च-भावसे विशुद्ध शिवभूति मुनि, तुषमाथ शब्द का बार बार- (तुसमासं घोसंतो) तुषमाषशब्दं घोषयन् पुनः पुनरुच्चारयन् मा विस्मृति यासीदिति कारणात् । (मादविसुद्धो) भावविशुद्धः । (महाणुभावो य) महा-नुभावश्च महाप्रभावयुक्तश्च । (णामेण य सिवभूई) नाम्ना च शिवभूतिः चकारा-दर्थेन च शिवभूतिः शिवानां सिद्धानां भूतिरैश्वयं अनन्तचतुष्टयलक्षणं त्रैलोक्य-नायकत्वं यस्य स मवति शिवभूतिः । (केवलणाणी फुड जाओ) केवलज्ञानी केवल्ल-झानवान् लोकप्रकाशकपंचमज्ञानवान् स्फुटं शक्रादिदेवे प्रकटीकृतधातिक्षयजाति-शायदशकः सर्वप्रसिद्धः संजात इति । अस्य कथा यथा—कश्चिच्छिवभूतिनामा-सन्नभव्यजीवः परमवैराय्यवान् कस्यचिद्गुरोः पादमूले दोक्षां गृहीत्दा महातप-स्वरणं करोति षट् प्रवचनमान्नामात्रं जानाति परं वेद्ष्व्यं किमपि तस्य नास्ति ।

उच्चारण करते हुए महा प्रभावके धारक केवल-ज्ञानी हो। गये, यह सर्व प्रकट है ॥ ५३ ॥

विशेषायं—भूल न जाऊ इस भावना से तुषमाथ शब्द का बार बार उच्चारण करते, भाव से विशुद्ध और महा प्रभाव से युक्त शिवभूति नामक मुनि केवल ज्ञानो हो गये लोकालोक को प्रकाशित करने वाले पंचम ज्ञानसे युक्त हो गये, यह सर्व प्रकट है। इन्द्रादिदेवोंने घातिया कर्मोंके क्षयसे होने वाले उनके दश अतिशय प्रकट किये। इस तरह वे सर्व प्रसिद्ध हो गये। गाथा में णामेण य (नाम्ना च) यहाँ नाम के साथ च शब्दका भी प्रयोग हुआ है उससे यह सिद्ध होता है कि वे मुनि नामसे ही शिवभूति नहीं किन्तु अर्थ से भी शिवभूति थे। शिव अर्थात् सिद्धोंकी भूति अर्थात् अनन्त चतुष्टय रूप अथवा त्रैलोक्याधिपति रूप ऐस्वर्य जिनके पास है वे शिवभूति कहलाते थे। यह शिवभूति शब्दकी सार्थकता है। इनकी कथा इस प्रकार है—-

शिवभूति मुनि की कथा

कोई एक शिवभूति नाम के अत्यन्त निकट-भव्य जीव थे। परम वैराग्य से युक्त होकर उन्होंने किसी गुरुके पादमूल में दीक्षा ले लो और धोर तपद्यरण करने लगे। वे शास्त्रके सिर्फ 'तुषमाष भिन्न' इन छह अक्षरोंको जानते थे। इससे अधिक कुछ भी पाण्डित्य उनमें नहीं था। वे आत्माको शरीर तथा कर्मोंके समूहसे भिन्न जानते थे। उन्हें आगमका वह वाक्य नहीं आता था, मात्र गुरुके द्वारा कहे हुए इस दृष्टान्स को कि -4. 48]

आत्मानं शरीरकमंचयाद्भिन्नं जानाति । तद्ग्रन्थं नायाति गुरुणा प्रोक्तं दृष्टान्तं पुनः पुनस्तीक्ष्णीकरोति तुषान्माधो भिन्न इति यथा तथा शरीरादात्मा भिन्न इति । तं शब्दं घोषयन्मपि कदाचिद्विस्मृतवान् । अर्थं जानन्नपि शब्दं न जानाति । एकाकी विरहति च । शब्दविस्मरणकलेशावर्ती कांचिद्युवति वटकादिकपचनार्थं माषान् सूपीक्ठतान् जलमध्येप्लावितांस्तुषेम्यो भिन्नान् कुर्वन्तीं दृष्ट्वा पृष्टवान् कि कुरुषे भवति ! इति । सा प्राह— तुषमाषान् भिन्नान् करोमि । स आह— मया प्राप्तमिति क्वचिद्गतः । तावम्मात्रद्रव्यभावश्रुतेनात्मम्येकलोलीभावं प्राप्तौऽन्त-मूंहर्तेन केवलज्ञानं प्राप्य नवकेवलब्धिमान् देशान् विह्त्य भव्यजीवानां मोक्षमार्गं प्रदर्थं मोक्षं गत इति ।

इति श्रीभावप्राभुते शिवभूतिपुन्युपाख्यानं समाप्तं । भावेण होइ णग्गो बाहिरलिंगेण कि च नग्गेण । कम्मपयडीण णियरं णासइ भावेण दब्वेण ॥ ५४॥ भावेन भवति नग्नः बहिलिंगेन कि च नग्नेन । कर्मप्रकृतीनां निकरं नश्यति भावेन द्रव्येण ॥ ५४॥

जिस प्रकार तुष से माथ उड़द भिन्न है, उसो प्रकार शरीर से आत्मा भिन्न है, बार बार उच्चारण कर पक्का करते रहते थे। उस शब्दका उच्चारण करते रहने पर भी वे कदाचित् उसे भूल गये। अब वे अर्थको तो जानते थे परन्तु शब्द नहीं जानते थे। अकेले ही विहार करते थे इसलिये (किसो से पूछनेका अदसर भी नहों मिलता था)। शब्द के भूल जाने का क्लेश उन्हें बार बार उठा करता था। उन्होंने एक बार किसी स्त्री को बड़े आदि बनाने के लिये दाल रूप परिणत उड़दों को पानी के मध्य डुबाकर तुषों से पूथक् करती हुई देखा और देखकर पूछा कि आप यह क्या कर रही हैं? उस स्त्रो ने उत्तर दिया कि मैं तुषों और उड़दोंको अलग अलग कर रही हूँ। मुनि बोले कि मैंने 'पा लिया'। इतना कह कर वे कहीं चले गये। उत्ते मात्र द्रव्य और भाव श्रुतज्ञानके द्वारा वे आत्मा में इतनी तल्लोनता को प्राप्त हुए कि अन्तमू हूतमें केवल-ज्ञान को प्राप्त कर नो केवल लब्ध्यों से युक्त हो गये तथा देशों में विहार कर भव्य जीवोंको मोक्षमार्ग दिखलाते हुए मोक्ष गये।

इस प्रकार श्राभावप्राभृत में शिवभूति मुनिको कथा समाप्त हुई । गाथार्थ---भावसे नग्न होता है बाह्य लिङ्ग रूप नग्न वेषसे क्या साध्य है ? अर्थात् कुछ नहीं भावसहित द्रव्यलिङ्ग के द्वारा ही कर्मप्रक्व-तियोंका समूह नष्ट होता है ॥ ५४॥ (भावेण) जिनराजसम्यक्स्वेन। (होइ णग्गो) भवति नग्नो निग्रंग्य-स्वरूपः । (बाहिरलिंगेण किंच नग्गेण) बहिलिंगेन किंच बाह्यनग्नतया न किमपि मोक्षलक्षणं कार्य सिद्धधति पशूनामिव। (कम्मपयडीण णियरं) कर्म-प्रकृतीनां निकरं समूहः अष्टचत्वारिशदधिकशत्संख्यानां वृन्दं (णासइ भावेण दय्वेण) नश्यति भावेन द्रव्येण चेति । ये मिथ्यादृष्टयो गृहस्या अपि सन्तोऽस्मार्क भावो विद्यते इति वदन्ति स्त्रीभिः सह ब्रह्मचर्यं च भजन्ति ते "लौंकाःचार्वाक-सदृशा नास्तिकास्तन्मतनिरासार्थमिदं वचनमुक्तं श्रीकुन्दकुम्दाचार्थस्वामिभिः (णासइ भावेण दव्वेण) भावेण - कर्मक्षयो भवति भावपूर्वकद्रव्यलिंगेन गृहीतेन द्वाम्यां भावद्रव्यलिंगाम्यां कर्मप्रकृतिनिकरो नश्यति न त्वेकेन भावसात्रेण द्रव्य-भात्रेण वा कर्मक्षयो भवति । इति व्याख्यानबलेन ते नास्तिका पूर्वबच्छिन्नणीया इति भावार्थः ।

णग्गत्तणं अकज्जं भावणरहियं जिणेहिं पण्णत्तं । इय णाऊण य णिच्चं भाविङजहिं अप्पयं धीर ॥५५॥ नग्नत्वं अकार्य भावरहितं जिनेः प्रज्ञप्तम् । इति ज्ञात्वा च नित्यं भावयेः आत्मानं घीर ॥५५॥

विशेषार्थ— भाव अर्थात् जिन सम्यक्तव से ही निग्नंन्थ रूप प्राप्त होता है। पशुओं के समान केवल बाह्य-लिङ्ग रूप नगन मुद्रा धारण करनेसे मोक्ष रूप कार्य सिद्ध नहों होता कर्मोंकी एकसौ अड़तालीस प्रक्व-तियोंका समूह भाव और द्रव्य दोनों लिङ्गोंके धारण करनेसे ही नष्ट होता है। जो मिथ्यादृष्टि गृहस्थ होते हुए भी कहते हैं कि हमारे मुनिका भाव विद्यमान है, तथा स्त्रियोंके साथ रहते हुए ब्रह्मचर्य का सेवन करते हैं वे लौंक लोग चार्वाकोंके समान नास्तिक हैं उनके मतका निराकरण करनेके लिये श्रीकुन्दकुन्दाचार्य स्वामी ने यह वचन कहा है 'णासइ भावेण दव्वेण' अर्थात् भावपूर्वक द्रव्यलिङ्ग के ग्रहण करने में ही कर्म प्रकृतियों का समूह नष्ट होता है, केवल भावसे अथवा केवल द्रव्यसे नष्ट नहीं होता। इस व्याख्या के बलसे वे नास्तिक पहले की तरह शिक्षा देने योग्य हैं ॥ ५४॥

गाधार्थ-जिनेन्द्र भगवान् ने भाव रहित नग्नत्वको अकार्य-कार्य-रहित कहा है ऐसा जान कर हे धीर पुरुष ! निरन्तर आत्मा को भावना करना चाहिये ॥ ५५ ॥

१. জীকা ক০।

भावप्राभृतम्

(णगगत्तणं अकञ्जं) नग्नस्वं सर्वे बाह्यपरिग्रहरहितत्वं अकार्यं सर्वकर्मक्षय-लक्षणमोक्षकार्यरहितं । कयंभूतं नग्नस्वं, (भावणरहियं जिणोहिं पण्णत्तं) भाव-नारहितं पंचपरमेष्ठिवाह्यभावनारहितं निजधुद्धबुद्धैकस्वभावात्मान्तरङ्गभावनारहितं च जिनैस्तीयंकरपरमदेवैरनगारकेवलिभिर्गणघरदेवैदच प्रज्ञप्तं प्रणीतं प्रतिपादितं कथितं भणितमिति यावत् । (इय णाऊण य णिच्चं) इति झात्मा विज्ञाय नित्यं सर्वकालं । (भाविज्जहि अप्पयं घीर) भावयेस्त्वं आत्मानं बहिस्तत्वं च हे घीर ! योगीक्ष्वर ! इति सम्बोधनपदेन घ्येयं प्रति घिय मीरन्ति प्रेरयन्ति इति चीरा योगीक्ष्वरा एव धाह्या न तु गृहस्थवेषधारिणः 'पापिष्ठलौका. गृहस्थानां सम्यक्त्वपूर्वकमणुन्नतेषु दानपूजादिलक्षणेषु गुरूणां ²वैयावृत्यफलेषु नियोगो भातव्य इति । तथा चोक्तं लक्ष्मीधन्द्रेण गुरुणा----

> ³विज्जावज्जें विरहियहं वय णियरो वि ण ठाइ। सुक्क सरट्ट किह हंस कुलू जंतड घरणह जाइ।।

विशेषार्थ-पंचमपरमेष्ठियोंको बाह्य मावना से रहित तथा शुद्ध-बुद्ध-वीतराग सर्वज्ञता रूप एक स्वभावसे युक्त निज आत्माकी अन्तरङ्ग भावनासे रहित जो नग्नता है अर्थात् सर्वं बाह्य परिग्रह से रहित अवस्था है वह सब कर्म क्षय रूप मोक्ष कार्यसे रहित है। ऐसा तीर्थंकर परम देवने, अनगार केवलियों ने अथवा गणघर देवों ने कहा है। ऐसा जानकर हे घोर ! हे योगोश्वर ! तू आत्मा तथा बाह्य तत्त्वकी भावना कर । यहाँ आचार्य महाराज ने जो 'घोर' यह सम्बोधन पद दिया है उससे ध्येय के प्रति बुद्धिको प्रेरित करने वाले मुनियोंका ही ग्रहण करना चाहिये। गृहस्थ वेधको धारण करने वाले पापी लोंकों का नहीं। दान पूजा आदि जिनके लक्षण हें तथा गुरुओं की वैयावृत्त्य जिनका फल है ऐसे सम्यक्त्व-पूर्वक अणुद्रत धारण करना गृहस्थों का कार्य जानना चाहिये। जैसा कि लक्ष्मोचन्द्र गुरुने कहा है-

वैयावर्ण्य — जो पुरुष वैयावृत्य से रहित हैं उनके व्रतोंका समूह नहीं ठहरता, सो ठीक ही है क्योंकि सूखे सरोवरसे जाता हुआ हसोंका कुरु किस प्रकार रोका जा सकता है ?

- १. জীকা: ক০ ।
- वैदावृत्यसकालेषु म० ।
- ३, सावय जम्म बोहा ।

तं भावलिंगं केरिसं हवदि तं जहा---

तद्भावलिंगं कीद्शं भवति तद्यथा---तदेव निरूपयन्ति भगवन्तः---

देहादिसंगरहिओ माणकसार्एहि सयलपरिचत्तो । अप्पा अप्पम्मि रओ स भावलिंगी हवे साहू ॥५६॥

देहादिसंगरहितः मानकषायैः सकलपरित्यक्तः। आत्मा आत्मनि रतः स भावलिङ्गी भवेत् साधुः॥ ५६॥

(देहादिसंगरहिओ) देहः शरीरं स आदिर्येषां पुस्तककमण्डलुपिण्छपट्टशिष्य-शिष्याछात्रादीनां कर्मनोकर्मद्रव्यकर्मभावकर्मादीनां संगानां चेतनाचेतनबहिरंगान्तरंग-परिग्रहाणां ते देहादिसंगा । अथवाऽऽगमभाषया---

क्षेत्रं वास्तु धनं धान्यं द्विपदं च चतुष्पदं। हिरण्यं च सुवर्णं च कुप्यं भांडं वहिर्दश्च ॥ १ ॥ मिष्यात्ववेदहास्यादिषट् कषायचतुष्टयं। रागद्वेषोे च संगाऽस्युरन्तरङ्गाइचतुर्दश्च ॥ २ ॥ इति क्लोकद्वयकघितक्रमेण चतुर्विद्यतिपरिप्रहास्तेम्यो रहितो देहादिसंगरहितः ।

बह भावलिङ्ग कैसा होता है ? यही श्री कुन्दकुन्द भगवान निरूपण करते हैं---

गाथार्थ---जो शरीर आदि परिग्रह से रहित है, मान कषायसे पूर्ण-तया निर्मुक्त है तथा जिसकी आत्मा आत्मस्वरूपमें लीन है वह साधु भावलिङ्गी होता है।। ५६॥

विशेषार्थ----देह शरीरको कहते हैं उसे आदि लेकर पुस्तक कमण्डलु पिच्छी पटट शिष्य, शिष्या तथा छात्र आदि, अथवा कमें, नोकर्म, द्रव्य-कर्म, भावकर्म आदि अथवा चेतन अचेतन बहिरज्ज परिग्रह ये सब देहादि-संग कहलाते हैं। अथवा आगमको भाषासे----

क्षेत्रं वास्तु---खेत, मकान, धन, धान्य, द्विपद-दासी दास, चतुष्पद-गाय मेंस चोड़े आदि पशु, चौदी, सुवर्ण, वस्त्र तथा वर्त्तन ये दश बाह्य परिग्रह हैं।

मिष्यास्व--मिष्यात्व, वेद, हास्यादि ६ नोकषाय, चार कषाय, राग और द्वेष ये चौदह अन्तरङ्ग परिग्रह हैं ।

जो मुनि पूर्वोक्त दोनों श्लोकों में कहे गये चौबीस प्रकार के परिप्रहसे दूर रहता है उसे देहादि संग-रहित बतलाया गया है। इसके सिवाय जो (माणकसार्एहि सथलपरिचत्तो) मानकषायैं: सकलपरित्यक्तः मनोंवचनकार्यं रहितः । (अप्पा अप्पम्मि रओ) आत्मा आत्मनि रतः । य एवं विघः (स भावलिंगीहवे साहू) स साधुर्भावलिंगी भवेत् ।

मर्मात्त परिवज्जामि निम्ममत्तिमुबट्टिदो । आलंबणं च मे आदा अवसेसाई वोसरे ॥ ५७ ॥ ममत्वं परिवर्जामि निर्ममत्वमुपस्थितः । आलम्बनं च मे आत्मा अवशेषाणि व्युत्सुजामि ॥ ५७ ॥

(ममर्ति परिवज्जामि) ममत्वं ममतां ममेदमहमस्येति भावं परिवर्जीमि परिहरामि। (निम्ममर्त्तिमुवटि्ठदो) निर्ममत्वमिति भावमुपस्थित आश्रितः। (आलंबणं च में आदा) यद्येवं ममत्वं परिहरसि निषेघं करोषि तर्हि कं विधि श्रयसि ''एकस्य निषेधोऽपरस्य विधिः'' इति वचनात् द्वयमत्रति पृष्टे उत्तरं ददाति आलम्बनं चाश्रयो मे मम आदा आत्मा निजशुद्धबुद्धं कजीवपदार्थं इति विधिः।

सब प्रकारके मान कषायों से मुक्त हो तथा जिसकी आत्मा आत्मा में हो लीन रहो है, वह साघु भावलिङ्गी कहा जाता है ।

[यहाँ अन्य परिग्रहोंके त्यागके साथ बारीर के त्यागका भो उल्लेख किया है सो बारीर वस्त्र आदिके समान सर्वथा भिन्न परिप्रह तो है नहीं तब इसका त्याग किस प्रकार हो सकता है। इस प्रश्नका उठना स्वा-भाविक है परन्तु उसका उत्तर यह है कि बारोरसे ममता मावका छोड़ना-ही बारीर रूप परिग्रहको त्यागना है।]

गाबार्य-में निर्ममभाव को प्राप्त होकर ममता भावको छोड़ता हूँ। अब दूँकि मेरा आलम्बन मेरो ही आत्मा है अतः अन्य समस्त भावोंको छोड़ता हूँ॥ ५७॥

विशेषार्थ- 'यह मेरा है और मैं इसका हूँ' इस प्रकार के भावको ममस्य कहते हैं। मैं इस ममत्व भावको छोड़ता हूँ और निर्ममत्व भावको प्राप्त होता हूँ। यदि इस प्रकार ममत्व भावको छोड़ते हो अर्थात् इसका निषेध करते हो तो फिर किस विधिका आश्रय छेते हो क्योंकि 'एक का निषेध होता है और दूसरे को विधि होती है', ऐसा आगम का वचन है ? अतः यहाँ विधि और निषेध दोनों का समन्वय क्या है ? ऐसा प्रश्न होने पर आबार्य महाराज उत्तर देते हैं कि सेरा आलम्बन मेरा घुढ बुढ स्व-माव वाला आत्मा है अर्थात् यह विधि हिंई और आत्मा से अतिरिक्त (अवसेसाई बोसरे) अवसेवाणि आत्मन उद्धरितानि रागद्वेषमोहादीनि व्युत्सुजामि परिहरामि ।

आवा खुमज्झ णाणे आवा मे दंसणे चरित्ते य । आवा पच्चक्खाणे आवा मे संबरे जोगे ॥ ५८ ॥ आत्मा खलु मम ज्ञाने आत्मा मे दर्शने चरित्रे च ।

आत्मा प्रत्याख्याने आत्मा मे संवरे योगे ॥ ५८ ॥ (आदा खु मज्झ णाणे) आत्मा निजचैतन्यस्वरूपो जीवपदार्थः खु स्फुटं मम झाने ज्ञानकार्थे, ज्ञाननिमित्तं ममात्मैव वर्तते नात्यत्किमपि ज्ञानोपकारणादिकं पुस्तकपटिटकादिकमिति भावः । (आदा मे दंसणे चरित्ते य) आत्मा मे दर्शने सम्यक्त्वे सम्यग्दर्शनकार्थे नान्यत्किमपि तीर्थयात्राजिनप्रतिष्ठाशास्त्रश्रवणवन्दन-स्तवनादिकं इत्यादि सम्यक्त्वोत्पत्तिकारणं । चरित्रे च ममात्मैव-चारित्रकार्थे ममात्मैव वर्तते न तु नानादिकल्परूपं द्रतसमितिगुप्तिधर्मानुप्रेक्षापरीधहजयादिकमास्रवनि-

रागद्वेष मोह आदिको छोड़ता हूँ, यह निषेघ हुआ। परम भेद-विज्ञान के द्वारा यहाँ निज शुद्ध बुद्ध आत्मा को उपादेय तथा रागादि विकार भावों-को हेय बतलाया है।। ५७।।

गायार्थ---निरचय से मेरे ज्ञानमें आत्मा है, सम्यग्दर्शन में आत्मा है, चारित्र में आत्मा है, प्रत्याख्यान में आत्मा है, संवर में आत्मा है और योग-ध्यान में आत्मा है ।। ५८ ॥

-4. 49]

भावप्रामृतम्

रोषस्रमणभावसंवरनिमित्तं । (आदा पण्चनकाणे) आगाभिदोषनिराकरणलकाणं प्रत्याख्यानं प्रत्याक्याननिमित्तं ममात्मैव वर्तते । (आदा मे संवरो जोगे) आत्मा मे मम संवरे संवरनिमित्तं कर्मास्रवनिरोघलक्षणसंवरकार्ये ममात्मैव वर्तते । योगस्य घ्यानस्य कार्ये ममात्मैव वर्तते इति भावः ।

एगो मे सस्सदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो। सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा॥ ५९॥

एको मे शास्वत आत्मा ज्ञानदर्शनलक्षणः।

शेषा में बाह्या भावाः सर्वे संयोगलक्षणाः ॥ ५९ ॥

(एगो मे सस्सदो अप्पा) एको मे शाश्वत आत्मा अन्यत्सर्व विनश्वर-मित्यर्थः । स आत्मा कथंभूतः (णाणदंसणलक्खणो) निश्चयेन केवलज्ञानकेवल-दर्शनलक्षणः, व्यवहारेणाष्टविधज्ञानचतुर्विधदर्शनचिन्हः, मतिश्रुतावधिमनःपर्येय-केवलानि सम्यग्ज्ञानं पंचविधं क्रुमतिक्रश्रुतविभंगलक्षणं मिथ्याज्ञानं त्रिविधं, इत्यघ्ट-

कारण नहीं हैं। आस्रव का निरोध होजाना संवर है। इस संवर में मेरा आत्मा ही विद्यमान है अथवा कर्मास्रवनिरोध रूक्षण संवर रूप कार्य में मेरा आत्मा ही कारण है, अन्य पदार्थं नहीं। योग ध्यान को कहते हैं। योग में मेरा आत्मा ही विद्यमान है अथवा योग-ध्यान रूप कार्य में मेरा आत्मा ही कारण है।

[यहां पर टीकाकार ने उपादान कारण को अपेक्षा आत्मा को ज्ञान, दर्शन ही चारित्र, प्रत्याख्यान, संवर और योग का कारण कहा है क्योंकि आत्मा ही ज्ञानादि रूप परिणमन करता है। बाह्य कारणों का सर्ववा निषेध नहीं समझना चाहिये क्योंकि व्यवहार नयसे उनकी मी उपयोगिता होती है]।। ५८ ॥

गायार्थ-अविनाशी और ज्ञान दर्शन रूप लक्षण से युक्त एक आत्मा ही मेरा है कमेंकि संयोग से होने वाले अन्य सभी भाव मुझ से बाह्य हैं मेरे नहीं हैं ॥ ५९ ॥

विशेषार्थं—निरुचयनय से केवल ज्ञान और केवल दर्शन लक्षण वाला तया व्यवहारनय से आठ प्रकार के ज्ञान तथा चार प्रकार के दर्शन रूप लक्षण से युक्त एक अविनश्वर आत्मा ही मेरा है, कर्मोदय से मिले हुए पुत्र स्त्री तथा मित्र आदि पदार्थ मेरे नहीं हैं, स्पष्ट ही मुझ से बाह्य भाव हैं। मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यंय और केवल ये पाँच सम्यग्धान तथा कुमति,

२९

षट्रप्राभते

भेदा ज्ञानस्य । चक्षुर्दर्शनमचक्षुर्दर्शनमवधिदर्शनं केवलदर्शनं चेति चतुर्विधं दर्शनं, इति हादशभेद उपयोगो जीवस्य व्यवहारभूतं लक्षणं । (सेसा मे बाहिरा भावा) शेषा ज्ञानर्शनद्वयादुबहिभू ताः पुत्रकलत्रमित्रादयः पदार्था वाह्या भावाः पदार्था भवन्ति । (सब्वे संजोगलन्खणा) सर्वे संयोगेन कर्मोदयेन मिलिता इत्यर्थः ।

भावेह भावसुद्धं अप्पा सुविसुद्धणिम्मलं चेव । लह चउगइ चइऊणं जइ इच्छह सासयं सुक्खं ॥ ६० ॥ भावयत भावशुद्धं आत्मानं सुविशुद्धनिर्मलं चैव।

लघु चतुर्गति त्यक्त्वा यदि इच्छत भाश्वतं सुखम् ॥ ६० ॥ (भावेह भावसुद्धं) भावयत युवं कथं ? यथा भवति भावसुद्धं-भावछादं परिणामस्य निष्कुटिलत्वं मायामिथ्यानिदानशल्यत्रयरहितत्वं यथा भवत्येवं आत्मानमईत्सिद्धादिकं च हे भव्याः ! भावयत । 'हजित्या मध्यमस्य' इति सूत्रेण तस्थाने ह । (अप्पा सुविसुद्धनिम्मलं चेव) आत्मानं सुविशुद्धनिमलं चेव । आत्मानं कथभूतं, सुविशुद्धनिर्मलं सुष्ठु अतिशयेन विशुद्धं कर्ममलकलंकरहितं निर्मलं रागद्वेषमोहमलरहितं। (लहु चउगइ चइऊणं) लघु शोघ्रं चतुर्गति त्यक्त्वा प्रमुच्य । (जइ इच्छह सासमं सुक्खं) यदि चेत्, इच्छत यूयं शाहवतमविनहवरं सौख्यं परमानन्दलक्षणमिति ।

कुश्रृत और कुअवधि ये तीन मिथ्याज्ञान इस प्रकार ज्ञान के आठ मेद हैं और चक्षुर्दर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन ये दर्शन के चार भेद हैं | दोनों मिलाकर उपयोग के बारह भेद होते हैं | यह बारह प्रकार का उपयोग जोवका व्यवहार नयाश्रित लक्षण है ॥५९॥

गायार्थ-हे मुनिवर ! यदि तुम चारों गतियों को छोड़कर अवि-नाशी सुसकी इच्छा करते हो तो शुद्ध भाव-पूर्वक अत्यन्त विशुद्ध और निर्मल आत्मा का ध्यान करो ॥ ६० ॥

विशेषार्थ—हे भव्य ! यदि तू लघु अर्थात् शोघ्र ही चतुर्गति से छूट कर शाश्वत अविनश्वर सुख की इच्छा करता है तो भावोंको शुद्ध बना-कर माया मिथ्या और निदान इन तीनों शल्यों से मुक्त होकर आत्मा का अथवा अहंन्त सिद्ध आदिका चिन्तन करो । यह अत्यन्त विशुद्ध अर्थात् कर्म मल कलङ्क से रहित तथा रागद्वेष और मोह रूपी मलसे रहित है। 'भावेह' यहाँ पर 'हजित्सा मध्यमस्य, इस सूत्रसे त के स्यानमें 'ह' होगया है ॥ ६० ॥

जो जीवो भावंतो जीवसहावं सुभावसंजुत्तो । सो जरमरणविणासं कुणइ फुडं लहइ णिव्वाणं ॥६१॥

यो जीवो भावयन् जीवस्वभावं सुभावसंयुक्तः ।

म जरामरणविनाशं करोति स्फुटं लभते निर्वाणम् ॥६१॥ (जो जोवो भावंतो) यो जीव आसन्तभव्यः भावंतो-भावयन् भवति । कं भावयन् भवति (जीवसहावं) जीवस्वभावमात्मस्वरूपं अनन्तज्ञानानन्तदर्शना-नन्तवीर्यानन्तसुखस्वरूपं केवलं केवलज्ञानमयं वा आत्मानं । कयंभूतः सन् । (सुभा-वसंजुत्तो) शोभनपरिणामसंयुक्तो रायद्वेषमोहादिविभावपरिणामरहितः । (सो जरमरणविणासं स कुणइ फुडं) जीवोऽन्तरात्मा भेदज्ञानबलेन जरामरणविनाशं करोति पुनर्जराजीर्णों न भवति न च कथं ? म्रियते फुडू-स्फुटं निष्चयेन तीर्यंकरो भवति । (लहइ णिय्वाणं) लभते कि निर्वाणं सर्वकर्मक्षयलक्षणं मोक्षं अनन्तसुखं प्राप्नोतीत्यर्त्थाः ।

जीवो जिणपण्णत्तो णाणसहाओ य चेयणासहिओ । सो जीवो णायव्यो कम्मक्खयकारणणिमित्तो ॥६२॥ जोवो जिनप्रज्ञप्तः ज्ञानस्वभावश्चेतनासहितः ।

स जीवो ज्ञातव्यः कर्मक्षयकारणनिमित्ते ॥ ६२ ॥

गाधार्थ—जो जीव उत्तम भावों से युक्त होकर आत्मस्वभाव का जिन्तन करता है वह जरा और मरणका नाश करता है तथा स्पष्ट ही निर्वाणको प्राप्त होता है।। ६१ ॥

विशेषार्थ----जो प्राणी सुभाव-----उत्तम परिणामों से युक्त तथा राग-देष मोह आदि विभाव परिणामों से रहित होता हुआ जीवस्वभावका अर्थात् अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीयं और अनन्त सुख स्वरूप अर्थवा मात्र केवल ज्ञानमय आत्मा का ध्यान करता है वह अन्तरात्मा मेदज्ञान के बल से जरा और मरण का नाश करता है अर्थात् फिर न जरा से जीणं होता है और न मरता है किन्तु निश्चय से तीर्थंकर होता है और सर्व कर्म क्षय रूप लक्षण से युक्त एवं अनन्तसुख---सम्पन्न मोक्ष को प्राप्त होता है ॥ ६१ ॥

गाथार्थ-जिनेन्द्र भगवान् ने ज्ञान स्वभाव वाले एवं चेसमा से सहित जीवका निरूपण किया है कमॉका क्षय करनेके लिवे वह जीव अवस्य हो जानने योग्य है। ६२।। (जीवो जिजपज्जतो) जीव बात्मा जिनप्रज्ञप्तः श्रोमद्भगवदह्रंसवंज्ञवीत-रागेण प्रणीतः कथितः । जोबो नास्तीति ये जुवाक्कुशिष्या वदन्ति तन्मतमनेन पदेन निरस्तं भवतीति ज्ञातव्यं । तथा चोक्तं---

ैतदहंजस्तनेहातो रक्षोदृष्टेभंवस्मृतेः ।

^२भूतानन्वयनाज्जीवः प्रकृतिज्ञः सनातनः ॥ १ ॥

कयंभूत: प्रणीतः, (णाणसहाव्यो य) ज्ञानस्वभावो ज्ञानस्वरूपः। तथा चोक्त—

> विभावसोरिवोष्णत्वं ³चरेण्योरिव चापलं। शशाक्ट्रस्येव शीतत्वं स्वरूपं झानमात्मनः ॥ १ ॥

विद्योषार्थ---श्रीमान्-भगवान्-अहंन्त-सर्वज्ञ वीतराग देव ने जोव पदार्थ का निरूपण किया है इसलिये 'जीव नहीं हैं' ऐसा जो चार्वाक कहते हैं इस पदसे उनके इस मत का निराकरण हो जाता है । ऐसा ही कहा है----

तबई आ — यह ज्ञान स्वभाव जीव सनातन है — अनादि सिद्ध है। पृथिवी जल अग्नि और वायु इस भूत चतुष्टय से नवीन उत्पन्न नहीं हुआ है क्योंकि उसी दिन उत्पन्न हुए बालक की स्तन पीने की चेष्टा देखी जाती है यदि जीवको पूर्व भवका संस्कार न होता तो वह एक दिन की अवस्था में ही माता का स्तन न पीता। इसके सिवाय प्रेत पूर्व भव को वार्ता सुनाते देखे जाते हैं और किन्हीं को अपने पूर्व भवोंका स्मरण भी होता देखा जाता है इससे भी सिद्ध होता है कि इस जीव का पूर्व-भवों से सम्बन्ध रहता है, सर्वथा नवीन ही उत्पन्न नहीं होता है। जो जिससे उत्पन्न होता है उसका अन्वय – सम्बन्ध उसके साथ अवश्य रहता है परन्तु भूत – चतुष्टय का जीवके साथ कुछ भी अन्वय नहीं देखा जाता, इससे सिद्ध होता है कि जीवकी उत्पत्ति भूतचतुष्टय से नहीं होती ।

प्रक्त-यह जीव कैसा है ?

विभावसो—जिस प्रकार अग्निका स्वरूप उष्णता है, वायुका स्वरूप चपलता है, और चन्द्रमा का स्वरूप शीतलता है उसी प्रकार आत्मा का

१. यन्नस्तिलके सोमदेवस्य ।

२. प्रवेयरलसालम्यां वीवः इत्यास्य स्थाने सिद्धः थाठः ।

३. बरेष्यों म• ।

भावप्रामृतम्

इत्यनेन ये सांख्याः कापिलाः सत्कार्यापरनामानो मिष्यादृष्टयो वदन्ति जीवः खलु मुक्तः न् बाह्यग्राह्यरहितो भवति'' तन्मतं निराक्वतं भवतीति वेदितव्यं । तया चोक्तं—

कपिलो यदि बाञ्छति वित्तिमचिति सुरगुरुगीगुँकेष्वेव पतति ।

चैतन्यं बाह्यग्राह्यरहितमुपयोगि कस्य वद तत्र विदित ॥१॥

(चेयणासहिओ) चेतनासहितः प्रतिपद्विराजमान इत्यनेन लोकायतमत निरस्तमिति ज्ञातव्यं । एवं गुणविभिष्टेन जीवेन कि कार्यं भवतीति पर्यंनुयोगे सतीदं प्राहुः—(सो जीवो णायव्वी) स जीवः स आत्मा ज्ञातव्यः । (कम्मक्खय-कारणणिमित्ते) कर्मक्षयकारणनिमित्ते कर्मणां ज्ञानावरणदर्शनावरणवेदनीयमोह-नीयार्युंर्नीमगोत्रान्तरायाणां समूलकाषं कषणे जीवपदार्थं एव समर्यं इति ज्ञातव्यं । अनन्तसोक्ष्यदानहेतुरात्मेति भावः ।

स्वरूप ज्ञान है। इस कथन से सत्कार्य इस दूसरे नामको धारण करने वाले मिथ्यादृष्टि सांख्य जो यह कहते हैं कि 'जोव मुक्त होता हुआ बाह्य पदार्थों के ग्रहण से रहित हो जाता है' उसका खण्डन हो जाता है। जैसा कि कहा है----

कपिलो—यदि सांख्य अचेतन प्रकृति में ही ज्ञानको चाहता है अर्थात् ज्ञान पुरुष का धर्म न होकर अचेतन प्रकृति का धर्म है, ऐसा मानता है तो वह चार्वाक के बचन जाल में ही आ पड़ता है अर्थात् जिस प्रकार चार्वाक ज्ञानको अचेतन भूत-चतुष्टय का धर्म मानते हैं उसी प्रकार सांख्य भी ज्ञानको अचेतन प्रकृतिका कार्य मानते हैं, इस तरह सांख्य और चार्वाकोंका कहना एक सदृश होता है। सांख्य चैतन्य को बाह्य ग्राहय से रहित मानते हैं अर्थात् उसे ज्ञेयाकार परिच्छेद से पराङ मुख स्वीकार करते हैं सो ऐसा चैतन्य किसके लिये उपयोगो है तुम्हीं कहो ?

प्रक्न-पूनः जीव कैसा है ?

उत्तर-चेतना से सहित है, अर्थात् ज्ञान से शोभायमान है।

इस कथन से चार्वाकों के मतका निराकरण होता है। इस प्रकार के गुणोंसे विशिष्ट जीवके द्वारा क्या कार्यं होता है? ऐसा प्रश्न उपस्थित होनेपर कहते हैं— वह जीव ज्ञातव्य है–जानने के योग्य है। किस लिये ? कर्मक्षय के लिये। क्योंकि ज्ञानावरण दर्शनावरण वेदनीय मोहनीय आयु नाम गोत्र और अन्तराव इन आठ कर्मोंका समूल क्षय करने में जीव पदार्थ ही समर्थ है। तात्पर्य यह है कि आत्मा अनन्त सुखको देने-बाला है।

नेसि जीवसहावो णत्थि अभावो य सम्बहा तत्थ । ते होंति भिण्णवेहा सिद्धा वचिगोयरमतीदा ॥६३॥

येषां जीवस्वभावो नास्ति अभावश्च सर्वथा तत्र । ते भवन्ति भिन्नदेहाः सिद्धा वचोगोचरातीताः ॥६२॥

(जेसि जीवसहावो) येषामासन्नभव्यानां जीवस्वभाव आत्मस्वभाव आत्म-नोऽस्तित्स्वमस्ति (णत्थि अभावो य सव्वहा तत्व) नास्त्यभावरुच सर्वथा तत्र । तत्रात्मनि अभावश्च नास्ति ''अस्त्यात्मानादिबढः'' इति वचनात् । (ते होंति भिष्णदेहा) ते पुरुषा भवन्ति भिन्नदेहाः शरीर रहिताः (सिद्धा वचिगोयर-मतीदा) ते पुरुषाः कि भवन्ति सिद्धाः सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिविद्यते येषां ते सिद्धाः प्रज्ञादित्वादस्त्यर्थेऽण्प्रत्ययः । कर्गं भूताः सिद्धाः, वचोगोचरातीता वाचा

गायार्थ जिनके जीवका सद्भाव है, उसका सर्वथा अभाव नहीं है, वे ही घरीर से रहित तथा वचन के विषय से अतीत सिद्ध होते हैं ॥६३॥

विशेषार्थ—जिन निकट भव्य जीवों के आत्मा का अस्तित्व है अर्थात् जो आत्मा का सद्भाव स्वीकार करते हैं तथा उसका सर्वथा अभाव नहीं मानते वे ही शरीर को नष्ट कर अशरीर अवस्थाको प्राप्त होते हैं, सिद्ध कहलाते हैं तथा उनकी महिमा वचनके अगोचर होतो है। 'कस्त्यात्मानादि-बद्धः' आदि वचनों से आत्मा का अस्तित्व आगम से सिद्ध है। ²⁴सिद्धिः स्वात्मोपलव्धिः' आदि वचनसे सिद्धिका अर्थ स्वात्म-स्वरूपकी प्राप्ति है। वह सिद्धि जिनके है वे सिद्ध कहलाते हैं। सिद्धि शब्दसे अस्ति अर्थ में प्रज्ञादिगणी होनेसे अण् प्रत्यय होकर सिद्ध शब्द नष्पन्न होता है [अथवा सिघु, धातु से क्त प्रत्यय होनेपर सिद्ध शब्द निष्पन्न होता है !] सिद्ध भगवान् वचनोंके गोचर नहीं हैं अर्थात् उनको

- सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः प्रगुणगुणगणोच्छादिदोषापहारात् । योग्योपादानयुक्त्या दृवद इह यदा हेमभावोपलब्धिः ।। सि० भ० ।

गोचरत्वे गम्यत्वेऽतीता अगम्या वक्तुं न शक्यन्ते—त्तत्सदृशानां केवलज्ञानिनां गम्या इत्यर्थः ।

अरसमरूवमगंधं अब्वत्तं चेयणागुणसमद्दं । जाणमलिगग्गहणं जीवमणिद्दिद्वसंठाणं ॥६४॥

अरसमरूपमगन्धमभ्यक्तं चेतनागुणसमाद्रं । जानीहि अलिङ्गग्रहणं जीवमनिर्दिष्टसंस्थानं ॥६४॥

(अरसं) मघुराम्लकटुतिक्तकथायपंचरसरहितं हे जीव ! त्वं जीवं जानीहि । (अरूवं) क्वेतपीतहरितारुणकृष्णलक्षणपंचरूपरहितं जीवमात्मानं जानीहीति दीपकं सम्बन्धनीयं (अगंधं) सुरभिदुरभिलक्षणगन्धद्वयर्वजितं जीवपदार्थं जानीहि । (अव्वत्तं) अव्यक्तं इन्द्रियानिन्द्रियाणामगोचरत्वादस्फुटं, केवलज्ञानिनां व्यक्तं स्फुटं जीवतत्वं हे जीव ! भेदझानसमृद्धान्तरात्मन् ! जानीहि । निषेधं कृत्वा विधि दर्शयन्ति — (चेयणागुणसमद्दं) चेतनागुणेन झप्तिमात्रेण सम्यक्त्रकारेणार्द्वं परिणतं । समिद्धमिति पाठे चेतनागुणेन ज्ञानगुणेन समृद्धमिति व्याक्ष्येयं । (जाण-मल्जिगगहणं) आण जानीहि त्वं हे जीव ! अल्जिगग्रहणं स्त्रीपुं तपुं सर्काल्जात्रयस्य

महिमा वचनों से नहीं कही जा सकती किन्तु उन्हीं के समान केवल ज्ञानियों के द्वारा जानी जा सकती है ॥६३॥

गायार्थ--हे आत्मन् ! तू जीवको रस रहित, रूप रहित, गन्ध रहित, अव्यक्त, चेतना गुणसे युक्त, स्त्री पुरुषादि लिङ्गसे रहित और संस्थान से जून्य जान ॥६४॥

विशेषायं — किसी भी पदार्थं का स्वरूप वर्णन करने के लिये दो पढतियां अपनाई जाती हैं एक स्वरूप के उपादान की और दूसरो पररूप के अपोहन-निराकरण की। यहां स्वरूप के उपादान की भौर दूसरो पररूप के अपोहन-निराकरण की। यहां स्वरूप के उपादान की पढति को दृष्टि में रखकर जीवका लक्षण कहा गया है — चेतना गुण समाद्र अर्थात् जो चेतना गुण से सम्यक् प्रकार आद्र है — तद्रूप परिणत है अथवा जो चेतना गुण से समृद्ध है — सम्पन्न है, वह जीव है। और पररूप-अपोहन की पढति के अनुसार कहा गया है जो अरस-रसादि से रहित हो, वह जीव है। अरस आदि विशेषणोंका भाव इस प्रकार है। मघुर, खट्टा, कडुआ, चिरपरा और कषायला ये रस के पाँच भेद हैं तथा पुद्र्यल के परिणमन हैं, अतः जीव इससे रहित है, सफेद, पीला, हरा, लाल और काला ये

१. समयसारे नियमसारे **वानीज नावा पुरुष**ते ।

प्रहण स्वोकारस्तेन रहितं जीवमात्मानं विदांकुरु । व्यवहारनयेन यद्यपीयं स्त्री अयं पुमान् इदं नपुं संकमिति भण्यते तथापि निरुचयनयेनात्मा शुद्धवुद्धं कस्वभावो न लिंगत्रयवानिति । (जीवमणिद्दि्ठसंठाणं) जीवमात्मानं, अनिदिष्टसंस्थानं न निर्विष्टानि जिनागमे प्रतिपादितानि संस्थानानि षडाकृतयो यस्येति अनिर्दिष्ट-संस्थानस्तं जानीहि । अयं कानि तानि संस्थानानि यात्यात्मनो निष्डचयनयेन नैव वर्तन्ते इति चेत् ? तन्नामनिर्देशः क्रियते-समचतुरस्रसंस्थानं (१) न्यप्रोच-परिमण्डलसंस्थानं (२) स्वात्यपरनाम-वाल्मिकसंस्थानं (३) कुब्जकसंस्थानं (४) वामनसंस्थानं (५) हुं डकसंस्थानं चेति । (६) नामानुसारेण शरीराकारो झातव्यं इति तात्पर्यं ।

भावहि पंचपयारं णाणं अण्णाणणासणं सिग्घं। भावणभावियसहिओ दिवसिवसुहभायणो होइ । ६५॥

पाँच रूप के मेद हैं तथा पुद्गल के परिणमन हैं अतः जीव इनसे रहित है। सुगन्ध और दुर्गन्ध के भेदसे गन्ध दो प्रकार का है तथा दोनों ही पुद्गल के परिणमन हैं अतः जीव इनसे रहित है। जीव अव्यक्त है अर्थात् इन्द्रिय और मनके अगोचर होनेके कारण अव्यक्त है—अस्पष्ट है, यह जीव केवल-ज्ञानियों को स्पष्ट है। लिङ्ग के तीन भेद हैं-स्त्रीलिङ्ग, पुलिङ्ग और नपु सक लिङ्ग । ये तीनों ही लिङ्ग पुद्गल द्रव्य के परिणमन है इसलिये जोवका इनके द्वारा ग्रहण नहीं होता है। यद्यपि व्यवहारनय से यह स्त्री है, यह पुरुष है और यह नपु सक है, ऐसा कहा जाता है तथापि निक्चयनय से आत्पा एक शुद्ध बुद्ध स्वभाव वाला हो है, तीन लिङ्ग से युक्त नहीं है। संस्थान शरोर को आकृति को कहते हैं और वह आकृति स्पष्ट हो पुद्गल द्रव्यका परिणमन है अतः आत्मा उनसे रहित है। जिनागममें प्रतिपादित छह संस्थानोंमें से जीवके एक भी संस्थान नहीं है, अतः जीव अनिर्दिष्ट संस्थान है।

प्रक्त-वे संस्थान कौन हैं जो निश्चयनयसे आत्माके नहीं हैं ?

उत्तर—(१) समचतुरस्र संस्थान (२) न्यग्रोघ परिमण्डल संस्थान (३) स्वाति अथवा वाल्मिक संस्थान (४) कुब्जक संस्थान (५) वामन संस्थान और (६) हुण्डक संस्थान । इन संस्थानों में इनके नामके अनुसार ही शरीरको आकृति होती है ॥६४॥

गांबार्च---हे जोव ! तू शोघ ही अज्ञानको नष्ट करने वाले पांच

भावप्रामृतम्

भावय पञ्च्चप्रकारं ज्ञानं अज्ञाननाशनं शोधम् । भावनाभावितसहितः दिव्शिवसुखभाजनं भवति ॥६५॥

(भावहि पंचपयारं) भावय त्वं हे जीव ! पंचप्रकारं पंचविष्ठं । कि ? (णाणं) सम्यग्ज्ञानं । कथंभूतं ज्ञानं, (अण्णाणणासणं) अज्ञाननाशनं अज्ञानस्या-विवेकस्य नाशनं विष्वसकं । कथं भावय, (सिग्धं) शीघ्रं लघुत्या । (भावण-भावियसहित्रो) भावना रुचिः तस्या सावितं वासितं तेन सहितः संहितः पुमान् संयुक्तो जीवः । (दिवसिवसुहभायणो होइ) दिवः स्वर्गस्य, शिवस्य मोक्षस्य, सुखस्य परमानन्दलक्षणस्य, भाजनममत्रं, भवति संजायते पंचज्ञानविस्तरस्तत्वार्थं-तात्ययंवृत्तौ प्रथमाघ्याये ज्ञातव्यः । मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवल्लानि ज्ञानमिति मामनिदंशः ।

पढिएणवि कि कीरइ कि वा सुणिएण भावरहिएण । भावो कारुणभुदो सायारणयारभूदाणं ।।६६।।

पठितेनापि कि क्रियते कि वा श्रुतेन भावरहितेन।

भावः कारणभूतः सागारानगारभूतानाम् ॥६६॥ (पढिएण वि कि कीरइ) पठितेन ज्ञानेन कि क्रियते—कि स्वर्गमोक्षं

(पोडएण वि कि कारड़) पाठतन ज्ञानन कि कियते—ाक स्वगमाक विद्यीयते—अपि तुन क्रियते इत्यर्थः । अपि शब्दादपठितेनापि अनम्यस्तेनापि जिह्वाग्रेऽक्रतेनापि ज्ञानेन स्वर्गो मोक्षश्च क्रियते इत्यर्थः । (ॉकवा सुनिएण)

प्रकार के ज्ञानकी भावना कर | क्योंकि भावनाओं के संस्कार से सहित जोव स्वर्ग और मोक्षके सुखका पात्र होता है ॥६५॥

विशेषायं---हे जीव ! तू अज्ञान--अविवेक को नष्ट करने वाले मति अत अवधि मनःपर्यय और केवल इन पाँच प्रकारके सम्यग्ज्ञानोंकी भावना कर अर्थात् इन्हें सम्यग्दर्शन के संस्कार से सुसज्जित कर क्योंकि भावनाके संस्कारसे सहित जीव स्वगंके सांसारिक और मोक्षके परमानन्द रूप सुख-का पात्र होता है । मतिज्ञान आदि पाँच ज्ञानोंका विस्तार तत्त्वार्थ सूत्रकी तात्पर्य-वृत्तिके प्रथमाध्यायसे जानना चाहिये । यहां मात्र नामोंका निर्देश किया है ॥६५॥

गाधार्थ---भाव-रहित शास्त्रों के पढ़ने अथवा सुनने से क्या होता है ? क्योंकि गुहस्थ अथवा मुनि धर्मका कारण भाव ही है ॥६६॥

षट्प्रामृते

वा अथवा अनुतेनाकणितेन ज्ञानेन कि ? न किमपि, स्वर्गेश्च मोक्षक्षच न भवतीत्यर्थः । कथंमूतेन पठितेन श्रुतेन च (भावरहिएण) भावरहितेन । (भावो कारणभूदो) भाव आत्मरुचिः जिनसम्यन्त्वकारणभूतो हेतुभूतः । (सायारण-यारभूदाणं) सागारानागारभूतानां श्रावकाणां यतीनां चेति तात्पर्यं ।

दव्वेण सयलणग्गा णारयतिरिया य सयलसंघाया । परिणामेण असुद्धा ण भावसवणत्तणं पत्ता ॥६७॥

द्रव्येण सकलनग्ना नारकतियंञ्चञ्च सकलसंघाताः ।

परिणामेन अशुद्धा न भावश्रवणत्वं प्राप्ताः ॥६७॥

(दब्वेण सयलनग्गा) द्रव्येण बाह्यकारणेन सकलाः सर्वे जोवा नग्ना वस्त्रादिरहिताः । के ते, (नारय) नारकाः सप्ताधोभूमिस्थितचतुरक्षीतिशत-सहस्रविछसंजातसत्वाः । (तिरिया य) तिर्यंचरच पद्यावो जीवा नग्ना एव भवन्ति । तथा (सयलसंघाया) नारकाणां तिरक्ष्चां सर्वे समूहाः । अथवा सकल-संघाताः स्त्रीभिः सह मिलिताः कमनीयकामिनीभिरालिगिताः सर्वे पुरुषसमूहा अपि द्रब्येण नग्ना निर्वस्त्रादिका भवन्ति । कथंभूतास्ते, (परिणामेण असुद्धा) परिणामेन मनोब्यापारेणाझुद्धा रागद्वेषमोहादिकदमल्तिः । (ण भावसवणसर्ण

है। इसके बिना शास्त्रों को पढ़ा भी जाय अथवा सुना भी जाय तो उससे क्या होता है ? अर्थात् स्वर्गं मोक्षकी प्राप्ति उससें नहीं होती। यथार्थं में गृहस्थ-धर्मं अथवा मुनिधर्मका मूल कारण भाव अर्थात् सम्यक्त्व ही है।।६६॥

गाथार्थ-द्रव्य अर्थात् शरीररूप वाह्य कारणकी अपेक्षा सभी जीव नग्न हैं। नारको और तियँच तो समुदाय रूपसे नग्न ही रहते हैं परन्तु मावसे अशुद्ध हैं, अतः भाव श्रमणपनेको प्राप्त नहीं होते ॥६७॥

विशेषार्थ—मात्र वस्त्रादि बाह्य पदार्थोंके त्याग से ही श्रमण-पना प्राप्त नहीं होता किन्तु उसके साथ भाव-शुद्धिके होने पर ही होता है यह सिद्ध करते हुए आचार्य महाराज निर्देश करते हैं कि मात्र शरीरकी अपेक्षा तो सभी जीव नग्न हैं। पृथिवीके नीचे सात नरकोंके चौरासी लाख विलोमें रहने वाले नारकी तथा समस्त तियंञ्च तो नियम से नग्न ही रहते हैं। और रति आदिके समय पुरुष भी नग्न रहते हैं परन्तु ये सब परिणामोंसे अशुद्ध हैं अर्थात् राग द्वेष मोह आदि विकारोंसे मलिन हैं, अतः नग्म होने पर भी मान श्रमण को अर्थात् दिगम्बर मुनि अवस्वाणे पत्ता) भावश्रमणत्वं परिणामदिगम्बरत्वं न प्राप्ता, न कर्मक्षयलक्षणमोक्षनिरीक्षा बभूवुरिति पूर्वसम्बन्धः ।

णग्गो पावद्द दुक्खं णग्गो संसारसायरे भमई । णग्गो ण ऌहद्द बोहि जिणभावणवज्जिओ सुइरं ।।६८।।

नग्नः प्राप्नोति दुःखं नग्नः संसारसागरे भ्रमति । नग्नो न लभते बोधि जिनभावनार्वजितः सुचिरम् ॥६८॥

(नग्गो पावइ दुक्सं) नग्नः पुमान् प्राप्नोति लभते, कि ? दुःखं छेदनभेदन-शूलारोपणयंत्रपीलनक्रकचविदारणआष्ठदक्षेपणतप्तलोहपुत्तलिकालिंगमवंतरणीनदी-विशेषमज्जनकूटशाल्मलिंघर्षणासिपत्रवनच्छायानिवेशन शारीरमानसागन्त्वसातं नरकेषु तिर्यक्ष कुमनुष्येषु कुदेवेषु च दुःख प्राप्नातीत्यभिप्रायः श्रोकुन्दकुन्दावार्याणां (नग्नो संसारसायरे भमइ) नग्नः संसारसागरे आम्यति मज्जनोन्मज्जनं करोति । (नग्गो न लहह बोहि) नग्नो जीवो वोधि रत्नत्रयप्राप्ति न लभते-अनन्तानन्त-संसारे पर्यटितोऽपि जन्मधतसहस्रकोटिभिरपि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्ष-कारणानि न भाष्नोतीत्पर्याः । कर्यभूतो नग्नः, (जिणभावणवज्जिओ सुइरं)

प्राप्त नहों होते । कहनेका तात्वर्य यह है कि भाव शुद्धिके विना मात्र नग्नता कार्यकारी नहीं है ॥६७॥

गायार्यं---जिनभावना जिन सम्यक्त्वसे रहित नग्न पुरुष दुःख प्राप्त करता है। जिन-भावना से रहित नग्न पुरुष संसार सागर में भ्रमण करता है और जिन भावनासे रहित नग्न पुरुष चिरकाल तक रत्नत्रयको प्राप्त नहीं होता।।६८।।

विशेषार्थ---जिनभावना का अर्थ सम्यक्त्व है, उससे रहित नग्न पुरुष नरक, तियंञ्च कुमनुष्य और कुदेवों में छेदा जाना, भेदा जाना, सूलीपर चढ़ाया जाना, कोल्हू में पेला जाना, करोतसे विदारा जाना, सुलीपर चढ़ाया जाना, तपे लोहकी पुतलियोंसे लिपटाया जाना वैतरणी नामकी विशेष नदीमें डुबाया जाना, विक्रियाकृत सेमरके वृक्षपर घसीटा जाना, असिपत्र वनकी छायामें बैठाया जाना, शारीरिक मानसिक तथा आगन्तुक आदि अनेक दुःखोंको प्राप्त होता है। जिनसम्यक्त्व से रहित नग्न मनुष्य संसार सागर में भ्रमण करता है अर्थात् मज्जन और जन्मज्जन करता है तथा जिन-सम्यक्त्व से रहित नग्न मनुष्य चिरकाल तक रत्लत्रयको प्राप्त नहीं होता है अर्थात् अनन्तानन्त संसारमें यूमता

षट्प्रामृते

'जिनस्य श्रीमद्भगवदर्हत्सवंज्ञवीतरागस्य सम्बन्धिनी या भावना सम्यक्त्वं तथा बज्जिओर्वजितः । कथं, सुइरं सुचिरमतिदोर्घकारूं तथा चोक्तं----

ैकालु अणाइ अणाइ जिउ भवसायरु वि अपंतु । जीवें वेष्णि न पत्ताई जिणुसामिउसमत्तु ॥ १ ॥ इति व्याख्यानं ज्ञात्वा ^२सम्यग्दर्शनेन दृढशावना कर्तव्येति भावार्थः । अयसाण भायणेण य कि ते पाग्गेण पावमल्जिंगेण । पेसुष्णहासमच्छरमायाबहुलेण सवणेण ॥६९॥ अयशसां भाजनेन च कि ते नाग्न्येन पापमलिनेन । पैशुन्यहास्यमत्सरमायावहुलेन स्रवणेन ॥ ६९॥ (अयसाण भायणेण य) अयशसामपकीर्तीनां भाजनेनामत्रेणाघारपात्रेण । (कि ते णम्मेण पावमलिगेण) हे जीव ! ते तव नाग्न्येन नग्त्वेन कि-न किमपि,

हुआ लाखों करोड़ों जन्ममें भी मोक्षके कारणभूत सम्यग्दर्शन सम्यग्जान और सम्यक्**चारित्रको नहीं प्राप्त होते हैं । जैसा कि** कहा गया है—

कालु अणाइ -- काल अनादि है, जोव अनादि है और भवसागर अनन्त है। इसमें भ्रमण करते हुए जोव ने आजतक दो वस्तुएँ प्राप्त नहीं कीं, एक तो जिनदेव और दूसरी सम्यक्तव ।

इस प्रकार व्याख्यान को जानकर सम्यग्दर्शन द्वारा भावनाको दृढ़ करना चाहिये ॥६८॥

गाथार्थ---हे जोव ! तुझे उस नग्न वेषसे क्या मिलने वाला है जो अपयशका पात्र है, पापसे मलिन है, चुगली, हास्य, मार्त्सर्य और मायासे परिपूर्ण है तथा स्रवण-धर्मके नाना स्रोतोंसे द्रव्यका उपार्जन करने वाला है अथवा सवन-वनवास से सहित है ॥६९॥

विश्लेषार्थं --- जो नग्न दिगम्बर मुद्राके धारक होकर भो आगम-विरुद्ध कार्य करते हैं उन्हें संबोधते हुए आचार्य कहते हैं कि जीव ! तूने यद्यपि नाग्न्य वेष धारण किया है तथापि तू यन्त्र मन्त्र तन्त्र, जादू, ज्योतिष, वैद्यक आदि लौकिक कार्यों में उलझ कर उस नग्न वेषको अपयशका पात्र बना रहा है सो उससे तुझे क्या मिलने वाला है ? जिस स्वर्ग या मोक्षके उद्देश्य से तूने यह पवित्र वेष धारण किया था उसकी पूर्ति तेरे इस वेष

- 🐮 सावयधम्म दोहा ।
- २. सम्पादर्शने दुढभावना म० ।

भावप्रामृतम्

स्वर्गमोक्तकायरहितेन वृयेत्यभिप्राग्यः । कथं मूतेन नाग्न्येन पापमलिनेन पापवन्मलि-नेन कदमलिना । अथवा पापेति पृथक्षपदं तेनायमर्थः रे पाप ! पापमूर्ते दिगम्बर-वेषाजीवक ! मसिनेन अतिचारानाचारातिक्रमव्यतिक्रमसहितेन नाग्न्येन कि ? न किमपि । तथा चोक्तं समासोक्तिना गुणभद्रेणु भगवता---

> 'हे चन्द्रमः ! किमिति लाञ्छनवानभूस्त्वं, तद्वान् भवेः किमिति तन्यय एव नाभूः । कि ज्योत्स्नया मलमलं तव घोषयन्त्या स्वर्भानुवन्ननु तथा सति नासि लक्ष्यः ।। १ ॥

क्यंभूतेन तव नाग्न्येन, (पेसुण्णहासमच्छरमायाबहुलेण सवणेण) पैशून्य-हास्यमत्सरमायाबहुलेन । पैशून्यं परदोषग्रहणं । उक्तं च----

से नहीं हो सकती है। तेरा यह नाग्न्य वेष पाप मलिन है अर्थात् पापके समान मलिन है अथवा पाप यह स्वतन्त्र सम्बोधन पद है इसलिये ऐसा मो अर्थ हो सकता है कि अरे पाप ! अरे पाप-पूर्ति ! तेरा यह नाग्न्यपद अतिचार अनाचार अतिक्रम और व्यतिक्रमसे सहित होनेके कारण मलिन है। इससे तुझे क्या प्राप्त होगा ? अर्थात् कुछ भी नहीं। जैसा कि समासोक्ति अन्योक्तिके द्वारा गुणभद्रांचार्य ने कहा है---

हे चन्द्रमः हे चन्द्र ! तू लाञ्छन-कलक्कुसे युक्त क्यों हुआ ? यदि तुमें कलक्क से युक्त ही होना था तो सर्वथा कलक्कसे तन्मय क्यों नहीं हो गया ? तेरी उस मलिनता को अत्यन्त प्रगट करने वाली चाँदनी से तुझे क्या लाम है ? यदि तू सर्वथा कलक्क से तन्मय हुआ होता तो वैसी अवस्था में राहुके समान दृष्टिगोचर नहीं होता । जिस प्रकार उज्ज्वल चन्द्रमामें छोटासा कलक्क स्पष्ट दिखलाई देता है, उसी प्रकार मुनिपदमें थोड़ासा दोष भी स्पष्ट दिखाई देता है अतः मुनिपद धारण कर सदा निर्दोष प्रवृत्ति ही करना चाहिये !

हे जीव ! तेरा यह नाग्न्य पद पैशुन्य, हास्य, सात्सर्य और मायासे परिपूर्ण है पैशुन्यका अर्थ पर-दोष-ग्रहण है । दूसरेके दोषों की ओर दृष्टि रखना बहुत बुरा है और दूसरे के दोषोंको न कहना उत्तम बात है । कहा भी है—

१. आत्मानुसासने ।

'षट्प्रामृते

मा भवतु तस्य पापं परहितनिरतस्य पुरुषसिंहस्य । यस्य परदोषकयने जिह्वा मौनव्रतं चरति ॥ १ ॥ हास्यं च वर्करः । मत्सरक्च परेषां शुभद्वेषः । उक्तं च----°उद्युक्तस्त्वं ^२तपस्विन्नषिकमभिभवं ³त्वय्यगच्छन् कषायाः

प्राभूढोघोऽप्यगाघो जलमिव जलषौ किंतु दुलंझ्यमन्यैः । निब्यू'ढेपि प्रवाहे सलिलमिव भनाग्निम्मदेशेष्ववक्यं मात्सर्यं ते स्वतुल्ये भवति परवशाद्दुर्जयं तज्ज होहि ।। १ ॥ माया च परवचना । उक्तं च—

> यक्षो मारीचीयं कनकमृगमाथामलिनितं हतोऽश्वस्थामोक्त्या प्रणयिलघुराक्षीद्यमधुतः । स कृष्णः कृष्णोऽभूत्कपटबटुवेषेण नितरा— मपि च्छद्माल्पं तद्विषमिव हि दुग्धस्य महतः ।। १ ।।

मा भवतु—पर-हितमें तत्पर रहने वाले उस श्रेष्ठ पुरुषका कभी भी अहित न हो, जिसकी कि जिह्वा दूसरे के दोष कहने में मौनव्रत धारण करती है।

अपना बड़प्पन बतानेके लिये दूसरोंकी हैंसी उड़ाना हास्य कहलाता है। दूसरोंके शुभ कार्योंसे द्वेष रखना मत्सर कहा जाता है। यह मत्सर भाव प्रायः बड़े-बड़े लोगोंमें भी पाया जाता है। कहा है—

उद्युक्तरत्वं - हे तपस्विन् ! यद्यपि तू अधिक सावधान है, कषायें भी तुझमें पराभव को प्राप्त हैं अर्थात् तूने कषायों को प्रभाव-होन किया है, और समुद्र में जलके समान अगाध ज्ञान भो तुझ में प्रकट हुआ है तथापि जिस प्रकार प्रवाह के निकल जाने पर कितने हो नीचे स्थानों में पानी भरा रह जाता है और वह दूसरों की दृष्टि में नहीं आता उसी प्रकार कषाय आदि रूप प्रवाह के निकल जाने पर भी जो दूसरों की दृष्टि में नहीं आता, ऐसा अपनी समानता रखने वाले जोवों में तेरा मात्सय माब शेष रह गया है, भले हो वह दूसरों के वशसे हुआ है और दुर्जय है तो भी तू उसे अवश्य छोड़ ।

माया का अर्थ दूसरे को ठंगना है । कहा भी है---यशो मारीचीयं---मारीच का यश सुवर्ण मुंग की माया से मलिन हो

- २. तपस्यचिक मुद्रितारमानुशासने ।
- ३. मुद्रितात्मानुशासने 'त्वामगच्छन' इति पाठः ।

१. वात्मानुशासने ।

भावप्राभृतम्

पैशून्यहास्यमत्सरमायाबहुरूं तेन तथोक्तेन । पुनः कथंभूतेन । नाग्न्येन, स्रवणेन निरन्तरसम्बन्धिना नानाधर्मंमिषोपार्जितद्रव्येण अथवा सवनेन वनवाससहितेन । तथा चोक्तं—

वनेऽपि दोषाः प्रभवन्ति रागिणां गृहेऽपि पंचेन्द्रियनिग्रहस्तपः ।

अकुस्सिते वर्त्सनि यः प्रवतंते विमुक्तरागस्य गृहं तपोवनं ॥ १ ॥ पयडहिं जिणवरलिंगं अब्भितरभावदोसपरिसुद्धो । भावमलेण य जीवो वाहिरसंगम्मि मयलियई ॥७०॥ प्रकटय जिनवरलिङ्गं अभ्यन्तरभावदोषपरिशुद्धः । भावमलेन च जोवो बाह्यसङ्गे मलिनः ॥ ७० ॥

गया। 'अइवत्यामा' मारा गया यह कहने से युधिष्ठिर स्नेही जनों में रूषुता को प्राप्त हुए और क्रुष्ण कपट पूर्ण बालकका वेष रखनेसे अत्यन्त मलिन हुए। सो ठीक ही है क्योंकि जिस प्रकार थोड़ा सा विष बहुत भारी दुग्ध को दूषित कर देता है, उसी प्रकार थोड़ा सा छल भी बड़े-बड़े पुरुषों को दूषित कर देता है। मारोच, युधिष्ठिर और कृष्ण के वामना-यतार की कथाएँ लोक में प्रसिद्ध हैं।

हे जीव ! तेरा यह नाग्न्य पद पैशुन्य, हास्य, मात्सर्व और माया से बहुल है---परिपूर्ण है । साथ ही सवण है अर्थात् नाना धर्मोंके बहते द्रव्य-को उर्पाजित करने वाला है । अथवा सवणेण की संस्कृत छाया सवनेन मानकर वनवाससे सहित है, यह एक अर्थ भी किया जा सकता है अर्थात् तेरा यह नाग्न्य पद वनवास से सहित है परन्तु अन्तरज्ज्ज का विकार नष्ट हुए बिना मात्र वनवास कुछ कार्यकारी नहीं है । जैसा कि कहा है---

बनेऽपि—-रागी मनुष्यों के वनमें भी दोष उत्पन्न होते हैं और राग-रहित मनुष्यों के घर में भी पञ्चेन्द्रियों का निग्रह रूप तपक्ष्चरण होता है। जो मनुष्य निर्दोष मार्ग में प्रवृत्ति करता है उस वीतराग के लिये घर ही तपोवन है।

[यहाँ अन्तरङ्ग को परमार्थता से रहित मात्र नग्न--वेष की निन्दा की गई है। निर्दोष आचरण करने वाले मुनिका नग्न व्रेष तो मोक्ष-मार्ग का अपरिहार्य अङ्ग है, अतः उसकी निन्दा किसी भो तरह नहीं की बा सकतो।]

गायार्थ—हे जीव ! अन्तर्वत्ती साथ दोष से रहित होता हुआ तू जिब-लिङ्ग-निग्रन्थ दिगम्बर मुद्राको धारण कर क्योंकि अन्तरङ्ग के दोष से यह जीव बाह्य पदार्थों के संपर्क में पड़कर मखिन हो झाता है ॥७०॥ (पयबहि जिणवरलिंगं) हे जीव ! हे आत्मन् ! प्रकटय जिनवरलिंगं पूर्वं जिनवरलिंगं त्वं घर नग्नो भव ! पश्चात्कयभूतो भव, (अन्भितरभावदोसपरि-मुद्धो) अभ्यंतरभावेन जिनसम्यक्त्वपरिणामेन कृत्वा दोषपरिशुद्धो दोषरहितो भव । इदमत्र तारायं द्रव्यलिंगं विना भावलिंगी सन्नपि मौक्षं न लभत इत्यर्थः शिवकुमारो मावलिंगो भूत्वापि स्वर्गं गतो न तु मोक्षं, जम्बूस्वामिभवे द्रव्यलिंगी अतिकध्टेन संजातस्तर्सिमध्च सति भावलिंगेन मोक्षं प्राप ! (भावमलेण य जोवो) भावमलेनापरिशुद्धपरिणामेन जिनसम्यक्त्वरहिततया । (बाहिरसंगम्मि मयल्वियइ) बाह्यसंगे सति मइलियइ—मलिनो भवति सम्यक्त्वं विना निर्ग्रन्थोऽपि सग्रन्थो भवतीति भावार्थः । स्याद्भावेन मोक्षो द्रव्याल्गीपेक्षत्वात्, स्याद्दव्यालिंगेन मोको मावलिंगापेक्षत्वात्, स्यादुभयं क्रमापितोभयत्वात्, स्यादवाच्यं युगपद्वक्तुमशक्य-

विशेषार्थ-संस्कृत टीका-कार इस गाथाका भाव निम्न प्रकार प्रकट करते हैं । हे आत्मन् ! तू पहले जिनलिङ्ग को धारण कर अर्थात् पहले नग्न हो पीछे अभ्यन्तर भाव अर्थात् जिन सम्यक्त्वके परिणाम से दोष रहित हो। यहाँ तात्पर्यं यह है कि द्रव्यलिङ्ग के बिना भावलिङ्गी होने पर भी अर्थात् सम्यग्द्रिट होनेपर भी यह जीव मोक्षको नहीं प्राप्त कर सकता है ! क्योंकि शिवकूमार मुनि भावलिङ्गी अर्थात् सम्यग्दुष्टि होकर भी स्वगंगये थे, न कि मोक्ष और जम्बूस्वामीके भवान्तर वर्णनमें भव-देव बड़े कष्टसे, द्रव्य-लिङ्गी हुआ था और उसके ।होनेपर बाद में भावलिङ्ग के द्वारा मोक्ष को प्राप्त हुआ था। भावमल अर्थात् अपरिशुद्ध परिणाम के द्वारा जिन-सम्यक्त्व से रहित होनेके कारण यह जीव बाह्य पदार्थोंका संग होनेपर मलिन हो जाता है अर्थात सम्यक्त के बिना निग्रंन्थ भी सग्रन्थ हो जाता है। यहाँ द्रव्य-लिङ्ग और भावलिङ्ग के विषय में एकान्तका पक्ष छोड़कर स्याद्वाद की पद्धति पर सात भङ्गों की योजना करना चाहिये। १ कथंचित भाव-लिङ्ग से मोक्ष होता है क्योंकि उसमें द्रव्य लिज्जनी भी अपेक्षा रहती है, २ कथंचित् द्रव्य-लिज्ज से मोक्ष होता है क्योंकि उसमें माव-लिज्ज की भी अपेक्षा रहती है, ३ कथंचित् दोनों लिक्नोंसे मोक्ष प्राप्त होता है क्योंकि कमसे दोनों की अपेक्षा रहती है, ४ कथंचित् मोक्षका कारण अवक्तव्य है क्योंकि एक साथ दोनोंका कथन नहीं हो सकता। ५ कथंचित् मोक्षका कारण भावलिङ्ग है तथा अवक्तव्य भी है, ६ कथंचित् मोक्षका कारण द्रव्य-लिङ्ग भी है तथा अवक्तव्य भी है और ७ कथंचित् मोक्षका कारण द्रव्य-लिञ्ज, भाव-लिञ्ज दोनों हैं तथा अवक्तब्य भी है ।

स्वात्, स्याद्भावल्गिं चावक्तव्यं च, स्यादृडव्यलिंगं चायक्तव्यं च, स्यादुभयं चावक्तव्यं चेति सप्तभंगी योजनीया ।

धम्मस्मिणिप्पवासो दोसावासो य उच्छुफुल्लसमो । णिष्फलणिग्गुणयारो वडसवणो णग्गरूवेण ॥७१॥

धर्मे निप्रवासो दोषावासरच इक्षुपुष्पसमः ।

निष्फलनिगु णकारो नटश्रमणो नग्नरूपेण ॥७१॥

(धम्मम्मिनिष्पवासो) धर्मे दयालक्षणे चारित्रलक्षणे आत्मस्वरूपे उत्तमक्षमा-दिदशलक्षणे च तदुक्तं---

> धम्मो वस्युसहावो खमादिमानो य दसविहो धम्मो । चारित्तं खलु धम्मो जीवाण य रक्खणो धम्मो ॥१॥

मूल में द्रव्य-लिङ्ग, भावलिङ्ग और अवक्तव्य ये तीन धर्म हैं उनके संयोग-वंश उक्त सात भङ्ग हो जाते हैं।

गाधार्थ— जिसका धर्म में निवास नहीं है, अर्थात् जो धर्मसे दूर है, जिसमें दोषों का आवास है और जो ईखके फूल के समान निष्फल तथा निगुण है वह नाग्न्य वेष से नट श्रमण-मुनिका वेष रखने वाले नट के समान जान पड़ता है। 1981

विशेषार्थ—धर्मका लक्षण दया है, धर्मका लक्षण चारित्र है, धर्मका लक्षण आत्मस्वरूप है, और धर्मका लक्षण उत्तम क्षमादि दश धर्म हैं। जैसा कि कहा गया है—

धम्मो बस्पुसहाबो---वस्तु स्वभावको धर्म कहते हैं अथवा क्षमा आदि दश धर्मोको धर्म कहते हैं अथवा चारित्र को धर्म कहते हैं अथवा जोव-रक्षाको धर्म कहते हैं । इस तरह उक्त लक्षण वाले धर्मके विषय में जो अत्यन्त प्रवास है---उद्रस है अर्थात् दूरवर्ती है, जो दोषों अर्थात् अतिचारों का निवास है और जो इक्षुके फूलके समान निष्फल अर्थात् मोक्ष रूप फल्से रहित तथा निगुंण-ज्ञानसे रहित होता है । जिस प्रकार इक्षुका पूल फल रहित और निगंन्ध होनेसे निगुंण होता है । जिस प्रकार इक्षुका पूल फल रहित और निगंन्ध होनेसे निगुंण होता है उसी प्रकार जो मुनि निष्फल-मोक्ष रहित और निगुंण-ज्ञान-हीन होता है अथवा दूसरों का निगुंण कर देता है, वह नग्न रूपके कारण नट श्रमण ही है अर्थात् मुनि-देवी नट श्रमण है । वह मात्र लोकोंको अनुर्राञ्जत करने के लिये नग्न होता है, यथार्थ में नहीं ।

२९

एवमुक्तलक्षणे घर्मे निप्पवासो-निरतिशयेन प्रयासः प्रगतवासः अद्वस इत्यर्थः । (दोसावासो य) दोषाणां मलातिचाराणामावासो निवासः । (उच्छुफुल्लसमो) इक्षुपुष्पसमः इक्षुपुष्पसदृशः । (निप्फलनिग्गुणयारो) निष्फलो मोक्षरहितः, निर्भुणो ज्ञानरहितः । यया इक्षुपुष्पं निष्फल फलरहितं भवति सस्यविर्वजितं स्यात् तथा निर्गुणं गन्धहीनं मवति तथा परमार्थरहितो दिगम्बरो ज्ञातव्यः । तथा निर्भुणकारः परेषां गुणकारको न भवति सम्बोधको न स्यात् । (नडसवणो नग-रूवेण) नग्नरूपेण क्रत्वा नटश्रवणः नर्मसचिवसदृशः । स लोकरंजनार्थं नग्नो भवति तथायमपि । इति व्याख्यानं ज्ञात्वा सम्यक्त्वे ज्ञाने चारित्रे तपसि च दढतया स्थातव्यं ।

जे रायसंगजुत्ता जिणभावणरहियदव्वणिग्गंथा । ण लहंति ते समाहि वोहि जिणसासणे विमले ॥७२॥

ये रागसंगयुक्ता जिनभावनरहितद्रव्यनिग्रंन्याः ।

न लभन्ते ते समाधि वोधि जिनशासने विमले ॥ ७२॥

(जे रायसंगजुत्ता) ये मुनयो रागेण स्त्रीप्रीतिलक्षणेन, संगेन परिग्रहेण युक्ता भवन्ति । अथवा रागेण संगं स्त्रीगमनं कुर्वन्ति । अथवा राजसंगः अहंदभा-वनां त्यक्त्वा राजसेवां कुर्वन्ति राजसेवायुक्ता भवन्ति (जिणभावणरहियदव्य-निग्गंथा) जिनभावनारहितद्रव्यनिर्प्रयाः, जिने भावना इचिर्येषां नास्ति ते जिन-

·····

इस तरह इस व्याख्यान का सारांश यह है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और समीचीन तप में सदा दृढ़ रहना चाहिये ॥७१॥

गाथार्थ—जो मुनि राग रूप परिग्रह से युक हैं तथा जिन भावना से रहित होकर मात्र द्रव्य की अपेक्षा नग्न-मुद्राको धारण करते हैं, वे निमंल जिन शासन में समाधि और बोधि-रत्नत्रय रूप सम्पत्ति को नहीं प्राप्त होते हैं ॥७२॥

विशेषार्थ --- संस्कृत टीका-कार ने 'राय-संग---जुत्ता' इस पद की संस्कृत छाया राग-संग-युक्ता और राज-संग-युक्ता स्वीकृत की है। 'राग-संग-युक्ता' इस छाया में रागश्च संगश्च राग-संगो ताभ्यां युक्ता ऐसा समास करके उक्त पदका अर्थ किया है कि जो मुनि स्त्रो-प्रीति रूपी राग और परिग्रह----रूप संग से युक्त हैं। अथवा रागेण संगः रागसंगः तेन युक्ताः ऐसा समास कर दूसरा अर्थ किया है कि जो रागसे संग अर्थात् स्त्री गमन करते हैं-- स्त्रियोंसे अधिक संपर्क रक्षते हैं। अथवा 'राजसंग- भावप्राभृतम्

> एकापि समर्थेयं जिनभक्तिदुं मंति निवारयितुं । पृष्पानि च पूरयितुं दातुं मुक्तित्रियं कृतिनः ॥१॥

अथवा द्रय्यनिग्रं न्याः — बहुविधधर्ममिषेण द्रव्यमुपाजेंयन्ति ये ते द्रव्यनिग्रं न्याः कथ्यन्ते । न (लहंति ते समाहिं) ते मुनयः समाधि रत्नत्रयपरिपूर्णतां धम्थं-धुक्लध्यानद्वयं वा न लभन्ते न प्राप्नुवन्ति । (वोहि जिणसासणे विमले) बोधि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रलक्षणां न लभन्ते न प्राप्नुवन्ति जिनशासने श्रीमद्भगवद-

युक्ता' इस छाया के अनुसार एक अर्थ यह भी किया है कि जो मुनि अहंन्त भगवान की भावना को छोड़ कर राज-सेवा करते हैं---राजदेर-बार में आना जाना आदि कार्यों में व्यासक्त रहते हैं। इसके सिवाय जो जिन-भावना जिन-श्रद्धा से रहित (होकर मात्र द्रव्य-निग्रंन्य हैं---नग्न रूपको धारण करने वाले हैं अथवा जिन भावना का अर्थ तीर्थंकर नाम कर्म के बन्धमें कारणभुत दर्शन-विशुद्धि आदि सोलह भावनाएँ भी हैं सो जो इन भावनाओं से रहित होकर मात्र द्रव्य से निग्नैन्थ हुए हैं---मात्र नान रूपको धारण करने वाले हैं अथवा जो इन भावनाओं से रहित होकर मात्र द्रव्य-धनके लिये नग्न मुद्रा धारण करते हैं अर्थात् नग्न-मुद्रा धारण कर नाना प्रकार के धर्मके मिष से द्रव्यका उपार्जन करते हैं वे मुनि समाधि अर्थात् रत्नत्रय की पूर्णता और अथवा धर्म्य-ध्यान और गुंक्लध्यान इन दो उत्तम ध्यानोंको एवं सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित रूपी बोधिको नहीं प्राप्त होते हैं। जिनेन्द्र भमधान का शासन विमल है, पूर्वा-पर विरोध से रहित है अथवा कम में मल कलक्कु के क्षयका कारण है। ऊपर दर्शन विशुद्धि आदि जिन सोलह भावनाओं का उल्लेख हुआ है वे दर्शन-विशुद्धि अर्थात् जिन-सम्यक्त्व से सहित सबकी सब हो अयवा पृथक्-पृथक् हो तीर्थं कर प्रकृति नामक नाम कर्मका बन्ध कराने वाली हैं। किन्तु दर्शनविशुद्धि से रहित शेष पन्द्रह भावनाएँ भी हों तो भी तीर्थ कर प्रकृति का बन्ध नहीं कराती हैं। जैसा कि कहागया है---

एकापि--- यह एक जिन---- मक्ति दर्शन-विशुद्धि कुशल मनुष्य की

षट्प्रामृते

X0X

हेत्सवंज्ञवीतरागमते । कथंभूत, विमले पूर्वापरविरोधविर्वोजते कर्ममलकलक्कुक्षय-हेतुभूतं वा ।

भावेण होद्द गग्गो मिच्छताईं य दोस चइऊणं । पच्छा दख्येण मुणी पयडदि लिंगं जिणाणाए ॥७३॥ भावे-भवति नग्नः मिथ्यात्वादींश्च दोषान् त्यक्त्वा ।

पश्चाद्द्रव्येण मुनिः प्रकटयति लिगं जिनाज्ञयां ॥७३॥ भावेण रोव स्वयो) भावेन प्रयापणीवराणव्यवनिवराणप्रकोत अ

(भावेण होइ नग्गो) भावेन परमधर्मानुरागलक्षणजिनसम्यक्त्वेन भवति, कीदृष्ठो भवति ? नग्नः वस्त्रादिपरिग्रहरहितः ? किं कृत्वा पूर्वं, (मिच्छत्ताई य दोस चइऊणं) मिध्यात्वादीधच दोषांस्त्यक्त्वा मिध्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोग-लक्षणास्तवद्वाराणि त्यक्त्वा । (पच्छा दव्वेण मुणी) पश्चात् भावल्गिषधरणाद-नन्तरं मुनिर्दिगम्बरः (पग्रडदि लिंगं जिणाणाए) प्रकटयति स्फुटीकरोति, किं तत् ? लिंगं--जिनमुद्रां, कया जिपाणाए---जिनस्याज्ञया जिनसम्यक्त्वेन सम्य-क्त्वश्रद्धानरूपेणेति बीजांकुरन्यायेनोभयं संरूग्नं ज्ञातव्यं । भावलिंगेन द्रव्यलिंगं, द्रव्यलिंगेन भावलिंगं भवतीत्युभयमेव प्रमाणीकर्तंव्यं । एक्रान्तमतेन तेन सर्वं नष्टं भवतीति वेदितव्यं । अलं दुराग्रहेणेति ।

दुर्गति का निवारण करने के लिये, पुष्य को पूर्ति करने के लिये और मुक्ति लक्ष्मो को देनेके लिये समर्थ है ।

भावो वि दिव्वसिवसुक्खभायणो भाववज्जिओ सवणो । कम्ममलमलिणचित्तो तिरियालयभायणो पावो ॥७४॥

भावोपि दिव्यशिवसुखभाजनं भावर्वीजतः श्रमणः । कर्ममलमलिनचित्ताः तिर्यगालयभाजनं पापः ॥७४॥ (भावो वि दिव्वसिवसुक्खभायणो) इति विपुलानाम—गायालक्षणं । भावो-ईपि, अपिशब्दाद्द्रव्यलिंगमपि । दिव्व-दिवि भवं दिव्यं सौधर्मेशानदेवीरतिकम्या-

गायार्थ—भाव तथा द्रव्य दोनों लिङ्गों का धारक मुनि स्वर्ग और मोक्ष-सम्बन्धो सुखोंका भाजन होता है तथा भावलिङ्ग से रहित पापी मुनि कर्म रूपी मलसे मलिन चित्त होता हुआ तिर्यंञ्च गतिका पात्र होता है ॥७४॥

विशेषार्य—भावो वि—भावोऽपि यहाँ अपि शब्दसे द्रव्य-लिङ्ग का भी समुच्चय होता है अत: गाथाका अर्थ इस प्रकार निकलता है कि भाव तथा द्रव्य दोनों लिङ्गों को धारण करने वाला मुनि स्वर्ग और मोक्षके सुलका भाजन होता है और भावसे रहित अर्थात् मात्र द्रव्य लिङ्गका घारक पापी मुनि कर्म रूपी मल से मलिन-चित्त होता हुआ तियंञ्च गतिका पात्र होता है। यहाँ इतना विशेष समझना चाहिये कि सौधम स्वगं से लेकर अच्युत स्वर्ग तकके मुख तो मुनिलिङ्ग के बिना भी प्राप्त हो सकते हैं वयोंकि गृहस्थ सम्यग्दुष्टि जीवका उत्पाद सौधर्म स्वर्ग से लेकर अच्युत स्वर्ग तक होता है उसमें भी सौधर्म और ऐशान स्वर्ग की देवियों काँ छोड़कर अन्य महद्धिक देवों में ही गृहस्थ सम्यग्दृष्टि उत्पन्न होता है । यहाँ मात्र सौधर्म और ऐग्रान स्वर्ग की देवियों में इसका उत्पाद नहीं बताया है इसका यह अर्थ नहीं है कि आगामी स्वर्ग की देवियों में होता है क्योंकि समस्त स्वर्गों की देवियों की उत्पत्ति सौधर्म और ऐशान स्वर्ग में ही होती है अतः इन दो स्वर्गों की देवियों में ही सब स्वर्गों की देवियों का अन्तर्भाव हो चुकता है। सम्यग्दृष्टि जीवका उत्पाद किसी भी प्रकार स्त्रियों में नहीं होता है। अच्युत स्वर्ग से ऊपर उत्पन्न होनेके लिये मुनि लिज्जका होना आवश्यक रहता है इसलिये भाव लिज्ज सहित द्रव्य लिङ्ग के द्वारा यह जीव सौधर्म स्वर्ग से लेकर सर्वीर्थ-सिद्धि तकके सुख प्राप्त करता है। इसमें भो विशेषता यह है कि यदि कोई अभव्य जोव मुनिव्रत धारण करता है तो उसके भावलिङ्ग नहीं हो सकता, सदा द्रव्य-लिङ्ग ही रहता है और उस द्रव्य-लिङ्ग के प्रभाव से

न्यतरमहर्दिकदेवसुसं सौघर्माधच्युतस्वगंपर्यन्तं सुसं द्रव्यस्तिंगमः न्तरेण भावनीयं । तचुक्तद्रव्यलिंगेन सर्वार्थसिद्विपर्यन्तं सुसं ज्ञातव्यं । कस्यचिदभव्यस्य भावलिंगमन्तरेण इव्यलिंगेन नवग्रैवेयकपर्यन्तं पुनः पुनर्भवपातहेतुभूत सुसं ज्ञातव्यं । तेनास्य पादस्य पुनरर्यः प्रकाश्यते । भावोऽपि दिव्यशिवसौस्यभाजनं स्वर्गमोक्षसीस्वभाजनं । (भाववण्जित्रो सवणो) भाववर्जितः श्ववणो जिनसम्यस्त्वरहितो दिगम्बरः । (कम्ममलमलिणचित्तो) कर्ममलेन अतिचारानाचारातिक्रमव्यतिक्रमव्यतिक्रमचेष्टितो पाजितपापेन दोषेण मलिनचित्तः मलिर्म मलदूषितं चित्तमात्मा यस्य स भवति कर्ममलमलिनचित्तः । (तिरियालयभायणो पावो) तिर्यगालयभाजनं तिर्यम्यतिस्थानं भवति, पापः पापात्मा विचित्रमतिनाममंत्रिपुत्रवत् ।

भी वह नौवें ग्रैवेयक तकके सुख प्राप्त कर सकता है। अभव्य जीवका यह स्वर्ग-सम्बन्धी सुख पुनः संसार में पतन का ही कारण है, ऐसा जानना चाहिये। इस पादका दूसरा अर्थ ऐसा भो हो सकता है कि भाव-लिंगी मुनि ही स्वर्ग और मोक्ष सुसका पात्र होता है। भाव-लिंगो मुनिकी यदि सराग चारित्र दशा में मृत्यु होती है तो वह मरकर स्वर्ग में ही उत्पन्न होता है, मोक्ष नहीं जा सकता क्योंकि मोक्षजाने के लिये पूर्ण वोतराग चारित्रकी आवश्यकता होती है और पूर्ण वीतराग चारित्र देशा में पर्याय समाप्त होती है तो मोक्ष जाता है इस तरह भाव-लिंगी मुनि स्वर्ग तथा मोक्ष दोनों जगह जाते हैं परन्तुं भावसे रहित पापी तिर्यञ्च गतिका पात्र होता है। यहां भाव-रहित होनेके साथ-साथ पापी विशेषण भी दिया है उससे सिद्ध होता है कि जो द्रव्यसे मुनिपद रखकर स्वच्छन्द प्रवृत्ति करते हुए पापोपार्जन करते हैं वे तिर्यञ्च गतिके पात्र होते हैं∽ निगोद तक में उत्पन्न होते हैं । वैसे करणानुयोग की अपेक्षा सम्यक्त्व न होनेके कारण जो भाव—लिंगी नहीं कहलाते फिर भी चरणानुयोग की पद्धति के अनुसार समीचीन आचरण करते हैं ऐसे द्रव्य लिगी मुनि नीवें ग्रैवेयक तक उत्पन्न होते ही है। भाव अर्थात् जिन-सम्यक्त्वसे रहित साघुजब चरणानुयोग में वर्णित मुनिके आचार विचार में भी श्रद्धा नहीं रेखता तथा अतिचार अनाचार अतिक्रम और व्यतिक्रम रूप म्रेष्टाओंके द्वारा पाप कर्मका उपार्जन करने लगता है तब उसका चित्त सदा मलिन रहता है। उस दशा में वह पापी कहलाता है और विचित्र-मति नामक मन्त्रीके पुत्रके समान तिर्यञ्च गतिका पात्र होता है। इस गाथा में बिपुला नामक आर्या छन्द है ॥७४॥

<mark>स्वयरामरमणुयकरंजलिमालाहिं च संयु</mark>या विउला । चक्कहररायलच्छी लब्सेइ बोही ण 'भव्वणुआ ॥७५॥

खचरामरमनुजानामञ्जलिमालाभिः संस्तुता विपुला । चक्रघरराजलक्ष्मीः लभ्यते बोघि न भव्यनुता ॥७५॥ (स्वरामरमणुयकरजलिमालाहि च) इयमपि विपुला गाथा ज्ञातव्या । अस्या अयमर्थः—खचरामरमनुजकराञ्जलिमालाभिष्ठ्य खे चरन्त्याकारी गच्छ-न्तीति स्रचरा विद्याघरा उभयश्रेणिसम्बन्धिनः, न म्रियन्ते बहुकालेन प्रच्यवन्ते-

गायार्थ-विद्याधर देव और मनुष्यों की हस्ताञ्जलियों के समूह से जिसकी अच्छी तरह स्तुति की गई है ऐसी चक्रवर्ती तथा अन्य राजाओं की भारी लक्ष्मो तो इस जीवके द्वारा कई बार प्राप्त की जाती है परन्तु भव्यजीवों के द्वारा स्तुत रत्नत्रय की लक्ष्मो प्राप्त नहीं को जाती अर्थात् रत्नत्रयको प्राप्ति दुर्लभ है। 1941

विशेषार्थ—जो आकाश में चलते हैं वे विद्याधर हैं, ये विद्याधर विजयार्ध पर्वत की उत्तर तथा दक्षिण श्रेणियों पर निवास करते हैं। जो बहुत काल तक मरते नहीं हैं अर्थात् दीर्घायुष्क होते हैं ऐसे व्यन्तर देव अमर कहलाते हैं। तथा प्रति-श्रुति आदि मनुओं-कुलकरों से जिनको

१. सुभावेणेति पाठान्तरं जयधन्द्रेणापि स्वीक्वते अस्माद्गाधासुत्रादग्रे । श्री पं अयधन्द्रेणापि स्वीक्वते ।

> भावं तिविहपयारं सुहासुहं सुद्धमेव णादव्वं । असुरं अट्टरउद्दं सुह भम्मं जिणवरिदेहि ॥ १ ॥ भावः त्रिविधप्रकारः शुभोऽशुभः शुद्ध एव ज्ञातव्य; । अशुभः आर्त्तरौद्रः शुभः घम्यं जिनवरेन्द्रैः ॥

ेटीका—भाव विविधप्रकारं शुभं अशुभं शुद्धं एव निश्चयेन ज्ञातव्यं । अशुभं आर्तरीद्वं । शुभं घर्मध्यानं जिनवरेन्द्रैः कथितम् ।

> सुद्धं सुद्धसहावं अप्पा अप्पाम्मितं च णायव्वं । इदि जिणवरेहिं भणियं जं सेयंतं समायरइ ॥ र ॥ शुद्धः शुद्धस्वभावः आत्मा आत्मनि स च ज्ञातव्यः । इति जिनवरैः भणितः यष्ठ्येयः तत् समाचर ॥

टीका—हे मुने ! शुद्ध निर्मेलं शुद्धस्वमायं तं आत्मानं आत्मनि ज्ञातव्यं। इति जिनवरैर्मणितं कथितं । यच्छेयं कस्थाणकारि तत् समाचार कुर्विति । ऽमरा व्यन्तरदेवाः, मणुय—प्रतिश्रुत्यादिभ्यो जाता मनुजाः, खचरामरमनुजास्तेषां कराञ्जलयः करकुड्मलानि तेषां मालाभिः श्रेणिभिक्च। (संधुआ)—संस्तुताः । चक्रवर्तिनां च तथा मण्डलेक्वरमहामण्डलेक्वरार्धमण्डलेक्वराणां राज्ञां लक्ष्मीः चक्रघरराजलक्ष्मी । (लब्भेइ बोही ण भव्वणुआ) एतादृशी लक्ष्मीर्विभूतिर्लम्यते प्राप्यते जीवेनेति, बोही ण---परं बोधिनं लम्यते । कथंभूता बोधिः, भव्यनुता भव्यवरपुण्डरीकैः स्तुता प्रशंसनीया । अथवा हे भव्यनुत ! आसन्नभव्यजीव ! त्वमिदं जानीहीति द्येषः ।

पयलियमाणकसाओ पयलियमिच्छत्तमोहसमचित्तो ।

पावइ तिहुयणसारं बोही जिणसासणे जीवो ॥७६॥ प्रगलितमानकषायः प्रगलितमिथ्यात्वमोहसमचित्तः ।

प्राप्नोति त्रिभुवनसारां बोधि जिनशासने जोवः ॥७६॥

(पर्यलियमाणकसाओ) प्रगलितमानकषायो मानकषायरहितः । (पर्यलिय-मिच्छत्तमोहसमचित्तो) प्रगलितमिच्यात्वमोहसमचित्तो यद्विपरीतं तन्मिथ्यात्व, मोहो वैचित्यं निर्विवेकता पुत्रमित्रकलत्रादिस्नेहः, प्रगतौ विनाशं प्राप्तौ मिथ्यात्व-मोहौ यस्य स प्रगलितमिथ्यात्वमोहः, समं सर्वत्र तृणसुवर्ण-सर्पस्रक् शत्रुमित्र----

उत्पत्ति हुई है वे मनुज हैं। इन सबके कर-कुड्मलों को मालाओं से जिसकी सम्यक् प्रकार स्तुति की जाती है अर्थात् विद्याधर व्यन्तर देव तथा मनुष्य जिसे हाथ जोड़कर नमस्कार करते हैं ऐसी चक्रवर्तियों, मण्ड-लेखर, महा मण्डलेखर, तथा अर्ध मण्डलेखर राजाओं की विपुल-बहुत भारी लक्ष्मी तो जीवके द्वारा प्राप्त की जातो है परन्तु श्रेष्ठ भव्य जीवोंके द्वारा स्तुत बोधि-रत्नत्रय रूप विभूति प्राप्त नहीं कही जातो । अर्थात् चक्रवर्ती आदि की लक्ष्मी का मिलना तो सरल है परन्तु रत्नत्रय रूप विभूति का मिलना कठिन है । अथवा भव्वणुआ इस विशेषण को बोही के साथ न लगाकर स्वतन्त्र सम्बोधन पद माना जा सकता है इस पक्ष में 'भव्वणुआ' पदका अर्थ होगा—हे भव्य जोवोंके द्वारा स्तुत निकट भव्यजीब ! तुम ऐसा जानो । इस गाथामें भी विपुला नामक आर्या छन्द है ॥७५॥

गाथार्थ--जिसकी मान कषाय गल चुकी है, जिसके मिथ्यात्व और मोह नष्ट हो चुके हैं तथा जिसका चित्त समता भावको प्राप्त हुआ है ऐसा जोव ही जिनशासन में त्रिलोक श्रेष्ठ बोधि-रत्नत्रय रूप विभूतिको प्राप्त होता है ॥७६॥

भावप्राभृतम्

सुद्बदुःख- वन्भवन-पुरारण्यादिषु समानं चित्तं मनो यस्य समचित्तः । (पावइ तिहुयणसारं) प्राप्नोति लभते । कां, (बोही) बोर्षि रत्नत्रयप्रार्पित । कयंभूतां बोर्षि, तिहुयणसारं-त्रैलोक्योत्तमां (जिणससणे जीवो) जिनशासने सर्वज्ञवीतराग-स्वामिनो मत्ते । मानमिष्यात्वमोहरहितो जीवो बोषि प्राप्नोतीति जिनवचनं झातव्यमिमते ।

विसयविरत्तो समणो छह्संवरकारणाई भाऊण । तित्थयरणामकम्मं बंधइ अइरेण कालेण ॥७७॥ विषयविरक्तः श्रमणः षोडशवरकारणानि भावयित्वा ।

तीर्थं करनामकर्म बध्नाति अचिरेण कालेन ॥७७॥ (विसयविरत्तो समणो) विषयेम्यः स्पर्धरसगन्ववर्णशब्देम्यः पंचेन्द्रियार्थेम्यो विरक्तः पराड्मुखः श्रमणो दिगम्बरः, न तु इवेताम्बरादिकः प्रत्याख्यानादिहीनः तपःक्लेशसद्दः श्रमण उच्यते न तु बहुवारं जलस्य पाता भोजनस्य भोक्ता च (छद्दसवरकारणाइं भाऊणं)षोडशसंवरकारणानि भावयिस्वा । (तित्ययरनाम-

विशेषार्थं---मानका अर्थ अहंकार है, मिथ्यात्व विपरोत अभिप्राय को कहते हैं मोह, वैचित्त्य, निवित्रेकता अथवा पुत्र मित्र स्त्रो आदिका स्नेह कहलाता है । समचित्त का अर्थ तृण और सुवर्ण, सर्प और माला, शत्रु और मित्र, सुख और दुःख, वन और मवन तथा नगर और अटवी में समभाव रखना है इस तरह जिसकी मान कषाय गल चुको है, जिसके मिथ्याद्व और मोह नष्ट हो चुके हैं तथा जो तृण सुवर्ण आदि में समचित्त है-हर्ष विषाद से रहित है वही तोन लोक में सारभूत रत्नत्रय रूप विभूति को प्राप्त होता है, ऐसा जिनशासन-वोतराग सर्वंज्ञ देवका वचन है ॥ ७६ ॥

गाथार्थ---विषयों से विरक्त रहने वाला साधु सोलह कारण भाव-नाओं का चिन्तवन कर थोड़े हो समय में तीर्थंकर नाम कर्मंका बन्ध कर लेता है ॥ ७७॥

विशेषार्थ-स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द ये पञ्चेन्द्रियों के विषय हैं। दिगम्बर साधु इन विषयों से सदा विरक्त रहते हैं। तपरचरण-सम्बन्धो कलेश सहन करनेके कारण दिगम्बर साधु श्रमण कहलाते हैं। अन्य स्वेताम्बरादिक साधु प्रत्याख्यान से रहित हैं तथा अनेक बार जल पीते एवं भोजन ग्रहण करते हैं इसलिये उन्हें श्रमण संक्रा नहीं है। जो कम्मं बंधइ) तीर्थंकरनामकर्मं बघ्नाग्रीत त्रिनवतिमी प्रकृति स्वीकरोति यया त्रैलाक्यं संचल्लयति पादाधः करोति । (अइरेण कालेण) अचिरेण कालेन अन्त-मुंहूर्तेसमयेन, यया पंचकल्याणलक्ष्मी प्राप्नोति, अनन्त-कालमनन्तमुखमनुभवति, अनायासेन मोक्षं प्राप्नोति । अथ कानि तानि षोडशकारणाणि यैस्तीर्यंकरनामकर्म बघ्यते इति चेदुच्यते----

''[•]दर्शनविशुद्धिविनयसम्पन्नता शीलप्रतेष्वनतिचारोऽभीक्ष्णज्ञानोपयोगसंवेगो शक्तितस्त्यागतपसो साधुसमाधिर्वैयावृत्यकरणमर्हदाचार्यबहुश्रुतप्रवचनभक्तिरावश्य-कापरिहाणिर्मागंप्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थंकरत्वस्य'' ।

इत्युमास्वामिसूरिणा प्रोक्तं सूत्रं । अस्यायमर्थः---इहलोकभय---ारलोकभय-वेदनाभय-मरणभय-आत्मरक्षणोपायदुर्गाद्यभावागुप्तिभयः-----अत्राणभयारक्षणभय----विद्युत्पाताद्याकस्मिकभयं इति सप्तभयरहितत्वं निःशंकितत्वं निग्रंन्यलक्षणो मोक्षमार्ग इति जिन्नमतं तथेति वा निःशकितत्वं (१) इहलोकपरलोकभोगोपभोगाकांक्षा-

श्रमण-मुनि पञ्च्चेन्द्रियोंके विषयों से विरक्त होता हुआ सोलह कारण भावनाओं का चिन्तवन करता है वह अल्प ही समय में उस तीर्थंकर नामकी प्रकृतिका बन्ध करता है जिससे पञ्चकल्याण रूप लक्ष्मोको प्राप्त होता है, अनन्त काल तक अनन्त सुखका अनुभव करता है और अना-यास ही मोक्ष को प्राप्त होता है।

प्रक्त—वे सोलह कारण भावनाएँ कौन हैं जिनसे तोर्थंकर नाम कर्मका बन्ध होता है ?

उत्तर-श्री उमास्वामी सूरिने तत्त्वार्थसूत्र में निम्नलिखित सोलह कारण भावनाएँ कहो हैं--१ दर्शनविशुद्धि, २ विनयसंपन्नता, ३ शील-व्रतेष्वनतिचार, ४ अभोक्ष्णज्ञानोपयोग, ५ संवेग, ६ शक्तितस्त्याग, ७ शक्तितस्तप ८ साधुसमाधि ९ वैयावृत्यकरण, १० अर्हद्भक्ति, ११ आचार्यभक्ति, १२ बहुश्रुतभक्ति, १३ प्रवचनभक्ति १४ आवश्य-कापरिहाणि १५ मार्गप्रभावना और १६ प्रवचनवत्सलत्व । (१) इनमें प्रथम भावना दर्शन विशुद्धि है जिसका प्रमुख अर्थ अष्टाज्ज सम्यग्दर्शन धारण करना है । १ निःशङ्क्ति २ निःकांक्षित ३ निर्विचिकित्सित ४ अमूढदृष्टि ५ उपगूहन ६ स्थितिकरण ७ वात्सल्य और ८ प्रभावना ये सम्यग्दर्शन के आठ अज्ज है । इनका स्वरूप इस प्रकार है--

े**१. निःशंकित अंग—**इह लोकभय, परलोकभय, वेदनाभय, मरण

१. तत्त्वावंसूत्रे वच्ठाव्याये ।

निवृत्तिनिष्कांक्षित्वं (२) शरीरादो शुचीति मिथ्यासंकल्परहितत्वं निर्विचिकित्सता, मुनीनां रत्नत्रयमंडितशरीरमलदर्शनादौ निशुकत्वं तत्र समाढीक्य वैयावृत्यविषानं वाविचिकित्सता (३) परतत्वेषु मोहोज्झकत्वममूढदृष्टित्वं (४) उत्तमक्षमादिभि-रात्मनो धमंवृद्धिकरणं संघदोषाच्छादनं चोपवृंहणमुपगूहनं (५) कषायविषयादि-मिर्धमविष्ठ्वंसकारणेषु सत्स्वपि धर्मप्रच्यवनरक्षणं स्थितिकरणं (६) जिनशासने सदानुरागता वात्सत्त्यं (७) सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रतपोभिरात्मप्रकाशनं शासनोद्योत्तकरणं वा प्रभावना (८) एतरैष्ठटभिगूणेर्युक्तत्त्वं चर्मजल्तैल

भय, आरमरक्षाके उपायभूत दुर्ग आदिके अभाव में होने वाला अगुष्ति भय. रक्षकोंके अभाव में होनेवाला अत्राण अथवा अरक्षण भय और विद्युत्पात आदि आकस्मिक भय इन सात भयोंका अभाव होना निःशङ्कित अंग है अथवा मोक्षमार्ग निर्ग्रन्थ लक्षण है-मोक्ष दिगम्बर मुद्रासे ही साध्य है ऐसा जिनेन्द्र भगवान् का मत है सो वह यथाथ है, इसप्रकार का अटल श्रद्धान होना सो निःशङ्कित अंग है !

२. निःकांक्षित अङ्ग--इस लोक और परलोक सम्बन्धी भोगोपभोग की आकांक्षा का अभाव होना निःकांक्षित अंग है ।

३ निर्विचिकित्सित अङ्ग--- शरीरादि में 'यह पवित्र है' इस प्रकार का मिथ्यासकरुर न होना निर्विचिकित्सित अंग है। अथवा मुनियों के रत्नत्रय से सुशोभित शरीर सम्बन्धी मल आदिके दिखने पर ग्लानि रहित अवस्था को प्राप्त हो वेयावृत्य करना निर्विचिकित्सित अंग है।

४ वमूडवृष्टि बङ्ग--मिथ्या-दृष्टियोंके कल्पित तत्वोंमें मोह छोड़ना अमूढदुष्टि अंग है।

५ उपवृंहण अथवा उपगूहन अङ्ग-उत्तम क्षमा आदिके द्वारा अपने धर्मकी वृद्धि करना अववा संघके दोषोंको छिपाना उपवृंहण अथवा उपगुहन अंग है।

६ स्थितोकरण अङ्ग----कषाय तथा विषय आदि द्वारा धर्म-घातका कारण उपस्थित होनेपर भी किसी को धर्मघात से बचाना स्थितीकरण अंग है।

७ वात्सल्य अंग--जिनशासन में सदा अनुराग दिखाना वात्सल्य अंग है।

८ प्रभावना अंग--सम्यग्दर्शन सम्पग्ज्ञान सम्यक्चारित्र और सम्यक्तपके द्वारा आत्माका प्रकाश करना अथवा जिन शासन का उद्योत फैलाना सो प्रभावना अंग है ।

४११

धृतभूतनाशनाध्ययोगत्वं मूलकगाजरसूरणकन्दगृंजजनपलाण्डुविक्षवीण्घिककॉल्मा-पंचपुष्यसंघानककौसुंभपत्रपत्रशाकमांसादिभक्षकभाजनभोजनादिणरिहरणं थ दर्शनविधुद्धिः (१) ज्ञानदर्शनचारित्रेषु तद्वत्सु वादरोऽकषायता वा विनयसम्पन्नता (२) निरवद्या वृत्तिः शीलव्रतेष्वनतिचारः (३) स ततं ज्ञानस्योपयोगोऽम्यासः अभीक्ष्णज्ञानोपयोगः (४) संसाराद्भीहत्वं संवेगः (५) स्वध्वक्त्यनुरूपं दानं (६) मार्गाविरुद्धः काल्वन्लेशस्तपः (७) मुनिगणतपःसन्धारणं साघुसमाधिः (८) गुणवतां दुःखोपनिपाते निरवद्यवृत्या तद्यनयनं वैयावृत्यं (९) अहंत्सु केवलिषु अनुरागी भक्तिः (१०) आचार्येष्वनुरागो भक्तिः (११) बहुश्रुतेष्वनुरागो भक्तिः (१२)

इन आठ गुणोंसे युक्त होना तथा चमड़े में रखे हुए तैल घी और हींगका प्रयोग नहीं करना एवं मूली, गाजर, सूरण कन्द गृञ्जन, प्याज, मृणाल, दुधी, तरबूज, पञ्चपुष्प, अचार मुरब्बा, कुसुम्म पत्र, पत्तोंवाली शाक और मांस-भक्षी मनुष्यों के दर्तन तथा भोजन आदि का त्याग करना दर्शनविश्**दि** भावना है।

(२) दर्शन ज्ञान और चारित्र तथा इनके धारकों में आदर और अकषाय भावके धारण करनेको विनय सम्पन्नता कहते हैं।

(३) शोल तथा व्रतोंमें निर्दोध प्रवृत्ति करना शोल-व्रतेष्वनतीचार भावना है।

(४) निरन्तर ज्ञानमय उपयोग रखना अभीक्षण ज्ञानोपयोग भावना है।

(५) संसार से भयभोत रहना संवेग भावना है।

(६) अपनी शक्ति के अनुसार दान देना शक्तितस्त्याग भावना है।

(७) मार्गसे अविरुद्ध कायक्लेश करना शक्तितस्तप भावना है।

(८) मुनि-समूह को तपमें धारण करना अर्थात् उनके तपदचरण में आये हुए विघ्नों का दूर करना साधु-समाधि है।

(९) गुणो मनुष्यों को दुःख उपस्थित होनेपर निर्दोष वृत्तिसे उसे दूर करना वैयावृत्य भावना है ।

(१०) अहँन्त केवली भगवान् में अनुराग होना अर्हुद्धवित है।

(११) आचार्यों में अनूराग होना आचार्य-भक्ति है ।

(१२) अनेक शास्त्रोंके शाता उपाध्याय आदिमें अनुराग होना बहुत्रत मक्ति है।

भावप्राभृतम्

प्रवचने जिनसूत्रेऽनुरागो भक्तिः (१३) सामायिक सर्वजीवेषु समत्वं, चतुर्विद्यति-जिनानां स्तुतिः स्तवः कथ्यते, एकजिनस्य स्तुतिवंन्दनाभिधीयते, क्वतदोर्थनिरा-करणं प्रतिक्रमण, आगामिदोषनिराकरणं प्रत्याख्यानं । एकमुहूर्तादिषु धारीरव्युत्स-र्जनं कायोत्सर्गंः एतेषां षण्णामावदयक नामपरिहाणिरेका चतुर्दशी भावना (१४) भानादिना घर्मप्रकाशनं मार्गप्रभावना (१५) सधर्मणि स्तेहः प्रवचनवत्सस्तत्वं (१६) एताः षोडशभावनाः समस्तास्तीर्थंकरनामकारणं दर्शनविशुद्धिसहिता व्यस्ता अपि तीर्थंकरनामकारणं भवन्तीति ज्ञातव्यं ।

थारसविहतवयरणं तेरसकिरियाउ भाव तिविहेण । घरहि मणमत्तदुरियं णाणांकुसएण मुणिपवर ॥७८॥ द्वादशविधतपश्चरणं त्रयोदशक्रियाः भावय त्रिविधेन ।

धर मनोमत्तदुरितं ज्ञानाङ्कृशेन मुनिप्रवर ! ॥ ७८ ॥ (वारसविहतवयरणं) ढादशविध तपश्चरणं अनशनमुपवासः, अवमौदयंमे-कग्रासादिरल्पाहारः, वृत्तिपरिसंख्यानं गणितगृहेषु भोजन वस्तुसंख्या वा, रसपरि-त्यागः षड्रसविवर्जनं, विविक्तेषु जन्तुस्त्रोपशुनपु संकरहितेषु स्थानेषु शून्यागारादिषु आसनं उपवेशनं शम्या निद्रान्स्थानं अवस्थानं वा विविक्तशय्यासनं, कायक्लेशः

(१३) प्रवचन-जिनागममें अनुराग होना प्रवञ्चनभक्ति है।

(१४) सामायिक सब जीवों में समता भाव होना, स्तव अर्थात् चौबीस तीर्थं करोंको स्तुति करना, वन्दना अर्थात् एक तीर्थं कर को स्तुति करना, प्रतिक्रमण अर्थात् लगे हुए दोषोंका निराकरण करना, प्रत्याक्यान अर्थात् आगामी दीषोंका निराकरण करना और कायोत्सगं अर्थात् एक मुहूर्त आदिके लिये घारीर से ममत्व भाव छोड़ना इन छह आवश्यक कायोंको नहीं छोड़ना आवश्यकापरिहाणि भावना है।

(१५) ज्ञान आदिके द्वारा धर्मका प्रकाश करना मार्ग-प्रभावना है।

(१६) सहधर्मी भाइयों में स्नेह करना प्रवचन-वत्सलत्व भावना है। ये सोलह भावनाएँ सब मिलकर अथवा दर्शन-विशुद्धिके साथ पृथक्-पृथक् भी तीर्थंकर नाम कर्म के बन्ध के कारण हैं।।७७॥

गायार्थ---हे मुनिप्रवर ! तुम बारह प्रकारके तपश्चरण और तेरह क्रियाओंका मन वचन कार्यसे पालन करो तथा ज्ञानरूपी अंकुशके द्वारा मन रूपी मल हाथीको वश करो ।

विशोषार्थ---तपके बारह भेद हैं जिनमें छह बाह्य तप हैं और छह अन्तरङ्ग तप । अनशन अर्थात् चार प्रकारके आहार का त्याग कर उप- ैजलौदनभोजनादिः इद षड्विषं बाह्य तपः । बाह्य कस्मादिति घेत् ? बाह्य भोजनादिकमपेक्ष्य प्रवतंते, परप्रत्यक्षं वा प्रवतंते, परदर्शने पाषंडिगृहस्यैश्च क्रियते ततो बाह्यमुच्यते । एतस्मात् तपसः कमंदहनं इन्द्रियतापकारित्यं च भवति । सिंयमो रागच्छेदः कमंनाशो घ्यानादिः आशानिवृत्तिः शरीरतेजोहानिः व्रह्यचयं दुःखसहनं सुद्धानभिष्वङ्ग आगमप्रभावनादिकं च फलं झातव्यं ये षड्विधमम्यन्तरं तपः, यतः परतीर्थ्यरनालीढं स्वसंवद्यं बाह्यद्रव्यानपेक्ष्यं ततोऽम्यन्तरं तप उच्यते । तर्तिक? प्रायश्चितविनयवैयावृत्यस्याच्यायव्युत्सर्गध्यानलक्षणं । तत्र नवविधं प्राय-

वास करना, अवमोदर्य अर्थात् एक ग्रास आदि अल्पाहार लेना, वृत्ति-परिसंख्यान अर्थात् गिनतीके घरों में भोजन करना अथवा भोजन की वस्तुओं की संख्या निश्चित करना आदि, रस परित्याग अर्थात् घी-दूध दहो मीठा तेल और नमक इन छह रसों में से किसी का त्याग करना, विविक्त शय्यासन अर्थात् जन्तु, स्त्री पशु और नपु सकों से रहित शून्या-गार आदि स्थानों में आसन लगाना-बैठना, शय्या-सोना अथवा ठहरना और कायक्लेश अर्थात् मात्र जल और भात आदि का भोजन कर शरीर को क्लेश पहुँचाना, अथवा आतापनादि योग धारण करना ये छह बाह्य तप हैं। ये तप बाह्य भोजन आदि की अपेक्षा रखकर प्रवृत्त होते हैं, दूसरों के देखने में आते हैं अथवा अन्य मतमें पाषण्डि गृहस्थों के द्वारा भो किये जाते हैं इस लिये बाह्य तप कहलाते हैं। इस बाह्य तपसे कमौंका भस्म होना, इन्द्रियोको ताप करना, संयम, रागका नाश, कर्मनाश, ध्यान आदि, आशाका निवृत्त होना, घरीर के तेजका ह्यास होना, ब्रह्मचर्य, दुःख सहन करने का अभ्यास होना, सुखमें आसक्ति का न होना तथा आगम को प्रयावना होना आदि फलकी प्राप्ति होती है ।

अब छह प्रकारके अभ्यत्तर तपका वर्णन करते हैं चूँकि यह तप अन्य मतावरुम्बियों के अशक्य है, स्वसंवेदन से ही इसका अनुभव होता है, और बाह्य पदार्थों की इसमें अपेक्षा नहीं रहती, इसलिये यह अन्तरङ्ग तप कहलाता है। प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान वे छह अन्तरङ्ग तपके भेद हैं। इनमें प्रायश्चित्त के नौ, विनय के चार, वैयावृत्य के दश, स्वाध्याय के पाँच, व्युत्सर्ग के दो और ध्यानके चार भेद हैं। छह बाह्य और छह अभ्यन्तर दोनों मिलाकर बारह प्रकारका तप है।

१. इति क प्रती केनापि संशोधित ।

भावप्रामृतम्

शिन्नसं, चतुर्विधो विनयः, दशविधं वैयावृत्यं पंचविधः स्वाघ्यायः, द्विविधो व्यु-त्स्रगः, चतुर्विधं ध्यानं चेति षड्विधमभ्यन्तरं तप इति द्वादशविधं तपः । किं तन्न-बबिधं प्रायश्चित्तमिति चेत् ? युरोरये स्वप्रमादनिवेदनं दशदोषरहितमालोचनं । के ते दश दोषा आलोचनाया इति चेत् ?---

ैआकंपिय अणुमाणिअ जंदिट्ठं बाअरं च सुहमं च ।

छन्नं सद्दाउलक्षं बहुजणमव्वत्त तस्सेवी ॥ १ ॥

पुरुषस्यैकान्ते द्वधाश्रयमालोचनं, स्त्रियास्तु प्रकाशे श्याश्रयमालोचनं महदपि तपक्ष्चरणमालोचनरहितं तत्प्रायदिचत्तमकुर्वतो वा अमीष्टफलदं न भवतीति ज्ञातव्यं । दोषमुच्चार्योज्जार्यं मिथ्या में दुष्कृतमस्तु इत्येवमादिरभिन्नेतः प्रतीकारः प्रतिक्रमणं एतत्प्रतिक्रमणमाचार्यानुज्ञथा शिष्येर्णंव कर्त्तव्यं । आलोचनं प्रदाय प्रति-

प्रक्त---प्रायदिवत्त तपके नौ भेद कौन हैं ?

उत्तर—आलोचना, प्रतिकमण तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, परिहार और उपस्थापन ये प्रायश्चित्त के नौ भेद हैं। इनका स्वरूप इस प्रकार है---

गुरु के आगे दश दोष रहित होकर अपना अपराध निवेदन करना आलोचना है।

आकंपिअ — आकम्पित अनुमानित, दृष्ट, वादर, सूक्ष्म, छन्न, शब्दा-कुलित, बहुजन अव्यक्त और तत्सेवी ये आलोचना के दश दोष हैं। इनका विवेचन दर्शन प्राभृतकी गाथा ९ में किया जा चुका है। पुरुष को एकान्त में दो जनोंके समक्ष और स्त्रीको प्रकाश में तीन जनोंके समक्ष आलोचना करना चाहिये। आलोचना से रहित बहुत बड़ा भी तपश्चरण प्रायश्चित्त न करने वाले साधु को इष्ट फल नहीं देता है, ऐसा जानना चाहिये। दोष का बार-बार उच्चारण कर मेरा पाप मिथ्या हो इस प्रकार कह कर अपनी इच्छानुसार उसका प्रतिकार करना प्रतिकमण कहलाता है। यह प्रतिकमण आचार्य की आज्ञा से शिष्य को ही स्वयं करना चाहिये। जिसमें गुरुके लिये आलोचना देनेके बाद प्रतिकमण स्वयं शिष्यको करना पड़ता है वह तदुभय कहलाता है। जहाँ शुद्ध वस्तुमें भी अशुद्धपनेका संशय अथवा विपर्यय झान होता है अथवा अशुद्ध वस्तु में शुद्धपने का निश्चय होता है अथवा छोड़ी हुई वस्तु पात्र में आ जाती है अथवा मुख में पहुँच जाती है अथवा जिस वस्तु के ग्रहण करने पर कषायादिक

१. अस्या गाणाया अयों दर्शन-प्रामृतस्य नवमगायायां दृष्टव्यः ।

क्रमणमार्येणैव कर्तव्यं सत्तदुभय मुच्यते । शुद्धस्याप्यशुद्धत्वे यत्र सत्देहविपर्ययौ भवतः, अधुद्धस्य शुद्धत्वेन निश्चयो वा यत्र, प्रत्यास्थातं यत्तद्वस्तु भाषने मुझे वा प्राप्तं, यस्मिन् वस्तुनि गृहीते कषायादिकमुत्पद्यते तस्य सर्वस्य त्यागो विवेकः । नियतकालकायवाङ् मनसा त्यागो व्युत्सगंः । तपो बाह्यं कथितमेव । दिनपक्षमा-सादिविभागेन दीक्षाहापनं छेदः । दिवसादिविभागेनैव दूरतः परिवर्जनं परिहारः । महाव्रतानां मूलज्छेदनं कृत्वा पुनर्वीक्षाप्रापणमुपस्यापना । ज्ञाचार्यप्रपृष्ट्वा आता-पनादिकरणे पुस्तकपिच्छादिपरोपकरणग्रहणे परपरोक्षे प्रमादतः ज्ञाचार्यादिवचना-करणे संवनायमपृष्ट्वा स्वसंघगमने देशकालनियमेनावश्यकर्तव्यवतविद्येषस्य धर्म-कयादिव्यासंगेन विस्मरणे सति पुनः करणे अन्यत्रापि चैवंविघे आलोचनमेव प्राय-हिचत्तं । धडिन्द्रियवागादिदुष्परिणामे, ड्याचार्यादिषु हस्तपादादिसंघट्रने द्रतसमिति-

विकार उत्पन्न होता है, उस सबका त्याग करना विवेक कहलाता है किसी निश्चित समय तक शरीर वचन और मनका त्याग करना अर्थात् इनको प्रवृत्ति को रोकना व्युत्सर्ग है। बाह्य तप उपर कहा ही जा चुका है। दिन पक्ष तया मास आदि के विभाग से दीक्षा कम करना छेद है। दिन आदि के विभाग द्वारा अर्थात् किसी निश्चित अवधि तक के लिये दूर छोड़ना परिहार है। और महाब्रतों का मूलच्छेद करके फिर से नई दीक्षा देना उपस्थापना है।

आचार्य से पूछे विना आतापन आदि योग धारण करना, बिना पूछे पुस्तक पीछी आदि दूसरों के उपकरण ग्रहण करना, दूसरे के परोक्ष में अर्थात् यदि कोई देखने वाला न हो ऐसी स्थिति में प्रमाद से आचार्य आदि के वचनों का पालन नहीं करना, संघके स्वामी से पूछे बिना अपने संघसे चला जाना, देश और कालके नियमानुसार अवश्य ही करने योग्य ब्रत-विशेष का धर्म-कथा आदि में लग जानेसे मूलजाना तथा बाद में उसका करना, इन कार्योंमें तथा इसी प्रकारके अन्य कार्यों में भी आलो-चना ही प्रायश्चित होता है।

मन सहित स्पर्शांनादि छह इन्द्रियों और वचन आदि की दुष्प्रवृत्ति होना, आचायं आदि पूज्य जनोंको अपने हाथ तथा पाँव आदिका धक्का लग जाना, व्रत समिति और गुप्तियों में थोड़ा अतिचार लग जाना, चुगली तथा कलह आदि करना, वैयावृत्य और स्वाघ्याय आदि में प्रमाद करना, आहारके लिये गये हुए साधुके लिङ्गका उठना तथा दूसरेको संक्लेश करने वाली प्रवृत्तका होना आदि कार्योंके समय प्रतिक्रमण नामका प्रायक्षित्त

मावप्रामृतम्

गुप्तिषु स्वस्पातिषारे, पैशुन्यकलहादिकरणे, वैयावृत्यस्वाघ्यायादिप्रमादे, गोर्चरगत-स्य लिंगोस्पाने, अन्यसंक्लेशकरणादौ च प्रतिक्रमणं प्रायश्चित्तं भयति । दिवसान्ते रात्र्यन्ते भोजनगमनादौ च प्रसिक्रमणं प्रायश्चित्तं । लोचनक्षच्छेदस्वप्नेन्द्रियाति-वाराप्तिभोजनेषु पक्षमाससंवरसरादिदोषादौ च उभयं आलोचनप्रतिक्रमणप्राय-श्वित्तं भौनादिना [मौनाद्वित्ता] लोचकरणे उदरक्तमिनिर्गमे, हिममश्चकादिमहा-वातादि⁹संघर्षातिचारे, स्निग्धभूहरिततृणपंकोपरिंगमने, जानुमात्रजलप्रवेशकरणे, अन्यनिमित्तवस्तुस्वोपयोगकरणे, नावादिनदीतरणे, पुस्तकप्रतिमापातने, पंचस्थावर वघाते, अदृष्टदेशतनुमलविसर्गादौ, पक्षादिप्रतिक्रमणक्रियायां, अन्तर्व्याक्त्यानप्रवृत्त्य-न्तादिषु कायोत्सर्ग एव प्रायश्चित्तं । उच्चारप्रस्रवणादौ च कायोत्सर्गः प्रसिद्ध एव । अन्शनादिकरणस्थानमागमाद्वोद्धव्यं । नवविधप्रायश्चित्ते कि फलं ?मावप्रासादोऽन-वस्था शल्याभावदाढर्घीदिकं फलं वेदितव्यं ।

होता है । दिनके अन्तमें, रात्रिके अन्त में और भोजन तथा गमन के प्रारम्भ में भी प्रतिक्रमण नामक प्रायश्चित्त होता है ।

केञलोंच, नखच्छेद तथा स्वप्न में जननेन्द्रिय-सम्बन्धी अतिचार लगना स्वप्न में ही रात्रि मोजन करना, पक्ष, मास तथा वर्ष आदि के दोषों की समीक्षा के समय आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों ही प्रायश्चित्त होते हैं।

बिना मौनके लोच करना, उदरसे कृमिका निकल आना, हिम, मच्छर आदि तथा तीव आँधो आदिके समय संघर्ष से अतिचार लगना, तेल तथा घी आदि से स्निग्ध भूमि, हरे तुण और कोचड़ पर चलना, घुटने मात्र गहरे जलमें प्रवेश करना दूसरे के निमित्त रखी हुई वस्तुका अपने आपके लिये उपयोग करना, नाव आदिके द्वारा नदी का पार करना, पुस्तक तथा प्रतिमा का नीचे गिर जाना पांच प्रकार के स्थावर जीवोंका धात होना, बिना देखे स्थान में शरीरका मल छोड़ना, पक्ष आदिके प्रतिक्रमण की किया और व्याख्यान के प्रारम्भ तथा अन्त आदि के समय कायोत्सर्ग करना ही प्रायद्वित्त है। दीघं शङ्का तथा लघुशङ्का आदि के समय कायोत्सर्ग करना प्रसिद्ध ही है। अनशन आदि तपोंके करनेका स्थान आगम से जानना पाहिये।

१. अनगारघर्मामृते तु मौनादिना चिनालोचनकरणे । सर्वपुस्तकेषु ईदृगेव पाठः ।

२. संहर्षा म० क० । २७

अनलसेन देशकालादिविधुद्धि विधानज्ञेन सबहुमानो थयाशक्ति क्रियमाणो मोक्षार्थं ज्ञानग्रहणाम्यासस्मरणादि ज्ञानविनयः । तत्वअद्धाने निःशंकितत्वादिदंशंन-विनयः । ज्ञानदर्शनवतो वुश्चरचरणे तद्धति च ज्ञानेऽतिभक्तिभावतश्चरणानुष्ठानं चरणविनयः । प्रत्यक्षेथ्वाचार्यादिष्वम्युत्थानवन्दनानुगमनादिरात्मानुरूपः परोक्षेथ्वपि तेष्वञ्जलिक्रियागुणकीतंनत्मरणानुज्ञानुष्ठायित्वादिद्धं कायवाङ्मनोभिरुपचार-विनयः । विनयस्य कि फलं ? ज्ञानलाभः आचारशुद्धिः सम्यगाराधनादिश्च विनय-स्य फलं वेदितव्यं । इति चतुर्विधो विनयः ।

प्राइन-नौ प्रकार के प्रायश्चित्त का क्या फल है ?

उत्तर—भावोंकी निर्मलता, अनवस्था, अस्थिता और शल्यका अभाव तथा दृढ़ता आदि प्रायश्चित्त का फल जानना चाहिये ।

विनय तपके चार भेद हैं—१ ज्ञान विनय, २ दर्शन विनय, ३ चारित्र विनय और ४ उपचार विनय । इनका स्वरूप इस प्रकार है—

देश काल आदि की शुद्धिके विधान को जानने वाला मुनि--आलस्य रहित हो मोक्षकी प्राप्तिके लिये बहुत सन्मान के साथ शक्ति-अनुसार जो ज्ञानका ग्रहण, अभ्यास तथा स्मरण आदि करता है वह ज्ञान-विनय है। तत्व श्रद्धान में निःशङ्कित आदि गुणों की प्रवृत्ति होना दर्शन विनय है। तत्व श्रद्धान में निःशङ्कित आदि गुणों की प्रवृत्ति होना दर्शन विनय है। ज्ञान और दर्शनसे युक्त मुनिका अतिशय कठिन चारित्र तथा चारित्र युक्त ज्ञान में अतिशय भक्ति होना और भाव-पूबंक चारित्र का पालन करना चारित्र विनय है। आचार्य आदि के प्रत्यक्ष होनेपर आते समय उठकर खड़े होना, वन्दना करना और जाते समय पीछे चलकर पहुँचा देना तथा उनके परोक्ष में भी हाध्र जोड़ना, गुणोंका कीर्तन करना, स्मरण करना और काय वचन तथा मनसे उनको आज्ञानुसार प्रवृत्ति करना उपचार विनय है।

प्रइन---विनय तपका क्या फल है ?

उत्तर---ज्ञान, लाभ, आचार, शुद्धि तथा समीचीन भाराधना आदि की प्राप्ति होना विनय तपका फल है ।

इसप्रकार चार तरह को विनय का वर्णन हुआ ।

आगे दश प्रकार को वैयावृत्य का वर्णन करते हैं---

१ आचार्य का वैयावृत्य, २ उपाध्याय का वैयावृत्य, ३ महोपवास आदिके करने वाले तपस्वो का वैयावृत्य, ४ शास्त्र का अभ्यास करनेवाले

१. दुल्बरणे म॰ ।

मावप्रामृतम्

दशविषं वैयावृत्यं । तथा हि । जाचार्यस्य वैयावृत्यं, उपाघ्यायस्य वैयावृत्यं, महोपवासाद्यनृष्ठायितपस्विनो वैयावृत्यं शास्त्राम्यासो शैक्ष्यस्तस्य वैयावृत्यं, रुजा-दिक्लिष्ठ्य्दारीरो ग्लानस्तस्य वैयावृत्यं स्थविरसन्ततिर्गणस्तस्य वैयावृत्यं दीक्षाका-षायंशिष्यसंघः कुलं तस्य वैयावृत्यं, ऋषिमुनियत्यनगारनिवहः संघः, अथवा ऋष्यायिकाश्रावकश्राविकानिवहः संघस्तस्य वैयावृत्यं, चिरप्रव्रजितः साघुस्तस्य वैयावृत्यं, विद्वत्तावक्त्त्वादिलोकसम्म तोऽसंयतसम्यग्दृष्टिर्वा मनोझस्तस्य वैयावृत्यं । कि तद्वैयावृत्यं ? एतेषां दशविधानामाधार्यदीनां व्याधिपरीषहमिष्यात्वादेः प्रासु-कौषधभक्तादिप्रतिश्रयसंस्तरादिभिधामॉपकरणैः सम्यक्त्वप्रतिस्थापनं च प्रतीकारो वैयावृत्यं बाह्यद्रव्याभावे स्वकाये (न) क्ष्लेष्माद्यन्तमंलापकर्षणादिस्तदानुकूल्या-नुष्ठानं च वैयावृत्यं । वैयावृत्यकरणे किं फलं ? समाधानं (रैमाघ्याचानं) ।

शैक्यका वैयावृत्य ५ रोग आदि से जिनका घारीर क्लिब्ट हो रहा है ऐसे ग्लान मुनियों का वैयावृत्य, ६ वृद्धभुनियों की सन्तति-रूप गणका वैया-वृत्य, ७ दीक्षा देने वाले आचार्य के शिष्य समूह रूप कुल का वैयावृत्य, ८ ऋषि यति मुनि और अनगार इन चार प्रकार के मुनियोंके समूह रूप संघका अयवा मुनि आर्यिका श्रावक और श्राविका रूप चतुर्विघ संघका वैयावृत्य, ९ चिँरकाल के ´दीक्षित साघुका वैयावृत्य और, ॅ१० विद्वत्ता तथा वक्तृत्व कला आदिके कारण लोकप्रियताको प्राप्त मनोज्ञ साधुका अयवा उक्त गुण-विशिष्ट असंयत सम्यग्दृष्टि का वैयावृत्य करना सो दश प्रकार का वैयावृत्य है। इन आचार्य आदि दश प्रकारके मृतियों को व्याधि, परीषह अथवा मिथ्यात्व आदिका प्रसङ्ग उपस्थित होनेपर प्रासुक औषध, आहार आदि, रहने के लिये उपाश्रय तथा संस्तर आदि धर्म के उपकरणों से उनको व्याधि आदिका प्रतीकार करना और उन्हें सम्यक्त्व में फिरसे स्थित करना वैयावृत्य कहलाता है । बाह्य पदार्थ के न होनेपर अपने हाथ आदि शरीर पर ही उन्हें युका देना, हाथ से हो कफ आदि भोतरों मलका निकालना आदि तथा उनके अनुकूल चेष्टा करना वैया-बृत्य है। वैयावृत्य करनेसे समाधान-स्वस्थता रूप फल की प्राप्ति होतो है ।

अब पाँच प्रकारके स्वाध्याय का वर्णन करते हैं---

स्वाच्यायके पहले भेदका नाम बाचना है जिसका अर्थ होता है---

 समाध्याचान विचिकित्सामावप्रवचनवात्सल्याद्यमिव्यक्त्यर्थं तत्वार्यराजवातिके अ० ९ सू० २४ ।

षट्प्राभृते

वाचना, संशयण्छेदाय निश्चितवस्त्राधानाय वा प्रन्थार्थोभयस्य परं प्रत्यनु-योगः । आत्मोन्नतिपरातिसन्धानोसहसादिर्वावतः प्रच्छना । अधिगतायंस्यैकाप्रघे म मनसाभ्यासोऽनुप्रेक्षा । घोषशुद्धं परिवर्तनमाम्नायः । दृष्टादृष्टप्रयोजनानपेक्षमु-न्मार्गनिवर्तनसन्देहच्छोदापूर्वीयंप्रकाशनाद्यर्यो घर्मकथानुष्ठानं धर्मोपदेशः । पंचविध-स्य स्वाघ्यायस्य कि फल्रं ? प्रज्ञातिशयप्रशस्ताघ्यवसायप्रवधनस्थितिसंशयोच्छेद-परवादिशंकाद्यभावसंवेगतावृद्धचतिचारदिश्वद्धघाद्यर्थः पंचविधः स्वाघ्यायः ।

नियतकालो यावज्जीवं वाका ग्रस्थममत्वत्थागोऽम्यन्तरोपधिव्युत्सगे. बाग्नास्वने-कत्रायो व्युत्सर्गः । नि:अंगत्वनिर्मयत्वजीविताशाब्युदासदोषोच्छेदमोक्षमार्गभावना-परत्वादि व्युत्सर्गफलज् ।

त्रव व्यानं नाम द्वादशं तथ उज्यते तदर्वमिदं सूत्रमुमास्वामिभिः इतं-''उत्तमसंहनस्यंकाप्रचिन्तानिरोषो व्यानमान्तमुंहर्तात् ॥''

निर्देषि ग्रन्थ अर्थ और ग्रन्थ अर्थ दोनोंका प्रतिपादन करना। दूसरा मेद प्रच्छना है-संशय को नष्ट करने तथा निश्चित अर्थ को सुदृढ़ करने के लिये दूसरों से ग्रन्थ अर्थ अथवा दोनोंका पूछना सो प्रच्छना नामका स्वाघ्याय है। पूछते समय आत्म-प्रशंसा, पर-प्रतारणा अथवा उपहास आदि का अभिप्राय नहीं होना चाहिये। तोसरा मेद अनुप्रेक्षा है---जाने तुए पदार्थ का एकाग्रता पूर्वक मनसे अभ्यास करना सो अनुप्रेक्षा है---जाने तुए पदार्थ का एकाग्रता पूर्वक मनसे अभ्यास करना सो अनुप्रेक्षा नामका स्वाध्याय है। चौथा भेद आम्नाय है---जच्चारण की शुद्धतापूर्वक श्लोक आदिका पाठ करना आम्नाय है। पाँचवां मेद धर्मीपदेश है---दृब्ट अथवा अदृष्ट-प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष प्रयोजनकी अपेक्षा न रखकर जन्मार्गको निवृत्ति, सन्देह का छेद तथा अपूर्व अर्थ को प्रकाशित करने आदिके उद्देश्यसे धर्मकथा का करना धर्मोपदेश नामका स्वाध्याय है।

प्रकल----पांच प्रकार के स्वाध्याय का क्या फल है ?

उसर---बुद्धिका अतिशय, प्रशस्त निश्चय, आगम की स्थिति, संशय का उच्छेद, परवादियों की शङ्का आदिका अभाव संवेगता की वृद्धि तथा अतिचारों की विशुद्धि आदि के लिये पाँच प्रकार का स्वाघ्याय किया जाता है।

आगे व्युत्सर्गं तप का वर्णन करते हें----

नियत काल अथवा जोवन पर्यन्त के लिये शरीर का त्याग करना अभ्यन्तरोपधि व्युत्सर्ग है। बाइ्योपधि व्युत्सर्ग के अनेक भेद हैं। तिःस-इन्नता-निष्परिग्रहता, जीवित रहने को आशा का त्याग, दोषोंका उच्छेद और मोक्षमार्ग को मावना में तत्पर रहना आदि व्युत्सर्ग तपका फल है।

४२०

भावप्राभृतम्

अस्यायमर्थः — वज्वऋषभनाराषसंहननं, वज्रनाराच संहननं नाराषसंहननं संहननत्रययुक्तमं संहनन मोक्षादिकारणत्वात् । प्रथमं संहननं मोक्यस्य हेतुः । घ्यानस्य हेतुस्त्रितयमपि भवति । अर्धनाराचस्य कीलिकामा असंप्राप्तासूपूर्गाटिकायास्य संहननत्रयस्यान्तमुं हूर्तकालं यावण्चिन्तानिरोषघारणायामसमर्थत्वात् । गमतभोज-नादिक्रियाविश्वेषेष्वनियमेन प्रवर्त्तमानस्यात्भन एकस्याः क्रियायाः कत्तुं वेनावस्यानं निरोष: — क्रियान्तरव्यवघानाभावेन एकक्रियायाः सातत्येन प्रवृत्तिनिरोघ इत्यर्थः । एकार्थे एकस्मिन्नग्रे प्रधाने वा वस्तुनि चिन्तानिरोषः — एकस्मिन् द्रव्ये पर्याये तदुभयात्मके स्यूले सूक्ष्मे वा चिन्तानिरोघ इत्यर्थः । अथवा सद्घ्यान अग्रं मुसं, एकमग्रं यत्यान स्य स एकाग्रः स चासौ चिन्तानिरोघरच्वैकाग्रचिन्तानिरोघः । एकस्मिन्नर्थे वर्तमानचिन्तानिरोघः एकमुखः सद्ध्यानं, अनेकन्नाक्षसूत्रादौ अनेकमुखः

आगे ध्यान नामक बारहवें तपका वर्णन किया जाता है। उसके लिये उमास्वामी महाराज ने इस सूत्र की रचना की है---'उरामसंहन्न-स्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमान्तमुं हूर्सात्'---इसका अर्थं है---उत्तम सहनन वाले जीवका किसी एक पदार्थ में अन्तमुंहूर्त के लिये चिन्ता का रक जाना ध्यान कहलाता है। वज्र्षभनाराचे सहनन, वज्रनाराच संहनन और नाराच संहनन, ये तीन संहनन उत्तम संहनन हैं क्योंकि ये मोक्ष आदि की प्राप्ति के कारण हैं। इनमें से प्रथम संहनन मोक्षका कारण है किन्तु घ्यान के कारण तीनों संहनन हैं । अर्थ नाराच, कीलिका और असंप्राप्तांसृपाटिका इन तीन संहननों में अन्तमु हूर्त तक चिन्ता के निरोध करनेको सामर्थ्य नहीं है। गमन, भोजन आदि किया विशेषो-विभिन्न विभिन्न कियाओंमें अनियम पूर्वक प्रवृत्ति करने वाले आत्मा का किसी एक किया का कर्ता रखना निरोध कहलाता है । अर्थात् बीच में दूसरी किया का व्यवधान न कर एक किया का ही निरन्तर प्रवृत्ति करना निरोध है। एकाग्र अर्थात् एक पदार्थ में अयवा किसी एक प्रधान वस्तु में चिन्ताका निरोध करना---एक द्रव्य, एक पर्याय अववा दोनों रूप स्यूल और सूक्ष्म पदार्थ में चिन्ता का निरोध करना एकाग्र चिन्ता निरोध कहलाता है। अथवा ध्यान सद् रूप है, अग्र का अर्थ मुख है। एक है अग्न जिसमें उसे एकाग्र कहते हैं और जो एकाग्र है वही चिन्ता निरोध है, इस तरह एकाग्र और चिन्ता निरोधका विशेष्य विशेषण अथवा कर्म-धारय समास करना चाहिये। इस पक्षमें एकाग्र चिन्ता निरोध का अर्थ एक-मुख जिल्ता निरोध होता है। एक पदार्थमें वर्तमान चिल्ताका निरोध हो जाना एक-मुख चिन्ता-निरोध है। यही सद्ध्यान अर्थात् समीचीन

षट्प्रामृते

सद्ष्यानं न भवति । ैयथा प्रदीपशिखा अनिरावाधेन, परिस्पन्दत तयार्ऽनरा-हुल्लायां घ्यान न स्यात् । गुप्तिसामतिघर्मांनुप्रेक्षापरीषष्टव्ययारिवादिकं यत्संवरकारणं तदेव घ्यानकारणमिति झातव्यं । आन्तुमुंहूर्तात् मुहूर्तमध्ये ध्यान भवति । न चाधिकः कालो घ्यानस्यास्ति, कस्मात् ? घिन्तानां दुर्घरत्वात् अति-चपलत्वाच्च । एतावत्यपि काले ज्वलदचलं घ्यानं कर्मघ्वंसाय भवति प्रलयकाल-मास्तवत् समुद्रजलशोषणवत् । तद्धघानं हेयमुद्यादेय च । तत्र हेयमात्तं रौद्रं च । उपादेयं घर्म्यं शुक्लं च । ऋतौ दुःसे भवमार्तं । रुद्रः क्रूराशयः प्राणी तत्कर्म रौद्रं । जर्मो वस्तुस्वरूपं तस्मादनपेतं आश्रितं घम्यं । मलरहितात्मपरिणामोद्भवं शुक्लं । तत्र घर्म्यं शुक्लं च द्वयं मोक्षकारणं । संसारकारणमन्यद्द्वयमात्तंरौद्रमिति ज्ञातव्यं । आर्त्तममनोज्ञस्य संप्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमम्वाहारो वारं वारं चिन्तनं । मनोन्नस्य विपरीतं चिन्तनं तद्विपरीतं । वेदनाजिन्तनां । निदानस्य चिन्तनं । हिंसानृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रं घ्यानमुत्सद्यते । आर्त्तमविरत्तदेश-

ध्यान है। अनेक इन्द्रियों तथा अनेक शास्त्र आदि में जो ध्यान प्रवर्तमान रहता है, वह अनेक-मुख ध्यान कहलाता है अनेक मुखध्यान सद्ध्यान नहीं है। जिस प्रकार अनिरावाध अर्थात् वायुके संचार सहित स्थान में दीपक की शिखा स्फुरित नहीं होती, उसी प्रकार अनिराकुलता अर्थात् आकुलित दशा में ध्यान नहीं होता। गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा परो-षह-जय और चारित्र-आदि जो संवर के कारण हैं वे ही ध्यान के कारण हैं ऐसा जानना चाहिये। आन्तमुं हूर्तात् इस पदका अर्थ है कि ध्यान अन्तर्मु हूर्त के भीतर होता है। अन्तमुहूर्त से अधिक ध्यानका काल नहीं होता है क्योंकि चिन्ताएँ अत्यन्त दुर्धर और अत्यन्त चपल होती हैं। परन्तु इतने थोड़े समयमें भी यदि अविचल ध्यान हो जाय तो वह कर्मोंके ध्वंस-क्षयका कारण होता है जैसे कि प्रलय कालकी वायु और समुद्र के जलको सुखाने वाली बडवानल।

वह व्यान हेय भी है और उपादेय भी। आत्तें और रौद्र घ्यान हेय हैं तथा धर्म्य और शुक्लघ्यान उपादेय हैं। ऋत का अर्थ दुःख होता है, दुःख में जो होता है वह आर्तध्यान है। घद्र करू परिणाम वाले जीवको कहते हैं उसका जो कर्म है वह रौद्रघ्यान है। धर्मका अर्थ वस्तु स्वरूप है, वस्तु

१. नीर्यविशेषात्प्रदीप शिखावत् ॥ ६ ॥ वया प्रदीपशिक्षा निराषाघे प्रज्वलिता न परिस्पन्थते तथा निराकुले देशे, वीर्यविशेषावववध्यमाना चिन्ता विना व्याक्षेपेण । एकाग्रेणावनिष्ठते । त० वा० व० ९ सूत्र २७

विरतप्रमत्तसंयतेषु संभवति । रौद्रं अविरतदेशविरतेषु संभवति । आज्ञापायविपाक संस्थानविषय्यैधंभ्यंध्यानमुत्पद्यते । तत्पूर्वविदो मुनेः श्रेण्यारोहणात्पूर्वं भवति । श्रेष्योरपूर्वकरणाद्युपशान्तान्तानां प्रथमं शुक्लं भवति । क्षोणकषायस्य द्वितीयं शुक्लं । तृतीयं शुक्लं चसुर्खं च शुक्लं केवलिनां भवति । तत्र संयोगस्य तृतीयं बतुर्थंमयोगस्येति । पूचक्त्ववितर्कवीचारं प्रथमं शुक्लं । एकत्वविद्यकविीचारं द्वितीयं शुक्लं । सूक्ष्मक्रियात्रतिपातिनामकं तृतीयं शुक्लं । व्युपरतक्रियानिर्वतिनामधेयं शुक्लं । सूक्ष्मक्रियात्रतिपातिनामकं तृतीयं शुक्लं । व्युपरतक्रियानिर्वतिनामधेयं धतुर्थं शुक्लं । तत्र पृयक्त्ववितर्कवीचारं त्रियोगस्य भवति मनोवाक्कायावष्टस्भै-रात्मप्रदेशपरिष्यन्दान् त्रीन् योगानवलम्ब्य अवष्ट्र्य्यं उत्पद्यते इत्यर्थः । एकत्व-वितर्कविभारां त्रिषु योगेषु मध्ये एकस्य चलनद्वारेणात्मपरिस्पन्दे सति समुत्सद्यत्त इत्यर्थः । काययोगस्य केवलिनः सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति शुक्लं भवति । अत्र काया-वर्ध्र्यम्त्रीवात्मनत्त्र्वान् । अयोगकेवलितो व्युपरतक्रियानिर्वति शुक्लष्ठ्यानं यतोऽत्र

स्वरूपसे सहित जो ध्यान है वह धम्यंध्यान है। आत्माके निर्मल परिणामों से जो उत्पन्न होता है वद्व शुक्लध्यान है। इनमें धर्म्यंध्यान और शुक्ल-ध्यान ये दो ध्यान सोक्षके कारण हैं और शेष दो आर्तध्यान तथा रौद्र-ध्यान संसार के कारण हैं।

आर्त्तंष्यान के चार भेद हैं— ?. अमनोज्ञ-संप्रयोग, २. मनोज्ञ-विप्रयोग, ३. वेदना चिन्तन और ४. निदान चिन्तन । अमनोज्ञ अर्थात् अनिष्ट पदार्थंका संयोग होनेपर उसके वियोग के लिये बार बार विचार करना अमनोज्ञ-संप्रयोग नामका आर्त्तंघ्यान है । मनोज्ञ अर्थात् इष्ट पदार्थं का वियोग होनेपर उसके संयोगके लिये वार वार विचार करना मनोज्ञ विप्रयोग नामका आर्त्तंघ्यान है । रोगादि की वेदना होने पर वार वार उसीका चिन्तन करना वेदना-चिन्तन नामका आर्त्तंघ्यान है और आगामी भोगोंकी आकांक्षा करना निदान चिन्तन नामका आर्त्तंघ्यान है ।

हिंसा झूठ चोरी और विषय सामग्री (परिग्रह) के संरक्षण से रौद्र-ध्यान होता है। इसके भी १. हिंसानन्द, २. मृषानन्द, ३. चौर्यातन्द और ४. विषय संरक्षणनन्द (परिग्रहानन्द) के भेद से ४ भेद हैं। इनका स्वरूप नामसे ही स्पष्ट है।

बार्तंघ्यान, अविरत अर्थात् पहले से चौथे गुणस्थान तक देशविरत, और प्रमत्तविरत गुणस्थानों में होता है परन्तु निदान नामका आर्तंघ्यान प्रमत्तविरत गुणस्थान में नहीं होता। रौद्रघ्यान, अविरत और देश-विरत अर्थात् पहले से पांचवें गुणस्थान तक होता है। आज्ञाविचय, अपाय कायाद्यवष्टम्भेनात्मप्रदेशचल्लनं न भवति । पृथक्त्ववितकंवीचारसेकत्ववितकं-वीचारं घ्यानद्वयं पूर्वेष्वघोतिन एव । वितर्कवीचारसहितं पूर्व । द्वितीयं तु वीचार-रहितं । वीचारः किं ? क्षयंध्यञ्जनयोगसंक्रान्तिर्वोचारः परिवर्तनभित्यर्थः । अर्थसंक्रान्तिः का ? द्वव्यं विमुच्य पर्यायं गच्छति पर्यायं विद्वाय द्वव्यं समुपेतीत्पर्य-संक्रान्तिः । व्यञ्जनसंक्रान्तिःका ? एकं वचनं स्यक्त्वा वचनान्तरमवल्रम्बते तदपि त्यक्ताप्र्यद्वचनमवलम्बते इति व्यञ्जनसंक्रान्तिः । दोगसंक्रान्तिः का ? काय-योगं त्यक्त्वा योगान्तरं गच्छति तदपि स्यक्त्वा काययोगं द्वजतीति योगसंक्रान्तिः । एवं श्रुतज्ञानेन वितर्क्यं समूद्य द्वव्यं तत्यर्थये पर्यायाम् वितर्क्य ततो द्वव्ये परिवर्तने वीचारे सति पृथक्त्वेन भेदेन अर्थपर्याययोर्वंचनयोगयोर्वा श्रुतज्ञानपर्यालोचनेन संक्रान्तिः पृथक्त्ववितर्कवोचारः जुक्लध्यानं भवति ! यद्यप्यर्वव्यञ्जनादिसंक्रान्ति-

विचय, विपाक विचय और संस्थान विचय से धर्म्यध्यान होता है और वह पूर्वके ज्ञाता मुनिके श्रेणी चढ़ने के पहले पहले तक होता है। दोनों श्रेणियों में अपूर्व करण से लेकर उपशान्तमोह गुणस्थान तक प्रथम शुक्ल-ध्यान होता है। क्षोण कषाय गुणस्थानवर्ती पूनिके दूसरा शुक्ल-ध्यान होता है। तीसरा और चौथा शुक्लध्यान केवलियों के होता है। उनमें से संयोग केवलो के तीसरा और अयोग केवली के चौथा शुक्ल-ध्यान होता है। पृथक्त्व-वितर्क विचार पहला शुक्लध्यान है, एकत्व वितर्कं अवीचार दूसरा शुक्लध्यान है, सूक्ष्म क्रिया-प्रतिपाति तीसरा शुक्ल-घ्यान है और व्युपरत क्रिया निर्वात चौथा शुक्लघ्यान है। उनमें से पृथक्त्व वितक विँचार नामका शुक्लघ्यान तीनों योग वाले जीवके होता है। मन वचन और कायके अवलम्बन से आत्मा के प्रदेशों में जो परि-स्पन्द होते हैं उन्हें तीन योग कहते हैं । पृथक्त्व दितर्क विचार नामका शुक्लघ्यान इन तीनों योगोंके अवलम्बन से उत्पन्न होता है। एकत्व-वितर्कअविचार नामका शुक्लध्यान तीन योगों में से किसी एक योगके कम्पन से आत्म प्रदेशों में परिस्पन्द होने पर उत्पन्न होता है। केवली भगवानु के जब मनोयोग और वचन योग नष्ट होकर जब मात्र कार्य योग रह जाता है तब उनके सूक्ष्म-क्रिया-प्रतिपाति नामका शुक्लध्यान होता है। इस ध्यान में मात्र काययोग के अवलम्बन से आत्माका परि-स्पन्द होता है। अयोग केवली के व्युपरत-क्रिया-निर्वात नामका शुक्ल-ध्यान होता है क्योंकि यहाँ काययोग के अवलम्बन से भी आत्म-प्रदेशों में हलनन्चलननहीं होता। पृथक्त्व वितर्क दिवार और एकस्य वितर्क अविचार

रूपतया चलनं वर्तते तथापि इदं व्यानं । कस्मात् ? एवंविघरपैवास्य विवक्षि-तत्वात् । विजातीयानेकविकल्परहितस्य अर्थादिसंक्रमेण चिन्ताप्रबन्धस्यैव एतद्वधा-नत्वेनेष्टत्वात् । अथवा द्रव्यगर्यायात्मनो वस्तुन एकत्वात् सामान्यरूपतया व्यञ्ज-नस्य योगानां चैकीकरणादेकार्थंचिन्तानिरोधोऽपि घटते । द्रव्यात्मर्यायं व्यञ्जना-द्व्यञ्जनान्तरं योगाद्योगान्तरं विहाय अन्यत्र चिन्तावृतौ अनेकार्थता न द्रव्यादेः पर्यायादौ प्रवृत्तौ । तथा श्रुतज्ञानेन एकार्थं वितर्कयन्नविचलित्तचित्तः प्रवृत्तः क्षोणकषाय एकत्ववितर्कवान् भवति । वाङ्मनोयोगं दादरकाययोगं च परिहाप्य सूक्ष्मकाययोगालन्वनोऽन्तर्मुंहर्त्वौषायुर्वेद्यनामगोत्रः सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिभाग्भवति ।

ये दो ध्यान पूर्वोंके पाठोके ही होते हैं'। पहला शुक्लध्यान वितर्क और विचार से सहित है किन्तु दूसरा शुक्लध्यान विचार से रहित है।

प्रक-वीचार क्या है ?

उत्तर-अर्थ, व्यञ्जन और योगोंको संक्रान्ति अर्थात् परिवर्तन को वीचार कहते हैं।

प्रश्न---अर्थ-संक्रान्ति क्या है ?

उत्तर—ध्यानस्य जीव द्रव्य को छोड़कर पर्यायको प्राप्त होता है और पर्यायको छोड़कर अर्थको प्राप्त होता है, इस तरह अर्थके परि-वर्तनको अर्थ-संक्रान्ति कहते हैं ।

प्रइन — व्यञ्जन-संकान्ति क्या है ?

उत्तर—एक वचन को छोड़कर दूसरे वचनका आलम्बन लेता है और दूसरेको छोड़कर अन्य वचनका आलम्बन लेता है, इस तरह शब्दों के परिवर्तन को व्यञ्जन-संक्रान्ति कहते हैं ।

प्रवन-योग-संकान्ति क्या है ?

काय योगको छोड़कर अन्य योगको प्राप्त होता है और उसे छोड़कर काय योगको प्राप्त होता है, इस तरह योगोंके परिवर्तन को योग-संक्रान्ति कहते हैं।

इस प्रकार श्रुतज्ञान के द्वारा किसी द्रव्यका विचार कर उसकी पर्यायोंका विचार करता है और पर्यायोंका विचार कर द्रव्यका विचार करता है इस तरह द्रव्यके परिवर्तन होनेसे विचार होता है और विचारके रहते हुए पृथक्त्व अर्थात् भेदके द्वारा अर्थ और पर्याय का तथा शब्द और

 यह कयन उत्कृष्टता की अपेक्षा है अन्यथा बारहवें गुणस्थान में अधन्य ज्ञान अष्ट--अवचन मातृका नहीं सिद्ध हो सकेगा। यदा पुनरायुषोऽधिकं वेद्यादित्रितयं तदा दण्डकपाटादिकं चतुःसमयैः इत्ला पुनस्तावरसमयैः समुपद्रूत्य समीकृतकर्मचतुष्टयः सूक्ष्मक्रियात्रतिपातिष्ठ्यानं घ्यावति । ततोऽयोगिनः समुच्छिन्नक्रियानिर्वातण्युपरतक्रियानिर्वातपरनामकं घ्यानं भवति । तस्मिन् स्थामे स्थितस्य सर्वास्तवनिरोघात् सर्वधेषकर्मविष्ठ्यंसनसमर्थं सम्पूर्णं यद्या-स्थातचारित्र साक्षान्मोक्षकारणं संजायते । बन्त्ये शुक्लघ्यानद्वये चिस्तानिरोधाभा-वेऽपि घ्यानव्यवहारः घ्यानकार्यस्य योगापहारस्य अघातिषातस्य चोपचारनिमित्तस्य सद्भावात् । तथा साक्षात्कृतसमस्तवस्तावर्हति न क्रििद्ध्येयमस्ति । ध्यानं तु तत्र असमानकर्मणां समानत्वकरणार्थं या चेष्टा, कर्मसाम्ये तत्वाययोग्यसमया या अलौ-किका मनीथा तदेव । सौक्ष्यं मोहक्षयाज्ज्ञानावरणदर्शनावरणक्षयाच्चात्मनी दर्शनं

योगका श्रुतज्ञान के पर्यालोचन से परिवर्तन होता है इसलिये पहला मेद पृथक्त वितर्क विचार कहलाता है यद्यपि अर्थ और व्यञ्जन (शब्द) आदि को संक्रान्ति होनेके कारण चञ्चलता रहतो है तथापि यह व्यान माना जाता है क्योंकि इसी प्रकार की इस घ्यानमें विवक्षा होतो है। विजातीय अनेक विकल्पों से रहित अर्थ आदिके संक्रमण से जो चिन्ता की सन्तति होती है, उस सबको एक घ्यान रूपसे माना गया है 1 अथवा द्रव्य और पर्यायास्मक वस्तुको एक वस्तु माना जाता है और सामान्य रूपसे व्यञ्जनों तथा योगोंमें भी एक-रूपता है, अतः व्यञ्जन अर्थ और योगोंका परिवर्तन होनेपर भी एकाग्र चिन्ता निरोध घटित हो जाता है ! द्रव्यसे पर्याय का, व्यञ्जनसे व्यञ्जनान्तर को और योगसे योगान्तर छोड़कर यदि अन्य द्रव्य या उसकी अन्य पर्यायों में चिन्ता प्रवृत्त होती है तो उसमें अनेक रूपता होती है, न कि एक द्रव्यसे उसकी पर्याय में

उसी प्रकार (पृथक्त्व वितर्क विचार को तरह) श्रुतज्ञान के ढारा एक अर्थका चिन्तन करता हुआ क्षीण कषाय गुणस्थानवर्ती मुनि यदि उसी अर्थ पर अविचलित-चित्त रहता है तो वह एकत्व वितर्क नामक ढितीय शुक्लध्यानका धारक होता है।

[वचनयोग, मनोयोग और वादर काययोगको छोड़कर सूक्ष्म—काय-योगका अवलम्बन करने वाले सयोग केवली के जब आयु, वेदनोय, नाम और गोत्र कर्म की स्थिति अन्तमुंहूतं मात्र घोष रह जाती है तब वे सूक्ष्म किया-प्रतिपाति नामक तृतीय धुक्लघ्यानके घारक होते हैं। यदि कदाखित् वेदनीय आदि तीन कर्मोंकी स्थिति आयु कर्म से अधिक धोष

भावप्रामृतम्

भानं च भवति । अन्तरायविनाशादनन्तवीर्यं जीवस्य स्थात् । आयुकर्मविष्वंसना-ज्येतनस्य जन्ममरणाभावो भवति । नामकर्मनिर्मूलनान्नरस्यामूर्तत्वं जायते । नीचो-ज्यगोत्रविमासनास्कुल्द्वयविनाशो भवति । वेदनीयकर्मनिर्मू लकाषं कषणात् जीव-स्येन्द्रियोत्पन्नसुखाभावः संजायते । एकस्मिन्निष्टे वस्तुनि निश्चला मतिर्घ्यान । आतंरोद्रधर्म्यापिक्षया तु मतिश्चंचला अशुभा शुभा वा सा भावना कथ्यते, चित्तं चिन्तनं अनेकनययुक्तानुप्रेक्षणं ख्यापनं श्रुतज्ञानपदालोचनं वा कथ्यते न तु ध्यानं ।

रही हो तो चार समयों में दण्ड, कपाट, प्रतर और लोक-पूरण समुद्धान की किया करके और उतने ही समयों में आत्म--प्रदेशों को संकुचित कर पहले चारों अधातिया कमों को स्थिति बराबर करते हैं अर्थात् वेदनीय आदि तीन कर्मोंकी स्थिति को घटा कर आयु कर्म की स्थिति के बराबर करते हैं पश्चात् सूक्ष्म-क्रिया-प्रतिपाति नामक शुक्लध्यान के धारक बनते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि सूक्ष्म-क्रिया-प्रतिपाति नामका शुक्लध्यान तेरहवें गुणस्थान के अन्तिम अन्तर्मु हूतं में होता है। विहार या दिव्यध्वनि आदिके समय उनके कोई ध्यान नहीं होता।]

तदनन्तर अयोग केवली के संसुच्छिन्न-क्रिया-निर्वात नामक चौथा शुक्लध्यान जिसका दूसरा नाम व्युपरत-क्रिया-निर्वात भी है, होता है । उस ध्यान में स्थित अयोग केवली भगवान के समस्त कर्मोंका आस्रव रुक जानेसे शेष समस्त कर्मोंके क्षय करने में समर्थ वह संपूर्ण यथा-ख्यात चारित्र होता है जो कि मोक्षका साक्षान् कारण होता है । अन्तिम दो शुक्लध्यानों में चिन्ता-निरोधका अभाव होनेपर भी ध्यानका व्यवहार होता है क्योंकि उनमें ध्यान का कार्य जो योगोंका अभाव और अधाति कर्मोंका क्षय है उसका सद्भाव पाया जाता है और यहा योगोंका अभाव तथा अघाति कर्मोंका क्षय उनके ध्यान व्यवहार में निमित्त भूत हैं । दूसरी बात यह है कि समस्त बस्तुओं को साक्षात् जानने वाले अर्हन्त भगवान के कुछ ध्येय भी तो नहीं हैं उनके जो ध्यान कहा है वह असमान कर्मोंकी स्थिति में समानता करने के लिये जो चेष्टा है अर रूप है अथवा कर्मोंकी स्थिति में समान होनेपर उनके क्षय करने के योग्य समय में होनेवाली जो अलौकिक मनोषा-ज्ञान की परिणति है, उस रूप है !

अब किस कमंके क्षयसे कौन गुण प्रकट होता है यह कहते हैं-मोहके क्षयसे जीवके सुख तथा ज्ञानावरण और दर्घानावरण के क्षय से ज्ञान और दर्जान गुण प्रकट होते हैं। अन्तराय के नाघा से अनन्त वीर्य होता है।

४२७

षट्प्राभृते

अत्र संहननलक्षणं यथा यदुदयादस्थिबन्धनविद्येषस्तत्संहननं धट्प्रकारं । वज्रा-कारोभयास्थिमध्ये सवलयबन्धनं सनाराचं वज्ववृषभनाराषसंहननं । तदेव वल्प्प-रहितं वज्जनाराचसंहननं । वज्ञाकारवलयव्यपेतं सनाराचं नाराचसंहननं । एक-मस्थि सनाराचं अपरमनाराच अर्ढनाराचसंहननं । उभयास्थिप्रान्ते सकील्कं कीलि-कासंहननं । अन्तरप्राप्तपरस्परास्थिसन्धिबहिःश्विरास्नायुमासवेष्टितं असंप्राप्ता-सुपाटिकासंहननं चेति । अष्टसप्ततितम्यां गाथायां बारसविहतवयरणं इत्यस्य पादस्य व्याख्यान समाप्तं । तेरसकिरियाओ भावि तिबिहेण त्रयोदद्यक्रिया भावय स्वं त्रिविधेन त्रिकरणशुद्धया पंचनमस्काराः धडावक्ष्य कानि, चैत्यालयमध्ये प्रविक्षता

आयुकर्मके क्षय से जन्म मरण का अभाव होता है। नाम कर्मके नाश से अमूर्तिकपना उत्पन्न होता है। नीच गोत्र और उच्चगोत्र के क्षय से नोच तथा उच्च दोनों कुलोका नाश होता है और वेदनीय कर्मका निर्मूल नाश होनेसे जीवके इन्द्रिय-जन्य सुखका अभाव होता है।

किसी एक इष्ट वस्तु में जो बुद्धि स्थिर हो जाती है वही ध्यान कहलाती है। आर्त्त, रौद्र और धर्म्य ध्यानकी अपेक्षा जो जो अशुभ अथवा शुभ विकल्पको लिये हुए चञ्चल अस्थिर बुद्धि होती है वह भावना कहलाती है, उसीको चित्त, चिन्तन, अनेक नयोंसे युक्त अनुप्रेक्षण, ख्यापन अयवा श्रुतज्ञानके पदका आलोचन कहते हैं, न कि ध्यान।

अब यहाँ संहननका लक्षण और उसके मेदोंका वर्णन करते हैं---

जिसके उदयसे हड्डियों का बन्धन-विशेष होता है उसे संहनन नाम कर्म कहते हैं । इसके छह भेद हैं-१ वर्ज्यपंमनाराच संहनन, २ वज्रनाराच संहनन, ३ नाराच संहनन, ४ अर्द्धनाराच संहनन, ९ कीलक संहनन और ६ असंप्राप्त सृपाटिका संहनन । जिसमें वज्रके आकार दो हड्डियोंके बीचमें बज्जके ही वेष्टन हों और वज्रकी ही कीलें हों उसे वज्यर्षभ नाराच संहनन कहते हैं । जिसमें सिर्फ वज्जके वेष्टन न हो बाकी सब पूर्वयत् हो उसे वज्जनाराच संहनन कहते हैं । जो वज्जाकार हड्डी और वज्जाकार वेष्टन से रहित हो मात्र साधारण हड्डी कीलोंसे सहित हो उसे नाराच संहनन कहते हैं । जिसमें एक हड्डी कील से सहित हो और वज्जाकार वेष्टन हो उसे अर्द्धनाराच संहनन कहते हैं । जिसमें दोनों हड्डियों के अन्त में कीलें हो उसे अर्द्धनाराच संहनन कहते हैं । जिसमें दोनों हड्डियों के अन्त में कीलें हो उसे अर्द्धनाराच संहनन कहते हैं । जिसमें दोनों हड्डियों के अन्त में कीलें हो उसे कोलिका संहनन कहते हैं । जिसमें दोनों हड्डियों की अन्त में कीलें हो उसे कोलिका संहनन कहते हैं जिसमें दान्हों हा की सन्धर्या भीतर परस्पर एक दूसरे से न मिली हों सिर्फ बाह्यमें नर्से ताँत अयवा मांस बेघ्टित हो उसे असंप्राप्त-सुपाटिका संहनन कहते हैं । इस रारहसे अठ- -4 66]

भावप्रामृतम्

निसिही निसिही निसिही इसि वारत्रयं हुद्युच्चार्यंत जिनप्रतिमायन्दनाभक्ति कृत्वा बहिनिर्गण्छता भव्यजीवेन असिही असिही असिही इति वारत्रयं हुद्युच्चार्यंते इति त्रयोदशक्रिया हे भव्य ! त्वं भावय । तथा चोक्तं—

> ैनिःसंगोआहं जिनानां सदनमनुपमं त्रिःपरीत्येत्य भक्त्या स्थित्वा गत्वा निषिद्धयुच्चरणपरिणतोऽन्तः शनैहैंस्तयुग्मं । भाले संस्थाप्य बुद्धघा मम दुरितहरं कीर्त्तये शक्रवन्द्यं निन्दादूरं सदाप्तं क्षयरहितममुं ज्ञानभानुं जिनेन्द्रं ॥१॥

अरे लौका दुरात्मानो ! यदि भवद्भिजिनप्रतिमा चैत्यालयक्च न मान्यते तदेदं वृत्तं पूज्यपार्दीजनवन्दनाविधिः कथमुक्तः । तेन दुराग्रहं विमुच्यास्तिकत्वं मावनीयं भवद्भिः । अथवा पंचमहाव्रतानि पंचसमितयस्तिस्रो गुप्तयक्चेति त्रयो-दशक्रियास्त्रयोद्दर्शविधं चारित्रं हे भव्यवरपुण्डरीकमुने ! त्वं भावय । (धरहि

हत्तरवीं गाणामें 'बारस विहतवयरणं' इस पदका व्याख्यान हुआ। अब 'तेरस किरियाओ भावि तिविहेण' इस पदका व्याख्यान करते हैं। हे भव्य ! तू तेरह प्रकार की क्रियाओं की मन वचन काय से भावना कर। पठ्च-परमेष्ठियोंके पाँच नमस्कार, समता, वन्दना आदि छह आवश्यक चैत्या-लय के मीतर प्रवेश करते समय 'निसिही निसिही, निसिही' इस प्रकार तोन वार उच्चारण करना और जिन प्रतिमाकी वन्दना तथा भक्ति मादि करके बाहर निकलते हुए जीवनके द्वारा 'असिही असिही असिही' इस प्रकार तीन बार कहना ये तेरह किया हैं। हे भव्य ! तू इनका चिन्तन कर । जैसा कि कहा गया है ---

निःसंग्रोश्हं—मैं निःस्पृह हो अनुपम जिनेन्द्र मन्दिर को जाता हूँ, वहाँ भक्ति-पूर्वक तीन प्रदक्षिणाएँ देकर तथा निसिही-निसिही निसिही इस प्रकार तीन बार उच्चारण करता हुआ मन्दिरके भीतर प्रवेश करता हूँ, पश्चात् दोनों हाथ जोड़ सस्तक पर रख अपने पापको हरने वाले उन जिनेन्द्र भगवान् की स्तुति करता हं जो इन्द्रोंके द्वारा वन्दनीय हैं, निन्दासे दूर हैं, सत्पुरुषों के द्वारा शरण्य बुद्धि से प्राप्त हैं, क्षयसे रहित हैं और ज्ञानके सूर्य हैं।

अरे दुरात्माओं लॉॅंक जनो ! यदि आप लोग जिन प्रतिमा और जिन वैत्यालयों को नहीं मानते हो तो पूज्यपादाचार्य ने जिन-वन्दना को उक्त विधि क्यों कही ? इसलिये आप लोगों को दुराग्नह छोडकर आस्तिक

१. ईर्यासथशुद्धी ।

मणमत्तदुरयं) विषयकषायान् गच्छन्तं मनोमत्तदुरियं मत्तगजं स्वं घर रक्ष । (णाणंकुसएण मुनिपवर) ज्ञानाङ्कुरोन निष्ठुरमस्तकप्रहारेण हे मुनिप्रवर ! महा-मुनिमतल्लिक | इति शेषः ।

पंचविहचेलचायं खिदिसयणं दुविहसंजमं भिक्खू । भावं भाविय पुरुवं जिर्णालंगं णिम्मलं सुद्धं ॥७९॥ पञ्चविधचेलत्यागं क्षितिशयनं द्विविधसयमं भिक्षो ! । भावं भावयित्वा पूर्वं जिनलिंगं निर्मलं शुद्धम् ॥७९॥ (पंचविहचेलचायं) पंचविधानि पंचप्रकाराणि चेलानि वस्त्राणि तेषां त्यागः परिहारो यस्मिन् जिनलिंगे जिनमुद्रायां तत्यंचविधचेलत्यागं । जन्तं च गौतमेन गणिना प्रतिक्रमणसत्रे---

"जंडजं वा कोशजं तसरिचोरं (१) वोंडजं वा कर्पासवस्त्रं (२) रोमजं वा ऊर्णामयं वस्त्रं एडकोष्ट्रादिरोमवस्त्रं (३) वक्कजं वा वल्क वृक्षादित्वग्मंगादि-छल्लिवस्त्रं तटटाविकं चापि (४) घमंजं वा मृगचर्मव्याझचर्मोचित्रकचर्मगजचर्मा-दिकं न परिधानीयं (५)"

भावकी भावना करना चाहिये । अथवा पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्तियाँ ये तेरह प्रकारको कियाएँ हैं । यही तेरह प्रकार का सम्यक्-चारित्र है सो हे भव्य पुरुष हो ! तुम इसकी भावना करो । विषय कषाय की ओर जाते हुए भन रूपी मत्त हाषीको तुम ज्ञान रूपी अंकु्श से वश करो ॥७८॥

गाषार्थं—जिसमें पाँच प्रकारके वस्त्रोंका त्याग किया जाता है, पृथिवो पर शयन किया जाता है, दो प्रकारका संयम घारण किया जाता है, भिक्षा-भोजन किया जाता है, भावकी पहले भावना की जाती है तथा शुद्ध-निर्दोष प्रवृत्ति को जाती है वही जिनलिङ्ग निर्मल कहा जाता है ॥७९॥

विशेषार्थ---प्रतिकमण सूत्रमें गौतम गणघरके कहे अनुसार वस्त्र पांच प्रकारके होते हैं---- १ अण्डजकोशा तथा रेशमी वस्त्र, २. बोंडज---सूती वस्त्र, ३. रोमज---भेड़ तथा ऊँट आदि के रोमोंसे उत्पन्न ऊनी वस्त्र, ४. बल्कज-वृक्ष आदि की त्वचा अथवा छाल्ड आदिसे उत्पन्न फट्टी आदि और ५. चर्मज--मृगचर्म, व्याघ्रचर्म, चित्रकचर्म तथा गजचर्म आदि ।

१. उत्तमं घ० ।

भावप्राभृतम्

(सिविसयणं दुविहसंजमं भिक्स्) क्षितिशयनं भूमिशयनं तृणकाष्ठशिलास्थंडि-लग्नयनं, द्विविधः संयमो यस्मिन् जिनलिंगे तद्द्विविषसंयमं । इद्रियसंयमःपंचेंद्रियसं-कोचो मनःसंकोचध्चेति षड्विधः संयमः प्राणसंयमःपृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतिलक्षण-पंचस्यावररक्षणं द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियपंचेन्द्रियचतुःप्रकारत्रसजीवरक्षणलक्षणः धड्विधः प्राणसंयमः । भिक्स् —हे भिक्षो ! अहो तपस्विन् ! अथवा भिक्षाभोजनं कुर्वन् उद्दण्डचर्यायां पर्यटन् भिक्षुजिनलिंगमुच्यते । सा भिक्षा पंचविधा—

जिनलिङ्ग में उक्त पाँचों प्रकारके वस्त्रोंका तथा उपलक्षण से अन्य किसो भी प्रकार के वस्त्रोंका त्याग होता है । भूमि, तॄण, काष्ठ, शिला तथा चबूतरा आदि पर शयन किया जाता है, इन्द्रिय-संयम और प्राण-संयम के मेद से दो प्रकार के संयम का पालन किया जाता है । पाँच इन्द्रियों और मनका संकोच करना छह प्रकार का इन्द्रिय संयम है तथा पृथिवी कायिक, जल कायिक, अग्नि कायिक, वायुकायिक, वनस्पति कायिक पाँच स्थावरों और द्वीन्द्रियादि त्रस जीवोंकी रक्षा करना छह प्रकार का प्राण संयम है । भिक्खू पद सम्बोधनान्त है इसलिये हे भिक्षो ! हे तप-स्विन् ऐसा अर्थ करना चाहिये । अथवा प्रथमान्त मानकर ऐसा अर्थ करना चाहिये कि जिसमें भिक्षु उद्दण्डचर्या से भ्रमण करता हुआ भिक्षा भोजन करता है । वह भिक्षा पाँच प्रकार को होती है—१ अक्षम्रक्षण, २ गतं-पूरण, ३ भ्रामरी, ४ गोचरी और ५ उदराग्नि विध्यापन । इनका स्वरूप इस प्रकार है—

जिस प्रकार कोई वैश्य रत्न आदि से भरी हुई गाड़ो को किसी प्रकार को चिकनाई से ओंग कर उसे अपने इष्ट स्थान तक ले जाता है उसो प्रकार मुनि सम्यग्दर्शनादि रत्नों से भरी हुई शरीर-रूपी गाड़ीको सरस अथवा नीरस आहार से स्वस्थ कर मोक्ष स्थान तक ले जाता है। इस वत्तिको अक्ष-म्रक्षण कहते हैं।

जिस प्रकार गृहस्थ अपने मकान के भीतर के गर्तको किसी भी वस्तु से भरकर सम कर लेता है उसी प्रकार मुनि भी अपने उदर रूपी गर्तको सरस अथवा नीरस किसो भी प्रकार के शुद्ध आहार से भरकर सम कर लेते हैं, इस वृत्ति को गर्त-पूरण वृत्ति कहते हैं।

जिस प्रकार भ्रमर फूलों से रस लेता है परन्तु उन्हें किसी प्रकार की पोड़ा नहीं पहुँचाता, इसी प्रकार मुनि गृहस्य दाताओंसे आहार लेता है परन्तु उन्हें किसी प्रकारकी पीड़ा नहीं पहुँचाता, इस वृत्तिको भ्रामरी-

षट्प्रामृते

ैकक्षज्रक्षणं, ^२गतंपूरणं, ^१भ्राभरी, ४गोचरी, 'उद्यराग्निविष्यापनं चेति। (भावं भाविय पुरुवं) मावं आरमरूपं भावयित्वा जिनसम्यक्त्वं च भावयिरवा पदं जिन-लिंगं भवति। (जिणलिंगं णिम्मलं सुद्धं) जिनलिंगं नग्नरूपमईन्मुद्रामयूरपिण्छ-

वृत्ति कहते हैं। जिस प्रकार अलंकारों से अलंकृत स्त्री किसी गायको घासका पूला डालनेके लिये जाती है तो गाय उस स्त्री की ओर न देखकर घासके पूला की ओर देखती है, इसी प्रकार मुनि आहार देने वाली स्त्रीके रूप आदिको अथवा गृहस्थों के महलों की साज-सजावट को न देखकर सिर्फ आहार की ओर देखते हैं, यह गोचरी वृत्ति है।

जिस प्रकार मकानमें आग लगने पर गृहस्थ उसे खारे या मीठे किसी भी प्रकार के पानीसे बुझानेका प्रयत्न करता है, इसी प्रकारसे मुनि अपने

- १. स्निम्बेन केनचिद्यद्वदसलेपं विषाय भोः । तयेद्देशान्तरं वैषयः शकटीं रत्तपूरिताम् ॥ १ ॥ गुणरत्नभूतां तद्वच्छरीरशकटीं मुनिः । स्वत्पाक्षद्वद्याणेनास्मात्प्रापयेच्छिनपत्तनम् ॥ २ ॥
- २. यथा स्वगेत्रमण्यस्यं गृही गत्तं प्रपूरयेत् । येन केनापि नीतेन कल्डवारेण नान्यया ॥ ३ ॥ तथोदरगतं स्वघ्नं पूरयेत्संयमी क्वचित् । यादक् तादक् विधानेन न च प्रिष्टाशतादिना ॥ ४ ॥
- भ्रमरोजन यथा पद्माद्गंध गृह्णाति तद्भवम् ।
 घ्राणेन न भनाक्तस्य बाधां जनयति स्फुटम् ॥ ५ ॥ तथाहरति चाहारं दत्तं दात्जनैर्यतिः । न मनाक् पीडयेद् दातुन जात्यलामाल्पलामतः ॥ ६ ॥
- ४. ययोपनीयमानं तुणादिकं दिक्ययोषिता । गौक्षाम्यवहरत्यत्र न तदङ्गं निरीक्षते ॥ ७ ॥ तषालङ्कारघारिण्या दिव्यनायौँपढौकितम् । पिण्डं गुहुणाति सघोगी तस्या रूपं न पश्यति ॥ ८ ॥
- ५. समुस्थितं येथा वॉस्त्र भाग्डागारे मृते वणिष् । रत्नाचैः ग्रमयेष्ठ्येघः शुष्यशुष्यादिवारिणा ॥ ९ ॥ तथोस्यितं सुषावन्द्रिमुदरे ग्रमयेधमी । सरसेतरभक्तेन दुगादिरत्नहेतवे ॥ १० ॥ मुखावार-प्रज्ञप्तौ (क० टि०)

भावप्रामृतस्

कमण्डलुसहितं निर्मेलं कय्यते तद्द्वयरहितं र्लिंगं कश्मलमित्युच्यते । अन्यत्र तीर्थंकर-परमदेवात्तप्तद्वॅविना अवधिज्ञानादृते चेत्यर्थः, शुद्धं चर्मंजलतैलघृतभूतनाशना-स्वादरहितमुद्दण्डचर्यंमन्तरायमलरहितं शुद्धमित्यभिप्रायः ।

उदरमें क्षुधाकी बाधा रूपी अग्नि लगने पर उसे सरस या नीरस किसी भी प्रकार के आहार से बुझानेका प्रयत्न करते हैं, इस वृत्तिको उदराग्नि-विष्यापन कहते हैं ।

भावका अर्थ आरम-स्वरूप अथवा जिन-सम्यक्त्व है। जिस लिङ्ग के धारण करने के पूर्व उक्त भाव की भावना की जाती है वह जिन-लिङ्ग निर्मल होता है। जिनलिङ्ग में नग्न रूप धारण किया जाता है पोछी और कमण्डलु साथ रखना पड़ता है, इसीको अर्हन्मुद्रा कहते हैं। जो नग्न रूप पीछी और कमण्डलु से रहित होता है, वह सदोष कहा जाता है। 1 विशेषता यह है कि जिनके शरीर में मल-मूत्र की बाधा नहीं रहती ऐसे तीर्थंकर परम देव तप्त ऋदिके धारक मुनि और अवधि झानसे युक्त

१. इस कथन का मूरू 'आघार जयसेन प्रतिष्ठापाठका निम्नलिखित वाक्य मालुम होता है। 'अत्र कमण्डलु-पिच्छिका-दानं तीर्थंकरस्य शौचक्रिया-जीवघातामावाच्च, न कर्तुं प्रभवति, केवलं साधृत्वे उपयोगी, न तु प्रति-मायामहौति चेत्याम्नायविदः ।' परन्तु इस वाक्य में प्रतिमा तथा अर्हन्त बवस्थामें पिच्छी और कमण्डलू का निषेघ किया है। सामु अवस्था में नहीं। तीर्यंकर के तथा तप्त-ऋदि के घारक मुनिके यद्यपि मल-मुत्र की बाधा नहीं होती तथापि चर्या के अनन्तर बाह्य शुद्धि के लिये कमण्डल की आवश्यकता रहती है । अवघि ज्ञानी मुनि सबके सब मल मूत्र से रहित नहीं ु होते, अतः उन्हें कमण्डलु आवश्यक है। और चरणानुयोग की प्रवृत्ति में अवधि ज्ञान का प्रयोग न होनेसे पिच्छी भी आवश्यक रहती है। पिच्छी का उपयोग् विभिन्न प्रकारके मार्ग बदलने पर घूलि को मार्जन करने में भी होता है। ज्ञान केवल जीव जन्तुओंके दूर करनेमें। 'साथ ही भावसंग्रहका निम्न इल्लोक भी विचारणीय है। मुनिको मयूर पिच्छका ग्रहण करना अवस्थक बतलाया है अवघि ज्ञान के बाद नहीं। पिच्छी जमण्डलु के सन्दर्भ में मुनि विद्यानन्द जी द्वारा लिखित पिच्छी, कमण्डलु तामक पुस्तक का बद्यवां निबन्ध पिच्छि कमण्डलु देखना चाहिये।'

जह रयणाणं पवरं वज्जं जह तरुगणाण गोसीरं । तह धम्माणं पवरं जिणधम्मं भादि भवमहणं ॥८०॥

यथा रत्नानां प्रवरं वज्त्र यथा तरुगणानां गोशीरम् । तथा धर्माणां प्रवरं जिनधर्मं भावय भवमधनम् ॥८०॥

(जहरयणाणं पवरं) तथा येन प्रकारेण रत्नानां मध्ये प्रवरं उत्तमं रत्नं किं वज्जं हीरकं षट्कोणं मौक्तिकगोमेदपुष्परामपुलकप्रवालचन्द्रकान्तरविकान्तजल-कान्तहंसगर्भमसारगर्भरुचकपद्मरागेन्द्रनीलमहा--नोलनीलमरकतवैड्र्यंलभुनकर्कतवे-त्यादीनां रत्नानां मध्ये (वज्जं) वज्जं हीरकं हि सर्वोत्तमं तस्य देवाधिष्ठि-तत्वात् । (जह तरुगणाण गोसीरं) तरुगणानां मध्ये यया गोधीर्षं तैलर्पाणकं परमोत्तमचन्दनं प्रवरं । (तह घम्माणं पवरं) तथा धर्माणां मध्ये जिनधर्मं प्रवरं । हे मुने ! त्वं (भावि भदमहणं) भावय रोच्य भवमथनं संसार-विच्छेदकम् ।

मुनियों को इनको आवश्यकता नहीं रहती। जिन-लिङ्ग शुद्ध होता है और शुद्ध का अर्थ है चमड़े में रखे हुए जल तैल घी तथा हींग का जिसमें सेवन नहीं किया जाता, जिसमें उद्दण्डचर्या अर्थात् भिक्षा-वृत्तिसे भोजन किया जाता है। बत्तीस अन्तराय और चौदह मल रहित जिसमें भोजन किया जाता है॥७९॥

गायार्थ---जिस प्रकार रत्नों में हीरा और वृक्षों के समूह में चन्दन उत्क्रघ्ट है उसी प्रकार धर्मों में संसार को नष्ट करने वाला जिन-धर्म उत्क्रघ्ट है ॥८०॥

तं धम्मं केदिसं हवदि तं तहा----

स वर्मः कीदृशो भवति तद्यथा तमेव निरूपयन्ति श्रीकुन्दकुन्दाचार्याः---पूर्यादिसु वयसहियं पुण्णं हि जिणेहि सासणे भणियं । भ्मोहनखोहविहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो ॥८१॥

पूजादिषु व्रतसहितं पुण्यं हि जिनैः शासने भणितस् ।

मोहस्रोभविहीनः परिणामः आत्मनो धर्म्मः ॥८१॥ (प्रयादिसु वयसहियं) प्रजादिषु व्रतसहितं पूजा आदियेंषां कर्मणां तानि पूजादीनि तेषु पूजादिषु व्रतसहितं श्रावकव्रतसहितं। (पुण्णं हि जिणेहि सासणे भणियं) पुण्यं स्वर्गसौरूपदायकं कर्मं जिनैस्तीयंकरपरमदेवैरपरकेवलिभिश्च हि स्फुटं भासने आहंतमते उपासकाष्य्यमनाम्न्यक्वे भणित कर्तुंतया प्रतिपादित-इदं कर्म करणीयमित्यादिष्टं। तथा चोक्तं जिनसेनपादैः----

^२पुण्यं जिनेन्द्रचरणाचंनसाघ्यमा**चं पुण्**यं सुपात्रगतदानसमुत्यमेतत् । पुण्यं व्रतानुवरणादुपवासयोगात् पुण्यार्थिनामिति चतुष्टयमजंनीयम् ॥१॥

आगे वह धर्म कैसा है इसीका श्री कुन्दकुन्दाचार्य निरूपण करते हैं----गायार्य---पूजा आदि जुभ कार्यों में व्रत सहित प्रवृत्ति करना पुण्य है, ऐसा जिन-मत में जिनेन्द्रदेवने कहा है और मोह तथा क्षोभ से रहित आत्माका जो परिणाम है वह धर्म है ॥८१॥

विशेषार्थ—वीतराग जिनेन्द्रदेव की पूजा करना, निर्ग्रन्थ गुरु आदि सत्पात्रों के लिये दान देना तथा श्रावकों के व्रत पालन करना आदि शुभ कार्य पुण्य कहलाते हैं तथा स्वर्ग सुख के देनेवाले हैं, ऐसा तीर्थंकर परम-देव एवं अन्य केवलियों ने भी कहा है। जिनशासनके उपासकाघ्ययन नामक अङ्गमें इस पुण्यको करना चाहिये, ऐसा आदेश दिया है। जैसा कि जिनसेन स्वामो ने कहा है—

पुर्ण्य — जिनेन्द्र भगवास के चरणों की पूजा से प्राप्त होने वाला पहला पुण्य है, सत्पात्र के लिये दिये हुए दानसे उत्पन्न होने वाला दूसरा पुण्य है, व्रतोंका पालन करने से उत्पन्न होनेवाला तीसरा पुण्य है तथा उपवास करने से होनेवाला चौथा पुण्य है पुण्यके अभिलाषी मनुष्यों को उक्त चार प्रकार के पुष्पका उपाजन करना चाहिये।

- बारित खलु धम्मो धम्मो जो सो समोति णिह्टिठो । मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥
- २. महापुराणे ।

षट्प्राभृते

तवा समन्तभद्रस्वाम्याचार्ये रप्यभिहितं---

[°]देवाघिदेवचरणे परिचरणं सर्वंदुःखनिर्हरणं । कामदुहि कामादाहिनी परचिनुयादादृतो नित्य ॥१॥ ^२अर्ह्रच्चरणसपर्या महानुभावं महात्मनामवदत् । भेकः प्रमोदमत्तः कुसुमेनैकेन राजगृहे ॥२॥

यदीद सर्वज्ञवीतरागपूजालक्षण तीर्थंकरनामगोत्रबन्धकारणं विशिष्टं निर्निदानं पुण्यं पारम्पर्येण मोक्षकारणं गृहस्थानां श्रीमद्भिभंणितं तर्हि साक्षान्मोक्षहेतुभूतो धर्मः क इत्याह—(मोहक्सोहविहीणो) (परिणामो अप्पणो धम्मो) मोहः पुत्र-कल्व्त्रमित्रधनादिषु ममेदमिति भावः, क्षोभः परीषहोपसर्यंनिपाते चित्तस्य चलनं ताम्यां विहीनो रहितः मोहक्षोभविहीन एवं गुणविशिष्ट आद्यनः सुद्र बुद्र कस्व-

इसी प्रकार आचार्य समन्तभद्र स्वामो ने भी कहा है—

देवाधिदेव—मनोरथों को पूर्ण करने वाले एवं कामको भस्म करने वाले देवाधिदेव जिनेन्द्र भगवान के चरणों की उपासना-पूजा वन्दना आदि समस्त दुःखों को दूर करने वाली है इसलिये श्रावक को बड़े आदर के साथ नित्य प्रति करना चाहिये ॥१॥

अर्हच्चरण—राजगृह नामक नगर में हर्ष से मत्त हुए मेण्डक ने महा-त्माओं के आगे अर्हन्त भगवान् के चरणों को पूजा का महान् फल प्रकट किया था ॥२॥

यदि तीर्थंकर नामकमं के बन्धका कारण, एवं निदान-रहित यह सर्वज्ञ वीतराग देवकी पूजा रूप सातिशय पुण्य गृहस्थों के परम्परा से मोक्षका कारण है ऐसा आपने कहा है तो साक्षात् मोक्षका कारण भूत धर्म क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए गाथा के उत्तरार्ध में कहते हैं कि मोह और क्षोभ से रहित आत्माका परिणाम धर्म है । पुत्र स्त्रो मित्र तथा धन आदि में 'यह मेरा है' इस प्रकार का जो भाव है वह मोह कहलाता है । परीषह तथा उपसर्ग के आने पर चित्तका विचलित होना क्षोभ है, उन दोनों से रहित शुद्ध बुद्धेक-स्वभाव वाळे आत्मा का जो चिच्चमत्कार अथवा चिदानन्द रूप परिणाम है, वह धर्म कहलता है ।

१-२. रत्नकरण्डश्रावकाचारे ।

मावप्राभृतम्

भावस्य चिच्चमत्काररुक्षणश्चिधानन्दरूपः परिणामो धर्मं इत्युच्यते । स परिणामो गृहस्थानां न भवति पंचसूनासहितत्वात् तथा चोक्तं--

> सण्डनी पेषणी चुल्ली उदकुंभः प्रमार्जनी । पंचसूना गृहस्थस्य तेन मोक्षंन गच्छति ।। १ ।।

्यदि मोक्षं न गच्छति तदा जिनसम्यक्त्वपूर्वकं दामपूजादिलक्षणं विशिष्टगुष-मुपार्जयन् [पुण्यं] गृहस्थः स्वर्गं गच्छति परंपरया जिनलिंगेन मोक्षमपि प्राप्नोति ।

ऐसा परिणाम गृहस्थों के नहीं होता है क्योंकि वे पञ्च सूनाओं से सहित रहते हैं। जैसा कि कहा गया है---

खण्डनो--कूटना, पीसना, चूला सिलगाना, पानी भरना और बुहारी देना ये पांच हिंसाके कार्य गृहस्थके होते हैं, अतः वह मोक्ष नहीं जाता है, यद्यपि गृहस्थ साक्षात् मोक्ष नहीं जाता है तो भो जिनसम्यक्त्व पूर्वक दान पूजादि रूप विशिष्ट पुण्यका उपार्जन करता हुआ स्वर्ग जाता है और परम्परासे जिनलिङ्क धारण कर मोक्षको भी प्राप्त होता है ॥८१॥

[इस गाथा में श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने पुण्य और धर्मकी परिभाषाएँ स्पष्ट करते हुए दोनों में पार्थक्य सिद्ध किया है पूजा दान तथा व्रताचरण आदिको पुण्य बताया है तथा उन्हें साक्षात् स्वर्ग की प्राप्तिका कारण कहा है । पुण्य शुभोपयोग का कार्य है और मोह अर्थात् मिथ्यात्व और क्षोभ अर्थात् रागद्वेष से रहित आत्मा की निमंल परिणति को धर्म कहा है। यह निर्मल परिणति शुद्धोपयोग में होती है और साक्षात् मोक्षका कारण है। गृहस्थ अपने पदके अनुकूल पुण्य रूप आचरण करता है और धर्मके वास्तविक स्वरूप की श्रद्धा रखता है। शुद्धोपयोग रूप परिणति के होनेपर शुभोपयोग रूप परिणति स्वयं छूट जाती है, शुभोपयोग का कार्य होनेसे यद्यपि पुण्य बन्ध का कारण है तथापि गृहस्थ की उसमें प्रवृत्त्ति होती है। शुद्धोपयोग की अपेक्षा शुभोपयोग हेय है और अशुभोपयोगकी अपेक्षा उपादेय है। गृहस्थ की शुद्धोपयोग की प्राप्ति हो नहीं सकती, इसल्यि अशुभोपयोग से बचकर शुभोपयोग में प्रवृत्ति करने की आचार्यों ने उसे प्रेरणा दी है। जिन आचार्यों ने पुण्य को धर्म मानकर उसके करने के लिये आदेश दिया है वह पात्रकी योग्यता को लक्ष्य कर दिया है। इति पुण्यधर्मयोः स्वरूपमुक्त्वेदानीं निविकल्पसमाधिलक्षणं कर्मक्षयकारणं कथयन्ति भगवन्तः----

सद्हर्ति य पत्तेदि य रोचेदि य तह पुणो वि फासेदि । पुण्णं भोयणिमित्तं ण हु सो कम्मक्खयणिमित्तं ॥८२॥

श्रद्दघाति च प्रत्येति च रोचते च तथा पुनरपि स्पृशति ।

पुण्यं भोगनिमित्तं न हुतत् कर्मंक्षयनिमित्तम् ॥८२॥ (सद्दहदि य) श्रद्धाति च तत्र विपरीताभिनिवेशरहितो भवति । (पत्तेदि य) प्रत्येति च मोक्षहेतुभूतत्वेन यथावत्ततप्रतिप्रदाते । (रोचेदि य) रोचते च मोक्षकारणतया तत्रैव रुचि करोति । तह (पुणो वि फासेदि) मोक्षार्थित्वात्त-त्साधनतया स्पृशति अवगाहयति (पुण्णं भोयनिमित्तं) एतत्यूजादिलक्षणं पुण्यं मोक्षार्थितया क्रियमाणं साक्षाद्भोगकारणं स्वर्गस्त्रीणामालिंगनादिकारणं तृतीयादिभवे मोक्षकारणं निग्रं न्यलिंगेन । (ण हु सो कम्मक्खयनिमित्तं) न भवति हु- स्पुटं निष्चयेन साक्षात्त्व्भवे गृहस्यलिंगेन कर्मक्षयनिमित्तं तद्भवे केवल्रज्ञानपूर्वकमोक्षनिमित्तं पुण्यं न भवतीति ज्ञातव्य् ।

इस प्रकार पुष्य और धर्मका स्वरूप कहकर अब भगवान् कुन्दकुन्द निर्विकल्पसमाधिरूप कर्मक्षयका साक्षात् कारण बतलाते हैं----

गायार्थ---मोक्षका अभिलाषी जीव पुण्य की श्रद्धा करता है, पुण्य की प्रतीति करता है, पुण्य की रुचि करता है और पुण्यका स्पर्श करता है परन्तु पुण्य भोगका निमित्त है, कमंक्षय का निमित्त नहीं है ॥८२॥

अप्पा अप्पम्मि रओ रायादिसु सयऌवोसपरिचत्तो । संसारतरणहेदुं धम्मोत्ति जिणेहिं णिद्दिट्टं ॥८३॥ आत्मा आत्मनि रतः रागादिषु सकऌदोषपरित्यक्तः । संसारतरणहेतुः धर्मं इति जिनैः निद्दिष्टः ॥ ८३॥

(अप्पा अप्पस्मि रखो) आरमा अत सातत्यगमने अतत्यूष्ट्यं ब्रज्यास्वभाव-नोर्घ्वमेव गच्छतीत्यात्मा शुद्धबुद्धं कस्वभाव आत्मनि रतो निजशुद्धबुद्धं कस्वभावे एकलोलीभावभूतः । (रायादिसु सयलदोसपरिचत्तो) रागादिषु रागादिम्यः सकल्ल-द्वोषपरित्यक्तः रागद्वेषमोहलोभादिसकलदोषरहित इत्यर्थः । (संसारतरणहेदुं) संसारस्य तरणहेतुः कारणभूतः । (घम्मोत्ति जिणोहि णिहिट्ठं) धर्म इति जिन-निर्दिष्टं प्रतिपादितं जिनपूजा दिकं पुण्यमिति शेथ: । तेन कारणेन जिनपूजादिषु द्वेषो न कर्तम्यः । उक्तं च योगीन्द्रदेवैः---

> देवहं सत्थहं मुणित्ररहं जो विद्देसु करेइ। नियमि पाछ हवेइ तसु जें ससारु भमेइ।। १।।

गायार्थ—आत्मा में लोन तया रागादि समस्त दोषों से रहित यह अत्मा ही संसार सागर से पार होनेका कारण धर्म है, ऐसा जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है। [यहाँ अमेद नयसे गुण गुणो में अमेद कर आत्मा को ही धर्म कहा है।]। ८३।।

विशेषार्थ----आत्मन् शब्द 'अत सातत्यगमने' घातुसे सिद्ध होता है अतः अतति इति आत्मा इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो ऊर्ध्व-गमन स्वभाव होनेसे ऊर्ध्व ही गमन करता है, वह आत्मा है [अथवा गत्यर्थक घातुएँ ज्ञानार्थंक भी होती हैं इस नियम से जो निरन्तर पदार्थों को जाने वह आत्मा है] शुद्ध निश्चयनय से आत्मा शुद्ध बुद्ध के स्वभाव है अर्थात् रागादि-रहित ज्ञायक मात्र है। जो आत्मा अपने इसी शुद्ध बुद्ध के स्वभाव में लीन है--तन्मयी भावको प्राप्त है और रागद्देष मोह लोभ आदि समस्त दोषों से रहित है वह आत्मा ही संसार से पार होनेका कारण-भूत धर्म है, ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है। जिन पूजा आदिक पुष्प हैं और परम्परा से मोक्षके कारण हैं। अतः उनमें द्वेष नहीं करना चाहिये। योगीन्द्र देवने कहा भी है----

बेवहूं---जो देव शास्त्र और श्रोष्ठ मुनियों से द्वेष करता है उसके नियम से बह पाप-बन्ध होता है जिससे संसार में भटकता है। अस्य दोहकस्यायं भावः ---देवशास्त्रगुरूणां प्रतिमासु निषेषिकादिषु च पुष्पा-दिभिः पूजादिषु च लौंका द्वेष कुर्वन्ति तेषां पापं भवति तेन पापेन ते नरकादौ पतन्तीति ज्ञातव्यं ।

अह पुण अप्पा णिच्छदि पुण्णाइं करेदि णिरवसेसाइ । तह वि ण पावदि सिद्धि संसारत्थो पुणो भणिदो ।।८४॥ अध पुनः आत्मान नेच्छति पुण्यानि करोति निरवसेषाणि । तथापि न प्राप्नोति सिद्धि संसारस्थः पुनभणितः ।। ८४॥

(अह पुण अप्पा णिच्छदि) अय पुनरात्मानं नेच्छति न भावयति (पुण्णाइं करेदि निरवसेसाइं) पुण्यानि करोति निरवश्चेषाणि पूजादांनादीनि सर्वाणि भोगा-कांक्षानिदानख्यातिपूजालाभादिकमभिलाषुकतया करोति विद्धाति परं जिनसम्यक्त्वे नान्तः-शून्यो निर्विकेः बहिरात्मा जीवः । (तह वि ण पावदि सिद्धि) तथापि नानापुण्यानि कुवंन्नपि जीवो न प्राप्नोति न लभते, कां ? सिद्धि आत्मोपलब्धि-लक्षणां मुक्तिमिति जिनसम्यक्त्वरहितो दूरभव्योऽभव्या वा स झातव्य इत्यर्थः । यदि सिद्धि न प्राप्नोति तर्हि कोदृशो भवति ? (संसारत्थो, पुणो भणिदो) संसार-स्थोऽनन्तसंसारी पुनर्भणित आगमे प्रतिपादितः ।

इस दोहाका भाव यह है कि देवशास्त्र गुरुओंकी प्रतिमाओं तथा निषेधिका आदि धर्मावतनों को पुष्प आदिने पूजा आदि करने में लौंका लोग द्वेष करते हैं, अतः उन्हें पाप बन्व होता है और उसके फल स्वरूप वे नरकादि में पड़ते हैं ॥ ८३ ॥

गाथायं----यदि कोई आत्मा की भावना नहों करता है और समस्त पुण्य करता है तो वह पुण्य करताहुआ भी सिद्धिको प्राप्त नहीं होता है, संसारी ही कहा गया ॥ ८४ ॥

विशेषार्थ---कितने हो जीव ऐसे हैं कि वे आत्मा को ओर लक्ष्य नहीं देते, मात्र भोगोंको आकांक्षा रूप निदान, ख्याति पूजा लाभ आदि इच्छा रख पूजा दान आदि समस्त पुण्य कर्म करते रहते हैं उन्हें आचार्य महाराज ने जिन-सम्यक्त्व से अन्तरङ्ग में शून्य, निर्विवेक बहिरात्मा कहा है। ऐसे जीव नाना प्रकारके पुण्य करते हुए भी आत्मोपलब्धि रूप सिद्धिको नहीं पाते हैं। जिन-सम्यक्त्व से रहित जीवको दूर-भव्य या अभव्य जानना चाहिये। इन जोवोंको आगममें अनन्त संसारी कहा गया है ॥ ८४ ॥

एएण कारणेण य तं अप्पां सद्दहेह तिविहेण । जेण य लहेह मोक्सं तं जाणिज्जह पयत्तेण ॥८५॥ एतेन कारणेन च तमात्मानं श्रद्धत्त त्रिविधेन । येन च लभध्वं मोक्षं तं जानीत प्रयत्नेन ॥८५॥

(एएण कारणेण य) एतेन कारणेन आस्मनो मोक्षहेतुत्वेन । (तं अप्पां सहहेह तिबिहेण) तमात्मानं श्रद्धक्त तत्र विपरीताभिमिवेशरहिता भवत यूयं त्रिविधेनं मनोवचनकाययोगप्रकारेण । (जेण य लहेह मोक्खं) येन च कारणेना-स्मश्रद्धानहेतुना लभघ्वं मोक्षं सवकर्मप्रक्षयलक्षणं मोक्षं प्राप्नुत यूयं। (तं जाणिज्जह पयक्तेण) तामात्मानं जानीत ज्ञानगुणेन भेदज्ञानेन बुघ्यध्वं यूयं, प्रयत्नेन चारित्र-गुणेनैकलोलोभावतया तत्र तिष्ठत यूयं।

मच्छो वि सालिसित्थो असुद्धभावो गओ महाणरयं । इय णाउं अप्पाणं भावह जिणभावणा णिच्चं ॥८६॥ मत्स्योपि शालिसिक्थोऽशुद्धभावो गतः महानरकम् । इति ज्ञात्वा आत्मानं भावय जिनभावनां नित्यम् ॥८६॥ (मच्छो वि सालिसित्थो) मत्स्योपि मोनजातिरत्पजीवः तन्दुलसिक्थप्रमाण-शरीरत्वान्नाम्ना शालिसित्था । (बसुद्धभावो गओ महानरयं) अशुद्धभावः सन्

इस कारण उस आत्मा की ही मन वचन कायसे श्रद्धा करो तथा उसीको प्रयत्न पूर्वक जानो जिससे मोक्ष प्राप्त कर सको ॥८५॥

गायार्थ—अञ्चुद्ध भावोंसे युक्त शालिसिक्थ मच्छ भी महा नरक गया यह जान कर निरन्तर आत्मा को भावना करो आत्मस्वरूप का चिन्तन करो क्योंकि यही जिन-भावना है अथवा जिन-सम्यक्त्व है ॥८६॥

 गतः प्राप्तः महानरकं सप्तमं नरक गतः । (इय णाउं अप्पाणं) इति ज्ञात्वा-त्मानं शुद्धवृद्धं कस्वभावरूपं टंकोत्कीर्णस्फटिकविंबोपमं चिष्च्यमत्कारस्रक्षणं मुक्ति-गतसिद्धसमानं शुद्धनिश्चयनयेन सिद्धं ज्ञायकैकस्वभावं हे जीव ! हे आत्मम् ! (भावह जिणभावणा णिच्चं) भावय त्वं भावनाविषयं कुरु इयं जिनभावनेति ज्ञात्वा, अथवा जिनभावनां जीवादिसप्ततत्वश्वद्धानं च नित्यं सर्वकालं भावय रोचस्व तस्मादिति अपघ्यानं परिहृत्य अन्तस्तत्वं बहिस्तत्वं चाश्रयेति भावार्थं । कि तपदपघानं ?---

> ⁹वधबन्धच्छेदादे ^२रागद्वेषाच्च परकलत्रादे:। आघ्यानमपघ्यानं शासति जिनशासने विशदा: ॥ १ ॥ ''पदस्थं मंत्रवाक्यस्थं पिण्डस्थं स्वात्मचिन्तनं । रूपस्यं सर्वचिद्रूपं रूपातीतं निरंजनं ॥''

प्रश्न---वह अपध्यान क्या है ?

उत्तर---द्वेष-वश किसीके वध बन्धन और छेद आदिका तथा रागवश परस्त्री आदिका निरन्तर ध्यान करना अपध्यान है, ऐसा जिनशासन के ज्ञाता आचार्य कहते हैं।

पदस्थं—मन्त्र वाक्य रूप पदस्य, स्वात्म-चिन्तन रूप पिण्डस्थ, सर्व-चैतन्य रूप, रूपस्य और कर्म कालिमा से रहित सिद्ध परमेष्ठी रूप रूपा-तोत इस प्रकार सद्ध्यान के चार भेद हैं।

- १. रत्नकरण्डश्रावकाचारे ।
- २. देवाद्रावाच्चेति पाठान्तरमत्वत्र ।

इति पद्मोक्तं चतुर्विधं ध्यानं भावय हे जीव !।

अथ शालिसिक्थमस्स्यकथा यथा---श्रीपुष्पदन्तजिनजन्मभूमौ काकन्दीपुरे श्रावककुलजन्मा सौरसेनो राजा बभूव । सकलधर्मानुरोधेन मांसव्रतं जग्राह । पुन-वेंदवैद्यरुद्रमतमोहितमतिः मांसभक्षणमतिः संजातः, अङ्गीकृतवस्तुनिर्वाहनकारणा-ल्लोकापवादाच्च मांसं जुगुप्समानः मनोविश्रामहेतुं कर्मप्रियनामकेतुं सूपकारं स्वाहूयैकान्ते निजाभिलार्थं तमजिज्ञपत् । बिलचर-स्थलचर-जलचरजीधानां मांस-मानायन्नपि अनेकराजकार्यांकुलचित्ततया मांसभक्षणावसरं न प्राप । कर्मप्रियोऽपि नृपादेशं अर्हान्शं कुर्वन्नेकदा सर्पंबालकेन दष्टो मृतः स्वयंभूरमणसमुद्रे महा-मत्स्यो बभूव । भूपः सौरसेनोऽपि चिरकालेन मृत्वा मांसभक्षणाशयानुबन्धा-

हे आत्मन् ! इस पद्यमें कहे हुए चार प्रकारके सद्ध्यानका तू निर-न्तर चिन्तन कर ।

अब शालिसिक्य मत्स्य को कथा लिखते हैं---

शालिमत्स्य की कथा

श्री पुष्पदन्त भगवान् की जन्म भूमि काकन्दीपुर में श्रावक कुलमें उत्पन्न हुआ सौरसेन ॅनामका राजा था । उसने मुनिराजके अनुरोधसे मांस-त्याग व्रत ग्रहण किया परन्तु पीछे वेदविद्या के ज्ञाता रुद्रमत से मोहित-बुद्धि होनेके कारण उसको मांस खानेमें रुचि हो गई। गृहीत व्रत के निर्वाह के कारण तथा लोकापवाद के भयसे वह प्रत्यक्ष तो मांस से **वृणा करता था परन्तु अन्तरङ्ग में** उसकी इच्छा लगी रहती थी । एक दिन उसने मानसिक विश्वामके कारण कर्म-प्रिय-केतु नामक रसोइया को एकान्त में बुलाकर उससे अपनी अभिलाषा प्रकट की। विलमें रहने वाले, स्थल में रहने वाले और जलमें रहने वाले जीवोंके मांसको व**द्य** बुलवाता तो था परन्तु राज्यसम्बन्धो अनेक कार्योमं व्यग्रचित्त होनेके कारण उसे स्नानेका अवसर नहीं प्राप्त कर पाता था। कर्मप्रिय रसोइया भी राजाके आदेश का पालन करता हुआ प्रतिदिन मांस तैयार करता था। एक दिन सौंपके बच्चेने उसे डस लिया जिससे वह मर गया और मरकर स्वयंभू रमण समुद्र में महामत्स्य हुआ । इघर सौरसेन राजा भी चिरकाल बाद मरकर मांस-भक्षण के अभिप्राय का संस्कार रहने से उसी समुद्र में उसी महामत्स्य के कान रूप विलके मलको खानेवाला बालिसिक्य प्रमाण शरीर का धारक मत्स्य हुआ । पश्चात् जब इसकी द्रव्येन्द्रिय और मावेन्द्रियां पूर्ण हो गईं तब वह मुख खोलकर सोते हुए

षट्प्राभृते

त्तस्मिन्नेव समुद्रे तस्पैव महामस्यस्य कर्णंबिलमलाशनशीलः शालिसिक्यप्रमाण-शरीरो मत्स्यो बभूव। तदन्वेष पर्याप्तद्रव्यभावेन्द्रियः तस्य महामत्स्य--मुर्खं व्यादाय निद्रायतो वेलानदीप्रवाहे इव गलगुहेऽनेकजलचरसमूहं प्रविद्य निष्कामन्तं निरीक्ष्य शालिसिक्ष्यद्त्विन्तयति— अयं पापकर्मा महामत्स्यो निर्भाग्यो यन्मुर्खे पतन्त्यपि यादांसि भक्षयितुं न शक्नोति । मभ देवेनैतावच्छरीरं यदि भवति तदा सकलमपि समुद्रं सत्वसंचाररहितं करोमीति चेतश्चिन्तावलात्सुद्रमत्स्यो निर्खिलन-क्रचक्रभक्षणपापाच्च महामत्स्योऽपि द्वावपि मृत्वा सप्तमनरके संजातौ । ततस्त्र-यस्त्रिश्वत्तागरोपमायुषौ तौ द्वावपि परस्परमालापं चक्रतुः । अहो क्षुद्रमत्स्य ! महापापकमंणो ममात्राग्मनं संगच्छत एव । त्वं तु मत्कर्णंमलजीवनः कथम-त्रागतः । शालिसिक्यचरनारकः प्राह----महामत्स्यचेष्टितादपि दुरन्तदुःखं संवन्धना-दृदुर्भावनावशात् ।

इति श्रीभावप्राभृते शालिसिक्यमत्स्योपाख्यानं समाप्तं ।

बाहिरसंगच्चाओ गिरिसरिदरिकंदराइ आवासो । सयलो णाणज्झयणो णिरत्थओ भावरहियाणं ॥८७॥ बाह्यसङ्ग्रत्यागः गिरिसरिद्दरिकन्दराद्यावासः । सकलं ज्ञानाध्ययनं निरत्थंकं भावरहितानाम् ॥८७॥

महामत्स्य के वेला नदीके प्रवाहके समान कण्ठ रूप गुहा में प्रवेश कर निकलते हुए अनेक जलचरों के समूह को देखकर चिन्ता करता है कि यह पापी महामत्स्य बड़ा अभागा है जो मुखमें पड़े हुए भी जल जन्तुओं को खाने में समर्थ नहीं है, भाग्यवश यदि मेरा शरोर इतना भारी होता तो मैं समस्त समुद्र को जीवोंके संचार से रहित कर देता। इस प्रकार मानसिक विचार के बलसे क्षुद्रमत्स्य और समस्त मगरमच्छों के खानेसे उत्पन्न पापके कारण महामत्स्य दोनों ही मरकर सातर्वे नरक में उत्पन्न हुए । वहां तेतोस सागरको उनकी आयु हुई। दोनों मिलने पर परस्पर वार्तालाय करने लगे। महामच्छके जीवने कहा कि अहो क्षुद्रमत्स्य ! महापाप करने वाले मेरा यहाँ आता तो संगत है पर तुम तो कानका मल खाकर जीवित रहते थे तुम यहाँ कैसे आ गये ? शालिसिक्य के जीव नारकी ने कहा कि मैं महामत्स्य को चेष्टा से भी अधिक भयंकर दुःख देनेवाली खोटी भावनाके वशसे यहाँ उत्पन्न हुआ हूँ।

इस प्रकार श्री भावप्राभृत में शालिसिंक्य मेल्स्य की कथा समाप्त हुई ॥८६॥

गाबार्च-बाह्य परिग्रह का त्याग करना, पर्वत नदी गुफा और

488

बाह्यग्रन्थविहीना दरिद्रमनुजाः स्वभावतः सन्ति ।

थः पुनरन्तःसंगत्यागी लोके स दुर्लभो जीवः ॥ १ ॥

भंजसु इंदियसेणं भंजसु मणोमक्कडं पयत्तेण । मा जणरंजणकरणं बाहिरवयवेस तं कुणसु ॥ ८८ ॥ भङ्ग्धि इन्द्रियसेनां भङ्ग्धि मनोमर्कटं प्रयत्नेन । मा जनरञ्जनकरणं बहिन्नं तवेष ! त्वं कार्षीः ॥ ८८ ॥

कन्दरा आदिमें निवास करना तथा समस्त शास्त्रोंका पढ़ना भावरहित जीवोंके निर्र्यंक है ॥८७॥

विशेषार्थ----भावको महिमा बतलाते हुए आचायं कहते हैं कि भाव-रहित अर्थात् जिन-सम्यक्त्व से विवर्जित अथवा शुद्ध बुद्धैक-स्वभाव से युक्त जिन-आत्मा की भावना से च्युत मुनियोंका बाह्य परिग्रह का त्याग करना निरर्थक है, पर्वंतके ऊपर आतापन योग धारण करना अथवा पर्वंत पर रहना, भगीरथ के समान नदी तट पर तपस्या करना, गुहा में रहना तथा कन्दरा श्मशान उद्यान आदि में निवास करना निर्स्थक है और वाचना प्रच्छना अनुप्रेक्षा आम्नाय तथा धर्मोपदेश रूप सब प्रकार का ज्ञानाध्ययन-शास्त्र स्वाध्याय करना निरर्थंक है। जैसा कि कहा गया है।

बाद्द्यग्रम्थ—दरिद्र मनुष्य तो बाह्य परिग्रहसे रहित स्वयं होता ही है अर्थात् बाह्य परिग्रह के त्यागी मनुष्य दुर्लंभ नहीं हैं किन्तु जो अन्तरङ्ग परिग्रह का त्यागी है लोक में वही दुर्लंभ है ॥८७॥

गाधार्थ—हे बाह्य व्रत वेषके घारक साधो ! तू इन्द्रियों की सेनाको भग्न कर, प्रयत्न पूर्धक मन रूपी वानरको नष्ट कर तथा जनता के अनुराग को उत्पन्न करने वाला कार्य मत कर ॥८८॥ (भंजसु इंदियसेणं) त्वं भौग्ध, कां ? इन्द्रियसेनां। (भंजसु मणमक्कडं पयत्तेण) भंजसु त्वं भन्धि आमर्दय विषयकषायेम्यो गच्छन्तं निरुणद्वि, कं ? मणमक्कडं----मनोमर्कटं चपलस्वभावत्वान्मन एव मर्कटस्तं सनोवानरं प्रयत्नेन स्त्रीसंगपरित्यागत्। (मा जणरंजणकरणं) मा-मैव जनानां लोकानां रञ्जनकरण अनुरागोत्पादकं कार्यः हे ! (बाहिरवयवेस) बहिव्रंतवेष ! हे बाह्याकारदीक्षा-चिन्होद्वाहक ! । (तं) त्वं। (मा कुणसु) मा कार्षोः ।

णवणोकसायवग्गं मिच्छत्तं चयसु भावसुद्धोए । चेइयपवयणगुरुणं करेहि भत्तिं जिणाजाए ॥८९॥ नवनोकषायवर्गं मिथ्यात्वं त्यज भावशद्भया ।

चैत्यप्रवचनगुरूणां कुरु भर्तित जिनाझया ॥ ८९ ॥ (णवणोकसायवग्गं) नवनोकषायवर्गं हास्यरत्परतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीपुं नपुसंकवेदलक्षणान् नोकषायान् ईषत्कषायान् ययाख्यातचारित्रघातकान् । चयसु त्यजेत संबन्धः । तथा (मिच्छत्तं चयसु भावसुद्वीए) मिथ्यात्वं पंचप्रकारं चयसु त्यज---

> ⁹एयंत बुद्धदरिसी विवरीओ बंभ तावसो विणव्रो । इन्दो वि य संसयिदो मक्कडिओ चेव अव्णाणी ॥ १ ॥

विशेषार्थ--हे साधो ! विषय और कषाय की ओर बढ़ती हुई इन्द्रियों की सेनाको तू नष्ट कर दे, मन रूपी चञ्चल वानर को प्रयत्न पूर्वक रोक तथा लोगोंको प्रसन्न करने वाले यन्त्र-मन्त्र-तन्त्र आदि कार्योंको छोड़, सिर्फ वाह्य वेषको धारण करने वाला न बना रह, भावकी ओर लक्ष्य दे ॥८८॥

गाथार्थ---हे जीव ! भाव-शुद्धिपूर्वक नौ नोकषायों के समूह और मिथ्यात्व का त्याग करो तथा जिनेन्द्र देवको आज्ञानुसार जिनप्रतिमा, जिनशास्त्र तथा गुरुओं की भक्ति करो ।।८९॥

विशेषार्थ---हास्य रति अरति शोक भय जुगुप्सा स्त्रीवेद पुरुषवेद और नपु सक देद ये नौ नोकषाय अथवा ईषत् कषाय हैं, यथाख्यात चारित्रका घात करने वालो हैं इन्हें तू छोड़। एकान्त, विपरीत, विनय, संशय और अज्ञान ये पाँच प्रकारके मिथ्यात्व हैं, भावशुद्धि पूर्वक तू इनका त्याग कर।

एयंत--- एकान्त मिथ्यात्वमें बौद्ध, विपरोत मिथ्यात्वमें ब्राह्मण, विनय ?. गोम्मटसारे जोरकाण्डे। भावप्राभृतम्

एकान्तेन क्रणिकैंकान्तेन मोक्षं बौढो वदति विपरीतेन हिं या मोक्षं बंभ-ब्राह्मणो वदति तापसो विनयेन मोक्षं वदति । इन्द्र-इन्द्रचन्द्रोनागेन्द्रगच्छः संशयेन मोक्षं मन्यते । अपि च शब्दाद्गोपुच्छिको द्राविडो यापनीयाभिषो निष्पिच्छद्दच संश्ययमोक्षो ज्ञातव्यः । मस्करपूरणो माकटिकोऽज्ञानान्मोक्षं मन्यते । एतन्महापातकं मिथ्यात्वपंचकं चयसू त्यज हे जीव ! त्वं i तथा च समन्तभद्रः प्राह-

ैन सम्यक्त्वसमं किचित् त्र काल्ये त्रिजगत्यपि ।

श्रेयोऽश्वेयरुच भिष्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम् ॥ १ ॥ भावसुद्धीए—-तत्वार्यश्रदानलक्षणया भावशुद्धधा जिनसम्यक्त्वेन लौंकपाप-संभाषणसंगमपरिहारेण शुद्धबुद्धैकस्वभावात्मरुचिपरिणामेनेति भावार्यः । (चेइय-पवयणगुरुणं) चैत्यानां अर्हत्पिद्ध प्रभृतिप्रतिमानां प्रवचनस्य जिननाथसूत्रस्य तथेति मस्तकोपर्यारोपणेन सरस्वतीप्रतिमापूजनेन गुरूणां निग्रंन्यदिगम्बराणां भव्यजीव-

मिथ्यात्व में तापस, संशय भिथ्यात्व में इन्द्र नामक स्वेताम्बर और अज्ञान मिथ्यात्व में मस्करी प्रसिद्ध हुआ है बौद्ध, सर्वथा क्षणिक एकान्त से मोक्ष कहते हैं। 'हिंसा से मोक्ष होता है' इस प्रकार ब्राह्मण विपरीत मिथ्यात्व-का निरूपण करते हैं। 'सब धर्म तथा सब देवों की विनय से मोक्ष होता हैं' ऐसा तापस कहते हैं। इन्द्र-चन्द्र-इन्द्र अर्थात् नागेन्द्र गच्छका प्रवर्तक इन्द्रचन्द्र संशय से मोक्ष मानता है। 'इन्दोविय' यहां जो 'अपिच' शब्द दिया है उससे गोपुच्छिक, द्राविड, यापनीय तथा निष्पिच्छ लोगोंका भी संशय मिथ्यात्व में समावेश करना चाहिये क्योंकि ये भी संशय से मोक्ष मानते हैं। तथा मार्कटिक अथवा मस्कर पूरण अज्ञान से मोक्ष मानता है। ये पांचों मिथ्यात्व महापाप हैं इसलिये हे जीव ! तू इनका त्याग कर । समन्तभद्र स्वामी ने कहा भी है---

न सम्यक्स्व---तीनों काल और तीनों लोकों में सम्यक्त्व के समान जीवोंका कल्याणकारी और मिथ्यात्व के समान अकल्याणकारी दूसरा कुछ भी नहीं है।

भाव-शुद्धिका अर्थं तत्त्वार्थश्रद्धान रूप जिन-सम्यक्त्व अथवा शुद्ध बुद्धैक-स्वभाव से युक्त आत्मा को रुचि रूप परिणाम समझना चाहिये। चैत्यका अर्थ अहंन्त सिद्ध आदि की प्रतिमा है तथा प्रवचन से जिनागम का ग्रहण होता है। जिन-प्रतिमा और जिनागम को मस्तक पर धारण कर तथा सरस्वती की प्रतिमाको पूजा कर उनकी भक्ति करना चाहिये।

१. रत्नकरव्यधावकाणारे ।

भक्तजनविनेयमातृपितृसद्गाहितोपदेशकानां । (करोहि मसि जिणाणाए) कुइ त्वं भक्ति पंचामृतअलेक्षुरसहैयंगवीनगोमहिषोक्षीरगन्धोदककल्लशस्नपनेन जल्रवन्दनाक्षत पुष्यचरुद्वीपधूपफलार्घंदानेन स्तवनेन जपेन ध्यानेन श्रुतदेवताराधनेन नित्यं प्रातरुत्थाय सर्वज्ञवीतरागप्रतिमासर्वाङ्गावलोकनेन भक्ति कुरु, तथा श्रुतर्भक्ति श्रुतोक्तप्रकारेण कुरु, तथा गुरूणा पादमदेनेन वैयावृत्त्ययथासंभवाहारदानश्रुत-समपंणोषधप्रदा नवसत्यपंणाभयदानादिभिर्यथायोग्यं भक्ति कुरु । एतत्सर्वं भक्ति-लक्षणं कर्मं जिनाजया महापुराणश्रवणेन त्वं कुरु हे जीव ! स्वर्गं मोक्षं च प्राप्त्यर्याप्ता । होकानां महापातकितां वचनं मा मानयस्व ।

तित्थयरभासियत्थं गणहरदेवेहि गंथियं सम्मं । भावहि अणुदिणु अतुलं विसुद्धभावेण सुयणाणं ॥९०॥

तीर्थंकरमाषितार्थं गणधरदेवैः ग्रन्थितं सम्यक् । भावय अनुर्दिनं अतुलं विशुद्धभावेन श्रुतज्ञानम् ॥९०॥

(तित्थयरभासियत्थं) तीर्थंकरेण श्रीमद्भगवदर्हत्सवंज्ञवीतरागेण भाषितः कथितोऽथों यस्य अतुतज्ञानस्य तत्तीधकरभाषिताथं । (गणहरदेवेहि गंधियं सम्मं)

इसी प्रकार भव्य जीव, भक्तजन तथा शिष्योंको माता पिता के समान हितका उपदेश देनेवाले निग्रंन्थ दिगम्बर गुरुओंकी भी भक्ति करना चाहिये । हे जीव ? तू जिनेन्द्र देव की आज्ञानुसार जिन-प्रतिमाओं की पञ्चामृत-जल, इक्षु, रस, घी, माय भेंसके दूघ तथा गन्घोदक से भरे कलघों द्वारा अभिषेकसे जल चन्दन, अक्षत, पुष्प, चरु, दीप, घूप, फल और कलघों द्वारा अभिषेकसे जल चन्दन, अक्षत, पुष्प, चरु, दीप, घूप, फल और कर्ल्घों द्वारा अभिषेकसे जल चन्दन, अक्षत, पुष्प, चरु, दीप, घूप, फल और कर्ल्घों द्वारा अभिषेकसे जल चन्दन, अक्षत, पुष्प, चरु, दीप, घूप, फल और कर्छा के देनेसे, स्तवन से, जपसे, घ्यान से, श्रुत देवता की आराधना से और नित्य प्रातःकाल उठकर सर्वज्ञ वीतराग की प्रतिमाओं के सर्वाष्ट्र दर्शन से भक्ति कर । श्रुत को भक्ति शास्त्र में कही हुई विधि से कर तथा गुरुओं की भक्ति उनके पैर दावना, वैयावृत्य, यथासंभव आहार दान, शास्त्र समर्पण, औषधदान, वसतिकार्पण एवं अभयदान आदि के द्वारा यधा-योग्य रीति से कर । यह सब भक्ति रूप कार्य तू जिनाज्ञासे अर्थात् महापुराण के श्रवण से कर । इस भक्ति के द्वारा तू स्वर्ग और मोक्सको प्राप्त होगा ॥ ४९ ॥

गाधार्थ--तीर्थंकर भगवानु ने जिसके अर्थंका निरूपण किया है तथा गणधर देवोंने जिसे भऌोभाँति गूँँथा है--द्वादशांङ्ग रूप निबद्ध किया है ऐसे अनुपय अनुतज्ञान का तू प्रतिदिन विशुद्ध भावसे जिन्तन कर ॥९०॥

भावप्रामृतम्

गण्वरदेवैगौतमस्वाम्यादिभिग्रंन्थितं द्वादशाधिकशतकोटित्र्यश्चीतिलक्षाण्टापंचाझत्स-हस्रपद्माधिकपदैरानीतमिति ग्रन्थित । चतुदंशप्रकोणकैरप्यानीतं श्रुतझानं । (सम्मं) सम्यक्ष्प्रकारेण पूर्वापरविरोधरहितं । (भावहि)ं भावय । (अणुदिणु) अनुदिन-मर्हानर्धः । (अतुरुं) अनुपमं (विसुद्धभावेण सुयणाणं) चलमलिनपरिणाम-रहिततया । एकस्य पदस्य श्लोका यधा---५१०८८४६२१ अक्षर १६, उक्तं च श्रुतस्कन्धशास्त्रे---

एक्तावनकोडीओ लक्सा अट्ठेव सहसचुलसीदी। सयछक्कं णायव्वं सड्ढाइगवीसपयगंथा॥१॥ पाऊण णाणसलिलं णिम्महतिसडाहसीसउम्मुक्का। होंति सिबालयवासी तिहूवणचूडामणी सिद्धा॥९१॥

भ्राप्य ज्ञानसलिलं निर्मय्यतृषादाहशोषोन्मुक्ताः । भवन्ति शिवालयवासिनः त्रिभुवनचूडामणयः सिद्धाः ॥९१॥

विशेषार्थ---तीर्थंकर अर्थात् अष्ट प्रातिहार्यं रूप लक्ष्मी से सहित भगवान् अर्हन्त सर्वज्ञ वीतराग देव ने अपनी दिव्यध्वनि के द्वारा जिसका अर्थं रूपसे निरूपण किया है और गौतम स्वामी आदि गणधर देवोंने जिसकी ग्रन्थ रचना कर एकसौ बारह करोड़ तेरासी लाख अट्ठावन हजार पाँच पदों द्वारा जिसका विस्तार किया है, यही नहीं चौदह प्रको-णंकों के द्वारा भी जिसे सुविस्तृत किया है, ऐसे पूर्वापर विरोध से रहित अनुपम श्रुत ज्ञान की तू हे जीव ! प्रतिदिन भावना कर । चल, मलिन रूप परिणामों से रहित होकर प्रतिदिन उसीका चिन्तवन कर । द्वादशाङ्ग के एक पद में इक्यावन करोड़ आठ लाख चौरासी हजार छह सौ साढ़े इक्कीस ब्लोक बतलाये हैं, १६ अक्षर शेष रहते हैं। जैसा कि श्रु तस्कन्ध शास्त्र में कहा है----

एक्कावन—इक्यावन करोड़ आठ लाख चौरासी हजार छह सौ साढ़े इक्कीस क्लोक एक पद के बतलाये गये हैं॥९०॥

गायार्थ-झान रूपी जलको प्राप्त कर ये जीव, दुर्निवार तृषा दाह और शोषसे रहित हो शिवालय के बासी एवं तीन लोक के चूड़ामणि सिद्ध होते हैं। ११॥

१. पोल्वा इति सम्यक् प्रतिभाति ।

(पाऊण णाणसलिलं) प्राप्य लच्च्या कि ? ज्ञानसलिलं सम्यक्तानपानीयं सिद्धा भवन्तीति सम्बन्धः कर्यभूताः सिद्धाः (निम्महतिसडाहसोसउम्मुक्का) निर्मध्या मययितुम्शक्या स चासौ तृषा विषयाभिलाषः दाहरुव शरोरपरिसन्तापः शोषश्च रसादिहानिः निर्मयतुषादाहशोषाः तैरुन्युक्ताः परित्यक्ता निर्मयतृड्दाह-शोषोन्मुक्ताः निम्मलसुविसुद्धभावसंजुत्ता इति च क्वचित्पाठः तत्रायमर्थः— निर्मलो द्रव्यकर्मभावकर्मनोकर्मरहितः योऽसौ सुविशुद्धभावः कर्ममलकलड्दूरहितः सायिको भावः परिणासः निष्केवल आत्मा वा तेन संयुक्ताः सहिता निर्मलसुवि-शुद्धभावसंयुक्ताः । (होति सिवालयवासी) भवन्ति संजायन्ते, के ते ? आसन्त-भव्यजीवाः, कीदृशाः संजायते ? शिवालयवासिन इषत्प्राग्भारनाम्न्यां शिलायां वसन्तीति मुक्तिशिलोपरितिष्ठन्तीत्येवं शीलाः शिवालयवासिनः, अथवा शिवानां सिद्धानामालयः शिवालयः पंचचत्वारिशल्ठ्ययोजनविस्तारमुक्तिशिलायाउपरि तनु-

१. पाऊण की छाया 'प्राप्य' न होकर पीत्वा ठोक जान पड़ती है और निर्मध्य का अर्थ 'मययितुमज्ञक्या के बदले 'निःदोषेण मथित्वा' उचित जान पड़ता है। इस दक्ता में निर्मध्य का कम तृवा है। सामूहिक रूपसे गायाका अर्थ यह संगत प्रतीत होता है—'ये जीव जानरूगे जलको पीकर तथा विषया-भिलाषा रूपी तृषा-प्यास को बिलकुल नष्ट कर दाह और द्योप से रहित होते हुए ज्ञिवाल्यवासी एवं तीन लोकके जूडामणि सिंस होते हैं।' वातनाभवातवलये निराघारा आकाशे तिष्ठन्तीति भावः । पुनः कयंभूताः सिद्धाः, (तिहुवणचूडामणी) त्रैलोक्यशिरोरत्नसदृशाः ।

दस दस दो सुपरीसह सहहि मुणी सयलकाल काएण । सुत्तेण अप्पमत्तो संजमघादं पमोत्तूण ॥९२॥ दश दश दौ सुपरीषहान् सहस्व मुने ! सकलकालं कायेन । सूत्रेण अप्रमत्ता संयमघातं प्रमुच्य ॥९२॥

(दस दस दो) दश च पुनर्दश च ढी च ढाविंशतिरित्थर्थः के ते, (सुपरी-सह) सुष्ठुअतिशयेन परिसमन्तात् सह्यन्ते ये ते सुपरीषहाः "मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिसोढव्याः परीषहाः" ते तु पूर्वोक्तवणंना ज्ञातव्याः । (सहहि) सहस्व । (मुणी) हे मुने ! हंहो तपस्विन् ! (सयस्रकालं) सकल्ठकालं सर्वकालं, कायेन शरीरेण वाग्मनश्चात्मनि स्थाप्यते इति भावः । (सुत्तेण) सूत्रेण जिनवचनेन क्रत्वा । कि तज्जिनवचनं ?---

"मार्गाच्यवननिर्जरार्थं^भपरिसोढव्याः परिषहाः"

इति । (अप्पमत्ता) अग्रमत्ताः प्रमादरहिताः इत्यर्थः । (संअमघादं पमोत्तूण) संयमस्य घातं प्रमुच्य ।

प्रमाण क्षेत्र में है । सिद्ध परमेष्ठो वहीं निराधार आकाश में स्थित रहते हैं ।वे सिद्ध परमेष्ठो तीन लोकके ऊपर चूड़ामणि के समान सुशोभित होते हैं ॥ ९१ ॥

गाथार्थ --हे मुने ! तू जिनदेव के सूत्रानुसार-जिन-शास्त्र को आज्ञा प्रमाण प्रमाद रहित हो संयम के घातको छोड़कर सदा शरीर से बाईस परीषहों को सहन कर ।

विशेषार्थ—हे तपस्विन् ! जिनेन्द्र देवने अपने आगम में आज्ञा दो है-'मार्गाच्यवन-निर्जरार्थं परिसोढव्याः परीषहाः' अर्थात् गृहीत—मार्गसे च्युत न होने तथा कर्मोंकी निर्जरा के लिये परीषह सहन करना चाहिये, सो इस जिनाज्ञा के अनुसार तू सदा प्रमाद रहित होता हुआ संयम में जो बाधा आती है उसका बचाव कर तथा सदा शरीर से क्षुधा तृषा आदि बाईस परीषहों को सहन कर !। ९२ ।।

१. ''सीषूसहोऽङेऽसोः'' इति शाकटायनीयेन ''सोढ'' इति जैनेन्द्रीयेण पाणिनीयेन च सूत्रेण धस्वनिषेधः ।

जह पत्यरो ण भिज्जइ परिट्ठिओ दीहकालमुबएण । तह साहू ण विभिज्जइ उवसग्गपरीसहेहिंतो ॥९३॥

यया प्रस्तरो न भिद्यते परिस्थितो दीर्घकालं उदकेन । तथा सामुर्न विभिद्यते उपसर्गपरीषहेभ्यः ॥९३॥

(जह पत्थरो ण भिज्जइ) यथा प्रस्तरः पाषाणो न विभिद्यते न परिणमति अन्तरार्द्रो न भवति । (परिट्ठिओ दीहकालमुदएण) पाषाणः कथंमूतः, परि-स्थितः व्रडित उदके इति सौत्रसम्वन्चात् । कथं परिस्थितः, दीर्घकाल प्रचुरकालं, केन न विभिद्यते ? उदकेन वारिणा । (तह साहू ण विभिज्जइ) तथा साघुमुंनी रत्नत्रयसाधकः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रमण्डितो न विभिद्यते नान्तः क्षुभितो भवति । (उवसम्गपरीसहेहितो) देवमानवत्तिर्यगचेतनोपद्रवेम्य उपसर्गेम्यः परोषहेम्यः क्षुधा-पिपासादिभ्यो द्राविधातेरपि । ''सुन्तो हिन्तो हिः दु दोत्तो म्यसः'' इति प्राक्तत-व्याकरणसूत्रेण पंचमीवहुवचनम्यसः स्थाने हिंतो आदेशः । इसिस्थाने च ''लुक्च हितो हि दु दो त्तो इसेः'' इति सूत्रेण भवति । ''व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिनं हि सन्देहादलस्वणं'' इति परिभाषयाऽत्र बहुवचनस्य म्यस्तो हिन्तो आदेशो ज्ञातव्य इति ।

गायार्थ----जिस प्रकार दीर्घकाल तक पानी में डूबा पत्थर पानीके ढारा मेदको प्राप्त नहीं होता उसी प्रकार उपसर्ग और परीषहों के ढारा साधु विभेद को प्राप्त नहीं होता अर्थात् अन्तरङ्ग से क्षुभित नहीं होता॥ ९३॥

विशेषार्थ-----उपसर्ग उपद्रव को कहते हैं। तथा देवकृत मनुष्यकृत तियंक्कृत और अचेतन कृतके भेदसे चार प्रकार का होता है। क्षुधा आदिको प्राकृतिक बाधाको परोषह कहते हैं तथा उसके क्षुया तृषा शीत उष्ण आदि बाईस भेद हैं। इन उपसर्ग और परीषहों से जैन साघु कभी विचलित नहीं होता, यह दृष्टान्तपूर्वक समझाते हुए श्रो कुल्दकुन्दाचार्य देव कहते हैं कि जिस प्रकार दीर्घ काल तक पानीके भातर रहता हुआ भी पत्थर पानी से भेद को प्राप्त नहीं होता अर्थात् गीला नहीं होता अथवा दूटता नहीं है, उसी प्रकार रत्नत्रयका साधक साघु भो उपसर्ग और परोषहोंसे भेदको प्राप्त नहीं होता अर्थात् क्षुभित होकर संयम से ज्युत नहीं होता ॥ ९३ ॥

भावहि अणुवेक्खाओ अवरे पणवीसभावणा भावि । भावरहिएण किं पुण बाहिरलिंगेण कावव्वं ।।९४।।

भावय अनुप्रेक्षा अपराः पञ्चर्विंशति भावना भावय । भावरहितेन कि पुनः बहिल्ङ्रिन कार्यम् ॥ ९४ ॥

(भावहि अणुवेक्साओ) भावय पुनः पुनश्चिन्तय अनुप्रेक्षा अनित्यादोः । (अवरे पणवीसभावणा भावि) अपराः पंचविंशतिमावना भावय । (भावरहि-एण किं पुण) भावरहितेन पुनः किंन्त्नन किमपि इत्याक्षेपः । (बाहिरल्गिंग कायव्यं) बर्हिलिङ्गीन नग्नवेषेण किं साघ्यं कर्मक्षयशून्यमिदं ।

सव्वविरओ वि भावहि णवयपयत्थाई सत्त तच्चाई । जीवसमासाईं मुणी चउदसगुणठाणणामाई ॥९५॥ सर्वविरतोपि भावय नवकपदार्थान् संप्ततत्वानि । जोवसमासान् मुने ! चतुर्दशगुणस्थाननामानि ॥ ९५ ॥

गावार्य-हे साधो ! तू बारह अनुप्रेक्षाओं और पच्चीस भावनाओं का चिन्तन कर क्योंकि भावसे रहित मात्र बाह्यलिङ्क्षसे क्या किया जा सकता है ? अर्थात् कूछ नहीं ॥९४॥

विशेषार्थ— 'अनु भूयोभूयः प्रकर्षेण ईक्षणम् अनुप्रेक्षा' इस व्युत्पत्ति के अनुसार पदार्थके स्वरूपका बार-बार श्रेष्ठताके साथ विचार करना अनुप्रेक्षा है । अनुप्रेक्षाओं के बारह भेद हैं— १ अनित्य २ अशरण ३ संसार ४ एकत्व ५ अन्यत्व ६ अशुचित्व ७ आस्रव ८ संवर ९ निर्जरा १० लोक ११ बोधि दुर्लभ और धर्म । हे मुने ! तुझे इन भावनाओंका निरन्तर चिन्तन करना चाहिये क्योंकि वैराग्यको उत्पन्न करनेके लिये ये माताके समान कही गई हैं । इनके सिवाय अहिंसादि पांच व्रतों की पांच-पांच के परि-गणन से पच्चोस भावनाओं का भी निरन्तर चिन्तन करना चाहिये क्योंकि वे व्रतोंको स्थिरताको करनेवाली हैं । इन भावनाओंका वर्णन महले आ चुका है । इन दोनों प्रकारकी भावनाओं के चिन्तन से तू अपने भावकी सम्हाल पहले कर । क्योंकि भावके बिना बाह्य लिङ्ग-नग्नमुदा श्वरण करने से क्या लाभ है ? मात्र बाह्यलिङ्ग कर्मक्षयका कारण नहीं है । ९४ ॥

गाबार्थ---हे मुने ! सबसे विरत होने पर भी तूं नव पदार्थ, सात-

(सर्क्वविरओ वि भावहि) सर्वविरतोऽपि हे जीव ! स्वं महावत्यपि सन् भावय। (णवयपयत्थाइं सत्ततच्वाइं) नवपदार्थान् जीवाजीवास्रव्यन्धसंवर-निर्जरामोझपुष्पपापपदार्थान् । चतनालक्षणो जीवः । पुद्गलघर्माघर्मकालाकाज्ञा अजीवाः । आत्मप्रदेशेषु कर्मपरमाणव आगच्छन्ति स आस्रवो मिष्यात्वाविर-तिप्रमादकषाययोगरूपः । आत्मप्रदेशेषु आस्रवानन्तर द्वितीयसमये कर्मपरमाणवः रिल्डष्यन्ति स बन्धः प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशभेदाच्चर्तुविधः । आस्रवस्य निरोधः

तत्व, चौदह जीव समास और चौदह गुण स्थानों का चिन्तन अवश्य कर^भ॥ ९५ ॥

विशेषार्थ- हे मुने ! यद्यपि तू हिंसादि समस्त पापोंसे विरक्त होकर महावती हुआ है तथापि जीव अजीव आस्रव बन्ध संवर निर्जरा मोक्ष पुण्य और पाप इन नौ पदार्थोंका तथा पुण्य और पापको छोड़ जीव अजीव आदि सात तत्त्वोंका चौदह जीवसमासोंका तथा चौदह गुणस्थानोंका चिन्तवन अवश्य कर-इनके स्वरूपका विचार अवश्य कर ।

जिसमें चेतना पाई जाती है उसे जीव कहते हैं। जिसमें चेतना नहीं है उसे अजीव कहते हैं। पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल की अपेक्षा अजीव के पाँच भेद हैं। पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल की अपेक्षा अजीव के पाँच भेद हैं। आत्म-प्रदेशों में कर्म परमाणु आते हैं यहो आसव है। यह मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग रूप होता है। आसव के बाद द्वितीय समय में कर्म परमाणु आत्मप्रदेशों में श्लेष को प्राप्त हो जाते हैं यही बन्ध कहलाता है इसके प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, और प्रदेश के भेदसे चार भेद होते हैं। आस्रव का रुक जाना संवर कह-लाता है। वह संवर 'गुप्ति-समिति-धर्मानु-प्रेक्षा-परीषहजय-चारित्रै:' इस सूत्र के अनुसार ३ गुप्ति ५ समिति १० धर्म ६२ अनुप्रेक्षा २२ परीषह जय ओर ५ चारित्रों से होता है। [जो आत्माको पवित्र करे उसे पूण्य कहते हैं

१. यहाँ गाथा में जैसा पाठ है उसके आधार पर गाथाके उत्तरार्घका अर्थ होता है 'गुणस्थान नाम वाछे चौदह जीव-समासों की भावना कर' परन्तु टीका-कारने जीव समास और गुणस्थानोंका अलग-अलग वर्णन किया है। गुण-स्थानों को भी जीव-समास शब्दसे कहा जाता रहा है जैसे कि जीव काण्ड में 'मिस्सो सासण मिच्छो'--आदि गाथाओंके अन्त में लिखा है----'चडदह जीव-समासा कमेण सिद्धा थ जादव्या'। यहाँ टीकाकार ने जीव काण्डके उद्ध पाठकां बदल कर 'यशुद्दस गुणठाणाणि य' ऐसा पाठ रखा है।

भावप्रामुतम्

संवर उच्यते । स संवरः रेस गुष्तिसमितिदक्षभर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैभंवति । तपसा निर्जरा च भवति सर्वरस्व भवति । सर्वकर्मक्षयो मोक्षः कय्यते ^२एते नवपदार्थाः, एतेषां विस्तर आगमाद्वेदितव्यः । सप्ततत्वानि पुण्यपापरहितानि ज्ञातव्यानि । (जीवसमासाइं मुणी) हे मुने ! जीवसमासान् चसुदंशसंख्यान् त्वं भावय । अथ के ते चतुर्दशजीवसमासा इति चेत् ?----

बादरसुहमेगिदिय वितिचर्जीरदिय असण्णि सण्णो यं। पज्जत्तापज्जत्ता भूदा इय चोद्दसा होतिं।। १ ॥ विस्तरभेदैर्जीवसमासा अष्टानवतिर्भवन्ति । तत्रेयं गाथा----थावर वेयालीसा दो सुर दो नरय तिरिय चउतीसा । नव विउले नव मणुए अडणउदी जीवठाणाणि ॥ १ ॥

और जो शुभ कार्यों से आत्मा की रक्षा करे अर्थात् दूर रक्से उसे पाप कहते हैं] कर्मोंके एक-देश क्षयको निर्जरा कहते हैं, तपसे निर्जरा और संवर दोनों होते हैं । समस्त कर्मोंका क्षय मोक्ष कहलाता है । ये नौ पदार्थ हैं इनका विस्तार आत्मा से जानना चाहिये । इन्हीं नौ पदार्थों में से पुण्य और पाप को अलग कर देनेपर शेष सात पदार्थ सात तत्व कहलाते हैं । इस विवक्षा में पुण्य और पापका आस्तव तथा बन्ध तत्व में समावेश हो जाता है, अतः उनकी अलग से गणना नहीं की गई है । संक्षेप से जोवोंकी समस्त जातियों के परिगणन को जीव-समास कहते हैं । संक्षेप से उसके चोदह मेद होते हैं, जो इस प्रकार हैं—

बादर सुहुमे— १ बादर एकेन्द्रिय, २ सूरुम एकेन्द्रिय, ३ दोइन्द्रिय, ४ तोन इन्द्रिय ५ चार इन्द्रिय, ६ असैनी पञ्चेन्द्रिय और ७ सैनी पञ्चेन्द्रिय इस सात युगस्रोंके पर्याप्त और अपर्याप्त की अपेक्षा दो भेद होते हैं, अतः सबके मिलाकर चौदह जोवसमास होते हैं। विस्तार की अपेक्षा अठानवे जीवसमास होते हैं। उनके परिगणन के लिये यह गाथा उपयुक्त है—

्थावर—स्थावरोंके ४२, देवोंके २, नारकियों के २, पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चों के ३४, विकलत्रय के ९ और मनुष्यों के ९ सब मिलाकर ९८ जीवसमास होते हैं।

- १. सर्वप्रतिषु स शब्दो वतंते ।
- २. सर्वप्रतिषु पुण्यपापयोर्श्वकां नास्ति तदनेन प्रकारेण ज्ञेयं । पुनान्यात्मानं तत्व्वण्यं । पाति रक्षति जुमाद्वप्रणानं तत्पार्गः ।

अस्या विवरणं-पृथ्वीकायिकसूक्ष्म-बादर-पर्याप्त अपर्याप्त रूब्ध्यपर्याप्त ६। तथा अप् ६। तेज ६। वायु ६ एवं २४। वनस्पतिकायिकभेद २ प्रत्येक साधारण साधारणभेद १२ नित्यनिगोदसूक्ष्म-बादर-पर्याप्त अपर्याप्त लब्ध्यपर्याप्त ६ तथा इतर-निगोद- सूक्ष्म बादर पर्याप्त अपर्याप्त-जब्ब्यपर्याप्त ६ एवं १२। प्रत्येक भेद ६ सप्रतिष्ठितप्रत्येकवाटिकादौ, अप्रतिष्ठिताः स्वयमेव ते च पर्याप्त-अपर्याप्त लब्ध्यपर्याप्त । एवं धावरवेयालीसा । सुरभेद २ पर्याप्त-अपर्याप्त । नारकभेद २ पर्याप्त--अपर्याप्त । पंचेन्द्रियतिर्यंग्भेद २४ । जल्चरभेद २ गर्भज-सम्मूच्छेन गर्भजभेद २ पर्याप्त--अपर्याप्त । सम्मूच्छेनभेद पर्याप्त--अपर्याप्त--लब्ब्यपर्याप्त ५ । तथा नभरुचर ५ । स्थलचर ५ । एवं १५ संज्ञिभेदाः । तथा १५ असंज्ञि-

इस गायाका स्पष्ट विवरण इस प्रकार है---

पृथिवीकायिक जीवोंके सुक्ष्म और वादरकी अपेक्षा दो मेद हैं और उनके प्रत्येक के पर्याप्त अपर्याप्त तथा लब्ध्यपर्याप्तकी अपेक्षा तीन-तीन भेद हैं, इस तरह पृथिवीकायिक के छह भेद हुए । इसी प्रकार जलकायिक अग्नि नायिक और वायु-कायिक के प्रत्येक के छह-छह भेद हुए । चारोंके मिला-कर चौबीस भेद हुए। वनस्पतिकायिकके मुलमें प्रत्येक और साधारण इस प्रकार दो भेद हैं। इनमें साधारण वनस्पतिके बारह भेद होते हैं जो इस प्रकार हैं-साधारण वनस्पतिके नित्य निगोद और इतर निगोदके भैदसे मूल्में दो भेद है, फिर दोनों के सुक्ष्म और बादर की अपेक्षा दो दो भेद हैं, इस तरह चार भेद हए फिर चारों के पर्याप्त अपर्याप्त और लब्ब्य-पर्याप्तकी अपेक्षा तीन भेद हैं इसप्रकार साधारण वनस्पतिके बारह भेद हुए। प्रत्येक दनस्पतिके सप्रतिष्ठित प्रत्येक और अप्रतिष्ठित प्रत्येक को अपेक्षा मूलमें दो भेद हैं, फिर दोनों के पर्याप्त अपर्याप्त और लब्ध्यपर्याप्त की अपेक्षा तीन-तोन भेद हैं, इस तरह छह भेद होते हैं । इस प्रकार पृथिवी आदि के चार के २४. साधारण वनस्पति के १२ और प्रत्येक वनस्पति के ६ सब मिलाकर एकेन्द्रिय के वियालीस जीवसमास हैं । देवोंके पर्याप्त और अपर्याप्त की अपेक्षा दो जीवसमास हैं। नारकियोंके भी पर्याप्त और अपर्याप्त की अपेक्षा दो जीव समास हैं । पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चों के चौतीस भेद हैं जो इस प्रकार हैं। पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चोंके मूलमें सैनी और असैनो की अपेक्षा दो भेद हैं उनमें दोनों के जलवर स्थलवर और नभरवर की अपेक्षा तोन-तोन भेद हैं और तीनों गर्भज तथा सम्मूर्च्छनको अपेक्षा दो-दो भेद हैं। इनमें से गर्भज के पर्याप्तक और अपर्याप्तक की अपेक्षा दो-दो

मेदाः । भौगभूमिजतियंग्भेद ४ स्थलवर पर्याप्त अपर्याप्त । नमध्वर पर्याप्त----अपर्याप्त । एवं ४। एवं पंचेन्द्रियतियंग्भेद ३४ । विकलत्रयेभेद ९। द्वीन्द्रियपर्यप्त-अपर्याप्त लब्ब्यपर्याप्त, त्रीन्द्रियपर्याप्त अपर्याप्त लब्ब्यपर्याप्त, वतुरिन्द्रियपप्ति-अपर्याप्त-लब्ब्यपर्याप्त । एवं ९ । मनुष्य भेद ९ । भोगभूमिजभेद २ पर्याप्त-अपर्याप्त, कुभोगभूमिजमनुष्य पर्याप्त अपर्याप्त, म्लेच्छक्षण्डमनुष्य पर्याप्त--अपर्याप्त, आर्यक्षण्डमनुष्य पर्याप्त-अपर्याप्त, म्लेच्छक्षण्डमनुष्य पर्याप्त--अपर्याप्त, आर्यक्षण्डमनुष्य पर्याप्त-अपर्याप्त एवंभेद ९ । एवं जीवसमासा अष्टानवतिः (चउदसगुणठाणणामाइं) चतुर्दशयुणस्थानना-मानि । यथा----

ेमिच्छा सासण मिस्सो अविरदसम्मो य देसविरदो य।

विरदा पमत्त इयरो अपून्त अणियट्टि सुहमो य ।) १ ॥

भेद और संमूर्च्छनके पर्याप्तक अपर्याप्तक तथा लब्ध्यपर्याप्तककी अपेक्षा तीन भेद होते हैं। इस तरह गर्भजके बारह और संमूर्च्छनके अठारह दोनोंके मिलाकर तीस भेद होते हैं उनमें भोगभूमिज तियँञ्च के चार भेद और जोड़नेसे पञ्चेन्द्रिय तियँञ्चोंके चौंतीस भेद हो जाते हैं। भोगभूमि में स्थलचर और नभरचर ये दो ही भेद होते हैं, जलचर भेद नहीं होता । तथा स्थलचर और नभइचरके पर्याप्तक तथा अपर्याप्तक को अपेक्षा दो दो भेद होते हैं, अत. चार भेद होते हैं। विकलेन्द्रिय जीवोंके नौ भेद हैं जो इस प्रकार हैं-द्वीन्द्रिय के पर्याप्तक अपर्याप्तक और लब्ध्यपर्याप्तकको अपेक्षा तीन भेद, त्रोन्द्रिय के पर्याप्तक, निवृंत्यपर्याप्तक और लब्ध्यपर्याप्तककी अपेक्षा तीन भेद और चतुरिन्द्रियके पर्याप्तक, अपर्याप्तक तथा लब्ध्य-पर्याप्तक को अपेक्षा तीन भेद इस तरह तीनोंके मिलाकर नौ भेद होते हैं । मनुष्योंके नौ भेद हैं जो इस प्रकार है-भोगभूमिज मनुष्यके पर्याप्त और अपर्याप्तके भेद से दो भेद, कुभोग भूमिज मनुष्य के पर्याप्तक और अपर्याप्तक को अपेक्षा दो भेद, म्लेच्छखण्डज मनुष्यके पर्याप्तक और अपर्याप्तक की अपेक्षा दो भेद तथा आर्यंखण्डज मनुष्योंके पर्याप्तक, अपर्याप्तक तथा लब्ध्यपर्याप्तक की अपेक्षा तीन भेद, सब मिलाकर नौ भेद होते हैं । इस तरह जीवसमासके कुल भेद अठानवे होते हैं ।

अब चौदह गुणस्थानों के नाम कहते हैं---

मिच्छा – मिय्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरत, अमत्तविरत, अप्रमत्तविरत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्पराय,

रैः अनयोः छावा पूर्वं गता । जीवकाण्डे ।

बट्प्राभृते

उवसंत स्रीणमोहो सजोगकेवलिजिणो अजोमी थ । चउदसगुणठाणाणि य कमेण सिद्धा मुणेअव्या ॥ २ ॥

उपशान्तमोह, क्षीणमोह, सयोगकेवलिजिन और अयोगकेवलि जिन ये चौदह गुणस्थान हैं, इनका विवरण आगम से जानना चाहिये। हे जीव ! तु इन सबकी भावना कर, इनका श्रद्धान कर।

प्रकृत ग्रन्थ में गुणस्थान शब्द का प्रयोग कई जगह आया है इसलिये उसके स्वरूप तथा भेदों पर दृष्टिपात करना आवश्यक है----

मोह और योगके निमित्त से आत्मा के परिणामों में जो तारतम्य होता है उसे गुणस्थान कहते हैं। गुणस्थान के मिथ्यादृष्टि आदि चौदह भेद हैं। इनमें से प्रारम्भ के १२ गुणस्थान मोहके निमित्त से होते हैं और अन्त के २ गुणस्थान योग के निमित्त से। मोह कर्म की १ उदय, २ उप-शम, ३ क्षय और ४ क्षयोपशम ऐसी चार अवस्थाएँ होती हैं, इन्हीं के निमित्त से जोवके परिणामों में तारतम्य उत्पन्न होता है।

उदय---आवाधा पूर्ण होनेपर द्रव्य क्षेत्र काल भावके अनुसार कर्मोंके निषेकोंका अपना फल देने लगना उदय कहलाता है ।

उपग्रम—अन्तमुं हूर्स के लिये कर्म-निषकों के फल देनेकी शक्तिका अन्तर्हित हो जाना उपशम कहलाता है। जिस प्रकार निर्मली या फटकली के सम्बन्ध से पानी की कीचड़ नीचे बैठ जाती है और पानी स्वच्छ हो जाता है, उसी प्रकार द्रव्य क्षेत्रादि का अनुकूल निमित्त मिलने पर कर्मके फल देमे की शक्ति अन्तर्हित हो जाती है।

क्षय---कर्म प्रकृतियों का समूल नष्ट हो जाना क्षय है, जिस प्रकार मलिन पानी में से कीचड़ के परमाणु बिल्कुल दूर हो जाने पर उसमें स्थायी स्वच्छता आ जातो है उसी प्रकार कर्म-परमाणुओं के बिल्कुल निकल जाने पर आत्मा में स्थायी स्वच्छता उद्भूत हो जाती है।

क्षयोपशम—वर्तमान काल में उदय आनेवाले सर्वधाति स्पर्ढंकोंका उदयाभावी क्षय और उन्हों के आगामी काल में उदय आने वाले निषेकों का सदवस्था रूप उपशम तथा देशघाति प्रकृतिका उदय रहना इसे क्षयो-पशम कहते हैं। कर्म—प्रकृतियों की उदयादि अवस्थामें आत्माके जो भाव होते हैं उन्हें कमशः औदयिक, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक भाव कहते हैं। जिसमें कर्मोकी उक्त अवस्थाएँ कारण नहीं होतीं उन्हें

846

भावप्राभृतम्

मिथ्यात्वगुणस्थानं (१) सासादनगुणस्थानं (२) मिश्रगुणस्थानं (३) अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थानं (४) देशविरतगुणस्थानं (५) प्रमत्तसंयतगुण-

पारिणामिक भाव कहते हैं । अब गुणस्थानों के संक्षिप्त स्वरूपका निदर्शन किया जाता है—

१. मिथ्यावृष्टि—मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्वप्रकृति तथा अनन्तानुबन्धो क्रोध, मान, माया, लोभ, इन सात प्रकृतियों के उदय से जिसको आत्मा में अतत्वश्रद्धान उत्पन्न रहता है उसे मिथ्यादृष्टि कहते हैं। इस जोवको न स्वपरका मेद-विज्ञान होता है. न जिन प्रणोत तत्वका श्रद्धान होता है और न आप्त, आगम तथा निर्ग्रन्थ गुरु पर विश्वास हो होता है।

२ सासावन सम्प्रवृष्टि - सम्यग्दर्शन के कालमें एक समय से लेकर छह आवली तक का काल बाकी रहने पर अनन्तानुबन्धी कोध, मान, माया, लोभ में से किसी एक का उदय आजानेके कारण जो चतुर्थ गुण-स्यानसे नीचे आ पड़ता है परन्तु अभी मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में नहीं आ पाया है उसे सासादन गुणस्थान कहत हैं। इसका सम्यग्दर्शन अनन्तानु-बन्धीका उदय आजानेके कारण सासादन अर्थात् विराधनासे सहित हो जाता है।

रे. मिश्व--सम्यग्दर्शन के कालमें यदि मिश्र अर्थात् सम्यग्मिष्यात्व प्रकृति का उदय भा जाता है तो यह चतुर्थं गुणस्थान से गिरकर तीसरे मिश्र गुणस्थान में आ जाता है। जिस प्रकार मिले हुए दही और गुड़का स्वाद मिश्रित होता है उसो प्रकार इस गुणस्थानवर्ती जीवका परिणाम भी सम्यक्त्व और मिथ्यात्व से मिश्रित रहता है। अनादिमिथ्यादृष्टि जीव चतुर्थं गुणस्थान से गिर कर ही तृतीय गुणस्थान में आता है परन्तु सादि मिथ्यादृष्टि जीव प्रथम गुणस्थान से भी तृतीय गुणस्थान में पहुँच जाता है।

४. असंयत सम्यादृष्टि— मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व प्रकृति तथा अनन्तानुबन्धी कोध, मान, माया, लोभ, इन सात प्रकृतियोंके उपशमादि होनेपर जिसकी आत्मा में तत्व श्रद्धान तो प्रकट हुआ है परन्तु अप्रत्याख्यान-आवारणादि कषायों का उदय रहने से संयम भाव जागृत नहीं हुआ है उसे असंयत सम्यग्दुष्टि कहते हैं।

्र **५. देशविरत---**अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदयाभावी क्षय और सदवस्था रूप उपशम प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय होनेपर जिसके स्थानं (६) अप्रमत्तर्संयतगुणस्थानं (७) अपूर्वंकदणगुणस्यानं (८) अनिवृत्ति-

एकदेशचारित्र प्रकट होजाता है उसे देशविरत कहते हैं। यह त्रस हिंसा से विरत होजाता है इसलिये विरत कहलाता है और स्यावर हिंसा से विरत नहीं होता है इसलिये अविरत कहलाता है। इसके अप्रत्याख्याना-वरण कषाय के क्षयोपशम और प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय में तार-तम्य होनेसे दर्शनिक आदि ग्यारह अवान्तर भेद होते हैं।

६. प्रमत्तविरत---प्रत्याख्यानावरण कषायका उदयाभावी क्षय और सदवस्था रूप उपशम तथा संज्वलन का तीव्र उदय रहने पर जिसकी आत्मा में प्रमाद सहित संयम प्रकट होता है, उसे प्रमत्तसंयत कहते हैं। इस गुणस्थान का धारक नगन-मुद्रा में रहता है। यद्यपि यह हिसादि पापोंका सर्व-देश त्याग कर चुकता है तथापि संज्वलन चतुष्क का तीव्र उदय साथ में रहने से इसके चार विकथा, चार कषाय, पाँच इन्द्रिय, निद्रा तथा स्नेह इन पन्द्रह प्रमादों से इसका आचरण चित्रल-द्रषित बना रहता है।

७. अप्रमत्तविरत—संज्वलनके तीव्र उदय की अवस्था निकल जानेके कारण जिसके आत्मा से ऊपर कहा हुआ पन्द्रह प्रकार का प्रमाद नष्ट हो जाता है, उसे अप्रमत्त-विरत कहते हैं। इसके स्वस्थान और सातिशय की अपेक्षा दो भेद हैं। जो छठवें और सातवें गुणस्थान में हो झूलता रहता है वह स्वस्थान कहलाता है और जो उपरितन गुणस्थानों में चढ़ने के लिये अध:करण रूप परिणाम कर रहा है वह सातिशय अप्रमत्त विरत कहलाता है। जिसमें सम-समय अथवा भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणाम

सदृश तथा विसदृश दोनों प्रकार के होते हैं उसे अधःकरण कहते हैं। ८. अपूर्वकरण----जहां प्रत्येक समय में अपूर्व-अपूर्व नवोन-नवीन ही परिणाम होते हैं उसे अपूर्वकरण कहते हैं। इसमें समसमयवर्ती जोवोंके परिणाम सदृश तथा विसदृश दोनों प्रकार के होते हैं और भिन्न समयवर्ती जोवोंके परिणाम विसदश ही होते हैं।

९. अनिवृत्तिकरण --- जहां सम-समय-वर्ती जीवोंके परिणाम सदृश ही और भिन्न समय-वर्ती-जीवोंके परिणाम विसदृश ही होते हैं उसे अनिवृत्ति-करण कहते हैं । यह अपूर्वकरणादि परिणाम उत्तरोत्तर विशुद्धताको लिये हुए होते हैं तथा संज्वलन चतुष्क के उदय को मन्दता में क्रमसे प्रकट होते हैं ।

भावप्राभूतम्

करणगुणस्वानं (९) सूहमसांपरायगुणस्थानं (१०) अपशान्तकवाधगुणस्थानं (११)

१० सुक्मसाम्पराय---जहां केवल संज्वलन लोभका सुक्ष्म उदय रह जाता है उसे सुक्ष्म-साम्पराय कहते हैं। अष्टम गुणस्थान से उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी ये दो श्रेणियाँ प्रकट होती हैं। जो चारित्र मोहका उपक्षम करने के प्रयत्न कील हैं वे उपक्षम श्रेणी में आरूढ होते हैं और जो चारित्र मोहका क्षय करने के लिये प्रयत्न शील हैं वे क्षपक श्रेणी में आरूढ होते हैं। परिणामों की स्थिति के अनुसार उपशम या क्षपक श्रेणो में यह जीव स्वयं आरूढ हो जाता है, बुद्धिपूर्वक आरूढ नहीं होता। क्षपक-श्रेणी पर क्षायिक सम्यग्दृष्टि ही आरूढ हो सकता है परन्तु उपशम-श्रेणीपर औपर्शामक और क्षायिक दोनों सम्प्रग्दृष्टि आरूढ हो सकते हैं। यहां विशेषता इतनो है कि जो औवशमिक सम्यग्दृष्टि उपशम श्रेणी पर आरूढ होगा वह श्रेणी पर आरूढ होनेके पूर्व अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना कर उसे सत्ता से दूर कर द्वितीयोपशमिक सम्यग्दृष्टि हो जायगा ।] जो उपशम श्रेणो पर आरूढ होता है वह सूक्ष्म-साम्पराय गुणस्थानके अन्त तक ,चारित्र मोहका उपशम कर चुकता है और जो क्षपक श्रेणो पर आरूड होता है वह चारित्र मोह का क्षय कर चुकता है।

११ उपक्षान्तमोह—उपशम-श्रेणी वाला जीव दसवें गुणस्थान में चारित्र मोहका पूर्ण उपशम कर ग्यारहवें उपशान्त मोह गुणस्थान में आता है। इसका मोह पूर्ण रूप में शान्त हो चुकता है और घरद ऋतु के सरोवर के समान इसकी मुन्दरता होती है अन्तमु हूर्त तक इस गुणस्थान में ठहरने के बाद यह जीव नियम से नीचे गिर जाता है।

शगम में आचार्य मत-भेदकी अपेक्षा द्वितीयोपक्षम सम्यग्दृष्टि को मोह कर्म की २८ और २४ प्रकृतियों की सत्ता वाला बतलाया गया है जो अनन्ता-नुबन्धी की विसंयोजना करता है उसके २४ प्रकृतियों की सत्ता रहती है और जो अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना नहीं करता है उसके २८ प्रकृतियों की सत्ता रहती है। इस पक्षमें द्वितीयोपक्षम सम्यग्दर्शन का लक्षण यही रहता है कि जो उपक्षम सम्यक्ष्य क्षयोपक्षम-सम्यक्ष्य के बाद हो वह द्विती-योपक्षम सम्यक्ष्य है। क्षीणकषायगुणस्थानं (१२) संयोगकेवलिगुणस्थानं (१३) अयोगकेवलिगुण-स्थानं (१४) चेति । चतुर्दशगुणस्थानानां विवरणमागमाद्वेदितव्यं । तानि त्वं हे जीव ! भावय—रुचिमानय श्रद्धानं कूर्विति ।

णवविहबंभं पयडहिं अब्बंभं दसविहं पमोत्तूण । मेहणसण्णासत्तो भमिओसि भवण्णवे भीमे ॥९६॥

नवविधद्रह्मचयँ प्रकटय अव्रह्म दशविधं प्रमुच्य । मैथुनसंज्ञासक्त: भ्रमितोसि भवार्णवे भीमे ॥९६॥ (णवविहबंभं पयडहि) नवविधं नवप्रकारं ब्रह्मचयं हे जोव ! स्वं प्रकटय सर्वकाल्जमात्मप्रत्यक्षं कुरु । मनोवचनकायानां प्रत्येकं कृत्तकारितानुमतानि त्रीणि त्रोणोति नवविधं ब्रह्मोच्यते । अथवा—

१२ क्रोणमोह—क्षपकश्रेणी वाला जीव दसर्वे गुणस्थान में चारित्र मोहका पूर्ण क्षय कर बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान में आता है। यहाँ इसका मोह बिलकुल ही क्षीण हो चुकता है और स्फटिकके भाजनमें रखे हुए स्वच्छ जलके समान इसकी स्वच्छता होती है।

१३ सयोगकेवली—बारहवें गुणस्यानके अन्तमें शुक्लध्यानके द्वितीय पादके प्रभाव से ज्ञानावरणादि कर्मोंका युगपत् क्षय कर जीव तेरहवें गुण-स्थानमें प्रवेश करता है। यहाँ इसे केवलज्ञान प्रकट हो जाता है इसलिये केवली कहलाता है और योगोंकी प्रवृत्ति जारी रहने से संयोग कहा जाता है। दोनों विशेषताओंको लेकर इसका सयोगकेवली नाम प्रचलित है।

१४ बयोगकेवली—तेरहवें गुणस्थानके अन्तमें शुक्लध्यान के तृतीय पादके प्रभाव से कर्म प्रकृतियों की निर्जरा होनेसे जिनकी योगोंको प्रवृत्ति दूर हो जाती है उन्हें अयोगकेवली कहते हैं । यह जीव इस गुणस्थान में 'अ इ उ ऋ लू' इन पाँच लघु अक्षरों के उच्चारण में जितना काल लगता है उतने हो काल तक ठहरता है । अनन्तर शुक्लध्यान के चतुर्थं पादके प्रभावसे सत्ता में स्थित पचासी प्रकृतियों का क्षय कर एक समय के भीतर सिद्ध क्षेत्र पहुँच जाता है ।

गायार्थ-हे जोव ! तू दश प्रकार के अब्रह्म का त्याग कर नौ प्रकार के ब्रह्मचयंको प्रकट कर। मैथुनसंज्ञामें आसक्त हुआ तू इस भयंकर भव-सागर में भटकता आ रहा है ॥९६॥

विशेषार्थ---मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदना इन नौ कोटियोंसे ब्रह्मचर्य धारण करना नौ प्रकारका ब्रह्मचर्य है अथवा--- ैइत्थिविसयाहिल्लासो ^उअंगविमोक्सो य पणिदरससैवा । संसत्तदव्यसेवा तर्हिदियालोयणं चेव ॥१॥ सक्कारपुररक्कारो अतीदसुमरणागदहिलासो । इट्टविसयसेवा वि य नवभेदमिदं अवंभं तु ॥२॥ इति नवभेदमब्रह तद्वजंनां नवभेद ब्रह्मचर्यं ज्ञातव्यमित्यर्थः । (अब्बंभं दसविहं पमोत्तूण) अब्रह्मचर्यं दर्शविधं प्रमुच्य परिद्वृत्य । किं तद्दर्शविधमब्रह्मेति चेत् ?— चिन्ता दिदृक्षा निःस्वासो ज्वरो दाहोर्श्वचिस्तवा । मूच्छोंन्मत्तोऽसुसन्देहो मरणं दशधा स्मरः ॥१॥ (मेहुणसण्णासत्तो) मैथुनस्य कमनीयकामित्या आलिञ्जनचुम्वनचूधणांदि-संज्ञायामासक्तो लंपटो हे जीव ! । (भमिओसि भवण्णवे भीमे) भ्रमितोऽसि भ्रान्तोऽसि पर्यटिनोऽसिच्छेदनभेदनादिदुःखानि भ्रुंजानो भवाणंवे संसारसमुद्रे चतुर्गतिलक्षणे भीमे भयानके रौद्रस्वभावे, अनन्तकालं दुःखी बभूवियेति ।

इत्यिविषया---१ स्त्रो विषयक अभिलाषा करना, २ अङ्गका छोड़ना अर्थात् इन्द्रियको उत्तेजित करना लिंगको कड़ा करना, ३ गरिष्ठ रसका सेवन करना, ४ स्त्रियों से सम्बद्ध वस्त्रादिका सेवन करना, ५ स्त्रियोंके अंगोपांग आदिका देखना, ६ स्त्रियोंका सत्कार पुरस्कार करना, ७ पूर्व-कालमें भोगे हुए भोगोंका स्मरण करना, ८ आगामी भोगोंकी इच्छा करना और ९ इष्ट विषयोंका. सेवन करना ये नौ प्रकारके ब्रह्मचर्य हैं।

इस तरह नौ प्रकार के ब्रह्मचर्यका विवेचन करके अब दश प्रकारके अब्रह्मचर्यका वर्णन करते हैं ।

चिन्ता-- १ स्त्री विषयक चिन्ता करना, २ देखने को इच्छा रखना, ३ निःश्वास चलना, ४ ज्वर आना, ५ दाह पड़ना, ६ भोजनादि में अरुचि होना, ७ मूच्छीं, ८ उन्मत ९ प्राण सन्देह और दशवाँ मरण ये कामकी दश अवस्थाएँ हैं। यही दश प्रकारका अब्रह्मचयं है। हे जोव ! तू इसका त्याग कर नौ प्रकार के ब्रह्मचयंको प्रकट कर । मेथुन संज्ञा में अर्थात् सुन्दर स्त्रियों के आलिंगतादि कार्योंमें आसक्त होकर ही तू इस भयंकर संसार सागर में अनन्तकाल से भटकता चला आ रहा है। १९६।।

१. भगवती आराधना ८७९, ८८० ।

भगवती आराधनायां 'अंगविमोक्स्सो' इत्यस्य स्थाने वच्छिविमोक्स्सो इति पाठो वर्तते 'वच्छिविमोक्स्सो' इत्यस्य 'मेहनविकारानिवारणम्' संस्कृत टीकायाम् ।

षट्प्रामृते

भावसहिवो य मुणिणो पावइ आराहणाचउक्कं च । भावरहिवो य मुणिवर भमह चिरं वीहसंसारे ॥९७॥

भावसहितञ्च मुनीनः प्राप्नोति आराधमाचतुष्कं च । भावरहितञ्च मुनिवर ! भ्रमति चिरं दीर्घर्ससारे ॥९७॥ (भावसहिदो य मुणिणो) भावेन जिनसम्यक्त्वलक्षणेन सहिदो सहितः संहितः संयुक्तः श्रीमद्भगवदहंस्सर्वं क्रवीतरागचरणकमलचंचरीकः, अथवा भावः पूर्वोक्तलक्षणः 'स्वज्ञुद्धवुद्धैकस्वभाव आत्मा हितो यस्य यस्मै वा स भावस हितः । चकारान्न 'मूनेरन्येषामपि भव्यजीवानां हितः त्रैलोक्यलोकतारणसम-बंत्वात् । यो भावसहितः स पुमान् सुणिणो-मुनीनामिनः स्वामी मुनीनः स मुनिमुं निचक्रवर्ती । (पावह आराहणाचउक्कं च) प्राप्नोति लभते, कि तत् ? आराधनाचतुष्कं सम्यय्दर्धनज्ञानचारित्रतपसामाराधकत्वं प्राप्नोति । (भावरहिदो य मुणिवर) भावरहितःच जिनसम्यक्त्वातीतो वेषधारी मुनिः हे मुनिवर ! हे

गायार्थ—हे मुनिवर ! भाव-सहित श्रेष्ठ मुनि चार आराधनाओं को प्राप्त करता है और भाव रहित मुनि चिरकाल तक दीर्थ संसार में भ्रमण करता है ॥९७॥

विशेषार्थ---भावका अर्थ जिनसम्यक्त्व अर्थात् जिनेन्द्र देवकी अटूट श्रद्धा है। जो मुनि भाव-जिनसम्यक्त्वसे सहित होता है वह श्रीमान्-भगवान्-अहंन्त सर्वंज्ञ-वीतराग देवके चरण कमलोंका भ्रमर होता है। अथवा भावका अर्थ शुद्ध बुद्धेक-स्वभाव वाला आत्मा है उस आत्मासे जो सहित है वह भाव सहित कहलाता है। यहां 'भाव सहिदो य (भाव-सहितइच) इस पाठ में जो 'च' दिया है जससे यह अर्थ सूचित होता है कि भाव सहित मुनि, मुनिके लिये ही हितकारी नहीं है किन्तु अन्य भव्य जीवों के लिये भी हितकारी है, क्योंकि वह तीन लोकके प्राणियों को तारने में समर्थ होता है। जो मुनि ऊपर कहे हुए भाव जिन-सम्यक्त्व अथवा शुद्ध बुद्धेक-स्वभाव आत्मा से सहित है अर्थात् व्यवहार और निश्चय सम्यक्त्व से युक्त है वह मुनीन-मुनियों का इन स्वामी है, मुनियों का चकवर्ती है। ऐसा श्रेष्ठ मुनि सम्यन्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्-चारित्र और सम्यक्त्वप, इन चार आराधनाओं को प्राप्त होता है तथा

- १. स्वः शुद्धः म० ।
- २. मुनिरन्येषा म० ।

मुनिश्चेष्ठ (भगइ) आम्यति पर्यटति । (चिरं) दीर्घकालं अनन्तकालं— यावत्कालं सिद्धस्वामिनो मुक्तौ तिष्ठन्ति तावत्पर्यन्तं स मिथ्यादृष्टिमु निम्नं मति । क्व? (दीहसंसारे) दीर्घसंसारेऽनन्तभवसंकटे संसारसमुद्रे मज्जनोमज्जनं करो-तीति भावार्थः ।

पावंति भावसवणा कल्लाणपरंपराइ सोक्खाई । दुक्खाई दव्वसवणा णरतिरिकुदेवजोणीए ॥९८॥

प्राप्नुवन्ति भावश्रमणाः कल्याणपरम्पर्राण सुखानि । दुःखानि द्रव्यश्रमणा नरतिर्यक्कूदेवयोनौ ॥ ९८ ॥

पुरसाग प्रव्यात्रमणा गरारायमपुर्ययामा ॥ १८ त (पार्वति भावसवणा) प्राप्नुवन्ति लभन्ते, के ते ? भावश्रमणाः सम्यग्दृष्टयो दिशम्बराः । (कल्लाणपरंपराइ सोक्खाइं) कल्याणानां गर्भावतारजन्माभिषेकनिष्क्र-मणज्ञाननिर्वाणलकाणा (नां) परंपरा श्रीणिर्येषु सौस्येषु तानि कल्याणपरम्पराणि एवंविधानि सोस्यानि भावञ्चमणाः प्राप्नुवन्ति तीर्थकरपरमदेवा भवन्ति (दुक्खाइं दव्वसमणा) दुःखानि प्राप्नुवन्ति, के ते ? दब्वसमणा—द्रव्यश्रमणा जिनसम्यक्त्व-रहिता नग्नाः पशुसमानाः दिगम्बरा इति भावार्थः । क्व दुःखानि द्रव्यश्रमणाः प्राप्नुवन्तीति चेत् ? (नरतिरयकुदेवजोणीए) नराइच मनुष्याः, तिर्यचरच पशवः, कुत्सिता देवारच भावनामरा व्यन्तरा ज्योतिष्कारच तेषां योनौ उत्पत्तित्स्याने ।

इसके विपरीत जो भाव से रहित है व्यवहार और निक्चय-सम्यक्तव से रहित है, मात्र बाह्य नग्न वेषको धारण कर मुनि बना है वह दीर्घकाल तक अर्थात् जब तक सिद्ध परमेष्ठी मुक्ति में निवास करते हैं तब तक (अनन्त कालतक) दीर्घसंसारमें अनन्त जन्म, मरणसे युक्त संसार सागरमें मज्जनोन्मज्जन करता रहता है ॥९७॥

गाधार्थ-भाव-मुनि कल्याणों की परम्परा से युक्त सुसों को प्राप्त होते हैं अर्थात् तीर्थंकर होकर गर्भ जन्मादि कल्याणकोंसे युक्त परम सुस्रको प्राप्त होते हैं और द्रव्य मुनि मनुष्य तिर्यञ्च तथा कुदेव योनि में दुःस्तों को प्राप्त होते हैं ॥९८॥

विशेषार्थ—यहां भाव श्रमण का अर्थ सम्यग्दृष्टि दिगम्बर साघु है। भाव श्रमण गर्भ-जन्म-तप-ज्ञान और निर्वाण इन पञ्चकल्याणकों की सन्तति से युक्त सुखों को प्राप्त होते हैं अर्थात् तीर्थंकर होते हैं और द्रव्य श्रमण अर्थात् मिख्यादृष्टि साघु जो कि पशुके समान मात्र शरीर से नग्न हैं, मनुष्य तिर्यञ्च तथा भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिष्क नामक कुदेवोंकी योनि में नाना दुःखोंको प्राप्त होते हैं।।९८॥

-4.96]

30

छायालवोसदूसियमसणं गसिउं असुद्धभावेण । पत्तोसि महावसणं तिरियगईए अणप्पवसो ॥९९॥

षट्चत्वार्टिशद्दोषदूषितमञ्चनं ग्रसित्वाऽञ्चढभावेन ।

प्राप्तोसि महाव्यसनं तियँग्गतौ अनात्मवद्याः ॥९९॥ (छायालदोसदूसियं) षट्चत्वारिंशदूर्षेषद्वं षितं मलिनोकृतं । (असणं गसिउ असुद्धभावेण) अशनं पिण्डं प्रसित्वा अशुद्धभावेन मिथ्यादृष्टिपरिणामेन स्थाति-पूजालाभकश्मलिना परिणामेन । (पत्तोसि महावसणं) प्राप्तोऽसि हे जीव ! महाव्यसनं महादुःखं । कस्यां ? (तिरियगईए अणप्पवसो) तिर्यग्गत्यामनात्मवशो जिन्होपस्थादिषडिन्द्रियपराधीन इति भावः ।

अय के ते षट्चत्वारिंशदशनदोषा अशनस्येति चेत् ? षोडशसंख्या उद्गम-दोषाः, तथा षोडशोत्पादनदोषाः, दशविधा एषणादोषाः, संयोजनाप्रमाणाङ्गार-धूमदोषाश्चत्वार इति षट्चत्वारिंशदशनदोषाः प्राणिनः प्राणम्यपरोप आरम्भ उच्यते (१) प्राणिन उपद्रवणं उपद्रव कथ्यते (२) प्राणिनोऽङ्गच्छेदार्दिनिद्रा-वणमभिष्ठीयते (३) प्राणिनः सन्तापकरणं परितापनं व्याह्रियते (४) एतैश्च-तुर्भिर्दोर्धैनिष्यन्नमन्नमतिनिन्दितमधःकर्मं प्रथिपाद्यते । तदधःकर्मं मनोवचनकायानां त्रयाणां प्रत्येकं कृतकारितानुमतभेदैनंवविधं भवति । तनाधः-कर्मणा रहिता

गायार्थ--हे जोव ! तू अशुद्ध भावसे छथालीस दोषों के दूषित मोजन को ग्रहण कर तिर्यञ्च गति में पराधीन बन करके महा दुःख को प्राप्त हुआ है ॥१९॥

अब आहार के वे छ्यालीस दोष कौन हैं ? इसका वर्णन करते हैं-सोलह उद्गम दोष. सोलह उत्पादन दोष, दश एषणा दोष और चार संयोजन, अग्रमाण, अङ्गार तथा धूम दोष, इस प्रकार सब मिलाकर आहार-सम्बन्धी छ्यालीस दोष होते हैं। प्राणोके प्राणोंका विघात करना आरम्भ कहलाता है, किसी प्राणोको उपद्रव करना उपद्रय कहा जाता है, प्राणोके अङ्गांका छेर आदि करना विद्रावण कहलाता है और प्राणोको संताप करना परितापन कहा जाता है।इन चार दोषोंसे तैयार हुआ अज्ञ

भावप्राभृतम्

उद्गमाख्यषोडश्वदोर्थवर्जिता उत्पादनषोडश्वदौर्षः परित्यक्ता एथणावश्वदोषः परि-हुंताः संयोजनाप्रमाणाङ्गारधूमनामभिश्चतुर्भिदौर्षरुज्झिता ज्ञानाम्यासध्यानधर्मोप--देशमोक्षप्राप्त्यादिकारणोपेता एषणासमितिप्रोक्तक्रमप्राप्ताशनसेवा भिक्षाशुद्धिगुंग-समूहरक्षादक्षा वेदितव्या तस्यां उदि्ष्टादयः षोडश्वदोषा वर्जनीयाः । ते के ? तन्ना-मनिर्देशः क्रियते । उद्दिष्टः (१) अध्यवधिः (२) पूति (३) मिश्रं (४) स्थापितं (५) बलिः (६) प्रामृतं (७) प्राविष्कृतं (८) क्रीतं (९) प्रामृष्यः (१०) परिवर्त्तः (११) अभिहतं (१२) उद्दिभन्तं (१३) मालिका-रोहणं (१४) आच्छेचं (१५) अनिसृष्टं (१६) चति षोडशोद्गमदोषाः । अयोद्दिष्टादोनां षोडशानामर्थविशेष उच्यते----यदन्तं स्वमुद्द्िय निष्यन्तं, अथवा दुर्वलानु-

अतिनिन्दित अधः कर्म कहुलाता है। वह अधःकर्म मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदना के मेद से नौ प्रकार का होता है। जो आहार ऊपर कहे हुए अधःकर्म से रहित है, उद्गम के सोलह, उत्पादन के सोलह, एषणा के दश तथा संयोजन अप्रमाण अङ्गार और घूम नामक चार दोषों से रहित है, ज्ञानाभ्यास, ध्यान, धर्मोपदेश तथा मोक्ष प्राप्ति आदि कारणों-से सहित है एवं एषणा समिति में कहे हुए क्रमसे प्राप्त है उसका सेवन करना भिक्षा शुद्धि है। यह भिक्षा-शुद्धि गुण समूह को रक्षा करने में दक्ष है। भिक्षा-शुद्धि में उद्दिष्ट आदि सोलह उद्गम दोष छोड़नेके योग्य हैं। अब उन सालह उद्गम दोषों के नाम लिखते हैं---

१ उदिष्ट, २ अध्यवधि, ३ पूति, ४ मिश्र, ५ स्थापित, ६ बलि, ७ प्रामृत, ८ प्राविष्कृत, ९ क्रीत, १० प्रामृष्य, ११ परिवर्त, १२ अभिर्हत, १३ उद्मिन्न, १४ मालिका–रोहण, १५ आच्छेद्य और १६ अमिसुष्ट ।

अगगे इन उद्दिवध्ट आदि सोलह उद्गम दोषोंका विशेष अर्थ कहा जाता है---

जो अन्न अपने उद्देश्यसे बनाया गया है वह उद्दिष्ट है अथवा जो मुर्नियों को लक्ष्य कर बनाया गया है अथवा जो पाखण्डियों को लक्ष्य कर बनाया गया है, अथवा जो दुर्बल मनुष्यों को लक्ष्य कर बनाया गया है वह सब उद्दिष्ट कहलाता है। जिसमें से प्राण निकल चुके हैं वह प्रासुक कहलाता है, जो अन्न प्रासुक है तथा चमड़े में रखे हुए जल आदि से नहीं छुआ गया है ऐसा अन्न भी यदि अपने लिये तैयार किया गया है तो वह मुनियों के लेने योग्य नहीं है। इस विषय में दृष्टान्त है-जिस प्रकार द्दिश्य निष्यन्नं तदन्नमृद्दिष्टमुच्यते । प्रगता असवः प्राणा यस्मात्तत्प्रासुकं चर्म-जलादिभिरस्पृष्टमप्यन्नमात्मार्थं क्रुतं तत्संयतैनं सेक्यं । अत्र दृष्टान्तः-यथा मदनो-दके मत्स्यनिमित्तं क्रुते मत्स्या एव माद्यन्ति न तु दुदुं रा भेका माद्यन्ति तथा यति-रपि दोषसहितमन्नमृद्दिष्टं न सेवते (१) अथाध्यवधिर्नाम दोषो दितीय उच्यते यतीनां-पाके क्रियमाणे आत्मन्यागते च सति तत्र पाके तन्दुला अम्बु चाधिकं क्षिप्यते सोऽघ्यवधिर्द्रोष उच्यते, अथवा यावत्कालं पाको न भवति तावत्कालं तप-रियना रोधः क्रियते सोऽघ्यवधिर्दोष उत्तदाते (२) अथ पूतिनाम तृतीयं दोषमाह-यक्ष्प्रासुकं पात्रं कांस्यपात्रादिकं मिध्यादृष्टिप्रातिवेधौमिध्यागुर्वधं दसं तत्पात्रस्यमन्ना-दिकं महामुनीनामयोग्यं पूत्युच्यते (३) 'यर्वप्रासुकेन मिधं तन्मिश्रं (४) पाकभाज-नाद्गृहोत्वा यदन्नं स्वगृहेऽन्यगृहे वा स्थापितं, अथवान्यस्मिन् भाजने भाण्डेऽन्ना-दिकं निष्यन्नं द्वितीये कांस्यपात्रादी क्षिप्त्वा शोधनाद्यर्थं तृतोये भाजने मुच्यते तदन्नं मुनीनामयोग्यं किन्तु भाण्डान्मुनिभोजनपात्रे एव मुच्यते तत्स्माद्गृहोत्वा मुनये

किसीने मत्स्यों के निमित्त मादक जल तैयार किया तो उसमे मत्स्य हो मदको प्राप्त होते हैं मेण्डक नहीं, उसी प्रकार मुनि भो दोष सहित उद्दिब्ट अन्त का सेवन नहीं करते। यह पहला उद्दिष्ट नामका दाप है १। अब अष्यधि नामक दूसरा दोष कहा जाता है-जहाँ तयार होते हुए भोजनमें मुनिके पहुँचने पर और अधिक चावल तथा जल डाल दिया जाता है वह अध्यधि नामका दोष कहलाता है अथवा जब तक भोजन पक कर तैयार नहीं हो जाता है तब तक मुनिको उच्चासन पर हो रोके रखना अध्यधि नामका दोध है २। आगे पूर्ति नामका तीसरा दोध कहते हैं-कॉसे आदि-का जो प्रासुक पात्र मिध्यादृष्टि पड़ोसियोंने मिध्यागुरुओं के लिये दिया था उस पात्र में रक्खा हुआ अन्न आदिक महामुनियों के अयोग्य होता है ऐसा अन्न पूति कहलाता है। भावार्थ-मिथ्यादृष्टि पडोसी कांसे आदि से निर्मित जिन पात्रों में भोजन रख कर मिथ्या गुरुओं को दिया करते हों उन्हीं पात्रोंको पड़ोसो के यहाँ से लेकर उसमें आहार रख मुनियोंको देना पूति दोष कहलाता है ३। जो अप्रासुक आहारसे मिला हो वह मिश्र रोष से दूषित है जैसे अधिक गर्म जलको शीतल जलके साथ मिला कर पोनेके योग्य बनाना ४। पकाने के बर्तन से निकाल कर जो अन्न अपने घर में अथवा दूसरे के घर में अन्य बर्तन में रखा जाता है वह स्थापित नामका दोष है अयवा अन्य बर्तन में जो भोजन बना हो उसे कॉसे आदि के दूसरे

१. यत्प्रासुकेन म० ।

भावप्राभृतम्

दीयते, अन्यया स्यापित नाम दोषः (५) यक्षादीनां बलिदानोद्घृतं अन्नं बलि-रूच्यते, संयतागमनार्थं बलिकरणं बलिः कथ्यते (६) अस्यां वेलायां दास्यामि अस्मिन् दिवसे दास्यामि, अस्मिन् मासे दास्यामि, अस्यामृतौ दास्यामि, अस्मिन् वर्षादौ दास्यामीति नियमेन यदन्नं मुनिभ्यो दीयते तत्प्राभृतं कथ्यते (७) भगव-क्निदं मदीयं गृहं वर्तते यत्रैवं गृहप्रकाशकरणं भवति निजगृहस्य गृहिणा प्रकटनं क्रियते, अथवा भाजनादीनां संस्कारः भाजनादीनां स्थानान्तरणं वा प्राविष्कृतमुच्यते (८) विद्यया क्रीतं द्रव्यवस्त्रभाजनादिना वा यत्क्रीतं तत्क्रामृष्यं कथ्यते (१०) कस्यजिद्गुहस्यस्य ब्रीहीन् दत्वा सालयो गृह्यन्ते, अथवा निजं कूरं दत्वा परकूरो

पात्र में रक्खा और फिर शोधने अथवा ठण्डा आदि करने के लिये तीसरे पात्र में रखा जाता है वह अन्न मुनियों के अयोग्य है किन्तू बनाने के वर्तन से निकाल कर सीधा उस बर्तन में रखना जिसमें से मुनिके लिये आहार दिया जा रहा हो ऐसा अन्त मुनियोंके योग्य होता है अन्यथा स्थापित नामका दोष होता है ५। यक्ष आदिको बलि देनेके लिये जो अन्न निकाल कर रक्खा है वह बलि कहलाता है अथवा हमारे घर मुनि आवेंगे तो उनके लिये यह अन्न दूँगा इस अभिप्राय से वर्तन से पुथकु रक्खा हुआ अन्न बलि कहलाता है ६। 'मैं इस समय आहार दूँगा, इस दिन दूँगा, इस मासमें दूँगा, इस ऋतू में दूँगा अथवा इस वर्ष में दूँगा, इस प्रकार के नियम से मुनियों के लिए जो अन्न दिया जाता है वह प्राभृत कहलाता है ७। 'भगवन् ! यह मेरा घर है' इस प्रकार गृहस्य द्वारा जिसमें अपने घरका प्रकाश-प्रकटी-करण किया जाता है अथवा जहां बर्तनों को सफाई अथवा स्थानान्तरण-एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना किया जा रहा हो जिससे मुनिको पता चलजावे कि अमुक व्यक्तिका घर यह है वह प्राविष्कृत दोष कहा जाता है ८। जो भोजन विद्या के द्वारा अर्थात् नृत्य दिखाकर, गाना सुनाकर या बाजा बजाकर खरीदा गया हो अथवा द्रव्य, वस्त्र या बर्तन आदि देकर लिया गया हो वह कीत नामका दोष है ९। तुम मुझे अमुक वस्तु दे दो मैं इतने समय बाद वापिस दे दूँगा, मुझे मुनि को दान देनेक लिये इस वस्तु की आवश्यकता है, ऐसा कह कर अथवा कुछ प्रयोजन बिना बताये हाँ थोड़ा ऋण कर मुनियों को देनेके लिये जो अन्त इकट्ठा किया जाता है वह प्रामुख्य दोष कहलाता है १०। जहाँ

१. मुख्यते म० ।

.

गृह्यते निजाम्यूषान् दत्वा परेषामम्यूषा गृह्यन्ते एवं यत्परिवर्त्यंते यतिम्यो दीयते दास्यते वा स परिवर्तः कथ्यते (११) ग्रामात् पाटकात् गृहान्तराखदायातं तदभिह्ति कथ्यते तद्योग्यं न भवति । कुतोऽप्यायातं योग्यं भवतीति चेत् ? भवति योग्यं यदि ऋजुत आसन्नादासमाद्गृहात् यदुगढौकितं तन्न कल्पते इत्यर्थः (१२) विमुदादिक यदन्ना-दिर्क भवति तदुद्भिन्नमुच्यते --- उद्घाटितं न भुज्यते इत्यर्थः (१२) विमुदादिक यदन्ना-दिर्क भवति तदुद्भिन्नमुच्यते ---- उद्घाटितं न भुज्यते इत्यर्थः (१२) मालिकादिस-मारोहणेन यदानीतं तन्मालिकारोहणमुच्यते --- उपरितनभूमेर्यद्वृतादिकमधस्तनभूमौ समानीतं तन्न कल्पते इत्यर्थः (१४) ^१राजभयाच्चौरभयाद्यद्यिते तदाच्छेद्यमुद्यते (१५) ईशानीशानभिमतेन स्वाम्यस्वाम्यनभिमतेन यद्दोयते तदनिसृष्टं कथ्यते (१६) इत्येते षोडशोद्गमदोषा भवन्ति ।

किसी गृहस्य को मोटी धान देकर उसके बदले महीन धान ली जाती है अथवा अपना मोटे चावलों का भात देकर दूसरे से महोन चावलों का भात लिया जाता है अथवा अपने मोटे अनाज के मांडे देकर दूसरे से अच्छे अनाज के मांडे लिये जाते हैं, इस प्रकार परिवर्तन कर मुनियों के लिये जो दिया जाता है अथवा दिया जावेगा वह परिवर्तन कर मुनियों के लिये जो दिया जाता है अथवा दिया जावेगा वह परिवर्त दोष कहलाता है ११। जो आहार दूसरे ग्राम, दूसरे मुहल्ला अथवा दूसरे घर से लाया गया हो वह अभिहित कहलाता है। ऐसा आहार मुनियों के योग्य नहीं है।

उत्तर----योग्य होता है, यदि सोधो पंक्ति में स्थित निकटवर्ती सतर्वे घर से पहले-पहले तकके घरोंसें लाया गया हो । अर्थात् एक पंक्तिमें स्थित छठवें घर से जो आहार लाया गया है वह मुनियों को देनेके योग्य है किन्तु सातर्वे घरसे जो लाया गया है वह देनेके योग्य नहीं है १२। जो अन्नादिक विमुद्रित हो अर्थात् उपड़ा पड़ा हो वह उद्भिन्न कहलाता है १२। जो अन्नादिक विमुद्रित हो अर्थात् उपड़ा पड़ा हो वह उद्भिन्न कहलाता है १२। जो वन्नादिक विमुद्रित हो अर्थात् उपड़ा पड़ा हो वह उद्भिन्न कहलाता है १ ऐसे आहार को लेना उद्भिन्न दोष कहलाता है १३। जो वस्तु आहार के समय उत्पर अटारी आदि पर चढ़कर नोचे लाई गई हो वह मालारोहण दोष कहलाता है जैसे नीचे की भूमिमें आहार हो रहा हो आवश्यकता देख उत्पर जाकर घी आदि निकाल लाना । इस तरह से लाई हुई वस्तु मुनि-के योग्य नहीं है १४। राजाके भय से अथवा चोरके भय से जो वस्तु छिपकर दो जाती है वह आच्छेद्य कहलाती है (१५) घरके स्वामी अथवा बन्य सदस्थों की संमत्तिके बिना जो आहार दिया जाता है वह अनिसृष्ट

भोरभयादिभयात् क० ।

अयोत्पादनदोषाः धोडधा उष्ण्यन्ते--तन्नामनिर्देशो यथा । धात्रीवृत्तिः (१) इतत्वं (२) मिषग्वृत्तिः (३) निमित्तं (४) इच्छाविभाषणं (५) पूर्वस्तुतिः (६) वश्चात्स्तुतिः (७) क्रोषचतुष्कं (८-९-१०-११) वश्यकमं (१२) स्वगुणस्तवमं (१३) विद्योपजीवनं (१४) मंत्रोपजीवनं (१५) चूर्णोपजीवनं (१६) । बाल्र्ल्ललन-क्षिझादिर्धात्रीत्वं (१) दूरवन्धुजनानां वचनानां नयनमानयनं च दूतत्वं (२) गज-विकित्सा विषचिकित्सा जागुल्यपरनामा बालचिकित्सा तादृशान्यचिकित्साभिरश-नाजंनं भिषम्वृत्तिः (३) स्वरान्तरिक्षभोमाञ्जव्यञ्जनच्छिन्नऌक्षणस्वप्नाध्टाङ्गनि-मित्तैरशनार्जनं निमित्त (४) कश्चित्पुच्छति हे मुने ! दीनहीनादीनामन्नादिदानेन पृण्यं भवेन्न वा भवेत् ? मुनिरन्नायं वदति पृण्यं भवेदेवेत्यम्युपगम इच्छाविभाषण-

कहलाता है (१६)। ये सोलह उद्गम दोष हैं, आहार-देय पदार्थ से सम्बद्ध हैं तथा श्रावक के आश्रित हैं अर्थात् इनका दायित्व श्रावक के उपर है।

अब आगे सोलह उत्पादन दोष कहे जाते हैं। सबसे प्रथम उनके नाम निदिष्ट करते हैं-धात्रो वृत्ति १, दूतत्व २, भिषग्वृत्ति ३, निमित्त ४, इच्छाविभाषण ५, पूर्वं स्तुति ६, पश्चात् स्तुति ७, क्रोध चतुष्क (८-९-१०-११) वश्यकमं १२, स्वगुणस्तवन १३, विद्योपजीवन १४, मन्त्रोपजीवन १५, जूर्णोपजीवन १६।

इनका स्वरूप इस प्रकार है---

बालकों के लालन-पालन तथा शिक्षा आदिके द्वारा गृहस्थों को प्रभावित कर जो आहार प्राप्त किया जाता है वह घात्रीत्व दोष है ? । दूरवर्ती बन्धुजनों अथवा सम्बन्धियोंके संदेश वचन ले जाना अथवा ले आना और इस विधि से गृहस्थों को आक्वष्ट कर आहार प्राप्त करना दूतत्व दोष है २। गज चिकित्सा, विधचिकित्सा, झाड़ना, फूँकना आदि बाह चिकित्सा तथा इसी प्रकार की अन्य चिकित्साओं के डारा गृहस्वों को प्रभावित कर आहार प्राप्त करना भिषग्वृत्ति नामक दोष है, ३ स्वर, बन्तरिक्ष (ज्योतिष), भौम, अङ्ग, व्यञ्जन, छिन्न, लक्षण और स्वप्न इन अष्टाङ्ग निमित्तों से आवकों को आक्वष्ट कर आहार लेना निमित्त मामका दोष है, ४ कोई पूछता है कि मुनिराज ! दोन हीन आदि लोगोंको अन्न आदिका दान देने से पुण्य होता है या नहीं ? इसके उत्तर में आहार प्राप्त करनेके उद्देश्य से मुनि कहता है कि अवश्य ही होता है इस तरह के उत्तर से श्रावक को प्रभावित कर आहार प्राप्त करना इच्छा विभाषण मुच्यते (५) अहो जिनदत्त ! स्वं जयति विख्यातो दाता बर्तसे इत्यादिभिवंचनेगृंह-स्यस्यानन्दजननं भुक्तेः पूर्वं तत्पूर्वस्तवनं (६) एवं भुक्तेः पश्चात् स्तवनविधानं पश्चात्स्तुतिः (७) क्रोघं कृत्वाऽग्नोपार्जनं क्रोघः (८) मानेनान्नार्जनं मानः (९) माययाञ्ज्नाजनं माया (१०) छोमेनाग्नाजनं लोभः (११) वशीकरण-मंत्रतंत्राद्युपदेशेन यदन्तोपार्जनं तद्वद्यकर्मं (१२) स्वकीयतपःश्रुतजातिकुलादि-वर्णनं स्वगुणस्तवनं (१३) सिद्धविद्यासाधितविद्यादोनां प्रदर्शनं विद्योपजोवनं (१४) अङ्गश्युङ्गारकारिणः पुरुषस्य पाठसिद्धादिमंत्राणामुपदेशनं मंत्रोपजीवनं (१५) एवं चूर्णादेरुपदेशनं चूर्णोगजीवनं (१६) एते षोडशोत्पादनदोषा वेदितम्याः ।

अयेषणादशदोषा कथ्यन्ते । तेषामयं नामनिर्देशः । शंकितं (१) म्रक्षितं (२)निक्षिप्तं (३) पिहितं (४) उज्झितं (५) व्यवहारः (६) दात्

दोष कहा जाता है ५। 'अहो जिनदत्त ! तुम जगत् में प्रसिद्ध दाता हो' इत्यादि वचनों के द्वारा आहार पूर्व गृहस्थ को हर्ष उत्पन्न करना पूर्वं स्तुति नामका दोष है ६ । इसी प्रकार आहारके पश्चात् स्तुति करना पश्चात्स्तुति नामका दोध है ७। क्रोध दिखाकर आहार प्राप्त करना क्रोध दोष है ८। मान दिखा कर आहार प्राप्त करना मान दोष है ९। माया दिखाकर अन्न प्राप्त करना माया दोष है १०। लोभ दिखाकर आहार प्राप्त करना लोभ दोष है ११। वशीकरणके मन्त्र तथा तन्त्र आदिका उपदेश देकर जो आहार प्राप्त किया जाता है वह वश्यकर्म नामका दोष है १२ । अपना तप, शास्त्र ज्ञान, जाति तथा कुल आदिका वर्णन करना स्वगुण-स्तवन नामका दोष है १३। स्वयं सिद्ध अथवा अनुष्ठान द्वारा सिद्धकी हुई विद्याओंका प्रदर्शन करना विद्योपजीवन नामका दोष है १४। शरीरका श्रृङ्गार करनेवाले पुरुषको पाठसिद्ध आदि मन्त्रों का अर्थात् ऐसे मन्त्रोंका जो पढ़ने ही के साथ सिद्ध हो जाते हों उपदेश देना मन्त्रोपजीवन नामका दोष है १५। इसी तरह चर्ण आदि बनानेका उप-देश देना चूर्णोपजीवन नामका दोष है १६ । ये सोलह उत्पादन दोष हैं अर्थात् आहार प्राप्त करनेके उपायों से सम्बद्ध हैं और मुनिके आश्रित हैं अर्थात् इनका दायित्व मुनिपर है ।

अब आगे एषणा सम्बन्धी दस दोष कहे जाते हैं---प्रयम उनके नाम निर्देश करते हैं--शक्कित (१) प्रक्षित (२) निक्षिप्त (३)

भावप्राभृतम्

(७) मिश्रं (८) अपकर्क (९) लिप्तं (१०) चेति एतदन्नं सेव्यमसेव्यं वेति शंकितं (१) सस्नेहहस्तपात्रादिना यद्त्त तन्त्रक्रितं (२) सचित्तपट्म-पत्रावौ यत्क्षिप्तं तन्निक्षिप्तं (३) सचित्तेन पद्मपत्रादिना यत्पिहितं तदन्नं पिहितं (४) यच्चूतफलादिकं वहु त्यक्त्वास्पसेवनं तदुज्झितं, अथवा यत्पानादिकं दोयमानं बहुतरेण गलनेनाल्पसेवनं तदुज्झितं (५) यद्यतीनां संभ्रमादादरत्या चेल्पात्रादेरसमीक्ष्याकर्षणं स आगमे व्यवहार उच्यते (६) दातृदोषः कथ्यन्ते----र्निर्वस्त्रः शौण्डः पिशाचः अन्धः पतितः मृतकानुगः तीव्ररोगी व्रणी लिंगी नीच-स्थानस्थितः उच्चस्थानस्थित आसन्नगर्भिणी कोऽर्थः ? निकटजनितापत्या वेक्या

पिहित (४) उज्झित (५) व्यवहार (६) दातृ (७) मिश्र (८) अपक्व (९) और लिप्त (१०)।

अब इनका स्वरूप कहते हैं—'यह अन्न सेवन करने योग्य है अथवा अयोग्य है' ऐसी शङ्का जिसमें हो गई हो वह शङ्कित नामका दोष है १। चिकने हाथ अथवा पात्र आदिसे जो आहार दिया जाता है वह झक्षित नामका दोष है २। सचित कमल पत्र आदि पर रख कर जो दिया जाता है वह निक्षिप्त दोष है ३ । सचित्त पद्मपत्र आदिसे ढककर जो दिया जाता है वह पिहित नामका दोष है ४। जिस आम्रफल आदिक आहार में से बहुत भाग छोड़कर थोड़े भागका ग्रहण होता हो अथवा जो शरबत आदिक पेय पदार्थ लेते समय नीचे अधिक गिर जाते हैं और ग्रहणमें थोड़े आते हैं उनका लेना उज्झित नामका दोष है ५। मुनियोंके आ जानेसे उत्पन्न संभ्रम-हंड्बड़ाहट अथवा आदर की अधिकता से वस्त्र तथा वर्तन आदिको बिना देखे जल्दी घसोटना व्यवहार नामका दोष है ६। अब दाता के दोष कहते हैं ---ऐसा दाता दान देनेका अधिकारी नहीं है----जो निर्वस्त्र हो-वस्त्ररहित हो अथवा एक वस्त्रका धारक हो, मद्यपायी हो, पिशाज की बाधा से पीड़ित हो, अन्धा हो, जातिका पतित हो, मृतक की शव-यात्रा में गया हो, तीवरोगी हो, जिसे कोई घाव हो रहा हो, कुलिङ्गी-मिथ्या साधुका वेष रखे हो, जहाँ मुनि खड़े हों वहाँ से बहुत नीचे स्थान में खड़ा हो अथवा दातासे ऊँचे स्थान पर खड़ा हो, आसन्न गभिणो डा ⁻अर्थात् जिसके पाँच माससे अधिक का गर्भ हो, बच्चा जनने वाली हो, वेश्या हो, दासो हो, परदाके भोतर छिपकर खड़ी हो, अपवित्र

- १ व्यपहार इति दोष नाम अन्यत्र ।
- २. मुलाबार माबा ५० ।

दासी काण्डपटादिनान्तरिताः अधुचिः किमपि अक्षयन्ती इत्यादयो दोषा दातृगा ज्ञातव्याः (७) षड्जीवसम्मिश्रं मिश्रः (८) पावकादिइव्यरपरित्यक्तपूर्वस्व-कीयवर्णगन्धरसमपक्वं (९) लिप्तैदंवींकराद्यदीयमानमशनादिकं लिप्तं तद्याऽ-प्रासुकजलमुत्तिकोल्मुकादिभिलिप्तैयंद्वीयते तल्लिप्तं (१०)।

स्वादनिमित्तं यत्संयोजनं शीते अष्णं उष्णे शीतमिस्यादिमेलनं तदनेकरोगाणा-मसंयमस्य च कारणं झातव्यं १ कुक्षेरचंमंशमन्नेन पूरयेत् तृतीयमंशं कुक्षेः पानेन पूरयेत् कुक्षेक्ष्वतुर्थंमंशं वायोः सुखप्रचारार्थमवशेषयेत् रिक्तं रक्षेत्ं अस्भारप्रमाणा-दतिरेकोऽधिकग्रहणं अप्रमाणदोषः । प्रमाणातिक्रमेण कि भदति ? झ्यानभंगः, बध्ययनविनाशः, अत्यु त्पत्तिः, निद्रोत्पत्तिः आलस्यादिकं च स्पात् २ इध्टान्न-पानादिप्राप्तौ रागेण सेवनं अंगारदोषः ३ अनिष्टान्नपानादिप्राप्तौ द्वेषेण सेवा

हो अर्थात् मूत्र आदि को बाधासे निवृत्त होकर शुद्धि किये बिना आई हो, अथवा चाहे जो (अभक्ष्य) मक्षण करने वाली हो । इत्यादि टाता से सम्बन्ध रखने वाले दोष हैं। ऐसे सदोष दाता से आहार लेना दात् दोष है ७। जिस आहार में छह कायके जीव मिल गये हों वह मिश्र नामका आहार है उसे लेना सो मिश्र नामका दोष है ८। अग्नि आदि द्रव्योंसे जिनके पहलेके रूप गन्ध तथा रसमें परिवर्तन नहीं हुआ हो अर्थात् पो अपक्व हो वह अपक्व नामका दोष है ९। और घी आदिसे लिप्त करखली (चम्मच) आदिके द्वारा जो आहार दिया जाता है अथवा जो अप्राकुक जेल, मिट्टो तथा राख आदिसे लिप्त वर्तनीके द्वारा दिया जाता है क्य लिप्त आहार है इसका लेना सो लिप्त नामका दाष है । १०।

स्वाद के निमित्त भोजन को जो एक दूसरे के साथ मिलाया जाता है वह संयोजन नामका दोष है जैसे शोत वस्तुमें उष्ण और उष्ण में शीत वस्तु इत्यादिका मिलाना। यह संयोजन अनेक रोगों और असंयम का कारण है, ऐसा जानना चाहिये १। पेटका आधा भाग अन्नसे भरे तुतीय अंशको पानीसे भरे और चौथे भागको वायुके सुख-पूर्वक संचारके लिये खाली छोड़ दे। इस प्रमाणका यदि उल्लङ्घन किया जाता है अर्थात् अधिक आहार ग्रहण किया जाता है तो अप्रमाण नामका दोष होता है।

उत्तर-- घ्यानभङ्ग, अध्ययन में बाधा, पीड़ा की उत्पत्ति, निद्राकी उत्पत्ति और आलस्यादिक दोष उत्पन्न होते हैं। २ इष्ट अन्न पान आदि-के मिलने पर राग भावसे सेवन करना अङ्गार दोष है। ३ और अनिष्ट अन्न पानके मिलने पर द्वेष-पूर्वक सेवन करना भूम दोष है।

मावप्रामृतम्

धूमदोषः ४ अथ किमर्यमाहारी गृह्यते इति चेत् ? आहारग्रहणे मुनीनां गुणाः सन्ति । उक्तं च वीरमंदिभट्टारकेण----

> क्षुच्छान्त्यावश्यकप्राण-रक्षाघर्मयमा मुनेः । वैयावृत्यं च षड्भुक्तेः कारणानीति यन्मतम् ॥ १ ॥ इतः शरीरसंवृद्धर्थं तैव भुंजीत संयतः ॥ २ ॥ स्वादार्थमायुसंवृद्धर्थं नैव भुंजीत संयतः ॥ २ ॥ महोपसर्गातङ्काङ्गसंन्यासाङ्गिदयातपो---ब्रह्मचर्याणि भिक्षोः षट्कारणान्यशनोज्झने ॥ ३ ॥ एतद्दोषविद्वीनान्नभुक्तेरन्तरकारिणः । अन्तरायाः क्रियन्तोऽत्र वर्ण्यन्ते वर्णिनामिमे ॥ ४ ॥ रसपूयास्थिमांसासुक्चर्मामेध्यादिवीक्षणं । काकाद्यमेध्यपातोऽङ्गे वमनं स्वस्य रोघनं ॥ ५ ॥

प्रक्त-आहार किसलिये किया जाता है ?

उत्तर—आहार लेनेमें मुनियोंके अनेक गुण हैं---जनेक लाम है। जैसा कि वीरनन्दिभट्टारक ने कहा है---

खुत्छास्या ततः शरीर----क्षुघा की शान्ति, आवश्यकों का पालन, प्राणरक्षा, धम, चारित्र और वैयावृत्य ये छह मुनि के भोजन करनके कारण हैं। चूँकि यह सिद्धान्त है अतः साधुका शरीरकी वृद्धि, उसक तेज और बलकी वृद्धि, स्वाद तथा आयुकी वृद्धिके लिये भोजन नहीं करना चाहिये ॥ १-२ ॥

महोपसगं—महोपसगं, भय, शरीरका संग्यास, जीवदया, अनशनादि तप और ब्रह्मचर्य ये छह मुनिके भोजन छोड़ने के कारण हैं अर्थात् इन छह कारणोंसे मुनि आहार का परित्याग करते हैं ॥ ३ ॥

एतहोष---इन दोषों से रहित आहार के उपभोग में बाधा करने वाले अन्तराय कितने हैं ? इस प्रश्न के समाधान के लिये अब यहाँ मुनियों के निम्नलिखित अन्तरायों का वर्णन किया जाता है ॥ ४॥

रसपूया----आहार करते समय गीले पीव हड ्डी मांस रक्त चमड़ा तथा विष्ठा आदि पदार्थ देखने में आ जावें, दारीर पर कौआ आदि पक्षी बीट कर दे अपने आपको वमन हो जावे, कोई आहार करने से रोक दे, दुःखके कारण अश्रुपात हो जावे, हाथ से ग्रास मिर जावे, कौआ आदि अश्रुपातरुच दुःखेन पिंडपातरुच हस्ततः । काकादिपिण्डहरणं पतनं त्यक्तसेवनम् ॥६॥ पादान्तरालात्पंचाक्ष⁹जातिपंचेन्द्रियात्ययः । स्वोदरकृमिविण्मूत्ररक्तपूर्यादिनिगंमः ॥७॥ निष्ठीवनं सदंष्ट्राङ्गि³दर्शनं चोपवेद्यानं । पाणिवक्त्रेऽत्र ³साङ्गास्थिनखरोमादिदर्शांनम् ॥८॥ प्रहारो ग्रामदाहोऽशुभोग्रंबीभत्सवाक्**श्रुतिः ।** उपसर्गः पतन पात्रस्यायोग्यगृहवेद्यनम् ॥९॥

पक्षी झपटकर हाथ से ग्रास उठा ले जावे, आहार लेनेवाला दुबैलता आदि के कारण गिर पड़े, छोड़ी हुई वस्तू सेवन में आजावे, मुनिके पैरों के बीच से कोई पञ्चेन्द्रिय जीव निकल जावे, अपने उदर से कृमि, विष्ठा, मुत्र, रक्त तथा पोप आदि निकल आवे, थुक देना, डाढ़ों वाले कुत्ता आदि प्राणी काट खावें, दूर्बलता के कारण बैठ जाना पड़े, हाथ अथवा मुखमें किसी मृत जन्तु हड्डी, नख अथवा राम आदि दिख जावे, कोई किसी को मार दे, गांव में आग लग जावे, अशुभ, कठोर और घुणित शब्द सूनने में आजावे, उपसर्ग आजावे, दाता के हाथ से पात्र गिर पड़े, अयोग्य मृतुष्यके घर में प्रवेश हो जाय और घुटने से नीचे भागका स्पर्श हो जाये, इत्यादि अनेक अन्तराय माने गये हैं। इन अन्तरायोंमें कितने ही अन्तराय लोक रीतिसे उत्पन्न होते हैं जैसे ग्राम दाह आदि । यदि इस समय मनि आहार नहीं छोड़ते हैं तो लोक में अपवाद हो सकता है कि देखो गाँवके लोग विपत्ति में पड़े हैं और ये भोजन किये जा रहे हैं । कुछ संयम की अपेक्षा उत्पन्न होते हैं जैसे भोजन जीवजन्तूओंका मिकलना आदि | कुछ वैराग्य के निमित्त से होते हैं जैसे साधुका गिर पड़ना आदि । इस समय साधु सोचते हैं कि देखो यह शरीर इतना अशक्त हो गया कि स्ववश खड़ा नहीं रहा जाता और मैं आहार किये जा रहा हूँ। कुछ अन्तराय जुगुप्सा अर्थात् ग्लानिको अपेक्षा होते हैं जैसे पेटसे कृमि तथा मल-मूत्रके निकल आने पर ग्लानि का भाव उत्पन्न होता है। और कितने ही अंतराय संसारके भयसे उत्पन्न होते हैं जैसे काक आदि पक्षियोंके द्वारा

- २. दन्ननं दर्धनं म० घ० क०।
- ३. साजूबस्वि कः ।

१. जतिः क० ।

X99

'वानुदेशादधःस्पर्शंश्वेत्स्येवं बहवो मताः । लोकसंयमवैराग्यजुगुप्सागवभीतिजाः ॥१०॥ ज्ञात्ना गोम्यमयोग्यं च द्रव्यं क्षेत्रत्रयाश्वयं । चरत्येवं प्रयत्नेन भिक्षाशुद्धियुतो यतिः ॥११॥ सच्चित्तभत्तपाणं गिद्धी दप्पेणऽधी पभुत्तूण । पत्तोसि तिव्वदूक्खं अणाइकाल्ठेण तं चित्त ॥१००॥

संचित्तभक्तपानं गृद्धचा दर्पेण अधीः प्रभुज्य । प्राप्तोसि तोव्रदुःखं अनादिकालेन त्वं चित्त ! ॥१००॥

(सज्चित्तभत्तपाणं) सचित्तभक्तपानमप्रासुकभोजनजलादिकं। (गिद्धो) दप्पेणगृद्धधातिकांक्षया दर्पेण उत्कटत्वेन। (अधी) बुद्धिहोनः। (पभुत्तूण) प्रकर्षेण भुक्त्वा (पत्तोसि तिव्वदुक्सं) प्राप्तोऽसि प्राप्तो भवसि कि तत् ? तिव्वदुक्सं---तीव्रमसातं नरकादिदुःखमित्यर्थः। कियत्पर्यन्तं दुःसं प्राप्तोऽसि ? (अणाइकालेण) अनादिकालेन आसंसारं यावत्। कः प्राप्तो दुःसं ? (तं) त्वं भवान् । हे (चित्त) हे आत्मन् ! ।

हाथका ग्रास झपट ले जाना । इस समय साघु विचार करते हैं कि देखो संसार कितना दुःखमय है जहाँ क्षुधा से पीड़ित हुए जन्तु आहार की घात में निरन्तर लीन रहते हैं ॥ ५–१० ॥

ज्ञात्वा—क्षेत्र काल अथवा भावके आश्रय रहने वाला यह द्रव्य योग्य है अथवा अयोग्य है ऐसा जानकर भिक्षा शुद्धिसे युक्त मुनि प्रयत्न-पूर्वक अपनी चर्या करता है ॥११॥

गायार्थ—हे आत्मन् ! तूने बुद्धि से हीन होकर-विवेक छोड़कर आहारकी तीव्र इच्छा अथवा अहकारके वश सचित्त अन्न पान ग्रहण किया है इसीलिये अनादि कालसे तीव्र दुःखको प्राप्त हो रहा है ॥१००॥

विशेषार्थ---हे आत्मन् ! तूने अज्ञानी दशामें भोजनकी लंपटता और अपनी बलिष्टता के गर्वसे अप्रासुक भोजन तथा जल आदिका बार-बार उपभोग कर अनादि कालसे नरकादि गतियों में तीव्र दुःख प्राप्त किया है, अब मुनि अवस्था में विवेक पाकर भी तेरा उक्त दोष दूर नहीं हुआ तो तुझे फिर उसी प्रकारके दुःख उठाने पड़ेंगे, अतः सचित्त अन्नपानका दोष मत लगा ॥१००॥

१. देहा म० ।

षट्प्राभृते

कंद मूलं बीयं पुफ्फं पत्तादि किंचि सज्वितं । असिऊण माणगव्वं भमिओसि अणंतसंसारे ॥१०१॥

कन्द मूलं बीजं पुरुपं पत्रादि किचित् सचित्तम् । अशित्वा मानगर्वे श्रमितोसि अनन्तसंसारे ॥१०१॥ कदं सूरणं लघुनं पलाण्डु क्षुद्रवृहन्मुस्तां शालुकं----उत्पलमूलं श्वःङ्गवेरं आईवरवर्णिनी आदं हरिद्रेत्यर्थः । (मूलं) हस्तिदन्तकं मूलकमित्यर्थः नारंगकंटकं । गाजरमित्यर्थः । (बीयं) चणकादिकं । (पुष्कं) पुष्पं सेवत्रीपुष्पं करणवीजपूरपुष्पं ।

गावार्य---हे जीव ! तूने मान्यता के गर्व-वंश संचित्त कन्द, मूल, बीज, पुष्प तथा पत्ता आदिको खाकर अनन्त संसारमें भ्रमण किया है ॥१०१॥

हे आत्मन् ! मैं बड़ा हूँ लोकमान्य हूँ, सब कुछ खा सकता हूँ इस प्रकारके गर्वमें आकर तूने भक्ष्य अभक्ष्यका विचार किये बिना उक्त वस्तुओं को खाकर अनन्त स्थावर अथवा अनेक त्रस जोवोंका घात किया है उसीके फलस्वरूप तू अनन्त संसार में भटक रहा है। तूने यह सब पहले अज्ञान दशा में किया है परन्तु अब तुझे विवेक ज्ञागृत हुआ है इसलिये उस ओरसे अपनी प्रवृत्ति हटा।।१०१॥

[अन्य मतावलम्बी साधुओं में जमीकन्द आदि खाकर रहना तपस्या का अङ्ग माना जाता है । उसका निराकरण करते हुए यहाँ कहा गया है

भावप्रामृतम्

(पत्तादि)नागवल्लीदलं । (किंचि सचित्तं) किमपि ैऐवविदिकं । (असि-ऊण माणगव्वे) अशित्वा अक्षयित्वा मानेन मान्यतया गर्वे सति । (असि-ओसि अर्णतसंसारे) भ्रमितस्त्वं हे जीव ! अनन्तसंसारे अपर्यन्तभवसंकटे इति भावः ।

विणयं पंचपयारं पालहि मणवयणकायजोएण । अविणयणरा सुविहियं तत्तो मुत्ति ण पावंति ॥१०२॥

विनयं पंचप्रकारं पालय मनोवचनकाययोगेन ।

अविनतनराः सुविहितां तता मुर्क्ति न प्राप्नुवन्ति ॥१०२॥ (विणयं पंचपयारं) विनयं यथायोग्यं करयोटन-पादपतन-अभ्युत्थानस्वागत-भाषणादिकं पंचप्रकारं ज्ञानस्य, दर्शनस्य, चारित्रस्य, तपसध्च विनयं विनीतत्वं, अपचारलक्षणं पंचमं विनयं । हे आत्मन् ! हे मुने ! हे जोव ! हे जासन्तभव्य !

क जिन चीजों के खाने में अनन्त जीवोंका विधात होता है वे तपस्या के अङ्ग नहीं हो सकते । जैन शास्त्रोंमें अभक्ष्य पदार्थोंके पाँच विभाग किये हैं—-(१) जिनके खाने में अनन्तानन्त स्थावर जीवोंका विधात होता है (२) जिनके खाने में अतन्तानन्त स्थावर जीवोंका विधात होता है (२) जिनके खाने में अत्र जीवोंका विधात होता है (३) जो प्रमाद नशा उत्पन्न करने वाली हों (४) जो शरीर की प्रकृतिके अनु-कूल न होनेसे अनिष्ट हों और (५) जो कुलीन मनुष्यों के सेवन करने बोग्य न होने से अनुपसेव्य हों। जैन मुनि अथवा जैन वती श्रावकने इन पाँचों प्रकार के अभक्ष्यों का जीवन पर्यन्त के लिये त्याग रहता है और भक्ष्य पदार्थों का भी वे सचित्त अवस्था में सेवन नहीं करते । जैन मुनि अथवा श्रावक का लक्ष्य रहता है कि अपना पेट भरने के लिये दूसरे जीवोंको बाधा न दी जावे । यह भाव तब तक प्रकट नहीं होता जब तक कि जीवोंकी नाना जातियों का ज्ञान और अपने हृदय में उनकी रक्षाका अभिप्राय जागुत नहीं होता !]

गापार्थं----हे जीव ! तूमन वचन काय रूप तीनों योगोंसे पाँच प्रकार की विनय का पालन कर क्योंकि विनय-रहित मनुष्य तीर्थंकर प्रकृतिके बन्धरूप अभ्युदय और मुक्ति को प्राप्त नहीं होते हैं।।१०२।।

विशेषार्थ—ज्ञान दर्शन, चारित्र, तप और उपचार के भेदसे विनयके पांच भेद हैं। पूज्य पुरुषों के प्रति यथा-योग्य हाथ जोड़ना, उनके पैरों

१. ऐवॉक्किं क॰ वालूका (क॰ टि॰) ककड़ी इति हिन्दी ।

सर्वोपकार्रिस्खं। (पालहि) प्रतिपालय कुर्विति। (मणवयणकायखोएण) मनोवचनकाययोगेन खात्मव्यापारेण (अविणयणरा सुविहियं) अविनयनरा अविनतनरा वा सुविहितां तीर्थंकरनामकर्मंपूर्वकबन्धविधिष्टां। (तत्तो मुर्त्ति न पावंति) ततः कारणान्मुक्तिं सर्वंकर्मक्षयलक्षणोपलक्षितां न प्राप्नुवन्ति नैव लमन्ते।

णियसत्तीए महाजस भत्तीराएण णिच्चकालम्मि । तं कुण जिणभत्तिपरं विज्जावच्चं दसवियप्पं ।।१०३।।

निजशक्त्या महाशयः ! भक्तिरागेण नित्यकाले ।

त्वं कुरु जिनभक्तिपरं वैयावृत्यं दर्शविकल्पम् ॥१०३॥

(णियसत्तीए महाजस) एकारस्योज्यारलाघवादत्र पादे द्वादशैव मात्रा वेदितव्याः । अन्यया त्रयोदशमात्रासद्भावादुगाषाळ्ल्दोभंगः स्यात् ।

में पड़ना, उन्हें आते देख उठकर खड़े होना तथा 'भले पधारे' आदि स्वागत के शब्द कहना ये सब विनय के प्रकार हैं। हे निकट भव्य ! तू भन वचन कायसे विनयके इन सब भेदोंका अच्छी तरह पालन कर । विनय का बड़ा माहात्म्य है। विनय-सम्पन्नता तीर्थं कर प्रकृतिके बन्धका कारण है और जो तीर्थं कर हो गया वह मुक्तिको अवश्य हो प्राप्त होता है। इस प्रकार विनय अभ्युदय और मोक्ष दोनोंका कारण है। इसके विपरीत विनय रहित मनुष्य न सांसारिक अभ्युदय को प्राप्त होते हैं और न मक्ति को प्राप्त होते हैं ॥१०२॥

गाथार्थं----हेमहायश ! तू अपनी शक्तिके अनुसार भक्ति के रागसे निरस्तर जिनभक्तिमें उत्कृष्ट दश प्रकार का वैयावृत्य कर ॥१०३॥

विशेषार्थ---आचार्यं, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान, गण, कुल, संघ, साघु और मनोज्ञके भेदसे मुनियों के दश भेद हैं। इन दश प्रकारके मुनियोंकी वैयावृत्य करना दश प्रकारका वैयावृत्य है। यह वैयावृत्य जिनभक्ति में उत्कृष्ट है इसलिये हे महायश के घारक मुने ! तू अपनी शक्ति-अनुसार भक्ति-पूर्वक दश प्रकारकी वैयावृत्यको निरन्तर कर।

गाथाके प्रथम पाद में 'णिवसत्तीए' में एकारका उच्चारण लघुरूम होनेसे बारह मात्राएँ जानना चाहिये अन्यथा संस्कृत को तरह एकारका मात्र दीर्घोच्चारण मानने से तेरह मात्राएँ हो जावेंगी और उस दशा में

तदुन्तं प्राकृतव्याकरणे—

"उच्चारलघुत्वमेदोतोव्यंजनस्वयोः"

निजशक्त्या हे महायशः !। (भत्तीराएण णिज्बकालम्मि) अक्तिरागेण नित्यकाले। (तं कुण) त्वं कुरु। (जिणभत्तिपरं) जिनभक्तौ परमुत्कुष्टं। (विज्जावश्वतं) वैयावृत्यं। (दसवियप्पं)दर्शविकल्पं दशमेकं आचार्यादीनां पूर्वोक्तानाम्।

जं किंचि कयं दोसं मणवयकाएहि असुहभावेण।

तं गरहि गुरुसयासे गारव मायं च मोत्तूण ।।१०४।। यः कब्चित् कृतो दोषः मनवचनकायैः अशुभभावेन ।

तं गईं गुरुसकाशे गारवं मायां च मुक्त्वा ॥१०४॥

(जं किंचि कयं दोसं) यः कश्चित्कृतो दोषः व्रतादिष्वतीचारः । (मणवयका-एहिं असुहभावेण) मनोवचकावैरशुभभावेन रागद्वेषमोहादिदुष्परिणामेन । (तं) दोषमतीचारादिकं, गर्ह-प्रकाशय । (गुरुसयासे) गुरुसकाशे गुरुपार्श्वे आचार्यः

छन्दोभङ्ग हो जावेगा क्योंकि आर्या या ााथा छन्दके प्रथम पादमें बारह मात्राएँ होतो हैं । प्राकृत व्याकरण का सूत्र भी है—

उण्णार--ध्यञ्जनस्य एकार और ओकार के उच्चारण में लघुत्व होता है ॥१०३॥

गायार्थ---हे मुने ! तूने अशुभ भावसे मन वचन कायके ढारा जो कोई दोष किया हो उसकी गारव और मायाको छोड़ कर गुरुके समीप गई कर--आलोचना कर ॥१०४॥

१. 'तुमत्तुआणतूजावचतुष्कं क्त्वायाः' । इत्यनेन मोत्त्ण इत्यत्र क्त्वायाः तूणा-हेश्वः ।

बालाचार्यपादमूले । (गारव मायं च मोत्तूण) गारवं ैरसद्विज्ञब्दसातगर्वं मुक्त्वा, मायां च मुक्त्वा कपटं परिहृत्य । आलोचनादशदोषान् भगवत्याराषनाकयितान् विहाय । तदुक्तं—

आकंषिय अणुमाणिय, जंदिट्ठं बादरं च सुहमं च। छन्नं सदाउलयं, बहुजणमव्वत्तं तस्सेवी ॥ १॥ दुज्जणवयण**चडक्कं णिट्ठुरकडुयं सहंति सप्पुरिसा ।** कम्ममलणासणट्टं भावेण य णिम्मया सवणा ॥१०५॥

दुर्जनवचनचपेटां निष्ठुरकटुकं सहन्ते सत्पुरुषाः ।

कर्ममलनाशनार्थं भावेन च निर्ममाः श्रवणाः ॥१०५॥ (दुज्जणवयणचडक्कं) दुर्जनानां गुरुदेवनिन्दकानां मिथ्यादृष्टीनां नाम-श्रावकाणां च वचनमेव चपेटा तां । कथभूतां, (णिट्ठुरकडुयं) निष्ठुरा-निर्दया, कटुका-कर्णशूलप्राया निष्ठुरकटुका तां निष्ठुरकटुकां । (सहंति सप्पुरिसा) सहत्ते .

आकंपिय—-१ आकम्पित, २ अनुमानित, ३ दृष्ट, ४ वादर, ५ सूक्ष्स, ६ छन्न, ७ शब्दाकुलित, ८ बहुजन, ९ अव्यक्त और १० तत्सेवी ये आलोचनाके दश दोष हैं। इनका स्वरूप पहले कहा जा चुका है।।१०४॥

गाथार्थ—भाव अर्थात् जिन सम्यक्तवको वासना से निर्ममता को प्राप्त हुए सत्पुरुष दिगम्बर महामुनि, कर्म रूपी मल अथवा ज्ञानावणदि कर्म और अतिचार रूपी मलको नष्ट करनेके लिये दुर्जनोंके निर्दयतापूर्ण कठोर वचनरूप थपेड़ोंको सहन करते हैं ॥१०५॥

विशेषार्थ—गुरु और देवकी निन्दा करने वाले दुष्ट मिथ्यादृष्टि तथा नाम मात्रके श्रावक अत्यन्त कठोर शब्दों द्वारा मुनियों की निन्दा करते हैं। उनके वे निर्दयता पूर्ण शब्द जानों में शूल की तरह चुभते हैं तो भी दिगम्बर महामुनि अथवा सम्यग्दृष्टि गृहस्य अपने कर्म मलको नष्ट करने के लिये उन्हें शान्त भावसे सहते हैं, चित्त में किसी प्रकारका क्षोभ उत्पन्न नहीं होने देते। उसका कारण है कि वे महामुनि अथवा

१. अन्यत्र त्रीणि गारवाणि प्रसिद्धानि प्रथममृद्धिगारवं शिक्षादीक्षादिसामग्री मम बह्वो वर्तते नत्वमोषां यतीनाम् । द्वितीयं शब्दभारवं अहं वर्णोच्चारं रुचिरं करोमि वा जानामि नत्वन्ये यतयः । तृतीयं सातगारवं अहं यतिरपि सन् इन्द्रसुखं तीर्थंकरसुखं भुञ्ज्जानो वर्ते नत्विमे यतयस्तपस्विनो वराकाः (क० टि०) ।

भावप्राभृंतम्

सत्पुरुषा महामुनयो दिगम्बराः सद्दृष्टयो गृहस्थाश्च । किमर्थं सहन्ते ? (कम्ममल-णासणट्ठं) कर्माणि ज्ञानावरणादोनि मलानि-अतिचाराश्च तेषां नाशनार्थं क्षयार्थं परमनिर्वाणप्राप्त्यर्थं च । (भावेण य णिम्ममा सवणा) भावेन जिनसम्यक्त्ववा-सनया निर्ममा ममेत्यकारान्तमव्ययशब्दः ममत्वरहिताः श्रवणा दिगम्बरा महामुनयः ।

पावं खवइ असेसं खमाए परिमंडिओ य मुणिपवरो । खेयरअमरणराणं पसंसणीओ घुबं होई ॥१०६॥

पापं क्षपयति अशेषं क्षमया परिमण्डितइच मुनिप्रवरः ।

खेचरामराणां प्रशंसनीयो ध्रुवं भवति ॥ १०६ ॥

(पावं सबद असेसं) पापं त्रिषष्ठिप्रकृतिलक्षणं क्षिपते अद्येषं द्वासप्ततित्रयो-दक्षप्रकृतिरूपमघातिकमंलक्षणं च प्रकृतिसमुदायं च क्षिपते । कया, (समाए) क्षमया पार्श्वनायवत् उत्तमक्षमालक्षणपरिणामेन । (परिमंडियो य) परि समन्ता-न्मनोक्चनकायप्रकारेण मंडितः शोमितश्व । (मुणिपबरो) मुनिप्रवरो मुनीनां श्रेष्ठः । चकार उक्तसमुख्चयार्थः । तेनान्योऽपि कोऽपि गृहस्योऽपि क्षमापरिणा-मेन स्वर्गं गर्खा पारंपर्येण मोक्षं याति इति ज्ञातव्यं । (स्वेयरअमरनराणं) सेचराणां विद्याधराणां अमराणां भावनव्यन्तरज्योतिष्ककल्पवासिनां कल्पातीतानां

सम्यग्दष्टि सत्पुरुष जिन सम्यक्त्व की भावना से इतने निर्ममत्व हो चुकते हैं कि उनका उस ओर लक्ष्य ही नहीं जाता। जिसे अपने महतपनका गर्व होता है उसे ही दूसरों के कुवचन सुनकर कोध उत्पन्न होता है परन्तु जो महन्तपनेसे सर्वया ममकार--ममताभाव छोड़ चुकता है उसे क्रोध उत्पन्न होनेका अवसर नहीं आता।।१०४॥

षट्प्राभृते

च, नराणां भूमिगोचरनृपादीनां च। (पर्संसणीओः) प्रशंसनीयः स्तवनीयः स्तो-तब्यः संस्कृत प्राकृत-अपभ्रं श-सौरसेनी-मागची-पैशाची-चूलिकापैशाचीबद्धगढापदा-नवद्यस्तुतिभिविशेषेणाभिवादनीयः (धुवं होइ) झुवं निश्चयेन भवति। अत्र संदेहो नास्ति । क्षमावान् मुनिस्तीयंद्धरो भवतीति भावार्थः ।

इय णाऊण खमागुण खमेहि तिविहेण सयलजीवाणं । चिरसंचियकोहर्सिंह वरखमसलिलेण सिचेह ॥१०७॥

इति ज्ञात्वा क्षमागुण ! क्षमस्व त्रिविधेन सकलजीवान् । चिरसंचितकोधक्षिखिनं वरक्षमासलिल्हेन सिश्च ॥१०७॥

(इय णाऊण) इति पूर्वोक्तती यंकरपदप्रापकं क्षमाफलं जात्वा विज्ञाय । (खमागुण) हे क्षमागुण ! चतुरवीतिशतसहस्रगुणानां मध्ये प्रधानक्षमागुण हे मुने ! (खमेहि) क्षमस्व । (तिविहेण) मनोवचनकायलक्षणत्रिप्रकारेण ! (सय-लजीवाणं) सकल्जीवान् एकेन्द्रियादिपंचेन्द्रियपयंन्तान् । (चिरसंचियकोहसिहि) घिरं दीर्धकालं संचितः पुष्टितः पुष्टि नीतः क्रोघ एव ग्रिसी वैश्वानरः दाहसन्ताप-कारकत्वात् तं क्रोधशिसिनं कोपार्गि । (वरस्वमसलिलेण सिंचेह) वरा उत्तमा क्षमा सर्वसहनवर्मः सैव सलिलं पानीयमुदकं आयुःस्थिरोकरणमनःप्रसादजनकत्वात् तेन वरक्षमासल्लिन क्रत्वा सिंचत्वं विध्यापय । उक्तं च—

निर्दोष स्तुतियों के द्वारा प्रशंसनीय होता है। तात्पय यह है कि क्षमावान् मनुष्य तीर्थ्रङ्कार होता है। परिमंडिओ य (परिमण्डितश्च) यहाँ जो 'च' शब्द आया है उससे यह सूचित होता है कि यदि कोई गृहस्य भी क्षमा-भाव धारण करता है तो वह भो उस क्षमाभाव से स्वर्ग जाकर परम्परा से मोक्ष को प्राप्त होता है। १०६॥

गाथार्थ---हे क्षमा गुणके धारक मुने ! इस तरह क्षमाका फल जान-कर तुम समस्त जीवोंको मन वचन काय से क्षमा करो और चिर-काल से सञ्चित कोघ रूपी अग्निको उत्कृष्ट क्षमा रूपी जल से सींचो ॥१०७॥

भाषप्राभृतम्

⁹आकुष्टोऽहं हतो नैव हत्तो वा न द्विधाकृतः । मारितो न हतो धर्मो मधीयोऽनेन बन्धुना ॥ १ ॥ ³चित्तस्यमप्यनवबुद्धधा हरेण जाड्यात् क्रुद्घ्वा बहिः किमपि दग्धमनङ्गबुद्घ्या । घोरामबाप स हि तेन छतामवस्थां क्रोधोदयाद्भवति कस्य न कार्यहानिः ॥ २ ॥ दिक्खाकालाईयं भावहि अवियार दंसणविसुद्धो । उत्तमबोहिणिमित्तं असारसंसारमुणिऊण ॥ १ ०८॥ दोक्षाकालादीयं भावय अविचार ! दर्शनविशुद्धः । उत्तमबोधिनिमित्तं असारसाराणि ज्ञात्वा ॥ १ ०८॥

(दिक्खाकालाईयं) दीक्षाकाले खलु जीवस्य परमवैराग्यं भवति, दीक्षाकालं आदिर्यस्य रोगोत्पत्तिप्रभृतिकालस्य स दीक्षाकालाविः दीक्षाकालादौ भवो दीक्षा-कालादीयो भावस्तं दीक्षाकालादीयं निजपरिणामविष्ठोषं हे जीव आत्मन् ! हे

आक्तुष्टोऽहूं—दूसरेके द्वारा गाली दिये जानेपर मुनि विचार करते हैं कि इस भाईने मुझे गाली दी है मारा तो नहीं है। पीटे जानेपर विचार करते हैं कि पीटा ही है मेरे दो टुकड़े तो नहीं किये अर्थात् मुझे जान से तो नहीं मारा है और मारे जानेपर विचार करते हैं कि मुझे मारा ही है मेरा धर्म तो नहीं नब्ट किया।

चित्तस्य — चित्त में स्थित कामको न समझ कर महादेव ने क्रोध-वश बाहर स्थित किसी पदार्थको काम समझ जला दिया। पीछे उसी कामके द्वारा की हुई भयंकर दुर्दशाको प्राप्त हुए। सो ठीक ही है क्योंकि क्रोध से किस की कार्य-हानि नहीं होती ? ॥१०७॥

गायार्थ-हे विचारहीन ! साधो ! तू उत्तम रत्नत्रय की प्राप्तिके निमित्त असार और सारको जान कर सम्यग्दर्शन से विशुद्ध होता हुआ दीक्षा आदिके समय होनेवाले भावका स्मरण कर ॥१०८॥

विशेषार्थ-दीक्षा लेते समय इस जीवके परिणामों में बड़ी निर्मलता होती है। उस समय यह सोचता है कि आजसे लेकर अब मैं स्त्रीका मुख नहीं देखूँगा क्योंकि स्त्रियों में रागी होकर ही मैं अनादि कालसे संसारमें

१. यशस्तिलके आकृष्टोऽहं म० ।

२. आत्मानुशासने ।

चैतन्य ! हे मुने ! त्वं । (भावहि)—भावय तं परिणामं त्वं स्मर । यदहमदाप्रभूति वनितामुखं न पश्यामि, वनितासु रक्तोऽहमनादिकाले संसारे पर्यटितोऽवाव्छितमेव दुःखं प्राप्तः, अर्हनिशमाकांक्षरूपि सुखलेशं न लब्धवान् । तदुक्तं—

> [°]अजाक्रपाणीयमनुष्ठितं त्वया विकल्पमूढेन भवादितः पुरा । यदत्र किचित्सुसलेशमाप्यते तदार्यं ! विद्वघन्धकवतंकीयकम् ॥१॥ अन्यण्य----

^२संसारे नरकादिषु स्मृतिपयेअ्युद्वेगकारोम्पर्ल दुःखानि प्रतिसेवितानि भवता तान्येवमेवासताम् । ³तत्तावत् स्मर स्मरस्मित^४सितापाङ्गैरनङ्गायुर्व-वॉमानां हिमदग्वमुग्धतस्वद्यात्प्राप्तवान्निर्घनः ॥१॥

और भी कहा है---

संसारे--संसारके मध्य नरकादि गतियोंमें जो तू ने ऐसे ऐसे दुःस कि

- १. बात्मानुशासने।
- २. वात्मानुषासने ।
- ३. तत्तावत्स्मरसि म०।
- Y. पिता• म० 1

865

आतक्तूपावककिसाः सरसावलेखाः स्वस्थे मनाङ्गनसि ते लघु विस्मरन्ति । तत्कालजातमतिविस्फुरितानि पश्चा— ज्जीवान्यथा यदि भवन्ति कृतोऽप्रियं ते ॥१॥

(भावहि अवियार दंसणविसुद्धो) दीक्षाकाले दारिद्रधकाले रोगादिकाले च ये भावास्त्वया भाविता धर्माश्रयणपरिणामास्तान् भावान् हे जीव ! सदाकालमपि त्वं भावय, हे (अवियार)---हे अविचार निर्विवेकजीव ! । अथवा हे अविकार रागद्वेषमोहादिदुष्परिणामवजितजीव ! । कथंभूतः सन् भावय, (दंसणविसुद्धो) सम्यक्त्वकोस्तुभशोभितनिमंलहृदयः सन् भावय । अथवा अवियारदंसणविसुद्धो इत्यकमेव पदं । तथायमर्थः--अविकारं पंचविंशतिदोषरहितं

जो स्मरण में आते ही अत्यन्त उद्वेग करने लगते हैं. भोगे हैं वे यों ही रहें उनकी चर्चा छोड़ अभी तू उसी एक दुःखका स्मरण कर जो तूने निर्धन अवस्था में कामको बाधा से युक्त स्त्रियों की मन्दमुसकान और शुक्ल कटाक्ष रूपी कामके शस्त्रों द्वारा हिमसे दग्ध-तुषारसे शोभित बाल वृक्षकी तरह प्राप्त किया है।।१॥

आतंक—हे जीव ! मन के कुछ स्वस्थ होते ही तू दुःख रूपी अग्नि को लपलपाती ज्वालाओं को शोघ्र भूल जाता है । दुःखके समय तेरी बुद्धि में जो सद्विचार प्रस्फुरित हुए थे वे यदि पीछे भी–दुःख दूर हो जाने के बाद भी स्थिर रहते तो तुझे दुःख होता ही कैसे ? ।।१।।

इस प्रकार दीक्षा लेते समय, दरिंद्रता के समय अथवा रोग आदिके समय यह जीव जिनधर्म रूप परिणामोंका आश्रय लेता है पीछे चलकर उन परिणामों को भूला देता है और विचार-शून्य होकर पुनः विषयों की ओर आक्रुष्ट होने लगता है। आचार्य ऐसे ही जोवोंको संबोधते हुए कहते हैं कि हे अविवेकी जीव ! यदि तू उत्तम रत्नत्रय प्राप्त करना चाहता है तो अपने विवेक को तिलाञ्जलि न दे। उस विवेक के द्वारा तू सार-श्रेष्ठ और असार अश्रेष्ठ वस्तुओं का निर्धार कर, सम्यग्दर्शन को शुद्ध रख तथा दीक्षा आदिके समय होने वाले सद्विचारोंका स्मरण कर-उन्हें भूल अत जा।

गाथा में आये हुए 'अवियार' इस प्राकृत शब्दकी संस्कृत छाया 'अविचार' और 'अविकार' दोनों हो सकती हैं। ऊपर 'अविचार' छायाको स्वीकृत कर अर्थ किया है, 'अविकार' छायाके पक्ष में अर्थ होता है-हे यद्र्शनं सम्यक्त्वरत्नं तेन विशुढोऽनन्तभवपापरहितः । किमर्थं भावय, (उत्तम-वोहिनिमित्तं) उत्तमा गणघरचक्रघरकुलिशघरभव्यवरपुण्डरीकैः पूज्यत्वात उत्तमा चासौ बोधिः तन्निमित्तं उत्तमबोधिनिमितं । (असारसाराइ मुणिऊण) असाराणि साराणि च मनित्वा ज्ञात्वा । उक्तं च—

अथिरेण थिरामल्णिण निम्मला निग्गुणेण गुणसारा ।

काएण जा विढप्पइ सा किरिया कि न कायठवा ॥ १ ॥

अनालोचितं असारं, आलोचितं सारं । परनिन्दा असारं, निजनिन्दा सारं । आत्मदोषाणां गुरोरप्रोऽप्रकचनं असारं, गुवंग्रे निजदोषकचनं सारं, अप्रतिक्रमणं असारं । फ्रितिक्रमणं सारं विराधनं असारं आराधनं सारं अज्ञान असारं । सम्याज्ञानं सारं । मिष्यादर्शनं असारं, सम्यादर्शनं सारं । कुचरित्रं असारं, सच्चरित्रं सारं । कुत्तपः आसारं, सुतपः सारं । अकृत्यं असारं, कृत्यं सारं । प्राणातिपातोऽसारं, अभयदानं सारं । मृषानादोऽसारः, सत्यं सारं । अदत्तादानं असारं, दत्तं कल्प्यं च सारं । मैथुनं असारं, ब्रह्यच्यं सारं । परिप्रहोऽसारं, नैग्रस्थ्यं सारं । रात्रिभोजनमसारं, दिवाभोजनमेकभक्तं प्रत्युत्पन्नं प्रासुकं सारं । आत्तरीव्रघ्यानमसारं, घर्म्यं शुक्छ-घ्यानं सारं । कृष्णनीलकपोतलेक्या असारं, तेजःपद्यशुक्छलेक्याः सारं । आरंभोऽ-सारं, अनारंभः सारं । असंयमाऽसारं, संयमः सारं । सन्नच्योऽसारं, निग्रंन्यः सारं ।

रागद्वेष मोह आदि सोटे परिणामोंसे रहित जीव अथवा 'अवियार' पदको सम्बोधनान्त पृथक् पद न मानकर 'अवियार दंसण विसुद्धो' इस तरह एक ही समस्त पद मानना चाहिये । इस पक्ष में अवियार शब्द जीवका सम्बो-धन न होकर दर्शनका विशेषण हो जाता है और तब 'अवियार दंसण विसुद्धो' पदका अर्थ होता है पच्चोस दोष रहित सम्यग्दर्शन से घोभित होता हुआ । सम्यग्दृष्टिमनुष्य को असार तथा सार वस्तु की परस रूर सार वस्तुको प्राप्त करने का प्रयत्न अवश्य करना चाहिये । जैसा कि कहा है—

अघिरेण--- यदि अस्थिर शरीर से स्थिर, मलिन से निमंल और निगुंण से सगुण किया को जाती है तो उसे क्या नहीं करना चाहिये ? अर्थात् अवक्य करना चाहिये । यह शरीर यद्यपि अस्थिर, मलिन और निगुंण है तथापि इससे रत्नत्रय को प्राप्ति कर मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है । यह माक्ष जो कि स्थिर, निमंल और अनन्त गुणों से श्रेष्ठ है, आगे क्या असार है ? और क्या सार है ? इसकी चर्चा संस्कृत टोका-कारने विस्तार से की है जो इस प्रकार है---

भावप्राभृतस्

सचेलोऽसारं निष्टचेल्नः सारं । अलोचोऽसारं, लोचः सारं । स्नानं असारं, अस्नानं मलवारणं सारं । अभूमिशयनं असारं, भूमिशयनं सारं । दन्तघावनं असारं, अदन्त-घर्षणं सारं । उपविष्ठ्य भोजनं असारं, उद्भभोजनं सारं । भाजने भोजनं असारं, पाणिपात्रे भोजनं सारं । कोघोऽसारं, सम्मा सारं । मानोऽसारं, मार्दवं सारं । मायाऽसारं, आर्जवं सारं । कोघोऽसारं, सन्सोषः सारं । अतपोऽसारं, द्वादशविघं तपः सारं । मिथ्यात्वं असारं, सम्यक्त्वं सारं । अशीलं असारं, शीलं सारं । सशल्योऽसारं, निष्टल्यः सारं । अविनयोऽसारं विनयः सारं । अनाचारीऽसारं,

आलोचना नहीं करना असार है, आलोचना करना सार है। परनिन्दा करना असार है, निज निन्दा करना सार है । गुरुके आगे अपने दोषोंका नहीं कहना असार है, गुरुके आगे अपने दोष कहना सार है। प्रतिक्रमण नहीं करना असार है, प्रतिक्रमण करना सार है। विराधना करना-गृहीत वत में दोष लगाना असार है, आराधना करना-वतका निर्दोष पालन करना सार है । अज्ञान असार है, सम्यग्ज्ञान सार है । मिथ्यादर्शन असार है, सम्यग्दर्शन सार है । मिथ्याचारित्र असार है, सम्यक्चारित्र सार है । कुतप असार है, सुतप सार है । अक्रत्य-अयोग्य कार्य असार है, कृत्य-योग्य कार्य सार है। प्राण घात असार है, अभय दान सार है। असत्य भाषण असार है, सत्य भाषण सार है, अदत्त वस्तू का ग्रहण करना असार है, योग्य दो हुई वस्तुका स्वीकार करना सार है। मैथुन असार है, ब्रह्मचर्य सार है। परिग्रह असार है, निग्र न्थपना सार है। रात्रिभोजन असार है, दिनमें एकबार प्रासूक भोजन करना सार है । आर्त्त रौद्र घ्यान असार हैं, धर्म्य और शुक्लध्यान सार हैं। कृष्ण नोल और कापोत लेश्या असार है, तेज, पद्म और शुक्ल लेश्या सार है। आरम्भ असार है, अनारम्भ सार है। असंयम असार है, संयम सार है। परिग्रहवान् असार है, परिग्रह रहित सार है। वस्त्र सहित असार है, वस्त्र रहित सार है। केशलोंच नहीं करना असार है, केक्कलोंच करना सार है। स्नान असार है, अस्नान अर्थात् मल धारण करना सार है। पृथिवी पर नहीं सोना असार है, पुचिवी पर सोना सार है। दांतौन करना असार है, दांतौन नहीं घिसना सार है । बैठकर आहार करना असार है, खड़े-खड़े आहार करना सार है ! पात्रमें भोजन करना असार है, हस्त-रूपी पात्रमें भोजन करना सार है। कोध असार है, क्षमा सार है। मान असार है, मार्दव धर्म सार है। माया असार है, आर्जव सार है। लोभ असार है, संतोष सार है। अतप असार है, बारह प्रकारका तप सार है। विष्यारण असार है, सम्यनल सार है।

आचारः सारं । उन्मार्गोऽसारं जिनमार्गः सारं । अक्षमा असारं, क्षमा सारं । अगुप्तिः असारं, गुप्तिः सारं । अमुक्तिः असारं, मुक्तिः सारं । असमाधिः असारं, समाधिः सारं । ममत्वं असारं, निर्ममत्वं सारं । यद्भावितं तदसारं, यन्न भावितं तत्सारं । इति सारासाराणि ज्ञातव्यानि ।

सेवहि चउविहलिंगं अब्भंतरलिंगसुद्धिमावण्णो । बाहिरलिंगमकज्जं होइ फुडं भावरहियाणं ॥१०९॥ सेवस्व चतुर्विधलिङ्गं अम्यंतरलिङ्गशुद्धिमापन्नः ।

वाह्यलिङ्गमकार्यं भवति स्फुटं भावरहितानां ॥ १०९ ॥

(सेवहि चउविहॉलिंग) सेवस्व हे मुने ! चतुर्विघं लिगं शिरःकेशमुखस्मश्रुलो-चोऽघ केशरक्षणं चतुर्विधमिदं लिगं पिच्छकुण्डोद्वयपहः । (अब्भंतर्रालगसुद्धिमा-वण्णो) अभ्यन्तर्रालगं जिनसम्यक्त्वं तस्यशुद्धिमायन्नः प्राप्तः । (बाहिर्रालगम-कज्जं) बहिलिंगं पूर्वोक्तं चतुर्विधलिंगमकार्यं मोक्षदायकं न भवति । (होइ फुडं

अशोल असार है, शोल सार है। शल्य सहित होना असार है, शल्य रहित होना सार है। अविनय असार है, विनय सार है। अनाचार असार है, आचार सार है। मिथ्याभागं असार है, जिनमार्ग सार है। अक्षमा असार है, क्षमा सार है। अगुप्ति असार है, गुप्ति सार है। अमुक्ति संसार असार है, मुक्ति सार है। असमाधि असार है, समाधि सार है। ममत्व असार है, निर्ममत्व सार है। जिस विषय मुखका उपभोग किया है वह असार है और जिसका उपभोग नहीं किया वह सोर है। इस प्रकार सार-असारके स्वरूपको जानना चाहिये॥ १०८॥

गायार्थ--हे मुने ! तू भावलिङ्ग को शुद्धिको प्राप्त होता हुआ बाख चार प्रकार के लिङ्ग को धारण कर । भाव रहित मुनियों का द्रव्य लिङ्ग निश्चित ही अकार्य-कर है---मोक्ष दायक नहों है ॥ १०९ ॥

विशेषार्थ-अभ्यन्तर लिङ्गका अर्थ जिन-सम्यक्त्व है, मुनिको सर्व प्रथम उसको सँभाल करना चाहिये। परचात् भाव शुद्धि पूर्वक चार प्रकारका बाह्य लिङ्ग धारण करना चाहिये। १ शिरके केशलोंच करना २ डाड़ोके केशलोंच करना ३ मूँ छके केशलोंच करना और ४ नीचे के केश रखना अर्थात् उनका लौच नहीं करना यह चार प्रकार का बाह्य लिङ्ग है। पीछी कमण्डलु घारण करना भी बाह्य लिङ्ग है। भाव-रहित अर्थात् मिथ्यादृष्टि मुनियोंका बाह्य लिङ्ग निरुचय से अकार्यकर है अर्थात् मोब-को देने बाला नहीं है। यखपि इध्यलिङ्गो मुनि नव प्रेवेयक तक उत्यन्क भावरहियाणं) अकार्यं अवति स्फुटमिति निश्चयेन आवरहितानां मिथ्यादृष्टीनां दिगम्बराणां ।

आहारभयपरिग्गहमेहुगसण्णाहि मोहिओसि तुमं । भमिओ संसारबजे अणाइकालं अणप्पवसो ॥११०॥

बाहारमयपरिग्रहमैथुनसंज्ञाभिः मोहितोसि त्वम् । अमितः संसारवने अनादिकालमनात्मवशः ॥ ११० ॥

(आहारभग्परिग्गहमेहुणसण्णाहि मोहिओसि तुम) आहारभयपरिग्रहमैथुन-संज्ञाभिर्मोहित आरमरूपाच्चलितः प्रचलितः प्रच्युतः, असि—भवसि, तुमं-त्वं हे जोव । (भमिनो संसारवणे) भ्रान्तः पर्याटीस्त्वं संसारवने नरकतिर्यक्कुमनुष्य-कुरिसतदेवगहने । (अणाइकालं) अनादिकारुं पूर्वकाले । (अणप्पवसो) अनात्मवशः न आत्मा मनो वधे यस्य सोऽनात्मत्रशः विषयकषायान्यायरञ्जितहृदय इत्यर्थः ।।

बाहिरसयणत्तावणतरुमूलाईणि उत्तरगुणाणि । पालहि भावविसुद्धो पूयालाहं न ईहंतो ।११११।। बहिःगयनातपनतरुमूलादीन् उत्तरगुणाणि । पालय भावविशुद्धः पूजालाम अनाहमानः ॥१११॥

होते हैं तथापि देव पद पाना मुनिका लक्ष्य न होनेसे उसको यहाँ विवक्षा नहीं की गई है ।। १०९ ।।

गा**चार्च हे जोव** ! तू आहार, भय, मैथुन और परियह इन चार संज्ञाओंसे मोहित हो पराधीन हुआ संसार रूपो अटवी में अनादि कारुसे अमण कर रहा है ॥ ११०॥

तावार्व-हे साचो ! तू भावसे खुढ होता हुवा क्याति, काम वादि

(बाहिरसयणत्तावणतरुमूल्लाईणि उत्तरगुणाणि) बहिःशयनातपनतरुमूलावान् उत्तरगुणान् पालयेति सम्बग्धः । शीतकालेऽनाबृतस्याने स्थिति कुरु । उल्पकालै आतपनयोगं घर । वर्षाकाले तरुमूले तिष्ठ । वृद्धपर्णोपरि पतित्वा यज्जल यत्पुपरि पतति तस्य प्रासुकत्वादिराधनाऽप्कायिकानां जीयानां न भवति द्विगुणवर्षाकष्टं च भवतीति कारणात् वर्षाकाले तरुमूलस्यितेरुपयोगः, अन्यषा कातरत्वप्रसक्तेः । एते त्रयोऽपि योगा उत्तरगुणाः कथ्यन्ते । (पालहि भावविसुद्धो) (पालय भाव-विशुद्धः) तत्वभावनानिर्मलमनाः सन्निति भावः । (पूयालाष्टं न ईहंसो) पूजा-लामख्यात्यादिकमनीहमानोऽनिच्छन्निति श्रेषः ।

भावहि पढमं तच्चं विदियं तदियं चउत्थपंचमयं । तियरणसुद्धो अप्पं अणाइणिहणं तिवग्गहरं ॥११२॥ भावय प्रथमं तत्वं द्वितीयं तृतीयं चतुर्यंपञ्चमकम् ।

त्रिकरणशुद्धः आत्मानं अमादिनिधनं त्रिवर्गहरम् ॥११२॥ (भावहि रढमं तच्चं) भावय हे जोव । स्वं श्रद्धेहि, किं तत् ? प्रथमं तत्वं जीवतत्वं । (विदियं) द्वितीयं तत्वमजीवसंज्ञं पुद्गलघर्माधर्मकालाकाशलक्षणं ।

को इच्छा न कर, बाह्यशयन आतापन योग ओर वृक्ष मुल जिवास आदि गुणोंका पालन कर ॥ १११ ॥

विशेषार्थं - शोत कालमें खुले स्थान पर शयन करना अभ्रवास योग है। उष्ण कालमें पवंतकी शिखर आदि संतप्त स्थानों पर बैठकर ध्यान करना आतापन योग है और वर्षाकाल में वृक्षके नीचे बैठकर घ्यान करना वर्षायोग है। वृक्षके नीचे बैठने पर मुनिके शरीर पर जो पानीकी बू दें पड़ती हैं वे प्रासुक होती हैं अतः उससे जल-कायिक जीवोंका विघात महीं होता तथा थोड़ा थोड़ा पानी पड़नेसे वर्षाका कष्ट दूना होता है इसलिये वर्षाकाल में वृक्षके नीचे बैठकर वर्षायोग करने की विधि है अन्यथा मुनिके कातर-पनेका प्रसङ्ग आता है। ये तीनों योग उत्तर गुण कहलाते हैं। हे मुने ! पूजा लाभ-लौकिक मान प्रतिष्ठा आदिकी इच्छा न रखता हुआ तू विशुद्ध भावसे इन उत्तर गुणोंका पालन कर ॥१११॥

गायार्थं — हे जोव ! तू प्रथम-तत्व-जीव, द्वितीयतत्व-अजीव, तृतोय-तत्व-आस्रव चतुर्थं तत्व-बन्ध, पञ्चमतत्व-संवर, षष्ठ तत्व-निर्जरा और सप्तमतत्व-मोक्ष इन सात तत्वोंको श्रद्धा कर तथा मन वचन कायसे घुढ होता हुआ, धर्मं अर्च एवं काम रूप त्रिवर्यं को हरने वाले — मोक्ष स्वरूप अनादि निधन आस्मा का ध्याव कर ॥११९॥ (तदियं) तृतीयं तत्वं आस्रवनामधेयं। (चउत्वपंचमयं) चतुयं बन्धनामधेयं, पंचमकं तत्वं संवराभिधानं निर्जरा षष्ठं तत्वं, मोक्षः सप्तमं तत्वं। (तिरयणसुद्वो अप्पं) त्रिकरणशुद्धः सन्नात्मानं भावहि भावय, अल्पं वा स्तोककालं अन्तमूंहूर्त-कालं। कथंभूतमात्मानं, (अणाइणिहणं) अनादिनिधनं आद्यन्तरहितं। (तिव-ग्गहरं) धर्मार्थकामवर्गत्रयवर्णितं सर्वकर्मक्षयलक्षणमोक्षसहितं निक्चयात्।

जाव ण भावइ तच्चं जाव ण चितेइ चितणीयाइं । ताव ण पावइ जीवो जरमरणविवज्जियं ठाणं ॥११३॥

यावन्न भावयति तत्वं यावन्न चितयति चितनीयानि ।

तावन्न प्राप्नोति जीवः जरमरणविर्वोजतं स्थानं ॥११३॥ (जाव ण भावद्द तज्जं) यावस्कार्लं न भावयति, किं ? तत्वं सप्तकंख्यं जीवाजीवास्त्रवबन्मसंवरनिर्जरामोक्षरुक्षणं, तन्मध्ये निजात्मतत्वं मोक्ककारणं अपरे

विशेषार्थ—यहां आचार्य ने गाथाके पूर्वाधेंमें सम्यग्दृष्टि जीवको बहिमुंखी प्रवृत्ति का वर्णन करते हुए कहा है कि तू जीव अजीव आदि सात तत्वोंको भावना कर और अन्तमुंखी प्रवृत्ति का वर्णन करते हुए उत्तरार्ध में कहा है कि तू मन वचन कायसे शुद्ध होकर अर्थात् तीनों योगों के निमित्तसे होनेवाली बहिमुंखी प्रवृत्ति से निवृत्त होकर अर्थात् तीनों योगों के निमित्तसे होनेवाली बहिमुंखी प्रवृत्ति से निवृत्त होकर अर्थात् तीनों योगों के निमित्तसे होनेवाली बहिमुंखी प्रवृत्ति से निवृत्त होकर अगदि निधन एक आत्मा की भावना कर । तेरी यह आत्मा धर्म, अर्थ और काम इस त्रिवर्ग से रहित होकर अपवर्ग रूप है-मोक्ष रूप है।

जिसमें चेतना पाई जाती है वह जोव है। चेतना से रहित अजीव तत्व है। इसके पुद्गल धर्म अधर्म आकाश और काल ये पाँच भेद हैं। इन पाँच भेदों में धर्म अधर्म आकाश और काल दे पाँच भेद हैं। इन पाँच भेदों में धर्म अधर्म आकाश और काल दे दस जीवका कुछ अहित नहीं होता परन्तु पुद्गल द्रव्यके भेद कर्म-वर्गणा और नो कर्म वर्गणाके संयोग से इस जीवकी संसार दशा बन रही है। आत्मा और कर्म वर्गणाके संयोग जिन भावों से होता है वह आस्तव है। आत्मा और कर्म प्रदेशों का क्षीर नीर के समान एक क्षेत्रावगाह होना बन्ध है। नवीन आस्तव का इक जाना संवर है। सत्ता में स्थित कर्मोका एकदेश क्षय होना निर्जरा है और समस्त कर्म परमाणुओंका सदा के लिये आत्म-प्रदेशों से सम्बन्ध छूट जाना मोक्ष है।।११२॥

गावार्य-जब तक यह जीव न तत्व को भावना करता है और न जिन्तनीय पदायों का चिन्तवन करता है तब तक जरा और मरण से रहित परम निर्वाण पद को नहीं प्राप्त होता है ॥११३॥ जीवाः शुद्धवुद्धं कस्वभावा निजात्मा च। अजीवतत्व पुद्गलो घर्मोऽत्रमंः काल आकाशश्च । तत्रष्टस्रग्वनितादिरूपः पुद्गलपर्यायो मोहोत्पादको राग्नजनकः, शस्त्रविषकण्टकशत्रुप्रभृतिद्वेषकारकपुद्गलपर्यायः । सोऽप्यास्रवनिमित्ताः कमंबन्ध-कारणं, शुद्धआहारादिर्गृ हीताः शुद्धघ्यानाघ्ययनकारणत्वात् संवरनिजंराकारणत्वात् सोऽपि मोक्षप्रत्ययः, अशुद्ध आहारो गृहीतः चर्मादिस्पृष्टतया दुर्घ्यानोत्पादकत्वादा-स्रवधन्धकारणं । इत्यादि पुद्गलस्य हेयोपादेययुक्तितया विचारो ज्ञातव्यः । अथवा पुद्गलद्रव्यमेव जीवस्य बन्धकारणत्वाद्दुःखकारणं परमार्थतया हेय एव । घर्मस्तु नरकादिगतिसहायकारकत्वाद्वेयः स्वग्रंमोक्षगतिकारकत्वादुपादेयः । अघर्मस्तु स्वर्गमोक्षस्थानादौ मुनीनां घ्यानाघ्ययनादिकाले स्थितिहेतुत्वादुपादेयः । नरकनिको-

षट्प्रामृते

विशेषार्थ-तत्व सात हैं-१ जोव, २ अजीव, ३ आस्रव, ४ बन्ध, ५ संवर, ६ निजरा और ७ मोक्ष । इन सात तत्वोंमें निज बात्म-तत्व मोक्ष का कारण है क्योंकि वही उगदान कारण होनेसे मोक्ष पर्याय रूप परिणमन करता है। निमित्त कारण की अपेक्षा शुद्ध बुद्धेक-स्वभाव से युक्त अन्य जीव तथा अपनी पूर्वं पर्याय गत आत्मां भी मौसका कारण है। अजीव तत्वके पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश ये पांच भेद हैं। इनमें इष्ट माला तथा स्त्री आदि रूप पूद्गल पर्याय मोहको उत्पन्न करने वाली तथा रागको जनक है और शस्त्र विष कण्टक तथा शत्रु आदि रूप पुद्गल पर्याय द्वेष-जनक है। वह पुद्गल द्रव्य आस्रव का निमित्त तथा कर्म-बन्धका कारण है। यदि शुद्ध आहार आदि रूप पुद्गल द्रव्य ग्रहण में आता है तो वह शुद्ध ध्यान तथा अध्ययन का कारण होनेसे संवर और निर्जराका कारण होता है तथा परम्परा से मोक्ष का भी कारण होता है। यदि चमड़े आदिके स्पर्श से दूषित अशुद्ध आहार रूप पुद्गल द्रव्य ग्रहण में आता है तो वह खोटे ध्यानका उत्पादक होनेसे भास्तव और बन्ध काही कारण होता है। इत्यादि रूप से पुद्गल द्रव्य की हेयता और उपादेयताका विचार करना चाहिये । अथवा परमार्थसे पूद्गल द्रव्य ही बन्ध का कारण होनेसे जीवके दुःखका कारण है, अतः वह हैय ही है] धर्म द्रव्य नरकादि गतियों की प्राप्ति में सहायता करता है इसलिये हेय है और स्वर्ग तथा मोक्षकी प्राप्ति में सहायक होनेसे उपादेय है । अधर्म द्रव्य स्वर्ग तथा मोक्ष सम्बन्धी स्थितिका तथा ध्यान अध्ययन आदिके काल में मुनियों की स्थिति का हेतु होनेसे उपादेय है तया नरक और निकोत आदि की स्थिति का कारण होनेसे हेय है। काल द्रव्य स्वर्ग और मोक्ष आदि में होनेवाली वर्तनाका कारण होनेसे उपादेव है और नरकादि

-4. ११४]

तादिस्थितिकारणत्वे हेयः । कालस्तु स्वगंमोक्षादौ वर्तनाप्रस्ययत्वादुपादेयः, नरकादि-पर्यायवर्तनाकारणत्वाद्वेयः । आकाश्वः समवसरणस्वगंमोक्षादाववकाशदायकगुणत्वादु-पादेयः । नरकनिगोदादिस्थानावकाशवानदायकत्वाद्धयेः । निनिदानविशिष्टती-र्यंकरनामकर्मास्तव उपादेयो मोक्षहेतुत्वात् । नरकादिगर्तादिनिपातहेतुत्वादन्य आसत्रो हेयः । तीर्थंकरनामकर्महेतुश्चतुर्विधोऽपि बन्ध उपादेयः, संसारपर्यंटनकारी-तरो बन्धो हेयः । संवर उपादेयः । निर्जरा चोपादेया मुनीनां सम्बन्धिनी । मोक्षः सर्वथाप्युपादेयोऽनन्तजानादिचतुष्टयकारणत्वादित्ति सप्ततत्वानि यावन्न भावयत्ति । (जाव ण चितेइ चितणीयाइं) यावन्न चिन्तयति चिन्तनीयानि धर्म्यश्वेकच्ध्या-नानि अनुप्रेक्षादीनि च । (ताव ण पावइ जीवो) तावन्न प्राप्नोति जीव आत्मा । (जरणमरणदिवज्जियं ठाणं) जरामरणविर्वाजतं स्थानं परमनिर्वाणपदमिति शेषः ।

पावं ^भपयइ असेसं पुण्णभसेसं च[े]पयइ परिणामो । परिणामादो बंधो मुक्लो जिणसासणे दिट्ठो ॥११४॥ पापं पचति अशेष पुण्यमशेषं च पचति परिणामः । परिणामाद्बन्धः मोक्षो जित्रशासने दिष्टः ॥११४॥

पर्यायों की वर्तनाका कारण होनेसे हेय है। आकाश द्रव्य समवसरण स्वगं तथा मोक्ष आदि में अवकाश देनेवाले गुण से युक्त होनेके कारण उपादेव है और नरक निगोदादि स्थानों में अवकाश दान देनेके कारण हेय है। मोक्षका कारण होनेसे निदान रहित तीर्थंकर प्रकृति नामक सातिशय पुण्य प्रकृति का आसव उपादेय है और नरकादि गर्त में पतन का कारण होनेसे अन्य आस्रव हेय है। तीर्थंकर नाम कर्म का हेतु होनेसे चारों प्रकार का बन्ध उपादेय है तथा संसार परिश्रमण का कारण होनेसे बन्य बन्ध हेय है। संवर उपादेय है | मुनियों की निर्जरा भी उपादेय है, और अनन्त ज्ञानदर्शन आदि चतुष्टयका कारण होनेसे मोक्ष सभी प्रकार से उपादेय है।]

इस तरह से जब तक यह जोव सात तत्वों की भावना नहीं करता है तया धर्म्य ध्यान, जुक्ल घ्यान और अनित्य आदि अनुप्रेक्षा का चिन्तवन नहीं करता है तब तक जरा और मरण से रहित स्थानको अर्थात् परम निर्वाण पदको नहीं प्राप्त होता है ॥११३॥

गायार्थ-माव हो समस्त पाप को पचाता है अर्थात् निर्जीण

१-२. पं० जयचन्द्रेण स्वकृत-धवनिकायां 'पयइ' स्थाने 'हवइ' पाठः स्वीकृतः ।

(पानं पदइ असेसं) पापं पचति अक्षेथं, सनं पापं परिणामः पचति निर्जरतति निजात्मपरिणामो भावना निःक्षेवः पापं दूरीकरोति । उक्तं च----

नाममात्रकयया परात्मनो भूरिजन्मकृतपापसंसयः ।

सोधदृत्तरुचयस्तु तव्गताः कुवंते हि जगतां पति नरम् ॥ १ ॥ (पुण्णुमसेसं च पयइ परिणामो) पुण्यं अशेषं सर्वं च सर्वमपि पचति विस्तार-यति मेरुयति, कोऽसौ ? परिणामः निजझुढवुढी कस्वभावात्मभावना जिनसम्यक्स्वं च । तथा चोक्तं---

> एकापि समर्थेयं जिनभक्तिदुंगैति निवारयितुम्। पुण्यानि च पूरयितुं दातुं मुक्तिश्चियं क्वतिनः ॥ १ ॥

.....

करता है, भाव ही समस्त पुष्य को पचाता है अर्थात् विस्तीर्णं करता है, जिन--शासनमें भावसे ही बन्ध और भाव से ही मोक्ष कहा गया है ॥११४॥

विशेषार्थ—परिणाम का अर्थ भाव है और मावसे निज शुद्ध बुद्धैक-स्वभाव आत्मा को भावना अथवा जिन-सम्यक्त्व का ग्रहण होता है। निज शुद्ध-बुद्धैक-स्वभाव की भावना से सम्यग्दर्शन का बोध होता है भावकी मुख्यतासे कथन करते हुए आचार्य कहते हैं कि माव ही समस्त पापको पचाता है अर्थात् निजात्म परिणाम रूप मावना ही समस्त पापको दूर करती है। जैसा कि कहा गया है---

नाममात्र---परमात्माके नाम सात्र की कथा से अनेक जन्मों में किये हुए पाप का क्षय हो जाता है फिर परमात्मा-सम्बन्धी झान चारित्र और श्रद्धा हो तो वे इस मनुष्यको जगत् का नाथ बना देती हैं अर्थात् ग्रह जीव सिद्ध पदको प्राप्त हो जाता है।

परिणाम अर्थात् भाव ही इस जोवके समस्त पुण्यको पचाता है अर्थात् `विस्तृत करता है अथवा पुण्य की प्राप्ति करता है । जैसा कि कहा गया है---

एकापि---यह एक जिन-भक्ति ही दुर्गति का निवारण करने के लिये

१. संस्कृत टीकाकार ने 'पचति का अर्थ' विस्तृत करता है, किया अवस्य है परन्तु पचि विस्तारे घातुका रूप पठन्वयति होता है, पचति नहीं । अतः जो अर्थ 'पाप पचति अधेर्थ' में लगाया है वही यहाँ भी लगाना चाहिये। . अर्थात् पूच्य कर्यको निर्वरा भी परिणाम से ही होता है। -4. {{X]

सद्वेद्यधुभायुर्नामगोत्ररूक्षणं तीर्यंकरनामकर्मासाघारणपुष्यं परिणामेनैवोपा-ज्यंत इत्यर्थः । तथा चोक्तं---

परिणाममेव कारणमाहुः खलु पुष्यपापयोर्निपुणाः ।

तस्मात्युण्योपचयः पापापचयक्त्त सुविषेयः ॥ १ ॥ तथा च समयसारः----

ैवात्मक्कर्ता परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये । स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्ममावन ॥ १ ॥ (परिणामादो बंघो) परिणामाद्वन्धः प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशरुक्षणध्चप्तु-विघो बन्धः पुष्यसम्बन्धी पापसम्बन्धी च बन्धः संजायते । उक्तं च---पयडिट्ठिदिअणुभागण्पदेसबंघा दु घटुविघो बंघो । जोगा पयडिपदेसा ठिदिअणुभागा कसायदो होति ॥ १ ॥

समर्थ है, जिन-भक्ति ही पुष्य की पूर्णता करने में समर्थ है और जिन-भक्ति ही कुशल मनुष्यको मोक्ष लक्ष्मी प्रदान करने में समर्थ है ।

'सद्वेखगुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यस्' इस उल्लेख के अनुसार सातावेद-नीय शुभ आयुक्षुभनाम और शुभगोत्र पुण्यकर्म कहलाते हैं, तीर्थंकर नामकर्म भी असाधारण-लोकोत्तर पुण्यकर्म है इसकी प्राप्ति भी परिणाम अर्णात् भावसे ही होती है। जैसा कि कहा गया है।

यही मागम का सार है----

वारमकुत-अग्ला के द्वारा किये हुए रागादि परिणाम को निमित्त मात्र पाकर पुद्गल द्रव्य स्वयं ही कर्मरूप परिणम जाते हैं अर्थात् पुद्गल इव्यक्तमेरूप परिणमन करनेमें आरमाका रागादि भाव निमित्तकारण और पुद्गलद्रव्य स्वयं उपादान कारण है----

प्रकृति स्थिति अनुभाग और प्रदेश के भेद से बारह प्रकारका अथवा पुण्य और पापके मेदसे दो प्रकारका बन्ध परिणाम-मादसे ही होता है । जैसा कि कहा गया है---

१. पुरुषाचं सिंहभूपाने ।

H

(मुक्सो जिणसासणे दिट्ठो) मोक्षः सर्वकर्मप्रक्ष यलक्षणोपलक्षितं परमनिर्वाणं जिनशासने श्रीमद्भगदर्हत्सर्वज्ञवीतरागमञासने निर्दिष्टः प्रतिपादितः परिणामादेवेति निष्चयः, स मोक्षकारणभूतः परिणाम आत्मन्येकलोलीभाव इति भावार्यः ।

मिच्छत्त तह कसायाऽसंजमजोगेहि असुहलेसेहि । बंधइ असुहं कम्मं जिणवयमपरम्मुहो जीवो ॥११५॥ मिष्यात्वं तथा कषाया असंयमयोगैरश्वभलेख्यैः ।

बध्नाति अशुभं कर्म जिनवचनपराङ् मुखो जीवः ॥११९॥ (मिच्छत्त तह कसाया) मिष्यात्वं पंचविषं तथा तेनैद पंचप्रकारमिष्यात्व-प्रकारेण कषायाः पंचविंशतिभेदाः । (असंजमजोमेहि असुहलेसेहि) असंयमो द्वाद्वशविधः, योगाः पंचदशभेदाः, एवं सप्तपंचाशत्कर्मबन्धप्रत्ययाः कारणानि आसव-भेदा भवन्तीति संक्षेपार्थः । कयंभूतैरेतैरासवैः, अधुभलेक्ष्यैं: कृष्णनीलकापोतलेक्या-बलेन संजातैः । (बंधइ असुहं कम्मं) बघ्माति अधुभं कर्म । (जिणवयणपरम्मुहो जीवो) जिनवचनपराङ् मुखो जीवो मिष्यादृष्टिरात्मा ।

के निमित्त से होते हैं और स्थिति तथा अनुभाग बन्ध कषाय से होते हैं।

समस्त कर्मोंके क्षयसे प्राप्त होने वाला जो परम-निर्वाण है वह भो परिणाम से हो होता है, ऐसा वीतराग सर्वज्ञ देवके शासन में कहा गया है। यहाँ परिणाम शब्द से आत्मा में एकलोलीभाव---तन्मयोभावका ग्रहण करना चाहिये क्योंकि ऐसा भाव ही-परम यथाख्यातचारित्र ही मोक्षका साक्षात् कारण है। ११४ ।।

गायार्थ--जिन-वचन से पराङ्मुख जीव, मिथ्यात्व, कषाय, असंयम, योग और अशुभ छेश्या के द्वारा अशुभ कर्म का बन्ध करता है ॥११५॥

तव्विवरीओ बंघइ सुहकम्मं भावसुद्धिमावण्णो । दुविहण्यारं बंधइ संखेवेणेव ैवज्जरियं ॥११६॥

तद्विपरीतः बध्नाति शुभक्तमं भावशुद्धिमापन्तः । द्विविधप्र चारं बध्नाति संक्षेपेणैव कथितं ॥११६॥

(तं विवरीओ बंधइ) तस्माज्जिनवचनपराङ् मुखास्मिध्यादृष्टिजीवाहिपरीतः सम्यग्दृष्टिजीवः बघ्नाति, किं? शुभकर्म-पुण्यकर्म सद्वेद्यशुमायुर्नामगोत्रलक्षणं तीर्थंकरत्वं । कथंभूतो जीवः, (भावसुद्धिमावण्णो) भावक्षुद्धिमापन्नः परिणाम-शुद्धि प्राप्तः सद्दृष्टिजीव इत्यर्थः (दुविहपयारं बंधइ) द्विविधप्रचारं द्वयोर्भेदयोः प्रचारं बघ्माति । (संखेवेणेव वज्जरियं) संक्षेपेणैव कथितं प्रतिपादितम् ।

विशेषार्थ- उपरकी गाथामें जिन-वचनसे पराङ्मुख मिथ्यादृष्टि जीवका कथन किया था, उससे विपरीत जिन-वचनका श्रद्धालु सम्यादृष्टि होता है। सम्यग्दृष्टि जीव भावों की शुद्धिको प्राप्त होता हुआ पुष्य कर्म-का बन्ध करता है। सातावेदनीय, शुभायु-शुभनाम और शुभगोत्र तथा तीर्थंकर प्रकृति ये पुण्य कर्म हैं। इस प्रकार पुण्य और पाप कर्मके बन्ध करने वालों का संक्षेपसे कथन किया है॥११६॥

(अथवा इस गायाका यह भाव ध्वनित होता है कि मिथ्यादृष्टि से विपरीत---सम्यग्दृष्टि जीव तो शुभ कर्म-पुण्य कर्मको बौधता है और भावशुद्धि अर्थात् शुद्धोपयोग को प्राप्त हुआ जीव पुण्य और पाप दोनों प्रकारके कर्मोंके प्रचारको क्षर्थात् आस्रव को रोकता है। अशुभोपयोगका धारक जोव, अशुभ कर्मका बन्ध करता है, शुभोपयोगका धारक जीव पुण्य कर्मका बन्ध करता है और शुद्धोपयोगका धारक जीव दोनों प्रकार-के कर्मोंके प्रचार को रोकता है। यद्यपि ग्यारहवें से तेरहवें गुणस्थान तक सातावेदनीय का बन्ध होता है तथापि स्थिति और अनुभाग बन्धसे रहित होनेके कारण वह बन्ध नहीं के बराबर ही है।)

 "कयेर्वज्जर-पञ्जर-सास-सास-साह-चव-जप्प-पिसुण-बोलोब्कलाः ।" इत्यनेन एतेषु दशारेखेषु कश्यतेर्वज्जरादेक्षो खातः ।

षट्प्रामृते

णाणावरणावीहिं य अद्ठविकम्मेहि वेढिओ य अहं । डहिऊण इच्हि पयडमि अणंतणाणाइगुणचित्तां ॥११७॥

ज्ञानावरणादिभिश्च अष्टभिः कर्मभिः वेष्टितश्चाहम् । दग्ष्वेदानीं प्रकटयामि अनन्तज्ञानादिगुणचेतनां ॥११७॥

(माणावरणादोहि य) ज्ञानावरणादिभिश्च ज्ञानावरणमानिर्येषां दर्शनावरण-वेदनीयमोहनीयायूर्नामगोत्रान्तरावाणां तानि ज्ञानावरणादीनि तैर्ज्ञानावरणादिभिः । वकारादुत्तरप्रकृतिभिरष्टचर्त्वारिशदधिकशराप्रकृतिभिः । तथा उत्तरोत्तरप्रकृतिभिर-संख्याताभिरहं वेष्टित इति सम्बन्धः । (अट्ठविकम्मेहि वेढ्रिओ य अहं) अष्ट-भिरपि कर्मभिवेष्टितस्थाहं । अपिशब्दादनन्तकर्ममिरहं वेष्टितो वर्ते । (इह्रिज इण्हि पद्यडमि) दण्ड्या सस्मीकृत्य तानि कर्माणि इत्युपस्कारः । इण्हि इदानी, प्रकटयामि । (अणंतणाणाइगुर्णावता) अनन्तज्ञानादिगुणचेतनामिति तात्मर्यम् ॥

सीलसहस्सट्ठारस चउरासीगुणगणाण लक्खाइं । भावहि अणुदिणु णिहिलं असप्पलावेण कि बहुमा ॥११८॥

शोलसहस्राष्टादश चतुरशीतिगुणगणानां लक्षाणि । भावय अनुदिनं निखिलं असत्प्रलापेन कि बहुना ॥११८॥

(सीलसहस्पद्ठारस) घोलसहस्राध्टादश घीलानां सहस्राणि मध्टादश भवन्ति तानि त्वं सावयेति सम्बन्धः । (चउरासीगुणगणाण लक्साईं) चतुर-

गायार्थ-सम्प्रग्नानी मुनि विचार करता है कि मैं ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंसे देष्टित हो रहा हूँ सो अब इन्हें भस्म कर अनन्त अनादि गुण-रूप चेतनाको प्रकट करता हूँ ॥११७॥

विशेषार्थ-ज्ञानावरण दर्शनावरण वेदनीय मोहनीय आयु नाम गोत्र और अन्तरायके मेदसे कमोंकी मूल प्रकृतियों आठ हैं। इनकी उत्तर प्रकृतियों एकसी अड़तालीस हैं तथा उत्तर प्रकृतियों की उत्तर प्रकृतियों असंख्यात हैं। इन सब कमोंसे मैं अनादिकाल से वेष्टित चला वा रहा हूँ अब अपने पुरुषार्थ से इन्हें भस्म कर मैं अनन्त ज्ञानादि गुणों का स्वामी बनू गा, ऐसा सम्यग्ज्ञानी जीव विचार करता है ॥१९७॥

गापार्थ-हे मुने ! अत्यधिक असत्प्रलाप करने से क्या लाभ है ? तू प्रतिदिन क्षील के अट्ठारह हजार तथा उत्तरगुणोंके चौरासी लाख मेदोंका बारबार चिन्तवन कर ॥११८॥ -4. 226]

शीलिगुणगणानां लक्षाणि । (मावहि अणुदिणु णिहिलं) मावय अनुदिनं अर्हानशं समग्र' । (असप्पलावेण किं बहुणा) असत्प्रलापेन सिध्यानशंकवषनेन बहुना बहत्तरेण किं---न किमपि ।

अष्टादशशीलसहस्राणां विवरणं यथा- अधुभमनोवचनकाययोगाः शुभेन मनसा हत्यन्ते इति त्रीणि शीलानि । अशुभमनोवचनकाय योगा शुभेन वचसा हत्यन्ते इति षट् शीलानि अशुभमनोवचनकाययोगः शुभेन काययोगेन हत्यन्ते इति नव शोलानि । तानि चतसुभिः संशाभिगुंणितानि घट्त्रिंशच्छीलानि भवन्ति । तानि पंचभिरिन्द्रियवयैगुंणितानि अशीत्यप्रशतं भवन्ति । पृथ्व्यप्तेजोवायुक्नस्पति-होन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियपंचेन्द्रियसंझ्यसंझिदयासिर्दशभिगुंणितानि अष्टादशस्तानि भवन्ति । उत्तमक्षमादिभिदंशभिगुंणितानि अष्टादशसहस्त्राणि भवन्ति । अथवा

विशेषार्थ—आचार्य कहते हैं कि निरर्थंक विस्तारसे लाभ नहीं | तू बट्ठारह हजार शोल और चौरासो लाख उत्तरगुर्थों का चिन्तवन कर | अब शोलके अट्ठारह हजार मेदों का वर्णन करते हैं---

मन वचन और कायके मेदसे योगके तीन मेद हैं ये तीनों योग शुभ-अशुभके मेद से दो प्रकारके होते हैं तथा परस्पर में मिश्रित रहते हैं इसलिये इनके नौ मेद हो जाते हैं । जैसे अशुभ मन, वचन, काय योग, शुभ मनसे चाते जाते हैं इसलिये तीन मेद हुए । फिर वे हो तीन अशुभ योग, शुभ वचन से घाते जाते हैं इसलिये तीन मेद हुए और फिर वे ही तीन अशुभ योग, शुभ कायसे घाते जाते हैं इसलिये तीन मेद हुए और फिर वे ही तीन अशुभ योग, शुभ कायसे घाते जाते हैं इसलिये तीन मेद हुए और फिर वे ही तीन अशुभ योग, शुभ कायसे घाते जाते हैं इसलिये तीन मेद हुए, संब मिलाकर योग के ९ भेद हुए [कहीं कहीं कृत कारित अनुमोदना और मन वचन काय इन तीन योगोंके संमिश्रण से शीलके नौ मेद सिद्ध किये हैं] इन नौ मेदों में चार संज्ञाओंका गुणा करने पर छत्तीस मेद होते हैं । उन छत्तीस मेदों में पांच इन्द्रिय-जयोंका गुणा करने पर एकसौ अस्सी मेद होते हैं । उनमें पूथिदी-कायिक, जल्कायिक, तेजस्कायिक, बायु-कायिक, वनस्पति-कायिक, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, सैनी एठचेन्द्रिय और असैनी पञ्चेन्द्रिय इन दस प्रकारके खीवोंकी दयाके इस मेदोंका गुणा करने पर अट्ठारहसौ मेद होते हैं । उनमें उत्तम झमा आदि दम घमोंका गुणा करने पर अट्ठारह हजार मेद होते हैं ।

अयवाइन अट्ठारहहजार भेदोंने सतरहहजार दो सौ अस्सी चेतन सम्बन्धी और सातसी बीस अचेतन सम्बन्धी मेद हैं। अब अचेतन सम्बन्धी मेदोंका कथन करते है---- मशीत्यग्रद्विशताधिकसप्तदशसहसाणि चैतन्यसम्बन्धीनि भवन्ति विशत्यविकसप्त-शतानि अचेतनसम्बन्धीनि भवन्ति । तत्राचेतनकृतभेदाः कथ्यन्ते काछ-पाषाण-लेप-कृताः स्त्रियो मनःकायकृतगुणिताः षट् । कृतकारितानुमतगुणिता अष्टादश । स्पर्शादिपंचगुणिता नवत्तिः । इव्यभावगुणिता अशीत्यग्रं शतं । कषायैदवर्सुभि-गुणिता विशत्यधिकानि सप्तशतानि । चैतन्यसम्बन्धीनि अशीत्यधिकद्विशताग्रसप्त-दशसहस्राणि, तद्यथा-देवी मानुषी तिरश्ची चेति स्त्रियस्तित्तः कृतकारितानुमत-युणिता नव भवन्ति । मनोवचनकायगुणिताः सप्तविंशतिभंवन्ति । स्पर्श्वरस्तिम् वर्णशब्दैगुणिताः पंचत्रिशदधिकं शतं । इव्यभावगुणिताः सप्तत्यधिकद्वेशते । आहारभयमैथुनपरिग्रहचतसुसंजाभिःगुणिता अशोत्यधिकं सहस्रं । अनन्तानुबन्ध्य-प्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसंज्वल्लचयुत्ष्कषोडशकषायैर्गुं णिता अशीत्यधिकद्विशताग्रसप्त-दशसहस्राणि भवन्तीति चेतनसम्बन्धिपेदाः । ७२० + १७२८०=१८००० ।

काष्ठ, पाषाण और लेपसे निर्मित होनेके कारण स्त्रियोंके तोन भेद हैं। इन तीन प्रकारकी स्त्रियों में मनोयोग तथा काययोग का गुणा करने पर छह भेद हुए। इन छह भेदोंमें कृत, कारित और अनुमोदनाका गुणा करने पर अट्ठारह भेद हुए। इन अट्ठारह भेदों में स्पर्श आदि पाँचका गुणा करने पर नब्बे भेद हुए इनमें द्रव्य और भावका गुणा करने पर एकसी अस्सी भेद हुए और इनमें चार कषायोंका गुणा करने पर सात सौ बोस भेद होते हैं।

आगे चेतन-सम्बन्धो सतरह हजार दो सौ अस्सी भेद कहते हें----

चेतन स्त्रीके देवी, मानुषी और तिरश्चीकी अपेक्षा तीन भेद हैं उनमें कृत, कारित और अनुमोदना के तीन भेदोंका गुणा करने पर नौ भेद हुए । उनमें मन, वचन, काय इन तीन योगोंका गुणा करने पर सत्ताईस भेद हुए, उनमें स्पर्श रस यन्ध वर्ण और शब्द इन पाँचका गुणा करने पर एकमौ पैंतीस भेद हुए । उनमें द्रव्य और भावकी अपेक्षा दो का गुणा करने पर दो सौ सत्तर भेद हुए । उनमें द्रव्य और भावकी अपेक्षा दो का गुणा करने पर दो सौ सत्तर भेद हुए । उनमें आहार, भय, मैथुन और परिग्रह इन चार संज्ञाओंका गुणा करने पर एक हजार अस्सी भेद हुए । उनमें अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान और संज्वलन सम्बन्धी सोलह कषायोंका गुणा करने पर सत्रह हजार दो सौ अस्सी भेद होते हैं । इस तरह अचेतन स्त्रीके ७२० और चेतन स्त्रीके १७२८०, दोनोंके मिलाकर १८००० भेद होते हैं ।

भाषप्राभृतम्

ैअथ चतुरशीतिरुझगुणा विद्रियन्ते । तद्यया—हिंसा, अनृतं, स्तेयं, मैथुनं, परिग्रहः, कोवः, मानः, माया, लोभः, जुगुप्साः, भयं, अरतिः, रतिः, मनोदुष्टत्वं, वचनदुष्टत्वं, कायदुष्टत्वं, मिप्पात्वं, प्रमादं पिश्चुनत्वं, अज्ञानं, इन्द्रियानिग्रहलं, एकविंशतिदोषा वर्जनीयाः । अतिक्रमष्यतिक्रमातिचारानाचारा एते चत्वारो दोषा बर्ज्यन्ते ।

अतिक्रमो मानसशुद्धहानिव्यंतिक्रमो यो विषयाभिलाषः । तथातिचारः करणालसत्वं भंगो ह्यनाचार इह दतानां ॥१॥ गुणानां चतुरशीतिभवति । सा चतुरशीति ^२दशकायसंयमेर्गु णिता चतुर-शीतिशतानि भवन्ति । ते दश्वशीलाविराधनंगुं णिताः चतुरशीतिसहस्राणि गुणा भवन्ति । कास्ताः शीलविराधनाः ? स्त्रीसंसर्गः १, सरसाहारः २, सुगन्वसंस्कारः ३, कोमलशयनासनं ४, शरीरमण्डनं ५, गीतवादित्रश्रवणं ६, अर्थग्रहणं ७,

अब चौरासी लाख उत्तरगुणों का वर्णन करते हैं---

१ हिंसा, २ झूठ, ३ चोरी, ४ मैथुन, ५ परिग्रह, ६, कोध, ७ मान, ८ माया, ९ लोभ, १० जुगुप्सा, ११ भय, १२ अरति, १३ रति, १४ मनो-दुष्टता, १५ वचन दुष्टता, १६ कायदुष्टता, १७ मिथ्यात्व, १८ प्रमाद, १९ पिशुनॅता, २० अज्ञान और २१ इन्द्रियानिग्रह ये इक्कीस दोष छोड़ने के योग्य हैं। इनकी अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार इन चार दोषों द्वारा प्रवृत्ति होती है अतः इक्कीस में चारका गुणा करने पर चौरासी मेद होते हैं।

अतिकमो----भनकी शुद्धिका नष्ट होना अतिक्रम है, विषयोंको अभि-लाषा होना व्यतिक्रम है, कियाके करनेमें आलस्य करना अतिचार है और व्रतोंका भङ्ग करना अनाचार है।

उत्पर कहे चौरासी भेदोंमें दश काय सम्बन्धो, दश संयमों अर्थात् सौ का गुणा करने पर चौरासी सौ भेद होते हैं। उनमें शोलकी दश विराधनाओंका गुणा करने पर चौरासी हजार भेद होते हैं।

प्रक्त---शील की दश विराधनाएँ कौन कौन हैं ?

उत्तर-१ स्त्री संसर्ग, २ सरसाहार, ३ सुगन्धसंस्कार, ४ कोमल शयनासन, ५ शरीर मण्डन, ६ गीत वादित्र श्रवण, ७ अर्थ ग्रहण,

- दर्श्वनप्राभृतस्य नवमगायायाः टीकायामपि वर्णनमस्ति ।
- स्वकायसंग्रमग्रेदैः पृथिव्यास्त्रित् वीवस्त्रगासीरत्वर्थः ।

कुधीळसंसगः ८, राजसेवा ९, रात्रिसंचरणं १० । ते आकम्पिसादिदशालोचना-परिहुतिभिदंशभिगुं णिताः चत्वारिंशस्सहस्राधिकाष्टलक्षाणि भवन्ति । ते दशमि-वर्भेः गुणिताश्चतुरशीतिलक्षा गुणा भवन्ति । अथ दशकायसंयमाः के ? एकेन्द्रिया-दिपंचेन्द्रियपर्यन्तानां जीवानां रक्षा प्राणसंयमः पंचविधः । स्पर्शनादीनां पंचाना-मिन्द्रियाणां प्रसरपरिहार इन्द्रियसंयमः पंचविधः । एते दशकायसंयमा झातव्याः । दशोलोचन दोषा यथा---

आकॉपिय अणुमाणिय जं दिठ्ठं वायरं च सुहर्म च ।

छन्नं सद्दाउलयं बहजणमञ्चल्त तस्सेवी ॥१॥

अस्या अयमर्थः----आलोचनां कुवंन् शरीरे कम्प उत्पद्यते भर्य करोतीत्या-कम्प्तिदोधः । अणुमाणिय-अनुमानेन दोषं कथयति यथोक्सं न कथयतीत्यनुमान-

८ कुशील संसगं, ९ राजसेवा और १० रात्रि संचरण, ये शीलको दस विराधनाएँ हैं।

चौरासी हजार मेदों में आकस्पित आदि आलोचना के दश दोषों के परिहार सम्बन्धी दश मेदोंका गुणा करनेसे आठ लाख चालीस हजार मेद होते हैं तथा इन भेदों में दश धर्मोंका गुणा करने पर चौरासी लाख मेद हो जाते हैं।

प्रश्न-दश प्रकारका कायसंयम कौन है ?

उत्तर--पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक, ये पाँच स्थावर तथा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरि-ुन्द्रिय संज्ञि पञ्चेन्द्रिय और असेनी पञ्चेन्द्रिय इन दश कायके जीवोंका दश प्रकारका प्राणि-संयम और दश प्रकारका इन्द्रिय संयम ये दश काय-संयम हैं, इनके परस्पर गुणा करने पर १०० भेद हो जाते हैं।

उत्तर—आकम्पित, अनुमानित, दृष्ट, बादर, सूक्ष्म, छन्न, शब्दा-कुलित, बहुजन, अव्यक्त और तत्सेवी ये आलोचना के दश दोष हैं ।

इनका विवरण इस प्रकार है---

आकम्पित—आलोचना करते समय शरोर में कम्पन होना अर्थात् कहीं अधिक दण्ड न दे दें इस भयसे शरीरका कांपने लग जाना आकम्पित दोष है। अथवा ऐसी दयनीय मुद्रा बनाकर आलोचना करना जिससे आचार्य अपराधी साधुको दुर्बल समझ अधिक दण्ड न दे दें।

२ अनुमानित--जिसमें मुनि, अनुमान से दोष कहता है यथार्थं नहीं कहता, वह अनुमान योग है ।

३ जो पाप किसी ने देख लिया है उसे ही कहता है अन्यदोषको जानता हुआ भी नहीं कहता है, यह दृष्ट दोष है।

४ स्थूर्ल पापको कहता है सूक्ष्म पापको नहीं कहता है, यह बादर दोष है।

५ सूक्ष्म पापको ही कहता है स्यूल को नहीं, यह सूक्ष्म दोष है।

६ जब आचार्य के पास कोई नहीं होता है तब एकान्त में पापको प्रकट करता है, यह छन्न दोष है।

७ जिस समय वसतिका आदि में महान् कोलाहल हो रहा हो उस समय दोष कहना शब्दाकुलित दोष है ।

्र जिस समय बहुत से श्रावक आदि इकट्ठे हुए हों उस समय दोष कहना बहुजन दोष है।

े ९ अव्यक्त रूप से दोष कहता है स्पष्ट नहीं कहता यह अव्यक्त दोष है ।

१० जो पाप गुरुके आगे प्रकाशित किया है उसे सर्व प्रकारसे छोड़ता नहीं बार बार उसे ही करता है यह तत्सेवी दोष है, अथवा जो आचार्य उस दोषका स्वयं सेवन करता हो वह तत्सेवी है। दश धर्म प्रसिद्ध हैं अतः उनका कथन नहीं किया है। १११८॥

झायहि धम्मं सुक्कं अट्टरउद्दं च झाण मुसूण । रुद्दट्टं झाइयाइं इमेण जीवेण चिरकालं ॥११९॥

ध्याय धर्म्यं शुक्लं आतं रोद्रं च ध्यानं मुक्त्वा । आतंरीद्रे ध्याते अनेन जीवेन चिरकालम् ॥ ११९ ॥

अत्तराष्ट्र ज्यात जगग जावग विस्तालम् ॥ ९९९॥ (झायहि घम्मं सुक्कं) व्याय---एकाग्रेण चिन्तय । कि ? कमंतापन्नं घर्मं धर्मादनपेतं घर्म्यं । आझागायविपाकसंस्थानलक्षणं चतुर्विघं घर्म्य ध्यानमित्युमास्मा-मिसूचनात् । तथा श्रीगौतमस्वामिवचनाद्धर्म्यं ध्यानं दशविघं । तद्यथा । अपाय-विचयः १, उपायदिचयः २, विपाकविचयः ३, विरागदिचयः ४, लोकविचयः ५, भवविचयः ६, जीवविचयः ७, आझाविचयः ८ संस्थानविच्यः ९, संसार-विचयरुचेति १० । तथा शुन्रुध्यानं घ्याय पृथक्त्ववित्तर्वाचारं १, एकत्ववित्तर्कीनी-

गाषार्थ—इस जोवने आत्त'ध्यान तथा रौद्रध्यान चिरकाल से घ्याये हैं अब इन्हें छोड़कर धर्म्यंध्यान और शुक्लध्यानका चिन्तवन कर ॥११९॥

विशेषार्थ----आतंध्यान और रौद्रघ्यान ये दोनों खोटे घ्यान हैं । यह जीव इनका चिरकाल से चिन्तवन करता आ रहा है। आचार्य कहते हैं कि मुने ! अब तू आत्त और रोद्र इन दो ध्यानों को छोड़कर धर्म्यध्यान और शुक्लघ्यान का चिन्तवन कर । उमास्वामी के कहे अनुसार धर्म्य-ध्यान के आज्ञा-विचय, अपाय विचय, विपाक विचय और संस्थान विचय ये चार भेद हैं तथा गौतम स्वामी के कहे अनुसार धर्म्यघ्यान के दश भेद हैं जैसे १ अपाय विचय, २ उपायविचय, ३ विपाकविचय, ४ विराग-विचय, ५ लोकविचय, ६ भवविचय, ७ जीवविचय, ८ आज्ञाविचय, ९ संस्थानविचय और १० संसार विचय। इनका संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है---जीवको वर्तमान में दु:ख-पूर्ण अवस्था है, इसका विचार करना अपाय विचय है। इस दुःखसे बचने के उपाय सम्यग्दर्शनादिका चिन्तवन करना उपाय विचय हैं। किस कर्मके उदय से क्या फल मिलता है ऐसा विचार करना सो विपाकविचय है। रागी जीव सदा दुःख पाता है तथा राग से हो बन्ध होता है, आत्मा का स्वभाव रागसे रहित है, ऐसा चिन्तवन करना सो विराग विचय है। यह चौदह राजू प्रमाण लोक, जीवोंसे खचाखच भरा हुआ है इसमें एक भी स्थान ऐसा नहीं जहां में

१. "आज्ञापार्यावगकसंस्थानविषयाय त्रम्य" इति सूत्रसूचनात् ।

भाषप्राभृतम्

उत्पन्न न हुआ हूँ इस प्रकार लोकका चिन्तवन करना लोक विचय है ! जीवके चतुर्गति रूप भवों का विचार करना सो भवविचय है । जीवों की भिन्न भिन्न जातियोंका चिन्तवन करना सो जीव विचय है । भगवान् बीतराग सर्वज्ञ हैं, अतः उनको वाणो में असत्यता का कुछ भी कारण नहीं है वह आज्ञा मात्र से ग्राह्य है, ऐसा चिन्तवन करना आज्ञा विचय है । लोक अथवा छहों द्रव्यों की आकृतिका चिन्तन करना यहाँ संस्थान-विचय धर्म ध्यान है तथा पश्च परावर्तनोंका स्वरूप चिन्तवन करना संसार विचय है ।

शुक्लध्यान के चार भेद हैं---पृथक्त्व क्तिर्क वीचार, एकत्व वितर्क अवीचार, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती और व्युपरतक्रियानिवर्ति जिसमें आगम के किसी पद, बाक्य या अर्थ का तोन योगोंके आलम्बनसे चिन्तन किया जाता है वह पृथक्त्ववितर्क वीचार नामका शुक्लध्यान है। इस ध्यानमें अर्थ, ज्यञ्जन (शब्द) और गोगोंमें संक्रमण-परिवर्तन होता रहता है तथा यह अष्टम गुणस्थान से प्रारम्भ होकर ग्यारहवें गुणस्थान तक चल्ता 🖁 । जिसमें आगम के किसी पद, वाक्य या अर्थका तीन योगों में से किसी एक योगके आलम्बन से चिन्तन होता है उसे एकत्ववितर्क शुक्लध्यान कहते हैं। इसमें अर्थ, शब्द और योगोंका संक्रमण नहीं होता है। जिस पद वाक्य या अर्थ को लेकर जिस योगके दारा घ्यान प्रारम्भ किया था उसी-से अन्तमु हूर्त तक चालू रहता है। यह बारहवें गुणस्थान में प्रकट होता है। तेरहवें गुणस्थान के अन्तिम अन्तमुंहूर्त में जब मनोयोग और वचन योग पूर्णरूपसे नष्ट हो चुकते हैं तथा काय योग भी अत्यन्त सूक्ष्म दशा में शेष रह जाता है तब सूक्ष्म किया प्रतिपाति नामका शुक्लध्यान प्रकट होता है और चौदहवें गुणस्थान में जब काय योग भी नष्ट हो चुकता है तथा सब प्रकार की हलन चलन रूप कियाएँ समाप्त हो जाती हैं तब व्यपरतक्रियानिवर्ति नामका शुबलध्यान प्रकट होता है। धर्म्यध्यान परम्परा से और शुक्लध्यान साक्षात् मोक्षका कारण है परन्त् शुक्लध्यान का जो प्रथम पाया उपशम श्रेणीवाले जीवके होता है उसमें मोक्षकी अनिवायं कारणता नहीं है क्योंकि ऐसा जीव मरण होनेपर स्वर्ग जाता है।

406

नन्दः १, अनृतानन्दः २, स्तेयानन्दः ३, संरक्षणानन्दस्वेति ४। (श्ह्ट्ट् झाइयाइं) रौद्रार्से द्वे ध्याने ज्यातानि (ध्याते) (इमेण जीवेण विरकालं) इमेन प्रत्यज्ञी-भूतेन जीवेनात्मना चिरकाल अनादिकालं। धर्म्यं शुक्लं च ध्यानद्वयं न घ्यातमिति भावार्यः ।

जे के वि दव्वसवणा इंदियसुहआउला ण छिर्दति । छिदंति भावसवणा झाणकुठारेहि भवस्वसं ॥१२०॥

ये केपि द्रव्यश्रवणा इन्द्रियसुखाकुला न छिन्दन्ति । छिन्दन्ति भावश्रवणा ध्यानक्ठारेण भववृक्षम् ॥१२०॥

(जे के वि दव्वसवणा) ये केऽपि द्रव्यश्रवणाः शरीरमात्रेण दिगम्बरा अन्त-जिनसम्यक्त्वशून्याः । (इंदियसुहआउला ण छिंदति) इन्द्रियाणां स्पर्शनस्वाण-चक्षुःश्रोत्रलक्षणानां विषयाणां सुखेषु आकुलाः । कदा उर्बोक्परि विवक्षितवनितायाः पादौ विन्यस्य स्तनकनककल्कोपरि करपल्लवौ विघृत्य सुखषुम्बनमधुरपानमहं करिष्यामीति स्पशनेन्द्रियसुखलम्पटाः धृतपानपक्वान्नव्याच्य्वनशात्यन्नाविस्वादनहं

आत्तेध्यान चार प्रकारका है---१ इष्ट वियोग, २ अनिष्ट संयोग, ३ पीडा चिन्तन (वेदना जन्य) और ४ निदान । रौद्रध्यान के भी चार मेद हैं---१ हिंसानन्द, २ मृषानन्द, ३ चौर्यानन्द और ४ संरक्षणानन्द (परिग्रहानन्द) । इन सबके अर्थ नामसे स्पष्ट हैं तथा पहले इनका विवेचन हो भी चुका है ॥११९॥

गायार्थ---जो कोई द्रव्य-श्रमण हैं अर्थात् शरोर मात्र से दिगम्बर हैं तथा इन्द्रियसम्बन्धी सुस्रों से आकुल रहते हैं वे ध्यान रूपी कुठार के ढारा संसार रूपी वृक्षको नहीं छेदते हैं। इसके विपरीत जो भाव श्रमण हैं तथा इन्द्रिय-सम्बन्धी सुखों से निराकुल हैं वे ध्यानरूपी कुठार से संसार रूपी वृक्षको छेदते हैं।।१२०।।

विशेषार्थ—जो मुनि अन्तरङ्ग में जिनसम्यक्त्व से शून्य हैं तथा स्पर्शन रसना धाण चक्षु और श्रोत्र इन पांच इन्द्रियों के विषय-सम्बन्धी सुखोंकी आकुलता में निमग्न रहते हैं । मुनि होनेपर भी पूर्व संस्कार वश स्त्रियों के आलिङ्गनादि की इच्छा रखते हैं, घृत, पेय पदार्थ, पक्वान्न, बथवा धान आदि अनाज के स्वाद की अभिलाषा रखते हैं, कपूर, कस्तूरी, चन्दन, अगुद तथा फूल आदि की सुगन्धि के सेवन की इच्छा रखते हैं, स्त्रियोंके सुन्दर अङ्गोपाङ्गों को देखने की अभिलाषा रखते हैं और वीणा- ग्रहोष्थामि, कपू रकस्तूरीखन्दनागुरुपृष्पादिपरिमलपानं विधास्यामि, स्तनजधनवदन-विछोचनविकोकनं प्रणेष्थामि, वीणावंशस्यरमण्डलनवयौवनकामिनीगीतमिश्रं रवं श्रोष्थामीति पंचेन्द्रियविषयमाकांक्षन् व्याकुलोऽयं जीवो भवति । तत्सवं पूर्वमनन्त-शोऽनुभूतमेव संसारे, न किमपि दुर्लमं वर्तते अन्यत्रात्मस्वरूपसमुत्यन्त्मसुखामृत-पानात् । तथा चोक्तं---

> अदृष्टं किं किंभस्पृष्टं किमनाझातमञ्जूतं । किमनास्वादितं येन पुनर्नवमिवेक्यते ॥ १ ॥

तया चोक्तं----

अर्जुं यद्यपि योषितां प्रविलसत्ताः कण्यलावण्यवद् भूषावत्तदपि प्रमोदजनकं भूढात्मनां नो सताम् । ैउच्छूनैबंहुभिः शवैरतितरां कीर्णदमशानस्थल लक्ष्या तुष्यति कृष्णकाकनिकरो नो राजहंसब्रजः ॥ १ ॥

बौसुरी के स्वर तथा नव यौवन से युक्त स्त्रियोंके गीत मिश्रित शब्दोंको सुनने की भावना रखते हैं वे निरन्तर व्याकुल रहते हैं। पञ्च्चेन्द्रियों के ये सब विषय इस जीवने संसार में पहले अनन्त बार भोगे हैं, इन विषयों में कुछ भी दुर्लंभ नहीं है यदि दुर्लंभ है तो आत्मस्वरूप से समुतन्न सुख रूपी अमृत का पान करना ही दुर्लंभ है। जैसा कि कहा भी है---

वर्षृष्टं--इस संसार में ऐसा कोई पदार्यं नहीं है जिसे इस जीवने पहले न देखा हो, न छुआ हो, न सूँँ घा हो, न सुना हो और न खाया हो जिससे नवीनके समान दिखाई दे।

🕔 ऐसा ही और भी कहा है—

अङ्गं—यौवन और सौन्दयं से युक्त स्त्रियोंका अलंकृत शरीर यद्यपि मूसं मनुष्यों के लिये जानन्द उत्पन्न करने वाला है तथापि सत्पुरुषों के लिये नहीं। क्योंकि सूजकर फूले हुए बहुत से मुदोंसे अत्यन्त व्याप्त इमधान को पाकर काले कौवों का समूह ही संतुष्ट होता है, राजहंसोंका समुद्द नहीं।

१. उच्छाः म० ।

۶.

षट्प्राभृते

तथा च—

समसुखक्षीलितमनसामणनमपि हेषमेति किमु कामाः । स्थलमनि दहति झषाणां किमङ्ग ! पुनरङ्गमङ्गाराः ॥ १ ॥ इत्यमृतचंद्रः । तथा च शुभचंद्रभगवान्---

वरमालिङ्गिता कुढा चलल्लोलात्र सर्पिणी ।

न पुनः कौतुकेनापि नारी नरकपद्धतिः ॥ १ ॥ तथाच शुंभर्चद्रः—

मालतीव मृदून्यासां विदिः चाङ्गानि योषितां । दारयिष्यन्ति मर्माणि विपाके ज्ञास्यसि स्वयं ॥ १ ॥ काकः क्रुमिकुलाकीर्णे करङ्के कुस्ते रतिम् । यथा तद्वद्वराकोऽयं कामी स्त्रीगुह्यमन्यने ॥ २ ॥ तया च सोमदेवस्वामो चूर्णिगद्येन वैराग्यभावनामाह—

युवजनमृगाणां बन्धायानाय इव बनितासु कुन्तरुकलापः । पुन**नवम**हीस्हारोह-

और भो कहा है—

समसुख-जिनका मन समता सुखसे सम्पन्न है उन्हें भोजन भी द्वेष-को प्राप्त होता है तब काम भोगोंकी बात ही क्या है ? मछलियों के लिये जब स्थल भी जलाता है तब अङ्गारों की क्या बात है ?

यह अमृतचन्द्र स्वामी का वचन है।

इसी प्रकार श्भचन्द्र भगवान् ने भी कहा है-

वरमालिङ्गिता—कृद्ध एवं चेञ्चल नागिन का आलिङ्गन कर लेना अच्छा परन्तु कौतुक से भी स्त्रीका आलिङ्गन करना अच्छा नहीं है क्योंकि वह नरक का मार्ग है।

और भी शुभचन्द्र भगवान् ने कहा है---

मालतीव—इन स्त्रियों के शरीर को तूमालती के समान कोमल मानता है सो भले ही मानता रह परन्तु ये विपाक काल में तेरे मर्म को विदीर्घ कर देंगे, यह तूस्वयं जान जायगा।

काक—जिस प्रकार कौआ कीड़ों के समूह से व्याप्त नर पञ्जर में प्रीति करता है उसी प्रकार यह बेचारा कामी मनुष्य स्त्रीके गुह्य भागके मन्यन में प्रीति करता है।

इसी प्रकार सोमदेव स्वामीने चूर्णि गद्य द्वारा वैराग्य भावना का वर्णन किया है----

युवजन-स्त्रियों के शरीर में जो केशोंका समूह है वह तरुण सनुष्य

नोपाय इव अल्लतोरुकासः । संसारसागरपरिभ्रामाय नौयुग्ममिव लोचनयुगलं । दुःखाटवीविनिपातकरमिव वाचि माघुर्यं । मृत्युग्जप्रलोभनकवल इवायमघरपल्लवः । स्पर्शविषकन्दोद्भेद इव पगोधरविनिवेश: । यमपाशवेष्टनमिव भुजलतालि जुनं । उत्पत्तिजरामरणवर्त्मेव बलीनां त्रयं । आलंभनकुण्डमिव नाभिमण्डलं । अखिल-गुणविलोपनखरेखेव रोमराजीविनिर्गमः । कालब्यालनिवासभूमिरिव मेखलास्थानं । भ्यसनागमनतोरणमिवोठनिसणिं । अपि च—

> भूषंनुर्दृष्टयो वाणास्त्रिभूलं च बल्त्रियम् । हृदयं कर्तरी यासां ताः कयं न नु चण्डिकाः ॥ १ ॥ गुणप्रामविलोपेषु साक्षादुर्नीतयः स्त्रियः । स्वर्गापवर्गमार्गस्य निसर्गादर्गला इव ॥ २ ॥ गूथकीटो यथा गूथे रति कुरुत एव हि । ् तथा स्थ्यमेध्यसंजातः कामी स्त्रीविद्रतो भवेत् ॥ ३ ॥

रूपी मृगों को बौधने के लिये मानों जाल ही है। अकुटीरूपी लता का जो उल्लास है वह पुनर्जन्म रूपी वृक्ष पर चढ़ने के लिये मानों उपाय ही है। नेत्र युगल संमार रूपी सागर में घुमाने के लिये मानों दो नौकाएँ ही है। वेवनों की मघुरता मानों दु:ख रूपी अटवी में गिराने का एक साधन ही है। दिवनों की मघुरता मानों दु:ख रूपी अटवी में गिराने का एक साधन ही है। स्त्रियोंका यह अधर पल्लव मत्यु रूपी हाथी को लुभाने के लिये मानों प्राप्त ही है। स्तन मण्डल स्पर्श विष (जिसके छूनेके साथ ही मृत्यु हो जाय, ऐसा विष) के कन्दका मानों प्रादुर्भाव ही है। मुजलता का बालिज्जन मानों यमराजका पाश वेष्टन ही हो अर्थात् बाँधने की रस्सी (स्त्रेज) ही हो। नाभिके नीचे विद्यमान तीन रेखा रूप बल्तित्रय मानों जन्म जरा और मरण का मार्ग ही हो। नाभिमण्डल मानों हत्याका कुण्ड ही हो। रोमराजी को उत्पत्ति मानों समस्त गुणों को नष्ट करने के लिये नख का रेखा ही है। नितम्ब मण्डल मानों यम रूपी सर्प की निवास भूमि ही है और जांचों की रचना मानों दु:खोंके आगमन के लिये निमित सोरण हो है। और भी कहा है—

भूषनु--जिनको भोंह धनुष है, दृष्टि बाण है, वलित्रय त्रिशूल है और हृदय कैंची है वे स्त्रियां चण्डिका कैसे नहीं हैं अर्थात् अवस्य हैं।

गुणग्राम-स्त्रयां गुणोंके समूह को लुप्त करने के लिये साक्षात् हुर्नीति स्वरूप हैं और स्वर्ग तथा मोझके मार्गको रोकने के लिये आर्गल हैं।

गुपकीहो-जिस प्रकार विष्ठा का कोड़ा विष्ठा में ही प्रीति करता

एवमिन्द्रियसुखाकुला इन्द्रियसुखविह्वला न छिन्दन्ति भववृक्षमिति सम्बन्धः । (छिदति भावसवणा) छिन्दन्ति द्विधाकुवंन्ति क्षण्डयन्ति भववृक्षमिति सम्बन्धः । के छिन्दन्ति ? भावश्रवणा जिनसम्यक्त्वरत्नमण्डितहृ्दयस्थलाः । (झाणकुडारेक भवदनसं) ध्यानं धर्म्यध्यानं ज्वन्लध्धानं च तदेव कुठारः कुठान् वृक्षान् इर्यात गृह्णातीति कुठारः, ध्यानमेव कुठारो ध्यानकुठारः कर्मतरस्कन्धविदारणत्यात् । भववृक्षं संसारतरुभिति श्वेषः ।

जह दीवो गब्भहरे माख्यवाहाविवज्जिओ जलइ । तह रायाणिलरहिओ झाणपईवो वि पज्जलई ॥१२१॥ यथा दीपः गर्भगृहे मास्तबाधाविर्वाजतो ज्वलति । तथा रागानिलरहितो ध्यानप्रदीपोऽपि प्रज्वर्लत ॥१२१॥

(जह दोवो गब्भहरे) यथा दोपो ज्योतिः गर्भगृहेऽपवरके स्थितः सन् । (मारुयवाहाविवज्जिओ जलइ) मारुतस्य सम्बन्धिनी मास्तोत्पन्ना वायोः संजाता, बाधा प्रचलाचिःकरणलक्षणा पीडा तस्या विवर्जितो ज्वलति ज्वलनक्रियां कुर्वाण उच्चोतं करोति । (तह रायानिलरहिलो) तथा रागानिलरहितो वनितालिंगनादि-प्रीतिलझणरागानिलरहितो रागझंझावातविवर्जितो मुनेर्ध्यानप्रदीपः प्रज्वलति-उच्चोतं करोति । उक्तं च---

है उसी प्रकार स्त्री के अपवित्र स्थान--योनि से उत्पन्न हुआ कामी पुरुष स्त्री के अमेष्य स्थान में प्रीति करता है ।

इस तरह जो मुनि इन्द्रिय सुख से विद्वुल हैं वे संसार रूपी वृक्षको नहीं छेदते हैं। किन्तु जो भावश्रमण हैं जिनका हृदय सम्यक्त्वरूपी रत्नसे अलंकृत है वे धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान रूपी कुठार से संसार रूपी वृक्ष को छेदते हैं।

गायार्थ--जिस प्रकार गर्भ गृहमें स्थित दीपक वायु की बाधा से रहित होकर प्रज्वलित होता रहता है उसी प्रकार राग-रूपी वायु से रहित घ्यान-रूपी दीपक भी प्रज्वलित होता रहता है ।।१२१॥

विशेषार्थ—जिस घरमें वायु का संचार नहीं होता है उसमें दीपक की लौ स्थिर होकर जलती रहतो है। उसी प्रकार जिस मुनिके हुदय में राग रूपी वायुका प्रवेश नहीं होता उसमें ध्यान रूपी दीपक अच्छो तरह प्रज्वलित रहता है। इसलिये हे मुने! अपने हुदय को राग रूपी झंझा. वायुसे बचाओ। कहा भी है— जसुहिरणच्छीहियवडइ तासुन बंभुवियारि । एवकहि केम समंति वड ! वे संढा पडियारि ॥ १ ॥ उक्तं च—

वृष्ट्याकुलरचण्डमरुज्झंझावातः प्रकीतितः । झायहि पंच वि गुरवे मंगलचउसरणलोयपरियरिए । णरसुरखेयरमहिए आराहणणायगे वीरे ।।१२२३। ध्याय पञ्चापि गुरून् मङ्गलचतुःशरणलोकपरिकरितान् । नरसुरखेचरमहितान् आराधनानायकान् वोरान् ॥१२२॥

(झायहि पंच वि गुरवे) घ्याय त्वं हे मुने ! हे आत्मन् ! पंचापि अहंस्तिद्धा-चार्योपाध्यायसवंसाधून् पंचपरमेष्ठितः कथंभूतान् पंचापि गुरुन्, (मंगलचउसरज-लोयपरियरिए) मंगललोकोत्तमग्नरणभूतानित्यवः । मलं पापं गालयन्ति मूलादुःभूछ-यन्ति निमूलकाष् कषन्तीति मंगलं । अथवा मंगं सुझं परमानन्दलक्षणं लान्ति ददतीति मंगलं । एते पंचपरमेष्ठिनो मंगलमित्युच्यन्ते । लोकेषु भूर्भूवः स्वर्लझपेषु उत्तमा उत्कृष्टा लोकोत्तमाः । एते पंचपुरवः सर्वेभ्योऽपि वर्या उध्यन्ते । तचा

जसु — ज़िसके हूदय पट में मृगनयनी विद्यमान है उसके हूदय में ब्रह्मचर्य का विचार नहीं रह सकता क्योंकि अरे मूर्ख ! एक म्यान में दो तल्बारें नहीं रहती हैं।

झंझावायुका रुक्षण कोषकारों ने कहा है—

वृष्टपाकुळ---वर्षकि साथ जो तेज वायु चलती है उसे झंझावायु कहते हैं। यहां आचार्य ने रागको झंझावायु की उपमा दी है।

गायार्थ--हे आत्मन् ! तू उन पाँचों परमेष्ठियों का ध्यान कर जो चार मङ्गल, चार शरण और चार लोकोत्तम रूप हैं, मनुष्य देव और विद्याधरों से पूजित हैं, आराधनाओं के स्वामी हैं तथा कर्म रूप शवुओं को नष्ट करने में वीर हैं।।१२२।।

विश्लेवार्थ----अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाघु ये पाँच परमेष्ठी हैं। ये हो पाँच गुरु कहलाते हैं। ये सब मज्जल रूप हैं, लोकोत्तम इस हैं और शरणभूत हैं। जो मम् अर्थात् पापको गला दे. जड़से उल्लाड कर नष्ट कर दे, वह मज्जल है अथवा जो मज्ज्ज अर्थात् परमानन्द रूप सुसको देवे वह मज्ज्ल है। पञ्च परमेष्ठी इन दोनों लक्षणोंसे मज्जूह रूप हैं। ये पञ्चपरमेष्ठी अधोलोक व मध्यलोक सथा ऊर्घ्वलोक ३३ धारणं-अतिमयनसमर्या इमे पंचगुरवो जीवाना शरणं प्रतिपाद्यन्ते, चउसरण-शब्देनामी, अर्हन्मगलं अर्हल्लोकोत्तमाः अर्हज्छरणं। सिद्धर्मगलं सिद्धलोकोत्तमा सिद्धशरणं। साधुमंगलं साधुलोकोत्तमाः साधुशरणं। साधुशब्देनाचार्योपाध्याय-सर्वसाववो लम्पन्ते। तथा केवलिप्रणोतधर्ममंगलं धर्मलोकोत्तमाः धर्मशरणं चेति द्वादशमंत्राः सूचिताः चतुःशब्देनेति ज्ञातव्यं। एते द्वादशमंत्राः प्रणवपूर्वमाया-बीजब्रह्मब् तबीजाक्षरपूर्वा ललाटपट्टे गोक्षीरवर्णा लिखिताश्चिन्त्यन्ते तथा चोक्त---

> वेत्रद्वन्द्वे श्रवणयुगले नासिकाग्ने ललाटे वक्ष्त्रे नाभौ शिरसि हृदये तालुनि भूयुगान्ते । व्यानस्यानाम्यमलभतिभिः कीर्तितान्यत्र देहे तेष्वेकस्मिन् विगतविषयं चित्तमालम्बनीयम् ॥१॥

इन तीनों लोकों में उत्तम अर्थात् उत्कृष्ट हैं। इसलिये लोकोत्तम कहलाते हैं। तथा जीवोंकी पीड़ा के नष्ट करने में समर्थ हैं इसलिये शरण कहे जाते हैं। आचार्यों ने पञ्च परमेष्ठियोंका निम्नलिखित बारह मन्त्रों में समावेश किया है—

१ अहंन्म ङ्गलम, २ अहंल्लोकोत्तमा, ३ बहंच्छरणम्, ४ सिद्ध-मङ्गलम्, ५ सिद्ध-लोकोत्तमा, ६ सिद्ध-शरणम्, ७ साधु मङ्गलं, ८ साधु-लोकोत्तमा:, ९ साधुशरणम्, १० केवलिप्रणीत घर्ममङ्गलं, ११ घर्म लोकोत्तमा:, १२ धर्म-शरणम् । इन बारह मन्त्रों का चत्तारि दण्डक के साथ निम्न प्रकार पाठ होता है---

'चत्तारिमङ्गलं अरहंता मङ्गलं सिद्धा मङ्गलं साहू मंगलं केवलि पण्णत्तो धम्मो मंगलं। चत्तारि लोगुत्तमा अरहंता लोगुत्तमा सिद्धालोगुत्तमा साहुलोगुत्तमा केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो । चत्तारि सरणं पवज्जामि अरहंते सरणं पवज्जामि सिद्धे सरणं पवज्जामि साहुसरणं पवज्जामि केवलि पण्णत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि ।'

इस मन्त्रों में साधु शब्द से आचार्य उपाध्याय और सर्वसाधुका ग्रहण होता है। इन मन्त्रोंको प्रणव बीज अर्थात् ॐ, माया बीज अर्थात् हों और ब्रह्मश्रुत बीज अर्थात् श्रीम् इन बीजाक्षरों के साथ गायके दूधके समान सफेद वर्ण द्वारा ल्लाट तट में लिख कर ध्याया जाता है। जेसा कि कहा गया है---

मेत्रइन्द्रे—निर्मल बुद्धिके धारक आचायोंने इस शरीर में नेत्र युगल, कर्मयुगल, नासिकां का वग्नभाग, ललाट, मुख, नाभि, शिर, हृ्दय, तालु -4. १२३]

लोयपरियरिए—लोकोत्तमभंत्रसहितानित्यर्थः । तथा चानादिसिद्धमंत्रो गुरू-पदेशानमन्तव्यः । सूरिणा तु सूरिमंत्रः तिलकमंत्रो वृहल्लघुरुच निजगुरूसमीपादु-पदेशात् घ्यातव्य इति भावार्थः । (णरसुरखेयरमहिए) कयंभूतान् पंचगुरून्, नरसुरखेचरमहितान् नराणां नृपादीनां, सुराणां सौधर्मेन्द्रादीनां, खेचराणां विद्याधरचक्रवर्तिनां, महितान् अध्दविधपूजाद्रव्यैभविपूजाभित्त्व पूजितान् । पुनः कयंभूतान् पंचगुरून्, (आराहणाणायमे) आराधनाया नायकान् स्वामिन् इत्यर्थः । (बीरे) वीरान् कर्मशत्रक्षयकरणसमर्था निति भावार्थः ।

णाणमयबिमलसीयलसलिलं पाऊण भविय भावेण ।

वाहिजरमरणवेयणडाहविमुक्का सिवा होंति ॥१२३॥ ज्ञानमयविमल्स्रोतलसलिलं प्राप्य भव्या भावेन । व्याधिजरामरणवेदनादाहविमुक्ताः शिवा भवन्ति ॥

(णाणमयबिमलसीयलसब्लिल) ज्ञानेन निवृत्तं ज्ञानमयं सम्यग्ज्ञानयेव विमलं कर्ममलकलंकरहितं शीतलं परमाल्हादलक्षणमुखोत्पादकं एतद्विधेषणत्रयविज्ञिष्टं

और अकुटियुगल का अन्त भाग ये ध्यान के स्थान कहे हैं। इनमें से किसी एक स्थान में दूसरी ओरसे हटाकर चित्त को लगाना चाहिये।

इन मन्त्रोंके साथ अनादि सिद्ध मन्त्रको गुरुउपदेश से जानकर उसका ध्यान करना चाहिये । इसी तरह सूरिमन्त्र और छोटा बड़ा तिलक मन्त्र निज गुरुके पाससे प्राप्त कर उसका भी ध्यान करना चाहिये । ये पांचों परमेध्ठो मनुष्य देव और विद्याधर राजाओं के द्वारा पूजा की आठ द्रव्यों और भाव पूजा के द्वारा पूजित हैं । चतुर्विध आराधना के नायक हैं और कर्म रूप शत्र ओंका क्षय करने में समर्थ हैं ॥ १२२॥

गायायं—भव्य जीव, ज्ञानरूपी निर्मंल जलको प्राप्त कर जिन मक्तिके प्रमावसे जरा और मरण रूप रोगकी वेदना तथा दाहसे मुक्त होते हुए सिद्ध हो जाते हैं ।।१२३।।

बिझेवार्थ—जो रत्नत्रयको प्राप्त करनेकी योग्यता रखते हैं वे भव्य कहलाते हैं। ऐसे भव्य जीव, भाव अर्थात् जिन भक्ति अथवा जिन-सम्यक्त से ज्ञान रूपी निर्मल-रागादि कर्ममल कलव्कूसे रहित और शीतल—परमाल्हाद रूप सुखके उत्पादक जलको प्राप्तकर व्याधिरूप जरा मरणको वेदना तथा दाहसे मुक्त होते हुए सिद्ध हो जाते हैं। यथार्थ मे सम्यक्त्व रूपी लक्ष्मी संव सुखको देनेवाली है जैसा कि कहा गया है—

षट्प्राभृते

सलिल जलमिति रूपकं। (पाऊण) ज्ञानपानीयं प्राप्य लम्ब्वा। के ते, (भविष) रत्नत्रययोग्या भव्यजीवाः (भावेण) भावेन जिनभक्त्या। उक्तं च— ैसुखयतु सुखपूर्मिः कामिनं कामिनीव सुतमिव जननी मा शुद्धशीला भुनक्तु। कुलमिव गुणभूषा कन्यका सपुनीता-ज्जिनपतिपदपद्मप्रेक्षिणी दृष्टिलक्ष्मोः ॥१॥

(वाहिजरमरणवेवणडाहविमुक्का सिवा होति) व्याधिजरामरणवेदनादाह-विमुक्ताः शिवा भवन्ति । ज्ञानजलं पीत्वा ज्ञानजलमाकर्ष्य तन्मध्ये बुडित्वा तदद-गाह्य परममंगलभूताः शिवाः सिद्धा भवन्ति । इति सम्यग्ज्ञानमाहात्म्यं मगवता श्रीक्रुन्दकून्दाचार्येण सूरिणोद्भावित भवतीति भावार्थः ।

जह वीयम्मि य दड्ढे ण वि रोहद्द अंकुरो य महिवीढे । तह कम्मवीयदड्ढे भवंकुरो भावसवणाणं ॥१२४॥ यथा बीजे दग्धे नैव रोहति अंकुररच महीपीठे। तथा कर्मबीजे दग्धे भवांकुरो भावश्रवणानां ॥१२४॥ (बह बीयम्मि य दड्ढे) यथा येनप्रकारेण बीजे दग्धे भस्मीइते। (ण वि रोहइ बंकुरो य महिवीढे) नापि नैव रोहति प्रादुर्भवति । कौऽसौ ? अंकुरः अभिनव

सुस्रयतु--जिस प्रकार सुखकी मूमि स्त्रो कामो पुरुषको सुसी करती है उसी प्रकार सुखकी भूमि तथा जिनेन्द्र भगवान् के चरण कमलोंको अवलेकन करने वाली सम्यग्दर्शन रूपी लक्ष्नो मुझे सुखी करे। जिस प्रकार शुद्ध शोल व्रतसे युक्त माता पुत्रको रक्षा करतो है उसी प्रकार निरतिवार शोलव्रतों से युक्त सम्यग्दर्शन रूपो लक्ष्मी मेरी रक्षा करे वौर जिस प्रकार गुण रूपी आभूषणों से युक्त कन्या कुलका पवित्र करती है उसी प्रकार मूलगुण रूपी आभूषणों से युक्त कन्या कुलका पवित्र करती है उसी प्रकार मूलगुण रूपी आभूषणों से युक्त कन्या कुलका पवित्र करती है उसी प्रकार मूलगुण रूपी आभूषणों से युक्त कन्या कुलका पवित्र करती है उसी प्रकार मूलगुण रूपी आभूषणों से युक्त कन्या कुलका पवित्र करती है उसी प्रकार मूलगुण रूपी आभूषणों से युक्त कन्या कुलका पवित्र करती है उसी प्रकार मूलगुण रूपी आभूषणों से सुशोभित सम्यग्दर्शन रूपी लक्ष्मी मुझे पवित्र करे। ज्ञान जल को पोकर, ज्ञान जलको सु कर और ज्ञान जलमें डूबकर भव्य जोव शिव-परममज्जल-भूत-सिद्ध होते हैं। इस प्रकार भगवान् कुन्दकुन्द आचार्यने सम्यग्जानका माहात्म्य प्रकट किया है ॥ १२३॥

गाथार्थ---जिस प्रकार बीजके जल जानेपर पृथिवो पर नया अंकुर उत्पन्न नहीं हाता है उसो प्रकार कर्म रूपो बोजके जल जाने पर भाव मुनिके संसार रूपो अंकुर उत्पन्न नहों होता ॥१२४॥

१. रलकरण्डश्रावकाचारे।

-4. 274]

धदिभक्तं उद्भिद्, महीपीठे भूमितले । चकार उक्तसमुच्चयार्थः, तेन रागद्वेष-मोहादयो भावकर्मशासादयोऽपि न रोहन्ति । (तह कम्मवीयदर्ढ) तया कर्मवीचे दथ्धे सस्मीकृते । (भवंकुरो भावसवणाणं) भवाक्डूरः संसारांकुरो जन्मलक्षणो नापि रोहति न प्रादुर्भवति । केषां, भावसवणाणं सम्यग्दृष्टिनिरम्बराणां दुर्लक्ष्यपरमात्म-भावनाभावितानां भेदज्ञानवतां । उक्तं च----

> दुर्लंक्यं जयति परं ज्योतिर्वाचां गणः कवीन्द्राणां । जलमिव वर्ष्वे यस्मिन्नलब्धमघ्यो बहिलुं ठति ॥१॥

भावसवणो वि पावद्व सुक्खाइं दुहाइं दब्खसवणो य । इय णाउं गुणदोसे भावेण य संजुदो होद्द ॥१२५॥ भावश्ववणोपि प्राप्नोति सुखानि दुःखानि द्रण्यश्रवणश्च । इति ज्ञात्वा गुणदोषान् भावेन च संयुत्तो भव ॥१२५॥

विशेषार्थ—भाव मुनियोंकी महिमा बतलाते हुए कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं कि जिस प्रकार बीजके भस्म हो जाने पर पृथिवी के पृष्ठ पर नवीन अंकुर उत्पन्न नहीं होता है उसी प्रकार कर्म रूपी बीजके भस्म हो जाने पर भाव मुनियोंके अर्थात् सम्यक्त्व सहित दिगम्बर मुद्राके धारक अथवा बड़ी कठिनाई से लक्ष्यमें आने वाले परमात्मा की भावनासे सहित भेद-विज्ञानी मुनियोंके संसाररूपी अंकुर उत्पन्न नहीं होता अर्थात् उन्हें फिर जन्म धारण नहीं करना पड़ता वे नियम से सिद्ध हो जाते हैं। यथार्थ में परमात्मा की भावना अत्यन्त दुर्लक्ष्य है जैसा कि कहा भी है—

दुर्रुंक्य—वह दुर्लंक्य परम ज्योति जयवंत रहे जिसमें बड़े-बड़े कवियोंके वचनों का समूह वज्ज में जलकी तरह भीतर प्रवेश न पाकर बाहर ही लौटता रहता है।

इस गाथामें अंकुरो य के साथ जो चकार दिया है वह समुच्चयार्थक है अतः उससे यह अर्थ सूचित किया है कि द्रव्यकमंख्पी बीजके मस्म हो जाने पर रागद्वेष मोह आदि भाव-कमंकी शाखा-प्रशाखाएँ भी नहीं उत्पन्न होती हैं।।१२४॥

गाधार्थ-भाव श्रमण-सम्यग्दृष्टि मुनि सुस्रोंको प्राप्त होता है और द्रव्य श्रमण मिथ्यादृष्टि मुनि दुःस्रोंको प्राप्त करता है इस प्रकार दोनोंके गुण और दोषोंको जानकर भाव संयुक्त होओ ॥१२५॥ (भावसवणो वि पावइ) भावश्रवणः सम्यग्दृष्टिदिगम्बरोऽपि निक्च्येन प्राप्नोति लभते । कानि प्राप्नोति (सुक्खाइं) निजात्मोत्थपरमानन्दलक्षणनिरा-कुल्तासहितपरमानन्तसोक्यानि (दुहाई दव्वसवणो य) प्राप्नोतीति दीपकोक्षोत्तात् दुःखानि शारीरमानसागन्तुकलक्षणोपलक्षितान्यसातानि द्रव्यश्रवणो मिध्याद्युद्दि-दिगम्बरः प्राप्नोति । च शब्दाद्गृहस्थोऽपि सावद्यसंयुक्तो दानपूजास्नपनरहितः पर्वोपवासकातरः चलमलिनाङ्गरहितसम्यग्दर्शनद्वींचो व्रतातिचारभग्नपुष्यपादो दूरभव्यतया गुरुषरणनिन्दक आत्महितो न भवति । लौकस्तु महापापी जिनप्रति-माच्छेदको नारकी भवति । तथा चाक्त-

षट्प्राभृते

ेसवं धर्ममयं स्वचित्स्वचिद्रपि प्रायेण पापात्मकं स्वाप्येतद्द्यवत् करोति चरितं प्रज्ञाधनानामपि । तस्मादेतदिद्दान्धरज्जुवलनं स्नानं गजस्याधवा मत्तोन्मत्तविचेष्टितं न हि हितो गेहाश्रमः सर्वथा ।। १ ।।

विशेषार्थ—जो भाव श्रमण है अर्थात् जिसने सम्यग्दर्शन के साय दिगम्बर मुद्रा धारण को है वह निज आत्मासे उत्पन्न परमानन्द रूप निराकुलता से युक्त उत्क्रष्ट अनन्त सुखोंको प्राप्त होता है और जो द्रव्य श्रमण है अर्थात् सिध्यात्व सहित दिगम्बर मुद्राको धारण करने वाला है वह शारीरिक, मानसिक और आगन्तुक दुःखों को प्राप्त होता है।

'दव्व सवणो य' यहां जो 'च' शब्द दिया है उससे सूचित होता है कि जो गृहस्थ भी सावद्य-पाप-पूर्ण कार्योसे सहित है, दान पूजा और अभिषेक से रहित है, पर्वके दिन उपवास करने में कायर है, सर्वथा निमल तो दूर रहा चल मलिन और अङ्ग्रहीन सम्यक्त्व से भी रहित है, वर्तों में अतिचार लगने से जिसका पुण्य रूपी पैर भग्न हो गया है और दूर भव्य होने से जो गुरु चरणों की निन्दा करता है वह आत्म-हितकारी नहीं है। जिन प्रतिमा का खण्डन करने वाला लोक महापायी है और इस महा-पापके फलस्वरूप मरकर नरक गतिका पात्र होता है। गृहस्थाश्रम की निन्दा करते हुए कहा गया है-

सर्वं धर्ममयं—गृहस्थाश्रम में निर्बुद्धि मनुष्यों की बात जाने दो किन्तु प्रज्ञारूपी धनके धारक बुद्धिमान् मनुष्यों का भी समस्त चरित्र कहीं तो धर्ममय होता है, कहीं पापमय होता है और कहीं उभय रूप होता

१. आत्मानुशासने ।

(इय णाउं गुणदोसे) इति ज्ञात्वा र्रंगुणदोषान् । (भावेण य संजुदो होह) भावेन जिनभक्तिनिजात्मभावनापंचगुरुवरणरेणुरंजितभारुस्थरुः संयुतो भव । एवं सति शं सुखं तेम युक्तो भव हे मुने ! हे जोवेति सम्बोधनं ।

तित्ययरगणहराइं अब्भुदयपरंपराइं सोक्खाइं । पावंति भावसहिया संखेवि जिणेहि वज्जरियं ॥१२६॥

तीयँकरगणधरादीनि अभ्युदयपरम्पराणि सौख्यानि । प्राप्नुवन्ति भावसहिताः संक्षेपेन जिनैः कथितं ॥१२६॥ (तित्ययरगणहराइं) तीर्थंकराणधरादीनि सौख्यानीति सम्बन्धः । तीर्थं-कराणां धर्मोपदेशकाले तीर्थंकराः कमलोपरि पादौ न्यस्यन्ति, अशोकवृक्षच्छायाया-मुपविशति, तेषामुपरि द्वादशयोजनमभिष्याप्य देवाः पुष्पवर्षणं विरचयन्ति, तानि

है। इसलिये गृहस्थों का चरित्र अन्धे पुरुषकी रस्सी बटने के समान है अथवा हाथोके स्नानके समान है अथवा नशा में मस्त या पागल मनुष्य को चेष्टाके समान है। यथार्थ में गृहस्थाश्रम सर्वथा हितकारी नहीं है।

इस प्रकार गुण और दोषों को जानकर हे मुने ! तू भावसे संयुक्त हो अर्थात् जिन-भक्ति और निज आत्माकी भावनासे सहित होता हुआ पञ्च गुरुओं की चरणरज से अपने ललाटतट को सुशोभित कर । ऐसा करने से ही त् र्धयुक्त अर्थात् सुखसे सहित हो सकेगा ॥१२५॥

गायार्थ-भाव सहित मुनि, तीर्थंकर और गणधर आदिके अभ्युदयों को परम्परा रूप अनेक सुखोंको प्राप्त होता है ऐसा संक्षेप से जिनेन्द्र भगवान ने कहा है ॥१२६॥

जिनकी हूदय-स्थली सम्यक्तव रूपी चिन्तामणि से अलंकृत है ऐसे भाव मुनि तीर्थंकर और गणधर आदिके सुखोंको प्राप्त होते हैं। धर्मोपदेश के समय तीर्थंकर कमलों के ऊपर पेर रखते हैं, ' अशोक वृक्षकी छाया में विराजमान होते हैं, उनके ऊपर बारह योजन तक की भूमिको व्याप्त कर देव पुष्प-वर्षा करते हैं, उन पुष्पों के मुख ऊपर की ओर, बोंड़ियाँ नोचेकी ओर रहती हैं। ये पुष्प घुटनों पर्यन्त बरसते हैं, जब मुनियोंका आगमन होता है तब मुनियों को उनमें मार्ग मिलता रहता है, 'अमरों से सहित होते हैं, कमल उत्पल, केरव, इन्दीवर, राजचम्पक, जाति, मुक्तबन्धन,

 कमलों के उसर पैर रखना विहार के समय संगत होता है। उपदेश के समय तो सिंहासन पर बन्तरीक्ष पड्मासन में ही बिराजमान रहते हैं। तु पुष्पाणि उपरि मुझानि अधोवृन्तानि अवतिष्ठन्ते, जानुपयंतं पतति, मुनीन माग-मने मुनिपुङ्गवा मार्गं लभन्ते, भ्रमरपरोतानि कमलोसउकैरवेन्दीवरराजचंपकजा-तिमुक्तवंधनाट्टहासवकुलकेतकमंदारशुन्दरनमे स्पारिजातसन्तानककल्हारशुक्लरक्तसेव-प्रकमुचुकुन्दवृन्दानि पतन्ति, पंचाशल्लक्षद्वादशकोटिपटहा अपराणि च वादि-त्राणि वेणुवल्लकिपणवमृदंगत्रिविलतालकाहलकम्बुप्रभृतीनि संख्यातीतानि अम्ब-रचरकुमारकरास्फलितानि समुर्वन्तरिक्षल्धाणि व्वनन्ति, सजलजलघरगर्जितमिव स्वामिनो योजनैकं यावद्घ्वनिभव्यजनैराकण्यंते, हंसांसोज्ज्वलानि चतुःश्वछि-चामराणि पतन्त्युत्पतन्ति च, पंचशतघनुरुन्नतं सिंहविष्टरं भवति, योजनैकप्रमाणं सभाममिल्याप्य कोटिभास्करयुगपदुद्यो त्रिर्रातरेजो भवति, तच्च शारदेन्दु-परिपूर्णमण्डलमिव लोचनानां प्रियतमं भवति, एकदण्डानि उपयुं परि त्रेणिच्छत्राणि मस्तकोपरि संभवन्ति । इत्यादीनि चतुर्सित्रश्रदतिशयपंचकल्याणादीनि जिनोक्त-मानां सुम्लानि बाह्यानि भवन्ति, अनन्तजानानन्तदर्शनानन्त्वीर्यानन्तसुम्रानि धाम्यन्तरसुर्खानि भगवतां भवन्ति । तथा भावश्रवणा (नां) गणघरदेवानां तीर्थकरयुवराज्यसौक्त्यानि भवन्ति । (अवभुदयपरंपराइं सोक्साइं) इन्द्रपदः तीर्थकरकल्याणत्रयलक्षणानि कल्याणपरम्पराणि सौक्ष्यानि भावश्रवणा अम्यन्तर-

अहट्टास बकुल केतको मन्दार सुन्दर नमेरू पारिजात सन्तानक कल्हार, सफेद गुलाब, लाल गुलाब और मुचुकुन्द आदि फूलोंके समूह बरसते हैं। साढ़े बारह करोड़ दुन्दुभि तथा बाँसुरो बीणा पणव मृदङ्ग विविल ताल काहल और शङ्ख आदि असंख्यात बाजे देवकुमारोंके हाथोंसे ताड़ित होते हुए पृथिवी और आकाशमें शब्द करते हैं। जल सहित मेघकी गर्जनाके समान भगवान्की दिव्यध्वनि एक योजन तक भव्यजीवों के द्वारा सुनी जाती है। हंसके पङ्खोंके समान उज्ज्वल चौंसठ चमर ढोरे जाते हैं। पांच सौ धनुष ऊँचा सिंहासन होता है। एक योजन तक सभाको व्याप्त करके करोड़ों सूर्योंके एक साथ फैलने वाले प्रकाशके समान भगवान् के शरोर का तेज होता है उनका वह तेज (भामण्डल) शरद् ऋतुके पूर्ण चन्द्र-मण्डल के समान नेत्रोंको अत्यन्त प्रिय होता है। एक दण्ड अर्थात् चार हाथको ऊँचाई वाले तीन छत्र उपर-ऊपर मस्तक पर लगे होते हैं। इन सबको आदि लेकर चौंतोस अतिशय तथा पश्चकत्याणक आदि बाह्य मुख

- 'समुर्व्यन्तरिक्षरूथाणि' इति पाठः सम्यक् प्रतिभाति समन्तात् उव्यन्तरिक्षयोः पुषिव्याकाश्चयोः रूक्ष्याणि इति तदर्थाः ।
- २. दुद्योति म०।

महामुनयो मुञ्ज्जत इति भावार्थः । (पार्वति भावसहिया) प्राप्नुवस्ति लभन्ते, के ते? भावसहिता, सम्यक्त्वचिन्तायणिमण्डितमनःस्थलाः खलु दिगम्बराः (संखेवि जिणेहि वज्बरियं) संखेविसमासेनोक्तमिदं वचनं जिनैः कथितमिति भावार्थः ।

ते धण्णा ताण णमो दंसणवरणाणचरणसुद्धाणं । भावसहियाण णिच्चं तिविहेण पणट्टमायाणं ॥१२७॥

ते धन्यास्तेभ्यो नमः दर्शनवरज्ञानचरणशुद्धेभ्यः। भावसहितेभ्यो नित्वं त्रिविधेन प्रणष्टमायेभ्यः॥१२७॥

(ते घण्णा ताण णमो) ते मुनिपुङ्गवा धन्याः पुण्यवन्तः तेम्योऽस्माकं श्रीकुन्दकुन्दाधार्याणां नमो नमस्कारो भवतु नमोऽस्तु स्यात् । (दंसणवरणाणचरण-सुढाणं) सम्यग्दर्शनसम्यग्ज्ञानसम्यक्चरणानि शुद्धानि सिरतिचाराणि येषां, सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैर्वा ये शुद्धाः कर्ममलुकलुद्धु रहिता दर्शनवरज्ञानचरणशुद्धा ये मुनिपुङ्गवाः तेम्यो नमः । कर्यभूतेम्यस्तेम्यः, (भावसहियाण) भावेन शुद्धात्म-परिणामेन जिनसम्यक्त्वेन च सहितानां संयुक्तेम्यः इत्यर्थः । ननु नमःस्वस्ति-स्वाहास्वधालर्वषड्पोगे चतुर्थो भवति तत्कथमत्र षष्ठीनिर्देशः सत्यं, संस्कृते तद्योगे चतुर्थी प्रोक्ता, न तु प्राकृते । कथं (णिच्च) नित्यं सर्वकालं नमो-नमोस्तु इत्यस्य विशेषणमिदं केन कृत्वा नमः, (तिविहेण) मनोवाक्कायलक्षणेन

तीर्थंकर भगवान् के होते हैं। और अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्यं तथा अनन्तसुख ये आभ्यन्तर सुख तीर्थंकर भगवान् के होते हैं। भाव-श्रमण गणघरों के भो सुखोंको प्राप्त होते हैं, गणघर क्या हैं मानों तीर्थंकर रूप राजाके युवराज हो हैं। इसके सिवाय भावश्रमण इन्द्र पद आदि अभ्युदय को प्राप्त होते हैं। ऐसा श्रो जिनेन्द्र भगवान् ने संक्षेप से कहा है।। १२६।।

गावार्थ---वे भावमुनि धन्य हैं। दर्शन ज्ञान और चारित्र से शुद्ध तया मायाचारसे रहित उन भावमुनियों को मेरा मनवचन कायसे निरन्तर नमस्कार हो ।। १२७ ।।

विशेषार्थ----भावमुनियों के प्रति श्रद्धा प्रकट करते हुए कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं कि दे भावलिंगी मुनि धन्य-भाग हैं--बड़े पुण्यशाली हैं जो निरतिचार सम्यग्दर्शन, सम्यग्झान और सम्यक्**चारित्र से शुद्ध** नमस्कारेच नमो तु हास्येन । कथंभूतानां तेषां, (पणट्ठमायाणं) अणब्टा विनार्श प्राप्ता माया परवंभना येषां ते प्रषष्टमायास्तेषां ।

इड्डिमतुलं विउव्विय किण्णरकिपुरिसअमरखयरोहि । तेहि वि ग जाइ मोहं जिणभावणभाविओ घीरो ॥१२८॥०

ऋदिमतुलं विकृतां किनरकिम्पुरुषामरखचरैः । तैरपि न याति मोहं जिनभावनाभावितो घीरः ॥१२८॥

(इडििक्रमतुरुं विउव्विय) ऋदिः पूर्वोक्तलक्षणा, अतुला अनुपमा, विकुर्विता विक्रियाक्रता निजतद्भवान्यभवतपोमहिमसंजाता । तथा (किण्णरकिपुरिसअमर-खयरोहि) किन्नरैः, किम्पुरुषैः अमरैः कल्पवासिप्रभृतिभिक्च विहिता ऋदिः । (तेहि वि ण जाइ मोहं) तैरपि किन्नरकिम्पुरुषामरखचरैरपि मोहं न याति लोभ न गच्छति । कोऽसौ, (जिणभावणभावित्रो घोरो) जिनभावनया तिर्मलसम्यक्त्वेन भावितो वासितो घीरो योगीस्क्र्यः । ध्येयं प्रति घियमीरयतीति घीरः ।

हैं, जो शुद्ध आत्म-परिणाम अधवा जिन-सम्यक्स्व से सहित हैं तथा जिनका मारगचार—पर-प्रतारणाका भाव नष्ट हो चुका है उन भाव-लिंगी मुनियों को मेरा मनवचन कायसे निरन्तर नमस्कार हो ॥१२७॥

गाथार्थ---मुनिको तप के माहारम्यके अतुल ऋढियाँ स्वयं प्राप्त होती हैं और किन्नर किम्नुरुष स्वर्ग के देव तथा विद्याघर भी विक्रिया से अनेक ऋढियाँ दिखलाते हैं परन्तु जिनभावना से वासित धोर वोर-दृढ़ श्रद्धानी मुनि उन सभा से मोह को प्राप्त नहीं होता है ॥१२८॥

कि पुनः गच्छति मोहं नरसुरसुखानामल्पसाराणाम् । जानन् पश्यन् चिन्तयन् मोक्षं मुनिधवलः ॥१२९॥

(किं पुण गच्छइ मोहं) किं पुनगंच्छति मोहं लोगं । (णरमुरसुक्साण अप्यसाराणं) नराणां नृवादीनां सम्बन्धिितः सुराणामिन्दादीनां देवानां सम्बन्धिनां सौस्थानां मोहं लोगं किं गच्छति-अपि तुन गच्छति । कथंभूतानां सौस्थानां, अल्पसाराणां स्तोकप्रशस्यानां वा अल्पस्वादानामित्यर्थः । (जाणंतो परसतो) जानन्दपि अनुभूय दृष्ट्वा जानन्नपि, परसतो-पश्यन् प्रत्यक्षं चक्षुर्म्यां निरीक्ष-माणोऽपि । (चितंतो मोक्समुणिधवली) चिन्तयन्नपि विचारयन्नपि, किं ? मोक्ष सर्वकर्मक्षयलक्षणं मोक्षं परमनिर्वाणसुस्तं अनन्तसोस्पदायकं परमनिर्वाणसुस्तं जानन्त्रपीत्थादिसम्बन्धः, मुनिधवलः मुनीनां मुनिषु वा धवलो निर्मलचारित्र-मरोद्धरणघुरंघरो वृषभः श्रेष्ठ इत्यर्थः ।

उत्थरइ जा ग जरओ रोयग्गी जा ग डहइ देहर्जींड । इंदियबलं न वियलइ ताव तुमं कुणहि अप्पहियं ॥१३०॥ आक्रमते यावन्न जरा रोगाग्निः यावन्न दहति देहकुटोम् । इन्द्रियबलं न विगलति तावत् त्वं कुरु आत्महितम् ॥१३०॥

गायार्थ---जो सर्वकर्म-क्षयरूप मोक्षको जान रहा है, देख रहा है तथा उसाका चिन्तन कर रहा है ऐसा श्रोष्ठ मुनि, मनुष्य और देवोंके तुच्छ सुख में मोहको कैसे प्राप्त हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता ॥१२९॥

विशेषार्थ—जो अनन्त सुखको देनेवाले मोक्षको जानता है, देखता है और चिन्तवन करता है ऐसा चारित्र के भारको घारण करने वाला मुनि-वृषभ-श्रोष्ठ मुनि मनुष्य और देवोंके अल्प स्वाद से युक्त सुखोंके लोभको क्या फिर प्राप्त होता है ? अर्थात् नहीं होता। मोक्षके आत्मीय सुखके समक्ष विषय-जन्य अल्प-तम सुख विवेकी मनुष्यको प्रलुब्ध नहीं कर सकता है। तात्पर्य यह है कि सम्यग्दृष्टि साधु सांसारिक सुखसे सदा नि:शंक रहता है ॥ ४२९॥

गावार्ब--हे आत्मन् ! जबतक बुढ़ापा आक्रमण नहीं करता है, बबतक रोग रूपी अग्नि घरीर रूपी सोपड़ी को नहीं जलाती है और (उत्परइ जा ण जरवो) आक्रमते यावन्न जरा । "छुंदोत्थारीहावा आक्रमेः" इति प्राकृतव्याकरणसूत्रेण आक्रमघातोहत्यार इत्यादेशः । तहि उत्यारइ इतीदृशं रूपं स्यात् ? प्राकृते ह्रस्वदीर्घौ मियः भवतः "अचामचः प्रायेण" इति सूत्रेण, तव नास्ति दोषः "आङो ज्योतिरुद्गमेः" इति रुचादिपाठादात्मनेपदं । अथवा उत्थारइ जा ण जरा इति च क्वचित् पाठः (रोयग्गी जा ण डहइ देहर्जींड) रोगाग्निर्यावन्न दहति न भस्मीकरोति, कां ? देहकुटीं शरीरपर्णधालां। (इंदियवलं न वियलड्) इन्द्रियाणां चक्षुरादीनां बलं सामर्थ्यं यावत्कालं न विगलति । इंदियबलं न वियलं इति पाठे इन्द्रियबलं यावद्विकलं हीनं न भवति । (ताव तुमं कुणहि अप्पहियं) तावत्त्वं हे मुनियुङ्गव ! कुरु विष्ठेहि, कि ? आत्म-हितं मोक्ष साघयत्थायाः । उक्तं च---

जब तक इन्द्रियों का बल क्षीण नहीं हो जाता है तब तक तू आत्म-हित कर ले ॥१३०॥

विशेषार्थं- 'उत्यरइ' की संस्कृत छाया आक्रमते हैं। आङ् उपसर्ग पूर्वक क्रम धातुके स्थान में 'छुन्दोत्था रौहावा आक्रमेः' इस प्राकृत व्याकरण के सूत्रसे उत्थार आदेश हो जाता है । 'अचामचः प्रायेण' इस प्राकृत व्याकरण सुत्रके अनुसार प्रायः ह्रस्व के स्थान में दीर्घ और दीर्घ के स्थान में ह्रस्व स्वर का प्रयोग होता रहता है, इसलिये उत्यारइ के स्थान पर उत्थरइ प्रयोग सदोष नहों है अथवा उत्थारइ जाग जरा ऐसा भी कहीं पाठ है, अतः इस पाठमें हरस्व दोर्धका प्रश्न ही नहीं उठता है। 'आङो ज्योतिरुद्गमेः' इस सुत्रसे आक्रमतेमें आत्मने पदका प्रयोग हुआ है । बुढ़ापा मनुष्य के शरीरको जर्जर कर देता है, रोग रूपो अग्नि शरीर रूपी पर्णशाला को क्षणभरमें जला देती है और अन्त-अन्त तक मनुष्य की इन्द्रियाँ शक्तिहीन हो जाती हैं, उस दशा में मनुष्य कुछ करना भी चाहता हो तो नहीं कर सकता, इसलिये आचार्य महाराज बड़े करुणा-भाव से सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि हे मुनिपुङ्गव ! हे मुनि श्रेष्ठ ! जब तक बुढ़ापे ने आक्रमण नहीं किया है, जब तक रोग रूपी अग्निने तुम्हारे शरीर रूपी पर्णशाला को नहीं जलाया है और जब तक इंद्रिय-बल कम नहीं हुआ है तब तक तू आत्महित करले। आत्मा का हित मोक है, उसे प्राप्त करले। यह मोक्ष मनुष्य शरीर को छोड़ अन्य शरीर से साध्य भी नहीं है। कहा भी है—

⁹पस्तित्तच्छरुने देहाल्निगंच्छति शुद्धिरेव तव बुद्धेः । कथमिव परलोकार्यं जरी वराकस्तवा स्भरसि ॥१॥ आतङ्कूशोकभयभोगकरूत्रपुत्रै— र्यः खेदयेन्मनुजजन्म मनोरथाप्तं । नूनं स भस्मकृतधीरिह रत्नराशि-सुद्दीपयेदतनुमोहमलीमसात्मा ॥२॥ ^२ अश्रोत्रीव तिरस्कृता परतिरस्कारश्रुतीनां श्रुति– श्चक्षुर्वीक्षितुमक्षम तव दशां दूष्यामिवान्ध्यं गतं । भीत्येवाभिमुखान्तकादत्तितरां कायोऽप्ययं कंपते ³निःशङ्कुत्वमहो प्रदीप्तभवनेऽप्यासे जराजर्जरः^४ ॥३॥

छज्जीव छडायदणं णिच्चं मणवयणकायजोएहि । कुरु दय परिहर मुणिवर भावि अपुव्वं महासत्त ।।१३१।। षट् जीवषडायतनानां निरयं मनोवचनकाययोगैः । कर व्या परिवर मनिवर । भावप आर्वं प्रचलन्त । भावभा

कुरु दयां परिहर मुनिवर ! भावय अपूर्वं महासत्व ! ॥१३१॥

पलितच्छलेन-हे सत्पुरुष ! जिस बुढ़ापेमें सफेद बालोंके बहाने तेरी बुद्धिकी शुद्धता ही शरीर से निकल जाती है उस बुढ़ापे में तू बेचारा पर-लोक के प्रयोजन का कैसे स्मरण करेगा ?

वातंक—जो पुरुष, बहुत भारी मनारथों से प्राप्त मनुष्य जन्मको रोग शोक भय भोग स्त्री और पुत्रोंके द्वारा खिन्न करता है—नष्ट करता है निश्चित हो महामोह से मलिन मनको धारण करनेवाला बह पुरुष भस्मकी इच्छा से रत्नराशिको जलाता है।

क्षयोत्रीव-----मुझे दूसरों के तिरस्कार के शब्द न सुनने पड़ें इस इच्छा से ही मानों कान बधिर हो गये हैं। तुम्हारो इस दूषित दशाका देखने के लिये असमर्थ होनेसे ही मानों नेत्र अन्धे हो गये हैं आर सामने खड़े हुए यमराज से डरकर हो मानों करार अत्यन्त काँप रहा है परन्तु जरा से जजर इस जलते हुए भवन मे तू निक्शयू होकर बैठा है, यह आश्चर्य की वात है।

गावार्थ---हे मुनिवर ! हे महासत्व ! तू मनवचन काय इन तीनों योगों

- १. आत्मानुशासने ।
- २. बात्मानुशासने ।
- ३. निष्कम्पस्त्वं म० ।
- ४. बराज्यंद म• ।

षद्प्रामृते

(छज्जीवछडायदणं) षड्जीवानां दयां कुरु, षडनायतानि परिहर कयं, (णिच्चं) सर्वकारुं। (मणवयणकायजोर्एहि) मनोवचनकाययोगैः । (कुरु दय परिहर मुणिवर) हे मुनिवर मुनोनां श्रोष्ठ ! (भावि अपुक्वं महासत्त) भावय अपूर्व आत्मभावनं हे महासत्व महाप्रसम्नधर्मपरिणाम !।

"अभावियं भावेमि भावियं न भावेमि,"

इति श्रीगौतमोकत्वात् ।

दसविहपाणाहारो अणंतभवसायरे भमंतेण । भोयसुहकारणट्टं कदो य तिविहेण सयलजीवाणं ॥१३२॥ दर्शावधप्राणाहारः अनन्तभवसागरे भ्रमता । भोगसुखकारणार्थं क्रुतञ्च त्रिविधेन सकलजीवानाम् ॥१३२॥

(दसविहपाणाहारो) दशविधानां प्राणानामाहारः पंचेन्द्रियाणि मानवानां तिरश्चां च स्थया कवलितानि, मनोवचनकायरुक्षणास्त्रयो बरूप्राणास्त्वया हे

से छह कायके जीवोंपर दया कर, छह अनायतनों का परित्याग कृर और अपूर्व आत्म-तत्वकी भावना को कर ॥१३१॥

विशेषार्थ—पृथिवोकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक और त्रस ये छहकाय के जोव हैं। हे मुनिवर ! तू सदा मन वचन कायसे इनपर दया कर-इनकी रक्षा कर। कुगुरु, कुदेव, कुधर्म, कुगुरुसेवक, कुदेव सेवक और कुधर्म सेवक ये छह अनायतन हैं-भक्ति वन्दना आदिके अस्थान हैं। हे महासत्व ! हे निर्मल धर्म परिणाम के धारक मुने ! तू इन छह अनायतनों का मन वचन काय से परित्याग कर और जिस आत्म-भावना का तूने आजतक चिन्तन नहीं किया है उसका चिन्तन कर । श्री गौतम ने भो कहा है---

अभावियं---जिस आत्म-स्वरूप की अब तक भावना नहीं की उसकी भावना करता हूँ और जिस विषय भोग को निरन्तर भावना की उसकी भावना नहीं करता हूँ।

गायार्थ—हे जीव ! अनन्त भवसागर में भ्रमण करते हुए तूने भोग-सुखके निमित्त मन वचन कायसे समस्त जोवोंके दश प्राणोंका आहार किया है ॥१३२॥

विश्लेषार्थ—यह जीव अनादि कालसे अनन्तानन्त भव धारण कर चुका है। उन सब भवोंमें इसने अपने भोग सुखके लिये समस्त जीवोंके जीव ! भक्तिताः, उच्छ्वासप्राणोऽपि त्वया चर्विता. आयुप्राणश्चोदराग्निभाजनं कृतः । (अणंतभवसायरे भमंतेण) अनन्तानन्तसंसारसमुद्रे भ्रमता पर्यटता (भोय-सुहकारणट्ठं) भोगसुखकारणार्थं जिह्वीपस्पसंजातसुखहेतवे । (कदो य तिविह्रेण सयलजोवाणं) दशप्राणानां त्वया आहारः कृतः त्रिविधेन मनसा वाचा वपुषा चेति संकलजोवानां चातुर्गतिकप्राणिनां ।

पाणिवहेहि महाजस चउरासीलक्खजोणिमज्झस्मि । उप्पज्जतमरंतो पत्तोसि निरंतरं दुक्सं ॥१३३॥ प्राणिवधेः महायकाः ! चतुरक्षीतिलक्षयोनिमध्ये । उत्पद्यमानच्चियमाणः प्राप्तोसि निरन्तरं दुःखम् ॥१३३॥

(पाणिवहेहि महाजस) प्राणिनां वर्षः कृत्या हे महायशः ! । (चछरा-सोलक्ख जोणिमज्झाम्मि) चतुरशीतिल्झयोनीनां मध्ये । (उप्पर्व्जतमरंतो) उत्प-रामानो ब्रियमाणहच । (पत्तोसि निरंतरं दुवसं) प्राप्तोऽसि सन्स्ववानसि निरन्तर-मविच्छिन्नं दुसं शारीरमानसागन्तुकल्खणं । चतुरशीतिलक्षयोनीनां त्रिवरणनिर्देशः यूर्वोक्त एव भातव्यः ।

शरीर को मन बचन कायसे अपना आहार बनाया है। उत्कृष्ट रूपसे जीवोंके पांच इन्द्रिय, तीन बल, आयु और उच्छ्वास ये दश प्राण होते हैं। देव और नारकियों के शरीर किसी के ग्रहण में नहीं आते मात्र मनुष्य और तिर्यञ्चोंके शरीर ही ग्रहण में आते हैं। जाचार्य कहते हैं कि हे जोव ! इस अनन्तानन्त संसार में भ्रमण करते हुए तूने समस्त मनुष्यों और तिर्यञ्चों के पांच इन्द्रिय रूप प्राणोंको कबल्ति किया है, मन, वचन, काय, रूप तीन बलोंका खाया है, श्वासोच्छ्वास प्राणको चढाया है और बायु प्राणको जठराग्निका पात्र बनाया है ओर वह भी किसलिये ? सिर्फ जिह्वा और जननेन्द्रियके मुखके निमित्त । अब चेत और षट्जावनिकाय पर दया धारण कर ॥१३२॥

गाधार्य-हे महायश ! उक्त प्राणिवधके कारण तू चौरासी लाख योनियों मे उत्पन्न होता हुआ, मरता हुआ निरन्तर दु:ख को प्राप्त हुआ हे ॥१३३॥

रिकोषार्थ---इस गाथा म पूर्वोक्त प्राणिवधका फल बताते हुए आचाय कहते हैं कि हे महायरा क धारक ! मुनिवर ! प्राणि वधके कारण तूने चारासा लाख यानियोंम बार बार जन्म मरण कर निरन्तर शारा-रिक मानसिक और आगन्तुक दुःख उठाया है अब सावधान होकर जोवों-को रक्षा कर ॥१३३॥

जीवाणमभयदाणं देह मुणी पाणभूदसत्ताणं । कल्लाणसुहणिमित्तं परंपरा तिविहसुद्धीए ।।१३४।।

जीवनामभयदानं द्रेहि मुने ! प्राणभूतसत्वानाम् ।

कल्याणसुर्खानिमित्तां परम्परा त्रिविधशुद्धधा ॥१३४॥ (जीवाणसभयदाणं) जीवानासभयदानं। (देह सुणी पाणसूदसत्ताणं) हे मुने ! त्व देहि प्रयच्छ न केवलं जीवानां अभयदानं देहि—अपि तु प्राणभूत-सत्वानां किमर्थसभयदानं देहि ? (कल्लाणसुहनिभित्तं) तीर्थकरनामकर्मवन्धनार्थं गर्भावतारजन्माभिषेकनिष्क्रमणज्ञाननिर्वाणपंचकत्याणसुखपरंपरानिमित्तं सुस्नश्रेणि-कारणं अभयदानमित्यर्थः । (तिविहसुद्धीए) त्रिविधशुद्धधा मनोवचनकायनिम्लं तथा अभयदानं देहि उक्तं च---

अभयदाणु भयभीरुहं जीवहं दिष्णु ण आसि ।

वारवारमरणइं डरहि केम्ब चिराउ सुहोसि ॥१॥ तथा चोक्त---

ैएका जीवदयैकत्र परत्र सकलाः क्रियाः ।

पर फलं तु ^२पूर्वत्र कृषेहिचन्तामणेरिव ॥१॥ -

गायार्थ---हे मुने ! तू कल्याणक सम्बन्धो सुखकी परम्परा के निमित्त, मन वचन कायकी शुद्धिसे जीव, प्राणी, भूत और सत्वोंको अभय दान दे ॥१३४॥

विशेषार्थ-हे जोव ! तीर्थंकर नाम कर्मका बन्ध करनेके लिये तथा उसके फलस्वरूप गर्भावतार, जन्माभिषेक, निष्क्रमण, ज्ञान और निर्वाण कल्याण इन पञ्च कल्याणकों-सम्बन्धी सुखकी परम्पराके निमित्त त मन वचन कायको निर्मलता से समस्त जोव प्राणी, भूत और सत्योंको अभयदान दे।

अभयबाणु—हे आत्मन् ! तूने भयभीत जीवोंको अभयदान नहीं दिया इसीलिये बार बार मरणसे डर रहा है । तू दीर्घायु कैसे हो सकता है ? ।।१।।

और भो कहा है----

एका—एक ओर अकेली जीव दया और दूसरी ओर समस्त क्रियाएँ रखी जावें परन्तु उत्क्रष्ट फल जीव-दयाका ही होगा, उस तरह, जिस

१. यशस्तिसके इति पर्व नास्ति ।

429

ैआयुष्मान् सुभगः श्रीमान् सुरूपः कीर्तिमान्नरः । अहिंसाव्रतमाहात्म्यादेकस्मादेव जायते ॥२॥ उक्तं च—

> द्वित्रिचतुरिन्द्रियाः प्राणा भूतास्ते तरवः स्मृताः । जीवाः पंचेन्द्रिया झेयाः शेषाः सल्ताः प्रकीतिताः ॥१॥

³असियसय किरियवाई अक्किरियाणं च होइ चुलसीदी । सत्तट्ठी अण्णाणी वेणइया होंति बत्तीसा ॥१३५॥ अशोतिशतं क्रियावादिनामक्रियाणां च भवति चतुरशोतिः ।

सप्तषष्टिरज्ञानिनां वैनयिकानां भवन्ति द्वात्रिंशत् ॥१३५॥ (असियसय किरियवाई) अशीत्यग्रं शतं क्रियावादिनां श्राद्धादिक्रियामन्य-मानानां ³ज्ञाह्यणानां भवति । (अक्षिरियाणं च होइ चल्सीदी) अक्षियावादिनां

तरह कि एक ओर अकेला चिन्तामणि रत्न रखा जावे और दूसरी ओर समस्त खेती रखी जावे परन्तु उत्कृष्ट फल चिन्तामणि का ही होता है ।

वायुष्मान्---एक अहिंसावत के माहात्म्य से ही यह मनुष्य दीर्घायुष्क, भाग्यशाली, लक्ष्मीमान्, सुम्दर और कीर्तिमान् होता है।

और भी कहा है---

डित्रि--दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय और चार-इन्द्रिय प्राण कहलाते हैं, वनस्पतिकायिक भूत कहलाते हैं, पञ्च्चेन्द्रिय जीव कहलाते हैं और शेष सत्व कहलाते हैं।

गायाम-किया-वादियों के एकसौ अस्सो, अकिया-दादियों के चौरासी, अज्ञानियों के सड़सठ और वैनयिकों के बत्तीस भेद होते हैं।। १३५।।

विशेषार्थ-अद आदि कियाओं को मानने वाले ब्राह्मण आदि किया-वादी हैं। इनके एकसौ अस्सी भेद हैं। इन्द्र चन्द्र नागेन्द्र गच्छ में

 इयं गाषा अन्यत्र खेवं प्रसिद्धाः— असिविसदं किरियाणं अक्किरियाणं च होइ चुलसीदी । सत्ताच्छन्याणीनं वेणइमाणं तु वत्तीसं ॥

क प्रती 'ब्राह्मणानां' ।

१. यशस्तिलके।

इन्द्रचन्द्रनायेन्द्रगच्छोत्पन्नानां तन्दुलोदककाथोदकादिसमाचारीसमाव्ययिणां स्वेत-पटानां प्रायः कपटानां मायाबाहुल्यानां चतुरशीतिः संशयिनां मिख्यात्वभेदा भवन्ति । (सत्तट्ठी अण्णाणी) सप्तवध्टिरज्ञानेन मोक्षं मन्वानानां मस्करपूरण-मतानुसारिणां भवति । (वेणेया होति बत्तीसा) विनयात् मातृपितृनृपलोकादि-विनयेन भोक्षाक्षेपिणां तापसानुसारिणां ढात्रिंशन्मतानि भवन्ति । एवं त्रिषच्ट्य-ग्राणि त्रीणि शतानि मिथ्यावादिनां भवन्ति तानि त्याज्यानीत्यर्थः । १८० + ८४ + ६७ + ३२ = ३६३ ।

ण मुयइ पयडि अभव्वो सुट्ठु वि ³आयण्णिऊण जिणघम्मं । गुडदुद्धं पि पिवंता ण पण्णया णिव्विसा होंति ॥१३६॥ न मुञ्चति प्रकृतिमभव्यः सुष्ठु अपि आकर्ण्यं जिनधर्मम् ।

गुडदुगधमपि पिबन्तः न पन्नगा निविधा भवन्ति ॥१३६॥

(ण मुयइ पयडि अभव्वो) न मुञ्चति प्रकृति मिथ्यात्वं अभक्यो दूरभव्यो वा लौंकादिमिथ्यादृष्टिः पापिष्ठः । (सुट्ठु वि आयण्णिऊण जिणधम्मं) सुष्ठु अपि आकर्ष्यं श्रुत्वा जिनधर्मं दिगम्बरशास्त्रं । (गुडदुद्धं पि पिबंता) गुडेन सिश्चं

उत्प न्न, चावलों का धोवन तथा अन्य प्रासुक जल आदिको गोचरी में लेनेवाले प्रायः माया-पूर्ण व्यवहार के धारक श्वेताम्बर अक्रिया-वादो हैं इनके चौरासी भेद हैं। अज्ञान से मोक्ष मानने वाले सस्कर पूरण के मता-नुयायी अज्ञान-वादी हैं, इनके सड़सठ भेद हैं और माता पिता तथा राजा आदिकी विनय से मोक्षकी प्राप्ति मानने वाले तापस-मतानुयायी वैनयिक हैं, इनके बत्तोस भेद हैं। चारों मिथ्या-वादियों के मिलाकर १८० + ८४ + ६७ + ३२ = ३६३ तीन सौ त्रेशठ भेद होते हें, ये सब भेद त्यागने योग्य हें ॥१३५॥

गायार्थ---अभव्य जीव जिनधर्म को अच्छो तरह सुनकर भो अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता है, सो ठीक ही है क्योंकि साँप गुड़ और दूधको पीते ुर भी निर्पिष नहीं होते हैं ॥१३६॥

विशेषार्थं — जिस प्रकार गुड़से मिश्रित दूधको पोने पर भी साँप अपना विष नहीं छोड़ते हैं उसो प्रकार अभव्य या दूर भव्य पापी मिथ्यादृष्टि

१. मोक्षक्षेपिणां म०।

२. समयसारे 'आयण्णि ऊल जिणधम्मं' इत्यस्य स्थाने 'अञ्झाइ उज्यसत्वाणि' इति पाठः ।

दुग्धं गुडदुग्धं पिबन्तोऽपि । (ज पण्णया णिम्बिसा होंति) न पन्नगाः सर्पा निर्विषा विषरहिता भवन्ति संजायन्ते ।

तथा चोक्तं ---

बहुसत्यइं जाणियइ धम्मु ण चरइ मुणेवि। दिणयर सउ जइ उग्गमइ घूहहु अंधउ तो वि ॥ १ ॥ मिच्छत्तछण्ण दिट्ठी दुद्धी रागगहगहियचित्तेहि । धम्मं जिण पण्णत्तं अभव्यजीयो ण रोचेदि ॥१३७॥

मिथ्यात्वछन्नदृष्टिः दुर्द्धी रागग्रहगृहीतचित्तैः । धर्मं जिनप्रणीतं अभव्यजीवो न रोचयति ॥१३७॥

(मिच्छत्तछण्णदिट्ठों) मिथ्यात्वेन छन्ना आवृता दृष्टिर्ज्ञानलोचर्न यस्य स मिथ्यात्वच्छन्वदृष्टिः । अज्ञानी मिथ्यादृष्टिः । (दुढो) दुष्टा घोबुंढियंस्य स दुर्घीः दुबुंढिः । (रागगहगहियचित्तेहि) रागग्रहगृहोतचित्तैः रागो दुर्मागीथिता प्रीतिः स एव ग्रह: पिशाचः तेन गृहीतानि चित्तानि अभिप्राया रामग्रहीतचित्तानि तैः रागग्रहगृहोतचित्तैः करणभूतैः नानानयदुष्टपरिणामैरित्यर्थः । (धम्मं जिप-पण्णत्तं) धर्मं जिनेन केवलिना प्रणीतं । (अभव्वजोवो ण रोचेदि) अभव्यजीवो रात्तत्रयायोग्यो जीव आत्मा न रोचयति न श्रद्दघाति ।

जोव जिनधर्मको अच्छी तरह सुनकर भी अपना स्वभाव नहीं छोड़ते हैं । जैसा कि कहा है —

बहुसरयई—बहुत शास्त्रों को जानकर भी अभव्य जीव धर्मका आचरण नहीं करता है सो ठोक ही है क्योंकि यदि सैकड़ों सूर्य उदित होते हैं ता भो उल्लू अन्धा ही रहता है।।१३६।।

गायार्थ-जिसको दृष्टि मिथ्यात्व से आच्छादित हो रही है ऐसा दुबुंदि अभव्य जीव रागरूपी पिशाच से गृहीत-चित्त होनेके कारण जिन-प्रणोत धर्म-जीन की श्रद्धा नहीं करता ॥१३७॥

विशेषार्थ— रत्नत्रय को प्राप्ति की योग्यता से रहित अभव्य जीवको दृष्टि सदा मिथ्यात्व से आच्छादित रहेती है, उसकी बुद्धि अर्थात् विचार-शक्ति दूषित रहती है तथा उसका चित्त सदा राग रूपी पिशाच से ग्रस्त रहता है, इसो कारण वह केवलि जिनेन्द्रके ढारा उपदिष्ट जिनधर्म की अडा नहीं करता है ॥१२७॥

कुच्छियधम्मस्मि रओ कुच्छियपासंडिभत्तिसंजुत्तो । कुच्छियतवं कुणंतो कुच्छियगइभायणं होई ॥१३८॥

कुत्सितधम्मे रतः कुत्सितपाषण्डिभक्तिसंयुक्तः । कुत्सिततपः कुर्वन् कुत्सितगतिभाजनं भवति ॥१३८॥

(कुच्छियधम्मस्मि रक्षो) कुत्सितघर्मे हिंसाधर्मे रतस्तत्परोऽनुरागवान् । (कुच्छियपासंडिभत्तिसंजुत्तो) कुत्सिता ऋषिपत्नीपादपद्मसंलग्नमस्तका ये पाव-ष्टिनो वशिष्ठदुर्वांसःपाराशरयाज्ञवत्कयजमदग्निविश्वामित्रभरद्वाजगौतमगर्गभागंव-प्रभृतय उपनिषत्प्रान्ते उक्ताश्च अतीता वर्तमानाश्च तेषां पार्वडिनां भक्तिसंयुक्तः करयोटनपादपतनभोजनदानादितत्परमनाः । (कुच्छियतवं कुणंतो) कुसितं तपः एकपादेनोद्मीभूतोध्वंहस्तजटाधारणत्रिकालजळस्नानपंचाग्निसाधनादिकुस्तितं तपः कुर्वन् । (कुच्छिययदभायणो होद्द) कुत्सितगतेनीरकतियंग्योनिमलिजासुरव्यान्तर-ज्योतिष्ककिल्विषिकवाहनदेवादिगतेर्माजनं स्थानं भवति----अनन्तसंसारी व स्यात् । "बह्यणे बाह्यणमालभेत" इत्यादि कुस्सितो धर्मो ज्ञातव्यः ।

गायार्थ----जो कुत्सित धर्मं में अनुरागी है, कुस्सित पाषण्डियों को मक्तिसे सहित है और कुत्सित तप करता है, वह कुत्सित, गतिका पात्र होता है।।१३८॥

विशेषार्थं --- जो कुल्सित धर्मं --- हिंसा धर्म में तत्पर रहता है, जो कुल्सित अर्थात् ऋषि होकर भी स्त्रियों के चरण कमलों में मस्तक झुकाने वाले वशिष्ठ दुर्वासा पराशर याज्ञवल्क्य जमदगिन विश्वामित्र भरदाज गौतम गर्गं तथा भार्गव आदि उपनिषदों में कहे हुए अतीत और वर्तमान काल--सम्बन्धी पाषण्डी साधुओं की भक्ति से सहित है----हाथ जोड़ना चरणों में पड़ना तथा भोजन देना आदि कार्योंमें तत्पर रहता है और जो कुल्सित तप अर्थात् एक पैरसे खड़े रहना, एक हाथ ऊँचा रखना, जटा षारण करना, तोनों काल में स्नान करना तथा पञ्चागिन तपना आदि मिच्या तप करता है वह कुस्सित गति अर्थात् नरक तिर्यञ्च योनि, मलिन असुरकुमार व्यन्तर ज्योतिष्क किल्विषिक तथा वाहन जाति के देव आदि सोटी गतियोंका पात्र होता है----अनन्त संसारी होता है ॥ १३८॥

१. भक्तिसंयुक्ताः म० ।

इति मिथ्यात्वावासे कुनयकुशास्त्रैः मोहितो जीवः ।

भ्रान्त: अनादिकालं संसारे घीर ! चिन्तय ॥११९॥ (इय मिच्छत्तावासे) इति अमुना प्रकारेण मिष्यात्वावासे सिख्यात्वास्पदे प्रायेण मिथ्यात्वभृते संसारे इति सम्बन्धः । (कुणयकुत्स्रत्येहि मोहिलो जीवो) कुनयैः कुत्सितनयैः सर्वर्थकान्तरूपैः, कुसास्त्रैः चतुर्वेदाष्टादशपुराणाष्टादशस्मृत्यु-भयमीमांसादिशास्त्रैः मोहितो भ्रान्ति प्राप्तो जीव आत्मा । (भमिलो अणाइकाल) भान्तोऽयं पर्यटितो जीवोऽनादिकालं उत्सर्पिण्यवसर्पिणीकालबहुलं (संसारे घीर चितेहि) हे घीर ! हे योगीश्वर ! संसारे भवे भ्रान्त इति चिन्तय बिचारय ।

पासंडी तिण्णिसया तिसट्ठिभेया उमग्ग मुत्तूण । रुंभहि मणु जिणमग्गे असप्पलावेण कि बहुणा ॥१४०॥ पार्षाण्डनः त्रीणि शतानि त्रिषष्ठिमेदा उन्मार्गं मुक्त्वा ।

रुन्द्रि मनो जिनमार्गे असत्प्रलापेन कि बहुना ॥१४१॥ (गणने विकिल्या) प्रायक्तिक कि जिल्ला (१८२२)

(पासंडी तिण्णिसया) पाषण्डिनस्त्रीणि शतानि । (तिसट्टिमेया उमग्ग मुत्तूण) तथा त्रिषष्ठिभेदा उन्मार्गं मुक्त्वा । (रुंभहि मणु जिणमग्गे) रुग्दि 4

गाथार्थ—इस प्रकार मिथ्यात्व के आवास स्वरूप संसार में मिथ्यानय और मिथ्याशास्त्रों से मोहित हुआ यह जीव अनादि कालसे भटक रहा है, ऐसा हे धोर मुनि ! तु चिन्तवन कर ।।१३९।।

विशेषार्थ—यह संसार अनेक प्रकार के मिथ्यात्वों का निवास स्थान है अर्थात् अनेक मिथ्यात्वों से भरा हुआ है इसमें यह जीव सर्वथा एकान्त रूप कुनय तथा चार वेद, अठारह पुराण अठारह स्मृतियाँ तथा दोनों प्रकार की मीमांसा आदि कुशास्त्रों से आन्ति को प्राप्त होता हुआ अनादिकाल से लगातार भटक रहा है। हे योगीश्वर ! तू ऐसा चिन्तवन कर ॥१३९॥

गावार्थ—हे साघो ! पाषण्डियों के तोन सौ त्रेसठ उन्मार्गों-कुमार्गों को छोड़कर तू जिनमार्गमें अपना मन रोक, बहुत अधिक निरर्थक वचन कहनेसे क्या लाभ है ॥१४०॥

 मनो जिनमार्गे जिनधर्मे त्वं स्थापय । (असप्पलावेण कि बहुणा) असत्प्रलापेनान-धंकेन वचसा बहुना प्रचुरतरेण कि ? न किमपीत्याक्षेपः ।

जीवविमुक्को सबओ दंसणमुक्को य होह चलसबओ । सबओ लोयअपुज्जो लोउत्तरयम्मि चलसबओ ॥१४१॥

जीवविमुक्तः शवः दर्शनमुक्तश्च भवति चल्रशवकः ।

शवको लोकापूज्यः लोकोत्तरे चलशवकः ॥१४१॥ (जीवविमुक्को सवओ) जीवविमुक्तो जीवेन रहितः कायो लोके शव उच्यदे।(दंसणमुक्को य होइ चलसवओ) दर्शनमुक्तः पुमान् सम्यक्त्वहीनो जीवश्च भवति चलशवकः कुत्सितं मृतकः ।(सवओ लोयअपुज्जो) जीवरहितः शवको लोकानामपूज्यः, अपूज्यत्वादेव भूमौ निस्तन्यते, अग्निना भस्मीक्रियते वा (लोउत्तरयम्मि चलसवओ) लोकोत्तरे लोके जैनलोके चलसवओ सचेष्टितमृतक्वो मिथ्यादृष्टिर्मुनिः लोकोत्तराणां सम्यय्दृष्टिलोकानां अपूज्योऽमाननीयो भवति । इति भावप्राभृतस्य गोप्यतत्वं यत्सद्दृष्टिटना जीवेन भवितव्यमिति । लौकास्तु पापिष्ठा

जीव ! तू इन्हें छोड़ और जिनधर्म रूपो राजमार्ग में अपने मनकों रोक । अधिक कहने से क्या लाभ है ? अर्थात् कुछ नहीं ॥ १४० ॥

गायार्थ—जीव से रहित शरीर शव कहलाता है और सम्यक्त्व से रहित शरीर चलजव—चलता फिरता शव कहलाता है। शव इस लोक में अपूज्य होता है और चल ज्ञव मरण के बाद प्राप्त होनेवाले उत्तरलोक में अपूज्य होता है अथवा चलज्ञव लोकोत्तरलोक-जैन लोक में अपूज्य होता है।। १४१॥

विशेषार्थ—शरीर का सन्मान जीवसे है जिस शरीर से जीव निकल जाता है वह शरीर शव अर्थात् मुर्दा कहलाने लगता है। इसो प्रकार मनुष्य का सन्मान सम्यग्दर्शन से है जो मनुष्य सम्यग्दर्शन से रहित है वह चलशव अर्थात् चलता फिरता मुर्दा कहलाता है। शव लोक में अपूज्य माना जाता है, इसोलिये वह जमीन में गाड़ा जाता है अथवा अग्नि द्वारा भस्म किया जाता है। चलशव, मिथ्यादृष्टि मुनि है। वह लोकोत्तर अर्थात् सम्यग्दृष्टि लोगोंके अपूज्य होता है उसे कोई सन्मान नहीं देता है। अथवा लोकोत्तर का अर्थ परलोक भी होता है इसलिये दूसरा अर्थ यह भी होता है कि मिथ्यादृष्टि सनुष्य परलोक में होन दशा को प्राप्त होता है, इस प्रकार भाव-प्राभृतका गोप्य तत्व यह है कि जोव-को सम्यद्र्ष्टि होना चाहिये।

भावप्रामृतम्

-4. 887]

मिष्यादृष्टयो जिनस्नपनपूजनप्रतिबन्धकस्तात् तेषां संभाषणं न कर्तन्यं तत्संभाषणे महापापमुत्पद्यते । तथा चोक्तं काल्डिदासेन महाकविना----

ैनिवार्यतामाछि ! किमप्ययं वटुः पुनर्विवक्षुः स्फुरितोत्तराघरः । न केवलं यो महत्तां विभाषते श्रुणोति तस्मादपि यः स पापभाक् ॥१॥ तेन जिनमुनिनिन्दका लौंकाः परिहर्तंब्याः । तथा चोक्तं----खलानां कंटकानां च द्विधैव हि प्रतिक्रिया । उपानन्मुखर्मगो वा दूरतः परिवर्जनम् ॥ १ ॥

जह तारयाण चंदो मयराओ मयउलाण सब्वाणं । र्आहओ तह सम्मत्तो रिसिसावयदुविहधम्माणं ।।१४२॥

तथा तारकाणां चन्द्रः मृगराजो मृगकुलानां सर्वेषाम् । अधिकः तथा सम्यवत्वं ऋषिश्रावकद्विविधधर्माणाम् ॥ १४२ ॥

लौंक लोग जिनाभिषेक तथा जिन पूजाके निषेघक होनेसे अतिशय पापी मिय्या दृष्टि हैं उनके साथ संभाषण नहीं करना चाहिये। उनके साथ संभाषण करनेमें महापाप उत्पन्न होता है। जैसा कि महाकवि कालिदास ने कहा है—

निवायंता—पार्वती अपनी सखी से कहती है कि सखि ! इस ब्राह्मण को यहाँ से हटाओ, इसके होठ कांप रहे हैं इसलिये जान पड़ता है कि यह फिर भी कुछ कहना चाहता है । जो महापुरुषों को निन्दा करता है, केवल वही पापी नहीं होता किन्तु जो उससे निन्दा के वचन सुनता है बह भी पापी होता है²।

इसलिये जिन मुनियों की निन्दा करने वाले लोंक दूर से ही छोड़ देने के योग्य हैं। कहा भी है—

सलानां--दुष्ट पुरुष और कौटों का प्रतिकार दो प्रकार से होता है। या तो जूतों से उनका मुख भङ्ग कर दिया जाय या दूर से छोड़ दिया जाय ।

ागायार्थ-जिस प्रकार समस्त ताराओं में चन्द्रमा और समस्त वन्य-

१. कुमारसंभवे ।

२. परीक्षा करने के लिये महादेवजी एक ब्रह्मचारी का वेष बनाकर पार्वती के पास गये और महादेव की निन्दा करने लगे । पार्वतो ने उसके निन्दा वचनों का समाचान किया परन्तु वह फिर भी कहने के लिये उत्सुक हुआ तब सबीके प्रति पार्वती ने उपयुक्त बचन कहे । (जह तारयाण चंदो) यथा तारकाणां ताराणां मध्ये चांद्रोऽधिक इति सम्बन्धः । (भयराओ मयउलाण सव्वाणं) मृगराजः सिंहः मृगकुलानां मध्ये सर्वेषामपि अधिकः प्रधानभूतः (अहिओ तह सम्मत्तो) अधिकं तथा सम्यक्त्वं । केषां मध्ये सम्यक्त्वमधिकं, (रिसिसावयदुविहधम्माणं) ऋषीणां दिगम्बराणां श्रावकाणां च देशयतीनां द्विविधधर्माणां मध्ये सम्यक्त्वमधिकं प्रधानभूतमित्वर्थः अस्य धट्प्राभृतग्रन्थस्य प्रारंभपरिसमाष्तिपर्यंतं सम्यक्त्वमेव प्रशंसितमिति तात्प-र्यार्थो ज्ञातव्य इति भावः ।

जह फणिराओ रहेइ फणमणिमाणिक्ककिरण विष्फुरिओ । तह विमलदंसणधरो जिणभत्तोपवयणे जीवो ॥१४३॥ यथा फणिराजो राजते फणमणिमाणिक्यकिरणविस्फुरितः ।

तथा विमलदर्शनधरः जिनभक्तिप्रवचनो जोवः ॥१४३॥ (जह फणिराओ रेहइ) यथा मणिराजो घरणेन्द्रो राजते कोभते । कथंभूतः सन् राजते, (फणमणिमाणिक्ककिरणविप्कुरिओ) फणानां सहस्रसंख्यफटानां पशुओं में सिंह प्रधान है उसी प्रकार मुनिन्धर्म और श्रावक-धर्म इन दोनों धर्मोंमें सम्यक्त्व प्रधान है ॥१४२॥

विशेषार्थ—यहाँ उपमालकार द्वारा आचार्य सम्यग्दर्शन को महिमा बतलाते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार चन्द्रमा समस्त ताराओं में प्रधान है और सिंह समस्त मृगों के समूह में प्रधान है, उसी प्रकार सम्यक्त्व मुनि और श्रावक—दोनों धर्मों में प्रधान है, अतः सम्यक्त्व को सर्व प्रथम प्राप्त करना चाहिये। इस षट्प्राभत ग्रन्थ में प्रारम्भ से लेकर समाप्ति पर्यन्त सम्यक्त्व को ही प्रशंसा को गई है, यह इस गाथाका तात्पर्य है। १४२ ॥

गायार्थ—जिस प्रकार हजार फणाओं पर स्थित मणियों के बीच में विद्यमान माणिक्य की किरणोंसे देदोप्यमान शेषनाग शोभित होता है उसी प्रकार जिनभक्ति रूप सिद्धान्त से युक्त निर्मल सम्यग्दर्शन का धारक जीव शोभित होता है। १४३॥

पं० जयचन्द्रकृत वचनिकायां 'रेहइ' स्थाने 'सोहइ' पाठो विद्यते ।

सम्बन्धिनो ये मणयस्तेषु मध्ये यन्माणिक्यं पद्मरागमणिः मध्यफणाया उपरि स्थितं यल्छालरत्नं तस्य सर्वोत्तमरत्तस्य ये किरणा रक्मयस्तैविंस्फुरितो धरणेन्द्रः शेष-नागानामा पद्मावतीदेवीप्राणवल्लभः पातालस्वर्गलोकस्वामी यथा शोभते । (तह विमलदंक्षणघरो) तथा तेन प्रकारेण विमलदर्शनघरो निर्मलक्षम्यक्त्वर्मडितो मुनिः श्रावको वा । (जिणभत्तीपवयणो जीवो) जिनभक्तिरेव प्रवचनं गोप्यतत्व-सिद्धान्तः, जीव आत्मा चातूर्गतिकोऽपि पंचेन्द्रियसंज्ञिजीवः शोभते ।

तथा चोक्तं—

सम्यग्दर्शनसम्पन्मपि मातङ्गदेहनं। देवा देवं विदुर्भरम्गूढाङ्गारान्तरौजसं॥१॥ जह तारायणसहियं ससहरबिबं खमंडले विमले । भाविय तववयविमलं जिणलिंगं दंसणविसुद्धं ॥१४४॥

यथा तारागणसहितं शशघरविम्बं खमंडले विमले । भावितं तथा व्रतविमलं जिनलिंगं दर्शनविशुद्धम् ॥१४४॥ (जह तारायणसहिवं) यथा येन प्रकारेण तारागणसहितं । (ससहर्राबर्ब समंडले विमले) शशघर्राबर्वं चन्द्रमण्डलं समण्डले गगनमण्डले । कथंभूते, विमले-

था जिसके हजार फण थे, एक एक फण पर एक एक मणि चमक रही बी और बोच के फण पर माणिक्य अर्थात् लाल रङ्गका पद्मराममणि देदीप्यमान हो रहा था उन सब मणियों और माणिक्य की किरणों से उस नाग को बोभा अद्भुत जान पड़ती थी उसी नागकी उपमा देते हुए यहाँ आचार्य सम्यग्दर्शन की महिमा का वर्णन करते हैं, वे कहते हैं कि जिस प्रकार उन मणियों की किरणों से शेषनाग शोभित होता है उसी प्रकार निर्मल सम्यग्दर्शन का धारक मुनि सुशोभित होता है । सम्यग्दर्शन चारों गतियों के सज्ञो पञ्चेन्द्रिय भव्य जीव को हो सकता है तथा सम्यग्दर्शनके प्रभाव से उसकी महिमा बढ जाती है । जैसा कि कहा है—

सम्यग्दर्शन—जिसका आभ्यन्तर तेज भस्ममें छिपे हुए अङ्गारके समान देदीप्यमान है गणधरादिक, ऐसे सम्यग्दृष्टि चाण्डाल को भो देव कहते हैं।

गावार्य-जिस प्रकार निर्मल आकाश में तारागण से सहित चन्द्रमा का बिम्ब सुशोभित होता है उसी प्रकार निरतिचार वर्तों से सहित एवं सम्यग्दर्शनसे विशुद्ध जिनलिङ्ग सुधोभित होता है ॥१४४॥ ऽभ्रेपटलादिरहिते । (भाविय तह वयविमलं) तथा तेन प्रकारेण भावितयतं व्रतैमंण्डितं निरतिचारव्रतसहितं । (जिनलिंगं दंसणविसुद्धं) जिनलिंगं निर्युन्व-मुनिपुङ्गवदेषःदर्शनेन सम्यक्त्वेन विशुद्धं निर्मलं जिनशासने शोभते इति शेषः ।

इय णाउं गुणदोसं दंसणरयणं घरेह भावेण । सारं गुणरयणाणं सोवाणं पढम मोक्खस्स ॥१४५॥

इति ज्ञात्वा गुणदोषं दर्शनरत्नं धरत भावेन। सारं गुणरत्नानां सोपानं प्रथमं मोक्षस्य॥ १४५॥

(इय णाउं गुणदोसं) इत्यमुना प्रकारेण ज्ञात्ना सम्यग्विचार्य गुणदोष, सम्यस्त-गुणरत्नमण्डितः पुमान् गुणवान्-मिथ्यात्वेन दूषितो जीवो महापातकोति विज्ञाय । (दसणरयणं घरेह भावेण) दर्शनरत्नं सम्यक्त्वरत्न घरत यूयं भावेन शुद्धपरिणा-मेन कपटं परित्यज्येत्यर्थः । (सारं गुणरवर्णाणं) सारं उत्तमं गुणरत्नानां मध्ये प्रतसमितिगुप्त्यादीनां मध्ये दानपूजोपवासधील्व्रतादीनां च मध्ये सम्यक्त्वरत्नं सारं उत्तमं घरत झूर्यं यं हे भव्याः ! । कथंभूतं, (सोवाणं पढम मोक्खस्स) सोपानं आरोहणं पादारोपणस्थानं पढमं-प्रथमं । कस्य, मोक्षस्य सर्वकर्मझय-लक्षणोपलक्षितस्य मोक्षप्रासादस्योपरितनभूम्युपरिगमने, सिद्यपर्यायप्रापणमित्ययःं ।

विशेषार्थ—मेघपटल तथा धूलि आदि से रहित आकाश निर्मल कहलाता है जिस प्रकार निर्मल आकाश में ताराओं के समूह से सहित चन्द्रमण्डल सुशोभित होता है उसी प्रकार विमल अर्थात् पूर्वापर विरोध से रहित जिनशासन में निरतिचार व्रतों से युक्त एवं सम्यक्त्वसे विशुद्ध-निर्दोष जिनलिज्ञ--निर्ग्रन्थ मुनिका वेष सुशोभित होता है ॥ १४४॥

गायार्थ--इस प्रकार गुण और दोष को जानकर हे भव्य जीवो ! तुम उस सम्यग्दर्शन रूपी रत्नको भावसे धारण करो जो कि गुणरूपी रत्नों में श्रेष्ठ है तथा मोक्ष महल की पहली सीढ़ी है ॥ १४५ ॥

विशेषार्थ—सम्यक्त्वगुणरूपी रत्न से मण्डित पुरुष गुणवान् है और मिथ्यात्व से दूषित जीव महापापी है, ऐसा जानकर हे भव्य जीवो ! तुम उस सम्यक्त्व-रूपी रत्न को भाव अर्थात् शुद्ध परिणाम से घारण करो, जो कि मुनियों की अपेक्षा व्रत समिति गुप्ति आदि गुण रूपी रत्नों के मध्य सारभूत है तथा श्रावकों को अपेक्षा दान पूजा उपवास शील व्रत आदि गुण रूपी रत्नोंके बोच सर्वोत्तम है और सर्व कर्म-क्षय रूप मोक्ष महल के उपरितन भाग में जाने के लिये पहली सीढ़ी है ॥१४५॥

कत्ता भोइ अमुत्तो सरीरमित्तो अणाइणिहणो य । दंसणणाणुवओगो णिद्दिट्ठो जिणवरिदेहि ॥१४६॥

कर्त्ता भोगी अमूर्तः शरोरमात्रः अनादिनिधनञ्च । दर्शनज्ञानोपयोगः निर्दिष्टो जिनवरेन्द्रेः ॥ १४६ ॥

(कत्ता भोइ अमुत्तो) जोवशब्दः पूर्वोक्त एव ग्राह्यः । तेन जीव आत्मा कर्ता वर्तते न केवल कर्ता पुण्यस्य पापस्य च अपि तु भोगी पुण्यस्य पापस्य च फल्फ्य भोक्ता आस्वादक इति व्यवहारः, निश्चयेन तु केवलज्ञानस्य केवलदर्शनस्य च कर्ता वर्तते । तथा अनन्तसुस्रस्य भोक्ता अनन्तवीर्यस्य च । अमूर्तो मूर्ते श्वरीराद्रहित इति निश्चयः, व्यवहारेण तु कर्मबन्धप्रबन्धात् शरीरसंयुक्तत्वाच्च मूर्त इत्युच्यते । (सरीरमित्तो अणाइणिहणो य) शरीरमात्र शरीरसंयुक्तत्वाच्च मूर्त इति व्यवहारः तत्सुसदुःसाद्यावेदकत्वात्, निश्चयेन तु असंख्यातप्रदेश-स्वाल्लोकप्रमाणः । अनादिनिधनश्च जीवस्यादिर्नास्ति निधन विनाशश्च न वर्तते । (दंसणणाणुवयोगो) दर्शनज्ञानोपयोगः व्यवहारेण चत्वारि दर्शनानि अष्टज्ञानानि उभयाम्यां द्विविधोपयोगः, निश्चयेन तु केवल्जज्ञानकेषऌदर्शनाम्यां द्विविघोपयोगः

गाणार्थं---जिनेन्द्र देव ने जोवको कर्ता, भोक्ता, अमूर्त, शरीर-प्रमाण, अनादिनिधन, तथा दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग से युक्त - कहा ॥१४६॥

विशेषार्ध—यह जीव व्यवहार नयसे पुण्य पापका कर्ता है तथा पुण्य पापके फलको भोगने वाला है और निश्चयनय से केवल ज्ञान तथा केवल-दर्शन का कर्ता है और अनन्तसुख तथा अनन्तवीर्यका भोक्ता है। मूर्ति अर्थात् शरीरसे रहित होनेके कारण अमूर्त है, यह निश्चय नयका कथन है और कर्मबन्ध तथा शरीर से संयुक्त होनेके कारण मूर्त है, यह व्यवहार नयका कथन है। क्योंकि आत्मा शरोर-सम्बन्धी सुख दुःख आदिका वेदन करता है इसलिये व्यवहारकी अपेक्षा शरीर-प्रमाण है तथा निश्चयको अपेक्षा असंख्यात-प्रदेशी होनेसे लोक-प्रमाण है। यह जीव द्रव्य दृष्टि से अनादि अनन्त है [और पर्यायदृष्टि से सादि सान्त है] व्यवहार वयकी अपेक्षा चार प्रकारके दर्शनोपयोग और आठ प्रकार के ज्ञानोपयोग से सहित है। निश्चयनय की अपेक्षा केवलज्ञान और केवलदर्शन इन दो उपयोगों से सहित है और परम निश्चय नयकी अपेक्षा तन्मय होने के

षद्प्रामृते

परमनिइचयेन तु आत्मा केवलज्ञानमेव तन्मयत्वात् । (णिदिट्ठो जिणवरिंदेहि) निर्दिष्टः प्रतिपादितः कथित आत्मा जिनवरेन्द्रैः सर्वज्ञवीतरागैरिति तात्पर्यायैः ।

दंसणणाणावरणं मोहणियं अंतराइयं कम्मं । णिट्टवइ भवियजीवो सम्मं जिणभावणाजुत्तो ॥१४७॥

दर्शनज्ञानावरणं मोहनीयमन्तरायं कर्म्मं । निष्ठापयति भव्यजोवः सम्यग्जिनमावनायुक्तः ॥ १४७ ॥

(दंसणणाणावरणं) दर्शनावरणं नवविधं, तत्र चक्षुर्दर्शनावरणं अचक्षुर्दर्शना-वरणं अवधिदर्शनावरणं केवलदर्शनावरणचेति चतुर्विधं दर्शनावरणं निदा-निद्रानिद्रा-प्रचला-प्रचला स्त्यानगृद्धिश्वेति पंचविधा निद्रा एवं नवविधं दर्शनावरणं । मतिज्ञानावरणं श्रुतज्ञानावरणं अवधिज्ञानावरणं मनःपर्ययज्ञानावरण केवल्झानावरणं चेति पंचविधं ज्ञानावरणं । (मोहणियं अंतराइयं कम्मं) मोहनीयं कर्म अष्टीविंशतिभेदं, अन्तरायं कर्म पंचभेदे । तत्राष्टाविकातिभेदं मोहनीयं कर्म अष्टीविंशतिभेदं, अन्तरायं कर्म पंचभेदे । तत्राष्टाविकातिभेदं मोहनीयं कर्म यथा-तत्र त्रिविधं दर्शनमोहनीयं सम्यक्त्वं मिथ्यात्वं सम्यग्निष्ध्यात्वं चेति । चारित्रमोहनीयं पंचविंशतिभेदं, अक्षायभेदा नव हास्यं रतिः अरतिः झोको भयं जुगुप्सा स्त्रोवेदः पुंवेदो नपुं सकवेदश्चेति नव नोकषाया अकषाया उज्यन्ते

कारण आत्मा केवल ज्ञानरूप ही है, ऐसावीतराग सर्वज्ञ देवने कहा है॥ १४६।।

गायार्थ---सम्यक् जिनभावना से युक्त अर्थात् जिनसम्यक्त्व का आराधक भव्य जीव, ज्ञानावरण मोहनीय और अन्तराय कर्मका क्षय करता है ॥ १४७॥

विशेषार्थं----चक्षुर्दर्शनावरण, अचक्षुर्दर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण और केवलदर्शनावरण ये चार दर्शनावरण तथा निद्रा, निद्रा-निद्रा प्रचला, प्रचला, प्रचला और स्त्यानगृद्धि ये पाँच निद्राएँ दोनों मिलाकर दर्शनावरण कर्म नौ प्रकारका है। मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण ये पाँच ज्ञानावरण के भेद हैं। मोहनीय के अट्ठाईस भेद हैं जिनमें सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व ये तीन दर्शन मोहनीय के भेद हैं। चारित्र मोहनीय के पच्चीस भेद हैं जिनमें हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्री वेद, पुरुषवेद और नपु सकवेद, ये नो कषाय अथवा अकषाय कहलाती हैं क्योंकि ये यथाख्यातचारित्र को घातक ययास्यातचारित्रधातकत्वात् । धोडश कथायाः । तयाहि-अनन्तानुबन्धी क्रोघोऽन-स्तानुबन्धी मानोऽनन्तानुबन्धिनी मायाऽनन्तानुबन्धी लोभश्चेति चत्वारः कषायाः सम्यक्त्वधातकाः पूर्वोक्तं त्रिविधं दर्शनमोहनीयं च । अप्रत्यास्यानक्रोघोऽप्रत्यास्या-नमानोऽप्रत्यास्यानमायाऽप्रत्यास्यानलोभइचेति चत्वारः कषायाः श्रावकव्रतघातकाः । प्रत्यास्यानक्रोधः प्रत्यास्थानमानः प्रत्यास्थानमाया प्रत्यास्थानलोभइचेति चत्वारः कषाया महाव्रतघातकाः । संज्वलनक्रोधः संज्वलनमानः संज्वलनमाया संज्वलनलोभ-ष्वति चटनारः कषाया यथास्थात-चारित्रघातकाः । अन्तरायः पंचविधो दानान्त-रायो लाभान्तरायो भोगान्तराय उपभोगान्तरायो वीर्यान्तरायश्वति । एतत्सवं कर्म (णिट्ठवड भवियजीवो) निष्ठापयति क्षयं नयति, कोऽसौ ? भविकजीवो भव्यजनः । (सम्मं जिणभावणा जुत्तो) सम्यग्जिनभावनायुक्तो जिनसम्यक्त्वारा-धक इत्यर्थः ।

बलसोक्खणाणवंसण चत्तारि वि पायडा गुणा होति । षट्ठे घाइचउक्के लोयालोयं पयासेदि ॥१४८॥ बलसोक्यज्ञानदर्शनं चत्वारोपि प्रकटा गुणा भवन्ति ।

नष्टे घातिचतुष्के लोकालोक प्रकाशयति ॥ १४८ ॥

(बलसोक्खणाणदंसण) दल चानन्तवीर्यं केवलज्ञानदर्शनाम्यामनन्तानन्तद्रव्य-पर्यायस्वरूपरिच्छेदकत्वलक्षणा शक्तिरनन्तवीर्यमुख्यते न तु कस्यचिद्घातकरचे मनवान् बलं विवधाति सूक्ष्मगुणाभावप्रसक्तेः तथा चोक्तमाशाघरेण महाकविना----

हैं। शेष सोलह कथाय कहलाती हैं जिनमें अनन्तानुबन्धी कोध मान माबा और लोभ ये चार कथाय तथा पहले कहा हुआ तीन प्रकार का बर्शनमोहनोय ये सात प्रकृतियाँ सम्यक्त्व का घात करने वाली हैं। कप्रत्याक्यान कोध मान माया और लोभ ये चार कथाय श्रावक के व्रतों-का धात करने वाली हैं। प्रत्याख्यान कोध मान माया और लोभ ये चार क्याय महावत की घातक हैं तथा सज्वलन कोध मान माया और लोभ में धार कथाय यथाख्यातचारित्र की घातक हैं। अन्तराय पाँच प्रकार को दे- रानान्तराय, लाभान्तराय, सोगान्तराय, उपभोगान्तराय और धीर्यान्तराय। सम्यग् जिन भावनासे युक्त भव्य जीव इन सब कर्मोका क्षय करता है।

कासोक्स-सम्यग्दर्शन के प्रभाव से चार वातिया कर्मोंके नष्ट होने पर इस बीव के बरू, सुख, ज्ञान ओर दर्शन ये चार गुण प्रकट होते हैं तथा क्सू कोक बोर अल्लोक को प्रकाशित करने लगता है ॥ १४८ ॥ यद्व्याहंति न जातु किचिदपि न व्यावहत्यते केनचिद् । यन्निष्पीतसमस्तवस्त्वपि सदा केनापि न स्पृक्ष्यते । यत्सर्वज्ञसमक्षमप्यविषयस्तस्यापि चार्थाद्गिरां । तद्वः सूक्ष्मतमं ^{क्}स्वतत्वमभया भाव्यं भवोच्छित्त्वे ॥ १ ॥

तथा अनन्तसौस्यं भगवतः सिद्धस्य भवति तदप्यनन्तज्ञानगुणसद्भावात् परमानन्दोत्पत्तिरुक्षणं वस्तुस्वरूपपरिच्छेदकत्वमेव वेदितव्यं । तथा चोक्तं विमान-पंक्त्युपास्थानपर्यन्ते । तथा हि—-

> शास्त्रं शास्त्राणि वा ज्ञात्वा तीव्रं तुष्यन्ति साधवः । सर्वतत्वार्धविज्ञाना न^२ सिद्धाः सुखिनः कथं ॥

विशेषार्थ—यहाँ बलका अथें अनन्त वीर्य है। केवलज्ञान और केवल-दर्शनके द्वारा अनन्तानन्त द्रव्य और उनके पर्यायोंके स्वरूप को जाननेकी जो शक्ति है वह अनन्तवीर्य कहलाती है। भगवान् किसी का व्याघात करने में अपने बलका प्रयोग नहीं करते अन्यथा उनके सूक्ष्मत्व गुणके अभाव का प्रसङ्ग आ जायगा। जैसा कि महाकवि आशाघर जी ने कहा है—

यद्वव्याहन्ति — जो कभी किसी का व्याघात नहीं करता और न कभी किसी के द्वारा व्याघात को प्राप्त होता है। जो समस्त वस्तुओं के आकार को सदा स्वयं निष्पीत किये है अर्थात् अपने आपमं प्रतिबिम्बित किये है परन्तु स्वयं किसी अन्यके द्वारा स्पृष्ट नहीं होता। जिसे सर्वज्ञ प्रत्यक्ष जानते हैं तो भी जो वाणीका विषय नहीं है बह अत्यन्त सूक्ष्म तत्व ही तुम्हारा निजका तत्व है। हे सप्तभय से रहित सम्यन्दृष्टि पुरुषों ! संसारका उच्छेद करने के लिये तुम उसीका चिन्तवन करो।

इसी प्रकार सिद्ध परमेष्ठी के जो अनन्त सुख नामका गुण है वह भी अनन्त ज्ञान गुण के सद्भाव से परमानन्द की उत्पत्ति रूप वस्तु स्वरूप को जानने की जो योग्यता है तद्ररूप ही जानना चाहिये।

जैसा कि विमान पंक्तिव्रत की कथाके अन्त में कहा गया है---

शास्त्रं जब एक या चार छह शास्त्रोंको जानकर साधु अत्यन्त संतुष्ट होते हैं-सुखी होते हैं, तब समस्त तत्वार्थ को जानने वाले सिद्ध भगवान् सुखी क्यों नहीं होंगे ? अवस्य होंगे ॥१॥

- १. मभवा म० ।
- २. विज्ञाल म०।

चक्रिणां कुरुजातानां नागेन्द्राणां मरुत्वताम् । अनन्तगुणितं सौक्यमुत्तरोत्तरवर्तिनां ।।२।। तस्त्रिकालभवात् सौक्यादनन्तगुणितं सुखं । सिद्धानां तु क्षणार्धेन ते वो यच्छन्तु तच्छिवं ।।३।।

तथा ज्ञानं केवलज्ञानं लोकालोकवस्तुपरिज्ञायकं, दर्शनं चानन्तदर्शनं ज्ञानक्षण एव वस्तुसत्तास्वरूपेण ग्रहणलक्षणं बोढव्यं (चत्तारि वि पायडा गुणा होंति) धरवारोऽपि गुणाः प्रकटा भवन्ति । कस्मिन् सति, (णट्ठे घाइचउक्के) नष्टे विनाशं प्राप्ते घाइचउक्के—मोहज्ञानावरणदर्शनावरणान्तरायात्मकेवलज्ञान-साम्राज्यविष्ट्वंसकारके कर्मशत्रुचतुष्ट्ये । (लोयालोयं पयासेदि) लोकालोकं प्रकाश-यति । लोक्यन्ते दृश्यन्ते जीवपुद्गलधर्माधर्मकालाकाशा यस्मिन्निति लोकः । ते न

चक्रिणां---चक्रवर्ती, भोगभूमिज, मनुष्य, नागेन्द्र और देव इनके उत्तरोत्तर अनन्त-गुणा सुख होता है ॥२॥

इसी प्रकार ज्ञान शब्द से लोक तथा अलोककी वस्तुओंको जानने बाल केवलज्ञान लेना चाहिये और दर्शन शब्द से अनन्त दर्शन अर्थात् केवल-दर्शनका ग्रहण करना चाहिये। यह केवलदर्शन ज्ञानके साथ ही उस्तुके सत्ता स्वरूपको ग्रहण करनेवाला होता है। मोह, ज्ञानावरण, ब्राह्मावरण और अन्तराय ये चार कर्म, आत्माके केवलज्ञान रूप साम्राज्य का विध्वंस करने वाले कर्म शत्रु हैं। इनका क्षय होनेपर ही ऊपर कहे हुए केवल-ज्ञामादि गुण प्रकट होते हैं। जिसमें जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, बाकाश और काल ये छह द्रव्य दिखाई देते हैं--वह लोक है और जिसमें सब बोर अनन्तानन्त जीव आंदि पदार्थ नहीं दिखाई देते हैं वह अलोक

१. त्रिलोकसारस्य निम्नाङ्किताः गाथा एतेषां श्लोकानां मूलाघारः प्रतीताः---एवं सत्थं सब्वं सत्थं वा सम्म मेत्थ जाणंता । तिष्वं तुस्संति णरा कि ण समत्थत्थतच्चष्टा ॥१॥ सबिक कुरु फणि सुरिदे सह मिदेजं सुहं तिकालभवं । ततो वर्णत गुणिदं सिद्धाणं दांषसूष्टं द्वोदि ॥९॥

षट्प्रामृते

स्रोक्यन्ते न दृश्यन्ते यस्मिन् संसारे सर्वतोऽनन्तानन्तजीवादयः पदार्थाः सोऽस्रोकः' स्रोकश्चालोकश्च लोकालोकस्तं लोकालोकं प्रकाशयति जानाति पश्यति चेत्यर्थः ।

णाणो सिव परमेट्ठी सब्बफ्ट विफ्टु चइमुहो बुद्धो । अप्पो वि य परमप्पो कम्मविमुक्को य होइ फुडं ॥१४९॥ ज्ञानी शिवः परमेथ्ठी सवंज्ञो विष्णुः चतुर्मु खो बुद्धः ।

आत्मापि च परमात्मा कर्मविमुक्तइच भवति स्फुटम् ।।१४९।।

सम्यग्दर्शनप्रशावेणायं संसारी जीवः सिद्धो भवतीति न केवलं भवतीत्पपि शब्दस्यार्थः । स सिद्धः कयंभूतः तस्य नाममालां प्रतिपादयन्माह भगवान् कुन्दकुन्दाचार्यः— (णाणी सिव परमेट्ठी) ज्ञानी ज्ञानमनन्तकेवलज्जानं विद्यते यस्य स भवति ज्ञानी । शिवः परमकल्याणभूतः शिवति लोकाप्रे गच्छतीति शिवः । ''नाम्युपधप्रीक्रुगृज्ञां कः'' । परमेष्ठी इन्द्रचन्द्रधरणेन्द्रवंदिते पदे तिष्ठतीति शिवः । ''नाम्युपधप्रीक्रुगृज्ञां कः'' । परमेष्ठी इन्द्रचन्द्रधरणेन्द्रवंदिते पदे तिष्ठतीति शिवः । अणादिकोऽमं प्रयोगः । (सम्यफ्ट्र विण्ड्र घउमुहो बुद्धो) सर्वं लोका-लोकं जानाति वेत्तीति सर्वज्ञः । वेदेष्टि केवलज्जानेन लोकालोकं व्याप्नोतिति विष्णुः "विषेः किच्च'' इत्यनेन युप्रत्ययः स च कित् कानुबन्धत्वान्न गुणः । षतु-

है। पातिचतुष्क के नष्ट होने पर यह जीव लोक और अलोक को प्रकाशित करने लगता है अर्थात् जानने देखने लगता है॥१४८॥

गायार्थ- सम्यग्दर्शन के प्रभाव से यह संसारी जीव भी झानी, शिव, परमेष्ठी, सर्वज्ञ, विष्णु, चतुमु ख, बुद्ध और परमात्मा हो जाता है तथा निष्चय-पूर्वक कर्मों से मुक्त हो जाता है ॥१४९।

विशेषार्थ---सम्यग्दर्शनके प्रभावसे यह संसारी जीव सिद्ध हो जाता है, मात्र इतनी ही बात नहीं है किन्तु सर्वज्ञ आदि भी होता है, यह अपि शब्दका अर्थ है। वह सिद्ध कैसा होता है ? उसकी नामावली का प्रति-पादन करते हुए श्री भगवान कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं---वह सिद्ध ज्ञानी है अर्थात् अनन्त---केवलज्जानसे युक्त होनेके कारण ज्ञानी है। परम कल्याण भूत होनेसे शिव है अथवा 'शिर्वात लोकाग्रे गच्छतीति शिवः' इस व्युत्पत्ति से लोकाग्र को प्राप्त होनेसे शिव है। शिव शब्द में 'नाभ्युपधप्रोक्टगृज्ञां क' इस सूत्र से क प्रत्यय हुआ है। इन्द्र चन्द्र तथा धरणेन्द्र से वन्दित परम पद---उत्क्रुब्ट पदमें स्थित होनेसे परमेष्ठो है। परमेष्ठी शब्द उणादि प्रकरण से सिद्ध होता है। समस्त लोकालोक को

१. पदार्थाश्वाकोकः म० क० ।

सुंद्धः भूतपूर्वनयापेक्षया चतुर्मुंद्धः चतुर्विक्रुसवंसम्यानां सन्नुसस्य दृष्यमानत्वात् सिद्धावस्थायां तु सर्वत्रावलोकनक्षीलस्वात् चतुर्मुंद्धः । बुद्धघते सर्वं जानातीति बुद्धः । ''ञ्यनुबन्धमतिबुद्धिपूजार्थेस्पः क्तः'' इत्यनेन सूत्रेण वर्तमानकाले क्तप्रत्ययः । (अप्पो वि य परमप्पो) आत्मापि च संसारी जीवोऽपि च परमात्मा अहूंन् सिद्धरुच भवति । कवंभूतः सिद्धः, (कम्मविमुक्को य होइ फुडं) कर्मम्यो विमुक्तो रहितो भवति संजायते स्फुटं निश्चयेनेति छेषः । एतत् सम्यग्दर्शनस्य महान् महिमा ज्ञातव्य इति भावार्थः ।

इय घाइकम्ममुक्को अट्ठारहवोसवज्जिओ सयलो । तिहुवणभवणपदीवो देउ सम उत्तमं बोहि ॥१५०॥

इति घातिकर्यमुक्तः अष्टादशदोषवर्ण्जितः सकलः ।

त्रिभुवनभवनप्रदीपः ददातु मह्यमुत्तमं बोधम् ॥१९०॥ (इय धाइकम्ममुक्को) इति पूर्वोक्तलक्षणघातिकर्मभ्यो मुक्तः । (अट्ठारह-दोसवज्जिओ सयलो) अख्टारघादोधवर्जितो रहितः, सकलः सह कलया धरीरेण वर्तते इति सकलः तेन सस्य घर्मोपदेशोऽपि घटते शरीरसंयुक्तपरमाप्तत्वात् । एते-नेदं वचनं प्रत्युक्तं भवति—

आनता है इसलिये सर्वन्न है। केवलज्ञानके ढारा लोकालोक को व्याप्त करता है इसलिये विष्णु है। विष्णु घब्द में 'विषे: किच्च' इस सूत्र से नु प्रत्यय हुआ है तथा कित् होनेके कारण गुण नहीं हुआ है। मूतपूर्व नयकी अपेक्षा अर्थात् समवक्षरण में चारों दिशाओं में बैठे हुए सभ्यों को सन्मुख दर्शन होते थे इस विवक्षासे चतुमु'ख कहलाता है और सिद्धा-बस्या में सब ओर के पदार्थों को जानता देखता है इसलिये चतुमुंख कहलाता है। समस्त पदार्थों को जानता देखता है इसलिये चतुमुंख कहलाता है। समस्त पदार्थों को जानता है इसलिये बुद्ध है। बुद्ध शब्द में 'ज्यनुबन्ध-मति-बुद्धि-पूजार्थेभ्यः क्तः' इस सूत्र से वर्तमान काल में 'का प्रत्यय हुआ है। अर्हन्त और सिद्ध होनेसे परमात्मा कहलाता है तथा निष्टच्य से ज्ञानावरणादि कर्मोंसे वियुक्त होता है। यह सब सम्यग्दर्शन को महान् महिमा जानना चाहिये।।१४९॥

गावार्ष---इस प्रकार जो घातिया कर्मोंसे मुक्त हो चुके हैं, अठारह दोषों से रहित हैं तथा तीन लोक रूपी भवन को प्रकाशित करने के लिये श्रेष्ठ दीपक के समान हैं वे सकल अर्थात् परमौदारिक शारीरके घारक अर्हन्त भगवान् मुझे उत्तम ज्ञान-केवलज्ञान देवें ॥१५०॥

विझेषार्थ----अहंन्त भगवान् पूर्वोक्त चार घातिया कमोंसे रहित हैं। बठारह दोषों से रहित हैं और सकल अर्थात् कला--परमौदारिक शरीश

⁷⁴

¹अदृष्टविग्रहाच्छान्ताच्छिवात्परमकारणात् ।

नादरूपं समुत्यन्नं शास्त्रं परमदुर्लभं ।

अश्वरीरस्य शास्त्रीत्पत्तिर्नं संगच्छते कूमंरोमवत् बंघ्यास्तनम्बयवत् शशविषा-मवत् विष्णुपदलतांतवत् मरुमरोचिकोदकवत् "अष्टौ स्थानानि वर्णानां" इति शब्दानां करणकारणत्वात् । (तिहुवणभणवपईवो) त्रैलोक्यगृहस्य दीपः प्रदातेकः त्रिभुवनग्रदीपः । (देउ मम उत्तमं बोहं) ददातु मम मह्यं उत्तमं बोधं केवलज्ञानं । इतीष्टप्रायंना श्रीकुन्दकुन्दाचार्याणां शास्त्रकरणस्य फलाभिलषित्वात् । अथ के ते अष्टादश्व दोषा इति चेदुक्ता अप्युच्यन्ते---

*सुत्पिपासाजरातकूजन्मान्तकभयस्मयाः ।

न रागद्वेधमोहारुच यस्याप्तः सः प्रकीत्यंते ॥ १ ॥

से सहित हैं। यहां सकल विशेषण देने से अईन्त भगवान के शरीर संयुक्त परमात्म-पना प्रकट किया है इसीसे उनके धर्मोपदेश भी घटित हो जाता है। अहन्त परमेष्ठो को शरीर सहित मान लेनेसे निम्नाङ्कित कथन खण्डित हो जाता है—

अवृष्ट---'जिसका शरीर अदृष्ट है, जो शान्त है तथा जो परम कारण रूप है, उस शिव से परम दुलंभ नाद रूप शास्त्र उत्पन्न हुआ है।'

जिस प्रकार कछुए से रोम की, बन्ध्या से पुत्रकी, शश से सींग को, आकाश से पुष्प को और मृगमरीचिका से जल की उत्पत्ति असंगत है उसी तरह शरोर-रहित शिव से शास्त्र की उत्पत्ति असंगत है। क्योंकि, अध्दी स्थानानि वर्णानाम वर्णों की उत्पत्ति कण्ठ तालु आदि आठ स्थानों से होती है, इस नियम के अनुसार शब्दों की उत्पत्ति का कारण करज शरीर ही हो सकता है।

अहेंन्त भगवान् तोन लोक रूपी घर को प्रकाशित करनेके लिये उत्तम दीप-स्वरूप हैं। श्री कुन्दकुन्दाचार्य शास्त्र-रचना के फलकी अभिलाषा रखते हुए इष्ट प्रार्थना करते हैं कि वे अरहन्त भगवान् मेरे लिये उत्तम ज्ञान-केवलज्ञान प्रदान करें।

अब उन अठारह दोषोंको कहते हैं जो अरहन्त भगवान् में नहीं होते।

कुरियपासा—भूख, प्यास, बुढ़ापा, रोग, जन्म, मरण, भय, गर्व, राग-

- १. मर्चास्तलके ।
- २. रत्नकरण्डमानकाषारे ।

चकाराण्चिन्ताऽरतिनिद्राविषादस्वेदखेदविस्मया गृह्यन्ते । निर्दोषपरमाप्त-विचारोऽञ्टसहस्रोन्यायकुमुदचन्द्रोदयप्रमेयकमलमार्तण्डाप्तपरीक्षातत्वार्थराजवार्तिक-तत्वार्यक्लोकवार्तिकन्यायविनिष्चयालक्षुरारिषु महाशास्त्रेषु विस्तरेण ज्ञातस्यः ।

जिणवरचरणंबुरुहं णमंति जे परमभत्तिराएण ।

ते जम्मवेल्लिम्लं खणंति वरभावसत्थेण ॥१५१॥ जिनवरचरणाम्बुह्हं नमन्ति ये परमभक्तिरायेण ।

ते जन्मवल्लीमूलं खनन्ति वरभावशस्त्रेण ॥१५१॥ (जिणवरचरणंबुरुह) जिनोऽनेकविषमभवगहनव्यसनप्रापणहेतून् कर्मारातीन् अयतीति जिनः ''इणजिक्टाविम्यो 'नक्''। जनश्चासौ वरः श्रेष्ठो जिनवरः । अथवा जिनानां गणघरदेवादीनां मध्ये वरः श्रेयस्करो जिनवरस्तस्य चरणावेवाम्बु-रुहं जिनवरचरणाम्बुरुहं श्रीमद्भगवदर्हरस्वंज्ञवीतरागणादपद्मं । (णर्मति जे परम-

द्वेष, मोह और चकार से संगृहीत चिन्ता अरति निद्रा विषाद पसीना खेद और आश्चयं ये अठारह दोष जिसमें नहीं होते हैं वह आप्त कहा जाता है।

निर्दोष आप्त का विचार अध्ट-सहस्री, न्याय कुमुदचन्द्रोदय, प्रमेय-कमलमातंण्ड, आप्तपरीक्षा, तत्त्वार्थराजवातिक, तत्त्वार्थरलोक-वातिक तथा न्यायविनिरचयालङ्कार आदि शास्त्रों में विस्तारसे जानना चाहिये ॥१५०॥

गायार्थ----जो उत्कृष्ट भक्तिसम्बन्धी रागसे जिनेन्द्रदेवके चरण कमलों को नमस्कार करते हैं वे उत्तम भाव रूपी शस्त्रके द्वारा संसाररूपी लताके मुलको उखाड़ देते हैं ॥१५१॥

विशेषार्थ-'जयतीति जिनः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो संसार रूपी सघन वन में अनेक विषय कष्टोंको प्राप्त कराने वाले कर्मरूपी शत्रुओं को जीतता है वह जिन कहलाता है। 'इण् जिकृषिभ्योनक्' इस सूत्र से 'जि जये' धातु से नक् प्रत्यय होने पर जिन शब्द सिद्ध होता है। जो जिन होकर श्रेष्ठ है वह जिनवर है अथवा जिन शब्द से गणधर देव आदिका ग्रहण होता है उनमें जा वर-श्रेष्ठ है वे जिनवर-तीर्थंकर परम-देव कहलाते हैं। उन तीर्थंकर सर्वज्ञ अहंन्त देवके चरण कमलों को निकट भव्य जीव परमभक्ति रूप अनुराग अर्थात् अकृत्रिम स्नेह से नमस्कार

१. इत्यनेन जि जमे न इत्यस्य घातोनंगादेशः क इत् कित्वान्तैङ् ।

भत्तिराएग) नमन्ति नमस्कुर्वन्ति थे आसन्तभथ्याः परमभत्तिरागेण परमभक्त्यनु-रागेणाक्तत्रिमस्नेहेन । (ते जम्मवेल्लिमूलं) ते पुरुषा जम्मवरूलोमूलं खनन्तीति सम्बन्धः, जन्मैव वल्ली संसारवोध्त् अनन्तानन्तप्रसारत्वात् तस्था मूधं कन्दं क्रानंति उत्पाटयन्ति उद्धरन्ति समूलकार्वं कवन्तीत्यर्थः भोहस्य विष्ण्णेयकत्वात्, संसारवल्लीमूलं मिथ्यात्वमोहः तस्यः मूलं सनन्ति सम्यखूष्टयो भवन्ति । उक्तं व श्रीभोजराजमहाराजेन—

ेसुप्तोत्थितेन सुमुखेन सुमंगलाय दृष्टव्यमस्ति यदि मंगलमेव वस्तु । अम्येन कि तदिह नाथ ! तबैब वक्त्रं त्रैलोक्यमंगलनिकेतनमीक्षणीयं ॥ १ ॥

(खणंति वरभावसत्वेण) जनन्ति निमूलकार्य कषन्ति; केन कृत्वा २ वर-भावशस्त्रेण विशिष्टभावनाकुद्दालेन दात्रादिना वा ।

जह सलिलेण २ण लिप्पइ कमलणिपत्तं सहावपयडोए । तह भावेण ण लिप्पइ कसायविसएहि सप्पुरिसो ॥१५२॥

यथा सलिलेन न लिप्यते कमलिनोपत्रं स्वभावप्रकृत्या ।

तथा भावेन न लिप्यते कषायविषयेः सत्पुरुषः॥१५२॥

(वह सलिलेज ण लिप्पइ) यथा सेन प्रकारेण सलिलेन जलेन न लिप्यते न स्पृथ्यते । कि तत्कर्मतापन्न, (कमलणिपत्तं सहावपयढोए) कमलिनीपत्रं पट्मि-नीच्छदः स्वभावप्रक्रत्या निजस्वभावेन । (तह भावेण ण लिप्पइ) तया तेन प्रकारेण

करते हैं वे जन्मवल्ली अर्थात् संसार रूपी लता के मूल को-जड़को स्रोद डालते हैं। संसार रूपी लता का मूल मिथ्यात्व रूप मोह है उसे जो विधिष्ट भावना रूपी कुदालो के द्वारा स्रोदते हैं वे सम्यादृष्टि हैं। जैसा कि भोज महाराज ने कहा है---

सुप्तोस्थितेन—सोकर उठे हुए सत्पुरुष को यदि सुमङ्गल के कोई माङ्गलिक वस्तु देखने योग्य है तो हे नाथ ! और दूसरो वस्तु की क्या आवश्यकता है ? उसे तीन लोक के मङ्गलोंका घर स्वरूप आपके श्री मुखका ही दर्शन करना चाहिये।

गायार्थ---जिस प्रकार कमलिनी का पत्ता स्वभाव से ही जलसे लिप्त नहीं होता उसी प्रकार सत्पुरुष-सम्यग्दृष्टि मनुष्य स्वभाव से ही कषाय और विषयों से लिप्त नहों होता ॥१५२॥

१. जिन चतुरविंशदिका स्तोत्रे भृपाल कवेः ।

२. न क्रिपड् क० क० ।

भावप्राभृतम्

भावेन जिनघरणकमरूभक्तिरूक्षणसम्यक्त्वेन करणभूतेन इत्वा । कैः कर्तुं भूतैः न लिप्यते, (कसायविसएहि सप्पुरिसो) कषायैः क्रोघमानमायालोभैः, विवयैः विषयसुसैः स्पर्शेरसगन्ध वर्णधब्दैः सत्पुरुषः सम्यग्दुष्टिजीदः । तथा चोक्तं---

धात्रीबालाऽसतीनाथपणिनीदलवारिवत् ।

दग्धरज्जुवदाभासं भुव्ज्जन् राज्यं न पापभाक् ॥ १ ॥

ते च्चिय भणामिहं जे सयलकलासीलसंजमगुणेहि । बहुदोसाणावासो सुमलिणचित्तो ण सावयसमो सो ॥१५३॥

तानेव भणामि अहं ये सकलकलाशोलसंयमगुणैः ।

बहुदोषाणामावासः सुमलिनचित्तः न श्रावकसमः सः ॥१५३॥

(ते ज्विय भगामिहं जे) तानेव सत्पुरुषानहं कुन्दकुन्दाचार्यो भणामि कथ-यामि । तान् कान्, ये पुरुषाः (सयलकलासीलसंजमगुणेहिं) सकलकलाः परिपूर्ण-

विशेषार्थ--जिस प्रकार निजस्वभाव के कारण कमलिनी का पत्ता पानो से लिप्त नहीं होता है उसो प्रकार सत्पुरुष सम्यग्दृष्टि जीव, जिनेन्द्र देवके चरण कमलोंकी भक्ति रूपी सम्यक्त्व के कारण क्रोघादि कषायों तथा स्पर्धादि विषयों से लिप्त नहीं होता।

जैसा कि कंहा है---

षात्रीवाला--सम्यग्दृष्टि सनुष्य धात्रीवाल, असतीनाथ, कमलिनो-पत्र पर स्थित जल और जली हुई रस्सी के समान राज्यका उपभोग करता हुआ भी पापी नहीं होता है। भावार्थ---जिस प्रकार घाय बालक का लालन-पालन करती हुई भो उसे अपना बालक नहीं मानती है, जिस प्रकार पुरुष अपनी दुश्चरित्रा स्त्रोसे सम्बन्ध रखता हुआ भी उससे विरक्त रहता है, जिस प्रकार कमलिनोके पत्र पर पड़ा हुआ पानी उस पर रहता हुआ भी उससे भिन्न रहता है और जली हुई रस्सी जिस प्रकार ऊपर से भांजको लिये हुई दिखती है परन्तु भोतर से अत्यन्त निर्वल रहतो है इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव राज्य आदिका उपभोग करता हुआ भी अन्तरङ्ग से आसक्त नहीं होता, अतः पायी नहीं कहलाता।

गामार्थ--मैं उन्हीं को सत्पुरुष अथवा मुनि कहता हूँ जो ग़ील संयम तथा गुणोंके द्वारा परिपूर्ण हैं। जो अनेक दोषोंका स्थान तया अत्यन्त मलिन चित्त है वह तो श्रावक के भी समान नहीं है।। १५३।।

विशेषार्थ---श्चो कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं कि जो शील संयम तथा गुणों के ढारा सकल कला हैं अर्थात् समीचोन रीति से परीक्षा देने वाले कलनाः सम्यक्परीक्षादायिनः, कैः ? शीलसंयमगुणैः शीलनिकषक्षमाः संयमनिक∸ वक्तमा गुणनिकषक्षमा भवन्ति । तथा चोक्तं---

यया चतुर्भिः कनकं परीक्ष्यते निघर्षणच्छेदनतापताडनैः ।

तयैव धर्मो विदुषा परोक्ष्यते श्रुतेन बौरेलेन तथोदयागुणै: ॥ १ ॥ तथा चोक्तं---

संजमु सीखु सउच्चु तवु जसु सूरिहि गुरु सोइ।

दाहळेदकसघायसमु उत्तमु कंचणु होइ ॥ १ ॥

(बहुदोसाणावासो) बहूनां दोषाणामतोघारादीनामावासो गृहं, अथवा वधूनां स्त्रीणां दोष्णां बाहूनां आवास आल्गिको मुनिः । (सुमलिणचित्तो ण सावयसमो सो) सुष्ठु अतीव मलिनचित्तो रागद्वेषमोहकश्मलचेता मुनिः मुनिनं भवत्येवं, तर्हि कि भवति ? ण सावयसमो सो-न श्रावकसमः श्रावकेणापि गृहस्थेनापि समः सदृशः स न भवति । तस्य दानपूजादिलामसंयुक्तत्वादुत्तमत्वं । तथा चोक्तं---

> वरं गार्हस्य्यमेवाद्य तपसो भाविजन्मनः । स्वःस्त्रीकटाक्षलुंठाकलोप्यवैराग्यसम्पदः ॥ १ ॥

हैं—जिनके शोल संयम और गुणोंमें कभी कमी नहीं आती वे ही मुनि हैं । जैसा कि कहा है—

यथाधर्तुभिः—जिस प्रकार घिसना, छेदना, तपाना और ताड़ना इन चार उपायों से सुवर्ण को परीक्षा को जाती है उसी प्रकार श्रुत शील तप और दया रूप गुणके द्वारा धर्म की परोक्षा को जाती है ॥१॥

जैसा कि कहा है---

संजमु--जिसमें संयम शोल शौच तथा तप विद्यमान हैं वही गुरु हो सकता है, क्योंकि तपाना छेदना घिसना तथा चोट खाना आदि कार्यों में जो समर्थ है वही सूवण हो सका है।

इसके विपरीत जो अनेक दोषों अथवा अतिचारोंका आवास हो अथवा जो स्त्रियों को भुजाओं के आलिङ्गन की इच्छा रखता हो तथा जिसका चित्त अत्यन्त मलिन हो वह मुनि नहीं है वह तो श्रावक के भी समान नहीं है। क्योंकि श्रावक दान पूजा आदि लाभ से संयुक्त होनेके कारण उत्तम है। जैसा कि कहा --

बरगाहॅस्य---आगे होनेवाले उस तपकी अपेक्षा तो जिसमें कि देवाङ्ग-नाओं के कटाक्ष रूप लुटेरों के द्वारा वैराग्य रूपी संपदा लुट जाती है, आज गृहस्थ रहना भी अच्छा है ।

भावप्राभृतम्

"चित्र चेस अस्मदीयस्त्यानस्थाणुमूकतूष्णीकदवैकमृदुकसेवानसनीडनिहित-म्बाहृतकुतूहलस्थूलव्याकुलेषु वा'' इत्यनेन प्राकृतव्याकरणसूत्रेण चिस इत्यस्य वा दिरवे। चित्र इति कोऽर्य: ''अवधारणे णइ च्च चित्र चेत्राः।''

सन्यन्च—

ते ज्विअ धण्णा ते चिय साउरिसा ते जियंति जियलोए ।

बोद्दहदहम्मि पडिया तरंति जे च्चिय रुं लोए ॥ १ ॥ बोद्दह इति कोऽयों यौवनम् ।

ते धीरवीरपुरिसा खमदमखग्गेण विष्फुरंतेण । हुज्जयपबलबलुद्धर कसायभडणिज्जिया जेहि ।।१५४॥ ते धीरवीरपुरुषाः क्षमादमसङ्गेन विस्फूरताः ।

त वारवारपुरुषाः वानादनसङ्गन (वस्फुरताः)

ु दुर्जयप्रबलोद्धरकषायभटा निजिता यैः ॥१५४॥

(ते धोरवीरपुरिसा) ते पुरुषा धोरा अनिवतंकाः संयमसंग्रामात् कर्मसत्रूपां धातमहत्वा न पक्ष्वाद्व्याघुटंति, वीरा विशिष्टां केवलज्ञानसाम्राज्यल्वभौं रान्ति स्वीकुर्मन्तोति वीराः । (समदमसग्गेण विप्फुरंतेण) क्षमा प्रकुष्टप्रधमः, दमौ विरोन्नियत्वं समयोपलक्षितो दमः क्षमदमः स एव सङ्गः कौक्षेयः करवालोऽसि-विन्हिरता अप्रतिक्रमंधन्नुसंघातघातकत्वात् तेन क्षमादमस्रह्गेन । कि कुर्वता ? विन्हुरता अप्रतिक्र्तम्या पारतया चमत्कुर्वता । (दुज्जययवल्यस्रख्यर) दुःसेन

ंगावा में 'च्वियं' शब्द दिया है उसे चिञ्ज चेञ्ज आदि प्राकृत आकरण के सूत्र से द्वित्व हो गया है चिञ्ज का अर्थ अवधारण है—

ं और भी कहा है----

े तेण्यिय—संसार में वे ही घन्य हैं, वे ही सत्पुरुष हैं और वे ही जीवित हैं बो यौवन रूपी गहरे ह्रद में गिरकर भी लीलासे उसे पार कर समरे हैं।

ः वाणार्थ— वे घीर वीर पुरुष हैं जिन्होंने क्षमा और जितेन्द्रियता रूपी वनकती तलवार से दुर्जेय तथा प्रचुर बलसे उत्कट कषाय रूपी योद्धाओं क्केजीत लिया है ॥१५४॥

महता कष्टेन जेतुमशक्या दुर्जयाः, प्रबर्ल प्रचुरं, बलं सामर्थ्यं तेन उद्धरा उस्कटा ये कषायभटाः क्रोघमानमायालोभसुभटाः । (कसायभडणिज्ञिया जेहि) एवंविषा कषायभटा यैनिर्जिता भारिता भूमो पातिताः ।

धण्णा ते भयवंता दंसणणाणग्गपवरहत्थेहि । विसयमयरहरपडिया भविया उत्तारिया जेहि ॥१५५॥

धन्यास्ते भगवन्तो दर्शनज्ञानाग्रप्रवरहस्ताभ्याम् । विषयमकरघरपतिता भव्या उत्तारिता यैः ॥१९५॥ -

(भण्णा ते भयवंता) धन्याः पुण्यवन्तः ते भगवन्तः इन्द्रादिष्ठजिताः अथवा भयं वांतं त्यक्तं यैस्ते भयवन्ता निर्भयाः सप्तभयरहिताः (दंसणणाणग्गपवर-हत्योहि) दर्शनज्ञाने एव प्रवरौ बलवत्तरौ हस्तौ करौ दर्शनज्ञानप्रवराग्रहस्तौ ताम्यां द्वाम्यां हस्ताभ्यां करणभूताम्यां । (विसयमयरहरपडिया) विषय एव मकरघरः समुद्रः तत्र पतिता वृडिताः । (भविया उत्तारिया जेहि) भव्यजीवा उत्तारिता हस्तावलम्बनं दत्वा उत्तारिताः संसारमुखक्षारसमुद्रस्य पारं नोताः, यैवीरवर्द्धमान-श्रीगौतमस्वाम्यादिभिरिति मंगलाभिप्रायः ।

से युक्त जितेन्द्रियता रूप देदीप्यमान तलवार से दुर्जेय-बहुत भारो कष्ट-से जीतने के अयोग्य एवं प्रचुर बलसे दुर्घर कषाय रूपी भटोंको-कोघ, मान, माया और लोभ रूपी योद्धाओं को मारकर भूमि पर गिरा दिया है।

सबसे प्रबल शत्रु कषाय ही हैं इन्हें क्षमा और जितेन्द्रियता के द्वारा ही जीता जा सकता है जिन्होंने इन्हें जीत लिया है वे ही घोर वीर पूरुष हैं।।१५४॥

गायार्थ---वे भगवान धन्य हैं जिन्होंने ज्ञान दर्शन रूपी श्रेष्ठ अग्रगामी हायों के द्वारा विषय रूपी समुद्र में पड़े हुए भव्य जीवों को उतार कर पार लगाया है ॥१९५॥

विशेषार्थ---इन्द्र आदि के द्वारा पूजित वे भगवान् धन्य हैं---अतिशय पुण्यवान् हैं अथवा 'भयवन्ता' छाया मान कर शङ्का आदि सात भयों से रहित हैं जिन्होंने दर्शन और ज्ञान रूग्ने बल्ष्ठि हाथों के द्वारा विषयरूपी मकराकर-समुद्र में पड़े हुए भव्य जीवोंको निकाल कर पार लगा दिया है। यहां मङ्गल कामना से श्रो वर्धमान भगवान् तथा गौतम स्वामी आदि की स्तूति की गई है।।१९५१।।

मायावेल्लि असेसा मोहमहातरुवरम्मि आरूढा । विसयविसपुष्फफुल्लिय लुगंति मुणि णाणसत्थेहि ॥१५६॥ मायावल्लोमशेषां मोहमहातरुवरे आरुढाम् ।

विषयविषपुष्पपुष्पितां लुनन्ति मुनयः ज्ञानशस्त्रैः ॥१५६॥

(मायावेल्लि असेसा) माया परवंचनस्वभावा सैव वल्ली प्रतानिनी तां मायाबल्लीं, अशेषां अनन्तानुबन्धिप्रभृतिचतुर्भेदसमग्रां । (मोहमहातरुवरभिम झारूढा) मोह एव तरुवरः पुत्रकलत्रमित्राविस्नेहमहावृक्षस्तमारूढां चटितां । (विसय-विसपुष्फफुल्लिय) विषया एव विषपुष्पाणि तैः पुष्पिता विषयविषपुष्पपुष्पिता तां । (लूणंति मुणि णाणसत्योहि) लुनन्ति च्छिन्दन्ति, के ते ? मुनयः सम्यग्ज्ञानस-मुपेता दिगम्बरगुरव इत्यर्थः । केन, ज्ञानशस्त्रेण सम्यग्ज्ञानशस्त्रेण परधुना इति होषः ।

मोहमयगारवेहि य मुक्का जे करुणभावसंजुत्ता ।

ते सय्बदुरियलंभं हणंति चारित्तलग्गेण ॥१५७॥ मोहमदगारवैः च मुक्ता ये कहणभावसंयुक्ताः ।

ते सर्वदुरितस्तंभं घ्नन्ति चारित्रखड्गेन ॥१५७॥

गांगार्थं—मोहरूपी महावृक्ष पर चढ़ी और विषय रूपी विष पुष्पोंसे फूली मार्था रूपी सम्पूर्ण लताको मुनिगण ज्ञानरूपी शस्त्र के द्वारा छेरते हैं ॥१९६॥

गायार्थ-जो मोह मद और गारव से रहित तथा करुणा भाव से अधुनत है ऐसे मुनि चारित्र रूपी खड्गके द्वारा समस्त पाप रूपी स्तम्भको पित कर नगट करते हैं।।१५७॥ (मोहमयगारवेहि य) मोहः कलत्रपुत्रमित्रादिषु स्नेहः, मदो ज्ञानादिरष्ट-प्रकारो निजोन्नत्यं, गारवं शब्दगारवदिगारक्सातगारवभेदेन त्रिविध । तत्र शब्द-गारव वर्षोच्चारगर्वः, ऋदिगारवं शिष्यपुस्तककमण्डलुपिच्छपट्टादिभिरात्मोद्भा-वनं, सातगारवं भोजनपानादिसमुत्पन्नसौरूथलीलामदस्तैर्मोहमदगारवैः । चकार उक्तसमुच्चयार्थस्तेन निजपक्षीयसधनराजमान्य आवकादिभिरभिमानः । (मुक्का जे करुणभावसंजुत्ता) पूर्वोक्तैर्मोहादिभियें मुक्ताः, करुणभावः कारुष्य दयापरि-णामस्तेन संयुक्ताः । (ते सब्बदुरियक्षभं) ते मुनयः सर्वदुरितस्तं सं समस्तमला-तिचारादिसमुत्पन्नं पापस्तंभं (हर्णति चारित्तस्रगेण) घ्नन्ति चारित्रसंड्गेन छिन्दन्ति निजनिमंलसद्वृत्तनिस्त्रिक्षेत्रीत शेषः ।

गुणगणमणिमालाए जिणमयगयणे णिसायरमुणिदो । तारावलिपरियरिओ पुण्णिमइंदुब्व पत्रणपहे ॥१५८॥ गुणगणमणिमालया जिनमतगगने निशाकरमुनोन्द्रः ।

तारावलिपरिकलितः पूर्णिमेन्दुरिव पवनपथे ॥१५८॥ (गुणगणमणिमालाए) गुणा अष्टाविंशतिमूलगुणाः दश घर्माः तिस्रो गुप्तयः अष्टादशशोलसहस्राणि द्वाविंशतिपरीषहाणां जय एते उत्तरगुर्णाः, गुणानां गणाः समुहा गुणगणास्त एव मणयो रत्नानि तेषां माला मुक्ताफलहारस्तवा गुणगण-

विशेषार्थ-स्त्री-पुत्र तथा मित्र आदि में जो स्नेह है वह मोह कहलाता है, ज्ञान पूजा आदि के भेद से मद आठ प्रकार का है। घब्द गारव, ऋदि गारव और सात गारव के भेद से गारव के तीन भेद हैं। हमारे वर्णोंका उच्चारण साफ और सुन्दर होता है इस प्रकारका गर्व होना वर्णोच्चार गारव है। शिष्य, पुस्तक, कमण्डलु, पीछी तथा पाटे आदि बाह्य सामग्री से अपने महत्व का प्रकट करना ऋदि गारव है और भोजन पान आदि से समुत्पन्न सुखका गर्व होना सात गारव है। चकार उक्त समुच्चयार्थक है अर्थात् कहने के जो बाकी रह गये हैं उनका समुच्चय करने वाला है इसलिये अपने पक्षके श्रावक धनवान् अथवा राज-मान्य हों इस बातका गर्व करना। जो मुनि इन मोह, मद और गारवों से मुक्त हैं तथा कछणा भाव-दया भावसे संयुक्त हैं वे सब प्रकार के दोष अथवा अतिचार आदि से समुत्पन्न पाप रूपी खम्भेको चारित्ररूपी खड्गके द्वारां नष्ट कर देते हैं। यथार्थ में निर्मल चारित्र के द्वारा हो पापका नाश होता है ॥१५७॥

गाथार्थ--जिस प्रकार आकाशमें ताराओंकी पक्तिसे सहित पूर्ण चन्द्रमा सुशोभित होता है उसी प्रकार जिनमत रूपी आकाश में गुण मालया मुनिः शोभते इत्युपस्कार: । (जिणमयगयणे णिसायरमुणिदो) जिन-मलमाहंतशासनं तदेव गगनं आकाशः पापलेपरहितत्वात् जिनमतगयनं तस्मिन् जिन-मलगगने सर्वंत्रशासनाकाशे, निशाकरश्चन्द्रः निशां करोति उद्योतयंति निशाकरी मुनीन्द्रः तत्र मुनीन्द्रो दिगम्बरः निशाकरः पापान्वकारविच्छेदकत्वात् (तारावलि-परियरिओ) तारावलिपरिकलिता नक्षत्रमालापरि रेष्टितो नक्षत्रमण्डलोपेतः । (पुण्णिमइदुव्य पवणवहे) पूर्णिमेन्दुरिव पूर्णिमाचन्द्रवच्छोभते, पवनगथे गग्न-मार्गे इति शेषः ।

चक्कहररामके स्वसुरवरजिणगणहराइ सोक्खाइं । चारणमुणिरिद्धोओ विसुद्धभावा णरा पत्ता ॥१५९॥ चकधररामकेशवसूरवरजिनगणधरादिसौख्यानि ।

चारणमन्यद्धोः विश्वद्वभावा नराः प्राप्ताः॥१५९॥

(चक्कहरराम्केसवसुरवरजिणमणहराइसोक्खाइ) चक्रधराश्च भरतादयः सकलचक्रवर्तिनः, रामश्च बलदेवाः, केशवाश्चार्धचक्रवर्तिनः, सुरवराश्च सौधर्मेन्द्रान् द्यच्युतेन्द्रपर्यन्ता अहमिन्द्रान्ताः, जिनाश्च वृषभादिवीरान्ताः, गणघरादयश्च वृषभसेनादयः श्रीगीतमान्तास्तेषा सौस्यानि महापुराणादिशास्त्रवर्णितानि

समूह रूपो मर्णियों को मालासे युक्त मुनि-रूपी चन्द्रमा सुकोभित होता है।।१५८।।

विशेषार्थ--अट्ठाईस मूलगुण हैं, तथा दश धर्म, तीन गुप्तियां, अठारह हजार शीलके मेद और बाईस परोषहों को जीतना आदि उत्तर-गुण हैं। इन सब गुणोंके समूह रूप मणियों की माला से अलंकृत मुनि रूपी चन्द्रमा, जिनमत-अहंन्त सर्वज्ञ देवके शासन रूपी आकाश में उस प्रकार सुशोमित होता है जिस प्रकार के निर्मल आकाश में नक्षत्रों की पंक्ति से घिरा हुआ पूर्ण चन्द्रमा सुशोभित होता है।।१५८।।

गायार्थ—विशुद्ध भावोंके धारक मनुष्य, चक्रवर्ती वलभद्र नारायण सुरेन्द्र जिनेन्द्र और गणधरादिके सुखोंको तथा चारण सुनियों को ऋद्यियों को प्राप्त हुए हैं ॥१५९॥

विशेषार्थ—चक्ररत के घारक भरत आदि सकल चक्रवर्ती, राम अर्थात् बलदेव, केशव अर्थात् अर्ध चक्रवर्ती-नारायण, सुरवर-अर्थात् सौधर्मेन्द्र से लेकर अच्युतेन्द्र तक अथवा अहमिन्द्र तक जिन अर्थात् ऋषभादि तीर्थंकर, गणधरादि अर्थात् वृषभसेन को आदि लेकर गौतमान्त मणधर इन सबके सुखोंको जिनका कि महापुराण आदि शास्त्रों में वर्णन (चारणमुणिरिद्धीओ) चारणमुनीनां आकाशगामिनामृषीणां ऋद्धीः **अकीणमहान-**सालयप्रभृतिः । (विसुद्धभावा णरा पत्ता) विशुद्धभावा नरा जीवाः प्राप्ता रूभन्ते स्म ।

सिवमजरामरलिंगमणोवममुत्तमं परमविमलमतुलं । पत्ता बरसिद्धिसुहं जिणभावणभाविया जीवा ॥१६०॥

शिवमं जरामरलिङ्गमनुपममुत्तमं परमविमलमतुलम् ।

प्राप्ता वरसिद्धिसुखं जिनभावनाभाविता जीवाः ॥ १६० ॥ (सिवमजरामरलिंगं) शिवं परमकल्याणं परममंगलभूतं कर्ममलकलंकरहित-त्वात्, अजरामरलिंगं जरामरणरहितचिन्हं । (अणोवमं) उपमारहितं । (उत्तमं) परममुख्यं (परमविमलं) द्रव्यकमंभावकमं नोकमंरहितं । (अतुलं) अनन्त-मित्यर्थः । (पत्ता वरसिद्धिमुहं) एतद्विशेषणविशिष्टं वरं श्रेष्ठं सिद्धिमुखं परम-निर्वाणसौख्यं प्राप्ताः लभन्ते स्म । (जिणभावणभाविया जीवा) जिनभावनया निर्मलसम्यक्त्वेन भाविता वासिता जीवा आसन्तभव्याः ।

ते मे तिहुवणमहिया सिद्धा सुद्धा णिरंजणा णिच्छा ।

विंतु वरभावसुद्धि दंसणणाणे चरित्ते य ॥१६१॥ ते मे त्रिभुवनमहिताः सिद्धाः शुद्धा निरंजना नित्याः । ददत् वरभावशुद्धि दर्शनज्ञाने चारित्रे च ॥ १६१ ॥

है तथा आकाशगामी चारण ऋषिके धारक मुनियों को अक्षोण महानस– अक्षोण महालय आदि अनेक ऋद्वियों को शुद्धसम्यक्त्व के धारक मनुष्य ही प्राप्त हुए हैं ।। १५९ ।।

गार्थार्थ-जिन भावना, अर्थात् निर्मल सम्यक्त्व से वासित आसन्न भव्य जीव परम मङ्गल भूत जरा और मरण के चिस्नों से रहित होने के कारण जो अजरामर लिंग हैं, वे अनुपम, उत्तम, अत्यन्त विमल और अतुल-अनन्त उत्कृष्ट सिद्धि के सुखको प्राप्त हुए हैं ॥ १६०॥

विश्लेषार्थ---कर्ममल कलख्ट्र से रहित होनेके कारण जो शिव अर्थात् मोक्ष परम कल्याण एवं परम मङ्गल भूत है, उपमा रहित होनेसे अनुपम है, परम मुख्य है, द्रव्य कर्म भावकर्म और नो-कर्म से रहित होनेके कारण अत्यन्त विमल है, अतुल्य अर्थात् अनन्त है, ऐसे उत्कृष्ट सिद्धि सम्बन्धी परम निर्वाण मुखको जिन भावना अर्थात् निर्मल सम्यक्त्व से भावित अर्थात् वासित निकट भव्य जोव प्राप्त करते हैं ॥ ८६० ॥

गावार्थ-जो त्रिभुवन के दारा पूजित हैं, शुद्ध हैं, निरञ्जन हैं और

भावप्राभृतम्

(ते मे तिहुवणमहिया) ते जगत्प्रसिद्धाः, मे मम श्रीकुन्दकुन्दाचार्यस्य, त्रिभुवनमहितास्त्रैलेक्यपूजिताः । (सिद्धा सुद्धा णिरंजणा णिच्चा) सिद्धा मुक्तिस्त्रीवल्लभाः, शुद्धाः कर्ममलकलंकरहिताः, निरंजना निरुपल्लेपाः, नित्धाः शास्वताः । (बितु वरभावसुद्धि) ददतु प्रयच्छन्तु, वरभावशुद्धि विशिष्टपरिणाम-शुद्धि । कस्मिन्, (दंसणणाणे चरित्ते थ) सम्यग्दर्शने सम्यग्झाने सम्यक्चारित्रे चेत्यर्थः ।

कि जंपिएण बहुणा अत्थो धम्मो य काममोक्खो य । अण्णेवि य वावारा भावम्मि परिट्ठिया सव्वे ।।१६२॥

कि जल्पितेन बहुना अर्थो धर्मश्च काममोक्षरच।

अन्येपि च व्यापारा भावे परिस्थिताः सर्वे ॥ १६२ ॥ (किं जंपिएण बहुणा) बहुना प्रचुरतरेण, जल्पितेन कि ? न किमपि । (अत्यो धम्मो य काममोक्सो य) अर्थो धनं, धर्मी यतिश्रावकगोचरः, कामः पंचेन्द्रियसुखदायिनी इष्टवनिता तस्या भोगः, मोक्षः सर्वकर्मक्षयस्थवणः । (अग्मे वि य बाबारा) अन्येऽपि च व्यापारा विद्यादेवतासाधनादयः । (भावम्मि परिट्ठिया सब्वे) भावे बुद्धपरिणामे परिस्थिता भावाधीना अवन्तीति भावार्थः । उक्तां च---

िलिय हैं, वे जगत्प्रसिद्ध सिद्धभगवान् हमारे दर्शन ज्ञान और चारित्र में उत्कृष्ट भाव शुद्धिको प्रदान करें।। १६१ ॥

विशेषार्थ--कुन्दकुन्द स्वामी इष्ट प्रार्थना के रूप में कहते हैं कि जो तीन लोकके द्वारा पूजित हैं, कर्ममल कलंक से रहित होने के कारण शुद्ध हैं, भाव कर्म से रहित होने के कारण निरञ्जन हैं और नित्य हैं-शास्वत हैं-सादि अनन्त पर्याय से युक्त हैं वे जगत्प्रसिद्ध सिद्धपरमेष्ठी हमारे दर्शन आन और चारित्रमें उत्कृष्ट भावशुद्धिको करें ॥ १६१ ॥

गावार्य —अधिक कहने से क्या ? धर्म अर्थ काम और मोक्ष तथा अन्य जितने व्यापार हैं वे सब भाव में हो-परिणामों की विशुद्धता में ही स्थित हैं ॥ १६२ ॥

न देवो विद्यते काष्ठे न पाषाणे न मृन्मये । भावेषु विद्यते देवस्तस्माद्भावो हि कारणं ॥ १ ॥ भावविहूणउ जीव तुहं जइ जिफु वहहि सिरेण । पत्त्थरि कमलु कि निप्पजइ जइ सिंचहि अभिएण ॥ २ ॥ सीसु नमंतह कवणु गुणु भाउ कुसुद्धउ जाहं । पारद्वीदूणउ नमइ ढुक्कंतउ हरिणाहं ॥ ३ ॥ अध्नत्नपि भवेत् पापी निघ्नन्नपि न पापभाक् ।

परिणामविशेषेण यथा बीवरकषंको ॥ ४ ॥ इय भावपाहुडमिणं सञ्वं बुद्धेहि देसियं सम्मं। जो पढद सुणइ भावइ सो पावइ अविचलं ठाणं ॥१६३॥

इति भावप्राभृतमिदं सर्वं बुद्धैः देशितं सम्यक्। यः पठति श्रृणोति भावयति स प्राप्नोति अविचलं स्यानम् ॥१६३॥ (इय भावपाहुडमिणं) इति एवं प्रकारं, भावप्राभृतमिदं भावप्राभृतनाम धास्त्रं (सब्वं बुद्धेहि देसियं सम्मं) सर्वं बुद्धैः सर्वेझैः देशितं कथितं सम्यङ्-निश्चयेन । यथा मया कथितं सर्वं बुद्धैरप्येवमेवोक्तमिति भावायांः । (जो एडइ

न देवो—देव न काष्ठ में हैं, न पाषाण में हैं, न मिट्टो के पिण्ड में हैं किन्तू भावों में हैं इसलिये माव ही कारण है।

भावविद्रणके—हे जीव ! यदि तू भावसे विहोन होकर शिरसे जिन भगवान को धारण करता है तो इससे क्या होनेवाला है ? क्या अमृत से सींचने पर पत्यर पर कमल उत्पन्न हो सकता है ?

सोसु--जिसका भाव-अभिप्राय कुशुद्ध खोटा है उसके शिर झुकाने से कौनसा लाभ होनेवाला है अर्थात कोई भी नहीं। हरिणों को मारने के लिये शिकारी बहुत नम्रीभूत होता है।

अध्नम्नपि-परिणाम विशेष के कारण धीवर घात न करता हुआ भी पापी है और खेत जोतने वाला किसान जोवोंका घात करता हुआ भी पापी नहीं होता ।

गाद्यार्थ-सर्वज्ञ देवके द्वारा कथित इस समस्त भाव पाहुड़ को जो पढ़ता है, सुनता है तथा उसकी भावना करता है वह अविचलस्थान को प्राप्त होता है ॥ १६३ ॥

विशेषार्थ-जो निकट भव्य मुनि श्रेष्ठ, सर्वज्ञ देव के द्वारा कहे हुए इस समग्र भावप्राभृतका पठन करता है, सुनता है और चिन्तवन करता सुणइ भावइ य) आसन्मभभ्यो जीवः पठति गुवंग्रे ऽनुशीलयति अभ्यस्यति, सुणइ एतदर्थंमाकणंयति, भावइ-श्रुत्त्वा श्रद्धाति । (सो पावइ अविचलं ठाणं) स आसन्मभन्यो मुनिपुंगवः, प्राप्नोति लभते, अविचलं निश्चलं, स्थानं मोक्षपदमिति सिद्धम ।

इति श्रीपद्मनन्दिकुन्दकुन्दाचार्यंवक्षग्रीवाचार्येलाचार्यंगृधपिच्छाचार्यनामपंचक-विराजितेन श्रीसीमन्वरस्वामिसम्यग्बोधसंबोधितभव्यजनेन श्रीजिनचन्द्रसूरिभट्टार-कपट्टाभरणभूतेन कलिकालसर्वज्ञेन विरचिते षट्प्रामृतभावनाग्रन्थे सर्वमुनिमण्डली-मण्डितेन कलिकालगौतमस्वामिना श्रीमल्लिभूषणेन भट्टारकेणानुमतेन सकल-विद्वज्जनसमाजसम्मानितेनोभयभाषाकविचक्रवर्तिना श्रीविद्यानन्दिगुर्वन्तेवासिना क्षोदेवेन्द्रकोर्तिप्रशिष्येण सूरिवर श्रीश्रुतसागरेण विरचिता भावप्राभृतटीका परिसम्पर्णा ;

है वही श्रेष्ठ मुनि अविचल स्थान को प्राप्त होता है अर्थात् मोक्ष जाता है ॥ १६३ ॥

इस प्रकार श्री पद्मनन्दि कुन्दकुन्दाचार्य वक्तग्रीवाचार्यं, एलाचार्यं, गृद्धपिच्छाचार्यं, इन पांच नामोसे सुशोभित श्री सीमन्घर स्वामीके सम्य-ग्रान से अव्यजीवों को संबोधित करने वाले श्री जिनचन्द्र सूरि भट्टारक के पट्ट के आभरण—भूत कलिकाल सर्वंज्ञ श्री कुन्दकुन्दाचार्यं के द्वारा विरचित षट्त्राभृत भावना नामक ग्रन्थ में समस्त मुनि मण्डली से सुशोभित कलिकाल के गौतम स्वामी श्री मल्लिभूषण भट्टारक के द्वारा अनुमत सकल विद्वज्जन समाज के द्वारा सम्मानित उभय भाषा के कवियों में प्रमुख श्रो विद्यानन्दि गुरुके शिष्य और श्री देवेन्द्रकोति के प्रशिष्य सूरिवर श्री श्रुतसागर के द्वारा विरचित यह भावप्राभृत की टीका समाप्त हई।

मोक्षप्रामृतम्

अघ देवेन्द्रयक्षोगुरुविद्यानन्दीक्ष्वरस्य शिष्येण । मुक्तिप्रियामुखाम्बु जदिदृक्षुणा शिक्षितेन गुणे ॥ १ ॥ श्रुतसागरेण कविना विनापि बुद्धभा विरच्यते रुचिदा । मोक्षप्राभृतविवृतिष्टीकाऽलोकप्रमुक्तेन ॥ २ ॥ याचकजनकल्पतरुः "स्वरुरपि मिथ्यामताद्रिश्युङ्गेषु । भज्यजनजनकतुल्यो विवेकवान् मल्लिभूषणो जयति ॥ ३ ॥ ^२गीतिरार्या

णाणमयं अप्पाणं उवलद्धं जेण झडियकम्मेण । चइउण य परदव्वं णमो णमो तस्स देवस्स ॥ १ ॥ ज्ञानमय आत्मा उपलब्धो येन झरितकर्मणा। स्यक्त्या च परदव्यं नमो नमस्तस्मै देवाय ॥ १ ॥

क्य देवेन्द्र---तदनन्तर देवेन्द्र-कोर्ति जिनके गुरु हैं, ऐसे विद्यानन्दी महाराज के शिष्य, मुक्ति रूपी वल्लभा के मुख कमल के देखनेके इच्छुक सम्यग्दर्शनादि गुणोंके विषय में अच्छी तरह शिक्षित एवं मिय्या बचन से रहित श्री श्रुतसागर कविके द्वारा बुद्धि के बिना ही, रुचिको उत्पन्न करने वाली मोक्षप्राभृत को यह टीका रची जाती है। जो याचक जनोंके लिये कल्प-वृक्ष रूप हैं, मिथ्यामत रूपी पर्वतों की शिखरों पर वज्य रूप हैं, भव्यजनोंके लिये पिताके समान हैं और परम विवेको हैं वे श्रीमल्लिभूषण गुरू जयवन्त रहें ॥ १-३ ॥

अब मोक्ष पाहुड ग्रन्थ के प्रारम्भ में मङ्गलाचरणकी इच्छासे श्री कुन्दकुन्द स्वामी देवको नमस्कार करते हैं—

गामार्च—जिन्होंने कर्मोंका क्षय करके तथा पर-द्रव्यका त्याग करके ज्ञानमय आत्मा को प्राप्त कर लिया है उन श्री सिद्धपरमेष्ठो रूप देवके लिये बार-बार नमस्कार हो ॥ १ ॥

- हादिनी वज्यमस्त्री स्यात् कुलिश मिदुर पविः । शतकोटिः स्वरुः श्रम्बो दंभोलिरफर्निर्ह्रयौः ॥
- २. अस्मादमें 25 नमः सिद्धे म्यः इति पाठ कृ० ।

(णाणमयं अप्याणं) ज्ञानमय आरमा। (उवलद्धं जेण ज्ञाडियकम्मेण) उपलब्धो येन क्षरितकर्मणा। (चइऊण य परदब्वं) त्यक्वा च परदब्धं शरीरं कर्म च परित्यज्य नमो नमः—पुनः पुनर्नमः । तस्य देवस्य तस्मै देवायेति भावार्यः ।

णमिऊण य तं देवं अणंतवरणाणदंसणं सुद्वं । 'बोच्छं परमप्पाणं परमपयं परमजोईणं ॥ २ ॥

नत्वा च तं देवं अनन्तवरज्ञानदर्शनं शुद्धं।

वक्ष्ये परमात्मानं परमपदं परमयोगिनाम् ॥ २ ॥ (णमिऊण य तं देवं) नत्वा च तं देवं सर्वज्ञवीतरागं । कथंभूतं देवं, (अणंत-बरणाणदंसणं सुद्धं) अनन्तवरज्ञानदर्शनं शुद्धं अनन्तज्ञानमनन्तदर्शनमनन्तवीर्यमनन्त-सौक्यमित्यर्थः, शुद्धं धातिकर्मसंधातनेन निर्मलस्वरूपं अष्टादशदोषरहितमिस्थर्यः । (बोच्छं परमप्पाणं) वक्ष्यामि कथयिष्यामि । कः कर्ता ? अहं श्रीकृत्वकून्दावायांः,

्वाच्छ ५२मणाण) वदयात्म कथायण्यतम् ३ कः कवा १ अह त्याकुत्पकुत्त्वाचायः, इ वक्ष्ये ? परभारमानं शुद्धनयेन परमारमानं अर्हत्सिद्धसमानं । कर्षभूतं परमात्मानं,

विशेषार्थ---जिन्होंने ज्ञानावरणादि कर्मोंका आत्यन्तिक क्षयकर झानस्वरूप आत्मा को प्राप्त कर लिया है तथा कर्म, नोकर्म रूप पर-इव्यका त्याग कर दिया है, उन्³सिद्ध भगवान् को बार-बार नमस्कार हो ॥ १ ।।

बाबार्च-अनन्त उत्कृट ज्ञान तथा असन्त उत्कृष्ट दर्शन से युक्त, सिमंग्र स्वरूप उन सर्वज्ञ वीतराग देवको नमस्कार कर में परम योगियों के स्रिये परम पद रूप परमात्मा का कथन करूँगा॥ २॥

१. युष्छं कचित्।

इहाँ मान मोक्ष तो अरहंत कै, अर द्रव्य भाव करि दो प्रकार सिक्व परमेच्ठी
 के है वातें बोठक ू नमस्कार जानना । (पं० अयचन्द्र जी इत वचनिका)।

(परमपयं) परमपदं परमं उत्कृष्टं इन्द्रादिदेव----नरेन्द्रादिमानव-गणघरादिमहा-मुनीस्वरसंयुक्तसमवसरणस्थानमण्डितं । अय केषां परमात्मानं दक्ष्यामि ? (परम-जोईणं) परमयोगिनां दिगम्बरगुरूणां । इत्यनेन मुनीनामेव परमात्मघ्यानं घटते । तप्तलेहगोलकसमानगृहिणां परमात्मघ्यानं न संगच्छते । तेषां दानपूजा-पर्वोपवाससम्यक्त्वप्रतिपालनशोलव्रतरक्षणादिकं गृहस्थघर्मं एवोपदिष्टं भवतीति भावार्थः । ये गृहस्था अपि सन्तो मनागात्मभावनामासाद्य वयं घ्यानिन इति वृदते ते जिनघर्मविराधका मिथ्यादृष्टयो ज्ञातव्याः । अयत्याचारा गृहस्थधर्मादपि पतिता उभयभ्रष्टा वेदितव्याः । ते लौकाः, तन्नामग्रहणं तन्मुखदर्शनं प्रमातकाले न कर्तव्यं इष्टवस्तुभोजनादिविघ्नहेतुत्वात् । ते जिनस्नपनपूजादानासिसद्धर्मधातका ज्ञातव्याः ।

जं जाणिऊण जोई जो 'अत्थो जोइऊण अणवरयं। अव्वावाहमणंतं अणोवमं हवइ णिव्वाणं॥ ३॥ यद्त्रात्वा योगी यमर्थं दृष्ट्वाऽनवरतम्। अव्यावाधमनन्तं अनुपमं भवते निर्वाणम्॥ ३॥

में परम योगियों अर्थात् दिगम्बर गुरुओं के लिये यह कथन करूंगा, इस प्रतिज्ञा वाक्य से यह सूचित होता है कि परमात्मा का घ्यान मुनियों के ही घटित होता है तपे हुए लोहेके गोले के समान गृहस्थों के परमात्मा का घ्यान संगत नहीं होता। उनके लिये तो दोन, पूजा, पर्वंके दिन उपवास करना, सम्यक्त्व का पालन करना तथा शोलवत की रक्षा करना आदि गृहस्थ धर्मका उपदेश हो कार्य-कारी होता है। जो गृहस्थ होते हुए भी तथा रंच मात्र आत्माकी भावना को न पाते हुए भो यह कहते हैं कि हम तो आत्मा का ध्यान करते हैं वे जिन धर्मकी विराधना करने वाले मिथ्यादृष्टि हैं। ऐसे जोव मुनियोंके आचार से तो रहित हैं ही, गृहस्थ धर्म से भी पतित होकर उभय अध्य-दोनोंसे पतित हो जाते हैं।

गामार्थ---जिस आत्म-तत्व को जानकर तथा जिसका निरन्तर साक्षात् कर योगी ध्यानस्य मुनि, बाधा-रहित, अनन्त, अनुपम निर्वाण को प्राप्त होता है। ३।।

 जोयत्थो योगस्यो घ्यानस्य इत्यर्थः । इति पुस्तकान्तरे पाठ तत्पक्षे योगस्यः इति तस्य ।

- 8.8]

(जं जाणिऊण जोई) यं अयं आत्मतत्वं ज्ञात्वा हे योगिन् ! (जो अत्यो जोइऊण अणवरयं (यं)) अयं तत्त्वं, जोइऊण-दृष्ट्वा ज्ञानेन साझाद्वीक्ष्य बोगी घ्यानवान् मुनिः । (अव्यावाहमणंतं) अव्यावाघं वाघारहितं, अनन्तमवि-नक्ष्वरं । (अणोक्मं हवइ णिम्वार्ण) अनुपमं उपमारहितं, भवते प्राप्नोति ! "भूप्राप्तावात्मनेपदी" इति वचनात् । कि ? निर्वाणं शुद्धसुखं मोक्षस्थानं । उक्तं च----

'जन्मजरामयमरणैः शौकदुःसैभैंगैश्च परिमुक्तं।

निर्वाणं शुद्धसुर्खं निःश्रेयसमिष्यते नित्यं॥१॥

तिपयारो सो अप्पा ^थपरभिंतरबाहिरो दु हेऊणं। तत्थ परो झाइज्जइ अंतोबाएण चयहि वहिरप्पा॥ ४॥

त्रिप्रकारः स आत्मा भरमन्तो बहिः तु हिल्ला ।

तत्र परं ध्यायते अन्तरुपायेन त्यज बहिरात्मानम् ॥ ४ ॥ (तिपयारो सो अप्पा) त्रिप्रकारः स आत्मा त्रिविघः। (पर्रामसरबाहिरो इ हेऊणं) परमात्मा-अन्तरात्मा-बहिरात्मा चेति । तत्र बाहिरो दु हेऊणं बहिरा-

जन्मजरामय—जो जन्म जरा रोग मरण शोक दुःख और भय से रहित है, शुद्ध सुख से युक्त है तथा नित्य है ऐसा निर्वाण-मोक्ष निःश्रेयस कहलाता है।

गाथा में आया हुआ 'हबइ' पद भूप्राप्तो धातुका रूप है। भूप्राप्ता-बात्मनेपदो इस कथन से उसका आत्मनेपद में प्रयोग होता है॥ ३॥

गावार्थ—वह आत्मा परमात्मा, अभ्यन्तरात्मा और बहिरात्मा के मेद से तीन प्रकार का है। इनमें से बहिरात्मा को छोड़कर अन्तरात्माके उपाय से परमात्मा का ध्यान किया जाता है। हे योगिन् ! तुम बहि-रात्मा का त्याग करो ॥४॥

- १. रत्नकरण्डन्नावकाचारे।
- २. 'परमंतर बाहिरो दु देहोणं' इति पाठः पं० अयअन्द्र वचनिकायां स्वीकृतः सुष्ठुः च प्रतिभाति ।

त्मानं हित्सापरित्यज्य । (तत्य परो झाइज्जइ) तत्र परमात्मा घ्यायते कर्ष परमात्मा घ्यायते ? (अंतोबाएण) अन्तरात्मोपायेन भेदझानबल्नेत्त्ययंः (धर्याह बहिरप्पा) त्यज परिहर त्वं हे मुने वहिरप्पा बहिरात्मानं-दारीरमेवात्मेति मतं मन्यते बहिरात्मा तमभिप्रायं त्वं त्यजेति तात्पर्यार्थः ।

अक्साणि बाहिरप्पा अंतरअप्पा हु अप्पसंकप्पो । कम्मकलंकविमुक्को परमप्पा भण्णए देवो ॥ ५ ॥ अक्षाणि बहिरात्मा अन्तरात्मा स्फुटं आत्मसंकल्पः । कर्मकलंकविमुक्तः परमात्मा भण्यते देवः ॥५॥

(अक्साणि बाहिरप्पा) अक्षाणि इन्द्रियाणि बहिरात्मा मवति । (अंतर-अप्पा हु अप्पसंकप्पो) अन्तरात्मा हुन्स्पुटं आत्मसंकल्पः शरीरकर्मरागद्वेषमोहादि-दुःखपरिणामरहितोऽयं ममात्मा वर्तते शरीरे तिष्ठन्नशुद्धनिश्चयनयेन शरीरं न स्पूर्शति, कमंबन्धनबद्धोपि सन् कमंबन्धनैबंद्धो न भवति नल्जिनीदलस्वितजल्वदि-तोड्र्झ मेरज्ञानं आत्मसंकल्प उच्यते स आत्मसंकल्पो यस्य आवस्य वर्तते सोऽन्त-

विशेषार्थ—आत्मा के तीन मेद हैं १ परमात्मा २ अन्तरात्मा ३ बहि रात्मा । इन तीनोंके लक्षण आगे स्वयं कुन्दकुन्द स्वामी कहेंगे । इनमें से बहिरात्मा को छोड़कर अन्तरात्मा के उपाय से--भेदज्ञान के बलसे पर-मात्मा का घ्यान किया जाता है । हे मुने ! तू बहिरात्मा को छोड़ अर्थात् शरीर ही आत्मा है इस अभिप्राय का त्याग कर ॥४॥

गावार्थ---इन्द्रियां बहिरात्मा हैं, वात्मा का संकल्प अन्तरात्मा है और कर्म-रूपी कलंक से रहित आत्मा परमात्मा कहलाता है । परमात्मा को देव संज्ञा है ॥५॥

रात्मा वेदितव्यः । (कम्मकलंकविमुक्को परमप्पा भष्णए देवो) कर्मकलक्क विमुक्तो द्रव्यकर्मभावकर्मनोकर्मरहितः सिद्धपरमेस्वरो देवः परमात्मा भष्यते बहंन् परमेश्वरः सामान्यकेवली च परमात्मा कय्यते तस्य जीवन्मुक्तत्वात्। धक्तं च---

> आत्मन्नात्मविलोपनात्मचरितैरासीदुं रात्मा विरं स्वात्मा स्याः परमात्मनीनचरितैरात्मीकृतैरात्मनः । आत्मेत्यां परमात्मतां प्रतिपतन् प्रत्यात्मविद्यात्मकः स्वात्मोत्थात्मसुस्तो निषीदवि^९ लसन्नघ्यात्मनघ्यात्मना ॥ १ ॥

मलरहिओ कलचत्तो ऑणदिओ केवलो विसुद्धप्पा । परमेट्टी परमजिणो सिवंकरो सासओ सिद्धो ॥ ६ ॥ मलरहितः कलस्पक्तः अनिन्द्रियः केवलो विशुद्धात्मा ।

परमेष्ठी परमजिनः शिवर्द्धरः शाश्वतः सिद्धः ॥६॥

(मलरहिओ कलचत्तो) मलरहितः कर्ममलकर्लकरहितः, कल्लया धारीरेण त्यक्तः कलत्यक्तः । याकारौ स्त्रीक्रुतौ स्नुस्वौ क्वचित् यथा इष्टकचितं इधीकतूल-

है। और जो द्रव्यकर्म भावकर्म तथा नोकर्म से रहित सिद्ध परमेश्वर है वे परमात्मा कहलाते हैं। अरहन्त परमेश्वर तथा सामान्य केवलो भी परमात्मा कहलाते हैं, क्योंकि उनकी जीवन्मुक्त अवस्था है। कहा भी है---

आत्मन्नात्म—आत्मन् ! तू आत्माको लुप्त करने वाले अपने आचार से चिरकाल तक दुरात्मा (दुष्ट स्वभावसे युक्त बहिरात्मा) रहा, अब बात्मस्वरूप किये हुए परमात्मा के चरित से अर्थात् परमात्मा के ध्यान से स्वात्मा (उत्तम स्वभाव से युक्त-अन्तरात्मा) हो जा। जिसे आत्म-बिद्या—आत्मज्ञान प्राप्त हो चुका है, ऐसा तू आत्मा के द्वारा प्राप्त करने योग्य परमात्म-दशाको प्राप्त होता हुआ अपनी आत्मा से ही उत्पन्न होने बाले आत्म-सुखसे सम्पन्न हो अध्यात्मकी भावनासे सुशोभित होता हुआ आत्मामें लीन हो जा॥५॥

गाणार्थ---वह परमात्मा मल रहित है, कला अर्थात् शरीर से रहित है, अतीन्द्रिय है, केवल है, विशुद्धात्मा है, परमेष्ठी है, परम जिन है, शिवंकर है, शाक्वत है और सिद्ध है॥६॥

१. निसीदसी लसन्त म० ।

भिति । (अणिदिओ केवली विसुद्धपा) अनिन्द्रिय इन्द्रियज्ञानरहितः केवलज्ञानेम द्रव्यपर्यायस्वरूपं जानन्नित्यर्थः ।

उक्तं च पुष्पदन्तेन महाकविना----

सर्वह्णु अणिदिओ णाणमको जो मयमुढुन पत्तियइ ।

सो णिदिओ पंचिदियनिरखां वइतरणिहि पाणिउ पियइ ॥ १ ॥

अथवा----ऑणदिओ----अनिदित इन्द्रघरणेन्द्रनरेन्द्रखगेन्द्राद्रीनां स्तुत्ध इत्पर्थः । उक्तं च सुस्रोचनाकान्तेन---

शमितासिलविब्नसंस्तवस्त्वयि तुच्छोऽप्युपयात्यतुच्छता । शुचिशुक्तिपुटेऽम्बुसं¹धृतं ननु मुक्ताफलतां प्रपद्यते ॥ १ ॥

विशेषार्थ- इस गाथामें श्रीकुन्दकुन्द स्वामीने दश विशेषणों के ढारा परमात्माका निरूपण किया है, जिनका भाव यह है-परमात्मा मलसे रहित है अर्थात् कर्ममल कलंक से रहित है, कला अर्थात् शरीर से रहित होनेके कारण कलत्यक्त अथवा निष्फल है, ईकार और आकार स्त्रीलिझ में कहीं कहीं ह्रस्व भो होते हैं जैसे 'इष्टक चित्तम्' यहां पर इष्टिका के बदले इष्टकचितं प्रयुक्त होता है और 'इषीका तूलम्' यहां पर इष्टिका के क्वरले इष्टकचितं प्रयुक्त होता है और 'इषीका तूलम्' यहां पर इष्टिका के स्यान पर ह्रस्वान्त ईषीक शब्दका प्रयोग हुआ है । परमात्मा अतीन्द्रिय है अर्थात् इन्द्रिय ज्ञानसे रहित है क्योंकि वह केवलज्ञान के ढारा द्रव्य और पर्याय के स्वरूप को जानता है ।

जैसा कि महाकवि पुष्पदन्त ने कहा है-

सध्वण्डु---परमात्मा सर्वज्ञ अतीन्द्रिय और ज्ञानमय है, ऐसा जो मूढमति मनुष्य श्रद्धान नहीं करता है वह निन्दित है, पंचेन्द्रियों में निरत हे तथा मरकर वैतरणी नदी का पानी पीता है अर्थात् नरक जाता है।

अथवा 'अणिदियो' को छाया 'अनिन्दितः' है, इस पक्षमें यह अर्थ होता है कि वह परमात्मा अनिन्दित है--निन्दित नहीं है अर्थात् इन्द्र घरणेन्द्र नरेन्द्र तथा विद्याघरेन्द्र आदिका स्तुत्य है। जैसा कि सुलोचना-कान्त-जयकुमार ने कहा है---

शमिता—-आपके विषय में किया हुआ समस्त विघ्नोंको शान्त करने वाला छोटा सा भी स्तवन अतुच्छता-विशालता को प्राप्त होता है, सो ठीक हो है, क्योंकि उज्ज्वल सीप के भीतर रखा हुआ पानी निश्चय से मुक्ताफलपनेको प्राप्त होता है।

१. विधृतं म० ।

घटयन्ति न विध्नकोटयो निकटे त्वत्क्रमयोनिवासिनाम् । दवाग्निभिभंयमस्त्व म्बुधिमध्यवतिनाम् ॥ २ ॥ पटवोऽपि पदं हुदये त्वयि सन्निधापिते रिपवः केऽपि भयं विधित्सवः । अमुताशिष सन्ततं विषभेदार्पितविष्लवः कुतः । ३ ॥ सत्स् विपदो विच्युतिमाप्नुवन्त्यलम् । उपयान्ति समस्तसम्पदो सपकेतुद्विष^२माप्नुषां सताम् ॥ ४ ॥ वषमार्गदेशिनं वृषभं इत्यं भवंतमतिभक्तिप्रयं निनीषोः, प्रागेव बन्धकलयः प्रलयं व्रजन्ति । परचादनस्वरमयाचितमप्यवश्यं, संपत्स्यतेऽस्य विलसदगुणभद्रभद्रम्³ ॥ ५ ॥ केवलोसहायः केवलज्ञानमयो वा, के परब्रह्मणि निजशद्भवुद्धैकस्वभावे आत्मनि बलमनन्तवीर्थं यस्य स भवति केवलः, अथवा केवते सेवते निजात्मनि एकलोली-

घटयन्ति—बड़े बड़े करोड़ों विघ्न भी आपके चरणों के समीप निवास करने वाले लोगों में अपना स्थान नहीं बना पाते सो ठीक ही है क्योंकि ऐसा होनेपर फिर समुद्र के मध्य वास करनेवाले लोगों को भी दावानलसे भय टत्पन्न हो ?

हूबये—हूदयमें आपके स्थापित किये जाने पर भय उत्पन्न करने वाले शत्रु कौन होते हैं ? अर्थात् कुछ भी नहीं। सो ठीक ही है क्योंकि अमृतभोजी जनोंके रहते हुए किसी भी प्रकार के विषसे उत्पन्न होने बाला उपद्रव कैसे हो सकता है ?

उपपान्ति—जो इस तरह धर्मका भागँ बतानेवाले तथा कामके ढेषी भगवान् वृषभदेवको प्राप्त हुए हैं—उनके शरणागत हुए हैं उन्हें समस्त सम्पदार्ए प्राप्त होती हैं और विपत्तियां अच्छी तरह नष्ट होती हैं।

परमात्मा केवल हैं अर्थात् असहाय हैं-दूसरे पदार्थों को सहायता से-आलम्बनता रहित हैं अथवा केवल-कान-मय हैं अथवा के' परकड़ाणि

- २. द्विषमेबमायुषां क० द्विषमायुषां म० ।
- एतर् स्लोकपञ्चकं महापुरावस्य ४४ तमे पर्वति ३५८-३६२ संख्यानं बतंते । बबकुमारोक्तिरियम् ।

- 8.8]

१. मस्त्यम्बुधि म० ।

भावेन तिष्ठतीति केवल्लः । विषुद्धात्मा विश्वेषेण शुद्धः कर्ममलकलंकरहित आत्मा स्वभावो यस्य स विशुद्धात्मा । (परमेट्ठी परमजिणो) परमेष्ठी परमजिनः, परमे इन्द्रधरणेन्द्रनरेन्द्रमुनीन्द्रादिवंदिते पदे तिष्ठतीति परमेष्ठी पंचपरमेष्ठिरूपः, परमजिणो परा उत्कृष्टा प्रत्यक्षलक्षणोपलक्षिता मा प्रमाणं यस्येति परमः, अववा परेषां भव्यप्राणिनां उपकारिणी मा लक्ष्मीः समवसरणविभूतिर्यस्येति परमः, अववा परेषां भव्यप्राणिनां उपकारिणी मा लक्ष्मीः समवसरणविभूतिर्यस्येति परमः, अववा विषमभवगहनदुःखप्रापणहेतून् कर्मारातीन् जयति समूलकाषं कषतीति जिनः परम-क्वासौ जिनः परमजिनः तीर्थकरपरमदेवः । (सिवंकरो) शिव परममंगलं करोति शिवंकरः, अथवा शिवं मोक्षं करोति भक्तभव्यजीवानां मोक्षं विद्धातीति शिवंकरः शिवतातिरपरपर्यायः ।

निज शुद्ध-बुद्धैव-स्वभावे आत्मनि बलमनन्तवोर्यं यस्य स भवति केवलः इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिनकी के अर्थात् शुद्ध बुद्धेक स्वभाव आत्मा में अनन्त बल विद्यमान है उस रूप है अयवा 'केवते सेवते निजात्मनि एक-लोलीभावेन तिष्ठतीति केवलः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार निज आत्म-स्वरूप में लीन हैं।

वह परमात्मा विशुद्धात्मा है अर्थात् उनका आत्म-स्वभाव कर्ममल-कलंकसे रहित होने के कारण अत्यन्त शुद्ध है। इन्द्र घरणेन्द्र नरेन्द्र और मुनोन्द्रों के द्वारा वन्दित परम उत्कृष्ट पदमें स्थित होनेसे परमात्मा पर-मेष्ठी कहलाता है। अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु के भेद से परमेष्ठीके पाँच भेद हैं, परमात्मा उन्हीं पंच परमेष्ठी रूप हैं। प्रत्युत्पन्न-ग्राही नेगमनय की अपेक्षा अरहन्त और सिद्ध परमेष्ठी रूप हैं तथा भूतप्रज्ञापन नेगमनय की अपेक्षा आचार्य उपाध्याय और साधु रूप भी हैं।

परमात्मा परम जिन हैं 'परा-उत्कृष्टा प्रत्यक्ष लक्षणोपेता मा—प्रमाणं यस्य सः' इस समास के अनुसार जो प्रत्यक्ष प्रमाण से युक्त हैं वह परम हैं अथवा 'परेषां भव्यप्राणिनामुपकारिणो मा लक्ष्मीः समवसरणविभूतिर्य-स्येति परमः' इस समास के अनुसार जो भव्य जीवोंका उपकार करने वाली लक्ष्मी से सहित हैं वह परम हैं। 'कर्मारातीन् जयतीति जिनः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो संसार के गहन दुःखों को प्राप्त कराने वाले कर्म रूपी शत्रुओं को जीतता है वह जिन है। इस तरह परम-जिनका अर्थ तीर्थंकर परम देव है।

वह परमात्मा शिवंक है अर्थात् परममज्ज्ञल अथवा मोक्षको प्राप्त करानेवाला है, शास्वत है, अविनाशी है अथवा 'सासओ' के स्थान पर -६.७]

सासत्रो क्षस्तव्भवः शाख्वतोऽविनध्दरः । (सासत्रो) इति च क्वचित् पाठो दृश्यते तत्रायमर्थः---साशपः भक्तभव्यानां आशापूरणसमर्थं इत्यर्थः । (सिद्धो) सिद्धिः स्वारमोपलव्धिविद्यते यस्य स सिद्धः परमनिर्वाणपदमारूढ इत्यर्थः ।

ैतदुक्तं---तस्य त्रिविधस्यात्मनः स्वरूपं शास्त्रान्तरेऽपि प्रोक्तमस्तीति श्रीकुन्द-कून्दाचार्या निरूपयन्ति---

आरुहवि अंतरप्पा बहिरप्पा छंडिऊण तिविहेण । झाइज्जइ परमप्पा उवइट्ठं जिणवरिंबेहि ॥ ७ ॥ आरुह्य अन्तरात्मानं बहिरात्मानं त्यक्त्वा त्रिविधेन ।

ध्यायते परमात्मा उपदिष्टं जिनवरेन्द्रैः ॥ ७ ॥ (आस्ह्रवि अंतरप्पा) आरुह्य प्राटुर्भाव्य आश्चित्येति, किं ? अंतरप्पा-→ अन्तरात्मानं भेदज्ञानावलम्बनं क्रुत्वेत्यर्थः । (बहिरप्पा छंडिऊण तिबिहेण) त्रिविधेन मनोवचनकायैबैंहिरात्मानं त्यक्त्वा । (झाइज्जद्द परमप्पा) घ्यायते

'सासवो' पाठ भो कहीं देखा जाता है उस पाठकी अपेक्षा 'साशप' है अर्थात् भक्त भव्य जीवोंकी आशाओं को पूर्ण करने में समर्थ हैं।

परमात्मा सिद्ध है अर्थात् स्वात्मोपलब्धि रूप सिद्धि उसे प्राप्त हो चुकी है।

ँ इस तरह तीन प्रकारके जोवोंका स्वरूप अन्य शास्त्रों में भी कहा गया है।। ६॥

गायायं—मन वचन काय इन तीनों योगों से बहिरात्मा को छोड़कर तथा अन्तरात्मा पर आरूढ़ होकर अर्थात् भेदज्ञानके द्वारा अन्तरात्मा का आलम्बन लेकर परमात्मा का ध्यान किया जाता है, ऐसा जिनेन्द्र देवने उपदेश दिया है ॥ ७ ॥

विशेषार्थ—जो शरीर को ही आत्मा मामता है वह बहिरात्मा है, मिथ्यादृष्टि है। इस अवस्था को त्रिविध योग से छोड़कर अन्तरात्मा

१. समस्त प्रतियों में 'तदुत्त' पाठ है परन्तु उसके आगे कोई गाया उद्घृत नहीं है। ऐसा जान पड़ता है कि 'आरुहवि'----आदि गाया ही उद्घृत गाया है क्योंकि यह गाया नं० ४ की गायासे गतार्थ हो जाती है। संस्कृत टीकाकार ने इसे मूल ग्रन्थ समझ कर इसकी टीका कर दी है। इसलिये यह मूल में वामिल हो गई। यह गाया कहा की है, इसकी खोज आवश्यक है। ⁹क्षात्मा मनीषिभिरमं त्वदमेदबुद्धघा व्यातो जिनेन्द्र ! भवसीह भवत्प्रभावः । पानीयमप्यमृतमित्यनुचिन्त्यमानं किं नाम नो विषविकारमपाकरोति ॥१॥⊦

(उवइट्ट जिण्वरिदेहि) उपदिष्टं प्रतिपादितं । कैः, जिनवरेन्द्रैः श्रीम़द्• भगदर्हत्सवंज्ञवीतरागैरिति श्रेषः ।

बहिरत्ये फ़ुरियमणो इंदियदारेण णियसरूवचुओ । णियदेहं अप्पाणं अज्मवसदि मूढदिट्टीओ ॥८॥ बहिरत्यें स्फुरितमना इन्द्रियद्वारेण निजस्वरूपच्युतः । निजदेहं बात्मानमध्वस्यति मूढदृष्टिस्तु ॥ ८॥

बनना चाहिये अर्थात् भेदज्ञानका आलम्बन कर शरोरसे भिन्न आत्माका अनुभव करना चाहिये, अन्तरात्मा सम्यख्ष्टि है। इस तरह अन्तरात्मा बनकर परमात्मा का ध्यान करना चाहिये। निश्चयनय से परमात्मा कर्म-मल कलंक से रहित सिद्ध स्वरूप है। जो अर्हन्त और सिद्धका स्वरूप है वही मेरा स्वरूप है, इस प्रकार ध्यान करना चाहिये। ऐसा ध्यान करने वाला मुनि परमात्मा को प्राप्त कर लेता है अर्थात् स्वयं अर्हन्त सिद्ध स्वरूप हो जाता है।

जैसा कि कहा गया है---

बात्मा---हे भगवन् ! विद्वानोंके द्वारा आपसे अभिन्न मानकर ध्यान किया हुआ आत्मा आपके ही समान प्रभाव वाला हो जाता है सो ठोक ही है क्योंकि 'यह अमृत है' इस प्रकार ध्यान किया हुआ पानी भी क्या विष-के विकार को दूर नहीं कर देता ? अर्थात् अवश्य कर देता है।

परमात्म-अवस्था को प्राप्त करने का यह मार्ग जिनेन्द्र भगवान् वीत-राग सर्वज्ञ देवने कहा है ॥ ७ ॥

गाथार्थ—बाह्य पदार्थों में जिसका मन स्फुरित हो रहा है तथा इन्द्रिय रूप द्वारके द्वारा जो निज स्वरूप से च्युत हो गया है ऐसा मूढ-दूष्टि—बहिरात्मा पुरुष अपने शरीर को ही आत्मा समझता है ॥८॥

१. कस्या**जनस्विरस्तो**त्रे कुमदबन्द्रस्य ।

(बहिरत्ये फुरियमणो) बहिरर्थे इष्टवनितासुतस्वापतेयादौ स्फुरितं चमत्छतं मनो यस्य स इष्टार्थे स्फुरितमनाः । (इंदियदारेण णियसरूवचुओ) इन्द्रियद्वारेण इन्द्रियेषु प्रविश्य, निजस्वरूपच्युत आत्मभावनायाः प्रभृष्टः । (णियदेहं अप्पाणं) निजदेहं स्वकोयशारीरं आत्मानमघ्यवस्यतीति सम्बन्धः---शरीरमात्मानं जाना-तीत्यर्थः । (अज्झवसदि मूढदिट्ठीओ) अध्यवस्यति मूढदृष्टिस्तु ममार्थं काय आत्मेनि जानाति मूढदृष्टिर्वंहिरात्मेतिभावार्थः ।

णियदेहसरिस्सं पिच्छिऊण परविगगहं पयुक्तेण । अच्चेयणं पि गहियं झाइज्जइ ेपरमभाएण । ९ ॥ निजदेहसदुक्षं दृष्ट्वा परविग्रहं प्रयत्नेन ।

अचेतनमपि गुहोतं ध्यायते परमभावेन ॥ ९ ॥

(णियदेहसरिस्सं पिच्छिऊण) निजदेहसदृक्षं सदृशं पिच्छिऊण दृष्ट्वा। (परविग्गहं पयत्तेण) परविग्रहं इष्टवनितादिशरोरं, पपत्तेण---प्रयत्तेन मलमूत्र-शुकरुधिरमांसकीकसचर्मरोमादिदुर्गन्धापवित्रादिपरिणाममावेन । (अच्चेयणं पि गहियं)अचेतनमपि आत्मना गृहीतं जोवेन स्वीकृतं। (झाइज्जइ परमभाएण)

विशेषार्थ—इस गाथामें बहिरात्मा जोवकी प्रवृत्तिका वर्णन करते हुए श्रो कुन्दर्कुन्द स्वामो लिखते हैं कि जिसका मन इष्ट स्त्री पुत्र तथा धन आदिमें चमत्कार को प्राप्त हो रहा है तथा इन्द्रिय-सम्बन्धो विषयों में आसक्त होकर जो निज रूपसे च्युत हो गया है अर्थात् आत्माकी भावना से भृष्ट हो गया है ऐसा मूढ़ दृष्टि मनुष्य निज शरीरको ही आत्मा मान बैठता है ॥ ८ ॥

गायार्थ—ज्ञानी मनुष्य निज-शरीर के समान पर-शरीर को देखकर भेद-ज्ञान पूर्वक विचार करता है कि देखो इसने अचेतन शरोरको भी प्रयत्नपूर्वक ग्रहण कर रक्खा है।। ९।।

विशेषार्थ—ज्ञानी जोव भेद ज्ञान-पूर्वक ऐसा विचार करता है कि जिस प्रकार मेरा शरीर मल मूत्र शुक्र रुधिर मांस हड्डी चर्म रोग आदि दुर्गन्ध युक्त अपवित्र पदार्थों से भरा हुआ है तथा अचेतन है, उसो प्रकार पर का शरीर भी अपवित्र वस्तुओं से भरा तथा जड़ रूप है परन्तु मोहो जीव उसे प्रयत्नपूर्वक ग्रहण किये हुए है। यहाँ संस्कृत टोकाकार ने 'परमभाएण' की छाया 'परमभागेन' स्वीकृत की है और उसका अर्थ 'छरोर भिन्न है तथा आत्मा भिन्न है' ऐसा-ज्ञान लिया है।

१. मिण्छभावेण, ग० घ० अन्यत्र च।

> आत्मा भिन्नस्तदनुगतिमत् कर्मं भिन्नं तयोर्था प्रत्यासत्तेभवति विकृतिः सापि भिन्ना तयैव । कालक्षेत्रप्रमुखमपि यत्तच्च भिन्नं मतं मे । भिन्नं भिन्नं निजगुणकलालङ्कृतं सर्वमेतत् ॥ १ ॥

सपरज्झवसाएणं देहेसु य अविदिदत्थमप्पाणं । सुयदाराईविसए मणुयाणं वड्ढए मोहो ॥१०॥ स्वपराध्यवसायेन देहेषु च अत्रिदितार्थमात्मानम् ।

सुतदारादिविषये मनुजानां वर्षते मोहः ॥ १० ॥ (सपरज्झवसाएणं) स्वपराष्यवसायेन परवस्तुकारीरादिकं स्वमात्मानं मन्यते स्वपराष्यवसायः । केषु पदार्थेषु, (देहेसु य) कारीरेषु च, चक्रराद्वनितादिषु च, क्षरीरं वनितामुतस्वापतेयादिकं वस्तु खलु परकीयं वर्तते तत्र । (अविदिदत्यं)

जैसा कि कहा है----

बात्मा-आत्मा भिन्न है, उसके साथ लगे हुए कर्म भिन्न हैं, आत्मा और कर्म की प्रत्यासत्ति--एक क्षेत्रावगाह से जो विकार उत्पन्न हुआ है वह भी भिन्न है। आत्माका काल तथा क्षेत्र आदि भिन्न हैं तया आत्म-गुणों की कला से अलंकृत जो कुछ है वह सब भिन्न सिन्न है।

[इस गाथाके 'परमभाएण' पाठकी छाया पं० जयचन्द्र जी ने 'परम-भावेन' स्वीकृत को है और उसका अर्थ परम भाव लिया है। अन्य कितनी ही प्रतियों में 'परमभाएण' के स्थान पर 'मिच्छभावेण' पाठ है। इस पाठ से गाथा का अभिप्राय ही दूसरा हो जाता है उससे गाथा में ज्ञानी जीव के विचार को चर्चा न होकर अज्ञानी जीव की चर्चा दिखने लगतो है। यह जीव मिथ्या भावके कारण बहिरात्मा बनकर अपने शरीर के समान इष्ट स्त्री आदि परके शरीरको भी आत्मा मानता है तथा प्रयत्नपूर्वक उनमें राग भाव करता है]

गाथार्थ-स्व-पराध्यवसाय के कारण अर्थात् परको आत्मा समझने के कारण यह जोव अज्ञान-वश शरीरादिको आत्मा मानता है। इस विपरीत अभिनिवेश के कारण ही मनुष्यों का पुत्र तथा स्त्री आदि विषयों में मोह बढ़ता है। १०॥

492

मोक्षप्रामृतम्

अविदितार्थं यथावत्स्वरूपपरिज्ञानरहितार्थं यथा भवत्येवं वर्तमान आत्मा । (अष्पाणं) इति जीवः आत्मानं जानीते तच्च देहादिकं वस्तु आत्मा न भवति । तेन विपरी-क्षभिनिवेदोन (सुयदाराईविसए) सुतदारादिविषये पुत्रकलत्रादिषु । (मणुयाणं बढ्ढए मोही) मनुजानां मानवानां वर्धते मोहः—रनेहेनाज्ञानमूलं मोहो वैचित्त्यं वृद्धि याति, मोहेन परिणतो जीवो बहिरात्मा पुनः कर्माण्यष्टी बघ्नाति । उक्तं च

> ैजीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरम्ये । स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गला कर्मभावेन ॥ १ ॥

े जैसा कि कहा है----

सीवहुत---जीवके द्वारा किये हुए रागादि परिणाम को निमित्त मात्र प्राप्त करके जीवसे भिन्न पुद्गल द्रव्य स्वयं ही कर्म-रूप परिणत होजाते हैं। यहां पुद्गल द्रव्य स्वयं कर्म रूप परिणत होजाते हैं, इससे आचार्य ने बह माथ सूचित किया है कि कर्मका उपादानकारण पुद्गल द्रव्य है क्योंकि वह स्वयं कर्म रूप परिणत होता है परन्तु पुद्गल द्रव्यका कर्म रूप परिणमन अनिमित्तक न होकर जीवके रागादि परिणाम-निमित्तक है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका उपादान कारण नहीं हो सकता क्योंकि एक इष्णका दूसरे द्रव्य में अत्यन्ताभाव होता है परन्तु निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध दो भिन्न द्रव्यों में भी होता है इसीलिये पुरुषार्थसिद्ध्युपायके इस इलोकमें श्री अमृतचन्द्र स्वामी ने पुद्गल द्रव्यके कर्म रूप परिणमन में जीवके रागादि भावोंको निमित्त कारण माना है और 'परिणममानस्थ

१. ज़ुव्यार्थ सिंह पुपाये । 👘 👘 👘

मिच्छाणाणेसु रओ मिच्छाभावेण भाविओ संतो । मोहोदएण पुणरवि अंगं सं मञ्जए मणुओ ॥११॥

मिथ्याज्ञानेषु रतः मिथ्याभावेन भावितः सन् ।

मोहोदयेन पुनरपि अर्ङ्झ स्वं मन्यते मनुजः ॥ ११ ॥ (मिच्छाणाणेषु रओ) मिथ्याज्ञानेषु रतोऽयं मनुजो जीवः । (मिच्छाभावेण भाविओ संतो) मिथ्यापरिणामेन कुगुरुकुदेवभक्त्या भावितो वासितः सनः । (मोहोदएण पुणरवि) मोहोदयेन मिथ्यामोहस्य त्रिविधस्पोदयेन विपाकेन, पुनरपि भूयोऽपि । (अंगं सं मण्णए मणुओ) अंगं शरीरं, स्वमात्मानं, मन्यते जानाति, मनुजो मनुष्यो मिथ्यादृष्टिजीव इत्ययं: ।

जो देहे णिरवेक्खो णिहूंदो णिम्ममो णिरारम्भो । आदसहावे सुरओ जोई सो लहइ णिव्वाणं ॥१२॥ यो देहे निरपेक्षः निर्ह्वन्द्वः निर्ममः निरारम्भः । आत्मस्वभावे सुरतः योगो स लमते निर्वाणम् ॥ १२॥

चितरिचदात्मकें स्वयमपि स्वकेंभावें: । भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिक कर्म तस्यापि' । इस पद्य में जीवके रागादि रूप परिणमन में पौद्गलिक कर्म को निमित्त कारण माना है । एकान्त से मात्र उपादान का पक्ष लेकर वर्णन करनेसे लोक-प्रचलित-निमित्त नेमित्तिक भाव तथा शास्त्र--वर्णित षट्द्रव्योंका उपकार्य उपकारक भाव विरुद्ध जान पड़ने लगता है । अतः अनेकान्त की दृष्टि से ही पदार्थ का वर्णन करना संगत है ॥१०॥

विशेषार्थ—मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृति के भेदसे मोहके तीन भेद हैं। इस तीन प्रकारके मोहके उदयसे यह जीव मिथ्या-ज्ञानमें रत हो रहा है-मिथ्याशास्त्रों के अध्ययनादि में प्रवृत्त हो शुद्ध-बुद्धैक-स्वभाव आत्मज्ञान से विमुख हो रहा है तथा कुगुरु कुदेव आदि की भक्ति रूप मिथ्या परिणाम की भावना से वासित होता हुआ शरीर को फिर भी आत्मा मान रहा है अर्थात् इस जीवकी मिथ्याबुद्धि हट नहीं रही है।

गावार्च---जो शरीर में निरपेक्ष है, इन्द्र-रहित है, ममता रहित है,

(आदसहाबे सुरखो) आत्पस्वभावे टंकोत्कीणंज्ञाधकैकस्वभावषिज्यमत्कार-लक्षणनिजकृद्धवृद्धैकपरिणामे जीवतत्वे सुष्ठु---अतिशयेन रत एफलोलीमावः । (जोई सो लहइ णिम्वाणं) य एवंविषो योगी शुद्धोपयोगरतो मुनिः स लमते निर्वाणं, सर्वकर्मसयलक्षणोपलसितं मोक्षं लमते प्राप्नोति । अथवा जोई सो योगो ध्यानं विद्यते यस्य स योगी योगिनामीशो यागीश इत्यनेन गृहस्यस्य स्त्रियाः परस्तिने च मुक्तिनं भवतीति सूचितं ज्ञातभ्यं । उक्तं च--

साम्यं स्वास्थ्यं समाधिष्च योगध्चिन्तानिरोधनम् । शुद्धोपयोग इत्येते भवन्त्येकार्यवाचकाः ॥ १ ॥ कयं गृहस्वस्य मुक्तिनं भवतीति चेत् ?—-खण्डनी पेषणी चुल्ली उदकुम्भः प्रमार्जनी । पंच सूना गृहस्वस्य तेन मोक्षं न गच्छति ॥ १ ॥

और जो टक्कोलोणं एक-मात्र ज्ञायकस्वभाव, चैतन्य-चमत्कार ल्झण से युक्त, निज शुद्ध-बुद्धेक परिणाम जीव तत्व में अतिशय से लीन है वह योगी शुद्धोपयोग में रत होता हुआ सर्व कर्मंक्षय लक्षणसे सहित मोक्षको प्राप्त होता है । अथवा 'योगो घ्यानं विद्यते यस्य स योगी योगिनामीशो योगीशः' इस समास के अनुसार घ्यानी मुनियों का स्वामी---उत्कृष्ट मुनि ही मोक्षको प्राप्त होता है, ऐसा अर्थ लेना चाहिये । ऐसा अर्थ करनेसे गृहस्थ के स्त्री के तथा दिगम्बर मुद्रा के सिवाय अन्यवेष के भारक साधु के मोक्ष नहीं होता है यह भाव सूचित होता है । कहा भी है----

साम्यं---साम्य, स्वास्थ्य, समाधि, योग, चिन्ता-निरोध और खुढो-पयोग ये सब एकार्थं के वाचक हैं।

प्रइत----गृहस्य के मुक्ति क्यों नहीं होती है ?

उत्तर-गृहस्य के कूटना, पीसना, चूला सुलगाना, पानी के घट भरना और बुहारी लगाना ये पाँच हिंसा के कार्य होते हैं अतः वह मोक्ष को प्राप्त नहीं होता।

इसो प्रकार स्त्रियों की भी मुक्ति नहीं होती क्योंकि उनके महावतका अभाव है।

प्रक्त-स्त्रियों के महावत का अभाव क्यों है ?

मोक्षप्राभृतम्

(जो देहे णिरवेवस्त्रो) यो योगी देहे शरोरे निरपेक्ष उदासीनो ममत्वेन भ्युतः । (णिट्ंदो निम्ममो निरारंभो) निद्रन्द्रो निष्कलहः केनापि सह कलहर-हित । अथवा निर्द्वन्द्रो नियुंग्मः स्त्रीभोगरहितः ''द्वन्द्रं कलहयुग्मयोः'' इति वचनात् । निर्ममो ममत्वरहितः, ममेति अदग्तोऽव्ययक्षध्दः निर्गतं ममेति परिणामो यस्येति निर्ममः । उक्तं च—

ैअकिंचनोऽहमित्यास्व त्रैलोक्याघिपतिभेंवेः । योगिगम्यं तव प्रोक्तं रहस्यं परमात्मनः ॥ १ ॥ निरारंभः सेवाक्रुषिवाणिज्यादिकमंरहितः । उक्तं च— आरंभे पत्थि दया महिलासंगएण णासए बंभं । संकाए सम्मत्तं पव्वज्जा अत्यगहणेण ।। १ ।।

आरम्भ रहित है जोर आत्म-स्वभावमें सुरत है—संलग्न है, वह योगी निर्वाणको प्राप्त होता है ॥१२॥

विशेषार्थ---जो योगी शरीर में निरपेक्ष है--उदासीन है। निद्वंन्द्व--कलह रहित है अथवा 'द्वन्द्वे कलहयुग्मयोः' इस कोशके वचन के अनुसार द्वन्द्वका अर्थ स्त्री पुरुषका युगल भी होता है, अतः निद्वंन्द्व है---अर्थात् स्त्री के भोगसे रहित है। निर्मम है अर्थात् ममता भाव से रहित है। 'मम' यह अदन्त अव्यय शब्द है उसका अर्थ 'यह मेरा है' इस प्रकार का परिणाम है। योगी निर्मम होता है अर्थात् मम परिणामों से सर्बंधा रहित है---

जैसा कि कहा है---

अकिंखनोऽहं — हे आत्मन् ! 'मैं अकिञ्चन हूँ — मेरा मेरे पास कुछ नहीं है' यह विचार कर तुम चुपचाप बैठ जाओ क्योंकि ऐसा करने से तुम तीन लोकके अधिपति हो सकते हो । मैंने परमात्मा का यह योगिगम्य रहस्य तेरे लिये कहा है ।

जो योगी निरारम्भ है अर्थात् सेवा कृषि वाणिज्य आदि कार्योंसे रहित है । कहा है ।

आरंभे—आरम्भ में दया नहीं है, स्त्रियों को संगति से ब्रह्मवर्य नष्ट हो जाता है, शङ्का से सम्पक्त नष्ट हो जाता है और धनके ग्रहण करने से प्रव्रज्या-दीक्षा नष्ट हो जाती है।

१. बात्मानुसासने ।

मोक्षप्राभृतम्

तया स्त्रीणामपि मुक्तिर्न भवति महाव्रताभावात् । तदपि कस्मान्न भवति ? कक्षयोः स्तनयोरन्तरे नाभौ योनौ च जीवानामुत्पत्तिविनाशठक्षणाहिंसासद्भावात्, निःशंकत्वाभावात्, वस्त्रपरिग्रहात्यजनात्, अहमिन्द्रपदमपि न रूभन्ते कथं निर्वाण-मिति हेतोश्च । यदि च स्त्रियोमुक्ता भवन्ति तर्हि तत्पर्यायमूर्त्वयः कथं न पूज्यन्ते । सर्वथा दुर्मतं विहाम पुरुषस्यैव मुक्तिमन्तव्येति भावः । पर्राल्जे च मुक्तिनं भवति मिख्यात्वदूषितत्वात्, दण्डकमण्डरुमृगचर्मकर्माशर्मकारणात् । तद्विस्तरेण प्रमेयकमस्त्र-मातण्डादिषु शास्त्रेषु ज्ञातव्यं । सज्जातिज्ञापनार्थं स्त्रीणां महाव्रतान्युपचर्यन्ते न परमार्थतस्तासां महाव्रतानि सन्ति तेन मुनिजनस्य स्त्रियाश्च परस्परं वन्दनापि न युक्ता । यदि ता वन्दन्ते तदा मुनिभिर्नमोऽस्त्विति न वक्तव्यं, कि तर्हि वक्तव्यं ? समाधिकमंक्षयोस्त्विति । ये तु परस्परं मत्थएण वदामीति आर्याः प्रतिवन्दन्ति देश्यसंयमिनो ज्ञातव्याः । दिगम्बराणां मते या नीतिः कृता सा प्रमाणमिति मन्तव्यं । उक्तं च--

> वरिससयदिविश्वियाए अज्जाए अज्ज दिक्लिओ साहू। अभिगमण वंदण नमंसणेण विणएण सो पुज्जो ॥ १ ॥

होता है। एक हेतु यह भी है कि स्त्रियाँ अहमिन्द्र पद भी नहीं प्राप्त कर सकती हैं फिर मोक्ष कैसे प्राप्त कर सकती हैं? यदि स्त्रियाँ मुक्त होती हैं तो उस पर्यायकी मूतियाँ क्यों नहीं पूजी जाती हैं? अतः सब प्रकारके दुराग्रह को छोड़कर पुरुष की ही मुक्ति होती है, ऐसा मानना चाहिये।

अन्य लिङ्ग में भी मुक्ति नहीं होती क्योंकि वह मिथ्यात्व से दूषित है तथा दण्ड कमण्डलु मुगचर्म और आरम्भ आदिके कार्यों से दुःख का कारण है। इसका विस्तार से वर्णन प्रमेय-कमल-मार्तण्ड आदि शास्त्रों में जानना चाहिये।

सज्जातित्व बतलाने के लिये स्त्रियों के महाव्रतों का उपचार होता है, परमार्थ से उनके महाव्रत नहीं होते । इसलिये मुनि और आयिका को परस्पर वन्दना करना युक्त नहीं है । यदि आयिकाएँ वन्दना करती हैं तो मुनियों को 'नमोऽस्तु' नहीं कहना चाहिये किन्तु 'समाधिकर्मक्षयोऽस्तु'---समाधि के द्वारा कर्मांका क्षय हो, ऐसा कहना चाहिये । इतना होने पर भी जो परस्पर 'मत्थएण चंदामि'---मस्तकसे वन्दना करता हूँ, यह कह कर आयिकाओं को बदले में वन्दना करते हैं वे भी असंयमी हैं, ऐसा जानना चाहिये । दिगम्बरों के मत में जो नीति प्रचलित है उसे ही प्रमाण मानना चाहिये । कहा भी है---

वरिससय—आर्या सौ वर्ष की मी दीक्षित हो और सामु आज ही

эø

इति गाया अप्रमाणं भवति यदि स्त्रोणां मुक्तिः स्यात् ।

परदब्बरओ बज्झइ विरओ मुच्चेइ विविहकम्मेहि ।

एसो जिणउवएसो समासओ बन्धमोक्खस्स ॥१३॥

परद्रव्यरतः बध्यते विरतः मुञ्चति विविधकर्मभिः ।

एष जिनोपदेश: समासतः बन्धमोक्षस्य ॥१३॥ (परदव्यरओ बज्झइ) परद्रव्य शरीरादिकं तत्र रतो बच्यते बन्धनं प्राप्नोति चौरवत्, यया चौरः परद्रव्यं चोरयन् पुमान् राजलोकैबंध्यते यो न परद्रव्यं चोर-यति स न बच्यते । (विरओ मुच्चेइ विविहकम्मेहि) विरतः परद्रव्यपराङ्मुखः पुमान् मुच्यते-मुक्तो भवति विविधैर्गानाप्रकारैः कर्माभर्ज्ञानावरणादिभिः । (एसो जिणउवएसो) एष जिनोपदेशः । (समासओ बंधमोक्सलस) समासतः संझेपात्, बन्धमोक्षस्य बन्धेनोपलक्षितो मोक्षो बन्धमोक्षः तस्य बन्धमोक्षस्य । अथवा बन्धश्च मोक्षरच बन्धमोक्षं समाहारद्रन्द्रस्तस्य ।

दीक्षित हुआ हो तो भी आर्था के द्वारा साधु संमुख गमन करना, वन्दना, नमस्कार और विनय के द्वारा पूजनीय होता है।

यदि यह गाथा अप्रमाण है तो स्त्रियों की मुक्ति हो सकतो है ॥१२॥ गाथार्थ---पर--द्रव्यों में रत पुरुष नाना कर्मोंसे बन्धको प्राप्त होता है और पर-द्रव्यों से विरत पुरुष नाना कर्मों से मुक्त होता है, बन्ध और मोक्ष के विषय में जिनेन्द्र भगवान् का यह संक्षेप से उपदेश है ॥१३॥

विशेषार्थ—जिस प्रकार पर द्रव्य को चुराने वाला चोर पुरुष राज-पुरुषों के द्वारा बढ होता है-बाँचा जाता है और जो पर-द्रव्यको नहीं चुराता है वह बढ़ नहीं होता, उसी प्रकार शरीरादि पर-द्रव्यमें लीन रहने वाला पुरुष नाना प्रकारके ज्ञानावरण आदि कर्मोंसे बन्ध को प्राप्त होता है और पर-द्रव्य से पराङ्मुख रहने वाला पुरुष नाना प्रकार के ज्ञाना-वरणादि कर्मोंसे मुक्त होता है, बन्ध और मोक्षके विषय में जिनेन्द्र भगवान् का यह संक्षेप से उपदेश है।

प्रक्षन---यहाँ 'बन्धश्च मोक्षश्च बन्धमोक्षो तयोः' इस प्रकार इतरेतर योग द्वन्द्व समास करने पर द्विवचन होना चाहिये एकवचन का प्रयोग क्यों हुआ ?

उत्तर--यहाँ इतरेतर योग न करके 'बन्धेन मोक्षः बन्धमोक्षः तस्य' इस प्रकार मध्यम पद लोपो तत्युरुष समास करने से द्विवन रखने को

सद्दव्वरओ सवणो सम्माइट्ठी हवेइ णियमेण । सम्मत्तपरिणदो उण खवेइ टुट्ठट्ठकम्माणि ॥१४॥

स्वद्रव्यरतः श्रमणः सम्यग्दृष्टिर्भवति नियमेन । सम्यक्त्वर्पारणतः पुनः क्षियते दुष्टाष्टकर्माणि ॥ १४ ॥ (सद्तव्यत्रो सवणो) स्वद्रव्यरतः श्रवण आत्मस्वरूपे तन्मयभूतो दिगम्बरः ।

(सद्व्वरआ सवणा) स्वष्ठव्यरतः अवण आत्मस्वरूप तन्मयमूता विगम्बरः । (सम्माइट्ठो हवेइ णियमेण) सम्यग्दृष्टिर्भवति नियमेन निश्चयेन, अत्र सन्देहो नास्ति । सम्यग्दर्शनस्य आत्मपरिणामत्वेन सूक्ष्मत्वात्, चक्षुरादीन्द्रियाणामगोचर-त्वात् । (सम्मत्तगरिणदो उण) सम्यक्त्वपरिणतः पुनः । (खवेइ दुट्ठट्ठकम्माणि) क्षिपते दुष्टानि अष्टकम्मीणि ज्ञानावरणादीनि ।

जो पुण परदव्वरओ मिच्छादिट्ठी हवेइ सो साहू । मिच्छत्तपरिणदो उण बज्झदि दुट्ठट्ठकम्मेहि ।।१५॥ यः पुनः परदव्यरतः मिथ्यादृष्टिर्भवति स साधः ।

भण्यात्वपरिणतः पूनः बच्यते दृष्टाष्टकर्मभिः ॥१५॥

(जो पुण परदव्वरओ) यः पुनः साधुः परद्रव्यरत इष्टवनितादिरतः स्तन-जघनवदनलोचनादि विलोकनादिलम्पटः । (मिच्छादिट्ठी हवेइ सो साहू) मिष्या-दृष्टिर्भवति संजायते साधुः जिनलिंगोपजीवी । (मिच्छत्तपरिणदो उण) मिथ्यात्व-

आवश्यकता नहीं है अथवा 'बन्धश्च मोक्षश्च अनयोः समाहारः' इस प्रकार समाहार द्वन्द्व करने से नपु सकलिङ्ग तथा एकवचन का प्रयोग व्याकरण से सिद्ध है ॥१३॥

गाथार्थ--स्वद्रव्य में रत साधु नियम से सम्यग्दृष्टि होता है और सम्यक्तकल्प परिणत हुआ साधु दुष्ट आठ कमोंको नष्ट करता है ॥१४॥

विशेषार्थ---आत्म स्वरूप में तन्मय रहने वाला दिगम्बर साधु निरुचय से सम्यग्दृष्टि होता है इसमें संशय नहीं है। सम्यग्दर्शन आत्मा की परि-णति होनेसे सूक्ष्म है तथा चक्षुरादि इन्द्रियों का अविषय है। सम्यक्त्व-रूप परिणत हुआ साधु ज्ञानावराणादि आठ दुष्ट कर्मोंको खिपाता है--नष्ट करता है ॥१४॥

गाथार्थ-जो साधु परद्रव्य में रत है वह मिथ्यादृष्टि होता है और मिथ्यात्व रूप परिणत हुआ साधु दुष्ट आठ कर्मोंसे बन्धन को प्राप्त होता है ॥१५॥

सोचनादिकायादिविलोकन म० ।

परिणतः पुनः मिष्यादर्शने वासितो मुनिः (बज्झदि दुट्ठट्ठकम्मेहि) बष्यते दृष्टाष्टकर्मभिः । उनतं च---

कम्मइं दिढधणचिक्कणइं गरुयइं वज्जसमाइं । णाणवियक्खणजीवडउ उप्पहि पाडहि ताइं ।।१।। इति कारणात् कर्माणि दुष्टत्वविशेषणविशिष्टत्वं लभन्ते ।

परब्ख्यादो दुगई सद्वव्वादो हु सुगाई हवइ । इय णाऊण सदव्वे कुणह रई विरइइयरम्मि ॥१६॥

परद्रव्यात् दुर्गतिः स्वद्रव्यात् स्फुटं सुगतिः भवति । इति ज्ञात्वा स्वद्रव्ये कुश्त रति विरतिमितरस्मिन् ॥१६॥

(परदब्वादो दुगई) परद्रव्यादृदुर्गतिः परमात्मघ्यानं परिहृत्य परद्रव्ये परि-णमनान्नरकादिषु चतसुषु गतिषु पतनं हे जीव ! तव भवति । (सद्व्यादो डू सुग्गई हवइ) स्वद्रव्यादात्मद्रव्ये एकलोलोभावात् सम्यक्श्वदानज्ञानानुचरणात् सुगतिभंवति मुक्तिभंवति । (इप णाऊण सदक्वे) इति ज्ञात्वा इदृशमर्थं परिज्ञाय स्वद्रव्ये बात्मतत्वे । (कुणह रई बिरइ इयरम्मि) कुरुत यूयं रति भावनां, बिर्रात विरमणं, इतरस्मिन् परइव्ये, मा रज्यत यूयमिति ।

विशेवार्थ—जो साधु इष्ट स्त्री आदि पर-द्रब्थ में रत है अर्थात् उनके स्तन जघन मुख नेत्र आदि के देखने में लम्पट है वह मिय्यादृष्टि है अर्थात् जिनलिज्ज धारण कर मात्र आजीविका करता है और मिथ्यात्व रूप परिणत अर्थात् मिथ्यादर्शन की वासना रखने वाला साघु आठ दुष्ट कर्मोंसे बैंधता है। कहा भी है—

कम्मइं--कर्म अत्यन्त मजबूत चिकने, भारी और वज्य के समान हैं वे इस झानी जीवको भी कुमार्ग में डाल देते हैं। इसी कारण कर्म दुष्ट बिरोषण को प्राप्त हैं।।१५।।

गावार्थ-परद्रव्य से दुर्गति और स्वद्रव्य से निश्चित ही सुगति होती है ऐसा जानकर स्वद्रव्य में रति करो और परद्रव्य में विरति करो ॥१६॥

विशेषायं---परमात्म-द्रव्यको छोड़कर परदव्यमें परिणमन करने से--उनमें तल्लीनता बढ़ाने से जीव ! तेरा नरकादि चारों गतियोंमें पतन होता है और स्वद्रव्य अर्थात् आत्म-द्रव्य में तन्मयो भाव रूग सम्यग्दर्शन, सम्यग्नान और सम्यक्वारित्रसे सुगति होती है---मुक्ति को प्राप्ति होतो है ऐसा जानकर तू आत्मद्रव्यमें रति कर और परदुव्यसे दिरस्ति कर अर्थात् उसमें राग मल कर 118411 त परदव्वं सदव्वं च केरिसं हर्वाद । तं जहा— तत्परद्रव्यं स्वद्रव्यं च कीदृशं भवति । तद्यथा—तदेव निरूपयंत्यावार्याः— आदसहावादण्णं सज्चित्ताचित्तमिस्सियं हवदि । तं परदव्वं भणियं अवितत्थं सव्वदरसीहिं ॥१७॥ आत्मस्वभावादन्यत् सचित्ताचत्तिमिश्रितं भवति । तत् परद्रव्यं भणितं-अवितथं सर्वदर्श्वाभिः ॥१७॥ (आदसहावादण्णं) आत्मस्वभावादन्यत् पुद्गलादिद्रव्यं । (सच्चिताचित्त-भिश्तियं हर्वाद) सचित्तं विद्यमानचेतनं इष्टवनितादिकं अचित्तं अचेतनं धनकन-कवसनादिकं, मिश्रितं आभरणवस्त्रादिसंयुक्तं कलत्रादिकं भवति । (तं परदव्वं भणियं) तत्परद्रव्यं भणितं— आगमे प्रतिपादितं । (अवितत्यं सव्यदरिसीहिं) अवितर्यं सत्यरूपं सर्वदर्श्विभिः श्रीमदभमवत्सर्वज्ञवीतरागैरिति शेषः ॥

दुट्टट्ठकम्मरहियं अणोवमं णाणविग्गहं णिच्चं । सुद्धं जिणेहि कहियं अप्पाणं हवदि सद्दव्वं ॥१८॥

दुष्टाष्टकर्मंरहितं अनुपमं ज्ञानविग्रह नित्यम् ।

शुद्धं जिनैः कथित आत्मा भवति स्वद्रव्यम् ॥१८॥

(दुट्ठट्ठकम्मरहियं) दुष्टाष्टकमंरहितं दुष्टानि पापिष्ठानि यानि अष्ट-कर्माणि दुर्गतिसंपातहेतुत्वात् तैः रहितं वर्जितं (अणोवमं णाणविग्गहं णिच्चं) अनुपमं उपमारहितं, ज्ञानविग्रहं ज्ञानशरीरं केवलज्ञानमयं, नित्यं शास्त्रतं अवि-

आगे वह परद्रव्य और स्वद्रव्य कैसा होता है यह बताते हैं---

ं गाथार्थ----आत्मस्वभाव से अतिरिक्त जो सचित्त अचित्त अखवा मिश्र द्रव्य है वह सब पर-द्रव्य है, ऐसा यथार्थ रूप से समस्त पदार्थों को जानने वाले सर्वंज्ञ देवने कहा है।।१७।।

विशेषार्थ---आत्मस्वभाव से भिन्न सचित्त-इष्ट स्त्री आदिक, अचित्त-धन सुवर्ण वस्त्र आदिक और मिश्र---आभरण तथा वस्त्र आदि से युक्त स्त्री आदिक जो भी पदार्थ हैं वे सब परद्रव्य हैं, ऐसा आगम में सत्यरूप से समस्त पदार्थों को देखने वाले सर्वज्ञ देव ने कहा है ॥१७॥ गाथार्थ----आठ दुष्ट कर्मोंसे रहित, अनुपम, ज्ञानशरीरी, नित्य और

शुद्ध जो आत्मद्रव्य है उसे जिनेन्द्र भगवान् ने स्वद्रव्य कहा है ॥१८॥ विशेषार्थ—जो दुर्गति में गिरानेके हेतु होनेसे अत्यन्त पापी कहे जानेवाले ज्ञानावरणादि कर्मोंसे रहित है, उपमा-रहित है, केवल्ज्ञान रूप शरीर से युक्त है, अविनुखर है तथा कर्ममल-कलंक से रहित होनेके नथवरं। (सुद्धं जिणेहि कहियं) धुद्धं निष्केवलं कर्ममलकलङ्करहितं रागद्वेष-मोहादिविभावपरिणामवर्जितं, जिनैः सर्वज्ञवीतरागैः, कथितं—आगमे प्रति-पादितं। (अप्पाणं हवदि सट्व्वं) आत्मा भवति स्वद्रव्यं आत्मरूपं स्वद्रव्यं निजद्रव्यं ज्ञातव्यमिति।

जे झायंति सदव्वं परदव्वपरम्मुहा दु सुचरित्ता ।

ते जिणवराण मगगं अणुलग्गा लहदि णिव्वाणं ॥१९॥

ये ध्यायस्ति स्वद्रव्यं परद्रव्यपराङ्मुखास्तु सुचरित्रा: ।

ते जिणवराणां मार्गमनुलग्ना लभन्ते निर्वाणम् ॥१९॥

(जे झायंति सदक्वं) ये मुनयो ध्यायन्ति जिन्तयन्ति स्वद्रश्यं आत्मतत्वं। (परदब्वपरम्मुहा दु मुचरिता) परद्रव्यात् पराङ्मुखाः परद्रव्ये धारोरादौ राग-रहिताः, तु पुनः, सुचरित्राः शोभनं चारित्रं अनतिचारचारित्रसहिताः (ते जिण-वराण मग्गं अणुलग्गा) ते मुनयो, जिनवराणां सर्वज्ञवीतरागाणां मार्गं रत्नत्रय-स्व्रधणं, अनुलग्नाः पृष्ठतो लग्ना भवन्ति---जिनमार्गाराघका भवन्ति । (लहदि णिष्वाणं) निर्वाणमनन्त सुझं परममोक्षं लभन्ते प्राप्नुवन्ति ।

जिणवरमएण जोई झाणे झाएइ सुद्धमय्पाणं। जेण लहइ णिव्वाणं ण लहइ कि तेण सुरलोयं ॥२०॥ जिनवरमतेन योगी ध्याने ध्यायति बुद्धमात्सानम् । येन लमते निर्वाणं न लमते कि तेन सुरलोकम् ॥२०॥

कारण अथवा रागद्वेष मोह आदि विभावपरिणामों से शून्य होने के कारण शुद्ध है वह आत्मद्रव्य ही स्वद्रव्य है, ऐसा सर्वज्ञ वोतराग जिनेन्द्र ने आगम में कहा है ॥१८॥

गाणार्थ-जो स्वद्रव्यका ध्यान करते हैं, परद्रव्यसे पराङ्मुख रहते हैं और सम्यक्चारित्रका निरतिचार पालन करते हुए जिनेन्द्र देवके मार्ग में लगे रहते हैं वे निर्वाणको प्राप्त होते हैं।।१९।।

विशेषार्थ—जो मुनि पूर्व गाथा में कथित स्वद्रव्यका ध्यान करते हैं शरीरादि परद्रव्य से पराङ्मुख रहते हैं तथा अतिवार रहित सम्यक्-चारित्रका पालन करते हुए •सवंज्ञ वीतराग जिनेन्द्र देवके रत्नत्रय रूप मार्ग में संलग्न हैं अर्थात् ज़िनमार्ग के आराधक हैं वे अनन्त सुख-सम्पन्न निर्वाण को प्राप्त करते हैं ॥१९॥

गाचार्य-जो योगी ध्यानमें जिनेन्द्रदेवके मतानुसार शुद्ध-आत्माका

मोक्षप्राभृतम्

(जिणवरमएण जोई) जिनवरमतेन जिनशासनेन सम्यक्श्रद्धानज्ञानानुभवन-लप्तणेन रत्नत्रयेन योगी दिगंबरो मुनिः । (झाणे झाएइ सुद्धमप्पाणं) घ्याने एकाप्रचिन्तानिरोघलक्षणे, घ्यायति चिन्तयति, शुद्धं रागद्वेषमोहादिरहितं कर्म-मलकर्लकरहितं टंकोत्कीर्णस्फटिकमणिविंबसदृशं ज्ञायकैकस्वभावं चिच्चमत्कार-स्वरूपं, आत्मानं निजात्मतत्वं । (जेण लहइ णिव्वाणं) येनात्मघ्यानेन लभते निर्वाण सर्वकर्मंक्षयलक्षणमोक्षमनन्तसौरूपं । (ण लहइ कि तेण सुरलोयं) तनात्मघ्यानेन न लभते कि न प्राप्नोति सुरलोकं स्वर्गभोगं? तथा चोक्त्त---

> तृष्णा भोगेषु चेद्भिक्षो ! सहस्वाल्पं स्वरेव ते । ⁹प्रतीक्ष्य पार्कं कि पीत्वा ^२पेयं भूक्ति विनाशये:³ ॥१॥

भ्यान करता है वह स्वर्ग लोक को प्राप्त होता है सो ठीक ही है क्योंकि जिस ध्यान से निर्वाण प्राप्त हो सकता है उससे क्या स्वर्ग लोक प्राप्त नहीं हो सकता ? ॥२०॥

विशेषार्थ—जो दिगम्बर मुनि जिनवरके मतानुसार अर्थात् सम्यक्-श्रदान, सम्यक्तान और सम्यक्चारित्र के अनुभवन रूप रत्नत्रय के अनु-सार घ्यान में रागद्वेष मोहसे रहित टकोत्कोर्ण स्फटिकमणिके विम्बके समान ज्ञायक-स्वभाव चिच्चमत्कार रूप निज आत्म-तत्वका घ्यान करता है, वह स्वर्ग-लोकको प्राप्त होता है । सो ठीक ही है क्योंकि जिससे सर्व कर्मसय रूप लक्षण से युक्त मोक्ष प्राप्त होता है उससे क्या स्वर्गलोक प्राप्त नहीं होगा ? अवश्य होगा । जैसा कि कहा है—

तृष्मा-हे मुने ! यदि भोगों में हो तेरी इच्छा है तो कुछ काल तक स्वर्गके विलम्ब को सहन कर ले। भोजन के पाककी प्रतोक्षा कर अर्थात् भोजन तैयार हो जाने दे क्षुधा की अधिकतासे मात्र-पेय-पानीको पीकर भोजन को क्यों नष्ट करता है ? 'पेयाम्' पाठ में उसे मुक्ति विशेषण ल गाना चाहिये।

- २. पेयां म० ।
- २. बात्मानुशासने ।

प्रतीच्छ इति पाठः शुद्धो भाति 'प्रतीक्ष्य' इति पाठोऽनुपमयोगी, प्रतीक्षस्य इति पाठः शुद्धः किन्तु छन्दोभङ्गावहः ।

जो जाइ जोयणसयं दियहेणेक्केण लेवि गुरुभारं। सो किं कोसद्धं पि हु ण सक्कए जाहु भुवणयले ॥२१॥ यो याति योजनज्ञतं दिनेनेकेन लाखा गुरुभारम्।

स कि कोशार्धमपि हुन शक्यते यातुं भुवनतले ॥२१॥

(जो जाइ जोयणसयं) यो याति यः पुमान् याति गच्छति, किं ? योजनशतं सहस्रयोजनदशमभागं । (दिपहेणेवकेण लेवि गुरुभारं) दिवसेनैकेन लेवि लात्वा गृहोत्वा, कैं ? गुरुभारं महाभारं । (सो किं कोसद्ध पि हु) स पुमान् (किं) क्रोशार्धमपिह हु स्फुटं । (ण सकरुए जाहु भुवणयले) न शक्नोति न समर्थो भवति यातु भुवनतले पृथिवीमण्डले अपि तु गब्यूतिचतुर्थमंशं यातु शक्नोत्येव ।

जो कोडिए ण जिप्पइ सुहडो संगामएहिं सव्वेहि । सो कि जिप्पइ इक्कि णरेण संगामए सुहडो ॥२२॥ यः कोट्या न जीयते सुभटः संग्रामिकैः सर्वैः ।

स कि जीयते एकेन नरेण संग्रामे सुभटः ॥२२॥ (जो कोडिए ण जिप्पइ) यः सुभटः सुभटानो कोट्या न जीयते न परा-भूयते । (सुहडो संगामर्ग्ह सब्वेहि) सुभटः संग्रामकैः सर्वे रपि । (सो कि जिप्पइ

आगे इसी बातको दृष्टान्त से सिद्ध करते हैं---

माथार्थ--जो मनुष्य बहुत भारी भार लेकर एक दिन में सौ योजन जाता है वह क्या पृथिवी तल पर आधा कोस भी नहीं जा सकता ? अवश्य जा सकता है।।२१।।

विशेषार्थ—जिस जिनधर्म के द्वारा निर्वाण प्राप्त हो सकता है उस धर्म से स्वर्ग का प्राप्त होना दुष्कर नहीं है, इसी बातको यहाँ दृष्टान्त द्वारा समझाया गया है कि जो पुरुष एक दिनमें बहुत भारी बोझा लेकर सौ योजन चल सकता है उसे आधा कोस चलना क्या कठिन हो सकता है ? अर्थात् नहीं । यथार्थमें सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र रूप रत्नत्रय मोक्षके ही कारण हैं परन्तु इनके साथ रहने वाला जो रागांश है वह देवायु के बन्धका कारण है इस रागांशको प्रबलतासे कितने हो जोव देवायुका बन्धकर स्वर्ग भी जाते हैं ॥२१॥

गायार्थ--जो सुभट संग्राम में करोड़ों की संख्या में विद्यमान सब योद्धाओं द्वारा मिलकर भी नहीं जोता जाता वह क्या एक योद्धा के द्वारा जीता जा सकता है ? अर्थात् नहीं जीता जा सकता ॥२२॥ इक्किं) स सुभटः किं जीयते एकेन सुभटेन-अपि सुन जीयते (णरेण संगामए सहडो) नरेण एकेन पुरुषेण संग्रामके एकस्मिन् संग्रामे ।

सग्गं तबेण सब्बो वि पावए तहि वि झाणजोएण । जो पावइ सो पावइ परलोए सासयं सोक्खं ॥२३॥ स्वर्गं तपसा सर्वोऽपि प्राप्नोति तत्रापि ध्यानयोगेन । यः प्राप्नोति स प्राप्नोति परलोके शाख्ततं सौख्यम् ॥२३॥ (सग्गं तवेण सब्बो वि पावए) स्वर्गं तपसा कृत्वा उपवासादिना कायक्लेशेन

(सगग तवण सब्बा वि पावए) स्वर्ग तपसा कृत्वा उपवासादना कायकल्ला सर्वोऽपि भव्यजीवोऽभव्यजीवोऽपि प्राप्नोति लभते। (तहि वि झाणजोएण) तत्रापि सर्वेष्ट्वपि जीवेषु मध्ये ध्यानयोगेन कृत्वा। (जो पावइ सो पावइ) य: प्राप्नोति स्वर्गं न पुमान् प्राप्नोति। (परलोए साम्रयं सोक्खं) परलोके आगा-मिनि भवे शाश्वतमविनश्वरं सौरूयं अरमनिर्वाणमिति शेषः । परभावे इति च क्वचित्साठः तत्रायमर्थं:--परभावे भवनं भावो जन्मोच्यते तस्मिन् परभावे परजन्मनीत्यर्थं: ।

विशेषार्थ---जिस प्रकार अतिशय शूरवीर योद्धा संग्राममें अजेय होता है उसी प्रकार जिनवर मतका अनुयायी मुनि भी परीषहों द्वारा अजेय होता है इसी बातको यहाँ दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट किया है कि जिसे करोड़ों योद्धा मिलकर नहीं जीत सकते उसे एक योद्धा के द्वारा जीतना अशक्य है इसी प्रकार जो साधु अनेक इन्द्रियों के विषयों से नहीं जीता जा सकता वह क्या एक इन्द्रिय के विषय से जोता जा सकता है ? अर्थात् नहीं जीता जा सकता ॥२२॥

गाथार्थ---तपसे स्वर्ग सभी प्राप्त करते हैं, पर जो ध्यान से स्वर्ग प्राप्त करता है उसका स्वर्ग प्राप्त करना कहलाता है, ऐसा जीव पर-भव •में शाश्वत-अविनाशी-मोक्ष सुखको प्राप्त होता है।।२३॥

विशेषार्थ---उपवास आदि तपके द्वारा स्वगं तो भव्य-अभव्य-सभी जीव प्राप्त कर लेते हैं परन्तु उन सभी जीवों में ध्यान के योगसे जो स्यगं प्राप्त करते हैं वे यथार्थ में स्वर्ग प्राप्त करने वाले कहे जाते हैं क्योंकि ऐसे जीव स्वर्ग से आकर आगामी भव में अविनाशी सुख-मोक्ष सुख को प्राप्त कर सकते हैं। जो साधारण कायक्लेश से स्वर्ग जाते हैं उनका मोक्ष जाना निश्चित नहीं है। अभव्य जीव भो मुनिव्रत धारण कर तपके प्रभाव से नौवें ग्रेवेयक तक उत्पन्न हो जाता है परन्तु उसके मोक्षका कभी ठिकाना नहीं है। यहाँ 'परलोए' के स्थान में 'परभावे' ऐसा

अइसोहणजोएणं सुद्धं हेमं हवेइ जह तह य । कालाईलद्बीए अप्पा परमप्पओ हवदि ॥२४॥

नागं होइ सुबच्चं धम्मं तह पुण्णजोएण ॥१॥

भी पाठ संस्कृत टोकाकारको कहीं मिला है उसके अर्थ की संगति उन्होंने 'परभावे का पर-जन्मनि' अर्थ करके बैठाई है ॥२३॥

गायार्थ---जिस प्रकार अत्यन्त झुभ सामग्री से--शोधन सॉमग्री से अथवा सुहागासे सुवर्ण शुद्ध होजाता है उसो प्रकार काल आदि लब्धियों से आत्मा परमात्मा हो जाता है।

विशेषार्थ--अन्ध पाषाण से सुवर्ण नहीं निकल सकता अतः उसके सिवाय जो अनन्ध पाषाण आदि पदार्थ हैं वे अग्नि के मध्य में पकाये जाने पर गुरुके द्वारा उपदिष्ट औषधके प्रयोग से शुद्ध-सोलहवानी के सुवर्ण बन जाते हैं, इसो दृष्टान्तको लेकर आचार्य आत्माके शुद्ध होनेका मार्ग दिखलाते हैं---जिस प्रकार अतिशोभन योगसे--अनुकूल उत्कृष्ट सामग्री से सुवर्ण शुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार काल आदि लब्धियों से अथवा काल आदि लब्धियों के प्राप्त होनेपर आत्मा--संसारो जीव, परमात्मा बन जाता है--अहंन्त सिद्ध हो जाता है। जैसा कि कहा है---

नागफणोए---नागफणी-रापाफनी की जड़ को हस्तिनी के मूत्रके साथ पोसकर यदि उसमें सिन्दूर भो मिलाया जाता है तो सीसा सुवर्ण बन जाता है अर्थात् इन सबको मिट्टो के बर्तंन में रखकर खैर के अंगारों में फूँका जाय तो पुण्य योग से सुवर्ण बन जाता है, पुण्य योग के बिना कार्य को सिद्धि नहीं होती । इसका सार यह है कि जिस प्रकार विभिन्न

१. अतिशोधनयोगेन इत्यपि छाया भवितुमहंति ।

अस्या अयमथं:—नागफणीए मूलं—नागौषधिः । नागिणितोएण---हस्तिनी-मूत्रेण पिष्ट्वा । गव्भणाएण---गर्भे नागः सीसको यस्य स गर्भनागः सिन्दूरः सोऽपि मध्ये क्रिप्त्वा मर्द्यंते । नागं होइ सुवण्णं नागः सीसकः । एतत्सर्वं मृत्तिका-भाजने क्रिप्त्वा अघोऽग्निः क्रियते खदिराङ्गारैध्रमायते सुवर्णं भवति । पुण्पयोगेन पुण्पयोगं विना सुवर्णं न भवति अह्यादिश्रण्टस्येति भावः तथायं आत्मा कालादि-लब्धि प्राप्य सिद्धपरमेष्ठी भवतीति भावार्थः ।

वर वयतवेहि सग्गो मा दुक्लं होउ निरइ इयरेहि । छायातवट्ठियाणं पडिवालंताण गुरुभेयं ॥२५॥

वरं व्रततपोभिः स्वर्गः मा दुःखं भवतु नरके इतरैः । छायातपस्थितानां प्रतिपालयतां गुरुभेदः ॥२५॥

(वर वयतबेहि सग्गो) वर ईषदुचौ वर श्रेष्ठ व्रतस्तपोभिश्च स्वर्गो भवति तच्चारु । (मा दुक्स होउ निरइ इयरेहि) मा दुःख भवतु निरइ---नरकावासे, इतरेरव्रतेरतपोभिष्च । (छायातवट्ठियाणं) छायातपस्थितानां ये छायायां

अनुकूल बाह्यनिमित्त तथा पुण्योदय रूप अन्तरङ्गनिमित्त से सीसा सुवर्ण रूप हो जाता है उसो प्रकार अन्तरङ्ग-वहिरङ्ग-दोनों प्रकार की सामग्री के मिलने पर आत्मा परमात्मा हो जाता है। यहाँ काल आदि रुब्धि के द्वारा जीव को उपादान शक्ति रूप अन्तरङ्ग योग्यता का वर्णन किया है और अतिशोभन योगके द्वारा गुरूपदिष्ट उत्तम शुभ योग-शुभ-ध्यान आदि बाह्य सामग्री का वर्णन किया गया है। कार्य की सिद्धिमें अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग दोनों प्रकार की सामग्रीका सदभाव अपेक्षित है। १९४॥

गायार्थ—व्रत और तपके ढ़ारा स्वर्ग का प्राप्त होना अच्छा है परन्तु अव्रत और असपके ढ़ारा नरक के दुःख प्राप्त होना अच्छा नहीं है । छाया और घाम में बैठकर इष्ट स्थान की प्रतीक्षा करने वालों में बड़ा भेद है ॥२५॥

विश्लेषार्थ----व्रत तप आदि शुभाषयांग को परिणति से जीवको स्वर्ग प्राप्त होता है सो उसका प्राप्त होना भो कुछ अच्छा है। समयग्दृष्टि जीवका सर्वोत्तम रुक्ष्य तो मोक्ष प्राप्त करना ही है परन्तु उसके अभाव में स्वर्ग की प्राप्ति होना भी अच्छा है। आचार्य कहते हैं कि व्रत और तपके अभाव में पाप तथा अतप में प्रवृत्ति करने से इस जोवको जो नरक स्थिता अनातपे वर्तन्ते ते सुखेन तिष्ठन्ति, ये आतपे स्थिता वर्तन्ते ते दुःझेन तिष्ठन्ति (पडिवालंताण गुरुभेयं) प्रतिपालयतां व्रतानि अनुतिष्ठतां स्वर्गो भवति तद्वरं संसारित्वेनापि ते सुखिनः । अन्नतानि प्रतिपालयतां नरके दुःखमनु-भवतां अतिनिन्दितमिति महान् भेदो वर्तते । तथा चोक्तं पूज्यपादेनेष्टोपदेश-ग्रन्थे----

> बरं व्रतैः पदं दैवं नाव्रतैर्कत नारकं। छायातपस्थयोभेंद: प्रतिपाल्यतोर्महान्।। १ ॥

के दुः ख प्राप्त होते हैं, वेन हों। दो मनुष्य कहीं जा रहे थे मार्ग में थक जानेके कारण एक उनमें से एक छाया में बैठकर विश्वाम कर रहा है और दमरा घाममें बैठ कर विश्वाम कर रहा है। जो छाया में बैठा है वह सुखेसे बैठा हुआ अपने रुक्ष्यका विचार कर रहा है, पर जो घाम में बैठा है वह दुःख से बैठा हुआ अपने लक्ष्यका विचार कर रहा है । इस तरह छाया और घाम में बैठे हुए पूरुषों में जिस प्रकार महान अन्तर है उसी प्रकार शुभोपयोग और अशुभोपयोग में स्थित जीवोंमें महान अन्तर है। शुभोपयोग वाला जोव स्वर्गमें विश्राम कर वहीं से आने पर मनुष्य-भव प्राप्त करके मोक्ष प्राप्त करता है और अशुभोषयोग, वाला जीव नरकके दुःख वर्तमान में भोगता है और आगामी पर्यायकी अनुकलता अनिश्चित है। तात्पर्य यह है कि शुभोपयोग सर्वथा हेय नहीं है किन्तु हेयाहेय उभय रूप है, जुडोपयोगको अपेक्षा हेय है और अजुभोपयोगको अपेक्षा अहेय है। इतनी बात अवश्य है कि सम्यग्दृष्टि जीव ँ सुभोपयोग करता हुआ भी उसे साक्षात् मोक्षका कारण नहीं मानता है किन्तू परम्परा से ही मोक्षका कारण मानता है। श्रीपुज्यपाद स्वामी ने इब्टोपदेश ग्रन्थ में कहा है---

वरं वर्तेः-----व्रतों के द्वारा देव-सम्बन्धी पद प्राप्त करना कुछ अच्छा है परन्तु अव्रत के ढारा दुःखदायक नरक का पद प्राप्त करना अच्छा नहीं है क्योंकि छाया और धाममें बैठकर प्रतोक्षा करने वालों में महान् भेद है।

यथार्थं में श्रो पूज्यपाद की यह कारिका कुन्दकुन्दस्थामी के 'वरवय- . सबेहि्'---गाथा से अनुजीवित है ॥ २५ ॥

जो इच्छइ निस्सरिदुं संसारमहण्णवस्स रुंदस्स । कॉम्मधणाण डहणं सो झायइ अप्पयं सुद्धं ॥२६॥ य इच्छति निस्सरितुं संसारमहार्णवस्य रुंद्रस्य ।

कर्मेन्धनानां दहनं स ध्यायति आत्मानं शुद्धम् ॥ २६ ॥ (जो इच्छइ निस्सरिदुं) यो मुनिवर इच्छति अभिलषति, किं कर्तुं ? निःसरितुं पारं यातुं । कस्य, (संसारमहण्णवस्स रुंदरस) संसारमहार्णवस्य संसारमहासमुद्रस्य । कथंभूतस्य, इन्द्रस्य अतिविस्तीर्णस्य । (कॉम्मघणाण डहणं) कर्मेन्धनानां दहनं कर्मकाष्ठानां भस्मीकरणं । (सो झायइ अप्पयं सुद्धं) स मुनि-ध्यायति चिन्तयति, आत्मानं शुद्धं कर्ममलकलंकरहितं रागद्वेषमोहादिविभावर्वाजत-मिति द्येषः ।

सब्वे कसाय मोत्तुं गारवमयरायदोसवामोहं। लोयववहारविरदो अप्पा झाएइ झाणत्थो॥२७॥ सर्वान् कषायान् मुक्त्वा गारवमदरागढेषव्यामोहम्।

लोकव्यवहारचिरत आत्मान ध्यायति ध्वानस्थः ॥ २७॥

गावार्य----जो मुनि अत्यन्त विस्तृत संसार महासागरसे निकलनेकी इच्छा करता है वह कर्म रूपी ईंधन को जलाने वाले शुद्ध आत्मा का ध्यान करता है ॥ २६ ॥

गापार्थ----ध्यानस्य मुनि समस्त कषायों और गारव मद रागद्वेष तथा व्यामोह को छोड़कर लोक व्यवहार से विरत होता हुआ अत्मा का ध्यान करता है ॥ २७ ॥ (सब्जे कसाय मोत्तुं) सर्वान् कषायान् क्रोघमानमायास्त्रोभाव् मुक्त्वा धरित्यज्य क्षीणकषायो मुनिभूं स्वा । (गारवमयरायदोसवामोहं) गारव च शब्दगारव---अहं वर्णोच्चारं रुचिरं जानामि न त्वेते यतयः, ऋदिगारवं शिष्या-दिसामग्री मम बह्वी वर्तते न त्वमीषां यतीनां, सातगारवं---अहं यतिरपि सन् इन्द्रत्वसुखं चक्रिसुखं तीर्थंकरसुखं भुंजानो वर्ते त्विमे यतयस्तपस्विनो वराकाः । मदा अध्टं--अहं ज्ञानवान् सकलशास्त्रज्ञो वर्ते, अहं मान्यो महामंडल्-श्वरा मत्पादसेवकाः । कुलमपि मम पितृपक्षोऽतीवोज्ज्वलः कोऽपि ब्रह्महत्या-ऋषिहत्यादिभिरदोषं । जातिः मम माता संघस्य पत्थुर्दु हिता शीलेन सुलोचना सीता-अनन्तमती चन्दनादिका वतते । बलं-अहं सहस्रभटो लक्षभटः कोटीभटः । ऋदिः--ममानेकलक्षकोटिगणनं धनमासीत् तदपि मया त्यवत्तं अन्ये मुनयोऽघमर्णाः संतो दीक्षां जागृहुः । तपः--अहं सिंहनिष्कीडितविमानपंक्तिसर्वतोभद्रशातकुंभसिंह-विक्रमत्रिलोकसारवञ्यमध्याल्लीणोल्लीणमूदंगमध्यधर्मंचक्रवालरुद्वोत्तरवसंतमेरुनन्दी---

मद आठ होते हैं—१ ज्ञानमद, २ पूजामद, ३ कुलमद, ४ जातिमद, ५ बलमद, ६ ऋद्विमद, ७ तपमद और ८ शरीर मद। मैं ज्ञानवान् हूँ, सकल शास्त्रों का ज्ञाता हूँ इस प्रकारके अहंकारको ज्ञानमद कहते हैं। मैं माननोय हूँ, महामण्डलेश्वर राजा हमारे चरण सेवक हैं इस प्रकार के अहंकार को पूजामद कहते हैं, मेरा पितृपक्ष कोई अद्भुत तथा अत्यन्त उज्ज्वल है, ब्रह्महत्या ऋषिहत्या आदि दोषोंसे कभी दूषित नहीं हुआ है, इस प्रकार के अहंकार को कुलमद कहते हैं। मेरी माता संवर्षति (सिंघई) को लड़को है तथा शोलसे सुलोचना, सीता, अनन्तमतो तथा चन्दना आदि है, इस प्रकार के अहंकारको जाति मद कहते हैं। मैं सहस्रभट, लक्षभट अथवा कोटोभट है इस प्रकार के ध्वरपंक्तिपस्यविधानादिमहातपोविधिविधाता मम जम्मैवं तपः कुर्वतो गतं, एते तु यतयो नित्यभोजनरताः । वपुः—ममरूपाग्ने कामदेवोऽपि दासत्वं करोत्तोत्यष्टमदाः । रागस्च प्रीतिलक्षणः । द्वेषश्चाप्रीतिलक्षणः । व्यामोह पुत्रकलत्रमित्रादिस्नेहः । वामानां स्त्रीणां वा ओहो वामौहः तत्त्तघोक्तं समाहारो द्वन्द्वः । (लोयववहार-विरदो) धर्मोपदेशादिकमपि न करोति लोकव्यवहारविरतः । (अप्पा झाएइ झाणत्थो) अग्तमानं, झ्यायति चिन्तयति, झाणत्थो~''उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्ता-निरोघो व्यानमान्तर्मुंहर्तात्'' इत्युक्तलक्षणो घ्याने तिष्ठतीति ध्यानस्थ: । ^भ'स्थक्ष्च'' इति कप्रत्ययप्रयोगत्त्वात् घ्यानस्थ उच्यते ।

अहंकार को बलमद कहते हैं। मेरे पास अनेक लाख अथवा अनेक करोड़ का धन था फिर भी मैंने छोड़ दिया। इन अन्य मुनियों ने तो कर्जदार होकर दीक्षा ली है इस प्रकार के अहंकार को ऋदिमद कहते हैं। मैं सिंहनिष्क्रीडित, विमान-पंक्ति, सर्वतोभद्र, शातकुम्भ, सिंहविक्रम, त्रिलोकसार, वज्यमध्य, उल्लीणोल्लीण, मृदङ्गमध्य, धर्मचक्रवाल, रुद्रोत्तर, वसन्त, मेर, नन्दोश्वर पंक्ति तथा पल्यविधान आदि महातपोका करने वाला हूँ, मेरा जन्म इस तरहके तप करते हुए व्यतीत हुआ है। परन्तु ये मुनि नित्य भोजन में लीन हैं अर्थात् एक भी उपवास नहीं करते हैं, इस प्रकारके अहंकारको तपमद कहते हैं। और मेरे रूपके आगे कामदेव भो दासता करता है, इस प्रकार के मदको शरीरमद कहते हैं।

रागका अर्थ प्रीति है, ढेखका अर्थ अप्रीति है, व्यामोह का अर्थ पुत्र स्त्री तथा मित्र आदि का स्नेह है। लोकव्यवहार का अर्थ धर्मोपदेश आदि है तथा ध्यान का अर्थ उत्तम संहनन वाले जोवका अन्तर्मुहूर्त तक किसी पदार्थ में चित्तकी गतिका स्थिर हो जाना है।

इस तरह समस्त पदोंका अर्थ-विवेचना के बाद गाथा का अर्थ यह है कि ध्यान में बैठा मुनि समस्त कषायों को तथा गारव, मद, राग, ढेष और व्यामोहको छोड़कर लोक-व्यवहार से विरत होता हुआ आत्मा का ध्यान करता है । पूर्व गाथा में यह कहा था कि जो संसार सागर से पार होना चाहता है वह शुद्ध आत्मा का ध्यान करता है और इस गाथा में शुद्ध आत्मा का ध्यान किस प्रकार किया जाता है यह बताया है ।

गायामें आये हुए ध्यानस्य शब्द की सिद्धि 'स्थरुच' इस सूत्रसे क

१. जैनेन्द्रस्येदं सूत्रं परिज्ञायते । अस्य स्थाने स्यः कः इति शाकटानीयं सूत्रं ।

मिच्छत्तं अण्णाणं पावं पुण्णं चएवि तिविहेण । मोणम्वएण जोई जोयत्थो जोयए अप्पा ॥२८॥

मिथ्यात्वमज्ञानं पापं पुण्यं च त्यक्त्वा त्रिवेधेन । मौनत्रतेन योगी योगस्थो द्योतयति आत्मानम् ॥ २८ ॥

(मिच्छत्तं अण्णाणं) सिष्यास्वं बौद्धवैशेषिकचार्वाककणभक्षकापिरुभट्टवेदा-न्तप्राभाकरश्वेतपटगौपुच्छिकयापनीयद्रामिलनिष्पिच्छाद्यनेकैकान्ताद्याश्चितमंत, अज्ञानं मस्करपूरणमत । (पावं पुण्णं चएवि तिविहेण) पापं पंचप्रकार प्राणातिपाता-मृतवौर्यमैथुनपरिग्रहरात्रिभोजनादिकं सप्तव्यसनादिलक्षणं च, पुण्यं शुभपुद्यलप्रहण-रुझणं स्वदुःखसहनं इत्यादिकं त्यक्त्वा परिद्वृत्य त्रिविधेन मनोवचनकाययोगप्रका-रेण । (मोणव्वएण जोई) मौनवतेन वाग्व्यापाररहिततया योगी दिगम्बरः । (जोयत्थो) योगस्वितः शुद्धोपयोगतल्लीनः (जीयए अप्या) छोतर्याते व्यायत्या-रमानं शरीरप्रमाणं निजजीवस्वरूपं ।

प्रत्यय होकर हुई है। 'झ्याने तिष्ठतीति ध्यानस्यः' यह उसकी व्युत्पत्ति है॥२७॥

गाधार्थ-भिष्पात्व, अज्ञान, पाप और पुण्यको मन वचन काय रूप त्रिविध योगों से जोड़कर जो योगी मौन व्रतंसे ध्यानस्य होता है वही आत्माको बोतिस करता है-प्रकाशित करता है-आत्मा का साक्षात्कार करता है ॥२८॥

विशेषार्थ---बोढ, वैशेषिक, चार्वाक, नैयायिक, सांख्य, मीमांसक, बेदान्त, प्रभाकर (मीमांसकका एक भेद), श्वेताम्बर, गौपुच्छिक, यापनीय, ब्रामिल और निष्पिच्छ आदि अनेक एकान्तवादियों के मत मिथ्यात्व कहलाते हैं। मस्कर-पूरण का मत अज्ञान नाम से प्रसिद्ध है। हिंसा, झूठ, चोरो, मेचुन, परिग्रह और रात्रिभोजन तथा सप्त व्यसन आदि पाप कहलाते हैं। शुभ-पुद्गलों-पुण्य कर्म-वर्गणाओं का ग्रहण करानेवाला कायवलेश आदि पुण्य कहलाता है। इन सबका त्रिविध-मन वचन काय रूप योगोंके प्रकार से छोड़कर मौनव्रत से जो योगी योगस्य होता है अर्थात् शुद्धोपयोग में तल्लीन होता है वह शरीर-प्रमाण आत्मा का घ्यान करता है। २८।। -६. २९]

कगं मौनेन तिष्ठतीति प्राक्ततवक्त्रमाह----

जं मया विस्सदे रूवं तण्ग जाणादि सम्वहा । जाणगं दिस्सदे णंतं तम्हा जंपेमि केण हं ॥२९॥

यन्मया दृश्यते रूपं तन्न जानाति सर्वथा। ज्ञायको दृश्यतेऽनन्तः तस्माज्जरुगामि केनाहम् ॥२९॥

(जं मया दिस्सदे रूतं) यग्मया दृश्यते रूपं तद्रूपं स्त्रीत्रभृतिशरोरादिकं दृश्यतेऽतरलोक्यते रूपं रूपिपदार्थं तत् सर्वं पुद्गलद्रव्यपर्यायत्वात्परमायंतोऽचेतनं । (तण्ण जाणादि सव्वहा) तद्रूपं सर्वथा निश्चयनयेन न जानाति, अचेतनेन सह कथं जल्पामि । (जाणगं दिस्सदे णंतं) ज्ञायकमात्मानं रूपाश्चितं वस्तु, अनन्त-मात्मतत्वमनन्तकेवलज्ञानस्वभावत्वादनन्तं यदहं तेन सह जल्पामि स तु जानात्ये-

आगे योगी मौन से क्यों रहता है ?इसका कारण बतलाने के लिये प्राकृत का अनुष्टुप छन्द कहते हैं-

गाथार्थ—जो रूप मेरे द्वारा देखा जाता है वह बिलकुल नहीं जानता और जो जानता है वह दिखाई नहीं देता तब मैं किसके साथ बात करू ॥२९॥

विशेषार्थ—जो स्त्री आदिके शरीर आदि रूपी पदार्थ दिखाई देते हैं दे सब पुद्गल हैं तथा परमार्थ से अचेतन हैं—वे कुछ भो नहीं जानते हैं इसलिये अचेतन पुद्गल के साथ कैसे बात करूँ? और जो केवलज्ञान रूप स्वभाव से युक्त होनेके कारण अनन्त आत्म-तत्व अनुभवमें आता है वह मात्र ज्ञायक है—बोल नहीं सकता है, अतः किसके साथ बोलूँ? किसके साथ बात करूँ? अथवा किस कारण बोलूं? यह विचार कर योगी मौनको हो शरण मानते हैं अर्थात् किसो से कुछ कहते नहीं हैं ॥२९॥

[जाणग दिस्सदे णंत — यहां संस्कृत टीकाकारने जो अनन्त, छाया स्वीकृत को है तथा उसीके आधार पर संस्कृत टीका की है, उससे गाथा-का भाव दूसरा होगया है। हमारी समझसे इसकी छाया 'न तत्' होना चाहिये और तब गाथाका अर्थ यह होता है यह आत्मा ज्ञायक है वह दिखाई नहीं देता। यही भाव पूज्यपाद ने इस गाथाकी अनुकृति कर जो

32

बात्मा। (तम्हा जंपेमि केण हं) तस्मात्कारणात् केन सहाहं जल्पामि, अथवा केन कारणेन जल्पामि तेन मे मौनमेव शरणं।

षदप्राभते

सव्वासवणिरोहेण कम्मं खवदि संचिदं। जोयत्थो जाणए जोई जिणदेवेण भासियं ॥३०॥

सर्वास्नवनिरोधेन कर्मक्षिपयति संचितम् । योगस्यो जानाति योगी जिनदेवेन भाषितम् ॥३०॥

(सम्वासवणिरोहेण) सर्वेषामास्तवाणां मिथ्यास्ताविरतिप्रभादकथाययोग-लक्षणानां निरोधेन निषेधेन (कम्म खवदि संचिदं) कर्म झिपयति पूर्वोपार्जित तडागेऽभिनवज्रलप्रवेशाभावे संचितपूर्वजलशोषवत् । (जोयत्यो आणए जोई) योमस्यः ध्यानस्थित आत्मैकलोलीभावमिलितो जानाति केवलज्ञानमुत्पादयति योगी युक्लध्यानविशेषागमभाषया केवली भवति । (जिणदेवेण भासियं) सिद्धार्थ-नूयनन्दनेन वोरेण कथितमिति भावः ।

इलोको लिखा है उससे प्रकट होता है। पं॰ जयचन्द्रजी ने अपनी वच-निका में 'न तत्' छाया स्वोक्रृत की भी है।]

गाथार्थ-सब प्रकार के आसवों का निरोध होनेसे संचित कर्म नष्ट होजाते हैं तथा घ्यान-निमग्न योगो केवल ज्ञानको उत्पन्न करता है, ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है ।।३०।।

विशेषायं—जिस प्रकार तालाब में नवीन जलके प्रवेश का अभाव होनेपर पहले का संचित पानी धोरे-धोरे सूखकर नष्ट होजाता है उसी प्रकार मिथ्यात्व अविरति प्रमाद कषाय और योग रूप समस्त आसवोंका अभाव होजाने पर पहले के संचित कर्म नष्ट हो जाते हैं और घ्यान में स्थित अर्थात् आत्मा में एक लोलोभाव-तन्मयो भावको प्राप्त हुआ योगी जानता है अर्थात् केवलज्ञान को उत्तन्न करता है। अथवा शुक्लघ्यान रूप विशेष आगम की भाषा से केवली होता है, ऐसा भगवान् महावीर ने कहा है।। ३०॥

 ेजो सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गए सकज्जम्मि । जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणे कज्जे ।।३१।।

यः सुप्तो व्यवहारे स योगी जार्गात स्वकार्ये । यो जार्गात व्यवहारे स सूप्त आत्मनः कार्ये ।।३१॥

(जो सुत्तो ववहारे) यो मुनिः सुप्तः, क्व ? व्यवहारे व्यवहारमध्ये न पतितः । (सो जोई जग्गए सकज्जम्मि) स योगो जागति सावधानो भवति, स्वकार्ये आत्मकार्ये कर्मक्षयविधाने । (जो जग्गदि ववहारे) यो योगी जागति सावधानो भवति, क्व ? व्यवहारे लोकोपचारे । (सो सुत्तो अप्पणे कज्जे) स योगो मुनिः सुप्तो न वेदयतेऽसावधानो भवति आत्मनः कार्ये आत्मस्वरूपे । उक्तं च---

जा निसि सयलह देहियह जोग्गिउ तरिं जगेइ। जहि पुणु जग्गद सयलु जगु सा निसि भणेवि सुएइ॥१॥ इय जाणिऊण जोई ववहारं चयइ सव्वहा सव्वं । झायह परमप्पाणं जह भणियं जिणवर्रिवेण ॥३२॥ इति झात्वा योगी व्यवहार त्यजति सर्वथा सर्वम् । ध्यायति परमात्मानं यथा भणितं जिनवरेन्द्रेण ॥३२॥

गाथार्थ---जो मुनि व्यवहार में सोता है वह आत्म-कार्य में जागता है और जो व्यवहार में जागता है वह आत्म-कार्य में सोता है ॥३१॥ विशेषार्थ---जो मुनि लौकिक कार्योंसे उदासीन रहता है वह कर्मक्षय रूप आत्मकार्य में सावधान रहता है और जो लौकिक कार्योंमें जागरूक है वह आत्म-कार्य में उदासीन रहता है । जैसा कि कहा है---

्र जा निसि—समस्त जीवोंके लिये जो रात्रि है उसमें योगी जागता है और जिसमें सब जगत्त जागता है उसे योगी रात्रि कह कर सोता है।

गाथार्थ---ऐसा जानकर योगी सब तरह से सब प्रकार के व्यवहार को छोड़ता है और जिनेन्द्र देवने जैसा कहा है उस प्रकार परमात्मा का ध्यान करता है ॥३२॥

 स्यवहारे सुषुप्तो यः स जागत्यीत्मगोचरे। जागति व्यवहारेऽस्मिन् सुषुप्तक्वात्मगोचरे।।७८॥ –समाधिसतके पूज्यपादस्य । (इय जाणिऊण जोई) इतीद्धमर्यं ज्ञात्वा, कोऽसौ ? योगी ध्यानवान् मुनिः । (बवहारं चयइ सब्दहा सब्दं) व्यवहारं त्यजति सर्वथा सर्वं आत्मना सह एकलोलीभावं गते सति व्यवहारः स्वयमेव [न] तिष्ठति (झायइ परम-व्याणं) ध्यायति परमात्मानं---निजशुद्धबुद्धं कस्वभावे आत्मनि तल्लोनो भवति । (जह भणियं जिणवरिदेण) यथा भणितं प्रतिपादितं जिनवरेन्द्रेण प्रियकारिणो-प्रियपुत्रेण श्रीवीरवर्षमानस्वामिना ।

पंचमहव्ययजुत्तो पंचसु समिदीसु तीसु गुत्तीसु। रयणत्तयसंजुत्तो झाणज्झयणं सया कुणह ॥३३॥

पञ्चमहाव्रतयुक्तः पंचसु समितिषु तिसृषु गुप्तिषु । रत्नत्रयसंयुक्तः ध्यानाध्ययनं सदा कुरु ॥३३॥

(पंचमहज्वयजुत्तो) पंचमहाव्रतयुक्तो दयावान् सत्यवादी बदत्तादानविरतः सर्वस्त्रीसोदरः वस्त्रादिपरिग्रह रहितः दिवा एकवारं प्रत्युत्पन्नं प्रासुकं मुक्तं घुद्धं शोधितं मुंजानः । (पंचसु समिदीसु तीसु गुत्तीसु) ईर्यायां युगान्तरविलोकगमनः आगमोक्तभाषानिपुणः, चर्मजरुस्पृष्टभोजनपरित्यागी हिंगुसंवासितव्यंत्रनाभोजनः

विशेषार्थ---ऐसा जानकर घ्यानस्थ मुनि सब व्यवहार को सब प्रकार से छोड़ता है अर्थात् जब योगो आत्मा के साथ तन्मयी भावको प्राप्त होता है तब व्यवहार स्वयमेव नहीं ठहरता है तथा प्रियकारिणी-त्रिशला देवी के प्रियपुत्र श्री वर्धमान स्वामी ने जिस प्रकार कहा है उस तरह परमात्मा का घ्यान करता है ।।३२।।

गायार्थ--हे मुने ! तू पांच महाव्रतों से युक्त होकर पांच समितियों तथा तीन गुप्तियों में प्रवृत्ति करता हुआ रत्नत्रय से युक्त हो सदा घ्यान और अध्ययन कर ॥३३॥

विशेषार्थ---हे जीव ! तू दयावान्, सत्यवादो, अदत्तादान से विरत, सब स्त्रियों के साथ सहोदर का व्यवहार करनेवाला, वस्त्रादि परिग्रह से रहित तथा दिन में एक बार प्रामुक, शुद्ध और शोधे हुए अन्न का आडार छेता हुआ पञ्चमहाव्रत का धारो हो । तदनन्तर पञ्चसमितियों और तोन गुप्तियोंका पालन करनेके लिये चलते समय एक युग प्रमाण भूमिको देखकर चलने वाला, आगमोक्त भाषा के बोलने में निपुण, चमड़े के बर्तन में रसे हुए जलसे छुए भोजन का त्यागी, होंगसे सुवासित झाक आदिका अजिनसंगघृततैलपरिहारी, दृष्टमृष्टोपकरणग्रहणनिक्षेपः, प्रासुकारुढभूमिमलमूत्र-व्युत्सर्जनकुशलः, अपघ्यानमनोनिषेघी, मौनवान्, कूर्मवत्संकोघितकरचरणादि-कायः । (रयणत्तयसंजुत्तो) भिष्यात्वकंदकुद्दालः सम्यग्ज्ञानानुष्ठोल्लनकुज्ञलः सच्चरित्रपवित्रगात्रः । (झाणञ्झयणं सया कुणह) घ्यानाघ्ययमं सदा सवंकाल क्रुह त्वं हे जीव ! इति तात्पर्यार्थः ।

रयणत्तयमाराहं जीवो आराहओ मुणेयव्वो ॥ आराहणाविहाणं तस्स फलं केवलं णाणं ॥३४॥

रत्नत्रयमाराधयन् जीव आराधको मुनितव्य: । आराघनाविधानं तस्य फलं केवलं ज्ञानम् ॥३४॥

(^१रयणत्तयमाराहं) रत्नत्रयमाराधयन् । (जोवो आराह्ओ मुणेयव्वो) बीब आत्मा आराधको मुनितव्यो (?) ज्ञातव्यः । (आराहणाविहाणं) इद-माराधनाविषनं विधिः । (तस्स फलं केवलं णाणं) तस्याराघनाविधानस्य, किं फलं केवलं ज्ञानं अनन्तकेवलज्ञानमिति अनन्तचतुष्टयं ।

न सानेवाला, चमडे के पात्र में रसे हुए घी तैल आदिका परित्यान करने वाला, देखभालकर कोमल उपकरण--पिच्छो से शुद्ध वस्तु को घरने उठने बाला, प्रासुक तथा रोक टाक से रहित भूमि में मलमूत्र छोड़ने में कुशल, अपध्यान से मन को हटाने वाला, मौनवान् तथा कछुए के समान हस्त पादादिके कार्यको कछुएके समान संकोचित करनेवाला बन तथा मिथ्यात्व-रूपो कन्दको खोदने के लिये कुदाली स्वरूप, सम्यग्ज्ञानके अनुशोलनमें अत्यन्त कुशल और सम्यक्चारित्र से पवित्र शरीर होकर अर्थात् रत्नत्रय से युक्त होकर सदा ध्यान और अध्ययन कर ।।३३॥

गायार्थ---रत्तत्रय की आराधना करनेवाले जोवको आराधक मानना बाहिये, आगधना करना सो आराधना है और उसका फल केवलज्ञान है संदेश

हे रवकत्तवमाराहं अयं पाठः क. पुस्तके नास्ति, स. पुस्तकात् संयोजितः ।

सिद्धो सुद्धो आदा सव्वफ्तू सव्वलोयवरसी य । सो जिणवरेहि भणियो जाण तुमं केवलं णाणं ॥३५॥

सिद्धः शुद्धः आत्मा सर्वज्ञः सर्वलोकदर्शीं च ।

स जिनवरैः भणितः जानीहि त्वं केवलं ज्ञानम् ॥ ३५ ॥

(सिद्धो सुद्धो आदा) सिद्ध आत्मोपलब्धिमान् । शुद्धः कर्ममलकलक्कुरहितः, ईवृग्विध आत्मा अतति समयैकेन अच्च बज्यास्वभावेन त्रिभुवनाग्रं गच्छतीति आत्मा शुद्धबुद्धैकस्वभावः । (सव्वण्हू सम्बलोयदरिसी य) सर्वज्ञः त्रैलोक्यालोक-स्वरूपज्ञायककेवलज्ञानसमुपेतः, सवंलोकदर्शी च सर्वश्वव्देनाल्गेकाकाशो लम्यते लोकशब्देन षड्द्रव्याधारवत्त्विभुवनमुच्यते तद्द्वयं अवलोकयितुं शीलमस्येति सर्वलोकदर्शी । चकार उक्तविशेषणसमुच्चयार्थः तेनानन्तवीर्यानन्तसौस्यवदादिर-नन्तगुणोऽपि गृह्यते । (सो जिणवर्रेहि भणिओ) स एवं गुणविशिष्ट आत्मा जिनवरैस्तीर्थकरपरमदेवैभेणितः प्रतिपादितः । एव गुणविशिष्ट मात्मानं (जाण तुर्म केवलं पार्ण) जानीहि त्वं केवलं ज्ञानं, आत्मा खलु केवलं ज्ञानं---अभेद्रनयत्वात् ज्ञानमेवात्मानं जानीहि ।

रयणत्तयं पि जोई आराहइ जो हु जिणवरमएण । सो झायबि अप्पाणं परिहरदि परं ण संदेहो ॥३६॥ रत्नत्रयमपि योगी आराधयति यः स्फुटं जिनवरमतेन । स ध्यायति आत्मानं परिहरति परं न सन्देहः ॥ ३६॥

गावार्थ---जिनेन्द्र भगवान्के द्वारा कहा हुआ वह आत्मा सिद्ध है, शुद्ध है, आत्मा है, सर्वंज्ञ है, सर्वंलोक-दर्शी है तथा केवलज्ञानरूप है, ऐसा तूम जानो ॥ ३५ ॥

विशेषार्थ—जिनेन्द्र देवने जिस आत्माका प्रतिपादन किया है वह सिद्ध है-आत्मोपलब्धि से युक्त है। शुद्ध है--कर्ममल कलंक से रहित है। आत्मा है—ऊर्ध्व-गमन स्वभाव होनेसे एक समय में त्रिभुवन के अग्रभाग तक गमन करता है अथवा शुद्धबुद्धैक स्वभाव वाला है। सर्वज्ञ है-तोनों लोक तथा अलोक को जानने वाले केवलज्ञान से सहित है। सर्वज्ञ है-तोनों लोक तथा अलोक को जानने वाले केवलज्ञान से सहित है। सर्वज्ञ है-तोनों है--अलोकाकाज्ञ और लोकको देखने वाला है। तथा अभेदनय से केवल-झान रूप है। चकार से अनन्तवीर्य तथा अनन्त सुख-सम्पन्ता आदि अनन्त गुणोंसे युक्त है, ऐसा हे जीव! तू जान ।। ३५ ॥

(रयणत्तयं पि जोई) रत्नत्रयमपि योगी घ्यानवान् मुनिः, न केवलं गुणिन-मात्मान तद्गुणं रत्नत्रयमपीत्यपैरर्थंः । (आराहइ जो हु जिणवरमएग) आरा-घयति यः संयमी हु—स्फुटं जिनवरमतेन सवंज्ञवीतराग कथितमार्गेण । (सो झायदि अप्पाणं) स योगी घ्यायति चिंतयति, कं? आत्मानं सहजानन्दस्वमावं जीवतत्वं । चकाराद्य आत्मा, तद्रत्नत्रयं यद्रत्नत्रयं स आत्मा गुणगुणिनोरभेदनयात् (परिहरदि पर ण संदेहो) परिहरति परित्यजति, परं पुद्गलाद्यचेतनद्रव्यं, न सन्देहोऽत्रार्थे संजयो नास्ति ।

कह आदे रयणत्तयं हवदि तं जहा----

कथमात्मनि रत्नत्रयं भवतीति चेत् ? यद्यधान्तदेव निरूपयति---

जं जाणइ तं णाणं जं पिच्छइ तं च दंसणं णेयं।

तं चारित्तं भणियं परिहारो पुण्णपावाणं ॥३७॥ यज्जानाति तज्ज्ञानं यत् पर्श्यति तच्च दर्शनं ज्ञेयम् ।

तच्चारित्रं भणितं परिहारः पुण्यपापानाम् ॥ ३७ ॥ (जं जाणइ तं गाणं) यज्जानाति तज्ज्ञानं आत्मैव जानाति तेनात्मैव ज्ञानमि-त्यर्थः । ''क्वत्ययुटोऽन्यत्रापि'' इति वचनात् कर्तरि युट् । (जं पिच्छइ तं च दंसण की आराधना करता है वह आत्मा का ध्यान करता है और पर-पदार्थ का परित्याग करता है इसमें संदेह नहीं है ॥ ३६ ॥

विशेषार्थ---जो घ्यानारूढ मुनि, सवैज्ञ वीतराग द्वारा कथित मार्ग से न केवल गुणी-आत्मा की आराधना करता है किन्तु आत्मगुण--रत्नत्रय की भी आराधना करता है वह सहजानन्द स्वभाव जीवतत्व का ध्यान करता है तथा पुद्गलादि अचेतन द्रव्योंका परित्याग करता है इसमें संशय नहीं है। यहां गुणी और गुणों में अभेदनय की अपेक्षा से कहा गया है कि जो आत्मा है वही रत्नत्रय है ॥ ३६ ॥

आगे आत्मा में रत्नत्रय किस प्रकार रहते हैं यही निरूपण करते हैं---गावार्य---जो जानता है वह ज्ञान है, जो देखता है---सामान्य अव-लोकन करता है वह दर्शन है और पुण्य पापका परित्याग है वह चारित्र है।। ३७॥

विशेषार्थ—'जो जाने सो ज्ञान है' इस व्युत्पत्ति से आत्मा जानता है अतः आत्मा ही ज्ञान है। यहाँ 'कृत्ययुटोऽन्यत्रापि' अर्थात् कृत्य संज्ञक तथा युट् प्रत्यय कर्म और भाव के सिवाय अन्यवाच्य-कर्तृ वाच्य में भी प्रस्यब होते हैं इस वचन से कर्तू वाच्य में युट् प्रत्यय हुआ है। इसी सरह बो देसे वह दर्शन है इस व्युत्पत्ति से आत्मा ही दर्शन है। यहाँ मी णेयं) यत्कत् भूतं, पश्यति तद्शंनं ज्ञेयं ज्ञातव्यं आत्मैव पश्यति तेन कारणेनात्मैव दर्शनं । अत्रापि पूर्ववत् कर्तरि युट् । (तं चारित्तं भणियं परिहारो पुण्णपावाणं) तच्चारित्रं भणितं प्रतिपादितं, तर्तिक ? परिहारः पुण्पपापानां आत्मैव पुण्यं पापं च परिहरति तेनात्मैव चारित्रं । ''पापक्रियाविरमणं चरणं किल'' इति वचनात् । तथा चोक्तं----

न किचित् पापाय प्रभवति न वा पुण्यततये प्रसिद्धेदां शुद्धि समघिवसतो ध्वंसविषुरां । भवेत् पुण्यायैवाखिलमपि विशुद्धघंगमपरं मतं पापायैवेत्युदितमवताद्वो मुनिपतेः ॥ १ ॥ मुनिपतिरत्र विद्यानन्दी समन्तभद्रो वा मंतव्यः । अण्णं च---अन्यच्च वचनमस्तीति भगवंतो निरूपयन्ति— तच्चरुई सम्मत्तं तच्चरगहणं च हवइ सण्णाणं । चारित्तं परिहारो पर्यापियं जिणवर्रिदेहि ॥३८॥ तत्वरुचिः सम्यक्त्वं तत्वग्रहणं च भवति संज्ञानम् ।

चारित्रं परिहारः प्रजल्पितं जिनवरेन्द्रेः ॥ ३८ ॥

पूर्वको तरह कर्तृ वाच्य में युट् प्रत्यय जानना चाहिये पुण्य और पापका जो परित्याग करता है वह चारित्र है। इस व्युत्पत्ति के आधार पर आत्मा हो पुण्य और पाप का पग्त्याग करता है अतः आत्मा हो चारित्र है। प्रथार्थ में गुण और गुणी में अभेद की विवक्षा से यहां गुणो-आत्मा को गुण-ज्ञान दर्शन और चारित्र रूप कहा गया है।

जैसा कि कहा है—

न किंचित – प्रसिद्ध देदीप्यमान तथा विनाश से रहित शुद्धिको प्राप्त होने वाले साधुके कोई वस्तु न तो पापके लिये होती है और न कोई वस्तु पुष्पके लिये होती है। उसका जितना भो विशुद्धिका अङ्ग है वह सब पुष्पके लिये हो है और जितना अविशुद्धि का अङ्ग है वह सब पापके लिये ही है, इस प्रकार मुनिपति-मुनोन्द्र का कथन तुम सबकी रक्षा करे।

यहां मुनिपति शब्दसे विद्यानन्दी अथवा समन्तभद्रको समझना चाहिये॥३७॥

आगे और भी इसी प्रकारका वचन है यह कुन्दकुन्द भगवान कहते हैं-गायार्थ---तत्वरुचि होना सम्यग्दर्शन है, तत्वझान होना सम्यग्ज्रान

६००

(तज्बरुई सम्मत्तं) तत्वरुचिः सम्यक्त्वं तत्वानां जीवाजीवासवबन्धसंवर-निर्जरामोक्षलक्षणोपळक्षितानां सप्तानां रुचिः श्रद्धा सम्यक्त्वमुच्यते। "तत्वार्थ-श्रद्धानं सम्यय्दर्शनं" इति वचनात् । (तच्चग्गहणं च हवद्द सण्णाणं) तत्वानां पूर्वोक्तसप्तपदार्थानां ग्रहणं सम्यग्विज्ञानं भवति सज्ज्ञानं सम्यग्जानं। (जारित्तं परिहारो) चारित्रं पापक्रियापरिहरणं परिहारः सम्यक्त्वारित्रं भवति। (पर्यपियं जिणवरिदेहि) प्रजल्पित् कथितं जिनवरेन्द्रैः ।

वंसणसुद्धो सुद्धौ दंसणसुद्धो लहेइ णिब्वाणं । बंसणविहीणपुरिसो न लहइ तं इच्छियं लाहं ॥३९॥

दर्शनशुद्धः शुद्धः दर्शनशुद्धः लभते निर्वाणम् । दर्शनविहोनपुरुषः न लभते तं इष्टं लाभम् ॥ ३९ ॥ (दंसणमुद्धो सुद्धो) दर्शनेन सम्यग्दर्शनेन सम्यक्त्वेन शुद्धो निर्मलो निरति-चारः पंचविंशतिदोषरहितः पुमान् शुद्धः कष्यते । उक्तं च----

> सम्यग्दर्शनसंशुद्धमपि मातंगदे**हलं ।** देवा देवं विदुर्भस्मगूढाङ्गारान्तरौजसं ॥ १ ॥

है और पाप का परिहार होना सम्यक्**चारित्र है, ऐसा जिनेन्द्र भगवान्** ने कहा है ॥ ३८ ॥

विशेषार्थ--जीव अजीव आसव बन्ध संवर निजरा और मोक्ष इन सात तत्वोंकी रुचि-श्रद्धा होना सम्यक्त्व या सम्यग्दर्शन कहलाता है। क्योंकि 'तत्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्' अर्थात् यथार्थतासे सहित जीवादि तत्वोंका श्रद्धान होना सम्यग्दर्शन है, ऐसा आगम में कहा गया है। पूर्वोक्त सात तत्वोंका ग्रहण करना अर्थात् उनके यथार्थ स्वरूपको जानना सम्यग्ज्ञान कहा जाता है और पापका परित्याग होना सम्यक्चारित्र कहलाता है, ऐसा जिनवरेन्द्र-तीर्थंकर सर्वज्ञ देवने कथन किया है।।३८।।

गाधार्थ-सम्यग्दर्शन से शुद्ध मनुष्य, शुद्ध कहलाता है। सम्यग्दर्शन से शुद्ध मनुष्य निर्वाणको प्राप्त होता है। जो मनुष्य सम्यग्दर्शनसे रहित है वह इष्ट लाभ को नहीं पाता ॥ ३९ ॥

विशेषार्थ—जो मनुष्य सम्यग्दर्शन में कभी अतिचार नहीं लगाता तथा पच्चीस दोषों से रहित है वह शुद्ध कहलाता है। कहा भी है— सम्यग्वर्शन—सम्यग्दर्शन से शुद्ध चाण्डाल को भी गणधरादिक देव, भस्मके भोतर छिपे अङ्गारके समान आभ्यन्तर तेजसे युक्त देव कहते हैं। (दंसणमुद्धो लह्इ णिग्वाणं) दर्शनशुद्धः पुमाल्लभते निर्वाणं मोक्षं । (दंसण-विहोणपुरिसो) दर्शनविहीनः पुरुषः सम्यग्दर्शनरहितः पुमान् सम्यक्त्यविवर्जितो जीवः । (न लह्द तं इच्छियं लाहं) न लभते न प्राप्नोति तं जगत्प्रसिद्धं योगिनां प्रत्यक्षं इष्टं लाभं सर्वकर्मक्षयलक्षणं मोक्षपदार्थं ।

इय उवएसं सारं जरमरणहरं खु मण्णए जं तु । तं सम्मत्तं भणियं समणाणं सावयाणं पि ॥४०॥

इति उपदेशः सारो जन्ममरणहरं स्फुटं मन्यते यत्तु । तत् सम्यक्त्वं भणितं श्रमणानां श्रावकाणामपि ॥४०॥ (इय उवएसं सारं) इतीदृश उपदेशः संबोधनवचुनं, सारं-सारः श्रेष्ठतरः ।

श्रेष्ठे बले स्थिरस्वान्ते मज्जायां सार उच्यते ।

जले न्याय्ये घने दिद्भिः सारमुक्तं नपुंसके॥ १ ॥

(जरमरणहरं खु मण्णए ज तु) जरामरणहरं जरामरणविनाशकं इमं उपदेशं मन्यते श्रद्दधाति यत्तु यत् श्रद्धत्ते तु पुनः । (तं सम्मत्तं भणियं) तत्स-म्यक्त्वं भणितं प्रतिपादितं । (समणाणं सावयाणं पि) श्रभणानां अनगारयतीनां श्रावकाणामपि गृहस्थानां । अपिशब्दाच्चातुर्गतिकजीवानामपि ।

जिस मनुष्य का सम्यग्दर्शन शुद्ध है वह निर्वाण को प्राप्त होता है। सम्यग्दर्शन से रहित मनुष्य इष्ट लाभको-सर्वकर्मक्षय रूप मोक्षको नहीं पाता ॥ ३९ ॥

गाथार्थ-यह श्रेष्ठतर उपदेश स्पष्ट हो जन्म मरण को हरने वाला है इसे जो मानता है-इसकी श्रद्धा करता है वह सम्यक्त्व है। यह सम्यक्त्व मुनियों के, श्रावकों के तथा चतुर्गति के जीवोंके होता है।।४०॥

अस्टेबले-पुलिङ्ग में सार शब्द श्रेेब्ठ, बल, दृढ़चित्त ओर मज्जा अर्थ में कहा जाता है और नपुंसकलिङ्गभें सार शब्द जल, न्यायपूर्ण बात और धन अर्थ में विद्वानों द्वारा प्रयुक्त होता है।

इस पूर्वोक्त अत्यन्त श्रेष्ठ उपदेशका जो जरा और मरणका नाश करनेवाला मानता है वह सम्यक्त्व कहा गया है। यह सम्यग्दर्शन श्रमण---दिगम्बर मुनियों के, श्रावकों के और अपि शब्द से चारों गतियों

अमरेऽन्यूक्त-"सारो बले स्थिरांष्टे न्याम्ये क्लीवं वरे त्रिषु।"

जोवाजीवविहत्ती जोई जाणेइ जिणवरमएणं । तं सण्णाणं भणियं अवियत्थं सव्यदरिसीहि ॥४१॥

जीवाजीवविभक्ति योगी जानाति जिनवरमतेन

सत् संज्ञानं भणितं अवितथ सर्वदर्शिभिः ॥ ४१ ॥ (जोवाजीवविहत्ती) जोवाजीवानां विभक्तिः भेदस्तां जोवाजीवविभक्ति । (जोई जाणेइ जिणवरमएणं) योगी दिगम्बरो मुनिः, जानाति वेत्ति यथावत्स्व-रूपमवैति, जिनवरमतेन सर्वज्ञशासनेन । (तं सण्णाणं भणियं) तत्संज्ञानं भणितं तत्सम्यग्ज्ञानं कथितं । (अवियत्थं सब्बदरिसीहि) अवितथं सत्यभूत, सर्वदर्शिभिः सर्वज्ञैरिति शेषः । उक्तं च---

'अन्यूनमनतिरिक्तं पाधातय्यं विना च विपरीतात् ।

निःसन्देहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः ॥ १ ॥

- ्जं जाणिऊण जोई परिहारं कुणइ पुण्णपावाणं ।
- तं चारितं भणियं अवियप्पं कम्मरहिएण ॥४२॥ यत् ज्ञात्वा योगी परिहारं करोति पुण्यपापयोः । तत् चारित्रं भणितं अविकल्पं कम्मरहितेन ॥ ४२ ॥

के जीवोंके होता है। सम्यक्त को प्राप्ति चारों गतियोंके संज्ञो पंचेन्द्रिय पर्याप्तक भव्य जीवको हो सकती है। ४०॥

गायार्थ-जो मुनि जिनेन्द्रदेव के मतसे जीव और अजीवके विभाग को जानता है उसे सर्वदर्शी भगवान् ने यथार्थ सम्यग्ज्ञान कहा है ॥४१॥

अन्यून-जो ज्ञान वस्तुके स्वरूपको न्यूनता रहित, अधिकता रहित, जैसाका तंसा, विवरीतता के बिना और संशय-रहित जानता है उसे आगम के ज्ञाता पुरुष सम्यग्जान कहते हैं।

गाधार्थ---यह सब जानकर योगी जो पुण्य और पाप दोनोंका

रत्नकरण्डश्रायकाचारे ।

(जं जाणिऊण जोई) यज्जात्वा विज्ञाय योगो जैनी मुनिः । (परिहारं पुणइ पुण्णपावाणं) परिहारं परित्यागं करोति पुष्यपापयोः । (तं चारित्तं भणियं) तदात्मना सहैंकलोलीभावः तन्मयत्वं तत्परत्वं तन्निष्ठरवं तदेकतानत्वं चारित्रं पर-मोदासीनतालक्षणं भणितं प्रतिपादितं । केन, (कम्मरहिएण) घातिकर्मविध्वंसकेन सर्वज्ञेन । तत्कयंभूतं चारित्रं, (अवियप्पं) अदिकल्पं संकल्पविकल्परहितं निर्वि-कल्पसमाधिलक्षणं यथाख्यातनामकं ।

जो रयणत्तयजुत्तो कुणइ तवं संजदो ससत्तीए । सो पावइ परमपयं झायंतो अप्पयं सुद्धं ॥४३॥

यो रत्नत्रययुक्तः करोति तपः संयतः स्वशक्त्या । स प्राप्नोति परमपदं ध्यायन् आत्मानं ्शुद्धम् ॥४३॥

(जो रयणत्तयजुत्तो) यो जैनो मुनी रत्नत्रययुक्तः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र-सहितः सम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानसमुपेतः (कुणइ तवं संजदो ससत्तीए) करोति विदवाति सम्यगनुतिष्ठति, किं तत् ? तर इच्छानिरोध ठक्षणं आत्मनि ज्ञानवत्तया

परिहार करता है उसे कर्म-रहित सर्वज्ञ देवने निर्विकल्पक चारित्र कहा है। ४२ ।।

विशेषार्थ—चारित्र का यथार्थं लक्षण आत्मस्वरूपमें स्थिरता है। जब तक इस जीवकी पुष्प अथवा पाप में प्रवृत्ति होती रहती है तब तक स्वरूप की स्थिरता नहीं होती क्योंकि पुष्प और पाप की प्रवृत्ति कषायसे जन्य है तथा कषाय-जन्य होनेसे उसमें अनेक संकल्प-विकल्प उठते रहते है। संकल्प-विकल्प दशा में निविकल्प समाधिरूप यथाख्यातचारित्र का प्रकट होना असंभव है, इसलिये आचार्य महाराज ने कहा कि योगी-जैन मुनि वस्तुरूप को जानकर जो पुष्य और पाप दोनोंका परित्याग करता है अर्थात् परम शुद्धोपयोग रूप अवस्था को प्राप्त होता है उसे धातिया कर्मोंका क्षय करने वाले सर्वज्ञदेवने निविकल्प समाधि रूप यथाख्यात नामका चारित्र कहा है ॥४२॥

गाधार्थ—रत्नत्रय को धारण करने वाला जो मुनि शुद्ध आत्मा का ध्यान करता हुआ अपनी शक्ति से तप करता है वह परम पद को प्राप्त होता है ॥४३॥

-६. ४४]

मोक्षप्राभृतम्

तपनं, संयतो जैनो मुनिः परमोदासीनतालक्षणसंयमं सम्पन्नः, स्वधक्त्या आत्म-*हाक्त्यनुसारेण । उक्तं* च—

ैजं सक्कइ, तं की रइ, जं च ण सक्केइ, तं च सद्हइ, ।

सदहमाणो जीवो पावइ अजरामरं ठाणं॥ १॥

"शक्तितस्त्यागतपसी" इति वचनात् । (सो पावइ परमपयं) स प्राप्नोति स मुनिलंभते, किं तत् ? परमपदं इन्द्रधरणेन्द्रमुनीन्द्रनरेन्द्रवंदितं स्थामं परम-निर्वाणं । (झायंतो अप्पयं सुद्धं) ध्यायन् सन् एकाग्रतया चिन्तयन्, कं ? आत्मानं निजशुद्धबुद्धंकस्वभावात्मतत्वं, शुद्धं द्रव्यकर्मभावकर्मनोकर्मरहितं रागद्वेषमोहादि-विवर्जितं कर्ममलकलङ्कुरहितं प्रत्यक्षतया प्राप्तमिति तात्पर्यार्थः ।

तिहि तिण्णि धरवि णिच्चं तियरहिओ तह तिएण परियरिओ । दोदोसविप्पमुक्को परमप्पा झायए जोई ॥४४॥ त्रिभिः त्रीन् धृत्वा नित्यं त्रिकरहितः तथा त्रिकेण परिकलितः । द्विदोषविप्रमुक्तः परमात्मानं ध्यायति योगो ॥४४॥

विशेषार्थ—जो जैन मुनि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्षारित्र-से युक्त होता हुआ अपनी शक्तिके अनुसार इच्छा-निरोध रूप तपको करता है वही वास्तव में संयत है अर्थात् परम उदासीनता रूप संयम को प्राप्त है। ऐमा संयत यदि द्रव्यकर्म भावकर्म और नोकर्म से रहित अचवा रागढेष मोह आदिसे रहित अचवा कर्म-मरू-करुक से रहित श्रुद्ध-बुद्धेक स्वभावसे युक्त निज आत्माका ध्यान करता है तो वह परम पद-इन्द्र धरणेन्द्र मुनीन्द्र और नरेन्द्रोंके द्वारा वन्दित परम निर्वाण को प्राप्त होता है। तप शक्तिके अनुसार होता है क्योंकि 'शक्तितस्त्यागतपसी'-त्याय और तप शक्ति के अनुसार होते हैं ऐसा आगम का वचन है। और भी कहा है—

जं सक्कइ — जो किया जा सके उसे करना चाहिये और जो न किया जा सके उसका श्रद्धान करना चाहिये क्योंकि श्रद्धान करने वाला जोव भी अजर-अमर पदको प्राप्त होता है। ।४३।।

गायार्थ-तीनके ढारा तीन को धारण कर, निरन्तर तीनसे रहित, तीनसे सहित और दो दोषों से मुक्त रहने वाला योगी परमात्मा का ध्यान करता है।।४४॥

१. जं सक्कइ तं कीरइ जं च ण सक्केइ तं च सह्हणं । केवलिविवेडि भणियं सहहमाणस्त सम्मत्तं ॥२२॥ --दर्घांगप्राभुते (तिहि) त्रिभिः मनोवचनकायैः । (तण्णि घरविं) त्रीन् वर्षाधीतोष्णका-लयोगान् वृत्वा । ''तुआण तूणाव तुम् च क्त्वायाः'' इति प्राकृतव्याकरकसूत्रेण क्त्वास्यानेऽत्र-आदेशः तेन भूत्वा इत्यस्य स्थाने घरवि इति प्रयोगः साघुः । (णिच्चं) सर्वदा सर्वस्मिन् दोक्षाकाले । (तियरहिओ) मार्यामिष्यात्वनिदान-श्वत्य त्रिकरहितः । (तह तिएण परियरिओ) तथा तेनैव त्रिकरहितप्रकारेण, त्रिकेण सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रेण, परिकरितो मंडितः । (दोदोसविष्णमुक्को) द्विदोषविप्रमुक्तः विंशेषेण प्रकर्षेण रागद्वेषदोषरहितः । (दोदोसविष्णमुक्को) द्वदोषविप्रमुक्तः विंशेषेण प्रकर्षेण रागद्वेषदोषरहितः । (परमप्पा झायए जोई) परमारमानं सिद्धस्वरूपमात्मानं घ्यायति चितयति योगिन घ्यानवान् मुनिः । अधवा योगीति योगबलेन मनोवाक्काययोगावष्टम्मेन ।

मयमायकोहरहिओ लोहेण विवज्जिओ य जो जीवो । णिम्मलसहावजुत्तो सो पावइ उत्तमं सोक्खं ॥४५॥ मदमायाकोधरहितः लोमेन विवजितश्च यो जोवः । निर्मलस्वभावयुक्तः स प्राप्नोति उत्तमं सौख्यम् ॥४५॥

(मयमायकोहरहिओ) मदमायाकोधरहितः । (लोहेण विवज्जिको यु.जो जीवो) लोभेन विवर्जितश्च यो जीव आत्मा । (णिम्मलसहावजुत्तो) निर्मलस्व-भावः रागादिरहितः परिणामस्तेन संयुक्तः । (सो पावइ उत्तमं सोक्सं) स जीवः

विशेषार्थ—तीनके द्वारा अर्थात् मन वचन कायके द्वारा तीनको अर्थात् वर्षा कालयोग, शीतकाल योग और उष्णकालयोगको धारण कर निरन्तर अर्थात् दीक्षाकालसे लेकर तीनसे रहित अर्थात माया मिथ्यात्व और निदान इन शल्योंसे रहित, तीनसे सहित अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से सहित और दो दोषों से विप्रमुक्त अर्थात् राग, द्वेष इन दोषोंसे सर्वथा रहित योगी-ध्यानस्थ मुनि परमात्मा अर्थात् सिद्ध-के समान उत्कृष्ट निजन्त्वरूप का ध्यान करता है ॥४४॥

गाथार्थ— जो जीव मद माया और कोधसे रहित है, लोभसे वर्जित है तथा निर्मल स्वभाव से युक्त है, वह उत्तम सुखको प्राप्त होता है।।४५॥

विशेषार्थ—यह जीव कोध, मान, माया और लोभ, इन चार कषायों के कारण स्वभाव से च्युत हो रहा है, इसलिये इन चारों कषायों का अभाव करके जो रागादि परिणाम से रहित होता हुआ निर्मल स्वभाव से युक्त हो गया है वही जीव कर्म-क्षयसे उत्पन्न होनेवाले, इन्द्रियसुखसे रहित देव-दुर्लंभ परमानन्द रूप उत्तम सुखको प्राप्त होता है। प्राप्नोति रूभते, किं ? उत्तमं सौक्यं कर्मेक्षयसंखानं-इन्द्रियनुव्वरहितं-इन्द्रादीनामपि दूर्लभं सौक्यं परमानन्दरूक्षणं । तथा चोक्तं—

जं मुणि रुहइ अणंतसुहु णियअप्पा झायंतु ।

तं सुहु इंदु वि न वि लहइ देविहिं कोडि रमंतु ॥ १ ॥

विसयकसाएहि जुदो रुद्दो परमप्पभावरहियमणो । सो न लहइ सिद्धिसुहं जिणमुद्दपरम्मुहो जीवो ॥४६॥

विषयकषाययुं क्तः इद्रः परमात्मभावरहितमनाः ।

स न लभते सिद्धिमुखं जिनमुद्रापराङ्मुखो जीवः ॥४६॥ (विसयकसाएहि जुरो) विषयैः वनिताजनानामालिंगनादिस्पर्धादिपंचेन्द्रिय-सुझौः कषावैश्च क्रोधमानमायालोभैः युतः संहितः । (रुद्दो परमप्पभावरहियमणो) रुद्रः सात्यकिमहाराजपुत्रः परमात्मभावरहितमनाः परमात्मभावनायाः प्रमृष्टः । (सो न लहइ सिद्धिमुहं) स रुद्रो न लभते न प्राप्नोति, कि ? सिद्धिमुखं आत्मो-पलच्धिमुखं। तहि कि लभते श्रारकदुःखं लभते ? इत्यर्थापत्तिः । (जिषमुद्दपरम्मुहो जोवो) जिनमुद्रापराङ्मुखो जीवः-जिनमुद्रां परित्यज्य मृष्टो बभूवेति भाषार्थः ।

्रुद्रस्य कथा यथा--अयेह भरतक्षेत्रे विजयार्घवर्वते दक्षिणश्रेण्यां किन्नरगीत-

जैसा कि कहा गया है----

जंपुणि----नित्र आत्माका घ्यान करता हुआ मुनि जिस अनन्त सुख-को प्राप्त करता है उस सुखको करोड़ों देवियोंके साथ रमण करता हुआ भी इन्द्र नहीं प्राप्त कर सकता है।

गायार्थ—जो विषय कषाय से युक्त है जिसका मन परमात्माकी भावनासे रहित है तथा जो जिन-मुद्रासे पराङ्मुख-भ्रष्ट हो चुका है ऐसा रुद्रपद धारी जोव सिद्धि सुख को प्राप्त नहीं होता ॥४६॥

विशेषार्य—स्त्रीजनों के आलिज्जन आदि पञ्चेन्द्रियों के विषयों तथा कोध, मान, माया और लोम कषाय से युक्त होनेके कारण जिसका मन परमात्मा की भावना से हट गया है तथा जो जिन-मुद्राको छोड़कर भ्रष्ट हो चुका है ऐसा रुद्र मोक्ष सम्बन्धी सुखको प्राप्त नहीं होता किन्तु नरक के दुःखको प्राप्त होता है । रुद्र को कथा इस प्रकार है—

रुद्र की कथा

अधानन्तर इसी भरत क्षेत्रके विजयार्घ पर्वत को दक्षिण श्रेणी में एक किन्नरगीत नामका सगर है। उसमें रत्नमाली नामका विद्यापरों का

षद्प्राभृते

राजा रहता था। उसकी स्त्रीका नाम मनोहरी विद्याधरी था। उन दोनों-के घ्र-माली नामका पुत्र था। एक दिन वह स्वच्छन्दतापूर्वक वनमें विहार कर रहा था। उसी समय उसने विद्या सिद्ध करती हुई एक विद्याधर कुमारी को देखा। उसके रूपसे मोहित होकर घ्रद्रमाली विद्या-से अपर बन गया और छह महोने तक उसके मुख कमलमें रहा आया। उसके बाद और भो सूक्ष्म रूप बना कर स्तनों तथा. जघन प्रदेश में रहा आया। परुचात् उसने अपना असली घरीर प्रकट किया उस समय उसका धेर्य छूट रहा था अर्थात् वह उस विद्याधर-कुमारी को पानेके लिये बत्यन्त उत्कण्ठित हो रहा था। यह देख विद्याधर कुमारी ने कहा कि कुछ समय तक प्रतीक्षा करो, विघ्न मत करो। घिखिदुर्लभा नामकी विद्या सिद्ध हो रही है उसके सिद्ध होनेपर मैं तुम्हारी स्त्रो बन जाऊँगी। हे सुभग! मैं तुम्हारे प्रति बढानुराग हूँ।

उस समय रुद्रमाली ने उससे पूछा कि हे भद्रे ! तू किसकी पुत्री है ? उसने कहा कि इसी पर्वत को उत्तर श्रेणोपर गन्धर्वपुर नगर का राजा महाबल रहता है वह मेरा पिता है ! उसको स्त्रीका नाम प्रभाकरो है ! मैं अचिमार्लनी नामसे प्रसिद्ध उन्हीं दोनों की पुत्री हूँ । इस प्रकार अपना परिचय देकर विद्याघर कुमारीने भी पूछा कि तुम कौन हो ? तब रुद्रमाली ने कहा कि इसी पर्वत की दक्षिण श्रेणो पर किन्नरगीत नामका नगर है । उसके राजा रत्नमाली और रानी मनोहरी का मैं रुद्रमाली नामका पुत्र हूँ ।

मोक्षप्राभृतम्

-६४६]

बहुर्भिर्दिनैः साधितविद्याचिमालिनीन्दुवदना सदनं जगाम । मातरपितरौ द्वयोर्मनो विज्ञाय तयोर्विवाहं चक्रसुः । तौ रतिरसरंजितौ साधितप्रक्राप्तिविद्यौ नन्दनवने शान्ति-हेतवे जिनस्नपनपूजनस्तवनानि कृत्वा सुखं स्थितौ । मनोजयचित्तवेगौ तस्या मैथु-निकावागत्य महाजालि नीविद्यया रुद्रमालिनं वद्ध्वा प्रगृह्य गतौ । सोऽपि तौ निर्जित्य पुनरागतः । अचिमालिन्या सह निजपुरं प्रविवेश । सानुरागस्तस्यौ । एकदा वैराग्यं प्राप्य चारणचरणमूले सभार्यो दिदीक्षे । तौ परस्परं ममायं कान्तौ भविष्यति ममेयं प्राणप्रिया भविष्यतीति सनिदानौ सौधर्म संन्यासेन गतौ । तत्रापि दीर्घकालं रनिसुखं भुक्त्वा गन्धारदेशे माहेश्वरपुरे स देवः सत्यन्धरमहाराजसत्य-वत्योः सुतः सात्यकिर्जातः । अचिमालिनोचरी देवी सौधर्माच्च्युत्वा सिन्धुदेशे विधालीपत्तने चेटकमहाराजसुप्रभादेव्योः सुता ज्येष्ठा जाता । सा सात्यकेः पूर्वमेव दत्ता । परं विवाहो न वर्तते ! अचिमालिनोचरी देवी सौधर्माच्च्युत्वा सिन्धुदेशे विधालीपत्तने चेटकमहाराजसुप्रभादेव्योः सुता ज्येष्ठा जाता । सा सात्यकेः पूर्वमेव दत्ता । परं विवाहो न वर्तते ! अचिमत्तरे श्रेणिकमहाराजपुत्रः कस्यार्थं सार्थवाहो भूत्वा अभयकुमारो नाम धूर्तस्तत्रागतः । तत्र राजपुत्र्यौ चेलनां ज्येष्ठा च चाल-यित्वा उपायं कृत्वा सुरगया निःसृतः। तत्र चेलनया जेष्ठा जाभरणादिमिषेण व्याघोटिता स्वयं श्रेणिकं आगता । यावज्ज्येष्ठा जिनप्रतिमां गृहीत्वा गच्छति

बहुत दिनोंमें विद्या सिद्ध कर, चन्द्रमुखी, इन्दुमालिनी अपने घर चली गईं। माता-पिता ने दोनोंका मन जानकर उनका विवाह कर दिया। रतिके रागसे रैंगे तथा प्रज्ञप्ति नामक विद्या को सिद्ध करने वाले वे दोनों शान्तिके हेतु नन्दन वनमें जिनेन्द्र भगवानुका अभिषेक पूजन तथा स्तवन कर सुखसे बैठे थे। इतने में मनोजय और चित्तवेग नामके दो विद्याधर जो कि अचिमालिनी के अभिलाषी थे महाजालिनी विद्यासे खद्रमालो को बौषकर ले गये। परन्तु ख्दमाली उन दोनोंको जीतकर फिर आगया। अचिमालिनीके साथ उसने नगर में प्रवेश किया तथा अनुराग पूर्वक रहने लगा।

एक दिन उसने विरक्त होकर चारण ऋद्विधारी मुनिके चरण मूलमें स्त्रीके साथ दोक्षा ले ली अर्धात् रुद्रमाली मुनि होगया और अचिमालिनी आर्थिका बन गई। उन दोनों ने 'परस्पर यह मेरा पति होगा और यह मेरी स्त्री होगी' इस प्रकार निदान कर संन्यास धारण किया और मरकर सौधर्म स्वर्ग गये। वहाँ भी दीर्घकाल तक रति सुखका उपभोग कर देव तो गन्धार देशके माहेश्वर पुरनगर में महाराज सत्यन्धर और उनकी रानी सत्ययतीके सात्यकि नामका पुत्र हुआ। तथा अचिमालिनी का जीव देवी सौधर्म स्वर्गसे च्युत हो सिन्धुदेश के विशाली नगर में महाराज चेटक भ तावतत्र कोऽपि न दृष्टः । जेष्ठा तु लज्जितौ ''झह वृहद्भगिन्या वंचिता'' इति वेराग्येण पितृष्वसुर्यंशस्वत्या 'श्चैत्यालये स्थितायाद्रचरणमूले दीक्षां जग्नाह । कन-त्कांचनवर्णायाः कन्याया वार्तां श्रुत्वा सत्यकिर्माम कुमारः संसाराद्विरक्तो राज्य-लक्ष्मों परित्यज्य समाधिगुप्त नत्वा जिनदोक्षामग्रहीत् । त्रिगुप्तिगुप्तः सन् स तपस्तीत्रं कुर्वाण उत्तरणोकर्णमद्रि मुक्त्वा कदाचित् राजगृहनगरसमीपे उच्चग्रीवपर्वते स्थितः । एकस्मिन् दिने तद्गुणनुरागिण्यस्तत्रत्यार्यास्त वन्दितुमा-गताः । बन्दित्वा यावतगिरेरवतरन्ति तावन्महामेधवृष्टिरागता । आर्यास्तु स्तिम्यन्त्यो विष्हलीभूतं यत्र तत्र गताः । जेष्ठाया सात्यकिमुनेगुं हां प्रविष्टा । तत्र वस्त्रं निष्पीलयन्ती ज्येष्ठा सात्यकिना मुनिना दृष्टा । समुत्यन्नकामोद्रेकेण

और उनकी रानी सुप्रभादेवी के ज्येष्ठा नामकी पुत्री हुई । ज्येष्ठा सात्यकि के लिये पहले ही दे दी थी परन्तु विवाह नहीं हुआ था ।

इसी बीच में महाराज श्रेणिक का पुत्र घतं अभय कुमार कन्या के लिये सेठ बन कर वहां आया। वहां उसने राजा की दो पुत्रियों चेलना और ज्येष्ठा को चला दिया और उपाय कर सुरङ्ग द्वारा निकल गया। उन दोनों पुत्रियों में चेलना ने ज्येष्ठा को आभरण आदिके बह्वाने वापिस लौटा दिया और स्वयं अकेली श्रेणिकके पास आ गई । जिन प्रतिमा लेकर जब ज्येष्ठा वहाँ १हँची तब वहाँ कोई नहीं दिखा। इस घटना से ज्येष्ठा बहुत लज्जित हुई 'मैं बड़ी बहिन के द्वारा ठगी गई' इस अभिप्राय से विरक्त होकर उसने अपनी बुआं यशस्वती नामकी आर्यिका के जो कि जिन मन्दिरमें रहती थीं चरण मूलमें दोक्षा धारण कर ली । देदोप्यमान सुवर्णके समान वर्ण वाली ज्येष्ठा कन्याका दीक्षा लेने का समाचार सुनकर सात्यकि नामक कुमार भी संसारसे विरक्त हो गया। उसने राज्यलक्ष्मी का परित्याग कर समाधि गुप्त नामक मुनिराज को नमस्कार पूर्वक जिनदीक्षा ले ली । तीन गुप्तियोंसे युक्त होकर तीव्र तप तपश्चरण करते हुए सात्यकि मुनि एकबार उत्तर गोकर्ण प्वंत को छोड़कर राजगृह नगर के समीप उच्चग्रीव पर्वत पर स्थित हुए। एक दिन उनके गुणों में अनूराम रखनेवाली आर्यिकाएँ उनकी वन्दना करनेके लिये आईँ। वन्दना करके ज्योंही ही दे पर्वत से उतरने लगीं त्योंही बहुत भारी मेववृष्टि आ पहुँचो । आर्यिकाएँ भोग कर विह्वल होती हुई इँघर उघर चलो गईँ । परन्तु जेष्ठा नामकी आर्थिका सात्यकि मुनिकी गुफा में प्रविष्ट हुई। वहाँ

१. आर्मिकामाः ।

सा तेन भुक्ता । पुनरालोधना निन्दा गर्हणं च कृत्वा अमणवर्मं स्थितः । सा सगर्भा शास्त्यावया जात्वा चेलन्याः समपिता । तत्र तिष्ठन्ती सा पुत्रमसूत । स पुत्रोऽभयकुमारेण स्वयंभूगुहायां क्षिप्तः । तत्र रात्रौ स्वप्नदर्शनाच्चेलनया स आनायितः । ैदर्शनोड्डाहं शप्रयित्वा स्वयंभूनामा कृतः । ज्येष्ठा तु निःशल्या भूत्वा गता । आर्यायाः वार्श्व संयमनियमान् पालयन्ती स्थिता । स्वयंभूस्तु वर्धमानः शिशूमां चपेटादिताडनेन सन्तापं करोति । तद्देव्या चेलनया अपरमपि कालेनायुक्त दृष्ट्वा स्वयंभूष्कतः । खलो जारजातो निर्लज्जः कि केनापि स्वभावं मुंचति । भूरुकीट कृत्वा दुर्वचनेन शूलभिन्न इव ताडितः । पुनः स प्रणामं कृत्वा पृष्टवान् — मातः ! किमेतदुक्तं ? चेलनया तु न किमपि रक्षितं यथोक्तमुवाच । निजोत्धत्ति-व्यतिकरं ज्ञात्वा उत्तरगोकर्णपर्वतं गत्वा सात्यकिर्मुनि नत्वा वैराय्येण दिगम्बरो भूत्वा उत्तरगोकर्णपर्वते स्थितः । गुरुशिक्षया मनो रुद्घवा स एकादशाङ्गानि शिक्षितः । तत्र रोहिणीप्रभृतयः पंचधतविद्वा महातिशया आगताः सिदाः । अपरा

वह कपड़ा निवोड़ने लगी । उसी समय सात्यकि मुनि की दृष्टि उस पर पड़ी । देखते हो मुनिके कामोद्रेक हो गया जिससे उन्होंने उसका उपभोग कर लिया । मुनि तो आलोचना निन्दा तथा गर्हा कर मुनि धर्म में स्थिर हो गये परन्तु ज्येष्ठा आर्या गर्भावती हो गई । जब शान्ति नामक प्रधान आर्याको पता चला तो उसने उसे चेलनाको सौंप दिया । चेलना के पास रहते हुए उसने पुत्र उत्पन्न किया। उस पुत्रको अभय कुमारने स्वयंभू गुफा में डाल दिया । रात्रिके समय चेलना को स्वप्न दिखा जिससे उसने उसे गुफा से बुलवा लिया तथा दर्शन सम्बन्धी अनिष्ट का शमन कर उसका स्वयंभू नाम रखा । ज्येष्ठा निःशल्य होकर चली गई तथा आर्यिका के पास संयम सम्बन्धी नियमों का पालन करती हई रहने लगी ।

स्वयंभू ज्यों ज्यों बड़ा होने लगा त्यों त्यों चाँटा आदि की ताड़ना से अन्य बच्चों को संताप पहुँचाने लगा। किसी समय रानी चेलना ने उसके और भी अनुचित कार्यको देखकर स्वयंभू से कहा—जो दुष्ट, जार जात तथा निलंज्ज होता है वह क्या किसी भी कारण स्वभाव को छोड़ता है। चेलना ने भौंह टेढ़ी कर उक्त दुर्वचन कहे थे इसलिये स्वयंभू इतना पीड़ित हुआ मानों किसी ने शूल से ही विदीर्ण कर दिया हो। उसने फिर प्रणाम कर पूछा—माता जी! आपने यह क्या कहा है ? चेलना ने कुछ भी नहों रख छोड़ा सब ज्योंका त्यों कह दिया। अपनी उत्पत्ति का समा-

१. दर्शनोहाहं क० ।

चार जानकर स्वयंभू उत्तर गोकर्ण पर्वंत पर गया और सात्यकि मुनिको नमस्कार कर वैराग्य वश दिगम्बर साधु हो गया तथा उसी उत्तर गोकर्ण पर्वत पर रहने लगा। गुरु की शिक्षा से मन रोककर उसने ग्यारज्ज अज्ज सीख लिये। वहाँ उसे महान् अतिशयसे युक्त रोहिणो आदि पौचसौ विद्याएँ आकर सिद्ध हो गईं। विद्या की सामर्थ्य से वह सिंह बन कर लोगोंको डराने लगा। यह समाचार किसीने उसके गुरु सौत्यकि मुनि से कह दिया। तब गुरु ने उससे कहा कि हे मुने! स्त्री के कारण तुम्हारा विनाश होगा। गुरुके वचन सुनकर वह कहने लगा कि 'मैं जहाँ स्त्री का मुख न देख सक्रूँ वहाँ तप करूँगा' ऐसा कह कर वह कै जश पर्वंत पर जाकर तप करने लगा।

उसी समय विजयार्ध पर्वत की दक्षिण श्रेणी पर मेधनिबद्ध नामक नगर में कनकरथ नामका विद्याधरोंका राजा रहता था। उसकी स्त्री का नाम मनोरमा था। उन दोनोंके देवदारु और विद्युज्जिह्व नामके दो पुत्र थे। एक दिन देवदारु को राज्य पर स्थापित कर तथा विद्युज्जिह्व नो युवराज बनाकर राजा कनकरथ ने गुणधर गुरुके पाद मूल में दोक्षा ले ली। उधर प्रज्ञप्ति विद्या के प्रभाव से विद्युज्जिह्व ने देवदारु को जीतकर निकाल दिया जिससे वह केलास पर्वत पर आकर तथा विद्या से एक नगर

१. सत्यः म० ।

तरक्तभामिन्यां सुप्रभा प्रभावती चेति द्वे पतिवरे बभवतुः । एता अष्टावपि दिव्या-भरणभूषिता दिव्याम्बरधरा अमरकुमारिका इव कंचुकिपरिवरितास्तिष्ठन्ति । एकदा कैलासोपरि मानससरसि जलझीडार्थमागताः पीनोन्नतस्तनशोभिताः स्नानं कुवंतीस्ता रुद्रो ददर्श । मुदनबाणैर्वक्षसि बिद्धः । क्षुभितो रुद्रो व्यामोहं प्राप । तेनासन्नस्थितेनकामबाणजर्जरितहृदयेन चिन्तित उपायः । विद्यया सरस्तटस्थि-तानि वस्त्राभरणानि हारयति स्म । ता अनुपमाः स्नानं कृत्वा तटमागत्य वस्त्रा-भरणानि पश्यस्ति स्म । व्याकुल्तिननोभिस्ताभिर्मुनिसमीपं गत्वा स मुनिरूचे । स्वामिन् ! न ज्ञायते देवानामपि प्रियाणि अस्माकं वस्त्राभरषानि केनचिद्यृही-तानि । भगवन् ! त्वं ज्ञानवान् जानासि निश्चितं कथय । रुद्र उवाच । जानाम्येव, यदि मामिच्छतं यूयं तदा दर्शयामि । एतद्श्रुत्वा विस्मित्य नवयौवना विद्याघर-कुमार्य ऊचुः । मुने ! वयं स्वच्छन्दचारिण्यो न वर्तामहे । अस्मन्मातरपितरौ जानीतः । स्वछन्दचारिणीनां विद्यामाहात्म्यं कुतः । ततो वस्त्राभरणानि दत्वा शिपिविष्टः प्राह । निजमातरपितृगणं पृष्ट्वा मम उत्तरं दत्त यूयं । ताभिर्गृहं गत्वा षितुरये वार्ता कृता । पित्रा तु एकः कंचुकी संदेशहरो हरं प्रेषितः । स

बसा कर सपरिवार निर्भय रहने लगा। उस देवदारु की चार महा देवियाँ थीं १ योंजन गन्धा, २ कनका, ३ तरङ्ग वेगाओ र ४ तरङ्ग भामिनी । चारों ही अत्यन्त सुन्दर शरीर की धारक थीं। योजन गन्धा के गन्धिका और गन्धमालिनी नामकी दो अत्यन्त विनीत पुत्रियां उत्पन्न हुई । कनका के कनक चित्रा और कनक माला ये दो पुत्रियाँ हुईँ। तरङ्ग वेगा के तरङ्ग सेना और तरङ्गवती ये दो पुत्रियाँ उत्पन्न हुईँ और तरङ्ग भामिनी के सुप्रभा तथा प्रभावती ये दो पुत्रियाँ उत्पन्न हुईं। ये आठों ही कन्याएँ दिव्य आभूषणों से सुशोभित दिव्य वस्त्रों को धारण करने वाली देव कन्याओं के समान कञ्चुकियों से घिरी रहती थीं। एक दिन दे सब कस्याएँ कैलास पर्वत पर मानस सरोवर में जल कीड़ा करने के लिये आईं। स्थूल तथा उठे हुए स्तनों से सुशोभित उन कन्याओं को स्नान करती हुई रुद्र ने देखा । देखते ही वह कामके बाणों से हृदय में घायल हो गया । क्षभित रुद्र व्यामोह को प्राप्त हो गया । समीप में स्थित तथा काम के बाणों से जर्जीरत हृदय वाले रुद्र ने उपाय सोच लिया। उसने विद्या के द्वारा सरोवर के तट पर रखे हए उन कन्याओं के वस्त्राभूषण उठवा लिये। वे अनुपम कन्याएँ स्नान कर जब तट पर आई तब उन्होंने अपने बस्त्राभूषण नहीं देखे । जिनके चित्त व्याकुल हो रहे थे ऐसी उन रुइकियों ने मुनि के पास जाकर कहा कि हे स्वामिन् ! देवोंको भी प्रिय

गत्वा मुनिमुवाच । स्वामिन् ! अस्मत्स्वाम्स्येवं भणति । यदि मेघनिवद्धं पत्तनं गत्वा मेघनृपं तथा मेघनादं च दायिनं निर्धाट्य ैत्रिकहर्षदायि त्रिपुरं पुरं प्रवेश-यसि मां तदा जनमनोमोहनकारिणोर्मम सुता अच्टा अपि दक्षामि । कर्मादना ओमिति भणिते कंचुकिना चागत्य राज्ञे तथा कधिते खचराघिपो हर्षं चकार । ⁹सुहत्स्वजनवर्गेण सर्वेण तत्र गत्वा सर्वं स्वमन्दिरमानिनाय । तत्रोपवेस्येस्यरमादितो वृत्तान्तं जगाद यथा दायिना राज्यमपहूतं । ईशान उवाच । राजन् ! यत्त्वं भणसि तदहं साधयामि, किमेकेन त्रिपुराधिपेन ? त्रिजगदपि संहरामि । तदनन्तरं सरोषो देवदाच्भ्रयरहितो नानाछ्त्रध्वजचामरसैन्यसहितः शंकरं तीत्वा तत्र गतः । पुरं वेष्टितवान् । विद्युज्जिव्हस्तु निर्गताः, चन्व्योसरस्तेन सह त्रैलोक्यचित्तचम-

लगने वाले हमारे वस्त्राभूषण किसी ने ले लिये हैं पर जान नहीं पड़ता किसने लिये हैं ? आप ज्ञानवान हैं अतः निश्चित जानते हैं । बतलाइये, किसने लिये हैं ? रुद्र बोला, जानता ही हूँ यदि तुम सब मुझे चाहो तो मैं दिखला दूँ । यह सुनकर आश्चर्य में पड़ी नवयौवनवती विद्याधर कुमारियाँ बोलीं—मुने ! हम स्वच्छन्दचारिणी नहीं हैं हमारे माता पिता जानते हैं, स्वच्छन्दचारिणी स्त्रियों को विद्या का माहात्म्य कैसे प्राप्त हो सकता है ? तब उनके वस्त्राभरण देकर रुद्र ने कहा— अच्छा आप लोग अपने माता पिता से तथा सपरिदार से पूछकर उत्तर देखो ।

उन कन्याओं ने घर जाकर पिता के आगे सब समाचार कहा। पिता ने एक कञ्चुकी को दूत बनाकर रुद्र के पास भेजा। कञ्चुकी ने जाकर मुनि से कहा—स्वामिन् ! हमारे स्वामी ऐसा कहते हैं—यदि आप मेघ निबद्ध नगर जाकर मेघनृप तथा मेघनादको जो कि हमारो दासी हैं— सम्पत्ति पर अधिकार किये बैठी हैं निकालकर मानसिक, वाचनिक और शारीरिक के भेद से तीनों प्रकार के हर्ष को देनेवाले त्रिपुर नगर में मेरा प्रावेश करा दें तो मनुष्यों के मनको मोहित करने वाली अपनो आठों पुत्रियाँ आपको दे दूँ। रुद्र ने 'ओस्' कह कर स्वीकृति दे दो। कच्चुको ने आकर सब समाचार कहा जिससे विद्याघर राजा हर्ष को प्राप्त हुआ। वह समस्त मित्र तथा परिवार के लोगों के साथ जाकर रुद्र को अपने घर लिवा लाया। वहाँ बैठा कर उसने, दासोने जिस प्रकार राज्य अपहत

- त्रिकहर्ष दायिनि क० ।
- २. सुहृष्युजन म० ।

त्कारकारकं समनीकं चकार । ज्वालिन्या विद्यया ज्वालयित्वा रिपुं भस्मयामास । त्रिपुरं गृहीत्वा देवदारुः सुस्ती बभूव । जामातरं त्रिपुरं नीत्वा तस्मै चन्द्र-ग्रेसराय अष्टा अपि कन्या अदित । तास्तन्मैथुनमसहमाना अब्टा अपि मृताः । देवदारुखगस्याध्टलन्द्रैः सुहृद्दिभः झत्रुमारकस्य भूतेशस्य मारुतीमाला इव कोमल-भुजाः पंचद्यतकन्याः पुनर्दत्ताः । ता अपि खण्डपरशोविषमरतेन दिनं दिनं प्रति भुजाः पंचद्यतकन्याः पुनर्दत्ताः । ता अपि खण्डपरशोविषमरतेन दिनं दिनं प्रति भुजाः पंचद्यतकन्याः पुनर्दत्ताः । ता अपि खण्डपरशोविषमरतेन दिनं दिनं प्रति भुजता एकैकाः सर्वा अपि मम्नुः । तदा तासां मरणे गिरीशरित्रन्ताम्याकुल्तित्तमनाः स्थितः । अथ गौर्या सह यथा संयोगो जातस्तत्कथां कथयामि प्र्ण्णुत भव्याः ! । पूर्वभवे सल्वेका क्षान्तिका देशान्तरं यान्ती मार्गश्रमश्रान्ता घीवरेण नदीमुत्ता रिता । तस्य मत्स्यबन्धस्य शीतल्शरीरस्पर्येन सा आप्यायिता । तया विषयाशया कर्मवद्योन निदानं कृतं—अन्यस्मिन् भवे प्रकटितपरमस्नेहोऽयं मम भर्ता भविष्यत्तीति । ईदृश

किया था वह सब समाचार प्रारम्भ से लेकर रुद्र को सुनाया। रुद्र ने कहा—राजन् ! तुम जो कह रहे हो वह मैं अभी सिद्ध किये देता हूँ। एक त्रिपुर के राजा से क्या मैं तो तीनों जगत का संहार कर सकता हूँ।

तदमन्तर रोष से भरा देव दारु निर्भय होकर नाना छत्र ध्वजा चमर बौर सेना से सहित रुद्रको साथ लेकर वहाँ गया। उसने नगर को घेर लिया। विद्युजिज ह्वु बाहर निकला रुद्र ने उसके साथ तीन लोक के चित्त में चमस्कार उत्पन्न करने वाला युद्ध किया तथा ज्वालिनी विद्यासे कात्र को जलाकर भस्म कर दिया। देवदारु त्रिपुर को लेकर सुसी हुआ। तदनन्तर जमाता को त्रिपुर ले जाकर उसने आठों कन्याएँ उसके लिये दे दीं। परन्तु वे आठों कन्याएँ उसके मेथुन को सहन नहीं कर सकीं अतः मर गईं। देवदारु विद्याधरके अच्द चन्द्र नामक मित्र थे। उनकी मालती की माला के समान कोमल भुजाओं वाली पाँचसों कन्याएँ थीं। शत्रु को नष्ट करने वाले रुद्र के लिये उन्होंने वे पाँचसों कन्याएँ पुनः दे दीं परन्तु रुद्रके विषम रत के कारण एक-एक दिनके उपभोग से एक-एक कर वे सब मर गईं। उन सबके मर जाने पर रुद्र चिन्ता से व्याकुलचित्त हो उठा। अब गौरी के साथ जिस प्रकार संयोग हुआ वह कथा कहता हूँ हे भव्य जीवो ! सुनो---

पूर्व भव में एक साध्वी दूसरे देश को जातो हुए मार्ग के श्रम से धक गई। एक घीवर ने उसे उस नदी से पार उतारा। उस घीवर के घीतल धरीर के स्पर्श से वह साध्वी संतुष्ट हुई तथा विषय की आशा से कर्मवश किदान कर बैठी कि अन्यभव में यह घीवर परम स्तेह को प्रकट करने निदानं कृत्वा कायं विमुच्य सौधर्मेन्द्रस्य देवी जाता । कैवतंस्तु संसारे भ्रमित्वा मिथ्यातपः कृत्वा ज्येष्ठामुतो जातः । अथ सावस्तिपुरे राजा वासवः । तन्महादेवी मित्रवती । तया विद्युन्मती नाम्नी कन्या जनिता । तडिद्द्स्ट्रस्य विद्याघरस्य सा दत्ता । सौधर्मेन्द्रदेवी च्युत्वा विद्युन्मतीगर्भे स्थिता । नवमे मासे कष्टेन जनिता । विद्युम्मती विद्याघरी पीडावशेन निर्विन्ना (ण्णा) सती सावस्तिनगरे पर्वतपुहाया त्याजिता । तत्र गुहायां चतसो दिजपुत्र्य क्रोडितु कन्यापुण्येनागताः । उमा उमा इति शब्देन रटन्ती तार्मिदृष्टा उमेति नाम कृत्वा सा कोमलाङ्गी करुणया गृहमानीता । बाह्यणपुत्रीभिश्चतसुनि सा कन्या राजकुले विद्युन्मत्या [मित्र बत्या ⁷ महादेव्या ³वासवनृषपत्ल्या दर्शिता । तथापि गृहीत्वा पुत्र्याः पुत्री निज-

वाला मेरा भर्ता हो । ऐसा निदान कर वह शरीर छोड़ सौधर्मेन्द्र की देवी हुई ! वह धीवर संसार में भ्रमण कर मिय्या तप के प्रभाव से ज्येष्ठा का पुत्र हुआ !

तदनन्तर सावस्तिपुर में एक वासव नामका राजा रहता था उसकी रानी का नाम मित्रवती था। मित्रवती ने विद्युत्मती नामको कन्या को जन्म दिया तथा वह कन्या विद्युद्धट्र नामक विद्याधर को दी गई। साध्वी का जीव जो सौधमेंन्द्र की देवी हुई थो वहाँ से च्युत होकर विद्यु-न्मती के गर्भ में आई और नौवें मास में बड़े कब्ट से उत्पन्न हुई। विद्युन्मती विद्याधरी प्रसवकालिक पीड़ा से अत्यन्त खिन्न हो गई थी इसलिये उसने उस कन्या को सावस्ति नगर के समीप पर्वत की गुफा में छुड़वा दिया। कन्या के पुण्य से प्रेरित हुई चार ब्राह्मण कन्याएँ कोड़ा करने के लिये उस गुफामें आईं। ब्राह्मण कन्याओं ने 'उमा उमा' इस

१. अत्रत्यः पाठो भिन्न भिन्न पुस्तकेषु यथा बुद्धि पाठकैः संशोधितः । शुद्ध पाठस्तु ममदृष्टौ एवं प्रतिभाति ब्राह्मण पुत्रोभिश्चतसुभिः सा कन्या विद्यु-नमत्या इति महाविद्याया ज्ञात्वा राजकुले महादेग्या वासवनृपपत्न्याः सा बालिका दर्शिता ।

''ब्राह्मण की चार पुत्रियों ने महाविद्या से यह जानकर कि यह विद्यु-न्मतो की पुत्री है, राजकुल में वासव नृप की पत्नी—मित्रवती को वह कन्पा दिखलाई' इति च तदर्थ ।

- महाविद्या घ० (?) महाविद्यायाः इति क प्रतौ लिखित्वा केनापि महादेव्या
 इति संधोषियम् ।
- 🤹 रम्या इति संचोषितं ।

धाव्याः पंडितायाः पाल्लयितुं दत्ता । अधाष्टचन्द्रनृपेषु प्रधान ैचन्द्रसेनाभिधानो गगनाज्ज्ञणे संचोदितविमान एकस्मिन् दिते सावस्तिमागतः । तस्य कुल्लस्त्रिया निजभगिन्या अपत्थरहितायाः सन्मानपूर्वकं मित्रवत्या वासवनृपभायंया गिरिकॉणि-कानाम्न्याः सा उमा दत्ता । तयापि प्रतिपाल्य नवयौवना कृता सा सुन्दरी सुरकूट-पुरेशविद्याघरेशतडिद्वेगस्य परिणायिता । सा मदोन्मत्त सुष्ठु सुरतानुरामा यदा सुरत-सुखमनुभवति तदा तडिद्वेगो मृतः । उमातु यौवनमदेन स्वच्छन्दा जाता । विध्व-स्तोमा देवदारुनगरे एकस्मिन् दिने गता । देवदारुणा तच्चारं ज्ञात्वा रतिगुणाधिका सा स्थाणोविद्याविभवस्यार्धमाननेनार्घासनस्याङ्गीकरणेन च तस्य भार्या पुन्दर्भू-र्जाता । भूतेशस्तु तस्या सुखविशप्रसूनं निरीक्षमाणोऽर्हानर्शं तिष्ठति । ध्रिरिस्यु

शब्द से रोती हुई उस कन्या को देखा। वे उसका उमा नाम रखकर उस कोमलाङ्गी को दयाभाव से घर लेती आईँ। उन चारों ब्राह्मण कन्याओं ने उस कन्या को राजमहल में ले जाकर वासव राजा को महादेवी मित्र-वती को दिखलायां और उसने भी 'यह हमारो पुत्री की पुत्री है' यह जान कर ले ली तथा पालन करने के लिये अपनी पण्डिता नामकी धायको दे दी।

तदनन्तर अष्ट चन्द्र नामक विद्याधर राजाओं में प्रधान इन्द्रसेन नामका राजा एक दिन आकाशमें विमान चलाता हुआ सावस्ति नगर आया। चन्द्रसेन को स्त्री सन्तान रहित थी तथा रिश्ते में वह सावस्ति के राजा वासव की रानी मित्रवती की बहिन होती थी उसका नाम गिरि-कर्णिका था। मित्रवती ने वह उमा नामकी पुत्री उसे सन्मान पूर्वंक दे दी। तथा उसने भी पाल कर उसे नवयौवनवती कर दिया। वह सुर-कूट नगर के स्वामी तडिंद्रेग नामक विद्याधर राजा को विवाही गई। उमा मदोन्मत्त थी तथा सुरत-संभोग में अत्यन्त अनुराग रखती थी। एक दिन जब वह संभोग सुख का अनुभव कर रही थी उसी समय तडिंद्रेग का मरण हो गया। उमा यौवन के मद से स्वच्छन्द हो गई। विधवा उमा एक दिन देवदाह के नगर आई वहाँ देवदाह के द्वारा उसे रुद्र की प्रवृत्ति का पता चला। वह स्वयं रतिगुण से अधिक था अर्थात् अधिक रतिको अच्छा मानती थी इसलिये रुद्र की भार्यी हो गई। रुद्र ने उसे विद्या रूप ऐडवर्य का आधा भाग दिया अपना अर्धासन प्रदान किया। रुद्र उसके मुख कमलको रात दिन देखता रहता था। वह सीता, सीतोदा

१. इन्द्रसेनाभिधानो म० ।

सोतासीतोदादिषु सरस्सु पद्मादिषु गिरिषु मेर्वादिषु लवणोदादिषु समुद्रेषु देवारण्यादिषु च वनेषु सर्वमंगलया तया सार्वमनुदिनं रममाण उवर्रायां पर्यटति । स जटामुकुटविभूषितो वृषास्खो भस्मोद्घूलितो लोकानेवं ददति---अह त्रिजग-रस्वामी, कर्ता, हर्ता, शिवः, स्वयंभूः, शंभुः, ईश्वरः, हरः, शंकरः, सिद्धः, बुद्धः, त्रिपुरारिः, त्रिलोचनः, प्रकृतिशुद्धः, सर्वज्ञः, उमापतिः, भवः, ईश्वः, ईशानः, मृडः, मृस्युञ्जयः, श्रीकण्ठः, वामदेवः, महादेवः, व्योमकेश इत्यादीनि मम नामानि । अहमेव वर्त्तेऽपरो नास्ति । मायावी विजयार्धे बहूनि दिनान्युषित्वा जनमनांसि मंत्रै रंजयित्वात्र भरतक्षेत्रमागस्य तेम शैवशास्त्र प्रकटीकृतं । तद्दोक्षिताः शैवानार्या बहवो बभूवुः । दर्शितगुणा गणाः प्रभूता मिलताः, तेः परिवृताऽस्खलितप्रतापोऽ-नवरतमुमाप्रेमानुरागो द्वादश वर्षीणि विषयसौद्ध्यं भुंजानो मह्या हतविपक्षो स्त्रमितः । तत्प्रताप दृष्ट्वा सर्वेऽपि विद्याघरा अतिभीताः । तैर्विचारितं एष महा-विद्यावलीयानस्मान् भारयित्वा उभये अपि श्रेण्यौ निष्टित्तं प्रहोष्यति । केनोपाये-

आदि नदियों में, पद्म आदि सरोवरों में, मेरु आदि पर्वतों में लवणोद आदि समुद्रों में तथा देवारण्य आदि वनों में सर्व मङ्गल स्वरूप उस उमा के साथ प्रतिदिन रसण करता हुआ पृथिवी पर घूमने लगा। जटा रूप मुकुट से विभूषित, बैल पर बैठा एवं भस्म रमाये हुए लोगों से यह कहता था कि मैं तीन जगत का स्वामो हूँ, कर्ता हूँ, हर्ता हूँ, शिव हूँ, स्वयंभू हूँ, शम्भु हूँ, ईश्वर हूँ, हर हूँ, शंकर हूँ, सिद्ध हूँ, बुद्ध हूँ, त्रिपुरारि हूँ, त्रिलोचन हूँ, प्रकृति से शुद्ध हूँ, सर्वज्ञ हूँ, उमापति हूँ, भव हूँ, ईश हूँ, ईशान हूँ, मृड हूँ, मृत्युञ्जय हूँ, श्रोकण्ठ हूँ, वामदेव हूँ, महादेव हूँ, व्योमकेश हूँ, इत्यादि सब मेरे ही नाम हैं शिव में ही हूँ, और दूसरा नहीं है। उस मायावी ने विजयार्ध पर्वत पर बहुत दिन तक रह कर मन्त्रों से लोगों के मनको अनुरक्त किया। तदनन्तर भरत क्षेत्र में आकर उसने शैव शास्त्र प्रकट किया। उसके द्वारा दोक्षा को प्राप्त हुए बहुत से शैवाचार्य होगये। उसके गुणोंको देखकर बहुत से गण आ मिले । उन सब से धिरा, अस्ख-लित प्रताप का धारक, निरन्तर उमाके प्रेम से अनुराग रखने वाला एवं विषय सुखका उपभोग करता हुआ वह रुद्र बारह वर्ष तक पृष्टिवी में शत्रु रहित हो घूमता रहा। उसके प्रताप को देखकर सभी विद्याधर अत्यन्त भयभीत हो गये। उन विद्याधरों ने विचार किया कि यह महा-विद्याओं से अत्यन्त बलवान है अतः हम सबको मारकर निश्चित ही दोनों श्रेणियों को ले लेगा। जब तक यह हम लोगोंको नहीं मारता है तब तक किस उपाय से इस दुष्ट को मारा जाय ?

नाथं खलो हन्यते यावन्न हन्तीति । लोकं चिन्ताकुलं दृष्ट्वा मात्रा गिरिकणिका-नाम्न्या निजसुतोमा भेदं पृथ्टापुत्रि उमे ! मम जामातुर्विद्याः कदाचिदपि अवशा भवन्ति न वेति, उमा प्राह—मातगिरिकणिके ! यदायं मया सह सुरतसुखमनु-भवति तदा सुरतकाले विद्या बस्य न स्फुरन्ति । इत्युपदेशं लब्धा । गन्धारदेशे दुरंडनगरे वनप्रदेशे सुरतमारुडः, तैर्विद्याधरैः कान्तासहितस्य शिरश्चिच्छिदे । तस्मिन् हते तद्विद्याभिर्देश उपद्रुयोद्वासितः । यृहे यृहे कृतचौरः प्रविष्टः जीवघनं मुष्णाति । तन्नगरस्य राज्ञा विश्वसेनेन नन्दिषेणो मुनिः पृष्टः । भगवन् ! भारिकोपसर्गस्य कः प्रत्ययः । मुनिस्वाच । रुद्रनामा विद्याघरस्तव नगरे विद्या-नामक्षमापणं कुर्वाणो मारितस्तेनोपसर्गों वतंते । तर्हि स्वामिन् ! उपसर्गविनाज्ञः कर्णं भविष्यति ? तर्ल्सिंग खित्वा उपोपस्थे स्थापयित्वा यदि पूजयन्ति भवंतस्तदा विद्या उपशाम्यन्ति । उत्पत्त उपशाम्यतीति तद्दश्र्त्वा विश्वसेनस्तत्र गत्वा

लोगों को चिन्ताकुल देख माता गिरिकणिका ने अपनो पुत्री उमा से पूछा कि बेटी उमे ! हमारे जामाता की विद्याएँ कभी अनाधोन होती हैं या नहीं ? उमा ने कहा--माता गिरिकणिके ! जब यह हमारे साथ संभोग सुंखका अनुभव करता है तब संभोग काल में इसे विद्याएँ स्फुरित नहीं रहतीं। गिरिकर्णिका माता इस उपदेश को प्राप्त हुईं। तदनन्तर गन्धार देश सम्बन्धी दुरण्ड नगर के वन प्रदेश में जब वह संभोग कर रहा था तब उन विद्याधरों ने स्त्रो सहित उसका शिर काट डाला। रुद्र के मरने पर उसको विद्याओं ने उपद्रव कर उस देशको ऊत्रड़ कर दिया । घर घर में यम प्रविष्ट होकर लोगों के प्राण रूपी घनको चुराने लगा। उस नगर के राजा विश्वसेन ने नन्दियेण मुनि से पूछा कि भगवन् ! इस भारी रोग के उपसर्ग का कारण क्या है ? मुनि बोले---रुद्र नामका विद्या-धर तुम्हारे नगर में विद्याओं से क्षमा याचना नहीं कर सका उसके पहले हो उसे मार डाला गया इसी कारण उपसर्ग हो रहा है । राजा ने फिर पूछा कि स्वामिन् ! उपसर्ग का विनाश किस तरह होगा । इसके उत्तर में मुनि ने कहा कि यदि आप लोग उसका लिङ्ग काट कर तथा पार्वती की यौनि में रखकर पूजा करेंगे तो विद्याएँ शान्त हो जावेंगी। ''उपद्रव शान्त होता है'' यह सुनकर राजा विश्वसेन ने वहाँ जाकर देशके सब लोगों से उक्त बात कही। लोगों ने इंटों का ऊँचा चझूतरा बनाकर उस पर काटकर शिवका लिङ्ग रक्खा उस लिङ्ग पर योनि को स्थापना की

१. मरकोपसर्गस्य म० घ० ।

सर्वोऽपि जनपदो व्याहृतः । इष्टकाभिरुज्वां मंचिकां कृत्वा तल्लिगं छित्वा तदुपरि घृत्वा तल्लिगोपरि सुरतसुखक्षोणि तदुपरि घृत्वा तन्मघ्ये ऊर्घ्वमणि—शिवल्मिं स्थापयित्वा जलेन प्रक्षाल्य परिमलबहुलेन चन्दनेन विलिप्य पृष्पाक्षतादिभिर्लोक राजाजया पूजयित्वा क्षेतिन्द्रिययोर्नमस्कारः कृतः तदा विद्याभिः क्षमा झृता, लोक-स्योपसर्गस्य विनाशो जातः । तद्दिनमारभ्य प्रहतलज्ज लोकस्येश्वरं लिंगं पूज्यं जातमित्यज्ञानिभिर्लोकैः श्रीमद्भगवदर्हत्परमेश्वरं परित्यज्य स एव देवः परमात्मी-कृतः ।

इति मोधप्राभृते रुद्रोत्परयुपाख्यानं जिनमुद्रापरिभ्रष्टत्वसूचकं समाप्तम् । जिणमुद्दं सिद्धिसुहं हवेइ नियमेण जिणवरुद्दिइटा । सिविणे वि ण रुच्चइ पुण जीवा अच्छंति भवगहणे ॥४७॥ जिनमुद्रा सिद्धसुखं भवति नियमेन जिनवरोट्ट्रिटा । स्वप्नेपि न रोचते पुनः जीवा तिष्ठन्ति भवगहने ॥ ४७॥ (जिणमुद्दं सिद्धिसुहं) जिनमुद्रा सिद्धिसुखं आत्मोपलब्धिकक्षणमुक्तिसुखं----सिद्धिसुखयोगाज्जिनमुद्रैव सिद्धिसुखम्पचर्यते । (हवेइ) भवति । (नियमेण

और उसके मध्य में खड़ा मणिमय शिवलिङ्ग रख कर जलसे उसका प्रक्षालन किया, चन्दन का विलेपन लगाया, पुष्प तथा अक्षत आदि से पूजा की इस प्रकार राजा की आज्ञा से लोगों ने उमा और रुद्र दोनों की इन्द्रियों को नमस्कार किया। उसी समय विद्याओं ने क्षमा कर दी और लोगों का उपसर्ग नष्ट हो गया। उसी दिन से लेकर लज्जा को नष्ट करने वाला शिवलिङ्ग लोगोंका पूज्य हो गया तथा अज्ञानी लोगों ने श्रीमान् भगवान् अरहन्त परमेश्वर को छोड़ कर उस देव को ही परमात्मा मान लिया।

इस प्रकार मोक्षप्राभृत में जिन मुद्रा से अ्रष्टता को सूचित करने बाला ख्दोत्पत्ति का कथानक समाप्त हुआ ।

गाथार्थ--जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कही हुई जिनमुद्रा नियम से सिद्धि सुख रूप है। जिन जीवों को यह जिनमुद्रा स्वप्नमें भी नहीं रुचती वे संसार रूप वनमें रहते हैं॥ ४७॥

'तदामेढभगयोः द्वयोः' इति वा पाठः (क॰ टि॰) ।

जिणवरुद्दिहा) नियमेन निश्चयेन, कथंभूता जिनमुदा ? जिनवरोद्दिश्टा केवलि-प्रतिपादिता । तल्लक्षणं पूर्वमेवोक्तं वर्सते । (सिविणे वि ण रुच्चइ पुण) सा जिनमुदा जीवस्य स्वप्नेऽपि निद्रायामपि न रोचते । रुचघातोः प्रयोगे चतुर्थी प्रोक्ता ''यस्मै दित्सा रोचते घारयते वा तत्संप्रदानं'' इति वचनात् संप्रदाने चतुर्थी तदयुक्तं, कस्मादिति चेत् ? यदा रोचते तदा संप्रदानं यदा तु न रोचते तदा षष्ठी-प्रयोग एव । स्वप्नेऽपि न रोचते पुनर्जीवस्थेति सम्बन्धः । (जीवा अर्छति भव-गहणे) येन कारणेन जिनमुद्रा न रोचते भावचारित्रं भावचारित्रमिति लौंकादि-भिराम्नेडघते तेनैव कारणेन जीवास्तिष्ठन्ति भवगहने संसारधने । रुद्रादिवत्-भ्रष्टजिनमुद्रा नरकादौ पतन्ति ।

परमप्पय झायंतो जोई मुच्चेइ मलदलोहेण । णादियदि णवं कम्मं णिद्विटुं जिणवरिदेहिं ॥४८॥ षरमात्मानं ध्यायन् योगो मुच्यते मलदलोभेन । नाद्रियते नवं कर्म निदिष्टं जिनवरेन्द्रैः ॥ ४८॥

(परमप्पय झायंतो) परमात्मानं निजात्मस्वरूपं घ्यायन्। (जोई मुण्चेइ मलदलोहेण) योगी ध्यानवान् मुनिमुंच्यते, परिह्रियते केन ? मलदलोभेन मलं पापं ददातीति मलदः स चासौ लोभो धनाकांक्षा तेन मलदलोभेन। (णादियदि णवं कम्मं) लोभरहितो मुनिर्नाद्रियते न बध्नाति, नवं कमें अभिनव पापं, पूर्वोपार्जितं

की प्राप्ति होना संभव नहीं है। जिनमुदा का यथार्थ रूप केवली भगवान् ने प्रतिपादित किया है। जिन जीवों को यह जिनमुद्रा साक्षात् तो दूर रही स्वप्नमें भी नहीं रुचती वे इस संसार रूप अटवीमें ही विद्यमान रहते हैं। लोंका आदि लोग बार बार भावचारित्र, भावचारित्रकी ही रट लगाते हैं परन्तु भावचारित्र के अनुसार जिस जिनमुद्रा की आवश्यकता है उसे स्वप्न में भी अच्छा नहीं समझते—आदर को दृष्टि से नहीं देखते तब सिद्धिको प्राप्ति कैसे हो सकती है? जो जीव जिनमुद्रासे अष्ट हो जाते हैं वे रुद्रादि के समान नरक आदि कुगतियों में पडते हैं।

गायार्थ-परमात्मा का ध्यान करने वाला योगी पाप दायक लोभ से मुक्त हो जाता है और नवीन कर्म बन्धको नहीं करता ऐसा जिनेन्द्र देवने कहा है ॥ ४८ ॥

विशेषार्थ-परमात्मा-निज आत्म स्वरूप को कहते हैं उसका ध्यान करने बाला मुनि, पाप उत्पन्न करने वाले लोभ से छूट जाता है लोम ६२२

तु स्वयमेव क्षीयते । (णिहिटुं जिणवरिदेहि) निर्दिष्ठं कथित, जिनवरेन्द्रै: जिनवरा एव इन्द्रास्त्रिभुवनप्रभवस्तौजिनवरेन्द्रैः क्षवंज्ञवीतरागैरिति शेष: ।

होऊण दिढचरित्तो दिढसम्मत्तेण भावियमईओ । झायंतो अप्पाणं परमपयं पावए जोई ॥४९॥ भूत्वा दृढचरित्रः दृढसम्यक्त्वेन भावितमतिः । ध्यायन्तात्मानं परमपदं प्राप्नोति योगी ॥४९॥ (होऊण दिढचरित्तो) दृढचरित्रोऽचलितचारित्रो भूत्वा । (दिढसम्मत्तेण भावियमईओ) दृढसम्यक्त्वेन चल्जमलिनतारहितसम्यग्दर्शनेन भावितमतिस्तु

वासितमनाः । (झायंतो अप्पाणं) ज्ञानबलेन ध्यायन्नात्मान । (परसपयं पावए जोई) परमपदं केवळकानं निर्वाणं च प्राप्नोति, योगी भेदज्ञानवान् मुनिः ।

चरणं हवइ सघम्मो घम्मो सो हवइ अप्पसमभावो । सो रागरोसरहिओ जीवस्स खण्णपरिणामो ॥५०॥ चरणं भवति स्वधर्मः धर्मः स भवति आत्मसमबावः । स रागरोषरहितः जीवस्य अनन्यपरिणामः ॥५०॥

रहित मनुष्य नवीन कर्मबन्ध को नहीं करता है किन्तु उसके पूर्वोपॉजित कर्फ उबय क्षीण हो जाते हैं ऐसा जिनेन्द्र देवने कहा है ॥ ४८ ॥

गाथाथ—योगी-ध्यानस्थ मुनि, दृढ़चारित्र का धारक तथा दृढ़-सम्यक्त्व से वासित हृदय होकर आत्मा का ध्यान करता हुआ परम पद-को प्राप्त होता है ॥ ४९ ॥

विशेषार्थ—जो दृढ़वारित्र है अर्थात् चारित्रसे कभो विचलित नहीं होता और दृढ़सम्यक्त्वसे अर्थात् चल मलिनता आदि दोषोंसे रहित सम्यग्दर्शनसे जिसको बुद्धि सुसंस्कारित है ऐसा योगी आत्मा का ध्यान करता हुआ परमपद—केवलज्ञान और निर्वाण को प्राप्त होता है ॥ ४९ ॥

गायार्थ—चारित्र आत्मा का धर्म है, अर्थात् चारित्र आत्मा के धर्म को कहते हैं, धर्म आत्माका समभाव है अर्थात् आत्माके समभाव को धर्म कहते हैं, और समभाव राग द्वेष से रहित जीवका अभिन्न परिणाम है अर्थात् रागद्वेष से रहित जीवके अभिन्न परिणामको समभाव कहते हैं ॥ ५० ॥ -६.५०]

> जीवा जिणवर जो मुणइ जिणवर जीव मुणेइ। सो समभावपरिद्ठियओ लहु णिव्वाणु लहेइ॥ १॥

विशेषार्थ—चारित्र स्वधमं है—आत्मा का स्वरूप है, आत्मस्वरूप जो धमं है वह आत्म समभाव है अर्थात् सब जोवों में समता भाव है। मोक्ष 'स्थान में जिसप्रकार सिद्ध परमेष्ठो विद्यमान हैं उसी प्रकार शुद्ध बुद्धेक स्वभाव वाला मेरा आत्मा है। जिस प्रकार मैं केवलज्ञान स्वभाव वाला हूँ उसी प्रकार समस्त जीव राशि केवलज्ञान स्वभाव वाली है शुद्धनय से इनमें शक्तिको अपेक्षा मेद नहीं करना चाहिये। आत्म समभाव रागद्वेष से रहित है अर्थात् जिसके प्रति प्रीतिरूप राग करता हूँ वह भो मैं ही हूँ और जिसके प्रति अप्रीति रूप द्वेष करता हूँ वह भी मैं हो है इसलिये रागद्वेष से रहित जीवका जो अनन्य परिणाम—एक लोली-भाव रूप समता परिणाम है वही परम चारित्र है ऐसा जानना चाहिये। जैसा कि कहा है—

जीवा जिण्यर—जो जीवोंको जिनेन्द्र तथा जिनेन्द्रको जीव जानता है वह समभाव में स्थित है तथा समभाव में स्थित योगी शोध ही निर्वाण को प्राप्त होता है ।

 यह कथन द्रव्यदृष्टि की अपेक्षा है पर्यायदृष्टि से संसारी और सिद जीवमें महान अन्तर है।

षट्प्रामृते

जह फलिहमणि विसुद्धो परदव्वजुदो हवेइ अण्णं सो । तह रागादिविजुत्तो जीवो हवदि हु अणण्णविहो ॥५१।७

यथा स्फटिकमणिः विशुद्धः परद्रव्ययुतो भवति अन्यः सः । तथा रागादिवियुक्तः जीवो भवति स्फुटमन्यान्यविधः ॥५१॥ (जह फलिहमणि विसुद्धो) यथा येन प्रकारेण स्फटिकमणिः स्वभावेन विशुद्धो निर्मलो वर्तते । (परदथ्वजुदो हवइ अण्णं सो) परद्रव्येण जपापुष्पादिना युतः, अण्णं—अन्याऽन्यादृशो भवति । (तह रागादिविजुत्तो) तथा तेनैव स्फटिकमणिप्रकारेणः रागादिर्भिविशेषेण युक्तः स्व्यादिरागयुतो रागादिमान्

[इस गाथा का भाव प्रवचनसार के----

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो सम्मोत्ति णिद्विट्ठो । मोहक्लोह विहिणो परिणामो अप्पणो हु समो ।

गाधाके समान जान पड़ता है अर्थात् निश्चय से चारित्र का अर्थ धर्म है, धर्मका अर्थ सम परिणाम है और समपरिणाम का अर्थ रागद्वेष से रहित आत्माका अभिन्व परिणाम है परन्तु संस्कृत टीकाकार ने दूसरा ही भाव प्रदर्शित किया है जो ऊपर स्पष्ट किया गया है।]

गाथार्थ--जिस प्रकार स्फटिक मणि स्वभावसे विशुद्ध अर्थात् निर्मरू है परन्तु पर द्रव्य से संयुक्त होकर वह अन्य रूप हो जाता है उसी प्रकार यह जीव भो स्वभावसे विशुद्ध है-अर्थात् वीतराग है परन्तु रागादि विशिष्ट कारणों से युक्त होने पर स्पष्ट ही अन्य अन्य रूप हो जाता है ॥ ५१ ॥

विशेषार्थ---जिस प्रकार स्वभावसे स्वच्छ स्फटिक मणि जपापुष्प आदि के सम्बन्ध से लाल, पीला आदि अन्य रूप हो जाता है उसी प्रकार स्वभाव से स्वच्छ---वीतराग जीव रागादि के द्वारा विशिष्ट रूप से युक्त होकर अन्य अन्य प्रकार का हो जाता है अर्थात् स्त्रियोंके योग में रागी शत्रुओंके योग में द्वेषी और पुत्रादि के योग में मोही हो जाता है।

(यहाँ गाथा का एक भाव यह भी समझ में आता है कि जिस प्रकार स्फटिक मणि स्वभाव से विशुद्ध है परन्तु पर पदार्थ के सम्बन्ध से वह भवति । (जीवो हवदि हु अणण्णविहो) जीव आत्मा भवति हु---स्फुटं अन्यो-त्यविघोऽपरापरप्रकारो भवति---स्त्रीभियोंगे रागवान् भवति शत्रुभियोंगे द्वेषवान् भवति पुत्रादिभियोंगे मोहवान् भवतीति तात्पर्यार्थंः ।

देव गुरुम्मि य भत्तो साहम्मि य संजदेसु अणुरत्तो । सम्मत्तमुख्वहंतो झाणरओ होइ जोई सो ॥५२॥

देवे गुरौ च भक्तः सार्धामके च संयतेषु अनुरक्तः ।

सम्यक्त्वमुद्धहन् ध्यानरतः भवति योगो सः ॥५२॥

(देव गुरुम्मि य भत्तो) देवे गुरौ च भक्तो विनयपरः । (साहम्मि य संजदेसु अणुरत्तो) सार्धमिकेषु समानधर्मेषु, जैनेषु संयतेषु महामुनिषु, अनुरक्तो)फ्ठत्रिम-स्नेहवान् वात्साल्यपरः । (सम्मत्तमुब्वहंतो) सम्यक्त्वं सम्यग्दर्शन्युद्धह् मूर्धनि स्यापयन् । (झाणरओ होइ ओई सो) एवं विशेषणत्रयविशिष्टो योगी अष्टाङ्ग-योगनिपुणो मुनिर्ध्यानरतो भवति ध्यानानुरागी भवति सः । विपरीतस्य घ्यानं न रोचत इत्यर्थः । तथा चोक्तं----

अन्य रूप हो जाता है उसी प्रकार यह जीव स्वभाव से रागादि वियुक्त है अर्थात् रागद्देष आदि विकार भावों से रहित है परन्तु परदव्य अर्थात् कर्म नोकर्म रूप पर पदार्थों के संयोग से अन्यान्य प्रकार हो जाता है। इस अर्थमें वियुक्त शब्दके प्रचलित अर्थको बदल कर 'विशेषेण युक्ती वियुक्तः अर्थात् साहितः' ऐसी जो क्लिप्ट कल्पना करनी पड़ती है उससे बचाव हो जाता है।

गायार्थ-जो देव और गुरुका भक्त है, सहधर्मी भाई तथा संयमी जीवोंका अनुरागी है तथा सम्यक्त्व को ऊपर उठाकर धारण करता है अर्थात अत्यन्त आदरसे धारण करता है ऐसा योगी ही घ्यान में तत्पर होता है।।५२।।

י ע 40

षट्प्राभृते

सर्वंपापास्तवे क्षीणे घ्याने भवति भावना । पापोहतवृत्तीनां घ्यानवार्तापि टुर्ऌभा ॥ १ ॥ अन्यच्च---

> ^९स्वयूष्यान् प्रति सद्भावसनाथापेतकैतवा । प्रतिपत्तियंथायोग्यं वात्सल्यमभिरूप्यते ॥ २ ॥

उग्गतवेणण्णाणी जं कम्मं खबदि भवहि बहुएहि । तं णाणी तिहि गुत्तो खवेइ अंतोमुहूत्तेण ॥५३॥ उग्रतपसाऽज्ञानी यत्कर्म क्षपते भवेबंहुकैः ।

तज्ज्ञानी त्रिभिगु प्तः क्षपयति अन्तमु हूर्तेन ॥५३॥

(उग्गतवेग) उग्रतपसा तोव्रतपसा कृत्वा। (अण्णाणी) अज्ञानो मुनिः आत्मभावनाविर्वाजतस्तपस्वी। (जं कम्मं खवदि भवहि बहुएहि) वत्कमं पाप-कर्म क्षिपते भवैबंहुकैः कोटिभवैः शतकोटिभटैः सहस्रकोटिभवैः लक्षकोटिभवैः कोटिकोटिभवैद्येदिपादिभिः । (तं णाणी तिहि गुत्तो) तत्कमं ज्ञानी आत्मभावना परः सूरिः तिहि गुत्तो—त्रिभिगुंप्तो मनोवचनकायगुप्तिसहितः (.खवेद अंतोमुहू-त्तेण) क्षपयति क्षयमानयति-कियति काले ? अन्तर्मुहूर्तेन । कोऽसावन्तमुंहूर्त इति चेत् ?—

सर्वपापास्नवे—जब समस्त पापोंका आस्नव क्षोण हो जाता है तभी ध्यान की भावना होती है। जिनकी वृत्ति पापसे उपहन हो रही है ऐसे पूरुषों को घ्यान की बात करना भी दुर्लभ है ॥१॥ और भी कहा है—

ँ स्वयूच्यान्—अपने सह धर्मी भाईयों के प्रति उत्तम भावसे सहित तथा कपट से रहित यथायोग्य आदर प्रकट करना वात्सल्य कहलाता है ॥२॥

गायार्थ-अज्ञानो जीव उग्रतपक्ष्वरण के द्वारा जिस कर्मको अनेक भवोंमें खिपा पाता है उसे तीन गुप्तियोंसे सुरक्षित रहने वाला ज्ञानी जीव अन्तर्मुहूर्त में खिपा देता है।

विशेषार्थ---आत्म भावनासे रहित अज्ञानी मुनि तोव तपके ढारा जिस कर्म को करोड़--सौकरोड़-हजार करोड़-लाख करोड़ अथवा कोटि कोटि भवोंके ढारा नष्ट कर पाता है उस कर्मको आत्म भावना में तत्पर रहने वाला ज्ञानो मुनि मनो गुप्ति वचनगुप्ति और काय गुप्ति से सुरक्षित होता हुआ अन्तमुँ हूर्त में नष्ट कर देता है।

१, रत्नकरण्डश्रावकाचारे ।

⁹आवलि असंखसमया संखेञ्जावलिहि होइ उस्सासो । सत्तुस्सासो थोओ सत्तत्योओ लवो भणिओ ॥ १ ॥ अट्ठत्तीसद्धलवा माली दो नालिया मुहुत्तं तु ।

समऊषं तं भिण्णं अंतमुहुत्तं अणेयविहं ॥ २ ॥ इति गाथाद्वयकथितक्रमेण आवल्या उपरि एकः समयोऽघिको भवति सोऽन्त-मुंहूर्तो जघन्यः कथ्यते । एवं व्यादिसमयवृद्धधा समयद्वयहीनोऽन्मुंहूर्त उत्कृष्टः कथ्यते । मध्येऽसंस्थातभेदा अन्तमुंहूर्तस्य ज्ञातव्याः । हेषु कस्मिदन्तमुंहूर्ते ज्ञानी कर्म क्षपयति । एकेन समयेन हीनो मुहूर्तो भिन्तमुहूर्तं उच्यते इति भावः ।

मुभजोगेण सुभावं परदव्वे कुणइ रागवो साहू। सो तेण दु अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥५४॥ गुभयोगेन सुभावं परदव्ये करोति रागतः साघुः।

स तेन तु अज्ञानी ज्ञानी एतस्माद्विपरीतः ॥५४॥ (सुभजोयेण सुभावं) शुभस्य मनोक्षपदार्थंस्येष्टवनितादेः योगेन संयोगेन मेलनेनोपढीकनेनाग्रत आगतेन सुभावं— शोभनं प्रीतिलक्षणं भावं परिणार्ध । (पर-

प्रकन-अन्तमुंहूर्त क्या है ?

उत्तर---असंख्यात समय की एक आवलि होती है, संख्यात आवलियों का एक उच्छ्वास होता है, सात उच्छ्वास का एक स्तोक होता है, सात स्तोकों का एक लव कहा गया है। साढ़े अड़तीस लव की एक नाड़ी होती है, दो नाड़ियों का एक मुहूत होता है। एक समय कम एक मुहूत को भिन्न मुहुर्त कहते हैं। अन्तम ूँहूर्त अनेक प्रकार का होता है।

इन दो गाथाओं में कहे हुए क्रमसे आवली के ऊपर एक समय अधिक होने पर जघन्य अन्तमुं हूर्त कहलाता है। इस प्रकार दो तीन आदि समय बढ़ाते बढ़ाते जब मुहूर्त में दो समय कम रह जाते हैं तब बह उत्कृष्ट अन्तर्मु हूर्त कहलाता है। बीच में अन्तमुं हूर्त के असंख्यात भेद जानना चाहिये। इनमें से किसी भी अन्तर्मू हूर्त में ज्ञानी जीव कर्मोको नष्ट कर देता है। एक समय से कम मुहूर्त को भिन्न मुहूर्त कहते हैं ॥५३॥

आगे ज्ञानी और अज्ञानी मुनिका लक्षण प्रकट करते हैं----

गाथार्थ-जो साघु शुभ पदार्थ के संयोग से रागवश परद्रव्य में प्रीतिमाव करता है वह अज्ञानो है और इससे जो विपरोत है वह ज्ञानो है॥५४॥

[.] जीवकाण्डे ।

धम्बे कुणइ रागदो साहू) परद्रव्ये आत्मनो भिन्ने वस्तुनि इष्टवनितादौ, करोति विदधाति सुभावमिति सम्बन्धः, रागतः प्रेमपरिणामात् । कः कर्ता, साधुर्वेदघारो मुनिः पुष्पदन्तवत् । तथा चोक्तं---

⁹अलकवलयरम्यं भूलतानतंकान्तं नवनयनविलासं चाहगण्डस्थलं च । मधुरवचनगर्भं स्मेरविम्बाधरायाः पुरत इव समास्ते तन्मुसं मे प्रियायाः ॥१॥ कर्णावतंसमुखमण्डनकण्ठभूषावक्षोजपत्रजधनाभरणानि रागात् । पादेष्वलक्तकरसेन च चर्चनानि कुर्वन्ति ये प्रणयिनीषु त एव घन्याः ॥२॥ लीलाविलासविलसन्नयनोत्पलायाः स्फारस्मरोत्तरल्तिाधरपत्स्लवायाः । उत्तुंगपीनरपयोधरमंडलायास्तस्या महा सह कदा ननु संगमः स्यात् ॥३॥

विशेषार्यं---इष्ट स्त्री आदि शुभ पदार्थं के योग से-मिलने, पासमें आने अथवा आगे आने आदि के कारण जो साधु रागके वशोभूत हो उसमें प्रीति रूप परिणाम करता है तथा उपलक्षणा से अनिष्ट पदार्थं के योग से द्वेष वश अप्रीति रूप परिणाम करता है वह पुष्पदन्त (पुष्पडाल) के समान मात्र वेषको घारण करने वाला अज्ञानी साधु है और इससे विपरीत लक्षणों वाला साधु ज्ञानी साधु है। अज्ञानी साधु निरन्तर विषय सामग्रीका चिन्तन करता है। जैसा कि कहा है----

अलक बलय—जो धुँघराले बालोंसे सुन्दर है, अकुटी रूपलता के नृत्य से मनोहर है, नेत्रोंके नये नये विलास से सहित है, सुन्दर कपोलों से सुजोफित है और मीठे मीठे वचनों से पुक्त है ऐसा, मन्दपुसकान से पुक्त बिम्बफलके समान लाललाल ओठों वाली प्रिया का वह मुख ऐसा जान पड़ता है मानों मेरे सामने ही स्थित हो ॥१॥

कर्णावतस---जो पुरुष रागवश स्त्रियों के कानों में आभूषण पहिनाना, मुखको सुसज्जित करना, गले में आभूषण बाँधना, स्तनों पर पत्र रचना करना, नितम्ब पर मेखला कसना तथा पैरों में महावर से चर्चग करना आदि करते हैं वे ही धन्य हैं--भाग्यशाली हैं ॥२॥

लोलाविलास---जिसके नेत्र रूपी नील कमल लोला से सुशोभित हो रहे हैं, जिसका अधर पल्लव अत्यधिक कामको बाधा से चुञ्चल हो रहा है और जिसका स्तन मण्डल उन्नत तथा स्थूल है उस प्रिया का मेरे साथ संगम कब होगा ॥३॥

१. एते सर्वेक्लोका यहास्तिल्कचम्प्यां सोमदेवस्य ।

নিৰ—

चित्रालेखनकर्मभिर्मनसिखव्यापारास्मृतैर्गाढाम्यासपुरःस्थितप्रियतमापादप्रणामक्रमैः । स्वय्ने संगमविप्रयोगविषयप्रीत्यप्रमोदागमैरित्थं वेषमुनिदिमानि गमयत्युत्कंठितः

कानने ॥१॥

(सो तेण दु अण्णाणी) इत्यादिसुदतीचिन्तनेनाज्ञानी मूढः कथ्यते । (णाणी एत्तो दु विवरीदो) ज्ञानी निर्मोही मुनिः एतस्मादुक्तलक्षणात् सार्धोविपरीतः शुभवस्तुयोगे सति रागं न करोतीति तात्पर्यार्थः ।

आसवहेदू य तहा भावं मोक्खस्स कारणं हबदि । सो तेण दु अण्णाणी आदसहावस्स विवरीदो ॥५५॥

आस्रवहेतुञ्च तथा भावो मोक्षस्य कारण भवति । स तेन तु अज्ञानी आत्मस्वभावात् विपरीतः ॥५५॥ (आसवहेद्र य तहा भावं मोक्खस्स कारणं हवदि) आस्रवहेतुश्च यथा यथेष्टवनि-तादिविषये राग आस्रवहेतुर्भवति तथा निर्विकल्प समाधि विना मोक्षस्यापि रागः

और भी कहा है---

चित्रालेक्सने वह वेषधारी मुनि कभी प्रियतमा का चित्र बनाने बैठता या पर कामको सारपूर्ण व्यापार अर्थात् संभोग के स्मरण से उसे बीच में ही भूल जाता था। कभी प्रगाढ संस्कार के कारण उसे प्रियतमा सामने बैठी दिखतों थी और वह उसके चरणों में प्रणाम करता था। कभी स्वप्नमें संगम होनेसे प्रसन्न हो उठता था और वियोग से दुखी हो जाना था इस प्रकार वेषको धारण करने वाला वह मुनि उत्कृष्ठित होकर वन में दिन व्यतीत करता था। ११॥

गावार्थ—जिस प्रकार इष्ट विषय का राग कर्मास्रव का हेतु है उसी प्रकार मोक्ष विषयक राग भी कर्मास्रव का हेतु है और इसी रागभाव के कारण यह जीव अज्ञानी तथा आत्म स्वभाव से विपरीत होता है ॥५५॥

विझेषार्थ—जिस प्रकार इष्ट वनिता आदि विषय का राग कर्मासव-का कारण होता है उसी प्रकार निविकल्प समाधि के बिना मोझ का भी राग कर्मासव का हेतु होता है। मोझ विषयक रागभाव कर्मसय का कारण न होकर पुष्य कर्म बन्धका कारण होता है अतः उस रागभाव के कारण यह जीव अज्ञानी अर्थात् निविकल्प समाधि रूप आत्म स्वभाव से विपरीत होता है। कर्मासवहेतुर्भवति । (सो तेण दु अण्णाणी) स साधुर्मोक्षेऽपि रागभाव कुर्वाणः तेन कारणेन पुण्यकर्मवन्धहेतुत्वादज्ञानी भवति—–मूढः स्यात् (आदसहावस्स विवरीदो) आत्मस्वभावान्मिर्विकल्पसमाधिलक्षणात्मघ्यानरूपाद्विपरीतः । तथा चोक्तमेकत्वसप्तत्यां—

> [°]स्पृहा मोक्षेऽपि मोहोत्था तन्मिषेधाय जायते । अन्यस्मै तत्कथं शान्ताः स्पृहयस्ति मुमुक्षुवः ॥

जैसा कि एकत्व सप्तति में कहा गया है---

स्पृहा---जब मोह से उत्पन्न हुई मोक्षको इच्छा भी मोक्षके निषेध के लिये होती है तब शान्त मुमुक्षु जन अन्य पदार्थ को इच्छा कैसे कर सकते हैं ?

[रागभाव मात्र बन्धका कारण है अतः वह राग चाहे इष्ट विषय सम्बन्धी हो चाहे मोक्ष सम्बन्धो । यह जुदो है कि इष्ट विषय सम्बन्धी राग पाप कर्मके बन्धका कारण है और मोक्ष का राग पुण्य बन्धका कारण है । चन्दन यद्यपि ठण्डा होता है तथापि उसमें लगी आग जलाने का ही काम करती है । जो इस राग भावको उपादेय मानता है वह अज्ञानी है तथा आत्म स्वभाव से विपरीत है । यह कथन कर्म बन्धन की अपेक्षा जानना चाहिये वैसे दोनों रागोंमें तारतम्य बहुत है । विषय सम्बन्धी राग संसार का ही कारण है परन्तु मोक्ष सम्बन्धो राग परम्परा से मोक्ष-का भी कारण है ।

इस गाथा में 'जहाँ' सम्द नहीं है तथा 'मोक्खस्स' के साथ 'कारण' . शब्द प्रथमान्त पृथक् दिया हुआ है इसलिये एक अर्थ यह भी समझ में आता है—

"भाव ही आसन का हेतु है, भाव ही मोक्षका कारण है और उस भाव से ही यह जीव अज्ञानी तथा आत्म स्वभाव से विपरीत होता है।"

भावार्थ—शुभ-अशुभ रागरूप भाव कर्मास्रवका हेतु है, निर्विकल्प समाधि रूप भाव मोक्षका कारण है तथा मोह रूप भावके कारण यह जोव अज्ञानी तथा निर्विकल्पसमाधि रूप आत्मस्वभाव से च्युत होता है।

पद्मनन्दि पष्ठ्य विशती ।

जो कम्मजादमइओ सहावणाणस्य खंडदूसयरो । सो तेण दु अण्णाणी जिणसासणदूसगो भणिदो ॥५६॥

यः कर्मजातमतिकः स्वभावज्ञानस्य खण्डदूषणकरः।

स तेन तु अज्ञानी जिनशासनदूषको भणितः ॥५६॥ (जो कम्मजादमइओ) यः पुमान् कर्मजातमतिक इन्द्रियानिन्द्रियाणि खलु कर्मजातानि तदुत्पन्नमतिलेशसंयुक्तः । (सहावणाणस्स खंडदूसयरो) स्वभावज्ञान-स्पात्मोत्यज्ञानस्य केवलज्ञानस्य दूसयरो—दोषदायकः । आत्मनः खल्वतीन्द्रियज्ञानं नास्ति चक्षुरादीन्द्रियजनितमेव ज्ञानं वतंते इत्येवं स्वभावज्ञानस्य दूषणकरो भवति, अतीन्द्रियज्ञानं न मन्यते । खंडदूसयरो—खण्डज्ञानेन दूषणकरः कश्चिन्मिथ्या-दृष्टिः । (सो तेण दु अण्णाणी) स पुमान् तेन तु दूषणदानेन अज्ञानी ज्ञातव्यो ज्ञानिनः ज्ञेयो वेदितव्य इति यावत् । स कयंभूतः, (जिणसासणदूसगे भणिदो) जिनशासनस्याह्तंतमतस्य दूषको दोषभाषको भणितः----स नरकदुखं प्राप्स्यति । तथा चोक्तं पृष्पदन्तेन महाकविना काव्यपिशाचखण्डकव्यपरनामद्वयेन---

सव्वण्डु अणिदिओ णाणमउ जो मइमूढु न पत्तियइ । सो णिदिउ पंचिदियणिरउ वैतरणिहि पाणिउ पियइ ॥१॥

गाथार्थ—कर्म जन्य मतिज्ञान को धारण करने वाला जो जीव स्वभाव ज्ञान-केवल ज्ञान का खण्डन करता है अथवा उसमें दोष लगाता है वह अपने इस कार्य से अज्ञानी तथा जिनघर्म का दूषक कहा गया है॥५६॥

विशेषार्थ---जो पुरुष ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न पाँच इन्द्रियों और मनके निमित्त से होनेवाले अल्पतम मति ज्ञानसे युक्त होकर भी आत्मोत्थ-स्वभावभूत केवलज्ञान को दोष देता है अर्थात् कहता है कि आत्मा के अतीन्द्रिय ज्ञान नहीं है चक्षुरादि इन्द्रियों से होनेवाला ज्ञान ही है अतीन्द्रिय ज्ञानको नहीं मानता है तथा अपने खण्डज्ञानसे दूषण लगाता है उसे उस दूषण के देनेसे अज्ञानी जानना चाहिये। ऐसा पुरुष जिन शासक का दूषक कहा गया है तथा उसके फल स्वरूप वह नरकको प्राप्त करता है। जैसाकि काव्य पिशाच और खण्डकवि इन दो दूसरे नामों को धारण करने वाले महाकवि पुष्पदन्त ने कहा है---

सम्बण्डु -- 'सबैंज अतीन्द्रिय तथा केवल ज्ञानमय है' ऐसा जो मूढमति श्रद्धान नहीं करता है वह निन्दित है, पञ्चेन्द्रियों के विषयों में निरत हे तथा बैतरणी नदी का पानी पीता है अर्थात् मरकर नरक जाता है।

णाणं चरित्तहीणं दंसणहीणं तवेहि संजुत्तं । अण्णेसु भावरहियं लिंगग्गहणेण कि सोक्खं ॥५७॥ ज्ञानं चारित्रहीनं दर्शनहीनं तपोभिः संयुक्तम् । अन्येषु भावरहितं लिङ्ग्रग्रहणेन कि सौस्यम् ॥५७॥

(णाणं चरित्तहीणं) ज्ञानं चरित्रहीनं सौस्पकरं न भवतीति सम्बन्धः। (दंसणहीणं तवेहि संजुत्तं) दर्शनहीनं सम्यग्दशंनरत्नरहितं तपोभिः संयुक्तं कम सौस्पकरं न भवतीति सम्बन्धः। (अण्णेसु भावरहियं) अन्येषु घडावश्यकादिषु भावरहितं कर्म। (लिंगग्गहणेण कि सोक्खं) लिंगग्रहणेन वेषमात्रेण आत्मभावना-रहितेन कर्मणा कि सौख्यं भवति---अपितु सर्वकर्मक्षयलक्षणं मोक्षसुखं न भवतीति भावार्थः।

अच्चेयणं पि चेदा जो मण्णइ सो हवेइ अण्णाणी । सो पुण णाणी भणिओ जो मण्णइ चेयणे चेदा ॥५८॥

अचेतनमपि चेतयितारं यो मन्यते स भवति अज्ञानी । स पुन ज्ञानी भणितः यो मन्यते चेतने चेतयितारम् ॥५८॥

गायार्थ---चारित्र रहित ज्ञान सुख करने वाला नहीं है, सम्यग्दर्शन से रहित तपों से युक्त कम सुख करने वाला नहीं है तथा छह आवश्यक आदि अन्य कार्यों में भी भाव रहित प्रवृत्ति सुख करने वाली नहीं है फिर मात्र लिङ्ग ग्रहण करनेसे क्या सुख मिल जायगा ? ॥५७॥

विशेषार्य----चारित्र के बिना ज्ञान कार्यकारी नहीं है, सम्यग्दर्शन से रहित तपक्ष्चरण कार्यकारी नहीं है इसो तरह छह आवश्यक आदि में भाव रहित प्रवृत्ति भी कार्यकारी नहीं है फिर भी आत्म भावना से रहित वेष मात्र से क्या सुख हो सकता है ? अर्थात् उससे सर्वकर्म क्षय रूप मोक्ष सूख प्राप्त नहीं हो सकता है ॥५७॥

[इस गाथा का एक भाव यह भी हो सकता है---हे साधो ! तेरा ज्ञान यथार्थ चारित्र से रहित है तेरा तपक्ष्वरण सम्यग्दर्शन से रहित है तथा तेरा अन्य कार्य भो भाव से रहित है अतः तुझे लिज्ज ग्रहण से-मात्र वेष धारण से क्या सुख प्राप्त हो सकता है ? अर्थात् कुछ नहीं। j

गायार्थ—जो अचेतन को भी चेतयिता मानता है वह अज्ञानो है और जो चेतन को चेतयिता मानता है वह ज्ञानी कहा गया है।।५८॥ (अच्चेयणं पि चेदा जो मण्णइ सो हवेइ क्षण्णाणी) चेतयितारमात्भानं यः पुमान् कापिलमतानुसारी अचेतनमात्मानं मन्यते स पुमान् क्झानी ज्ञान-अर्जितो मूर्स्सों भवेत्। (सो पुण णाणी भणिको) स पुमान् पुनर्ज्ञानी भणितः। स कः ? (जो मण्णइ चेयणे चेदा) यः पुमान् चेतने चेतनद्रव्ये चेतयितारमात्मानं मन्यते।

उक्तं च----

स यदा दुःखत्रयोपतप्तचेतास्तद्विघातकहेतुजिज्ञासोत्सेकितविवेकस्रोताः स्फाटि-कास्मानमिवानन्दात्मनमप्पात्मानं सुम्नदुःखमोहावहपरिवर्तेमंहदहंकारविवर्तेश्च

विशेषार्थ—सांख्य मतका अनुसरण करने वाला जो पुरुष चेतयिता अर्थात् आत्मा को अचेतन अर्थात् ज्ञान से शून्य मानता है वह अज्ञानो है और जो चेतन द्रव्य में चेतयिता-आत्मा को मानता है वह ज्ञानी है।

भावार्थ--सांख्यों का कहना है कि पुरुष तो उदासीन चेतना स्वरूप है, नित्य है और ज्ञान प्रधान का धर्म है। इस मत में पुरुष कुं उदासीन चेतना स्वरूप माना सो ज्ञान बिना जड़ ही हुआ | ज्ञानके बिना चेतन किस प्रकार हो सकता है ? ज्ञानको प्रधान का धर्म माना और प्रधान को जड़ माना तब अचेतन में चेतना मानने से अज्ञानी ही हुआ। नैयायिक और वैशेषिक गुण गुणी में सर्वथा भेद मानते हैं इसलिये इनके मतसे चेतमा गुण जोवसें पृथंक् है और चेतना गुण के पृथक् रहने से जीव अचे-तन सिद्ध होता है अतः अचेतन को चेतन मानने के अज्ञानी दशा है। इसी प्रकार भूतवाती चार्वाक पृथिवी जल अग्नि और वायु के संयोग से चेतना की उत्पत्ति मानते हैं सो भूत तो जड़ हैं उनसे चेतना किस प्रकार उत्पन्न हो सकती है ? इसलिये अन्य मतवादियों का कथन अज्ञान से भरा हुआ है। यथार्थ में जीव द्रव्य ज्ञान गुण से तन्मय है इनमें गुण गुणी भाव अवस्य है परन्तू प्रदेश भेद नहीं है। ज्ञानगुण से तन्मय होनेके कारण जीव द्रव्य चेतन कहलाता है इसलिये चेतन को चेतन कहना अचेतन को अवे न कहना चेतन को अचेतन नहीं कहना और अचेतन को चेतन नहीं कहना ज्ञानो जीव की पहिचान है---

सांख्यों के यहाँ मुक्ति का स्वरूप इस प्रकार कहा गया है---

संयवा तु-शारोरिक मानसिक और आधि भौतिक इन तीन प्रकार के दुःस्रों से इस जीवका चित्त निखार संतप्त रहता है परन्तु उन दुःखों के विषात के कारणों की जिज्ञासा से जब इसके विवेक का स्रोत प्रस्फुटित कलुषयन्त्याः सत्तरजःसाम्यावस्थापरनामवत्याः सनातनव्यापिगुणाधिकृतः प्रकृतेः स्वरूपमवगञ्छति तदायामयगोलनानलतुल्यवर्गस्य वोधबद्वहुधानकसंसर्गस्य सति विसर्गे सकलज्ञानज्ञेयसम्बन्धवैकल्यं कैवल्यमवलम्बते तदा दृष्टुः स्वरूपेऽवस्थानं मुस्तिरिति कापिलाः विवदन्तः प्रतिवनतन्त्याः----

कपिलो यदि वांछति वित्तिमचिति सुरगुरुगीगुं फेब्वेष पतति ।

चैतन्यं बाह्यत्राह्य रहितमुपयोगि कस्य ैवद तत्र विदित ॥ १॥ तबरहियं ज णाणं णाणविजुत्तो तवो वि अकयत्थो । तम्हा णाणतवेणं संजुत्तो लहइ णिडवाणं ॥ ५९॥ तपोरहितं यत् ज्ञानं ज्ञानवियुक्तं तपोऽपि अकृतार्थं । तस्मात् ज्ञानतपसा संयुक्तः लभते निर्वाणम् ॥ ५९॥

होता है तब यह स्फोटक के समान स्वच्छ आनन्द रूप आत्मा को सुख दुःख तथा मोह के परिवर्तनों और महत् तथा अहंकार की विवर्लों से कलुषित करने वाली सत्व और रजोगुण की साम्यवस्था रूप दूसरे नाम से युक्त प्रकृति के स्वरूप को समझ लेता है तब लोहे के गोलों में जिस प्रकार अग्निका सम्बन्ध तन्मयके समान जान पड़ता है उसी प्रकार ज्ञान के साथ आत्मा का तन्मय सम्बन्ध होनेसे आत्मा ज्ञानमय जान पड़ती है। परन्तु जब वह पर पदार्थों का सम्बन्ध यहाँ तक कि ज्ञान ज्ञेय सम्बन्धी समस्त विकल्प भी विलोन हो जाता है और पुरुष कैवल्य अर्थात् मात्र अपने आपका अर्वलम्बन करने लगता है तब दृष्टा पुरुष जो अपने स्वरूपमें अवस्थित रहता है उसे मुक्ति कहते हैं। इस प्रकार विवाद करते हए सांख्योंके प्रति यों कहना चाहिये---

कषिलो---कपिल यदि अचेतन प्रधान में ज्ञान मानता है तो वह भी चार्वाकों के वचन जाल में फँसता है, अर्थात् जिस प्रकार चार्वाक अचेतन भूत चतुष्टक से चेतन की उत्पत्ति मानता है उसी प्रकार सांख्य की भी अचेतन प्रधान से चेतन की उत्पत्ति इसके उत्तर में यदि सांख्य कहता है कि मैं चैतन्य को तो मानता हूँ परन्तु उसे बाह्य पदार्थों के ग्रहण से विमुख मानता हूँ। इसके उत्तर में कहना यह है कि हे प्रख्यात पुरुष ! बाह्य पदार्थों के ग्रहण से विमुख चैतन्य किसके उपयोग आता है तुम्हीं बताओ !

गायार्थ--जो ज्ञान तपसे रहित है वह व्यर्थ है और जो तप ज्ञानसे

१. वंदत । 👘

(तवर्राहरयं जंणाणं) तपोरहितं यज्ज्ञानं तदक्कतार्थं मिति सम्बन्धः । (णाण-विजुत्तो तवो वि अकयत्थो) ज्ञानवियुक्तं ज्ञानरहितं अज्ञानं तपोऽपि अक्कतार्थं मोलं न साधयति । (तम्हा णाणतवेणं संजुत्तो लहइ णिव्वाणं) तस्मात्कारणात् ज्ञानतपसा ज्ञान च तपश्च ज्ञानतपः समाहारो द्वम्द्वस्तेन ज्ञानतपसा । अथवा ज्ञानेनोपलक्षितं तथो ज्ञानतपस्तेन तथोक्तेन संयुक्तो मुनिर्रुभते निर्वाणं सर्वकर्मक्षय-लक्षणं मोक्षमिस्थर्थः ।

तथा चोक्तं--

मान्यं झानं तपोऽहीनं ज्ञानहोनं तपोऽहितं । हाम्यां युक्तः स देवः स्याहिहीनो गणपूरणः ॥१॥ धुवसिद्धी तिस्थयरो चउणाणजुदो करेद्द तवयरणं । णाऊण धुवं कुज्जा तवयरणं णाणजुत्तो वि ॥६०॥ ध्रुवसिद्धिस्तीर्थंकरः चतुष्कज्ञानयुतः करोति तपञ्चरणम् । ज्ञारेवा ध्रुवं कुर्यात् तपञ्चरणं ज्ञानयुक्तोषि ॥६०॥ (धुवसिद्धो तिस्ययरो) ध्रुवसिद्धिरवस्यं मोक्षगामो, कोऽसौ ? तीर्थंकरः तीर्थंकर-

परम देवः । (चउणाणजुदो करेइ तवयरणं) दीक्षानन्तरमेबोत्पन्नमन पर्ययज्ञानः

रहित है वह भी व्यर्थ है, इसलिये ज्ञान और तपसे युक्त पुरुष ही तिर्वाण को प्राप्त होता है ॥५९॥

विशेषार्थ-तप रहित ज्ञान अकार्यकारी है, ओर ज्ञान रहित तप भी अकार्यकारी है अर्थात् मोक्षका साधक नहीं है इसलिये ज्ञान और तप अथवा ज्ञान से उपलक्षित तप से सहित मुनि ही सर्व कर्मरूप रूप मोक्षको प्राप्त होता है। जैसा कि कहा है-

मान्यं - तपसे अहीन अर्थात् सहित ज्ञान ही मान्य है---आदरणीय है और ज्ञान से होन तप अहित है-कर्म बन्ध का कारण होने से अहित-कारो है। जो मुनि ज्ञान और तप दोनोंसे युक्त है वह देव हो जाता है अर्थात् घाति चतुष्क का क्षय कर अरहन्त बन जाता है और जो दोनों से रहित है बह मात्र संघकी पूर्ति करता है अर्थात् संघ को संख्या बढ़ाता है, आत्मकत्याण नहीं करता है ॥१॥

गाथार्थ---जो ध्रुव सिद्धि है--अर्थात् जिन्हें अवश्य ही माक्ष प्राप्त होना है तथा जो चार ज्ञानों से सहित हैं ऐसे तीर्थंकर भगवान् भी तपश्चरण करते हैं ऐसा जानकर ज्ञान युक्त पुरुष को तपश्चरण करना चाहिये ॥६०॥

Jain Education International

षद्त्राभृते

तथापि तपक्चरणं त्रिरावादिकं तपक्चरणं करोति । (णाऊण घुवं कुण्णा तवयरणं आणजुत्तो वि) इति ज्ञात्वा, झुवमिति निक्चयेन, कुर्याद्विकयात्, किं तत् ? तपक्षरणं , ज्ञानयुक्तोऽपि । अहं सकल्ल्यास्त्रप्रवीणः किं ममोपवासादिना तपक्ष्चरणेनेति न बाच्यमिति भावः । उक्तं च---

> उववाससो एक्कहो फलेण संवोहियपरिवार । णायदत्तु दिवि देव हुउ पुणरवि णायकुमारु ॥ १ ॥ तें कारणि जिय पइभषमि करि उववासक्सासु । जाम्व ण देहकुडिल्लयहि ढुक्कइ मरणहुँ यासु ॥ २ ॥ यदज्ञानेन जीवेन कृतं पापं सुदारुणं । उपवासेन तत्सर्व दहत्यग्निरिवेन्घनं ॥ १ ॥

तथा चोक्तं प्रभाचन्द्रेण साकिकळोकशिरोमणिना— उपवासफलेन भजति नरा भुवनत्रयजातमहाविभवान् । खलु कर्ममलप्रल्यादचिरादजरामरकेवलसिद्धिसूख ।। १ ।।

उववासहो—एक उपवास के फलसे परिवार को संबोधित करने वाला नागदत्त स्वर्ग में देव हुआ और फिर नायक्रमार हुआ ।।१॥

तेकारणि--इसलिये हे जीव ! मैं कहता हूँ कि जब तक घरीर रूपी कुटी पर मरण रूपी अग्नि का आक्रमण नहीं होता है तब तक उपवास का अभ्यास कर ॥२॥

यदझानेन—इस जोवने अज्ञान वश जो भयंकर पाप किया है उपवास से वह सब उस प्रकार जल जाता है जिस प्रकार कि अग्नि से ईंधन ।।३।।

ऐसा ही तार्किकजनों के शिरोमणि प्रभाचन्द्र ने कहा है-

उपवासफलेन--उपवास के फलने मनुष्य तीनों लोकों में उत्पन्न होने वाले महान वैभवों को प्राप्त होते हैं और कर्म रूपी मलको नष्ट कर निश्चय से शोघ्र ही अजर-अमर पद, केवल ज्ञान और मोक्ष के सुखको प्राप्त होते हैं॥१॥

मोक्षप्राभृतम्

ैहोइ वणिज्जु ण पोट्टछिहि उववासें णउ घम्मु । एउ अहाणउ सो चवइ जसु कउ भारत कम्मु ॥ १ ॥ ^९पोट्टलियहि मणिमोति यहं घणु कित्तइवि ण जाइ । वोरिहि भरिय बल्ट्इडर तं णाहि जोक्साइ ॥ १ ॥ आत्मबुद्धिरियं प्रोक्ता सपसैव विचक्षणेः ।

किमग्निना विना शुद्धिरस्ति कांचनशोधने ॥ १ ॥

बाहरलिंगेण जुदो अब्भंतरलिंगरहिदपरियम्मो । सो सगर्भरित्तभट्टो मोक्सपहविणासगो साहू ॥६१॥ बहिलिंगेन युतो अभ्यंतरलिंगरहितपरिकर्मा। स स्वकचरित्रभ्रष्टः मोक्षपथविनाशकः साधः ॥ ६१॥

(बाहिरॉलगेण जुदो) बहिल्गिन युतो नग्नमुद्रासहितः । (अब्भंतरॉल्ग-रहिदपरियम्मो) अम्यन्तरॉलिंगरहितपरिकर्मा आत्मस्वरूपभावनारहितं परिकर्म अङ्गसंस्कारो यस्य सोऽम्यन्तरॉलिंगरहितपरिकर्मा । (सो सगचरित्तभट्ठो) स

होइद्वणिज्जु--पोटली (कपड़े की छोटी सी गठरी) से वाणिज्य नहीं हो सकता और उपवास करने से धर्म नहीं हो सकता ऐसा अहाना (लोकोक्ति) वही कहता है जिसके कर्म भारी है।

पोट्टलियहिं--मणि और मोतियों की पोटली (गठरी) का धन कितना है कहा नहीं जाता। वह धन बोरों से भरे हुए बैलों से नहीं जोखा जा सकता-नहीं तोला जा सकता क्योंकि अतूल है।

आरमशुद्धि--यह आत्मशुद्धि तपसे ही हो सकती है ऐसा विद्वानों ने कहा है। क्या सुवर्ण के शोधने में अग्नि के बिना शुद्धि हो सकती है ? अर्थात् नहीं।

गाथार्थ—जो साधु बाह्य लिङ्ग से तो सहित है परन्तु जिसके शरीर का संस्कार (प्रवर्तन) आभ्यन्तर लिङ्ग से रहित है वह आरम चारित्र से भ्रष्ट है तथा मोक्षमार्ग का नाश करने वाला है ॥६१॥

विद्योषार्थ—बाह्य लिङ्ग अर्थात् नग्न मुद्रा से सहित होनेपर भी जिसके सरीर की प्रवृत्ति आभ्यन्तर लिङ्ग से रहित है अर्थात् आभ्यन्तर स्वरूप को मावना से सून्य है वह सामु आत्म चारित्र से अष्ट है तथा मोक्ष

१. सावय चम्म दोहा १०९ /

२. साबय धम्म दोहा ११० ।

साधु स्वकचरित्रभ्रष्टः । (मोक्खपहविणासको साहु) मोक्षपवविनाशकः साधुः स साधुर्मोक्षमार्गविष्वंसको ज्ञातव्यो ज्ञानीयो ज्ञेयः । इति भावं ज्ञात्वा निजशुद्ध-बद्धैकस्वभावे आत्मतत्वे नित्यं भावना कर्तव्या साघोः ।

सुहेण भाविदं णाणं दुहे जादे विणस्सदि । तम्हा जहाबलं जोई अप्पा दुक्खेहि भावए ॥६२॥

मुखेन भावित ज्ञान दुःखे जाते विनश्यति । तस्माद् यथाबलं योगी आत्मान दुःखैः भावयेत् ॥ ६२ ॥ (सुहेण भाविदं णाणं) सुखेन निस्यभोजनादिना भावितं वासितं ज्ञानं आत्मा । (दुहे जादे विणस्सदि) दुःखे जाते सति भोजनादेर प्राप्तौ सत्यां विन-द्यति आत्मभावनाप्रच्युतो भवति । (तम्हा जहा बलं जोई) तस्मात्कारणाखया-

बलं निजशक्त्यनुसारेण योगी मुनिः । (अण्पा दुक्खेहि भावए) आत्मानं दुःखैर-नेकतपःक्लेग्नैः भावयेद्वासयेत् दुःखाम्यासं कुर्यादित्यर्थः ।

मार्गका विध्वंस करने वाला है । ऐसा जानकर साधुको शुद्धबुद्धेक स्वभाव से युक्त निज आत्म तत्व की भावना करना चाहिये ।

[मोक्षमार्ग के प्रवर्तन के लिये बाह्य लिङ्ग को निर्दोष प्रवृत्ति तथा तदनुरूप आत्म तत्व की भावना और रागादि विकारों के अभाव की आवश्यकता है जिस साधु में उक्त बातों की कमी है वह यथार्थ चारित्र से रहित है तथा अपनी प्रवृत्तिसे मोक्षमार्गको दूषित करने वाला है।]

गाथाथं—सुख से वासित ज्ञान दुःख उत्पन्न होनेपर नष्ट हो जाता है इसलिये योगी को यथाशक्ति आत्माको दुःख से वासित करना चाहिये ॥ ६२ ॥

विशेषार्थ—नित्य प्रति भोजन करना आदि सुखिया स्वभाव से जो ज्ञानका अर्जन होता है वह भोजनादि को अप्राप्ति जन्य दुःख के उपस्थित होनेपर नष्ट हो जाता है। अथवा ज्ञान का अर्थ आत्मा है। जो आत्मा सुखसे वासित है वह दुःख के उत्पन्न होनेपर आत्म भावना से च्युत हो जाता है इसलिये योगी को चाहिये कि वह निज शक्तिके अनुसार अनेक तप सम्बन्धी दुःखों से आत्मा को वासित करे अर्थात् दुःख सहन करने का अभ्यास करे।। ६२ ॥

आहारासणणिद्दाजयं च काऊण जिणवरमएण । हायव्वो णियअप्पा णाऊणं गुरुपसाएण ॥६३॥ आहारासननिद्राजयं च कृत्वा जिनवरमतेन । ध्यातव्यो निजात्मा ज्ञात्वा गुरुप्रसादेन ॥ ६३॥

(आहारासणणिद्दाजयं च काऊण जिणवरमएण) आहारासननिद्राजयं च इत्त्वा जिनवरमतेन, शनैः शनैः आहारोऽल्पः क्रियते । छनैः शनैरासनं पद्यासनं उद्भासनं चाम्यस्यते । शनैः शनैः निद्रापि स्तोका स्तोका क्रियते एकस्मिन्नेव पार्ध्वे पार्ध्वंपरिवर्तनं न क्रियते । एवं सति सर्वोऽप्याहारस्त्यक्तुं शक्यते आसनं च कदाचिदपि त्यक्तुं ^१(न) शक्यते । निद्रापि कदाचिदप्यकतुं शक्यते । अम्यासात् किं न भवति ? तस्मादेवकारणात्केवलिभिः कदाचिदप्यि न भुज्यते । पद्मासन एव वर्षाणांसहस्र रेषि स्यीयते, निद्राजयेनाप्रमत्तभूंयते, स्वप्नो न दृश्यते । एवं जिन-दरमतेन वृषभस्वामिवीरचन्द्रशासनेनानुशोल्यते । (झायक्वो णियवप्पा) घ्यातव्यो निज आत्मा । (णाऊणं गुरुपसाएण) आत्मानमष्टाङ्गं [योग] च झात्वा गुरु-

गाधार्य-आहार आसन और निद्रा को जीतकर जिनेन्द्र देवके मता-नुसार गुँरुओं के प्रसाद से निज आत्मा को जानना चाहिये और जानकर उसीका ध्यान करना चाहिये ।

१. सर्वप्रसिद् नकारो नास्ति परन्तु आसनस्य स्थागः कर्य शक्यः ।

प्रसादेन निर्धन्याचार्यवर्यस्य कारुष्येन । गुरुप्रसादं विना ''द्रष्टक्यो वा रेज्यसारमा श्रोतव्योऽनुमन्तव्यो निदिष्यासितव्य'' इति क्रुवद्भिरपि वेदान्तवादिमिनिवृत्तैः केनापि जनेन यात्रवल्क्यादिना न प्राप्त इति मावार्यः ।

बट्प्रामुते

अप्पा चरित्तवंतो दंसणणाणेण संजुदो अष्पा । सो झायव्वो णिच्चं णाऊणं गुरुपसाएण ॥६४॥

आत्मा चारित्रवान् दर्शनज्ञानेन संयुत आत्मा । स ध्यातव्यो नित्यं भात्वा गुरुप्रसादेन ॥ ६४ ॥

(अप्पा चरित्तवंतो) आत्मा चारित्रवान् वतंते आत्मात्मवानुतिष्ठतीति कारपात् यस्य मुनेक्चारित्रे प्रीतिरस्ति स आत्मानमेवाश्रयत्विति भावार्थः । (दंसणणाणेण संजुदो अप्पा) दर्शनेन ज्ञानेन ध संयुतः संयुक्तः, कौऽसौ ? आत्मा जीवतत्वं, अत्रापि स एव भावार्थः—यस्य मुनेदंशंने प्रेम वर्तते ज्ञाने वानुरागो-ऽस्ति स मुनिरात्मानमेवाश्रयतु तद्द्रयमपि तत्रैव यस्मात् । (सो झायव्वो णिच्चं) स आत्मा ध्यातक्यो नित्यं सर्वकालं । रत्नानां त्रयस्योपायभूतस्यात्मकाभे मोझलाभे का प्रीतिमत इत्यर्थः । (णाऊणं गुरुपसाएण) गुरोनिमं न्याचार्यस्य झिझादीक्षाचार-वाचनादेश्च कर्तुः प्रसादेन कारुष्येन । अयं वस्तुस्वभावो वतंते यदाचार्यप्रसन्न तयात्मलाभो भवति तद्विराषने सत्यात्मा न स्पुटीभवति । तथा चाक्तं—

से आत्मा दृष्टवा, श्रोतव्य, अनुमन्तव्य और निदिघ्यासितव्य है इस प्रकार गृह जंजाल से निवृत्त देदान्तवादी कहते अवस्य हैं परन्तु याज्ञ-बल्क्य आदि कोई भी उसे प्राप्त नहीं कर सका ॥ ६३ ॥

गायार्थ—आत्मा चारित्र से सहित है, आत्मादर्शन और ज्ञान से युक्त है इस प्रकार गुरु के प्रसाद से जानकर उसका निस्य ही ध्यान करना चाहिये ॥ ६४ ॥

विश्लेषार्थ---आत्मा चारित्रवान् है इसलिये जिस मुनिकी चारित्रमें प्रीति है वह आत्माका ही आश्रय करे। आत्मादर्शन श्रौर ज्ञान से सहित है इसलिये जिस मुनिका दर्शन और ज्ञान में अनुराग है वह आत्मा का आश्रय करे। गुरुका अर्थ निग्रंन्थाचार्य है। उसके प्रसाद से आत्मा को जानकर उसका निरन्तर ध्यान करना चाहिये। यह वस्तु का स्वमाव है कि जिस आचार्य की प्रसन्नता से आत्म लाम होता है उसकी विराधना आज्ञाभज्ज्ञ करने पर आत्मा अच्छी तरह स्पष्ट नहीं होती। जैसा कि कहा है--- गुणेषु ये दोषमनीषयान्धा दोषान् गुणीकर्तु मयेशते ये ।

श्रोतुं कवीनां वचनं न तेऽहीः सरस्वतीद्रोहिषु कोऽघिकार: ॥ १॥ अथवा गुरूणां पंचतयानां परमेष्ठिनां प्रसादादात्मा प्रभुलैम्यते । तेषां प्रसादं विना आत्मप्रभुनं प्राप्यत इत्यर्थः । यथा राजानं द्रष्टुकामः कद्दिन्त् पुमान् तत्सामन्तकादीन् पूर्वं पश्यति ते तु राजानं मेल्यन्ति, तानन्तरेण तत्र प्रवेष्टुमपि न लभ्यते इति कारणात् पूर्वं पंचदेवताः प्रसादनीया आत्मलाभमिष्छता योगिनेति भावार्थः ।

हुक्ले जज्जइ अप्पा अप्पा णाऊण भाषणा हुक्लं । भावियसहावपुरिसो विसएसु विरज्यए हुक्लं ॥६५॥

दुःखेन ज्ञायते आत्मा आत्मानं ज्ञात्वा भावना दुःखम् ।

भावितस्वभावपुरुषो विषयेषु विरज्यति दुःखम् ॥ ६५ ॥ (दुक्सं णज्बद्द अप्पा) दुःखेन महता कष्टेन तावदात्मा ज्ञायते वात्मास्तीति वृद्धिरुत्यस्रते । (अप्पा णाऊण भावणा दुक्सं) यद्यात्मास्तीति ज्ञातं तदा तस्मि-मात्मनि भावना वासनाऽइर्निज्ञचिन्तनं तद्गुणस्मरणादिकं दुःसं दुष्प्राप्यं भवति ।

गुणेषु, ये—जो गुणों में दोष बुद्धि से अन्धे हैं अर्थात् गुणों को दोष सिद्ध करते हैं और दोषों को गुण सिद्ध करने की सामर्थ्य रखते हैं वे कवियों के वचन सुनने के योग्य नहीं हैं। सरस्वती, झोहियों का अधिकार हो क्या है?

अथवा गुरु से पंच परमेष्ठियों का ग्रहण करना चाहिये। उन्हों के प्रसाद से आत्मा रूपो प्रभुका लाभ होता है अर्थात् उनके प्रसादके बिना बात्मा रूपी प्रभुकी प्राप्ति नहीं होती। जिस प्रकार राजाके दर्शनको इच्छा करने वाला कोई पुरुष पहले उनके सामन्त आदि से मिलता है क्योंकि दे उसे राजासे मिला देते हैं उनके बिना वहाँ प्रवेश भी प्राप्त नहीं होता इसलिये आत्मलाभ के इच्छुक मुनिको पहले पंचपरमेष्ठियों को प्रसन्त करना चाहिये ॥ ६४ ॥

वाथार्थ---प्रथम तो आत्मा दुःख से जानी जाती है, फिर जान कर उसकी भावना दुःख से होती है फिर आत्म स्वभाव की भावना करने बाला पूरुष दुःख से विषयों में विरक्त होता है ॥६५॥

विद्येवार्य-प्रथम तो 'मैं आत्मा हूँ' इस प्रकार की बुद्धि ही बड़े दुःख से उत्पन्न होती है तदनन्तर आत्मा हूँ इस प्रकार का ज्ञान भी यदि हो बाता है तो उस आत्मा की निरन्तर भावना करना-रातदिन उसो के

٧ł

(भावियसहावपुरिसो विसएसु विरच्चइ दुक्लं) भावितस्वभावः पुरुषः आत्मभाव-नासहितोऽपि सूरिः यद्विषयेषु वनिताजनस्तनजघनवदनलोचनादिविलोचने तद्वार्ता-लापगोष्ठीषु शरीर स्पर्शनादिमुखेषु विरज्यति तत्सुख हालाहलविषास्वदनवज्जा-नाति तदतीव दुःख दुष्करमीति तात्पर्यार्थः ।

ताव ण णज्जइ अप्पा विसएसु णरो पवट्टए जाम । विसए विरत्तचित्तो जोई जाणेड अप्पाणं ॥६६॥

तावत् न ज्ञायते आत्मा विषयेषु नरः प्रवतंते यावत् ।

विषये विरक्तचित्तः योगो जानाति आत्मानम् ॥ ६६ ॥

(ताव ण णज्जइ अप्पा) तावत्कालमात्मा न ज्ञायते। तावत्कियत् ? (विसएसु णरो पवट्टए जाम) यावत्कालं विषयेषु पूर्वोक्तलक्षणेषु नरो जोव: प्रवतंते व्याप्रियते। (विसए विरत्तचित्तो) विषये पूर्वोक्तलक्षणे विरक्तचित्तो तिवृत्तचेता यती। (जोई जाणेइ अप्पाणं) योगी ज्यानवान् पुमान् महामुनिरात्मानं जानाति प्रत्यक्षतया पश्यति।

अप्पा णाऊण णरा केई सब्भावभावपब्भट्टा । हिंडंति चाउरंगं विसएसु विमोहिया मूढा ॥६७॥

आत्मानं ज्ञात्वा नराः केचित्सद्भावत्रभ्रष्टाः । हिण्डन्ते चातुरङ्गं विषयेषु विमोहिता मूढाः ।। ६७ ॥

गुणोंका स्मरण आदि करना दुःख है-दुष्प्राप्य है तदनन्तर यदि आत्मा को भावना भी होती है तो स्त्री आदि विषयों से विरक्त होना दुःख है-दुष्प्राप्य है ॥ ६५ ॥

विशेषार्थ-तब तक आत्मा नहीं जानो जातो जब तक की मनुष्य विषयों में प्रवृत्त होता रहता है। यथार्थ में विषयों से विरक्त चित्त योगी ही अर्थात् महामुनि ही आत्माको जानता है ॥ ६६ ॥

गायार्थ—आत्माको जानकर मो कितने हो लोग सदभाव को भावना से—निजात्म भावना से अष्ट होकर विषयोंमें मोहित होते हुए चतुर्गति रूपी संसार में भटकते रहते हैं॥ ६७॥

(अप्पा णाऊण णरा) आत्मानं झाखा आत्मास्तीति सम्यग्विज्ञाय नरा वहिरात्सजीवाः । (केई सब्भावपब्भट्ठा) केचित् सद्भावप्रभ्रष्टाः केचित् विवक्षिताः सन् समोचिनो भाव: सद्भावः निजात्सभावना तस्मात्प्रभ्रष्टा निजशुद्धबुद्धं क-स्वभावात्मभावनाप्रच्युता विषयसुखदुर्भावनासु रता इत्यर्थः । (हिंडति चाउरंगं) हिण्डन्ते परिश्रमन्ति पर्यटनं कुर्वन्ति चाउरंगं----चतुरंगे भवं चातुरंगं चतुर्गति-संसारसंसरणं यथा भवत्येवं । (विसए सु विमोहिया मूढा) विषयेषु पंचेन्द्रियार्थेषु स्पर्शरसगन्धवर्णशब्देषु विमोहिता लोभं गताः, ते च विषया अनादिकाले जोवेना-स्वादिताः, आत्मोत्थस्वाधोनं सुखं कदाचिदपि न प्राप्ताः । तथा चोक्तं----

> अदूष्टं कि किमस्पृष्टं किमनाघातमघुतं। किमनास्वादितं येन पुननंदमिवेध्यते॥ १॥ भुक्तोज्झिता मुहुर्मोहान्मया सर्वेऽपि पुद्गलाः। उच्छिष्टेष्ठिवव तेष्वद्य मम विज्ञस्य का स्पृहा॥ २॥

वि ग्रयेषु विमोहिता ये ते मूढा अज्ञानिनो बहिरात्मन इत्यर्थः । तेन बहिरात्म-भावं गरित्यज्यात्मभावना कर्तव्या ।

विशेषार्थ—कितने हो बहिरात्मा जीव किसी तरह आत्मा को जान भो लेते हैं परन्तु शुद्ध-बुद्धेक स्वभाव आत्मा की भावना से अष्ट होकर पंत्रेन्द्रियों के स्पर्श रसगन्ध वर्ण और शब्द रूप विषयों में लुभा जाते हैं और उसके फल स्वरूप चतुरङ्ग-चतुर्गति रूप संसार में परिश्रमण करते रहते हैं। इस जीवने पञ्चेन्द्रियों के विषय अनादि कालसे प्राप्त किये परन्तु आत्मोत्थ स्वाधीन सुख कभी भी प्राप्त नहीं किया है। जैसा कि कहा है---

अब्ष्ट-इन विषयों में ऐसा कोन विषय है जिसे इस जीवने पहले न देशा हो, न छूआ हो, न सूँघा हो, न सुना हो, न चखा हो, जिससे कि बह नवोन के समान दिखाई देता है ॥ १॥

भक्तोजिक्तता---मेरे द्वारा सभी पुद्गल बार बार भोगकर छोड़े गये हैं फिर बाज मुझ ज्ञानी की जूँठन की तरह उन विषयों में मोह वश इच्छा करना क्या है ?

जो जीव विषयों में मोहित हैं वे मूढ़ हैं---अज्ञानी हैं, बहिरात्मा हैं, बतः बहिरात्मभाव को छोड़कर बात्म भावना करना चाहिये ॥ ६७ ॥

जे पुण विसयविरत्ता अप्पा णाऊण भावणासहिया । छंडंति चाउरंगं तवगुणजुत्ता ण संदेहो ॥६८॥

ये पुनः विषयविरक्ता आत्मानं ज्ञात्वा भावनासहिताः । त्यजन्ति चातुरङ्गं तपोगुणयुक्ता न सन्देहः ॥ ६८॥

(जे पुण विसयविरत्ता) ये पुनरासन्नभव्यजीवा विषयेभ्यो विरक्ताः पत्त-इ्मुखा विषयेषूत्पन्नविषयभावनाः। (अप्पा णाऊण भावणासहिया) आत्मानं ज्ञात्ता आत्मभावनासहिता भवन्ति । (छंडंति चाउरंगं) ते पुरुषास्त्यजन्ति, कि ? चातुरंगं संसारं । (तवगुणजुत्ता ण संदेहो) तप एव गुणस्तपोगुणस्तेन युक्ताः । अथवा तपो ढादशभेदं गुणा अष्टाविद्यतिमूं लगुणा उत्तरयुणाश्च बहुभेदास्तैयुक्ताः संसारं त्यजन्ति अत्र सन्देहो नास्ति संशयो न कर्तव्यः । उक्तं च गौतमेना महर्षिणा—

> वदसमिदिदियरोघो लोचानस्सयमचेलमण्हाणं । स्निदिसयणमदत्तवणं ठिदिमोयणमेगमत्तं च ।। १ ॥ एदे खलु मूलगुणा समणाणं जिणवरेहि पष्णता । एत्थ पमादकदादो अड्चारादो नियत्तो हं ।। २ ॥

गामार्थ-और जो विषयोंसे विरक्त होते हुए आत्मा. को जानकर उसकी भावना से सहित रहते हैं वे तप रूपी गुण अथवा तप और मूल्लगुणों से युक्त होकर चंतुरङ्ग संसार को छोड़ते हैं।। ६८.।

विशेषार्थ---जो निकट भव्य जीव विषयों को विषके समान देखते हुए उनसे विरक्त रहते हैं तथा आत्मा को जानकर सदा उसके शुद्ध-बुद्धेक स्वभाव की भावना रखते हैं वे तप रूप गुण अथवा बारह तप और अट्ठाईस मूलगुण तथा अनेक मेदोंसे युक्त उत्तर गुणों से साहत होते हुए चतुर्यति रूप संसार का त्याग करते हैं इसमें संशय नहीं है। जसा कि महर्षि गौतम ने कहा है----

वदसमिवदिंय—पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँच इन्द्रियदमन, केश-लोचन, छह आवश्योंका पालन, वस्त्र त्याग, स्नान त्याग और एकबार खड़े खड़े भोजन करना ये मुनियों के अट्ठाईस मूलगुण जिनेन्द्र भगवान् ने कहे हैं। इनमें प्रमादके कारण लगे हुए अतिचारों से मैं निवृत्त हुआ हूँ॥ ६८ ॥

588

स

भरमाणुपमाणं वा परदव्वे रदि हवेदि मोहादो । सो मूढो अण्णाणी आदसहावस्स विवरीदो ।।६९।।

परमाणुप्रमाणं वा परदव्ये रति भंवति मोहात् ।

मूढोऽज्ञानी आत्मस्वभावाद्विपरोतः ॥ ६९ ॥

(परमाणुपमाणं वा) परमाणुप्रमाणं वा। (परदव्ये रदि हवेदि मोहादो) परद्रव्ये रतिभर्वति मोहादज्ञानात् परमाणुमात्रापि रतिमॉहादज्ञानाद्भवति, किमुच्यते बव्ही रतिः ? महती रतिस्तु अज्ञानाद्भवत्थेव । (सो मूढो अण्णाणी) यस्य पर-द्रव्ये स्त्र्यादिविषये रतिभवंति स मुनिर्मू डः तस्यैव पर्यायोऽज्ञानीति । (वादसंहा-यस्स विवरीदो) स मुनिरात्मस्वभावाद्विपरीतः परद्रव्य रत् इत्युच्यते बहिरात्मा कय्यत इति भावार्यः । एवं ज्ञात्वा परमात्मानं परित्यज्य परद्रव्ये रतिनं कर्तंव्येति तात्पर्यार्थः ।

अष्पा झायंताणं दंसणसुद्धीण विढचरित्ताणं । होदि धुवं णिव्वाणं विसऐसु विरत्तचित्ताणं ॥७०॥

आत्मानं ध्यायतां दर्शनशुद्धोनां दृढचारित्राणाम् । भवति ध्रुवं निर्वाणं विषयेषु विरक्तचित्तानाम् ॥ ७० ॥

गायार्थ--जिसकी अज्ञान वश परद्रव्यमें परमाणु प्रमाण भी रति है वह मुद्ध है, अज्ञानी है और आत्मस्वभाव से विपरीत है ॥ ६९ ॥

विशेषार्थ---परद्रव्य विषयक रति अज्ञान के कारण होती है। जब कि परमाणु प्रमाण रति भी अज्ञान के कारण होती है तब अधिक रति तो अज्ञान से होती ही है। जिस साधु को स्त्री आदि परद्रव्य में रति है वह साधु मूढ है, उसोका दूसरा नाम अज्ञानी है, ऐसा साधु आत्मस्वभाव से विपरीत है। परद्रव्य में रत रहने वाला साधु बहिरात्मा कहा जाता है। ऐसा जान परमात्माको छोड़कर द्रव्यमें रति नहीं करना चाहिये।।६९।।

गायार्थ—जो आत्माका ध्यान करते हैं, जिनके सम्यग्दर्शन की शुद्धि विद्यमान है, जो दृढ़चारित्र के धारक हैं तथा जिनका चित्त विषयों से बिरक्त है ऐसे पुरुषों को निश्चित ही निर्वाण प्राप्त होता है ॥ ७० ॥

१. परमाणुमित्तयं पि हु रायादीणं तु विज्जदे जस्स । ण वि सो जाणदि अप्पाणयं तु सब्वागमघरोवि ॥२०१॥ अप्पाणमयाणंतो अणप्पयं चावि सो अयाणंतो । कह होदि सम्मदिट्ठी जीवाजीवे अयाणंतो ॥२०२॥

-समयसार

(अप्पा झायंताणं) आत्मानं व्यायता मुनोनां । (दसणसुद्धोण दिढचरिताणं) दर्श्वनस्य शुद्धिर्नेमंस्यं चलमलिनत्वरहितसम्यक्तवानां चर्मजल्छवृततैलभूतनाशनादि-परिहरतां श्वरीरमात्रदर्शनेन परगृहेषु कुतादिदो वरहिताशनमक्ततां दर्शनशुद्धिमतां, दृढचारित्राणां ब्रह्मचर्यप्रत्याख्यानादिदृढचारित्राणां । (होदि ध्रुवं णिव्धाणं) मवति ध्रुवमिति निरुचयेन निर्वाणं मोक्षो भवति । (विसऐसु विरत्तचित्तालं) विषयेषु इष्टवनितालिज्जनादिषु विरक्तचित्तानां विषयान् विषं मन्यमानानामिति संक्षेपताऽर्थो ज्ञान्त्र्यो ज्ञानीयो ज्ञेय इति ।

जेण रागे परे दब्वे ससारस्स हि कारणं। तेणावि जोइणो णिच्चं कुज्जा अप्पे सभावणा ॥७१॥ येन रागे परे द्रव्ये संसारस्य हि कारणम्।

तेनापि योगो नित्यं कुर्यादात्मनि स्वभावनाम् ॥ ७१ ॥

(जेण रागे परे दस्त्रे) वनितादिना पर्यायेण, रागे सति राग उत्थवते, परफीये द्रब्ये आत्मनो भिन्ने वस्तुनि । (संसारस्स हि कारणं) स रागः कयंभूतः, संसारस्य भवञ्चमणस्य, हि निश्चयेन, कारणं हेतुः । (तेणावि) न केवलं आत्मनि धात्मभावनां कुर्यात् किन्तु तेनापोष्ट वनितादिना । (जोइणो) योगी । (णिच्च)

गाथार्थ—जिस स्त्री आदि पर्याय से परद्रव्य में राग होनेपर वह राग संसारका कारण होता है योगी उसी पर्यायसे निरन्तर आत्मा में आत्मा भावना करता है ॥ ७१ ॥

 नित्यं-सर्वकालं । (अप्पे) आत्मनि । (सभावणा कुज्जा) स्वभावनां आत्मभावनां कुर्यात् । कथमिति चेत् ? इयमिष्टवमिता अनन्तकेवलज्ञानमयी वर्तते यथा ममात्मा-नन्तकेवलज्ञानमयो वर्तते । इयमहं च द्वावपि केवलज्ञानिनौ वर्तावहे । तेन इयम-प्यात्मा ममेति को नाम पृथ्यवतंते येन सह स्नेहं करोमि । तथा चोपनिषद—

> यस्मिन् सर्वाणि भूतामि आत्मैवाभूद्विजानतः । तत्र को मोहः कश्शोक एतत्वमनुपश्यतः ॥ १ ॥

णिदाए य पसंसाए दुक्खे य सुहएसु य । सत्तूणं चेव वंधूणं चारित्तं समभावदो ॥७२॥ निन्दायां च प्रशंसायां दुःखे च सुखेषु च । शत्रूणां चैव बन्धूनां चारित्रं समभावतः ॥७२॥

(णिंदाए य पसंसाए) निन्दायां प्रशंसायां च समभावतत्त्रचारित्रं भवतोति सम्बन्धः । (दुक्से य सुहुएसु य) दुखे च सुखके च समागतेष्वित्युपस्कारः । (सत्तूणं चेद बंधूण) कात्रुणां चैव बन्धूनां समायोगे इत्युपस्कारः । (चारित्तं

उसके संसार की वृद्धि होती है परन्तु योगो-ज्ञानी मनुष्य स्त्री को देखकर विचार करता है कि जिस प्रकार मेरी आत्मा अनन्त केवल ज्ञानमय है जसी प्रकार इस स्त्री की आत्मा भी अनन्त केवल ज्ञानमयी है। यह स्त्री और मैं-दोनों ही केवल ज्ञानमय हैं। इस कारण यह स्त्री भी मेरी आत्मा है मुझसे पृथक् इसमें है ही क्या ? जिससे स्नेह करूँ। उपनिषद् में भी ऐसा कहा है---

यस्मिन्—जिस एकत्व के प्राप्त होनेपर ज्ञानी जीवके समस्त भूत आत्मस्यरूप ही होजाते हैं उस एकत्व भावको में प्राप्त हो चुका हूँ अत: मुझे मोह क्या है ? और शोक क्या है [?] अर्थात् एकत्व के प्राप्त होनेपर आत्मा के राम और द्वेष दोनों नब्ट हो जाते हैं।

[पं० जयचन्द्र जो ने अपनी वचनिका में "जेणरागो परे दव्वे" ऐसा पाठ स्वीकृत कर यह अर्थ प्रकट किया है-चुँकि पर द्रव्य सम्बन्धी राग संसारका कारण है इस लिये थोगी को निरन्तर आत्मा में ही आत्म मावना करना चाहिये। परन्तु इस अर्थ में 'तेणावि-तेनापि' यहाँ तेन धब्दके साथ दिये हुए अपि शब्दकी निरथंकता सिद्ध होती है।]

गावार्थ—निन्दा और प्रशंसा, दुःख और सुख तथा शत्रु और मित्र बें समयाथ से ही चारित्र होता है ॥७२॥ समभावदो) समभावतः समतापरिणामे सति चारित्रं भवतोति निर्विकल्पसमाधि-रूपं ययाख्यातं चारित्रं भवतीति भावार्थः ।

चरियावरिया वदसमिदिवज्जिया सुद्धभावपब्भट्टा । केई जंपंति णरा ण हु कालो झाणजोयस्स ॥७३॥ चर्यावरिका अतसमितिवर्जिता शुद्धभावप्रभ्रष्टाः ।

केचित् जल्पन्ति नराः न हि कालों ध्यानयोगस्य ॥७३॥ (चरियावरिया) चर्यायाध्चारित्रस्य आवरिका आवरणं येषां ते चर्यावरिकाः चारित्रमोहनोयकर्मयुक्ताः (वदसमिदिवज्जिया) व्रतसमितिवर्जिता व्रतरहिताः समितिहीनाध्च। (सुद्धभावपब्भट्टा) शुद्धभावप्रभ्रष्टा रागद्वेष मोहादिभिः परि-णामैः कश्मलीकृता आत्मध्यानहीनाः । (केई जंपति णरा) केषिद्वहिरात्मानो नराः पुरुषा जर्ल्पन्ति द्रुवन्ति । कि जल्पन्ति ? (ण टु कालो झाणजोयस्स)

विशेषार्य—मोह अर्थात् मिथ्यात्व और क्षोभ अर्थात् रागढेष के अमाव को समभाव कहते हैं। इस समभाव के प्रकट होनेपर मुनिके इष्ट अनिष्ट पदार्थोंके मिलने पर हर्ष विषाद उत्पन्न नहीं होतां यही भाव हृदयंगत कर आचार्य महाराज कहते हैं कि निन्दा और प्रधंसा में सम-भाव रखने से चारित्र होता है, दु:ख और सुख के प्राप्त होनेपर समभाव रखने से चारित्र होता है, दु:ख और सुख के प्राप्त होनेपर समभाव रखने से चारित्र होता है। यहां चारित्र पद से निर्विकल्प समाधि रूप यथास्थान चारित्र का ब्रहण करना चाहिये ॥ अ२॥

आगे कोई कहते हैं कि यह घ्यानके योग्य समय नहीं है सो इसका निराकरण करते हैं----

गाथार्थ---जो चारित्र को आवरण करने वाले चारित्रमोहनोय कमें से युक्त हैं, व्रत और समिति से रहित हैं तथा शुद्धस्वभाव से च्युत हैं ऐसे कितने ही मनुष्य कहते हैं कि यह ध्यान रूप योग का समय नहीं है अर्थात् इस समय ध्यान नहीं हो सकता ।७३॥

विशेषार्थ----योग के आठ अङ्ग हैं--यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, घ्यान और समाधि । इन आठ अङ्गों में से घ्यान योग का सातवाँ अङ्ग है । कुछ लोग कहते हैं कि .यह पञ्चम काल ध्यान के योग्य नहीं है अर्थात् इस समय ध्यान नहीं हो सकता है ! परन्तु ऐसा कहने वाले हैं कौन ? जो चारित्र मोहनोय कर्मके उदयसे युक्त हैं, जो दती और समितियों से रहित हैं, तया जो राग, द्वेष और मोह रूप परिणाम घ्यानयोगस्य अष्टाङ्गयोगमध्ये सप्तमो योगो घ्यानयोगस्तस्य कालोऽवसरो न वर्तते । कर्य ? हि---स्फुटं । के ते अघ्टाङ्गयोगाः----

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारघारणाभ्यानसमाषयः । इति ।

सम्मत्तणाणरहिओ अभव्यजीवो हु मोक्खपरिमुक्को । संसारसूहे सुरदो ण ह कालो भणइ झाणस्स ॥७४॥

सम्यक्त्वज्ञानरहितः अभव्यजीवो हि मोक्षपरिमुक्तः । संसारसुखे सूरतः न हि कालो भणति ष्यानस्य ॥७४॥

(सम्मत्तणाणरहित्रो) सम्यक्त्वरहितो मिम्यादृष्टिः, ज्ञानरहितोऽझानो मूढ-जीवो बहिरात्मा । (अभव्यजीवो हु मोक्खपरिमुक्को) अभव्यजीवो रत्नत्रयस्या-योग्यो लौकादिको मोक्षपरिमुक्तः तस्य कदाष्टिद्यपि कमैयो न भविष्यति स न सेस्स्यति कंकटूकमुद्दगवत् । (संसारसुहे सुरदो) संसारसुखे वनितायोनिमथनसुखे, सुरतः सुष्ठु अतिशयेन रतः तत्परः । (ण हू कालो मणइ झाणस्स) एव दोषदुष्टो भणति दूते, कि भणति ? ज्यानस्य कालो न भवति । कथ ? हु-स्पूटं ।

से कलुषित होनेके कारण शुद्धभाव से झ्रष्ट हैं—आत्मध्यान से विमुख हैं । ऐसे जोव अपनी पुरुषार्थ हीनता को छिपाने के लिये कहते हैं कि यह ष्यान के योग्य समय नहीं है ।।७४।।

आगे और भी इसी बातको स्पष्ट करते हैं---

गायार्थ—जो सम्यक्त्व तथा सम्यग्ज्ञान से रहित है, जिसे कभी मोक्ष होना नहीं है, तथा जो संसार सम्बन्धो सुख में अत्यन्त रत है ऐसा अभव्य जोव ही कहता है कि यह ध्यान का समय नहीं है अर्थात् इस समय ध्यान नहीं हो सकता ॥७४॥

विद्योवार्थ—मोक्ष की योग्यता से रहित, संसार सुख में आसकत मिथ्यादृष्टि पूर्व मिध्याज्ञानी अभव्य जीव ही ऐसा कहते हैं कि यह ध्यान का काल नहीं है-इस समय ध्यान नहीं हो सकता परन्तु सम्यग्दृष्टि, सम्यग्ज्ञानी, मोक्ष प्राप्ति को योग्यता रखने वाले और संसार सुख से विरक्त रहने वाले पुरुष ऐसा नहीं कहते कि यह ध्यान का काल नहीं है। पंचसु महव्वदेसु य पंचसु समिबीसु तीसु गुत्तीसु । जो मूढो अण्गाणी ण हु कालो भणई झाणस्स ॥७५॥ पञ्चसु महाव्रतेसु य पञ्चसु समितिषु तिसृषु गुप्तिषु । यो मुढः अज्ञानी न हि कालो भणति ध्यानस्य ॥७५॥

गायार्थ-जो पाँच महावतों, पाँच समितियों तथा तीन गुप्तियों के विषय में मूढ है तथा अज्ञानी है वही कहता है कि यह ध्यान का काल नहीं है अर्थात् इस समय ध्यान नहीं हो सकता ॥७५॥

विशेषार्थ- हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह इन पाँच पापोंका सर्वथा त्याग करना महाव्रत है। ये अहिंसा महाव्रत आदिके भेदसे पाँच हैं जो इन पाँचों महाव्रतों में मूढ है अर्थात् अत्यन्त बलवान् चारित्र मोहके उदय से जो महाव्रत धारण करने में असमर्थ है। चकार से यह भी सूचित होता है कि जो अणुवतों का भी पालन नहीं करता है, रात्रिभोजन के त्यागका जिसके नियम नहीं है तथा चमड़े के पात्र में रखे हुए जल, घी, तैल और होंग के खाने से जो आसक्त है। चार हाथ प्रमाण मार्ग देखकर चलना ईर्यासमिति है, आगम के अविघद्ध वचन बोलना भाषासमिति है, पूर्वाक्त छयालीस दोषोंसे रहित आहार ग्रहण करना एषणासमिति है, ज्ञान तथा शौच के उपकरणों को पहले देखकर पीछे मयूर को पिछो से परिमार्जन कर उठाना रखना आदाननिक्षेपण समिति है, तथा मलमूत्रादि का लोकसे अविघ्र्द्ध एवं जीव रहित स्थान में छोड़ना प्रतिष्ठापनसमिति है। जो इन पाँचों समितियों में मूढ है अर्थात् विवेक से शून्य है तथा जो मनोगुप्ति वचनगुप्ति और कायगुप्ति के पालन करने में मूढ है साथ ही अज्ञानी अर्थात् जिनागम से बहिमू त है वही ऐसा कहता है कि यह

१. स्वादन मठः म० ।

पणासमितिः, प्रतिष्ठापनासमितिः — मलमूत्रशरीरादिकस्याविरुद्धनिर्जन्तुप्रदेशे विस-र्जनं एतासु पंचसु समितिपु यो मूढो निवित्रेतः । तिसृषु गुप्तिषु मनोगृप्तिवाग्पप्ति-कायगुप्तिषु । (जो मूढो अण्णाणी) यः पुमान् मूढा निविवेकोऽज्ञानी जिनसूत्रवहि-भूंतः । (ण हु कालो भणइ झाणस्स)न विद्यते हु----स्फुटं, कोऽसौ ? कालोऽवसरः, ध्यानस्य सप्तमयोगस्य, एवं भणति वृते ।

भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेइ साहुस्स । तं अप्पसहावठिदे ण हु मण्णइ सो वि अण्णाणी ॥७६॥

भरते दुःषमकाले धर्म्यध्यानं भवति साधोः । तदात्मस्वभावस्थिते न हि मन्यते सोऽपि अज्ञानी ॥७६॥

(भरहे दुस्समकाले) भरहे — भरतक्षेत्रे भारतवर्षे, दुःषमे काले पंचमकाले कलिकालापरनाम्नि काले । (ं वम्मज्झाणं हवेइ साहुस्स) धर्मध्यानं भवति साघो-दिगम्बरस्य मुनेः । (तं अप्पसहावठिदे) तद्धर्मध्यानं आत्मस्वभावस्थिते आत्म-भावनातन्मये मुनी भवति । (ण हु मण्णइ सो वि अण्णाणी) न मम्यते नाङ्गी-करोति सोऽपि पुमान् पापीयान् अज्ञानी जिनसूत्रवाह्यः ।

घ्यान का समय नहीं है । इसके विवरीत जो पांच महाव्रत, पांच समिति तथा तीन गुष्तियोंका पालन करने वाला और जिनागमका पाठी–सम्य-ग्जानी है वह ऐसा नहीं कहता कि यह घ्यानका समय नहीं है ॥७५॥

गायार्थ—भरत क्षेत्रमें दुःषमनामक पञ्च्यम काल में मुनि के धर्म्य-ध्यान होता है तथा वह धर्म्यध्यान आत्म स्वभाव में स्थित साघु के होता है ऐसा जो नहीं मानता वह अज्ञानो है ॥७६॥

विशेषार्थ—भरत क्षेत्र में कम कम से उत्सर्पणो और अपसर्पणो के छह कालों का परिवर्तन होता रहता है। इस समय यहाँ दुःषमा नामका अपसर्पिणो का पांचवां काल चल रहा है। यह ठोक है कि इस समय यहाँ मोक्षमार्ग का प्रचलन नहीं है अर्थात् इस काल का उत्पन्न हुआ मनुष्य मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता तथापि धर्म्यध्यान का निषेध नहीं है जो मुनि इस समय की आत्म भावना से तन्मय है उसे धर्म्यध्यान हो सकता है ऐसा जो नहीं मानता है वह पुरुष पापो, अज्ञानी तथा जिनागम के ज्ञान से रहित है ॥७६॥

अज्ज वि तिरयणसुद्धा अप्पा झाएवि लहहि इंदत्तं । लोयंतियदेवत्तं तत्थ चुआ णिव्वुर्धि जंति ॥७७॥

अद्यापि त्रिरत्नशुद्धा आत्मानं ध्यात्वा लभन्ते इन्द्रत्वम् । लौकान्तिकदेवत्वं ततः च्युत्वा निर्वाणं यान्ति ॥७७॥

(अञ्च वि तिरयणसुद्धा) अद्यापि पंचमकालोत्पन्नाः समनस्काः पंचेन्द्रिया उत्तमकुलादिसामग्रीप्राप्ता वैराग्येण गृहीतदीक्षास्तितरत्नगुद्धाः सम्यक्त्वज्ञानचारित्र-निर्मला वर्तन्त एव, ये कथयन्ति महाव्रतिनो न विद्यन्ते ते नास्तिका जिनसूत्रवाद्या ते ज्ञातव्याः आसन्न भव्याः कि कुर्वन्ति ? (अप्पा झाएवि लहहि इंदर्स) आत्मानं व्यात्वा भावयित्वा लभन्ते इन्द्रस्वं शक्रपदं । न केवलमिन्द्रस्वं लभन्ते, (लोयंतिय-देवस्तं) केचिदल्पश्रुता अपि साधव आत्मभावनावलेन लौकान्तिकत्वं लभन्ते पंचम-स्वर्गस्यान्ते पर्यन्तप्रदेशेषु तेषां विमानानि सन्ति, तत्र भवा लौकान्तिकाः सुरमुन-यश्च कथ्यन्ते, ते स्वर्गे स्थिता अपि ब्रह्मचर्यं प्रतिपाल्यन्ति --स्त्रीरहिता भवन्ति, तोर्थंकरसम्बोधनकाले मत्यंलोकमागण्छन्ति अथवा स्वस्वानमेवावतिष्ठन्ते ।

गावार्य-आज भी रत्नत्रयसे शुद्धता को प्राप्त हुए मनुष्य आत्मा का ध्यान कर इन्द्र पद तथा लौकान्तिक देवोंके पदको प्राप्त होते हैं और वहाँ से च्युत होकर निर्वाणको प्राप्त होते हैं ॥७७॥

विशेषार्थ—आज भो पञ्चम काल में उत्पन्न सैनी पञ्चेन्द्रिय जीव उत्तम कुल आदि सामग्री को प्राप्त होकर वैराग्य वश दीक्षा घारण करते हैं तथा रत्नत्रय से शुद्ध रहते हैं अर्थात् निर्दोष सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान ओर सम्यक्**चारित्र के घारक रहते हो हैं। जो कहते हैं कि इस समय** महाव्रती नहीं हैं वे नास्तिक हैं उन्हें जिनशासन से बाह्य जानना पाहिये। रत्नत्रय की शुद्धता को प्राप्त हुए निकट भव्य जीव आज भो इस समय कालके समय भी इन्द्रपद को प्राप्त होते हैं। न केवल इन्द्रत्व पदको ही प्राप्त होते हैं किन्तु कितने हो मुनि अल्पश्रुत के ज्ञाता होकर भी आत्म भावना के बल से लौकान्तिक देवोंका पद प्राप्त करते हैं। पञ्चम स्वर्ग के अन्त में अन्तिम प्रदेशों में लौकान्तिक देवों के विमान हैं उनमें उत्पन्न होने से वे लौकान्तिक कहलाते हैं इन्हें सुरमुनि—देवर्षि भो कहते हैं वे स्वर्ग में स्थित रहते हुए भी ब्रह्यवर्य का पालन करते हैं---स्त्री से रहित होते हैं और तोर्थंकरों को सम्बोधने के समय मनुष्य लोक में आते हैं अन्यथा बपने स्थान में ही स्थित रहते हैं। चतुर्ल्साः सहस्राणि सप्त चैव शताष्टकं । विद्यतिर्मेल्तिता एते बुधैर्लौकान्तिका मताः ॥ १ ॥

"सारस्वत्यादित्यवन्ह्यरूणगर्दतीयतुषिताव्याबाधारिष्टाश्च" इति तेषा अष्टौ जातयः । तथा तेषां षोडशजातयस्य वर्तन्ते । सारस्वतादित्यान्तरे अग्व्याभसू-र्याभाः । आदित्यवन्हिमध्ये चन्द्राभसत्याभाः । वन्ह्यरुणान्तरे श्रेयस्करक्षेयंकराः । अरुणगर्दतीयमध्य वृषभोष्ट्रकामचराः । गर्दतीयतुषितान्तरे निर्वाणरजोदिगन्तर-क्षिताः । तुषिताव्यावाधमध्ये आत्मरक्षितसर्वरक्षिताः । अव्याबाधारिष्टान्तरे मरू-द्वसवः । अरिष्टसारस्वतान्तरे अश्वविश्वाः । (तत्य चुआ णिव्युदि जंति) तत्मा-च्च्युता निर्वृति निर्वाणं यान्ति गच्छन्ति सर्वेऽपि पूर्वधारिण एकं गर्भवासं गृहोत्वाः मोक्षं प्राप्नुवन्ति ।

जे पावमोहियमई लिंगं घेत्तूण जिणवरिंदाणं । पावं कूणंति पावा ते चत्ता मोक्खमग्गम्मि ॥७८॥

ये पापमोहितमतयः लिङ्गं गृहोत्वा जिनवरेन्द्राणास् । पापं कुर्वन्ति पापाः ते त्यक्ता मोक्षमार्गे ॥७८ ॥

चतुरुरुंसा -- विद्वानों ने समस्त लोकान्तिक देवोंका प्रमाण चार लाख सात हजार आठसो बीस माना है। ''सारस्वतादित्यवन्ह्यरुणगर्वतोय तुषिताव्याबाधारिष्टाइच'' तत्वार्थसूत्रके इस सूत्रमें उनकी आठ जातियाँ बतलाई गई हैं। अथवा उनकी सोलह जातियां भी होती हैं। सारस्वत और आदित्य के मध्य में अग्न्याभ और सूर्याभ रहते हैं। आदित्य और वह्तिके मध्यमें चन्द्रमा तथा सत्याभमें रहते हैं। वह्ति और अरुणके बीच में श्रेय-स्कर तथा क्षेमंकर रहते हैं। अरुण और गर्वतोय के मध्य में वृषभोष्ट्र और कामचर रहते हैं। अरुण और जुषित के बीचमें निर्वाणरज और दिगन्त रक्षित रहते हैं। गर्वतोय और तुषित के बीचमें निर्वाणरज और दिगन्त रक्षित रहते हैं। जव्याबाध और अरिण्ट के मध्य में आत्म रक्षित और सर्व रक्षित रहते हैं। अरुण और अव्यावाध के मध्य में आत्म रक्षित और सर्व रक्षित रहते हैं। अरुण और अव्यावाध के मध्य में आत्म रक्षित और सर्व रक्षित रहते हैं। अव्याबाध और अरिण्ट के मध्य में आत्म रक्षित और सर्व दक्षित रहते हैं। अव्याबाध और अरिण्ट के मध्य में आत्म रक्षित और सर्व दक्षित रहते हैं। अव्याबाध और अरिण्ट के मध्य में मरुद् तथा वसु रहते हैं। तथा अरिष्ट और सार स्वत के मध्यमें अश्व और विश्व रहते हैं। ये लौकान्तिक देव वहाँ से च्युत होकर नियम से निर्वाण को प्राप्त होते हैं। सभी पूर्वके धारी होते हैं और एक गर्भवास ग्रहण कर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।

भावार्थ-जो पाप से मोहित बुद्धि मनुष्य, जिनेम्द्र देवका लिङ्ग. धारण कर पाप करते हैं वे पापी मोक्ष भार्ग से पतित हैं ॥७८॥ (जे पावमोहियमई) ये मुनयः पापमोहितमतयः पापेन ब्रह्मचयंश्रंगप्रत्था-स्थानमंजनादिना मोहिता लोम प्रापिताः पापमोहितमतयः। (लिंग चेत्तूण जिण-वरिदाणं) लिंग चिन्हं मुद्रां नग्नत्वं वस्त्रमात्रोपेतसुल्लकत्वं च चक्रवर्तिलिंगं, घेत्तूण गृहीत्वा घृत्वा, जिनवरेन्द्राणां तोयंकरपरमदेवानां। (पावं कुर्णति पावा) पापं ब्रह्मचयंश्रंगादिकं कुर्वन्तिपापानिपापमूर्तयः पापरूपाः। (ते चत्ता मोक्समग्गम्मि) ते जिनलिंगोपजोविनः त्यक्ताः पतिता मोक्षमार्गादित्यर्थः। उक्तं च---

> अर्ग्यालगकृतं पापं जिनलिंगेन मुच्यते । जिनलिंगकृतं पापं वज्यलेपो भविष्यति ॥१॥

जे पंचचेलसत्ता गंथागाहीय जायणासीला । आघाकम्मम्मि रया ते चत्ता मोक्खमगगम्मि ॥७९॥

ये पञ्चचचेलसक्ताः ग्रन्थग्राहिणः याचनशीलाः । अधःकर्मणि रताः ते त्यक्ताः मोक्षमार्गे ॥७९॥

(जे पंचचेलसत्ता) ये मुनयः पंचचेलसक्ताः पंचवित्रवस्त्रलंपटा बंडज-वुंडज--वल्कज--चर्मज-रोमजपंचप्रकारवस्त्रेध्वन्यतमं वस्त्रप्रकारं परिदधत्युपदधति च । (गंधग्गाहीय जायणासीला) ग्रन्थग्राहिणो रिक्थस्वोकारिणः, याचनाक्षीलाः

विशेषार्थ---जो ब्रह्मचर्य भग तथा प्रस्याख्यान भग आदि पापोंसे मोहित बुद्धि होकर जिनेन्द्र देवका लिङ्ग अर्थात् नग्न दिगम्बर मुद्रा और चक्रवर्ती का पद अर्थात् वस्त्रमात्र परिग्रह के धारक क्षुल्लक का पद ग्रहण् करके भी पाप करते हैं ब्रह्मचर्य भङ्ग आदि पाप कर बैठते हैं वे पापी हैं तथा मोक्षमार्ग से पतित हैं। जैसा कि कहा है---

अन्यलिङ्ग—अन्य लिङ्ग्रसे किया पाप जिनलिङ्ग से छूटता है और जिनलिङ्ग के द्वारा किया तुआ पाप वच्चलेप होता है ॥७८॥

गावार्थ — जो पाँच प्रकार के वस्त्रों में आसक्त हैं, परिग्रह को ग्रहण करने वाले हैं, याचना करते हैं तथा अद्यः कर्म-निन्द्य कर्म में रत हैं वे मनि मोक्षमार्ग से पतित हैं।

विशेषार्थ—अण्डज, बुण्डज, दल्कज, चर्मज और सोमज के मेदसे बस्त्रके पांच भेद हैं। जो मुनि इन पांच प्रकार के बस्त्रों में से किसी एक बस्त्र में आसक्त हैं, किसी काज से धन स्वीकृत करते हैं, याचना करना जिनका स्वभाव पङ्गया है और जो अधः कर्म में निन्चकर्म में रत हैं वे स्वभावेन याञ्चापरा जिनमुढां प्रदर्श्यं घनं थाचन्ते मातरं प्रदर्श्यं भाटीं गृहणति तत्समानाः । (आधाकम्मम्मि रया) आधाकर्मणि अधःकर्मणि निन्दाकर्मणि उपविश्य भोजनं कारयित्वा भुंजते ये तेऽधःकर्मरता इत्युच्यन्ते । (ते चत्ता मोक्ख-मग्गस्मि) ते मुनयस्त्यक्ताः पतिता मोक्षमार्गीदिति भावार्यः ।

निग्गंथ मोहमुक्का बावीसपहरीसहा जियकसाया । पावारंभविमुक्का ते गहिया मोक्खमग्गम्मि ॥८०॥

निर्ग्रन्थ मोहमुक्ता द्वाविंशतिपरीषहा जितकषायाः । पापारम्भविमुक्ताः ते गृहोता मोक्षमार्गे ॥८०॥

(निग्गंथ) निग्रंन्थाः परिप्रहरहिताः (मोहभुक्का) मोहमुक्ताः पुत्रमित्रकलत्रादिस्तेहरहिताः। (बावीहपरीसहा) द्वाविंशतिपरीषहा द्वाविंशति-परीषहसहनशीलाः। (जियकसाया)क्रोषमानमायालोभकषायरहिताः। (पावा-रंगविमुक्का) पापारभभ्यो विमुक्ता रहिता हिंसादिपंचपातकविहीनाः सेवाकृषि-बाणिज्यादिप्राणातिपातहेतुभूतारम्भरहिताः। (ते गहिया मोक्खमग्गाम्म) ते बूहीता अञ्जीकृता, मोक्षमार्गे रत्नवर्यलक्षणे ।

मुनि मोक्षमार्ग से त्यक्त हैं छूटे हुए हैं अर्थात् पतित हैं। जो मुनि जिन मुद्राको दिखाकर धन की याचना करते हैं वे माता को दिखा कर भाड़ा ब्रहण करने वालों के समान हैं। ७९।।

गायार्थ—जो परिग्रह से रहित हैं पुत्र मित्र स्त्री आदि के स्तेह से रहित हैं, बाईस परीषहों को सहन करने वाले हैं, कषायों को जीतने बाले हैं तथा पाप और आरम्भ से दूर हैं वे मोक्षमार्ग में अङ्गीकृत हैं।

विशेषार्थ—जो निग्नेंन्थ हैं अर्थात् परिग्रह से रहित हैं, मोहमुक्त हैं अर्थात् पुत्र मित्र तथा स्त्री आदि के स्तेह से रहित हैं, जिन परीषह हैं अर्थात् क्षुषा तृषा आदि बाईस परोषहों को सहन करने वाले हैं, जिन-कषाय हैं अर्थात् क्रोध, मान, माया, लोभ, कषाय को जीतने वाले हैं और पापारम्म विमुक्त हैं अर्थात् हिंसादि पापों और सेवा ऊृषि आदि आरम्भों से रहित हैं वे मोक्षमार्ग में गृहीत हैं अर्थात् उन्हें मोक्षमार्ग में प्रविष्ट माना गया है।।/•।!

દ્ધષ

षट्प्राभृते

उद्धद्वमज्सलोए केई मज्झं ण अहयमेगागी । इय भावणाए जोई पावंति हु सासयं सोक्खं ॥८१॥ ऊर्ध्वाधोमध्यलोके केचित् सम न अहकमेकाकी।

इति भावनया योगितः प्राप्नुबन्ति हि शाश्वतं सौख्यम् ॥८१॥ (उद्धद्वमज्झलोए) ऊर्ध्वलोके प्रोछोके मघ्यलोके । (केई मज्झ ण अहय-मेगागी) केचिज्जीवा मम न वर्तन्ते, अहकं अहं एकाकी एक एव वर्ते । (इय भावणाए जोई) इति भावनया योगिनो मुनयः । (पावंतिहु सासयं सोक्खं) प्राप्नुवन्ति लभन्ते हु — स्फुटं शाख्वतं सौक्यं अविनध्वरं परमनिर्वाणमुखं । ठाण इति पाठे शाख्वतं अविनध्वरं स्थानं मोक्षं प्राप्नुवन्तीति सम्बन्धः ।

देवगुरूणं भत्ता णिव्वेयपरंपरा विचितंता । झाणरया सुचरित्ता ते गहिया मोक्खमगगम्मि ॥८२॥ देवगुरूणां भक्ताः निर्वेदपरम्परां विचिन्तयन्तः ।

ध्यानरताः सुचरित्राः ते गृहीता मोक्षमार्गे ॥८२॥

(देवगुरूणं भत्ता) देवानामष्टादशदोषरहितानामिन्द्रादिपूजितानां पंचकस्याण-प्राप्तानां अष्टमहाप्रातिहार्यशोभितानां संसारसमुद्रनिस्तारकाणां भव्यकमरूवोध-मार्तण्डानामित्याद्यनन्तगुणगरिष्ठानामहंद्देवानां तया गुरूणां निग्रं न्याचार्यवर्याणां

गायार्थ---'ऊर्घ्व मध्य और अघोलोक में कोई जीव मेरे नहीं है मैं अकेला ही हूँ' इस प्रकार की भावना से योगी शाख्वत-अविनाशी सुखको प्राप्त होते हैं॥८१॥

गाबार्थ---जो देव और गुरुके भक्त हैं, वैराग्य की परम्पराका विचार करते रहते हैं, ध्यान में तत्पर रहते हैं तथा क्षोभन-निर्दोष आचार का पालन करते हैं वे मोक्षमार्ग में अङ्गोक्कत हैं ॥८२॥

विशेषार्थं---जो अठारह दोषों से रहित, इन्द्रादि के द्वारा पूजित, पञ्चकल्याणका को प्राप्त आठ महाप्रातिहायों से शोभित संसार समुद्र से पार करनेवाले, भव्य रूपी कमलों को विकसित करने के लिये सूर्य दवा -६.८२]

सास्त्रसमुद्रपारगाणां सम्मग्दर्शनज्ञानमारित्रपवित्रगात्राणां स्त्रीविवर्जितामां विवा-हादिपापारम्भविवर्जितानां क्षत्रद्विजवैश्यअश्ववृषभगजवकँरादिजीवानाममारकाणां मधुलिप्तं वनिताभगानास्वादकारुं सौत्रामणिमद्यानामपायकानां गोवधं कृत्वा संवत्सरे मातृभगिन्यादिभोगालम्पटानां भव्यजीवसंबोघने मातृपितृत्रृद्धितोपदेशकानां पापघटाग्राहकाणां, कृष्यादिसावद्यकर्मरहितानां प्रासुकपरगृहयोग्यभोजनभोजकानां अवणंठोपकानामसुष्टिछण्टभुक्तिग्रहणमार्गाणां इत्यादिगुणगणगरिष्ठानां जगदि-ध्वानां गुरूणां ये भक्ताः पाचपंकजमघुलिहः देवगुरूणां भक्ता इत्युच्यन्ते (णिध्वे-यपरंपरा विचितंता) निर्वेदः संसारशरीरभोगविरागता तस्य परंपरा नानाविघो-पदेशस्तां विद्योषेण चिन्तयन्तः पर्यालोचयन्तः नरकादिगतिगर्तपातिपातकमयभीत-यूर्तयः । (झाणरया सुचरित्ता) व्याने घम्यंशुक्लघ्यानद्वये रतास्तत्पराः, सुभारित्राः शोभनाचाराः । (ते गहिया मोक्समग्यम्मि) ते भव्यवरपुण्डरीका गृहीतः अञ्झीकृता मोक्षमार्ग इति ।

इन्हें बादि लेकर अनन्त गुणोंसे अतिशय श्रेष्ठ अर्हन्त देवका और निग्नंन्थ आचार्यों में श्रेष्ठ, शास्त्र समुद्र के पारगामी, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यकचारित्रसे पवित्र शरीर, स्त्री से रहित, विवाह आदि पापके आरंगों से रहित क्षत्रिय, ब्राह्मण और वैथ्य, घोड़ा, बैल, हाथी तथा बकरा आदि जीवों को नहीं मारने वाले, मधुसे लिप्त स्त्री के भगका स्वाद नहीं लेने-वाले. सौत्रामणि नामक यज्ञ में मदिरा को नहीं पीने वाले, गोवध करके संवत्सर नामक यज्ञ में माता बहिन आदि के भोग में अलम्पट, भव्य-बीवों के संबोधन करने में माता पिता के समान हितका उपदेश देनेवाले. पाप समह को ग्रहण नहीं करने वाले, खेती आदि पाप कार्यों से रहित. इसरों के घरमें योग्य प्रासक आहार का भोजन करने वाले, ब्राह्मणादि . वर्णोंका लोप नहीं करने वाले, जुँठे भोजन को ग्रहण करने के मार्ग से रहित, इत्यादि गुणोंके समूह से अेष्ठ तथा जगत् के लिये इष्ट गुरुओं के भक्त हैं--- उनके चरण कमलों में अमर बनकर रहते हैं जो संसार गरीर और भोगों से विरागता रूप निर्वेद की परम्परा का विशेष रूप से विचार करते हैं, जो नरकादि गति रूप गर्त में गिराने वाले पार्पों से भयभीत रहते हैं, धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान में तत्पर रहते हैं तया सुचारित्र हैं अर्थात् निर्दोष आचार का पालन करते हैं वे श्रेष्ठ बन्ध जीव मोक्षमार्ग में अज्जीकृत हैं अर्थात मोक्षमार्ग में विचरण करने बाचे 🖁 ॥८२॥

¥ł.

णिच्छ्यणायस्स एवं अप्पा अप्पम्मि अप्पचे सुरदो । सो होदि हु सुचरित्तो जोई सो लहइ णिव्वाणं ॥८३॥ निश्चयनयस्येवं आत्माऽऽत्मनि आत्मने सुरतः ।

स भवति हि सूचरित्रः योगी स लभते निर्वाणम् ॥८३॥

(णिण्छ्यणयस्स) एवं निश्चयनस्यैवमभिप्रायः । (एवं) कथमिति चेत् ? (अप्पा अप्पस्मि अप्पणे सुरदो) आत्मा कर्ता, आत्मन्यघिकरणभूते आत्मने आत्मार्थमिति संप्रदाने तादथ्यंचतुर्थी, सुष्ठु अतिशयेनालौकिकप्रकारेण रतः तन्मयौ-भूत एकछोछीभावं गतः । (सो होदि हु सुचरित्तो) स आत्मा भवति, कथंभूतौ भवति सुचरित्रः निश्चयचारित्रः । (खोई सो छह्द णिब्वाणं) योगी घ्यानवान् पुमान् छभते प्राप्नोति, किं तत् ? निर्वाणं परमसुखं मोक्षमित्ति, अथवा योगीन्नो योगिनां घ्यानिनामीन्नाः स्वामी निर्वाणं रुभते इति सम्बन्धः ।

पुरिसायारो अप्पा जोई वरणाणवंसणसमग्गो। जो झायदि सो जोई पावहरो भवदि णिद्दंदो ।।८४॥ पुरुषाकार आत्मा योगी वरज्ञानदर्शनसमग्रः। यो ध्यायति स योगी पापहरो भवति निर्द्धन्द्वः ॥८४॥

गाणार्थ---निरुचय का ऐसा अभिप्राय है कि जो आत्मा आत्मा के लिये आत्मा में तन्मयीभाव को प्राप्त है वही सचारित्र--उत्तम चारित्र है। इस चारित्र को धारण करने वाला योगी निर्वाण को प्राप्त होता है॥८३॥

विश्लेषार्य— निश्चयनयके अनुसार सम्यक्चारित्रका स्वरूप निरूगण करते हुए कहा है कि जो आत्मा आत्मा के लिये आत्मा में सुख है अर्थात् अलीकिक प्रकार से तन्मयी भावको प्राप्त है वह आत्मा सुचारित्र-निश्चयचारित्र । निश्चयनय गुणगुणी के भेदको भी स्वीकृत नहीं करता इसलिये यहाँ आत्मा और चारित्र में गुणी तथा गुण का मेद न कर आत्मा के लिये ही सुचारित्र कह दिया है। जिस योगी को ऐसा सुचारित्र प्राप्त हो गया है वह नियम से निर्वाण को प्राप्त करता है अथवा 'जोई सो' की संस्कृत छाया 'योगीशः' है इस पक्ष में अर्थ होता है कि वह निश्चयचारित्र का धारक योगीश निर्वाण को प्राप्त होता है ॥८२॥

गाधार्थ---पुरुषाकार अर्थात् मनुष्य शरीर में स्थित जो आत्मा, योगो बनकर उत्कृष्ट ज्ञान और दर्शन से पूर्ण होता हुआ आत्मा का ध्यान करता है, वह पापों को हरने वाला तथा निःइंन्द्र होता है ॥८४॥

मोक्षप्राभृतम्

(पुरिसायारो अप्पा) पुरुषस्य नरस्याकार आकृतियंस्य स पुरुषाकारः, एवं गुण विशिष्टः कः ? आत्मा चेतनस्वभावो जीवसत्वं, (जोई वरणाणदंसणसमग्गी) योगी मुनिः, इत्यनेन गृहस्यस्य मोक्षं बुवाणाः सितपटाः प्रत्युक्ता भवन्ति । वर-झानदर्शनसमग्रः केवलज्ञानकेवल्ठदर्शनपरिपूर्णः । इत्यनेनाचैतन्यमात्मानं मन्यमानाः कपिलाः शुनका इव निराकृताः । (सो झायदि सो जो जोई) एवं गुणविशिष्ट-मात्मानं यो मुनिष्ध्यिति स योगो ध्यानी भवति । अन्यश्चार्वाको नास्तिको योगि-नामा । एवं स्याने मतान्तराश्चयेण व्याख्यानं कर्तव्यमिति भावः । (पावहरो भवति णिहंदो) पापहरस्त्रिवष्ठिप्रकृतिविच्छेदको भवति धातिसंघातघातकः स्यात्, निर्द्वन्द्वः समवसरणागतपरस्परविरोधिजन्तुकल्हनिषेधक इत्यर्थः ।

> एवं जिणेहि कहियं सवणाणं सावयाण पुण पुणसु । संसारविणासयरं सिद्धियरं कारणं परमं ॥८५॥ एतत् जिनेः कथित श्रवणानां श्रावकाणां पुनः पुनः । संसारविनाशकरं सिद्धिकरं कारणं परमम् ॥८५॥

गाधार्थ--इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा बार बार कहे हुए वचन मुनियों तथा श्रावकों के संसार को नष्ट करने वाले तथा सिद्धि को प्राप्त कराने वाले उल्ह्रच्ट कारण स्वरूप हैं ।।८५।।

षट्प्राभूते

(एवं जिणेहि कहियं) एतढातिसंघातचातनादिकं फलं आत्मघ्यानस्य, जिनैः सर्वद्रैः कथितं प्रमाणभूतवचनैः प्रतिपादितं । (सदणाणं सावयाण पुण पुणसु) श्रवणानां दिगम्बराणां महामुन्यपरसंज्ञानामृषीणामिति, न केवलं अवणानां श्रावकाणां सद्दृष्टीनामुपासकानां च यतस्ते दीक्षायोग्या ध्यानाघिकारिणो देशवताः सन्त आत्मभावनापराः संसारविरक्तचित्ता आरक्षकगृहीतचौरवत् गृहपरित्यागपरि-हारमनसः षोडकान्यतमस्वर्गगामिनः । पुनः पुनः भणितं तत्वज्ञानविज्ञानार्थं च । (संसारविणासयरं) सर्वज्ञवीतरागवचनमिदं कथंभूतं ? संसारविनाझकरं मोक्ष-प्रदायकं । (सिद्धियरं) आत्मोपलब्धिकरं । (कारणं) हेतुभूतं । (परमं) उत्कृष्टं उपदेशानामृपदेशोत्तमं ।

गहिऊण य सम्मत्तं सुणिम्मरुं सुरगिरीव णिक्कंपं । तं झाणे झाइज्जह सावय कुक्सक्स्यट्ठाए ॥८६॥ गृहीत्वा च सम्यक्त्वं सुनिर्मलं सुरगिरिरिव निष्कम्पम । तद्ध्याने घ्यायते श्रावक ! दुःखक्षयार्थे ॥८६॥ (गहिरुण थ सम्मत्तं) गृहीत्वा च सम्यक्त्वं सम्यग्दर्शनं तत्वार्थं अद्धानल्ल्काणं । (सुनिम्मलं सुरगिरीव निक्कंपं) सुनिम्मलं सुष्ठु अतिक्षयेन निर्मलं निरतिचारं

विशेषार्थ—घातिकमों के समूह को नष्ट करना आदि आत्मध्यान का फल है ऐसा जिनेन्द्र सर्वज्ञ देवने प्रमाण भूत वचनों ढारा महामुनि इस दूसरे नामको धारण करने वाले दिगम्बर ऋषियों तथा सम्यग्दृष्टि श्रावकोंके लिये बारबार कहा है। मुनि दोक्षाको योग्यता रखनेवाले गृहस्थ भी घ्यान के अधिकारी हैं। क्योंकि आत्मा को भावना में तत्पर रहने वाले गृहस्थ भी देखव्रती होते हुए संसार से विरक्त चित्त रहते हैं। कोतवाल के ढारा पकड़े हुए चोर के समान वे अपने गृहस्थाश्रम की गर्हा करते हैं गृह छोड़ने की इच्छा रखते हैं ऐसे श्रावक भो मर कर सोलह स्वर्गों में से किसी स्वर्ग को प्राप्त होते हैं। सर्वज्ञ वीतराग देवका यह वचन संसार का विनाध करने वाला है तथा आत्मा को उपलब्धि करने का श्रेष्ठ कारण है॥८५॥

गामार्थ-हे श्रावक ! अत्यन्त निर्मल और मेर्क्यवंत के समान निरचल सम्यादर्शन को ग्रहण कर दु:खोंका क्षय करने के लिये घ्यान में उसोका ध्यान किया जाता है ॥८६॥

विश्वेषायं-श्रावक का वाच्यार्थ सम्यग्दृष्टि उपासक है अयवा 'श्रावयति धर्म' 'जो धर्म सुनावे वह श्रादक है' इस व्युत्पत्ति के अनुसार संकाकांक्वाविचिकित्सान्यदृष्टिप्रशंसासंस्तवलुक्षणातिचाररहितं । सुरगिरिवन्मेरूपवैत इव निष्कम्पं चलमलिनल्परहितं । (तं झाणे झाइज्जइ) तज्जिनवचनं सम्यस्थं वा घ्याने धर्म्यंघ्यानावसरे दानपूजादिस्तवनमहापुराणादिशास्त्रश्रवणसामाधिकजिन-यात्राप्तरिष्ठादिप्रस्तावे घ्यायते मुहुर्मुंहुरिधम्त्यते भाव्यते । (सावय टुक्खम्खयट्ठाए) हे श्रावक सम्याद्ष्ट्युपासक ! हे मुने ! च, श्रावयति धर्ममिति श्रावक इति व्यु-त्पत्तेः, दुःखक्षयार्थे ।

सम्मत्तं जो झायदि सम्माइट्ठी हवेइ सो जीवो । सम्मत्तपरिणदो उण खवेइ दुट्ठट्ठकम्माणि ॥८७॥

सम्यक्त्वं यो ध्यायति सम्यग्दृष्टिः भवति स जीवः । सम्यक्त्वपरिणतः पुनः क्षयति दुष्टाध्टकर्माणि ॥८७॥ (सम्मत्तं जो ग्रायदि) सम्यक्त्वमनर्ध्यमाणिक्यं यो जीवो ध्यायति चिन्तयति पुनः पुनर्भावयति । (सम्माइट्ठी हवेइ सो जीवो) सम्यग्दृष्टिर्मवति स आसन्त-

मुनि अर्थ भी हो सकता है अतः दोनों को सम्बोधन करते हुए आचार्य कहते हैं कि हे सम्यग्दृष्टि उपासक अथवा हे मुने ! चतुर्गति अमण रूप दुःख का क्षय करने के लिये अत्यन्त निर्मल अर्थात् शका, कांक्षा, विचि-कित्सा, अन्यदृष्टि प्रशंसा, और अन्यदृष्टि संस्तव इन पांच अतिचारों से रहित तथा सुमेरु पर्वंत के समान अत्यन्त निष्कम्प अर्थात् चल मलिन आदि दोषों से रहित सम्यग्दर्शन को ग्रहण कर ध्यान के समय अर्थात् धर्म्यध्यान के काल में अथवा दान, पूजन, स्तवन, महापुराणादि शास्त्रों के श्रवण, सामायिक, जिन यात्रा तथा प्रतिष्ठा आदि के अवसर पर बार बार उसीका ध्यान किया जाता है । दान पूजा आदिके समय सम्यक्त्व के बार-बार घ्यान करने को प्रेरणा देनेका अभिप्राय यह है कि इन सबको तू भोगोपभोग प्राप्ति के निमित्त तो नहीं कर रहा है क्योंकि इन सबके करते हए मिथ्याद्ष्टि जीवका अभिप्राय भोगोपभोग को प्राप्ति का रहता है और उसके इस अभिप्राय के कारण उसकी यह सब कियाएँ बन्धका कारण होती हैं परन्तु सम्यग्दृष्टि जीव इन सबको करते हुए आत्मा के झायक भावको ही प्राप्त करनेका अभिप्राय रखता है अतः बन्धका अभाव होकर दुःखका क्षय होता है ॥८६॥

गाचार्च---जो जोव सम्यक्त्व का ध्यान करता है वह सम्यग्दृष्टि हो जाता है और सम्यक्त्व रूप परिणत हुआ जीव दुष्ट आठ कर्मोंका क्षय करता है ॥८७॥ भव्यजीवः । (सम्मत्तपरिणदो उण) सम्यक्त्वरत्नंपरिणतः सम्यग्दर्शनमयीभूतः पुनः । किं भवति ? (खवेइ दुट्ठट्ठकम्माणि) क्षिपते विनाशयति दुष्टानि दुःश्व-दायोनि अष्टकर्माणि ज्ञानावरणादीनि ।

फि बहुणा भणिएणं जे सिद्धा नरवरा गए काले । सिजिझहहि जे वि भविया तं जाणह सम्ममाहष्पं ॥८८॥ कि बहुना भणितेन ये सिद्धा नरवरा गते काले । सेत्स्यन्ति येऽपि भव्याः तज्जानीत सम्यक्त्वमाहात्म्य ॥८८॥

(कि बहुणा भणिएषं) कि बहुनां भणितेन कि प्रचुरेण जल्पितेन न किम-पीत्याक्षेपः । (जे सिढा नरवरा गए काले) ये किंचित्सिढा मुक्ति गता मोर्झ प्राप्ताः, नरवराः भव्यवरपुण्डरीका भरतसगररामपाण्डवादयः, तत्सर्व सम्यक्तव-माहात्म्यं जानीत यूयमिति सम्बन्धः, गते काले अतीते काले । (सिज्झिहहि जे वि भविया) सेत्स्यन्ति भविष्यति काले सिद्धि यास्यन्ति मोक्षं प्रायन्ति येऽपि भव्याः । (ई जाणह सम्ममाहृष्णं) तज्जानीत सम्यक्त्वस्य माहात्म्यं प्रभावं ।

ते धण्णा सुकयत्था ते सूरा ते वि पंडिया मणुया । सम्मत्तं सिद्धियरं सिवणे वि ण मइलियं जेहि ॥८९॥

ते धन्याः सुकृतार्थाः ते शूराः तेपि पण्डिता मनुजा । सम्यक्त्वं सिद्धिकरं स्वप्नेऽपि जलिनितं यैः ॥८९॥

विशेषार्थ---सम्यक्त्व अमूल्य माणिक्य के समान है जो जीवे निरन्तर इसका ध्यान करता है वह निकट भव्य जीव सम्यग्दृष्टि बन जाता है और सम्यक्त्व रूप परिणत हुआ जीव दु:खदायी अष्टकर्मों को नष्ट कर देता है। कर्मक्षय का प्रारम्भ सम्यग्दर्शन से ही होता है अतः पूर्ण प्रयत्न से सर्व प्रथम उसे ही प्राप्त करनेका प्रयत्न करना चाहिये ॥८७॥

गाथार्थ-अधिक कहने से क्या ? अतीत काल में जितने श्रेष्ठ पुरुष सिद्ध हुए हैं और भविष्यत्काल में जितने सिद्ध होंगे उन सबको तुम सम्य-ग्दर्शनका हो माहात्म्य जानो ॥८८॥

विशेषार्थ--बार बार सम्यक्त्व के माहात्म्य का वर्णन करते हुए आचार्य महाराज कहते हैं कि अधिक कहनेसे क्या प्रयोजन है ? अतीत काल में जितने भरत, सगर, राम तथा पाण्डव आदि श्रेथ्ठ भव्यजीव मोक्षको प्राप्त हुए हैं और भविष्य काल में जो मोक्षको प्राप्त करेंगे वह सम्यग्दर्शन का ही माहात्म्य है ऐसा जानना चाहिये ॥८८॥

गाषायं---वे ही मनुष्य धन्य हैं, वे ही कृतकृत्य हैं, वे ही शूरवीर हैं,

-६. ९०]

(ते पण्णा सुकयत्था) ते पुरुषा धन्याः पुण्यवन्तः, ते पुरुषाः सुक्रुतार्थाः सुष्ठु अतिशयेन इतार्थाः कृतकृत्याः साधितचतुःपुरुषार्थाः । (ते सूरा ते वि पंडिया मणुया) ते पुरुषाः शूराः सुभटाः पापकर्मशत्रुविघ्वसकत्वात्, ते पुरुषाः पण्डिताः विद्वांसस्तार्किका अपि मनुजा मानवा अपि सन्तो देवा इत्यर्थं । (सम्मत्तां सिडियरं सिवणे वि ण मइलियं जेहिं) सम्यक्त्वं सम्यग्दर्शनं, स्वप्नेऽपि निद्रायां, अपिशब्दा-ज्जाग्रदवस्यायायपिः, यैः पुरुषैः, सम्यक्त्वं सम्यग्दर्शनं, त्व मलिनीकृतं निरति-चारं प्रतिपालितं । कथभूतं सम्यक्त्वं, सिडियरं---सिडिकरं आत्मोपलब्जिलक्षणमो-सकारकमिति ।

तं सम्मन्तं केरिसं हवदि-तं जहा-तत्सम्यक्त्व कोद्शं भवति तद्यया---

हिंसारहिए धम्मे अट्ठारहदोसवज्जिए देवे । निग्गंथे पावयणे सद्दहणं होइ सम्मत्तं ॥९०॥ हिंसारहिते धर्मे अष्टादशदोषर्वाजते देवे ।

निग्रॅन्थे प्रावचने श्रद्धानं मवति सम्यक्त्वम् ॥९०॥

(हिंसारहिए धम्मे) हिंसारहिते धर्मे श्रद्धानं सम्यक्त्वं भवतीति सम्बन्धः, हिंसारहितो धर्मो जैनधर्मः यत्र धर्मे बाह्यणक्षत्रियवैक्यशूद्राध्वपध्वादिको जीवो वध्यते सोऽधर्मं इति तत्वार्थः । (अट्ठारहदोसवज्जिए देवे) अष्टादशदोषवर्जिते देवे श्रद्धानमिति सम्बन्धः । रुद्रः किल श्रुमालन्नेष्ठिनः पुत्रं मसितवान् तत्र क्षुधा-दोधः हिंसादोषक्ष्य । ब्रह्मणः कमण्डलुम्रहणात् पिपासादोषः, जीर्णशरीरत्वात्तस्य

और वे ही पण्डित हैं जिन्होंने सिद्धि को प्राप्त कराने वाले सम्यक्त्व को स्वप्न में भी मलिन नहीं किया है ॥८९॥

विशेषार्थं — यह सम्परदर्शन ही सिद्धि अर्थात् स्वात्मीय लब्धि रूप मोक्षको आप्त कराने वाला है इसकी प्राप्ति अत्यन्त दुर्लंभ है। इसे पाकर जिन्होंने जागृत अवस्था की तो बात ही जुदी है स्वप्न में भी कभी मलिन नहीं किया है अतिचारों से दूषित नहीं किया है वे ही पुरुष धन्य हैं — पुण्पवान् हैं, वे ही अतिशय कृतकृत्य हैं – चारों पुरुषार्थों को साधने वाले हैं, वे ही शूरवीर हें –पाप कर्म रूपी शत्रुओं का विध्वंस करने के लिये सुभट हैं और वे ही पण्डित हैं महाविद्वान् तार्किक हैं अथवा मनुष्य होते हुए भी देव हैं। ८९।।

वह सम्यग्दर्शन कैसा होता है ? इसका वर्णन करते हैं---गाचार्थ---हिंसा रहित घर्म, अठारह दोषों से रहित देव और निग्रन्थ गुद में जो श्रद्धा है वह सम्यग्दर्शन है ॥९०॥ अरादोषः । गजवर्मस्व ? कण्ठे काल्रसं रुद्रे रुग्दोषः, सूर्ये पादकुष्ठस्वाद्रग्वोषः । दक्षावतारसंयुक्तत्वात् कृष्णे जन्मवोषः वसुदेवदेवकीनन्दन स्वाच्च । त्रयाजामपि मृत्यु-सद्भावो वेदितव्यः । नरकासुरभयान्नष्टः खलु श्रीमहादेवस्तत्र मयदोषः, ब्रह्या दंटं धरति, रुद्रः शूलं खण्डपरशुं पिनाकं धनुष्टवेत्यादिकं घत्ते, विष्णुष्टवर्क्त सुदर्शनं कौमोदकीं गदां चेत्पादिकं गृहणाति तेन त्रयाणामपि भयसद्भावो बुधरबबुद्धघते । सृष्टिकर्तृत्वसंहतृत्वादिकस्तत्र स्मयो मदश्च निक्ष्वीयते विपष्टिचद्भिः । इद्रः पार्व-तीमघाँक्ते घरति जटामध्ये गंगां चादधाति, ब्रह्या वशिष्ठस्य पितृत्वादुवैधीवल्छ-भत्वात्, विष्णुः घोडग्रसहस्रगोपीर्भजते गोपनायस्य दुहितरं च, सूर्यो रण्णादेवीं चन्द्रो रोहिणों च मुंक्ते तेनैते रागवन्तोऽपि ज्ञातव्याः । ब्रह्या गजासुरं द्वेष्टि, इद्र-

विशेषार्थ--हिंसा रहित धर्मकी श्रदा करना सम्यक्त है। हिंसा रहित धर्म जैनधर्म है। जिस धर्म में ब्राह्मण, क्षत्रिय, देख, शुद्र, मनुष्य तथा अख्व आदि पश्चों का वध किया जाता है वह अधम है। अठारह दोषों से रहित देवका श्रद्धान करना सो सम्यक्त्य है। अठारह दोषों से रहित देव यदि कोई है तो बीतराग सर्वज्ञ देव ही हैं उन्हींकां श्रदान करना सम्यक्स्व है। रुद्र ने ऋगाल श्रेष्ठों के पुत्र का भक्षण किया था इसलिये उनमें क्षुषा दोष तथा हिंसा का दोष है। ब्रह्मा कमण्डल ग्रहण करते थे इसलिये उनमें प्यासका दोष तथा जीर्ण शरीर होने से जराका दोष था रुद्र के गज चर्मत्व था अर्थातु उनके शरीर का चर्म फूलंकर मोटा होगया था और कण्ठ में कालापन था इसलिये रोग नामका दोष था। सुर्य के पैर में कृष्ठ था इसलिये रोग नामका दोष था। दश अवतारों से सहित होने अथवा वसूदेव और देव जी के भूत्र होनेके कारण कृष्ण में जन्म नामका दोष था मृत्यु नामका दोष ब्रह्मा, रुद्र और कृष्ण तीनोंके जानना चाहिये। नरकांसुरके भयसे महादेव नष्ट हुए थे इसलिये उनके भय था। ब्रह्मा दण्ड धारण करते हैं रुद्र शूल खण्ड परशु और पिनाक नामके धनूष को धारण करते हैं, तथा विष्णु सुदर्शन चक्र तथा कौमोदकी नामकी गर्दा इत्यादि शस्त्रों को धारण करते हैं इसलिये तीनों के भय का सद्भाव विद्वान स्वतः समझते हैं । ब्रह्मा को सुष्टिकर्तृत्व का तथा रुद्रको संहर्तृत्व आदिका गवं है इसलिये विद्वान उनके मद नामक दोष का निश्चय करते हैं। रुद्र पार्वती को अर्धाङ्ग में धारण किये हैं तथा गङ्गा को जटाओं में धारण करते हैं ब्रह्मा वसिष्ठ के पिता हैं तथा उवंशी के पति हैं। विष्णु सोलह हजार गोपियोंका तथा गोपनाथ को पुत्री राषा का

मोक्षप्रामृतम्

- 8. 90]

स्त्रिपुरदानवं मस्मयति, विष्णुः कॅसंकेशवाणूरवरासन्वान् पिनच्छि तेनैते द्वेववत्तो-ऽपि ज्ञातव्याः । ब्रह्मा वशिष्ठमुखं पश्यति, इद्रस्तु स्कन्द निरीक्षते, विष्णु प्रदाम्ने स्निह्मति तैनेते मोहिनोऽपि ज्ञातव्याः । ब्रह्मणः सुष्टिचिन्ता समुत्पन्ना स्टद्रस्य नर-कवरदानात् विष्णोर्जरासम्वशिशृपालदिवघे महती चिन्ता समुत्पन्ना । तेनैते चिन्ता-वेतो पि ज्ञातव्याः ब्रह्मा उर्वक्ष्यां रमते, रुद्रः पार्वतीं मुंक्ते, विष्णुः सत्यभामाद्याः क्रोडति तेनैतेषुरतिदोषोऽपि घटते । ब्रह्मा योगनिद्रां करोति, रुद्रः कैलांसे दीते गिरिशनामकत्वात्, विष्णुजॅल्शायीति कच्यते तेनैते प्रमीलाकन्तोऽपि विज्ञेयाः निद्रा-दोषा इत्यर्थः । रुद्रो नरकाथ वरं दत्वा विधीदति इत्यादि विधाददोषोऽपि संग-च्छते । मैथुनादिषु स्वेदसद्भावोऽपि लोककल्पितदेवानामम्यूह्यः । क्षेत्रस्तु संग्रा-मादौ । विस्मयस्तु रूपादिदर्शने । इत्यादि लोकदेवतानामघ्टादशापि दोषाहिचन्त-नीयाः ! सर्वज्ञवीतरागे तु कव्विदर्यां दोघो न वर्तते । उक्तं ध-

सेवन करते है। सूर्य एणादेवीका और चन्द्रमा रोहिणी देवीका उपमोग करता है इसलिये इन सबको रागी भी जानना चाहिये। ब्रह्मा गजासुर के साथ ढेष करसे हैं, छ्द्र त्रिपुर दानवको भस्म करते हैं, विष्णु कैस, केश, माणर और जरासन्धको पीस डालते हैं इसलिये इन सबको द्वेष से रहित भी जानना चाहिये | ब्रह्मा वसिष्ठ का मुख देखते हैं, ख स्कन्द-कार्तिकेय को देखते हैं और विष्णु प्रदुम्न पर स्नेह रखते हैं इसलिये इन्हें मोही भी जानना चाहिये । ब्रह्मा को सुष्टिको चिन्ता उत्पन्न हुई, रुद्रको नरकासुर के वरदान से चिन्ता उत्पन्न हुई और विष्णु को अरासन्ध तथा शिशुपाल आदि की बड़ी भारी चिन्ता उत्पन्न हुई इसलिये इन्हें चिन्तावान जॉनना चाहिये। ब्रह्मा उर्वशी में रमण करते हैं, रुद्र पार्वती का भोग करते हैं और विष्णु सत्यभामा आदिके साथ कोड़ा करते हैं इसलिये इनमें रतिदोध भो घटित होता है ब्रह्मा योग निद्रा लेते हैं, रुद्र कैलास पर्वत पर सोते हैं क्योंकि गिरिश उनका नाम ही है और विष्णु जलमें शयन करते हैं इस-लिये इन्हें प्रमीला अथवा निद्रा दोष से युक्त भी जानना चाहिये। रुद्र नरकासुर वरदान देकर विषाद करते हैं, इसलिये विषाद दोष भी संगत होता है । मैथुनादिक समय स्वेदनामका दोष भी इन लोक कल्पित देवोंमें समझना चाहिंगे । संग्राम आदि के समय खेद और रूपादि के दिखाने में विस्मय नामका दोष संगत होता है। इस तरह लोक कल्पित देवताओं में अठारहों दोषों का सद्भाव विचार लेना चाहिये परन्तु सर्वज्ञ वीतराग देवमें कोई भी दोव नहीं है। जैसा कि कहा है----

449

रागादिदोषसद्भावो झेयोऽमीषां तदागमात् ।

असतः परदोषस्य गृहीतौ पातकं महत् ॥ १ ॥

(निग्गथे पावयणे) निर्ग्रम्थे प्रावचने प्रवचननियुक्ते गुरौ । (सद्दहणं होइ सम्मत्तं) एतेषु धर्मदेवगुरुषु पदार्थेषु श्रद्धानं रुचिः अन्येषु स्ववांतान्नास्वादनवद-रूचिः सम्यक्त्वं अवसीति क्रियाकारकसम्बन्धः ।

> जहजायरूबरूवं सुसंजयं सव्वसंगपरिचत्तं । लिगं ण परोदेक्खं जो मण्णइ तस्स सम्मत्तं ॥९१॥ यथाजातरूपरूपं सुसंयतं सर्वसंगपरित्यक्तम् ।

लिङ्गं न परापेक्षं यः सन्यते तस्य सम्यक्त्वम् ॥९१॥ (जहजायस्वरूवं) ययाजातरूपं मातुर्गंर्भनिगंतवालकरूपं तद्वदूपमाकारो यस्य लिंगस्य तद्ययाजातरूप रूपं । (सुसंजय सब्वसंगपरिषत्तं) पुनः कथंभूतं लिंगं, सुसंयतं सुष्ठु अतिषायवत्संयमसहितं, सर्वंसंगपरित्यक्तं सर्वपरिग्नहरहितं शिरःकर्ण-कण्ठकरकटीकमप्रमुत्यङ्गाभरणवस्त्ररहितं सर्वथा नग्नं । (सिंगं च वरावेक्सं)

रागादि—इन सब लौकिक देवों में रागादि दोषों का ॅसद्भाव उन्हों के शास्त्रों से जानने योग्य है क्योंकि दूसरे के अविद्यमान दोष के प्रहण करने में महान् पाप है ॥१।।

इसो तरह प्रवचन कर्ता निग्न'न्थ गुरुका श्रद्धान करना भी सम्यग्दर्शन है। इस प्रकार धर्म देव गुरु तया जीवादि पदार्थों में श्रद्धान या रुचि करना और अन्य धर्म तथा देवताओं में अपने द्वारा वान्त अन्न के खानेके समान अरुचि रखना सम्यक्त्व होता है।।९०।।

गायार्थ-दिगम्बर मुनिका लिङ्ग (वेष) यथा ज्ञान-तत्काल उत्पन्न हुए बालक के समान होता है, उत्तम संयम से सहित होता है सब परिप्रह से रहित होता है और परकी अपेक्षा से रहित होता है....ऐसा जो मानता है उसके सम्यक्त्व होता है।।९१॥

विशेषार्थ--जिस प्रकार माता के गर्भ से निकले हुए बालक का रूप निविकार होता है उसी प्रकार दिगम्बर मुनिका वेष निविकार होता है । दिगम्बर मुनिका वेष सुसंयत अर्थात् अत्यधिक संयम से युक्त होता है । सर्व परिग्रहों से रहित होता है अर्थात् शिर कान कण्ठ हाथ कमर तथा पैर आदि अङ्गों के आभूषणों और वस्त्र से रहित सर्वथा नग्न होता है तथा परको अपेक्षा से रहित शरीर मात्र परिग्रह का धारो होता है । निग्रन्थ साधू का वेष ऐसा होता है ऐसी जिसकी मान्यता है उसके सम्यक्ष होता ईदृग्विधं लिंगं कयंभूसं, न परापेक्षं परापेक्षारहितं शरीरमात्र परिग्रहं। (जो मण्णइ तस्स सम्मत्तं) ईदृशं लिंगंनिग्रन्थवेषं यः पुमान् मन्यते साधु वक्ति तस्य सम्यक्त्वं भवति, यः सग्रन्थलिंगेन मोक्षं वक्ति स मिथ्यादृष्टिर्झातव्य इति ।

कुच्छियदेवं धम्मं कुच्छियलिंगं च वंदए जो दु। लज्जाभयगारवदो मिच्छादिट्ठी हवे सो हु॥९२॥ कुल्सितदेवं धर्मं कुल्सितलिङ्गं च वदन्ते यस्तु।

लज्जाभयगारवतः मिथ्यादृष्टिभवित् स हु ॥९२॥

(कुच्छियदेवं घम्मं) कुत्सितदेवं श्रीमहादेवं ब्रह्माणं नारायणं बुद्धं रवि घन्द्रमसं यक्ष त्रिपुरभैरवीं चेत्यादिकं । कुत्सितघर्मं आलंभनकुंडसण्डितपशुचक्रव-षट्कारसम्बन्ध शूलपाणि, झंपापातं, बन्हिप्रवेशं, भेतुं: सह गमनं सूर्याघंग्रहण-स्नानं, सक्रान्तिदानं, नदीसायरादिमज्जनं, गोयोनिस्पर्शनं, तन्मूत्रपानं, शमी, तस्यूजनं, पिप्पलालिंगनं मृत्तिकाविलेपनं, कृष्णसारचमंवसनं, नक्तं भोजनं घूलीदृष-दुच्चयवन्दनं, रत्मपूजनं वाहनाचंनं, भूमिपूजनं, सङ्ग्रपूजनं, पर्वंतपूजनं, घृते मुख-वीक्षणमित्त्यादि कुत्सितघर्मं (कुण्डियलिंगं च वंदए जो दु) कुत्तितलिंगं नग्ना-ण्डकं, जटाधारिणं, पंचशिखं, एकदर्षिंदनं, त्रिदण्डिनं, शिक्षाधारिणं, सौगतपाशु-

है जो परिष्रह सहित वेष से मोक्ष कहता है उसे मिथ्यादृष्टि जानना चाहिये ॥९१॥

गाथार्थ--जो लज्जा भय और गारव से कुस्सित देव, कुस्सित धर्म और कुस्सित लिङ्ग की वन्दना करता है वह मिथ्यादृष्टि होता है॥९२॥

विशेषार्थ—महादेव, ब्रह्मा, नारायण, बुद्ध, सूर्य, चन्द्रमा, यक्ष तथा त्रिपुर भेरवी इत्यादि को कुत्सित देव कहते हैं। यज्ञकुण्ड में होमे गये पशु समूह को स्वीकृति से सम्बन्ध रखने वाले शूलपाणि, पर्वंत आदि से कूदकर झंपाधात करना, अग्नि में प्रवेश करना, पतिके साथ गमन करना अर्थात् अग्नि में जल्फर सती होना, सूर्य को अर्घ देना तथा ग्रहण के समय स्नान करना, संक्रान्तिके समय दान देना, नदी समुद्र आदिमें स्नान करना, गाय को योनिका स्पर्ध करना, उसका मूत्र पीना, शमी वृक्ष की पूजा करना, पीएल का आलिज्जन करना, मिट्टीका लेप लगाना, काले मृग की चर्मका पहिनना, रात्रिभोजन करना, घूली और पत्थरों के ढेर की वन्दना करना,

१. भर्त्रा सह गमनं ख० इदमेव साधू।

पत्तयोगपेत्यादि — कुत्सितलिंगं च बन्दते नमस्करोति अभिवादनं विदधाति नमोना-रायणमिति नाचा प्रणमति मस्तकेन वन्दे इति प्रणमति यस्तु पुमान् । (रूज्जाभय-गारवदो) रुज्जया कृत्वा भयेन च गारवेण गर्वेण च यो वन्दते । (मिण्छादिट्ठी हवे सो हु) मिथ्याइष्टिभंवति सः । कयं ? हु-स्फुटं ।

सपरावेक्सं लिंगं राई देवं असंजयं वंदे । माणइ मिच्छादिट्ठी ण हु मण्णइ सुद्धसम्मक्तो ॥९३॥ स्वपरापेक्षं लिङ्गं रागिणं देवं असंयतं वन्दे । मानयति मिथ्यादृष्टिः न हि मानयति शुद्धसम्यक्त्वः ॥९३॥

(सपरावेक्स लिगं) स्वपरापेक लिगं, स्वापेक्षं ऋषिपत्नीयुतं परापेक्षं रक्त-वस्त्रमृगचमोदि सापेक्षं लिगं वेषं । (राई देवं असंबर्ध वंदे) रागिभं देवं पार्वती-पति लक्षमीकान्तं तिलोत्तमामुखकमलप्रघट्रकचतुर्वक्त्रं चेत्यादिकं देवं, असंजर्ध वंदे----असंग्रतं अनेकमानुषमांसदधि भक्षणमुख ैभद्यकं बन्दे इति यो वक्ति । (माणइ मिण्छाविट्ठी) मानयति मिथ्यादृष्टिः श्रद्धधाति मिथ्यादृष्टि जिनानाम-

रत्नोंको पूजना, घोड़ा आदि वाहनों की पूजा करना, भूमि की पूजा करना, खड्ग की पूजा करना, पर्वत की पूजा करना तथा घी में मुख देखना आदि कुघर्म कहलाता है। नग्नाण्डक, जटाधारी पञ्च्वशिव एक-दण्डी, त्रिदण्डी, शिखाधारी सौगत, पाशुपत तथा यौगप आदि वेष कुलिज्ज कहछाते हैं। जो मनुष्य लज्जा भय अथवा गारव से इन सबको नमस्कार तथा अभिवादन आदि मन वचनकाय से करता है वह मिथ्यादृष्टि होता है। (२)।

गाथार्थ-स्व और पर की अपेक्षा से सहित लिङ्गको तथा रागी और असंयत देवकी वन्दना करता हूँ ऐसा मिथ्यादृष्टि जीव मानता है शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव नहीं॥९३॥

विज्ञेषार्थ----जो वेष स्त्री से सहित होता है वह स्वापेक्ष है तथा लाल वस्त्र और मृगचर्म आदि को अपेक्षा रखता है वह परोपेक्ष है। रुद्र, विष्णु तथा तिलोत्तमा के मुख कमल को प्रधटित करने वाले चार मुखके धारक ब्रह्मा आदि रागो देव हैं तथा अनेक मनुष्यों का मांस °भक्षण करने वाले

 जैन सिद्धान्त की अपेक्षा कोई भी देव मांसभझक नहीं होता । यह कथा अन्य सिद्धान्त की अपेक्षा है ।

१. मांस दक्षिणमुख भक्षकं।

भक्तः । (ण हुं मण्णह सुद्धसम्मत्तो) न मानयति न सन्मानं वदाति कोऽसौ ? बुद्धसम्यक्त्वो निर्मलसम्यक्त्वरत्नमंडितः ।

सम्माइट्ठी सावय भम्मं जिणदेवदेसियं कुणदि । विवरीयं कुव्वंतो मिच्छादिट्ठी मुणेयव्वो ॥९४॥ सम्यग्दूष्टिः श्रावकः धर्मं जिनदेवदेशितं करोति ।

विपरीतं कुर्वन् मिथ्यादृष्टिः ज्ञातव्यः ॥ ९४ ॥ (सम्माइट्ठी सावय) सम्यग्दृष्टिः श्रावकः सम्यक्तवरत्नसंशोभितो गृहस्थः । अथवा श्रावयतीति श्रावको मुनिः । अथवा हे सम्यग्दृष्टिश्रावकं ! इति सम्बोधन-पदं । (धम्म जिणदेवदेसियं कुर्णदि) घर्म दुर्गतिपातादुद्धृत्य इन्दचन्द्र मुनीन्द्रवन्दिते पदे घरतीति घर्मस्तं । जिणदेवदेसियंजिनदेशितं श्रीमद्भगवदह्तंत्सर्वज्ञवीतरागकघितं करोति । (विवरीयं कुर्व्वते) विपरीतं कुर्वन् छ्द्रजिमिनिकणभक्षकापिलसौगता-दिभिरुषदिष्टं धर्मं कुर्वन् पुमान् । (मिष्छादिट्ठी मुणेयक्वो) मिष्टयादृष्टिरिति ज्ञातव्यः ।

यक्ष आदि असंयत देव हैं इन सबकी जो वन्दना करता है, मानता है अर्थात् उनकी श्रद्धा करता है वह मिथ्यादृष्टि है । शुद्ध सम्यक्ष्व का घारक जीव न उन्हें वन्दना करता है और न उनकी श्रद्धा करता है ॥९३॥

गायार्थ—सम्यग्दृष्टि श्रावक अथवा मुनि जिनदेवके द्वारा उपदेशित धर्मको करता है । जो विपरीत धर्मको करता है उसे मिथ्यादृष्टि जानना चाहिये ।। ९४ ।।

मिच्छाबिट्टी जो सो संसारे संसरेइ सुहरहिओ । जम्मजरमरणपउरे दुक्खसहस्साउले जीवो ॥९५॥

मिथ्यादृष्टिः यः सः संसारे संसरति सुखरहितः ।

जन्मजरामरणप्रचुरे दुःखसहस्राकुले जीवः ॥ ९५ ॥ (प्रिच्छादिट्ठी जो सो) मिथ्यादृष्टियों जीवः सः । किं करोति ? (संसारे संसरेइ सुहरहिओ) संसारे भवसागरे संसरति सम्यक्प्रविशति सुस्ररहितो दुःख-सहितः । कथंभूते संसारे (जम्मजरमरणपउरे) जन्मजरामरणप्रचुरे बहुले । (दुक्ससहस्साउले जीवो) दुःखानां सहस्र रनन्तदुः सैराकुले परिपूर्णे कः ? जीवो मिथ्यादृष्टिप्राणीति शेषः ।

सम्मगुण मिच्छदोसो मणेण परिभाविऊण तं कुणसु। जंते मणस्स रुच्चइ कि बहुणा परुबिएणंतु ॥९६॥ सम्यवत्वं गुणः मिथ्यात्वं दोषः मनसा परिभाव्य तत्कुरु। यत्ते मनसे रोचते कि बहुना प्ररुपितेन तु॥९६॥ (सम्म गुण मिच्छं दोसो) सम्यवत्वं गुणो भवति, मिर्ण्यात्वं दोषो भवति पापं स्यात्। (मणेण परिभाविऊण तं कुणसु) इममर्थं मनसा चित्तेन परिभाव्य

गायार्थ-जो मिथ्यादृष्टि जीव है वह जन्म जरा और मरण से युक्त तथा हजारों दुःखों से परिपूर्ण संसार में दुखो होता हुआ अमण करता रहता है ॥ ९५ ॥

विशेषार्थ—पिथ्यात्व का फल बतलाते हुए श्री कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं कि जो जीव मिथ्यादृष्टि है वह सदा सुखसे रहित अर्थात् दुखी होता हुआ जन्म जरा और मरण से परिपूर्ण तथा अनन्त दुःखों से व्याप्त संसार में संसरण करता रहता है—चतुर्गति रूप संसार में सब ओर परिभ्रमण करता रहता है। इस परिभ्रमण से बचने का मूल उपाय एक सम्यग्दर्शन ही है सो हे आत्महित के अभिलाषो जन इसे धारण कर ॥ ९५ ॥

गाधार्थ---सम्यक्त्व गुण है और मिथ्यात्व दोष है ऐसा मनसे विचार कर तेरे मनके लिये जो रुचे वह कर अधिक कहने से क्या लाभ है ?

सम्पग्विचार्यं तत्त्वं विधेहि । तत् कि ? (अं ते मणस्स रुभ्वइ) यद्धयोगुं णदोष-योमंध्ये ते तव मनसे रोचते । (कि बहुणा परुविएणं तु) बहुना प्ररुपितेन अनर्य-कवचनेन कि—न किमपि । यदि तव मनसे गुणो रोचते तर्हि सम्यक्त्वं विधेहि उत दोषो रोचते तर्हि मिथ्यात्वं विधेहि । अर्थतस्तु सम्यक्त्वं विधेहीति सम्यगुपदेशा भगवतां श्रीक्र-दकून्दाचार्याणां ।

बाहिरसंगविमुक्को ण वि मुक्को मिच्छभाव णिग्गंथो ।

ुर्कि तस्स ठाणमउणं ण वि जाणदि अप्पसमभावं ॥९७॥ बाह्यसंगविमुक्तः न विमुक्तः मिथ्याभावेन निग्रंन्थः ।

कि तस्य स्थानमौनं नावि जानाति आत्मसमभावम् ॥ ९७ ॥

(बाहिरसंगबिमुक्को) बहिःसंगादिमुक्तो रहितो नग्नवेषः । (ण दि मुक्को मिच्छभाव णिग्गंबो) नापि मुक्तः नैव मुक्तः न विमुक्तो वा मिष्याभावेन मिष्यात्वदोषेण रहितो न भवति, कोऽसौ ? निग्नंन्थो दिशम्बरवेषाजीवी जीवः । (किं तस्स ठाणमंडणं) तस्य निग्नंन्थस्य स्वानं उद्भकायोत्सर्गः किं—न किमपि, कर्मक्षयलक्षणं मोक्षं न साम्रयतीत्पर्थः । तथा मौनं कि ----मूकत्वमपि न किमपि,

ऐसा तूमन से विचार कर। फिर तुझे जो अच्छा लगे उसे कर। यदि सम्यक्त्व अच्छा लगता है तो सम्यक्त्व को प्राप्त कर और मिथ्यात्व अच्छा लगता है तो मिथ्यात्व को कर परन्तु मिथ्यात्व का फल दुर्गति है और सम्यक्त्व का फल सुगति है। यहाँ मिथ्यात्व को दोष और सम्यक्त्व को गुण रूप बता कर सम्यक्त्व की ओर ही आचार्य ने लक्ष्य दिलाया है। ९६॥

गाथार्थ--जो साघु बाह्य परिग्रह से तो छूट गया है परन्तु मिथ्या-भाव से नहीं छूटा है उसका कायोत्सर्ग के लिये खड़ा होना अथवा मौन से रहना क्या है ? अर्थात् कुछ भी नहीं है क्योंकि वह आत्मा के समभाव को तो जानता ही नहीं है ॥ ९७ ॥

मूलगुणं छित्तूण य बाहिरकम्मं करेइ जो साहू । सो ण लहइ सिद्धिसुहं जिपलिंगविराधगो णिच्च ॥९८॥

मूलगुण छित्वा बाह्यकर्मकरोति यः साधुः।

स न लभते सिद्धिमुखं जिनलिङ्गविराधकः निस्यम् ॥ ९८ ॥ (मूलगुणं छित्तूण य) मूलगुणमध्टाविंशतिभेदभिन्न पंचमहाव्रतानि पंचसमि-तयः पंचेन्द्रियरोधो लोचः धडावस्यकानि अधेलखमस्नानं क्षितिशयनं दन्तभावन-रहितत्वं उद्भभोजनं एकभक्तं इत्यष्टाविद्यतिमूलगुणाम्नायः । तत्र यदुक्तः स्माना-भावस्तस्थायमर्थः—

> नित्यस्नानं गृहस्थस्य देवार्चनपरिप्रहे । यतेस्तु दुजंनस्पर्धात् स्नानमम्यद्विर्गाहतं ।। १ ।।

तत्र वतेः रजस्वलास्पर्शे अस्थि स्पर्शे-वण्डाल स्पर्शे धुनक्षमदंभनापितयोग-कपालस्पर्शे वमने विष्टोपरि पादपतने शरीरोपरिकाकविण्मोचने इत्यादिस्नानोत्पत्ती

है अथवा आत्मा अर्थात् जीवों के समभाव है—सभी जीव शुद्ध **बुद्धे**क स्वभाव से युक्त हैं इस आगम के वाक्य को नहीं जानता है।। ९७॥

गायार्थ-जो साघु मूल्गुणों को छेद कर बाह्य कर्म करता है वह सिद्धिके सुखको नहीं पाता वह तो निरन्तर जिन लिङ्ग की विराधना करने वाला माना गया है ॥ ९८ ॥

विशेषार्थ-पांच महावत, पांच समितियां, पंचेन्द्रिय दमन, केशलोंच, छह आवश्यक, अचेलत्व, स्नान, भूमिशयन, अदन्तधावन, खड़े खड़े भोजन करना और एक बार भोजन करना ये मुनियों के अट्ठाईस मूलगुण हैं। इन मूलगुणों में जो स्नान नामका मूलगुण बतलाया है उसका भाव यह है---

निस्पस्नान—भगवान् को पूजा करने के लिये गृहस्य को प्रतिदिन स्नान करना चाहिये परन्तु मुनिके दुर्जन का स्पर्श होनेपर स्नान करने की विधि है उसके लिये अन्य स्नान निन्दित हैं।

दुर्जन स्पर्श का स्पष्ट भाव यह है कि यदि भूनिको रजस्वला स्त्रीका स्पर्श हो जाय, हढ्डी का स्पर्श हो जाय, चाण्डाल का स्पर्श हो जाय, कूता, गथा, नाई अथवा कापालिकों के नर कपालका स्पर्श हो जाव, वमन सत्या दंडवदुपविश्यते, श्रावकादिकश्छात्रादिको वा जलं नामयति, सर्वाङ्गप्रक्षालनं क्रियते, स्वयं हस्तमदंनेनाङ्गमलं न दूरीक्रियते, स्नाने संजाते सति उपवासो गृह्यते, पंचनमस्कारशतमध्दोत्तरं कायोत्सर्गेण जप्यते एवं शुद्धिभंवति । एवं मूलगुणं छित्वा । (बाहिरकम्मं करेइ जो साहू) बहिःकर्म आतपनयोगादिकं यः साघुःकरोति । (सो ण लहइ सिद्धिसुहं) स साघुःसिद्धिमुखं मोक्षसौख्यं न लभते न प्राप्नोति । (जिर्णालगविराषगो णिच्चं) स साघुर्जिनलिंगविराघको भवति, कथं ? नित्यं सर्वकालं ।

कि काहिदि बहिकम्मं कि काहिदि बहुविहं च खवणं च । कि काहिदि आदावं आदसहावस्स विवरीदो ॥९९॥

कि करिष्यति बाह्यकर्मे कि करिष्यति बहविधं च क्षमणं च !

कि करिष्यति आतापः आत्मस्वभावाद्विपरीतः ॥९९॥ (किं काहिदि बहिकम्मं) किं करिष्यति—न किमपि करिष्यति, मोक्षं न करिष्यति, किं तत् ? बहिष्कर्म पठनपाठनादिकं प्रतिक्रमणादिकं च । (किं काहिदि बहुविहं च खवणं च) किं करिष्यति—न किंमपि करिष्यति, न मोक्षं दास्यति ।

भगवा विष्ठा पर पैर पड़ जाय अथवा धारीर के ऊपर कौआ बीट कर दे तो स्नानका प्रसङ्ग होता है। परन्तु इस स्थिति में मुनि दण्डके समान सौधे बैठ जाते हैं और भावक अथवा छात्र आदिक जल डालते हैं तथा उनके सर्व शरीर का प्रक्षालन करते हैं मुनि स्वयं हाथ से मीठ कर शरीर का मैल दूर नहीं करते हैं। स्नान हो चुकने पर मुनि उस दिनका उपवास लेते हैं और खड़े होकर पञ्च नमस्कार मन्त्र का एकसौ आठ बार जाप करते हैं। इस तरह शुद्धि होतो है।

उक्त मूलगुणों को छेदकर अर्थात् उनमें दोष लगाकर जो साघु आतापन योग आदि बाह्य कार्यं करता है वह सिद्धि सुख-मोक्ष सुखको नहीं प्राप्त करता । वह निरन्तर जिन लिङ्ग की विराधना करने वाला माना गया है ॥ ९८ ॥

गावार्य-जो साघु आत्मस्वभावसे विपरीत है मात्र बाह्य कर्म उसका क्या कर देगा ? नाना प्रकार का उपवासादि क्या कर देगा ? और आता-पन योग क्या कर देगा ?

अर्थात् कुछ नहीं ॥ ९९ ।]

विद्येलाचे -- पठन-पाठन तथा प्रतिक्रमण आदि बाह्य कर्म उस साधुका म्या कर देंगे जो आत्मस्वभाव से विपरीत है। नाना प्रकार के उपवास ४१

षट्प्राभृते '

कि तत् ? बहुविघं नानाप्रकारं क्षमणमुपवासः । (कि काहिदि आदावं) कि करि-ब्यति, न किमपि करिष्यति, कोऽसो ? आतापः धर्मकायोत्सर्गं पूर्वोक्तः समाचारः । कचंभूतः, (आदसहावस्स विवरीदो) आत्मस्वभावाद्विपरीतः बाह्यवस्तुक्षम्मोहित्त-मनः ।

जदि पढदि बहुसुदाणि य जदि काहिदि बहुविहे य चरित्ते । तं बालसुदं चरणं हवेइ अप्यस्स विवरीदं ॥१००॥

यदि पठति श्रुतानि च यदि करिष्यति बहुविधानि चारित्राणि । तद्वालश्रुतं चरणं भवति आत्मनः विपरीतम् ॥१००॥

(बदि पढदि वहुमुदाणि य) यदि चेत्, पठति व्यक्तमुच्चारपति, बहुश्रुतानि अनेकतकंव्याकरणच्छन्दोऽलक्कारसिद्धान्तसाहित्यादीनि धास्त्राणि । चकार उक्त-समुच्च्यार्थं एकादशाङ्गानि दशपूर्वाणि च । (अदि काहिदि बहुविहे य चरिते) यदि चेत्, काहिदि---करिष्यति अनुष्ठास्यति, बहुविधानि चारित्राणि त्रयोदश-प्रकाराणि सामायिकादीनि पंचविधानि वा । (तं बाल्लसुदं चरणं) तत्सर्वं बाल्श्रुतं मूर्खंशास्त्रं, बाल्चरणं मूर्खंचारित्रं । (हवेद्व अप्पस्त विवरीदं) भवति बाल्श्रुतं बाल्ण्यारित्रं भवति, कथभूतं सत् ? आत्मनो नित्रशुद्धबुद्धैकस्वभावजीवतत्वादिप-रीतं पराङ्मुखमात्मभावनारहितमिति भावार्थः ।

आदि तप भी उस साधु का क्या कर देंगे जो आत्म स्वभाव से विमुख है और घाम में कायोत्सर्ग से खड़े होकर आतप योग धारण करना भी उसका क्या कर सकता है जो आत्मस्वभाव से विपरीत है। अर्थात् जिसका चित्त बाह्य वस्तुओं से संमोहित है॥ ९९॥

गायार्थ----यदि ऐसा मुनि अनेक शास्त्रोंको पढ़ता है तया नाना प्रकार के चारित्रों का पालन करता है तो उसकी वह सब प्रवृत्ति आत्म स्वरूप से विपरीत होनेके कारण बालश्रुत और बालचारित्र कहलाती है ॥ १०० ॥

विशेषार्थ--यदि कोई मुनि स्पष्ट उच्चारण करता है अथवा तर्क, व्याकरण, छन्द, अलंकार, सिद्धान्त और साहित्य तथा चकार से ग्यारह अङ्ग और दशपूर्वों को पढ़ता है तथा तेरह अथवा सामायिक आदि पांच प्रकार के चारित्र को करता है तो उसका यह सब कार्य बालशास्त्र और बाल-चारित्र होता है क्योंकि वह मुनि आत्मस्वभाव से पराङ्मुख है---आत्म मावना से रहित ॥ १०० ॥

'वेरगापरो साहू परदव्यपरम्मुहो य सो होदि । संसारसुहविरत्तो सगसुद्रसुहेसु अणुरत्तो ॥१०१॥

वैराग्यपर: साधु: परद्रव्यपराङ्मुखश्च स भवति । संसारसुखविरक्त: स्वकधुद्धसुखेषु अनुरक्तः ॥ १०१ ॥

(वेरग्गपरो साह) वैराग्यपरः साम्नेः संसारशरीरभोगनिविण्णः सम्यग्दशंन-ज्ञानानामाराधकत्वात्साधक आत्मनामान्वर्थंत्वात् । (परदव्यपरम्मुहो य सो होदि) यः साम्नुः वैराग्यपरः स साधुः परद्रव्यपराङ् मुखो भवति इष्टवनितादिविरक्तो भवति । (संसारसुहविरत्तो) संसारस्य सुखं कपूरंत्कत्तूरीचन्दनमालापट्टकूलसु-वर्णमणिमोक्तिकप्रासादधस्यंकनवयौवनयुवतिपुत्रसम्पदिष्टसंयोगारोग्यदीर्घायुयशः-कीर्तिप्रभृतिकं तस्माद्विरक्तः (सगसुद्रसुद्रेसु अणुरत्तो) पूर्वोक्तामशरीरकमंसमृत्यन्त-विश्वसुखाद्विरज्य निष्केवललवर्णाख्रस्यास्यादवत् सुक्षेषु वनन्तज्ञानादिषतुष्टयेऽनुर-कोर्तन्तुरागवान् भवतोति भावार्थः ।

गाथार्थ----जो साधु वैराग्य में तत्पर होता है वह परद्रव्य से परांग-मुख रहता है। इसी प्रकार जो साधु संसार सुख से विरक्त होता है वह स्वकोय शुद्ध सूख में अनुरक्त होता है।। १०१।।

विशेषार्थ— जो साधु वैराग्यमें तत्पर है, अर्थात् संसार शरीर और भोगोंसे विरक्त है वह इष्ट स्त्री आदि परदव्य से विमुख रहता है और जो कपूर, कस्तूरी, चन्दन, पुष्पमाला, रेशमी वस्त्र, सुवर्ण, मणि, मोती, महल, पलंग, नवयौवनवती स्त्री, पुत्र, सम्पत्ति, इष्टजन संयोग, आरोग्य, दीर्घायु तथा यशस्कोर्ति आदि संसार के सुखसे विरक्त रहता है वह अनन्त चतुष्टय रूप अपने दुख सुख में अनुरागी होता है जिस प्रकार नमक डलोको जिस ओर से चखा जाय उसी ओर से उसमें खारापन का स्वाद आता है इसी प्रकार आत्मा का किसी भी अंश—गुण की अपेक्षा अनुभव किया जाय उसी अंश से वह अनन्त ज्ञानादि रूप अनुभव में आता है ॥ १०१ ॥

पं० जयचन्द्रेण इमां गायां १०२ तम् गाययां सह पठित्वा ''उत्तमं ठाणं पावइ'' इति कमं क्रिया सम्भन्भोयोजितः ।

षट्प्राभृते

गुणगणविहूसियंगो हेयोपादेयणिच्छिदो साह । झाणज्झयणे सुरदो सो पावइ उत्तमं ठाणं ॥१०२॥

गुणगणविभूषिताङ्गः हेयोपादेयनिश्चितः साधुः । ध्यानाध्ययने सुरत्तः स प्राप्नोति उत्तमं स्थानम् ॥ १०२ ॥

(गुणगणविहूसियंगो) गुणानां ज्ञानघ्यानतपोरत्नानां गणैः समूहैविभूषिताङ्गः कोभितवारीरः । (हेयोपदियणिच्छिदो साहू) हेयं मिख्यात्वादिकं उपादेयं ग्रहणीयं सम्यक्त्वरत्नादिकं तत्र निश्चितं निश्चयो यस्य स हेयोपादेयनिश्चित्तः साघू रत्न-त्रयाराषको मुनिः । (द्वाणज्ज्ञयणे सुरदो) घ्यानमार्तरौद्रघ्यानद्वयपरित्यागेन घर्म्य-शुक्लघ्यानद्वये रतस्तत्परस्तन्मिष्ठस्तदेकतानः । (सो पावइ उत्तमं ठाणं) य एवं-विधः साघुः स प्राप्नोति किं? उत्तमस्थानं भावस्थानं ^कशरीरत्व्रक्षण हीनस्थानं परिद्वृत्य कर्मचरीरबन्धन³रहित मोक्षं प्राप्नोति लभते सिद्धः प्रसिद्धश्च भवतीति तात्यर्यार्थः ।

गायार्थ—गुणों के समूह से जिसका शरीर शोभित है, जो हेय और उपादेय पदार्थों का निश्चय कर चुका है तथा घ्यान और अध्ययन में जो अच्छो तरह लीन रहता है वही साधु उत्तम स्थान को प्राप्त होता है ॥ १०२ ॥

- १. शरीर लक्षणं म० ।
- २. रहितत्वं मोक्षं म० ।

-8. 803]

णविएहिं जं णविज्जइ झाइज्जइ झाइएहिं अणवरयं । थुव्वंतेहि थुणिज्जइ देहत्थं किं पि तं मुणह ॥१०३॥

नतैः यत् नम्यते ध्यायते ध्यातैः अनवरतम् ।

स्तूयमानैः स्तूयते देहस्यं किमपि तत् मनुत ॥ १०३ ॥

(णविएहि जं णविज्जद) नतैर्देवेन्द्रादिभियंन्नम्यते । (झाइज्जद झाइएहि अणवरयं) घ्यायतेऽहर्निशं चिन्त्यते झाइएहि—घ्यातैस्तीर्थंकरपरमदेवैयंदधायते अहर्निशं शुक्लघ्यानार्थं सर्वकर्मक्षयार्थं तत्पदप्राप्त्ययं अनुचिन्त्यते । (युव्वतेहि युणिज्जद्द) स्तुयभानैस्तीर्थंकरपरमदेवैयंत् स्तूयतेऽनन्तगुणोद्भावनत्तया प्रशस्यते । (देहत्यं कि पि तं मुणह) देहस्यं शरीरमध्ये स्थितं किमप्यपूर्वमनिर्वचनीयमासंसार-मप्राप्तं तद्योगिनां प्रसिद्ध तत्त्वं आत्मस्वरूपं मुणह-जानीत यूयं । सदुक्तं-

> तिरुमध्ये यथा तैरुं दुग्धमध्ये यथा घृतं। काष्ठमध्ये यथावस्निर्देहमध्ये तथा धिवः॥१॥

गायार्थ—दूसरों के द्वारा नमस्कृत इन्द्रादिदेव जिसे नमस्कार करते हैं, दूसरों के द्वारा ध्यान-ध्यान किये गये तीर्थंकर देव जिसका निरन्तर ध्यान करते हैं और दूसरों के द्वारा स्तूयमान—स्तुति किये गये तीर्थंकर जिनेन्द्र भी जिसकी स्तुति करते हैं शरीर के मध्यमें स्थित उस अनिवंच-नीय आत्म तत्वको तुम जानो ॥ १०३ ॥

तिलमध्ये---जिस प्रकार तिल के बीच में तैल, दूध के बीचमें घी और काष्ठ के बीच में अग्नि रहती है उसी प्रकार शरीर के बीचमें शिव रहता है । यहाँ शिवका अर्थ आस्मतत्व है ॥ १०३ ॥ शिवशब्दावाच्यमात्मतत्वमित्यर्थः ।

इदानीं शास्त्रस्यान्ते मंगलनिमित्तं पंचपरमेष्ठिपुरस्सररत्नत्रयंगभितमात्मतत्व-मुद्भावयन्ति भगवन्तः----

अठहा सिद्धायरिया उज्झाया साहु पंचपरमेट्टी। ते वि हु चिट्टहि आदे तम्हा आदा हु मे सरणं ॥१०४॥ अहंन्तः सिद्धा आचार्या उपाध्यायाः साधवः पंचपरमेष्ठिनः। तेऽपि ह तिष्ठन्ति आत्मनि तस्मादात्मा ह मे शरणम् ॥१०४॥

(अरुहा सिदायरिया) अहंन्तः सिदा आचार्याक्च । (उज्झाया साहु पंचपर-मेट्ठो) उपाध्यायाः, साधवः, एते पंचपरमेष्ठिनो देवा समेष्टदेवताः । (ते वि हु चिट्ठहि बादे) तेऽपि पंचपरमेष्ठिनो देवा अपि तिष्ठन्ति, क्व ? आत्मनि निज-जीवनत्वे । केवलज्ञानादिगुणविराजमानत्वात् सकल्जभव्यजोवसम्बोधनसमर्थत्या-ज्यात्मायमर्हन् वर्तते । सर्वकर्मक्षयलसणमोझपदप्राप्तत्वात् निष्चयनयान्ममात्मायमेव सिद्धः । दीक्षाधिक्षादायकत्वात् पंचचाराचरणचारणप्रवीणत्वात् सूरिमंत्रतिलक-

अब शास्त्र के अन्त में मज्जूल के निमित्त पश्चपरमेष्ठियों के साथ साथ रत्नत्रय से गर्भित जो आत्मतत्व है श्री कुन्दकुन्द भगवन्त उसीका वर्णन करते हैं---

मंत्रतन्मयत्वान्ममात्मायमेवाचार्यपदभागी वर्तते । श्रुतज्ञानोपदेशकरूखात् स्वपरम-तविज्ञायकत्वात् भव्यजीवसम्बोधकत्वान्ममात्मायमेवोपाघ्यायः । सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्ररत्नत्रयसाधकत्वात् सर्वद्वन्द्वविमुक्तत्वात् दीक्षाशिक्षायात्राप्रतिष्ठाद्यनेकधर्म-कार्यनिश्चिन्ततयाऽऽत्मतत्वसाधकत्तया ममात्मायमेव सर्वसाधुर्वतंते इति पंचपरमेष्ठिन आत्मनि तिष्ठन्तीति कारणात् । (तम्हा बादा हू मे सरणं) तस्मात्कारणादात्मा हु----स्कुटं मे मम शरणं संसारदुः सनिवारकत्वादर्तिमयनसमर्थः मम शरणं गतिरिति ।

सम्मत्तं सण्णाणं सच्चारित्तं हि सत्तवं चेव । चउरो चिट्ठहि आदे तह्या आदा हु मे सरणं ॥१०५॥ सम्यक्त्वं सज्ज्ञानं सच्चरित्रं हि सत्तपश्चैव।

चत्वारः तिष्ठन्ति आत्मनि तस्मादात्मा हु मे शरणम् ॥१०५॥ (सम्मर्सं सण्णाणं) ैसम्यक्त्वं सम्यग्दर्शनरत्नं सज्ज्ञानं समीचीनमवाधितं पूर्वापरविरोधरहितं सम्यग्झानं। (सच्चारित्तं हि सत्तवं चेव) सच्चारित्रं सम्यक्चारित्रं पापक्रियाविरमणलक्षणं परमोदासीनतास्वरूपं च सम्यक्चारित्रं, सम्यक्चारित्रं पापक्रियाविरमणलक्षणं परमोदासीनतास्वरूपं च सम्यक्चारित्रं, सम्यक्चारित्रं पापक्रियाविरमणलक्षणं परमोदासीनतास्वरूपं च सम्यक्चारित्रं, सम्यक्चारितं पापक्रियाविरमणलक्षणं परमोदासीनतास्वरूपं च सम्यक्त्वारित्रं, सम्यक्चारितं पापक्रियाविरमणलक्षणं परमोदासीनतास्वरूपं च सम्यक्त्वारित्रं, सत्तवं-----समीचनं तपः इच्छानिरोधलक्षणं चेति। (चजरो चिट्ठहि आदे) एते बत्वारोअपि परमाराधनापदार्थास्तिष्ठन्ति, क्व तिष्ठत्ति ? आत्मनि निजशुद्धबुद्धैक-

आदि अनेक धर्म कार्योंकी निश्चिन्तता से तथा आत्मतत्व की साथ-कता से मेरो यह आत्मा ही साधु है। इस प्रकार पञ्चपरमेष्ठी रूप मेरी यह आत्मा ही मेरे लिये स्पष्ट रूप से शरण है—यही संसार सम्बन्धी दुःखोंका निवारक होनेसे मेरी पीड़ा को नष्ट करने में समर्थ है॥१०४॥

गाधार्व--सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप ये चारों आत्मा में स्थित हैं इसलिये आत्मा ही मेरा शरण है ॥१०५॥

विशेषार्थं सम्यक्त्व सम्यग्दर्शन रूपी रत्नको कहते हैं। समीचीन और अवाधित अर्थात् पूर्वापर विरोध से रहित जो ज्ञान है वह सम्यग्ज्ञान कहछाता है। पापक्रियाओं से विरत होना तथा परम उदासीनता को धारण करना सम्यक्चारित्र है। और इच्छानिरोध हो जाना सम्यक्-तप है। ये चारों ही परम आराधनाएँ निज शुद्ध-बुद्ध स्वभावसे युक्त आत्मा में स्थित हैं। चूँकि आत्मा ही आत्मा का श्रद्धान करती है, आत्मा ही आत्मा के ज्ञानको करती है, आत्मा ही आत्मा के साथ एकलोली भाव

[े]रे. म॰ प्रती सम्पन्तवं गास्ति ।

स्वभावजोवतत्वे तिष्ठन्ति । यदात्मनः श्रद्धानमारमैव करोति, आत्मनो झानमा-त्मैव विघत्ते, आत्मा सहैकछोलोभावमात्मैव कुरुते, आत्मै—वात्मनि तपति, केवल-झानैस्वयं प्राप्नोति चतुर्भिरपि प्रकारैरात्मात्मवाराधयति । (तम्हा आदा ह मेश्सरणं) तत्मादात्मैव मम घारणमतिमयनतमर्यः संसारातिनिषेधकत्वात् आत्मैव मे गतिः, मंगलं मलगालने कर्मं मलकल छूनिषेधने मंगस्य सुखस्य दाने च समर्य-त्वादात्मैव परमं मंगलमिति भावार्यः ।

एवं जिणपण्णत्तं मोक्सस्य य पाहुडं सुभत्तीए । जो पढइ सुणइ सो पावइ सासयं सोक्सं ॥१०६॥

एवं जिनप्रझप्तं मोक्षस्थ च प्रामृतं सुभक्त्या । यः पठति भ्रष्टणोति भावयति स प्राप्नोति शाश्वतं सौरूयस् ॥१०६॥ (एवं जिपपण्णत्तं) एवममुना प्रकारेण जिनप्रझप्तं सर्वज्ञवीतरागभावितं (मोक्सस्स य पाहुडं सुभत्तीए) मोक्षस्य परमनिर्वाणपदस्य प्रामृतं सारगिदं शास्त्रं सुष्ठु---अतिशयेन भक्त्या परमधर्मानुरागेण । (जो पढद्द सुणद्द भावद्द) य आसन्नभव्यो जोवः पठति जिह्वाप्रे करोति, यश्च भव्यजीवः श्रुणोत्याकर्णयति, यश्च मोक्षाभिलाषुको जीवो भावयति एतण्ठास्तं यस्मे रोपर्वते । (सो पावद्द

अर्थात् तन्मयो माव को प्राप्त होती है, आत्मा हो आत्मा में तपती है और आत्मा हो आत्मा में केवलजान रूप ऐश्वर्य को प्राप्त होती है इस तरह चारों प्रकार से आत्मा ही आत्मा की आराधना करती है इसलिये आत्मा ही मेरा शरण है—मेरी पीड़ाको नष्ट करने में समर्थ है। इस प्रकार संसार की पोड़ा का नाश करने वाली होनेसे आत्मा हो मेरी गति है---अन्तिम लक्ष्य है। आत्मा ही मज्झल रूप है क्योंकि वही मं अर्थात् पापको गलाने वाली है अथवा कमं रूपी मलके कलंक को दूर करने वाली है अथवा आत्मा ही मगं अर्थात् सुखको देनेवाली है इसलिये आत्मा हो परम मज्झल रूप है ॥१०५॥

गायार्थ---इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा प्रणीत इस मोक्ष-प्राभृत को जो उत्तम भक्ति से पढ़ता है, सुनता है और इसकी भावना करता है वह शाश्वत सुखं--अविनाशो मोक्ष सुखको प्राप्त होता है।।१०६॥

विशेषार्थ—ग्रन्थ के फलका निरूपण करते हुए श्री कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं कि इस प्रकार सर्वज्ञ वीतराग देवके द्वारा मूलरूप से उपदिष्ट इस मोक्षप्राभृत नामक सारभूत शास्त्रको जो निकट भम्पजीव परम धर्मानुराग से पढ़ता है अर्थात कण्ठस्य करता है, सुनता है भौर मोक की सासयं सोक्खं) स जोवः ९१ममुनीस्वरः, प्राप्नोति रूभते, शास्वतमविनस्वरं, सौस्यं निजात्मोत्यं परमानन्दरुक्षणं सौस्यं ।

टीकाकर्तुः प्रशस्तिः

भानासास्त्रमहार्णवैकतरणे यद्वुद्धिरिद्धश्रिया । पूर्णा पुष्प्यकविप्रमोदजननी सारैकनौकायते ॥ यत्पादाम्बुजयुग्ममाप्य मुनिभि मृंगैरिवा प्यायते । स श्रीमान् श्रुतसागरो विजयतामेनस्तमोऽहर्ण्यतिः ॥ १ ॥

^८ेमत्स्वामिसमन्तभद्रममलं श्रीकुन्दकुन्दाक्ह्यं । यो घीमानकलक्कूभट्टमपि च श्रीमस्त्रभेन्दुप्रभुं ॥ विद्यानन्दमपीक्षि तु क्रतमनाः श्रीपूज्यपादं गुरुं । वीक्षेत श्रुवसागरं सविनयातु न्नैविद्यधीमन्तुर्त ॥ २ ॥

अभिलाषा रखता हुआ इसका चिन्तन-मनन करता है वह निज आत्मा से उत्पन्न होनेवाले परमानन्द रूप अविनाशी सुखको प्राप्त होता है।।१०६।।

आगे संस्कृत टीकाकार अपनी प्रशस्ति लिखते हैं---

देदी प्रमान रूक्ष्मी से पूर्ण तथा पुण्यशाली कवियों को आनन्द उत्पन्न करनेवाला जिनकी बुद्धि नाना शास्त्र रूपी महासागर के तैरने में सुदृढ़ नौका के समान आचरण करती है, जिनके चरण कमलों के युगल को पाकर मुनि भग्न ंं के समान संतुष्ट हैं। जाते हैं तथा जो पाप रूपी अन्धकार को नष्ट करले ः लिये सूर्य हैं वे श्रीमान् श्रुतसागर मुनि दिजय को प्राप्त हो ॥ १। '

भोमत्—जो बुद्धिमान् ओभान् स्वामी समन्तभद्र, निर्मल कुन्द-कुन्दाचार्यं, अकलक्कुभट्ट, श्रं। प्रभाचन्द्रस्वामो, विद्यानन्द तथा श्री पूज्यपाद गुरुको देखनेकी इच्छा करता है अर्थात् उनकी रचनाओंका स्वाद जानना चाहता है वह विनयपूर्वक त्रैविद्य पदधारो विद्वानों के ढारा स्तुत श्री श्रुतसागरको विनयसे देखे अर्थात् उनकी रचनाओंका पठन पाठन करे ॥२॥

१. रिवापीयते म• क० ।

श्रीमस्लिभूषणागुरोर्वचनादर्लच्या । न्मुक्तिश्रिया सह समागमसिच्छतेयं ॥ षट्प्राभृते सकलसंक्षयचत्रुहंती । टीका कृताऽकृतघियां श्रुतसागरेण ॥३॥

इति श्रीपद्मनन्दिकुन्दकुन्दाचार्यं वक्ष्म्यीवाचार्ये छासाय गुध्रिपिचछाचार्यनामयं चक्रवि-राजितेन चतुरङ्गुलाकाशगमनद्धिना पूर्वविदेहपुण्डरीकिणीनगरवंदितसीमन्घरा-परनामस्वयंप्रभाजिनेन तत्अतुतज्ञानसम्बोधितभरतवर्षभव्यजीवेन श्रीजिनचन्द्र सूरि-भट्टारक पट्टाभरणभूतेन कल्जिलालसर्वज्ञेन विरचिते षट्प्राभृतग्रन्थे सर्वमुनिमण्डली-मंडितेन कल्जिकालगौतमस्वामिना श्रीपद्मनन्दिदेवेन्द्रकीर्ति-विद्यानन्दिपट्टभट्टार-केण श्रीमल्लिभूषणेनानुमतेन सकलविद्वज्जनसमाज सम्मानिते नोभयभाषाकवि-चक्रवर्तिना श्रीविद्यानन्दिगुर्वन्तेवासिना सूरिवर श्रीश्चतसागरेण विरचिता मोक्षप्राभृतदीका-

परिसमाप्ता षष्ठः परिच्छेदः श्रीभु'यात्

थो मल्लिभूषेण—अो मल्जिभूषण गुरुके अलङ्घश वचनों से मुक्ति लक्ष्मी के साथ समागम को इच्छा करने वाले श्री श्रुतसागर ने मल्दबुद्धि लोगोंके लिये षट्प्राभृत ग्रन्थ पर समस्त संशयरूपी शत्रुओं को नष्ट करने वाली यह टीका रची है।।३।।

इस प्रकार श्री पद्मनन्दी, कुन्दकुन्दाचार्य, वकग्रीवाचार्य, एलाचार्य और गृढपिच्छाचार्य इन पाँच नामोसे विराजित, चार अंगुल प्रमाण आकाश में चलनेवाली ऋढि से युक्त, पूर्वविदेह क्षेत्र की पुण्डरीकिणी नगरी में सीमन्धर इस दूसरे नामसे युक्त स्वयंप्रभ जिनकी वन्दना करने वाले, जनके श्रुतज्ञान से भरत क्षेत्रके भव्य जीवों को सम्बोधित करने वाले, श्री जिन-चन्द्रसूरि भट्टारक के पट्टके आभरणभूत तथा कलिकाल के सर्वज्ञ स्वर्फ्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी के द्वारा विरचित धट्प्राभृत ग्रन्थ पर समस्त मुनि मण्डली से मण्डित कलिकाल के गौतमस्वामी, श्री पद्मनन्दी, देवेन्द्रकीति और विद्यानन्दी के पट्ट पर स्थित भट्टारक श्री मल्लिभूषण के द्वारा अनु-मत सकल विद्वज्जनों के समूह से सन्मानित, उभय भाषा के कवियों के चकवर्ती, श्री विद्यानन्दी गुरुके शिष्य सूरिवर श्री श्रुतसागर के द्वारा विरचित मोक्षप्राभृत की टोका समाप्त हुई ।

सिङ्ग प्राभृतम्

काऊण णमोकारं अरहंताणं तहेव सिद्धाणं । वोच्छामि समर्णालगं पाहुडसत्थं समासेण ॥ १ ॥ कृत्वा नमस्कारं अर्हतां तथैव सिद्धानां । वक्ष्यामि श्रमणलिंगं प्राभृतशास्त्रं समासेन ॥ १ ॥ वक्ष्यामि श्रमणलिंगं प्राभृतशास्त्रं समासेन ॥ १ ॥ घम्मेण होद्द लिंगं ण लिंगमत्तोण धम्मसंपत्ती । जाणेहि भावधम्मं कि ते लिंगेण कायव्यो ॥ २ ॥ धर्मेण भवति लिंगं न लिंगमात्रेण धर्मसंप्राप्तिः । जानीहि भावधमं कि ते लिंगेन कर्तव्य ॥ २ ॥ धर्मेण भवति लिंगं न लिंगेन कर्तव्य ॥ २ ॥ जो पावमोहिवमवी लिंगं घेत्तूण जिणवरिवाणं । उवहसइ लिंगि भावं 'लिंगं णासेवि लिंगीणं ॥ ३ ॥ यः पापमोहितमतिः लिंगं गृहोत्वा जिनवरेन्द्राणां । उपहसति लिंगिभावं लिंगं नाइयति लिंगीनां ॥ ३ ॥

काऊण---मैं अरहन्तों तथा सिद्धों को नमस्कार कर संक्षे से मुनि-लिङ्ग का वर्णन करने वाले प्राभुत शास्त्र को कहुँगा ॥१॥

धम्मेण-धर्म से ही लिङ्ग होता है, लिङ्गमात्र धारण करने से धर्म की प्राप्ति नहीं होती इसलिये भावको धर्म जानो, भाव-रहित लिङ्ग से तुझे क्या कार्य है ?

भावार्थ लिङ्ग अर्थात् शरीर का वेष धर्म से होता है जिसने भावके बिना मात्र शरीरका वेष धारण किया है उसके धर्मकी प्राप्ति नहीं होती इसलिये भाव ही धर्म है भावके बिना मात्र वेष कार्यकारी नहीं है ॥ २ ॥

बो पाप—जिसकी बुद्धि पापसे मोहित हो रही है ऐसा जो पुरुष जिनेन्द्र देवके लिङ्गको—नग्न दिगम्बर वेषको ग्रहण कर लिङ्गी के यथार्थ मावकी हँसी करता है वह सच्चे वेषधारियों के वेषको नष्ट करता है अर्थात् लजाता है।

 उबहमह इति पाठः वः पं० जयचन्द्रिण स्वीकृतः । स्त्रिंगम्मी य णारदो सिमी । णच्चदि गायदि तावं वायं वाएदि लिंगरूवेण । सो पावमोहिदमदी तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥ ४ ॥ नृत्यति गायति तावत् वाद्य ? वादयति लिंगरूपेण । स पापमोहितमतिः तिर्यग्योनिः न स श्रमणाः ॥ ४ ॥ सम्मूहदि रक्खेदि य अट्टं झाएदि बहुपयत्तेण । सा पावमोहिदमदी तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥ ५ ॥ समूहयति रक्षति च आतं ध्यायति बहुप्रयत्तेन । स पापमोहितमतिः तिर्यग्योनिः न स श्रमणः ॥ ५ ॥ मलहहं वादं जूवा णिज्चं वहुमाणगव्विओ लिंगी । कलहं वादं दूतं नित्यं वहुमानगवितो लिंगी । कलहं वादं दूतं नित्यं वहुमानगवितो लिंगी । कलहं वादं दूतं नित्यं वहुमानगवितो लिंगी ।

भावार्थ-जो नग्न मुद्राको धारण कर पीछे पापसे मोहित बुद्धि होता हुआ वेषधारियों के यथार्थ भावका उपहास करता है अर्थात् मावलिज्ज की ओर लक्ष्य नहीं देता मात्र पापसे प्रेरित होकर विपरीत आचरण करता है बह अन्य जो यथार्थ वेषधारी हैं उनके भी वेषको नष्ट करता है उनके वेषके प्रति लोगोंमें अनादरका भाव उत्पन्न कराता है ।।३।।

णज्यदि---जो मुनि लिङ्गसे नाचता है, गाता है अथवा बाजा बजाता है वह पापसे मोहित बुद्धि पशु है, मुनि नहीं है ।

भावार्थ----जो मुनि होकर भी नृत्य करता है, गाता है और बाजा बजाता है वह पापी पशु है, मुनि नहीं है ।।४।।

सम्महूदि---जो बहुत प्रकार के प्रयत्नों से परिग्रह को इकट्ठा करता है, उसकी रक्षा करता है तथा आतंध्यान करता है वह पापसे मोहित बद्धि पश है, मुनि नहीं है।

भावार्थ-मुनि होकर भी जो नाना प्रकार के प्रयत्नों से परिग्रह को इकट्ठा करता है, उसकी रक्षा करता है तथा उसके निमित्त आर्तघ्यान करता है उसकी बुद्धि पापसे मोहित है उसे पशु समझना चाहिये वह मुनि नहीं कहलाता है ॥५॥

कलहं — जो पुरुष मुनि लिङ्ग का धारक होकर भी निरन्तर अत्य-

 करणमर्णा लाउराण य इतिपाठ पं० वयचन्द्रेण स्वीक्रतः तेनैव राउलाणं इत्यपि पाठान्तर सूचितं समाएण म०।

लिंगप्रामृतम्

पावोपहदिभावो सेवदि य अबंभु लिंगिरूवेण । सो पावमोहिदमदी हिंडदि संसारकांतारे ॥ ७ ॥ पापोहतभावः सेवते च अब्रह्म लिंगिरूपेण । स पापमोहितमतिः हिंडते संसारकांतारे ॥ ७ ॥ संसारकांतारे ॥ ७ ॥

दंसणणाणचरित्ते उवहाणे जइ ण लिंगरूवेण । अट्टं झायदि झाणं अणंतसंसारिओ होदी ॥८॥ दर्शनज्ञानचारित्राणि उपधानानि यदि न लिंगरूपेण । आर्तं ध्यायति ध्यानं अनन्तसंसारी को भवति ॥ ८॥

घिक गर्व से युक्त होता हुआ कलह करता है, वादविवाद करता है, अथवा जुआ खेलता है वह चूँकि मुनि लिङ्ग से ऐसे कुक़ृत्य करता।है अतः पापी है और नरक जाता है।

भावार्थ-जो ऊँचा पद धारण कर कुकृत्य करता है वह पापी नियम से नरकगामी होता है ॥६॥

पापोपहद---पापसे जिसका यथार्थ भाव नष्ट होगया है ऐसा जो पुरुष मुनिलिङ्ग घारण कर भी अब्रह्म का सेवन करता है वह पापसे मोहित बुद्धि होता हुआ संसार रूपी अटवी में भ्रमण करता रहता है।

भावार्थ—मुनि लिङ्ग धारण कर जिसने पहले अब्रह्म सेवन का परि-त्याग किया पीछे पापोदय से परिणामों को मलिन कर जो अब्रह्म का सेवन करता है वह दुबुंद्धि दोर्घ काल तक संसार रूपी वन में घूमता रहता है गिआ

दंसणणाण---जो मुनि लिङ्ग धारण कर सम्यग्दर्शन, सम्यग्जान और सम्यक्**चारित्र को उपधान अर्थात् आश्रय नहीं बना**ता है तथा आर्त्तध्यान करता है वह संसारी होता है ।

भावार्थ—मुनिवेषका प्रयोजन तो रत्नत्रय की आराधना है पर जो मुनिवेष रख कर रत्नत्रय को ध्यानका आलम्बन नहीं बनाता उलटा आत्तर्घ्यान करता है वह अनन्त संसारी होता है अर्थात् जिसके संसार का अन्त नहीं ऐसा अभव्य कहलाता है ॥८॥ जो जोडदि विव्वाहं किसिकम्मवजिज्जजीवधादं च । वच्चदि णरयं पाओ करमाणो लिंगिरूदेण ॥ ९ ॥ यः योजयति विवाह कृषिकमँवाणिज्यजीवघातं च । द्रजति नरकं पापः कुर्वाणः लिंगिरूपेण ॥ ९ ॥ चोराण मिच्छवाण य जुद्ध विवाहं च तिव्वकम्मेहि । जंतेण दिव्वमाणो गच्छदि लिंगी णरयवासं ॥१०॥ चोराणां मिथ्यावादिनां युद्धं विवादं च तीव्रक्मॅभिः ।

यंत्रेण दीव्यमानः गच्छति लिंगी नरकवास ॥१०॥

जो जोड़दि—जो मुनिका लिङ्ग रखकर भी दूसरों के विवाह सम्बन्ध जोड़ता है तथा खेतो और व्यापार के द्वारा जीवों का घात करता है वह चूँकि मुनिलिङ्ग के द्वारा इस कुकुत्य को करता है अतः पापी है और नरक जाता है।

भावार्थ----जो पुरुष नग्न मुद्राका धारी होकर दूसरों के विवाह सम्बन्ध जुड़वाता है और खेती तथा व्यापार के द्वारा जीव घात करता है वह नियम से नरक जाता है। गृहस्थ ने अपने पदके अनुकूल इन कार्योंका त्याग नहीं किया है इसलिये वह इन्हें करता हुआ भी नरक का पात्र अनिवाय रूप से नहीं होता परन्तु जो मनुष्य मुनिलिङ्ग धारण कर इन कुकूत्यों को करता है वह नियम से नरक का पात्र होता है॥९॥

चोराण---जो लिङ्गी चोरों के तथा झूठ बोलने वालों के युद्ध और विवाद को कराता है तथा तीव्रकर्म--खर कर्म अर्थात् जिनमें अधिक हिंसा होती है ऐसे कार्योंसे और यन्त्र अर्थात् चौपड़ आदिसे क्रीड़ा करता है वह नरकवासको प्राप्त होता है।

दंसणणाणचरिते तवसंजमणियमणि फ्वकम्मग्मि । पीडयदि ^२वट्टमाणो पावदि लिंगो णरयवासं ॥११॥ दर्शनज्ञानचरित्रेषु तपःसंयमनियमनित्यकर्मणि । ³पोडयति वर्तमानः प्राप्पोति लिंगी नरकवासं ॥११॥ कंदम्पा इय वट्टइ करमाणो भोयणेसु रसगिद्धि । माई लिंगविवाई तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥१२॥

> कंदर्पादिकं वर्तेते कुर्वाणः भोजनेषु रसगृद्धि । मायावी लिंगव्यपायी तियंग्योनिः न स श्रमणः ॥१२॥

दंसण—जो मुनि वेथी दर्शन, ज्ञान, चारित्र तथा तप संयम नियम और नित्यकार्यों में प्रवृत्त होता हुआ दूसरे जीवों को पीड़ा पहुँचाता है वह नरकवास को प्राप्त होता है।

भावार्थ---जो पुरुष मुनिपद घारण कर अपनी प्रमाद पूर्ण प्रवृत्ति से दूसरे जीवों को पीड़ा पहुँचाता है वह नरकगामी होता है। अचवा 'पीड़यति' के स्थान पर 'पीड़यते' छाया मानी जावे तो यह अर्थ होता है कि जो पुरुष मुनि पद धारण कर उक्त कार्योंको करता हुआ पीड़ित होता है अर्थात् अरुचि भावसे दुःखी होता है वह नरकगामी होता है। कुछ प्रतियों में 'वट्टमाणो' के स्थान पर 'बद्धमानो' भी पाठ है सो उसका अर्थ अहं-कार-वश होता हुआ ऐसा करना चाहिये।।१९।।

कंक्प्याइय---जो पुरुष मुनिवेषो होकर भी कांदर्पी आदि कुत्सित भावनाओं को करता है तथा भोजन में रस सम्बन्धी लोऌपता को धारण करता है वह मायाचारो, मुनिलिङ्ग को नष्ट करने वाला पशु है, मुनि नहीं है।

भावार्थ---मुनि होकर भो जो कषाय वश काम कथा आदि विकथाएँ करते हैं तथा भोजन में अत्यधिक आसक्ति रखता है वह मायाचारी है तया लिङ्ग को लजाने वाला है ऐसा पुरुष पशु है, मुनि नहीं है ॥१२॥

३. पं० जवचन्द्र टीकायां पवियते इति छाया स्वीकृता ।

४. वंशी म॰ 📒

१. णिय अ ।

२. बद्धमानों म० ।

धावदि पिडणिमित्तं कल्हं काऊणः भुं जदे पिडं । अवरुपरुई संतो जिणमग्गि ण होइ सो समणो ॥१३॥ धावति पिडनिमित्तं कलहं कृत्वा भुंक्ते पिडं । अपरप्ररूपी सन् जिनमार्गी न भवति स श्रमणः॥१३॥ गिण्हदि अदत्तदाणं परणिदा वि य परोक्खदूसेहिं । जिर्णालगं धारतो चोरेण व होइ सो समणो ॥१४॥ गृह्णति अदत्तदानं परनिन्दामपि च परोक्षदूषणैः । जिनलिंगं धारयन् चोरेणेव भवति स श्रमणः ॥१४॥ उप्पडदि पडदि धावदि पुढवीओ खण्दि लिंगरूवेण । इरियावह घारतो तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥१५॥ उत्पत्तति पतति धावति पृथिवीं खनति लिंगरूपेण । ईर्यापयं धारयन् तियंग्योनिः न स श्रमणः ॥१५॥

धावदि—जो आहार के निमित्त दौड़ता है, कलह कर भोजन को ग्रहण करता है और उसके निमित्त दूसरे से ईर्ष्या करता है वह जिनमार्गी श्रमण नहीं है।

भावार्य----इस कालमें कितने तो लोग जिनलिङ्ग से भ्रष्ट होकर अर्ध-पालक हुए फिर उनमें क्ष्देताम्ब उदिक संघ हुए। उन्होंने शिषिलाचार का पोषण कर लिङ्ग की प्रवृत्ति विक्वत कर दी। उन्हों का यहाँ निषेष समझना चाहिये। उनमें अब भी कोई ऐसे साधु हैं जो आहार के निमित्त शोघ दौड़ते हैं ईर्यासमिति को भूल जाते हैं और गृहस्य के घरसे लाकर दो चार सम्मिलित बैठकर खाते हैं और बटवारा में सरस नीरस आनेपर परस्पर कलह करते हैं तथा इस निमित्त को लेकर दूसरों से ईर्ष्या भी करते हैं सो ऐसे साध जिनमार्थी नहीं हैं। १३॥

गिण्हदि—जो मनुष्य जिन लिङ्गको धारण करता हुआ भी बिना दी हुई वस्तुको ग्रहण करता है तथा परोक्ष में दूषण लगा लगा कर दूसरेकी निन्दा करता है वह चोर के समान है, साघु नहीं है ।

भावार्थ---दातार की इच्छा न होने पर अड़कर भिक्षा आदि को ग्रहण करना अदत्तादान है। जो साधु इस प्रकारके आहारको ग्रहण करता है और परोश में दोष लगाकर दूसरे की निन्दा भी करता है वह चोर के समान है॥१४॥

उप्पर्धाः---जो मुनिलिङ्ग धारण कर चलते समय कभी उछलता है,

बंधे णिरओं संतो सस्सं खंडेदि तह व वसुहं पि । छिददि तरुगण बहुसो तिरिक्खज्ञोणी ण सो समणो ॥१६॥ बंध 'विरतः सन् सस्य खण्डयति तथा च वसुधामपि । छिनत्ति तरुगणं बहुशः तिर्यग्यानिः न स श्रमणः ॥१६॥ रागो (रागं) करेदि णिज्चं महिलावग्गं परं च दूसेदि । दंसणणाणविहीणो तिरिक्खजोणी ण सो समणो ॥१७॥ रागं करोति नित्यं महिलावर्गं परं च दूर्ष्यात । दर्शनज्ञानविहीनः तिर्यग्योनिः न स श्रमणः ॥१७॥

कभी दौड़ता है और कभी पृथिवो को खोदता है वह पशु है, मुनि नहीं है।

भावार्थ—मुनिलिङ्ग धारण करते समय ईर्यासमिति से चलने का नियम लिया जाता है सो उस प्रतिज्ञा की ओर घ्यान न देकर जो कूदता हुआ, गिरता हुआ, दौड़ता हुआ तथा पृथिवी को स्रोदता हुआ चलता है वह मुनि नहीं है वह तो वृषभ आदि पशुके तुल्य है ॥१५॥

बंधेणिरबो—जो किसी के बन्ध में लीन होकर अर्थात उसका आज्ञा-कारी बनकर धान कूटता है, पृथिवी खोदता है और वृक्षोंके समूहको छेदता है वह पध् है, मुनि नहीं है।

रागोकरेबि—जो स्त्रियोंके समूह के प्रति निरन्तर राग करता है दूसरे निदॉष प्राणियोंको दोष लगाता है तथा स्वयं दर्शन और ज्ञानसे रहित है बह पशु है, साधु नहीं है।

भावार्थ— फितने हो साधु निरन्तर स्त्रियों के पास उठते हैं बैठते हैं, उन्हीं से अधिक वार्तालाप करते हैं, दूसरे निर्दोष व्यक्तियों की निन्दा करते रहते हैं और स्वयं झान दर्शन से रहित हैं न अपने इन गुणों की वृद्धि की ओर लक्ष्य रखते हैं वे साधु नहीं हैं वे पशु हैं-पशुके तुल्य अज्ञानी हैं।।१७।।

१. नीरवाः म० म० ।

पव्वज्जहोणगहिणं णेहं सौसम्मि वट्टदे बहुसो। आधारविणयहोणो तिरिक्खजोणो ण सो सवणो॥१८॥ प्रत्रज्याहीनगृहिणि स्तेह शिष्ये वर्तते बहुशः। आचारविनयहीनः तिर्यंग्योनिः न स अमणः॥१८॥ एवं सहिओ मुणिवर संजदमज्झम्मि वट्टदे णिच्चं। बहुलं पि जाणमाणो भावविणट्ठो ण सो सवणो॥१९॥ एवं सहितः मुनिवर संयतमध्ये वर्तते नित्यं। बहुलमपि जानानः भावविनष्टो न स अमणः॥१९॥ दंसणणाणचरित्ते महिलावग्गम्मि देदि वोपट्ठो। पासत्य वि हु णियट्ठो भावविंगट्ठो ण सो समणो॥२०॥ दर्शनज्ञानचारित्राणि महिलावर्गे दर्तात विश्वस्तः। पार्श्वस्थादपि हु निक्रष्टः भावविनष्टः न स अमणः॥२०॥

पथ्यज्ज—जो दोक्षासे रहित गृहस्य शिष्य पर अधिक स्नेह रखता है तथा आचार और विनय से रहित है वह तिर्यञ्च है साधु नहीं है।

भावार्थ—कोई कोई साधु अपने गृहस्य शिष्य पर अधिक स्नेह रखते हैं अपने पद का ध्यान न कर उसके घर आते जाते हैं सुख दुःख में आत्मी-यता दिखाते हैं तथा स्वयं मुनि के योग्य आचार तथा पूज्य पुरुषों की विनय से रहित होते हैं। आचार्य कहते हैं कि वे मुनि नहीं हैं किन्तु पशु हैं। । १८।।

एवं सहिबो—हे मुनिवर ! ऐसो खोटी प्रवृत्तियों से सहित मुनि, यद्यपि संयमो जनों के मध्यमें रहता है और बहुत ज्ञानवान भी हो तो भी वह भाव से नष्ट है अर्थात् भावलिङ्ग से रहित है 'ययार्थ मुनि नहीं है।'

दंसण माण---जो स्त्रियों में विश्वास उपजा कर । उन्हें दर्शन, ज्ञान

१, देहि म॰ ।

पुंक्चलिघरि जसु भुंजइ णिच्चं संथुणदि पोसए पिंडं। पावदि वालसहावं भावविणट्ठो ण सो सवणो ॥२१॥ पुंक्वलीगृहे यः भुक्ते नित्यं संस्तोति पुष्णाति पिंडं। प्राप्नोति बालस्वभावं भावविनष्टो न स श्रवणः ॥२१॥ इय लिगपाहुडमिणं सब्वं बुद्धेहि देसियं धम्मं । पाल्टेहि कट्ठसहियं सो गाहदि उत्तमं ठाणं ॥२२॥ इति लिगप्राभृतमिदं सर्वं बुद्धेः देशितं धर्मं । पाल्यति कष्टसहितं स गहते उत्तमं स्थानं ॥२२॥

इति श्रोकुन्दकुन्दाचार्यविरचितलिंगप्रभूतकं समाप्तम्

और चारित्र देता है वह पार्श्वस्थ मुनि से भी निक्रष्ट है तथा भावलिङ्ग से शन्य है वह परमार्थ सुनि नहीं है ।

भावार्थ-जो मुनि अपने पदका ध्यान न कर स्त्रियों से संपर्क बढ़ाता है उन्हें पास में बैठा कर पढ़ाता है तथा दर्शन या चारित्र आदिका उप-देश देता है वह पार्श्वस्थ नामक ऋष्ट मुनिसे भी अधिक निऋष्ट है। जब मुनि एकान्त में आर्यिकाओं से भो बात नहों करते। सात हाथ की दूरी पर दो या दो से अधिक संख्या में बैठी हुई आर्यिकाओं से ही धर्म चर्चा करते हैं, उनके प्रश्नों का समाधान करते हैं तब गृहस्थ स्त्रियोंको एक दम पास में बैठा कर उनसे सम्पर्क बढ़ाना मुनिपद के अनुकूल नहीं है। ऐसा मुनि आवलिज्ज से जून्य है अर्थात् द्रव्यलिज्ज्नी है परमार्थ मुनि नहीं है।।२०।।

पुच्छलिषरि—जो साघु व्यभिचारिणी स्त्री के घर आहार लेता है, तिरन्तर उसकी स्तुति करता है तथा पिण्डको[े] पालता है अर्थात् उसकी स्तुति कर निरन्तर आहार प्राप्त करता है वह बालस्वभाव को प्राप्त होता है तथा भाव से विनष्ट है वह मुनि नहीं है।

भावायं----यह बड़ो धर्मात्मा है त्यागो व्रतो तथा मुनियों को सदा आहार देती है इस प्रकार व्यभिचारिणी स्त्री की प्रशंसा कर जो उससे आहार प्राप्त करता है वह अज्ञानी है ऐसा मुनि भावलिङ्ग से रहित है मुनि नहीं है ॥२१॥

इवलिंग-इस प्रकार यह लिङ्ग प्राभृत नामका समस्त शास्त्र ज्ञानी गणधरादि के उपदिष्ट है सो इसे जान कर जो कष्ट सहित धर्मका पालन करता है अर्थात् कष्ट भोग कर भो धर्म को रक्षा करता है वह उत्तम स्थान को प्राप्त होता है।

भावार्थ---ज्ञानी जीवों ने लिङ्ग प्राभृत का उपदेश मुनिजनों के हित के लिये दिया है इसलिये इसे जानकर मुनिव्रत का निर्दोष पालन करना चाहिये। यदि ग्रहण किये हुए व्रतके पालन करने में परिषह आदिका कष्ट भी उठाना पड़े तो उसे समता भाव से सहन करना चाहिये। ऐसा पुरुष ही उत्तम स्थान--निर्वाण को प्राप्त होता है।।२२।।

इस प्रकार श्री कुन्दकुन्दाचार्य विरचित लिङ्गप्राभृत समाप्त हुआ

•

शील प्रामृतम्

वीरं विसालणयणं रत्तुप्पलकोमलस्समप्पायं । तिबिहेण पणमिऊणं सीलगुणाणं णिसामेह ॥ १ ॥ वीरं विशालनयनं रक्तोत्पलकोमलसभपादम् । त्रिविधेन प्रणम्य शीलगुणान् निशाम्यामि ॥ १ ॥

सीलस्स य णाणस्स य णस्थि विरोहो बुघेहि णिहिट्टो । णवरि य सीलेण विणा विसया णाणं विणासंति ॥ २ ॥ शीलस्य च ज्ञानस्य च नास्ति विरोधो बुधेनिदिष्टः। नवरि व शीलेन विना विषयाः ज्ञानं विनाशयन्ति ॥ २ ॥

बुक्लेणज्जहि णाणं णाणं णाऊण भावणा बुक्लं । भावियमई व जीवो विसएसु विरज्जए बुक्लं ॥ ३ ॥ दुःखेन ज्ञायते ज्ञान ज्ञानं ज्ञात्वा भावना दुःखं । भावितमतिक्ष्य जीवो विषयेषु विरज्यति दुःखं ॥ ३ ॥

बीरं विसाल—(बाह्यमें) जिनके विशाल नेत्र हैं तथा जिनके पाँव लाल कमल के समान कोमल हैं (अन्तररङ्ग पक्षमें) जो केवलज्ञानरूपी विशाल नेत्रोके धारक हैं तथा जिनका कोमल एवं रागद्वेष से रहित वाणी का समूह रागको दूर करने वाला है उन महावीर भगवान को मन, बचनकाय से प्रणाम कर शीलके गुणों को अथवा शील तथा गुणोंका कथन करता हूँ ॥१॥

शीलस्स—विद्वानों ने शीलका और ज्ञानका विरोध नहीं कहा है किन्त्यह कहा है कि शीलके बिना विषय ज्ञानको नष्ट कर देते हैं।

भाषार्थ-शील और ज्ञान का विरोध नहीं है किन्तु सहभाव है जहाँ शील होता है वहाँ ज्ञान अवश्य होता है और शील न हो तो पञ्चेन्द्रियों के विषय ज्ञानको नष्ट कर देते हैं ॥२॥

दुक्खे-प्रथम तो ज्ञान ही दुःख से जाना जाता है फिर यदि कोई

ताव ण जाणदि णाणं विसयवलो जाव वट्टए जीवो । विसए विरत्तमेत्तो ण खवेइ पुराइयं कर्म्म ॥ ४ ॥ तावन्न जानाति ज्ञानं विषयवलः यावत् वर्तते जीवः । विषये विरक्तमात्रः न क्षिपते पुराणकं कर्म ॥ ४ ॥ णाणं चरित्तहीणं लिंगग्गहणं च दंसणविहूणं । संजमहीणो य तबो जइ चरइ णिरत्थयं सव्वं ॥ ५ ॥ ज्ञानं चारित्रहीनं लिंगग्रहणं च दर्शनविहीनं । संयमहीनइच तपः यदि चरति निरर्थकं सर्वं ॥ ५ ॥

झानको जानता भी है तो उसको भावना दुःख से होती है फिर कोई जीव उसकी भावना भी करता है तो विषयों में विरक्त दुःख से होता है ।

भाषार्थ-पहले तो सम्यग्ज्ञान का होना ही दुर्लभ है। यदि किसीको सम्यग्ज्ञान प्राप्त भी हो जाता है तो निरन्तर उसकी भावना रखना दुर्लभ है और किसी को उसकी भावना भी प्राप्त हो जाती है तो विषयों से विरक्त होना कठिन है। इस प्रकार तीनों कार्यों में उत्तरोत्तर कठिनता अथवा दुर्लभपना है।।३।।

ताव ण—जब तक जोव विषयों के वशीभूत रहता है तब तक ज्ञान-को नहीं जानता और ज्ञानके बिना मात्र विषयोंसे विरक्त हुआ जीव पूराने बैंधे हुए कर्मोंका क्षय नहीं करता।

अावार्थ-प्रथम तो विषयासक्त जीवको यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति होती नहीं है और कदाचित् कोई जीव विषयों से विरक्त हो भी जावे तो यथार्थ ज्ञानके बिना वह पूर्व बद्ध कर्मोंको निर्जरा करने में असमर्थ रहता है ॥४॥

णाणं---यदि कोई साधु चारित्र रहित ज्ञान का, सम्धग्दर्शन रहित लिङ्ग का और संयम रहित तप का आचरण करता है तो उसका यह सब आचरण निरर्थक है।

भावार्थ- हेय और उपादेय का ज्ञान तो हुंआ परन्तु तदनुरूप चारित्र न हुआ तो वह ज्ञान किस काम का ? मुनि लिज्ज्ञ तो धारण किया परन्तु सम्यग्दर्शन न हुआ तो वह मुनि लिज्ज्ञ किस काम का ? इसी तरह तप तो किया परन्तु जीव रक्षा अथवा इन्द्रिय वशीकरण संयम नहीं हुआ तो बह तप किस काम का ? इस सब का उद्देश्य कर्मक्षय करके मोक्ष प्राप्त णाणं चरित्तसुद्धं लिंगग्गहणं च दंसणविसुद्धं । संजमसहिदो य तवो थोओ वि महाफलो होइ ॥ ६ ॥ ज्ञानं चारित्रशुद्धं लिंगग्रहणं च दर्शनविशुद्धं । संयमसहितश्च तपः स्तोकमपि महाफल भवति ॥ ६ ॥ णाणं णाऊण णरा केई विसयाइभावसंसत्ता । हिडंति 'चादुरर्गीदं विसएसु विमोहिया मूढा ॥ ७ ॥ ज्ञानं ज्ञात्वा नराः केचित् विषयादिभावसंसत्ताः । हिण्डन्ते चातुर्गीतं विषयेषु विमोहिता मूढाः ॥ ७ ॥

करना है परन्तु उसको सिद्धि न होने से सब का निरर्थंकपना दिखाया है ॥५॥

णाणं धरित्त-चारित्र से शुद्ध ज्ञान, दर्शन से शुद्ध लिङ्ग धारण और संयम से सहित तप थोड़ा भी हो तो वह महाफल से युक्त होता है।

भावार्थ--जिस ज्ञान के साथ थोड़ा भी यथार्थचारित्र है वह झान यथार्थं कार्यकारी है। जिस मुनिवेश में सम्यग्दर्शन की विशुद्धता है वह थोड़े समय के लिये अर्थात् मरणान्त काल में भी धारण किया गया हो तो भी यथार्थं फल को देता है इसी प्रकार जिस तपश्चरण में संयम की साधना है वह मात्रा में अल्प होने पर भी कर्म निर्जरा का प्रमुख कारण होता है।।६॥

णाणं णाऊण—जो कोई मनुष्य झान को जान कर भी विषयादिक रूप भाव में आसक्त रहते हैं वे विषयों में मोहित रहने वाले मूर्ख प्राणी चतूर्गति रूप संसार में अमण करते रहते हैं ।

भावार्थ-ज्ञान का फल विषयों से निवृत्त होना है सो जो मनुष्य अनेक शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त कर भी विषयों में संलग्न रहते हैं उनके त्याग करनेका पुरुषार्थ नहीं करते हैं वे मूढ़ कहलाते हैं अर्थात् जानते हुए भी विषयपान करने वालेके समान हैं, मूढ़ हैं और अपनी इस मूढ़ता-मूर्खता के कारण वे चारों गतियों में चिरकाल तक अमण करते रहते हैं ॥आ

পর্বেরি ম০া

जे पुण विसयविरत्ता णाणं णाऊण भावणासहिदा । छिदंति 'चादुरगर्दि तवगुणजुत्ता न संदेहो ॥ ८ ॥ ये पुर्नावर्ष्यविरक्ता ज्ञानं ज्ञात्वा भावनासहिताः । छिन्दन्ति चातुर्गति तथोगुणयुक्ता न सन्देहः ॥ ८ ॥ छिन्दन्ति चातुर्गति तथोगुणयुक्ता न सन्देहः ॥ ८ ॥ छिन्दन्ति चातुर्गति तथोगुणयुक्ता न सन्देहः ॥ ८ ॥ जह कंचणं विसुद्धं धम्मइयं खंडियलवणलेवेण । तह जीवो वि विसुद्धं णाण विसलिलेण विमलेण ॥ ९ ॥ यथा कंचनं विशुद्धं ध्मातं खडिकलवणलेपेन । तथा जीवोऽपि विशुद्धं ज्ञानसलिलेन विमलेन ॥ ९ ॥ णाणस्स णत्थि दोसो का 'पुरिसाणो वि मंदबुद्धीणो । जे णाणगविवदा होऊणं विसएसु रज्जति ॥१०॥ जानस्य नास्ति दोधः कापुरुषस्यापि मन्दबुद्धेः । ये ज्ञानगर्विता भूत्वा विषयेष रज्यन्ति ॥१०॥

जे पुण---किन्तु जो ज्ञान को जानकर उसकी भावना करते हैं और विषयों से विरक्त होते हुए तपक्चरण तथा मूलगुण और उत्तरगुणों से युक्त होते हैं वे चतुर्गति रूग संसार को छेदते हैं-नष्ट करते हैं इसमें संदेह नहीं है।

भावार्थ--जो पुरुष हेयोपादेय का ज्ञान प्राप्त कर निरन्तर उसका विचार करते हैं और विचारों को परिषक्व बनाकर विषय कषाय से निवृत्त हो तपरचरण करते हैं-मुनिव्रत का पालन करते हैं वे संसार सागर से पार होकर मोक्षको प्राप्त होते हैं इसमें संशय नहीं है।।८।।

जह कंचणं—जिस प्रकार सुहाग और नमकके लेप से युक्त कर फूँका हुआ सुवर्ण विशुद्ध हो जाता है उसी प्रकार ज्ञानरूपी निर्मल जल से यह जीव भो शुद्ध हो जाता है ॥

भाषार्थ—मोहनोय कर्म के उदय से इस जीव का ज्ञान अनादिकाल से मलिन हो रहा है उसी मलिन तप के कारण यह अशुद्ध होकर संसार सागर में मज्जनोन्भज्जन करता रहता है इसलिये ज्ञान में से मोह को धारा को दूर कर ज्ञानको निर्मल बनाने का पुरुषार्थ करना चाहिये। ज्ञान की निर्मलता से ही आत्मा की निर्मलता होती.है ॥९॥

णाणस्त-जो पुरुष ज्ञान के गर्व से युक्त हो विषयों में राग करते हैं

१. चतुरगति व०। २. कम्पुरिसाणी व०।

णाणेण दंसणेण य तवेण चरिएण सम्मसहिएण । होहदि परिणिव्वाणं जोवाणं चरितसुद्धाणं ॥११॥ ज्ञानेन दर्शनेन च तपसा चारित्रेण सम्यक्त्वसहितेन । मविष्यति परिनिर्वाणं जोवानां चारित्रशुद्धानां ॥११॥ सीलं रक्खंताणं दंसणसुद्धाण दिढचरित्ताणं ॥ अत्थि धुवं णिव्वाणं विसएसु विरत्तचित्ताणं ॥१२॥ शीलं रक्षतां दर्शनशुद्धानां दृढचारित्राणां । अस्ति ध्रुवं निर्वाणं विषयेषु विरक्तचित्तानां ॥१२॥

सो वह उनके ज्ञान का अपराध नहीं है किन्तु मन्द बुद्धि से युक्त उसका पुरुषका ही अपराघ है।

भावार्थ----संसार में कितने ज्ञानो तपी विषयों में अनुरक्त देखे जाते हैं सो यह दोष उनके ज्ञान का नहीं है किन्तु ज्ञान के साथ मोह की धारा ने मिलकर उन पुरुषों की जो मन्दबुद्धि और पुरुषार्थहीन बना दिया है सो यह अपराध उसी पुरुषार्थ हीन मन्द बुद्धि पुरुष का है।।१०।।

गागेग---निर्दोष चारित्र का पालन करने वाले जीवों को सम्यक्त सहित ज्ञान, सम्यक्त्व सहित दर्शन, सम्यक्त्व सहित तप और सम्यक्त्व सहित चारित्र से निर्वाण प्राप्त होगा।

भावार्थ--जैनागम में सम्यग्जान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्तप और सम्यक् चारित्र इन चार आराधनाओं से मोक्ष प्राप्ति होती है ऐसा कहा गया है परन्तु ये चारों उन्हीं जोवों के मोक्ष का कारण होती हैं जो चारित्र से शुद्ध होते हैं अर्थात् प्रमाद छोड़ कर निर्दोष चारित्र का पालन करते है।।११॥

सोलं---जो शील की रक्षा करते हैं, जो शुद्ध दर्शन--निर्मल सम्यक्त से सहित हैं, जिनका चारित्र दृढ़ है और जो विषयों से विरक्त चित्त रहते हैं उन्हें निश्चित ही निर्वाण की प्राप्ति होती है।

भावार्य-शोल का अर्थ आत्माका वीतराग स्वभाव है सो जो पुरुष सदा इसको रक्षा करते हैं अर्थात् विषय कषाय के कारण अपने वोतराग स्वभाव को नष्ट नहीं होने देते, जो कठिन तपश्चरण करने पर भी है देवादिक्कत अतिशयों को न देख अपने सम्यक्त्व में कभी दोष नहीं लगाते है, जो परिषहादिक के आने पर भी चारित्र से विचलित नहीं होते और विसएसु मोहिदाणं कहियं मग्गं पि इट्टवरिसीणं । उम्मग्गं दरिसीणं णाणं पि णिरत्थयं तेसि ॥१३॥ विषयेषु मोहितानां कथितो मार्गोऽपि इष्टदर्शिनां । उन्मार्गं दर्शिनां ज्ञानमपि निर्धंकं तेषा ॥१३॥ कुमयकुसुदपसंसा जाणंता बहुविहाइं सत्याणि । सीलवदणाणरहिदा ण हु ते आराधया होति ॥१४॥ कुमतकुश्रुतप्रशंसां (सकाः) क्षानन्तो बहुविधानि शास्त्राणि । शोलव्रतज्ञानरहिता न हु ते आराधका भवन्ति ॥१४॥

विषयों से अपने चित्त को सदा उदासीन रखते हैं उन्हें निश्चित हो मोक्ष प्राप्त होता है ॥१२॥

विसएसु—जो मनुष्य इष्ट-लक्ष्य को देख रहे हैं वे वर्तमान में भले ही विषयों में मोहित हों तो भी उन्हें मार्ग प्राप्त हो गया है ऐसा कहा गया है परन्तु जो उन्मार्ग को देख रहे हैं अर्थात् लक्ष्य से अष्ट हैं उनका ज्ञान भी निर्थांक है।

भावार्य---एक मनुष्य दर्शनमोहनोय का अभाव होने से श्रद्धा गुण के प्रकट हो जाने पर अपने लक्ष्य-प्राप्तव्य मार्ग को देख रहा है परन्तु चारित्र मोहका तीव उदय होने से उस मार्ग पर चलने के लिये असमर्थ है तो भी कहा जाता है कि उसे मार्ग प्राप्त हो गया है परन्तु दूसरा मनुष्य अनेक शास्त्रों का ज्ञान होने पर भी मिख्यात्व के उदय के कारण अपने गन्तव्य मार्ग को न देख उन्मार्ग को देख रहा है तो ऐसे मनुष्य का वह भारी ज्ञान भी निर्खक होता है ॥१३॥

कुमय—जो नाना प्रकारके शास्त्रों को जानते हुए भी मिथ्यामत और मिथ्याश्रुत की प्रशंसा करते हैं तथा शील व्रत और ज्ञानसे रहित हैं वे स्पष्ट ही आराधक नहीं हैं।

भावार्थ-कितने ही लोग नाना शास्त्रों के ज्ञाता होकर भी मिथ्या मत और मिथ्याश्रुत की प्रशंसा करते हैं सो उनका ऐसा करना मिथ्यात्व का चिह्न है क्योंकि अन्य दृष्टि प्रशंसा और अन्य दृष्टि संस्तव सम्यग्दर्शन के दोष हैं। साथ ही शोल अर्थात् समता परिणाम, व्रत और यथार्थ ज्ञान-से रहित हैं अतः ऐसे लोग आराधक नहीं हैं-मोक्षमार्गकी आराधना करने बाले नहीं हैं ॥१४॥ स्वसिरिगव्विदाणं जुव्वणलावण्णकंतिकलिदाणं । सोलगुणवज्जिदाणं णिरत्थयं माणुसं जम्मं ॥१५॥ रूपश्रीगवितानां यौवनलावण्यकान्तिकलितानां । श्रीलगुणवर्जितानां निर्थंकं मातुषं जन्म ॥१५॥ वायरणछंदवइसेसियववहारणायसत्थेसु । वेदेऊण सुदेसु य तेसु सुयं उत्तमं सीलं ॥१६॥ व्याकरणछन्दो वैशेषिकव्यवहारन्यायशास्त्रेषु । विदित्वा श्रुतेषु च तेषु श्रुतं उत्तमं शीलं ॥१६॥ सीलगुणमंडिदाणं देवा भवियाण वल्लहा होति । सुदयारयपउरा णं दुस्सीला अप्पिला लोए ॥१७॥ शीलगुणमण्डितानां देवा मव्यानां वल्लभा भवन्ति । श्रुतपारगप्रचुरा दुःशोला अल्पकाः लोके ॥१७॥

रूपसिरि----जो मनुष्य सौन्दर्य रूपी लक्ष्मी से गर्वीले तथा योवन, स्नवष्य और कान्ति से युक्त हैं किन्तु शोल गुण से रहित हैं तो उनका मनुष्य जन्म निरर्थक है।

भाषार्थ-कितने हो मनुष्य अत्यन्त रूपवान् यौवन, लावण्य और कान्ति से युक्त होते हैं परन्तु शील गुणसे रहित होकर निरन्तर विषय बासनाओं में फैंसे रहते हैं सो आचार्य कहते हैं कि उनवा मनुष्य जन्म पाना निरर्थक है। मनुष्य जन्म की सार्थकता तो रत्नत्रय की उपासना कर मोक्ष प्राप्त करनेमें ही है जिन पुरुषोंने मनुष्य जन्म पाकर रत्नत्रय की उपासना नहीं की उल्टे विषयों में निमग्न रहे उनका मनुष्य जन्म निरर्थक ही समझना चाहिये ॥१४॥

वायरण---कितने ही लोग व्याकरण, छन्द, वैशेषिक, व्यवहार, गणित तथा न्याय शास्त्रको जानकर श्रुतके धारी बन जाते हैं परन्तु उनमें यदि शोल होवे तभो उत्तम है।

भावार्य---शोल समताभावको कहते हैं उसके बिना अनेक लौकिक शास्त्रों के ज्ञाता हो जाने पर मनुष्य कल्याणके मार्गसे दूर रहते हैं इस-लिये सर्व प्रथम शील को प्राप्त करने का प्रयत्न श्रेयस्कर है ॥१६॥

सीलगुण-जो भव्य पुरुष शील गुणसे सुशोभित हैं उनके देव भी प्रिय हो ज़ाते हैं अर्थात् देव भो उनका आदर करते हैं और जो शील सब्वे वि य परिहोगा रूवविरूवा वि वदिवसुवया वि । सील जेसु सुसीलं सुजोविदं माणुसं तेसि ॥१८॥ सर्वेऽपि च परिहोना रूपविरूपा अपि पतितसुवयसोऽपि । शोलं येषु सुझीलं सुजीवितं मनुष्यत्वं तेषां ॥१८॥

जीवदया दम सच्चं अचोरियं बंभचेरसंतोसे । सम्मद्दंसणणाणं तओ य सीलस्स परिवारो ॥१९॥

जीवदया दमः सत्यं अचीर्यं ब्रह्मचर्यसन्तोषी । सम्यग्दर्शनं ज्ञानं तपश्च शीलस्य परिवारः ॥१९॥

गुण से रहित हैं वे श्रुतके पारगामी होकर भी लोकमें तुच्छ-अनादरणीय बने रहते हैं ।

भावायं----शीलवान् जीवों की पूजा प्रभावना मनुष्य तो करते ही हैं परन्तु देव भी करते देखे जाते हैं परन्तु दुःशील अर्थात् खोटे शील से युक्त मनुष्यों को अनेक शास्त्रों के ज्ञाता होनेपर भी कोई नहीं पूछता है वे सदा तुच्छ बने रहते हैं। यहां 'अल्पका' का अर्थ संख्याके अल्प नहीं है किन्तु तुच्छ अर्थ है संख्या की अपेक्षा तो दुःशोल मनुष्य हो अधिक है शीलवान् नहीं ॥१७॥

सब्वे वि य—जो सभी में होन हैं अर्थात् हीन जाति के हैं, रूप से विरूप हैं अर्थात् कुरूप हैं और जिनको अवस्था बीत गई है अर्थात् वृद्ध-अवस्था से युक्त हैं इन सबके होने पर भी जिनमें शील सुशील है अर्थात् जो उत्तम शीलके धारक हैं उनका मनुष्यपना सुजीवित है-उनका मनुष्य भव उत्तम है।

भावार्थ---जाति, रूप तथा अवस्था को न्यूनता होने पर भी उत्तम शील मनुष्यके जीवन को सफल बना देता है इसलिये सुक्षील प्राप्त करना चाहिये ।।१८।।

बीवरया—जीव दया, इन्द्रिय दमन, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, संतोष, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्तप ये सब शीलके ही परिवार हैं।

भाबार्थ—जिस मनुष्य के उत्तम शील होता है उसके जीव दया, इन्द्रिय दमन आदि गुण स्वयं प्रकट होजाते हैं ॥१९॥ सीलं तवो विसुद्धं दंसणसुद्धी य णाणसुद्धी य । सीलं विसयाण अरी सीलं मोक्खस्स सोपाणं ॥२०॥ शीलं तपो विशुद्धं दरोनशुद्धिरुच ज्ञानशुद्धिरुच । शीलं विषयाणामरिः शोलं मोक्षस्य सोपानं ॥२०॥ जह विसय लुद्धविसदो तह थावरजंगमाण घोराणं । 'सव्वेसि पि विणासदि विसयविसं दारुणं होई ॥२१॥ यथा विषयो लुब्धविषदः तथा स्थावरजङ्गमान् घोराणन् । सर्वानपि विनाशयति विषयविषं दारुणं भवति ॥२१॥ या दिषयो लुब्धविषदः तथा स्थावरजङ्गमान् घोराणन् । सर्वानपि विनाशयति विषयविषं दारुणं भवति ॥२१॥ वार एक्कमिम य जम्मे मरिज्ज विसवेयणाहदो जीवो । विसयविसपरिहया णं भमंति संसारकांतारे ॥२२॥ वारं एकं जन्म गच्छेत् विषवेदनाहतो जीवः । विषयविषयरिहता भ्रमन्ति संसारकान्तारे ॥२२॥

सीलं तवो— शील विशुद्ध तप है शील दर्शनकी शुद्धि है, शील ही ज्ञान की शुद्धि है, शील विषयों का शत्रु है और शील मोक्ष की सीढ़ी है।

भाषार्थ-जिस जोवके समता भाव रूप शोल प्रकट हुआ हो उसोके तप, दर्शन और ज्ञान की शुद्धता प्रकट होती है। वही जीव विषयों को नष्ट कर पाता है और वही मोक्षको प्राप्त हो सकता है॥२०॥

जह विसय लुक्य--जिस प्रकार विषय, लोभी मनुष्यको विषके देनेवाले हैं उसी प्रकार भयंकर स्थावर तथा जङ्गम-त्रस जीवोंको विष भी सबको नष्ट करता है परन्तु विषय रूपी विष अत्यन्त दारुण होता है।

भावार्थ- जिस प्रकार हस्ती मीन भ्रमर पतंग तथा हरिण आदि के विषय उन्हें विषकी भाँति नध्ट कर देते हैं उसी प्रकार स्थावरके विष मोहरा सोमल आदि और जङ्गम अर्थात् साँप बिच्छू आदि भयंकर जीवों-के विष सभी को नष्ट करते हैं इस प्रकार जीवोंको नष्ट करने की अपेक्षा विषय और विषमें समानता है परन्तु विचार करने पर विषय रूपी विष अत्यन्त दारुण होता है । क्योंकि विष से तो जीवका एक भव ही नष्ट होता है और विषय से अनेक भव नष्ट होते हैं ।।२१।।

बारि-विष की वेदना से पीड़ित हुआ जीव एक जन्म में एक ही

१. ''भवषिवसादे,'' इत्यनेन दिसीयास्थाने षष्ठी । दितीयादिविभक्तीनां स्थाने स्वचित् धष्ठी स्यादिति सूत्रार्थः । २. 'अस्टासोर्डीप'' इत्येमेन द्वितीयास्थाने सप्तमी । द्वितीयातृतीययौः स्थाने क्वचित् सप्तमी भवतीति सूत्रैदंपर्यं। (सं०) ।

णरएसु वेयणाओ तिरिक्खए माणुएसु दुक्खाइं। देवेसु वि दोहग्गं लहंति विसयासता जीवा ॥ २३॥ तरकेषु वेदनाः तिर्राःच मानवेषु दुःखानि। देवेष्वपि दौर्भाग्यं लभन्ते विषयासक्ता जीवाः॥२॥ तुसधम्मंतबलेण य जह दक्वं ण हि णराण गच्छेदि। तबसीलमंत कुसली खवंति विसयं विसं व खलं॥२४॥ तुषघ्मद्बलेन च यथा द्रव्यं न हि नराणां गच्छति। तपः शीलमन्तः कुशला क्षिपन्ते विषयं विषमिव खलं!॥२४॥

बार मरणको प्राप्त होता है परन्तु विषय रूपी विष से पीड़ित हुए जीव . संसार रूपी अटवी में निइचय से भ्रमण करते रहते हैं अर्थात् बार बार जन्म धारण करते हैं।

भावार्य-विषय रूपी विष तथा साधारण विष में अन्तर बतलते हुए आचार्य लिखते हैं कि अन्य विष तो इस जोवको एक ही बार मारता है परन्तु विषयरूपी विष निरन्तर ही मारता रहता है। विषयो जीव नई नई पर्याय धारण कर संसाररूपी वनमें घूमता ही रहता है। इसलिये हे भव्य ! इस विषय रूपी विष से अपनी रक्षा कर ॥२२॥

णरएसु---विषयासक्त जीव नरकों में वेदनाओं को, तिर्यञ्च और मनुष्यों में दुःखों को तथा देवों में दौर्भाग्य को प्राप्त होते हैं।।२३!।

भावार्थ---विषयों में आसक्त हुए जीव नरकों में उत्पन्न होकर वहां की तीव्र वेदनाओंको प्राप्त होते हैं। तिर्यञ्च और मनुष्य गति सम्बन्धी दुःख सामने ही अनुभवमें आते है और देवों में कदाचित् कषाय को मन्दता से उत्पन्न होते हैं तो वहाँ अभियोग्य या किलविष्क जाति के देव होकर निरन्तर दुःख उठाना पड़ता है॥२३॥

तु**सधम्मंत**—जिस प्रकार तुषों के उड़ा देनेसे मनुष्यों का कोई सार भूत द्रव्य नष्ट नहीं होता उसी प्रकार तप और कीलसे युक्त कुक्षल पुरुष विषय रूपी विषको खल के समान दूर छोड़ देते हैं ।

भावार्थ-----तुषको उड़ा देने वाला सूपा आदि तुषध्मत् कहलाता है उसके बलसे मनुष्य सारभूत द्रव्य को बचाकर तुषको उड़ा देता है--फेंक देता है उसो प्रकार तप और उत्तम शोलके घारक पुरुष ज्ञानोपयोग के द्वारा विषभूत पदार्थों के सार को ब्रहण कर विषयों को खलके समान दूर छोड़ देते हैं। तप और शील से सहित ज्ञानी जोव इन्द्रियों के विषय को वट्टे सु य खण्डेसु य भद्देसु य विसालेसु अंगेसु । अंगेसु य पण्पेसु य सब्वेसु य उत्तमं सीलं ॥२५॥ वृत्तेषु च खण्डेषु च भद्रेषु च विशालेषु अंगेषु । अंगेषु च प्राप्तेषु सर्वेषु च उत्तमं शीलं ॥२५॥ पुरिसेण वि सहियाए कुसुमयमूढेहि विसयलोलेहि । संसारे भमिवव्वं अरयघरट्टं व भूदेहि ॥२६॥ पुरुषेणापि सहितेन कुसमयमूढैः विषयलोलेः । संसारे भ्रमितव्यं अरहटघरट्टं इव भूतैः ॥२६॥

खल के समान समझते हैं जिस प्रकार इक्षुका रस ग्रहण कर लेने पर छिलके फेंक दिये जाते हैं उसी प्रकार विषयों का सार उन्हें जानना था सो जानी जीव इस सार को ग्रहण कर छिलके के समान विषयों का त्याग कर देता है। ज्ञानी मनुष्य विषयों को जेयमात्र जान उन्हें जानता तो है परन्तु उनमें आसक्त नहीं होता है अथवा एक माव यह प्रकट होता है कि कुशल मनुष्य विषय को दुष्ट विषके समान छोड़ देते हैं।।२४।।

बट्टेमुं ग—इस मनुष्य के शरीर में कोई अङ्ग वृत्त अर्थात् गोल है, कोई खण्ड अर्थात् अर्ध गोलाकार है कोई भद्र अर्थात् सरल है और कोई विशाल अर्थात् चौड़े हैं सो इन अंगों के यथास्थान प्राप्त होने पर भी सब में उत्तम अङ्ग शील ही है।

भावार्थ--- शोलके बिना मनुष्य के समस्त अङ्गों की शोभा निःसार है इसलिये विवेको जन शोल की ओर ही लक्ष्य रखते हैं ॥२५॥

पुरिसेण—मिथ्यामत में मूढ हुए कितने हो विषयों के लोभी मनुष्य ऐसा कहते हैं कि हमारा पुरुष ब्रह्म तो निर्विकार है विषयों में प्रवृत्ति भूत चतुष्टय की होती है इसलिये उनसे हमारा कुछ विगाड़ नहीं है सो यथार्थ बात ऐसी नहीं है क्योंकि उस भूत चतुष्टय रूप शरीर के साथ पुरुष को भी ब्रह्मको भी अरहट की घड़ी के समान संसार में अमण करना पड़ता है।

'कुमति विषया सक्त मिष्पादृष्टि आपनो विषयनिकूँ मरे माति सेवै हैं। केई कुमती ऐसे भी हैं जो ऐसे कहे हैं जो सुन्दर विषय सेवने तें ब्रह्म प्रसन्त होय है वह परवेश्वर की बड़ी मक्ति है ऐसे कहिकर अस्पन्त बासक आदेहि कम्मगंठी जावद्धा विसयरायमोहोहि। तं छिवंति कयत्था तवसंजमसीलयगुणेण ॥२७॥ आत्मनि हि कर्मग्र थिः यावद्धा विषयरागमोहाभ्यां। तां छिन्दन्ति कृतार्थाः तपः संयमशीलगुणेन ॥२७॥ उदधी व रदणभरिदो तवविणयंसीलदाणरयणाणं । सोहे तोय ससीलो णिव्वाणमणुत्तर पत्तो ॥२८॥ उदधिरिव रत्नभृतः तपोविनयशीलदानरत्नानां । शोमेत सशीलः निर्वाणमनुन्तरं प्राप्तः ॥२८॥

रहा है तब तक शरीर के साथ इसे भी भ्रमण करना पड़ता है इसलिये मिथ्या मतके चक्र में पड़कर अपनी विषय लोलुपता को बढ़ाना श्रेयस्कर नहीं है ॥२६॥

अबिहि—विषय सम्बन्धी राग और मोहके द्वारा आत्मामें जो कर्मों-की गाँठ बाँधी गई है उसे कृतकृत्य-ज्ञानी मनुष्य तप संयम और शोल रूप गुणके द्वारा छेदते हैं।

भावार्थ—जीवके रागादि भावोंका निमित्त पाकर कर्मोंका सम्बन्ध होता है सो ज्ञानी मनुष्य उन भावोंको समझ उसके विपरीत तप संयम तथा शील आदि गुणोंको धारण कर उस बन्ध को रोकते हैं तथा सत्ता में स्थित कर्म परमाणुओं को निर्जरा कर आत्मा और कर्म को जुदा जुदा करते हैं ॥२७॥

उक्को ब---जिस प्रकार समुद्र रत्नों से मरा होता है तो भी तोय अर्थात् जल से ही शोभा देता है उसी प्रकार यह जीव भी तप विनय शील दान आदि रत्नों से युक्त है तो भी शील से सहित होता हो सर्वोत्क्रब्ट निर्वाण पदको प्राप्त होता है।

भाबार्य---तप विनय दान आदिसे युक्त होनेपर भी यदि मोह और क्षोभसे रहित समता परिणाम रूपी शील प्रकट नहीं होता है तो मोक्ष की प्राप्ति नहीं होतो इसलिये शोलको प्राप्त करना चाहिये ॥२८॥

होय सेवें हैं, ऐसा ही उपदेश अन्यक्े दे करि विषयनि मैं रूगावे हैं ते आप तो अरहट की घड़ो ज्यों संसार में अमैं ही हैं वहाँ अनेक प्रकार दुःस मोगवें हैं परन्तु अन्य पुरुषक्रू मी तहां रूगाय भ्रमावे हैं दातें यह विषय सेवना दुःस ही के आधि है दुःसका ही कारण है, ऐसे जानि कुमतीनि का प्रसंग न करना, विषया सक्त पना झेड़ना यादी सुसीक पना होंब है'। सुणहाण गद्दहाण य गोपसुमहिलाण दीस**दे मोग्लो ।** जे^{1 ३}सोधंति घउत्थं पिचिछज्जता जणेहि सब्वेहि ॥२९॥

शुनां गर्दभानां च गोपशुमहिलानां दृश्यते मोक्षः ।

ये साधयन्ति चतुर्थं दर्श्यंमानाः जनैः सर्वैः ॥२९॥

जइ विसयलोलएहिं णाणोहि हविज्ज साहिदो मोक्खो । तो सो सुरतपूत्तो दसपूब्वीओ वि कि गदो णरयं।।३०।।

यदि विषयलोलैः ज्ञानिभिः भवेत् साधितो मोक्षः ।

र्तीह स सात्यकि³पुत्रः दशपूर्विकः कि गतो नरकं ॥३०॥

सुणहाण---सब लोग देखो, क्या कुत्ते, गधे, गाय आदि पशु तथा स्त्रियों को मोक्ष देखने में आता है ? अर्थात् नहीं आता। किन्तु चतुर्थ पुरुषार्थं अर्थात् मोक्षको जो साधन करते हैं उन्हीं को मोक्ष देखा जाता है।

भाषार्थ- बिना शीलके मोक्ष नहीं होता। यदि शील के बिना भी मोक्ष होता तो कुत्ते, गधे, गाय आदि पशु और स्त्रियों को भी मोक्ष होता, परन्तु नहीं होता। यहाँ काकु द्वारा आचार्य ने दृश्यते किया का प्रयोग किया है इसलिये उसका निषेधपरक अर्थ होता है। अथवा 'चउत्थं' के स्थान पर 'चउक्क' पाठ ठीक जान पड़ता है उसका अर्थ होता है जो कोधादि चार कषायों को शोधते हैं---दूर करते हैं अर्थात् कषायों को दूर कर शीलसे वीतराग भाव से सहित होते हैं वे ही मोक्षको प्राप्त करते हैं।।२९॥

जइ—यदि विषयों के लोभी ज्ञानी मनुष्य मोक्ष को प्राप्त कर सकते होते तो दशपूर्वों का प्राणी रुद्र नरक क्यों जाता ?

भाषार्थ-विषयों के लोभी मनुष्य शील से रहित होते हैं अत: ग्यारह अङ्ग और नौ पूर्व का ज्ञान होने पर भी मोक्ष से वञ्चित रहते हैं। इसके विपरीत शीलवान मनुष्य अष्ट प्रवचनभातृका के जघन्य ज्ञानसे भी अन्त-मुंहूर्त्तवाद केवलज्ञानी होकर मोक्ष प्राप्त कर सकता है। शील को---वीतराग भाव की कोई अद्भुत महिमा है ॥३०॥

- १. जो० ।
- २. सो ।
- रे. स्त्रः ।
 - **X**4

Suct

जइ णागेण विसोहो सीलेण विणा बुहेहि णिद्दिहो । वसपुन्विस्स य भावो ण कि पुण णिम्मलो जावो ।।३१॥ यदि ज्ञानेन विशुद्धः शीलेन विना बुधैनिदिष्ठः । दशपूर्विणः च भावो न कि पुनः निर्मलो जातः ॥३१॥ जाए विसयविरत्तो सो गमयदि णरयवेयणा पउरां ।

ता लेहदि अरुह्रपर्य भणियं जिणवड्ढमाणेण ॥३२॥ यः विषयविरक्तः स गमयति नरकवेदनां प्रचुरां।

तल्लभते अईत्पदं भणितं जिनवर्धमानेन ॥३२॥ एवं बहुष्पयारं जिणेहि पच्चक्खणाणदरिसीहि ।

सीलेण य मोक्खपयं अक्खातीदं च लोयणाणेहि ।।३३।।

एवं बहुप्रकारं जिनैः प्रत्यक्षज्ञानर्दाक्षभिः । शीलेन च मोक्षपदं अक्षातीत्तं च लोकज्ञानैः ॥३३॥

जइ णाणेण-----यदि विद्वान् शील के बिना मात्र ज्ञान से भाव का शुद्ध हुआ कहते हैं तो दश पूर्व के पाठी रुद्र का भाव निर्मल--शुद्ध क्यों नहीं हो गया।

भावार्थ—मात्र ज्ञान से भाव को निर्मलता नहीं होती। भाव की निर्मलता के लिये राग, द्वेष और मोह के अभाव की आवश्यकता होती है। राग, द्वेष और मोह के अभाव से भाव की जो निर्मलता होती है वही शील कहलाता है इस शील से ही जीव का कल्याण होता हे ॥३१॥

आएं विसय—जो विषयों से विरक्त है वह नरक की भारी वेदना को दूर हटा देता है तथा अरहन्त पद को प्राप्त करता है ऐसा वर्धनान जिनेन्द्र ने कहा है ।

भावार्थ---जिनागम में ऐसा कहा है कि तीसरे नरक तक से निकल कर जीव तीर्थंकर हो सकता है सो सम्यग्दृष्टि मनुष्य नरक में रहता हुआ भी अपने सम्यक्त्व के प्रभाव से नरक की उस भारी वेदना का अनु-भव नहीं करता----जसे अपनी नहीं मानता और वहाँ से निकलकर तीर्थंकर पद को प्राप्त होता है यह सब शील की ही महिमा है ॥३२॥

एवं वहुप्ययारं—इस प्रकार प्रत्यक्ष ज्ञान और प्रत्यक्ष दर्शन से युक्त लोक के ज्ञाता जिनेन्द्र भगवान् ने अनेक प्रकार से कथन किया है कि अतीन्द्रिय मोक्ष पद शील से प्राप्त होता है। सम्यक्त्वज्ञानदर्शनतपोवीर्यपंचाचारा आत्मनां । ज्वलनोऽपि पवनसहितः दहंति पौराणकं कर्मं ।। ३४ ॥

णिद्द्दुअट्ठकम्मा विसयविरत्ता जिदिदिया घीरा । तबविणयसीलसहिवा सिद्धा सिद्धिगदि पत्ता ॥३५॥

निर्दग्धाब्टकर्माणः विषयविरक्ता जितेन्द्रिया धोराः । तपोविनयशोलसहिताः सिद्धाः सिद्धिगति प्राप्ता ॥३५॥

भावार्थ---केवलज्जान और केवलदर्शन से सहित लोक के जाता जिनेन्द्र भगवान् ने. ऊपर नाना युक्तियों से यह निरूपण किया है कि अक्षनीय-अतीन्द्रिय मोक्ष पद की प्राप्ति शोल से होती है मोहनीय कर्म का क्षय होने से पहले वीतराग परिशति रूप शील की प्राप्ति होती है उसके बाद केवलज्ञान की प्राप्ति होती, तदनन्तर मोक्ष प्राप्त होता है।

सम्मद्त⊷ सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, तप और वीर्यये पञ्च आचार पवन सहित अग्नि के समान जीवों के पूरातन कर्मों को दग्ध कर देते हैं।

भाषार्थ--जिस प्रकार वायु से प्रज्वलित अग्नि काष्ठ के समूह को जला देती है उसी प्रकार सम्यक्त्व आदि पञ्च आचार जीवों के पूर्व बद्ध कर्मों को जला देते हैं। पञ्च आचार के प्रभाव से यह जीव कर्मों का क्षय कर मोक्ष को प्राप्त हो जाता है। यहाँ सम्यक्त्व शब्द से चारित्र का ग्रहण जानना चाहिये ॥३४॥

निद्द्द्वबट्ठकम्मा—जिन्होंने इन्द्रियों को जीत लिया है, जो विषयों से विरक्त हैं, धोर हैं अर्थात् परीषहादि के आने पर विचलित नहीं होते हैं, जो तप, विनय, और शील से सहित हैं ऐसे जीव आठ कर्मों को समग्र रूपसे दग्ध कर सिद्धगति को प्राप्त होते हैं। उनकी सिद्ध संज्ञा है अर्थात् वे सिद्ध कहलाते हैं।

भावार्ष----यहाँ सिद्ध जीव कौन है ? तथा सिद्धि कैसे जीवों को प्राप्त होती है ? इसका उल्लेख करते हुए कहा गया है कि जो इन्द्रियों को जीत चुके हैं, इन्द्रियों को जीतने के कारण जो उनके स्पर्शादि विषयों से विरक्त हुए हैं जो परीषह तथा उपसर्ग के सहन करने में धीर वीर हैं तथा तप लावण्णसीलकुसला जम्ममहीरुहो जस्स सवणस्स । सो सीलो स महत्पा भमित्थ गुणवित्यरो भविए ॥३६॥

लावण्यशोलकुशलाः जन्ममहीरुहः यस्य श्रवणस्य । स शीलः सः महात्मा भ्रमेत् गुगविस्तारे भव्ये ॥ ३६ ॥

णाणं झाणं जोगो दंसणसुद्धी य वीरियावत्तं । सम्मत्तदंसणेण य लहंति जिणसासणे बोहि ॥३७॥

ज्ञानं ध्यानं योगो दर्शनशुद्धिरुच वीर्यल्वं । सम्यक्त्वदर्शनेन च लभन्ते जिनशासने बोषि ॥ ३७ ॥

जिणवग्रणगहिदसारा विसयबिरत्ता तवोघणा घीरा । सोलसलिलेण ण्हावा ते सिद्धालयसुहं जंति ॥३६॥

जिनवचनगृहीतसारा विषयविरक्ताः तपोधना धीराः । शोलसलिलेन स्नाताः ते सिद्धालयमुखं यान्ति ॥ ३८ ॥

विनय और शील से सहित हैं वे सिद्धि गति को अप्राप्त होते हैं और वे ही सिद्ध कहलाते हैं ॥३५॥

लावण्णक्तील—जिस मुनि का जन्म रूपी वृक्ष लावण्य और सील से कुक्षल है वह शीलवान है, महात्मा है तथा उसके गुणों का विस्तार लोक में व्याप्त होता है।

भावार्थ—जिस मुनि का जन्म जीवों को अत्यन्त प्रिय है तथा समता भाव रूप शोल से सुशोभित है वही मुनि शीलवान कहलाता है वही महात्मा कहलाता है और उसी के गुण लाक में विस्तार को प्राप्त होते हैं ॥३६॥

भावार्य—आत्मा में वीर्यं गुण का जैसा विकास होता है उसी के अनुरूप ज्ञान, ध्यान, योग और दर्शन की शुद्धता होती है तथा सम्यग्दर्शन के द्वारा जीव जिनशासन में बोधि-रत्नत्रय का जैसा स्वरूप बतलाया है उस रूप परिणति को प्राप्त होते हैं ॥३७॥

जिणवयण---जिन्होंने जिनेन्द्र देव के दचनों से सार ग्रहण किया है,

स**ख्यगुणसोणकम्मा सुहदुक्सविवज्जिदा मणविसुद्धा ।** पण्फोडियकम्मरया हवंति आरःहणापयडा ॥ ३९ ॥ सर्वगुणक्षीणकर्माणः सुखदुःखविर्वाजता मनोविशुद्धाः । प्रस्फुटितकर्मरजसः भवन्ति अराधनाप्रकटाः ॥ ३९ ॥

अरहंते सुहभत्ती समत्तं दंसणेण सुविसुद्धं। सीलं विसयविरागो णाणं पुण केरिसं भणियं॥ ४०॥

अहैंति शुभभक्तिः सम्यक्त्वं दर्शनेन सुविशुद्धं। शीलं विषयविरागो ज्ञानं पुनः कीदृशं भणित्तं॥ ४०॥

इति श्रीकुन्दकुन्दाचार्यविरचितशीलप्राभृतकं समाप्तं ।

जो विषयों से विरक्त हैं, जो तप को धन मानते हैं, धीर वीर हैं और जिन्होंने शील रूपी जल से स्नान किया है वे सिद्धालय के सुख को प्राप्त होते हैं।

भाषार्थं— जो पुरुष जिनवाणी का सार ग्रहण कर विषयोंसे विरक्त होते हुए तप धारण करते हैं दृढ़ता से तपकी रक्षा करते हैं तथा सदा समता भाव रखते हैं वे जोव मोक्ष के सुख को प्राप्त होते हैं ॥ ३८ ॥

सम्बगुण--जिन्होंने समस्त गुणों से कमों को क्षीण कर दिया है, जो सुख और दुःख से रहित हैं, मन से विशुद्ध हैं और जिन्होंने कर्मरूपी धूलि को उड़ा दिया है ऐसे आराधनाओं को प्रकट करने वाले होते हैं।

भावार्थ---जिन जीवों के दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप ये चार आराधनाएँ प्रकट होती हैं अर्थात पूर्णता को प्राप्त होती हैं वे समस्त मूल-गुणों और उत्तरगुणों के द्वारा कमों को क्षीण करते हैं अर्थात् उनकी स्थिति तथा अनुभाग को क्षीण कर देते हैं आत्मानुभव की मुख्यता के कारण उनका सांसारिक सुख दुःख का विकल्प छूट जाता है, उनका हृदय अत्यन्त शुद्ध हो जाता है और कर्मरूपी धूली को उड़ाकर कर्म रहित हो जाते हैं। आराधनाओं का फल मोक्ष प्राप्ति है यदि आराधनाओं के पूर्ण रूप से प्रकट होने में न्यूनता रह जाय तो स्वर्ग की प्राप्ति होती है वहाँ से जाने के बाद फिर मोक्ष की प्राप्ति होती है ॥ ३९ ॥

अरहंते—अरहन्त भगवान् में शुभभक्ति होना सम्यक्त्व है, यह सम्यक्त्व तत्त्वार्थ श्रद्धान् से अल्यन्त शुद्ध है और विषयों से विरक्त होना ही शील है। ये दोनों ही ज्ञान हैं इनसे अतिरिक्त ज्ञान कैसा कहा गया है।

भावार्थ----सम्यक्त और शील से रहित जो ज्ञान है वही ज्ञान ज्ञान है इनसे रहित ज्ञान कैसा ? अन्य मतों में ज्ञानको सिद्धिका कारण कहा गया है परन्तु जिस ज्ञान के साथ सम्यक्त्व तथा शील नहीं है वह अज्ञान है, उस अज्ञान रूप ज्ञानसे मुक्ति नहीं हो सकती ॥ ४०॥

इस प्रकार श्री कुन्दकुन्दाचार्यं विरचित शीलप्राभृत समाप्त हुआ

•

माँ जिनवाणी स्तुति

माँ जिनवाणी ममता न्यारी, प्यारी प्यारी गोद है थारी। आँचल में मुझको तू रख ले, तू तीर्थंकर राजदुलारी।।टेक।। वीर प्रभो पर्वत निर्झरणी, गौतम के सुख कंठ झरी हो। अनेकान्त और स्याद्वाद की, अमृतमय माता तुम ही हो। भव्यजनों की कर्णपिपासा, तुझसे शमन हुई जिनवाणी।।१।। माँ जिनवाणी......

सप्तभंग मय लहरों से माँ, तू ही सप्त तत्व प्रकटाये। द्रव्य गुणों अरू पर्यायों का, ज्ञान आतमा में करवाये। हेय ज्ञेय अरु उषादेय का, भान हुआ तुमसे जिनवाणी।।२।। माँ जिनवाणी.....

तुझको जानूँ तुझको समझूँ, तुझसे आतम बोध को पाऊँ। तेरे आँचल में छिप-छिपकर दुग्धपान अनुयोग को पाऊँ। माँ बालक की रक्षा करना, मिथ्यातम को हर जिनवाणी।।३।। माँ जिनवाणी.....

धीर बनूँ मैं वीर बनूँ माँ, कर्मबली को दल-दल जाऊँ। . ध्यान करूँ स्वाध्याय करूँ बस, तेरे गुण को निशदिन गाऊँ। अष्ट करम की हान करे यह, अष्टम क्षिति को दे जिनवाणी।।४।। माँ जिनवाणी.....

ऋषि मुनि यति सब ध्यान धरे माँ, शरण प्राप्त कर कर्म हरें। सदा मग्त की गोद रहूँ मैं, ऐसा शिर आशीष फले। नमन करें ''स्याद्वादमती'' नित, आत्म सुधारस दे जिनवाणी।।५।। माँ जिनवाणी.....

-गणिनी आर्थिका स्याद्वादमती माताजी

भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद् के प्रकाशन		
१. सिद्धचक्र विधान (संस्कृत)	४४, डीवकचिन्तामणि	८७. युगल आचार्य पूजा
२, विमल भक्ति (षष्ठम)	४५. आप्तमीमांसा	८८. सर्वायींसदि (मूल)
 धर्ममार्गसार (द्वि०) 	४६. मेरुमन्दरपुराण	८९. बालबोध स्तुति शिक्षा (च०)
४, आराधना कथाकोष (द्वि०)	४७. युक्त्यनुशासन	९०. छहढाला (प्रश्नो०टी०षछम)
५. रत्नाकर की लहरे	४८. सूर्यप्रकाश ग्रन्थ	९१. चारित्रचक्रवर्ती
६. अष्टपाहुड (द्वि०)	४९. भाव संग्रह	९२. शान्तिनाथ विधान
७. पंचास्तिकाय (द्वि०)	५०. लघुतत्त्वस्फोट	९३ नित्यपाठावली
८. पंचस्तोत्र संग्रह (द्वि०)	५.१. रत्नकरण्डश्रविकाचार-टीका	९४. कल्याणमन्दिर स्तोत्र विधान
९. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय (द्वि०)	५२. अमरसेनचरिड	९५. चौबीस टाणा
१०. चर्चासागर	५३, मूलांचार भाषा वचनिका	९६. जैन सिद्धान्त प्रवेशिका
११, चन्द्रप्रभ चरित	५४. पदापुराण	९७. सुशीला उपन्यास
१२. सम्यक्त्वकौमुदी (द्वि०)	५५. प्रमेयरत्नमाला	९८. हनुमानचरित
१३. परीक्षामुख (द्रि०)	५६. यशस्तिलकचम्पू भाग-१	९९. अलौकिक दर्पण
१४. क्षत्रचूड्रामणि (द्वि०)	५७. यशस्तिलचम्पू भाग-२	१००. प्रशांत वाणी (द्वि०)
१५. तत्त्वानुशासन (द्रि०)	५८. अर्थप्रकाशिका 	१०२ जैनशासन
१६. योगसार	५९. निजात्मशुद्धिभावना	१०२. धर्मपरीक्षा
१७. नीतिसार समुच्चय	६०. आत्मानुशासन (दि०)	१०३, शान्तिनाथ पुराण
१८. परमात्मप्रकाश	६१. सुधर्मध्यान प्रदीप	१०४. महावीर पुराण
१९. न्यायदीपिका (दि०)	६२. मंगलघट के भीतर अमृत	१०५. प्रबुम्नचरित
२०. शान्तिसुधासिन्धु	६३. भक्ति मुक्ति सोपान	१०६. चौबीसी पुराण
२१. इन्द्रनेदि नीतिसार	६४. अंगपण्णति ——	१०७. पुण्यासवकथाकोश
२२. इष्टोपदेश (तृ०)	६५. पार्श्वाभ्युदयं	१०८. मदनजुद्ध काव्य
२३. समाधितन्त्र (तृ०)	६६, मल्लिनाथपुराण (द्वि०)	१०९. भावत्रयफलदर्शी
२४. वरांगचरित (संस्कृत, हिन्दी)	६७. विमलनाथपुराण (द्वि०)	११०. श्रेणिकचरित
२५. भरतेश वैभव (भाग-१,२)दि०	६८. नेमिनाथपुराण (द्वि०) ६९. प्रवचनसार	१११. तीर्थराज पर आचार्य
२६. वैरागमणि माला	५९. अवचनतार ७०. धन्यकुमार चरितम्	विमलसागर कृतित्व
२७. ध्यानसूत्राणि (ठु०)	७१. सद्धप्रिय स्तोत्र	११२. श्रीमद्भगवद् जिनसहस्रनाम
२८. श्रुतावतार २९. अमितगतिश्रावकाचार	७२. सुदर्शनचरित	११३. भक्तामर विधान
	७३. अमृतशोति	११४. णमोकार मंत्र कल्प
३०, महामृत्युंजय पूजा विधान ३१, स्वयंभूस्तोत्र (द्वि०)	७३. जनुवरतात ७४. रवणसार	१२५. विमल ज्ञान प्रबोधिनी टीका (द्वि.)
२२, स्वयभूसाय (१८७) २२, स्वयभूसाय (१८७)) ७५. मोक्षशास (प्रश्नो० टीका तृ०	
३३. धम्म्हरसायनं	७६, मर्यादा की रक्षा (तृ०)	११७. मान्यखेट के होरे
३२. यन्तरसायन ३४. सार समुच्चय	७७. स्याद्वाद बाल शिक्षा भाग-१	११८. सम्मेदशिखर माहात्म्य (द्रि०)
३५. प्रश्नेत्तर श्रावकाचार	७८. स्याद्वाद बाल शिक्षा भाग-२	११९. सत्पथ की ओर
३६. आलापपद्धति (द्रि॰)	७९. स्याद्वाद बाल शिक्षा भाग-३	१२०. जिनाभिषेक
३७. भदनपराजय	८०. स्याद्वाद बाल शिक्षा भाग-४	१२१. सम्मेदशिखर पूजा विधान
३८. वसुनन्दिश्रावकाचार	८१. पंचामृताभिषेक पाठ (द्वि०)	११२. जिनवाणी
३९. सागारधर्मामृत (द्वि०)	८२. वात्सल्यरत्नाकर भाग १,२,	३ १२३, ऋषिमण्डल विधान
४०, बोधामृतसार	८३. मैतिक संस्कार भाग-१-३	१२४, जिनदत्त चरित
४१. पाण्डवपुराणः (दि०)	८४. सुभोम चरित्र	१२५. नागकुमार चरितम्
४२, आप्तपरीक्षा (द्वि०)	८५, पद्मपुराण हिन्दी	१२६, मरण मुक्ति का द्वार : सल्लेखना
४३, पाश्वचरितम् (द्वि)	८६. भक्तामर स्तोत्र (प्रश्नो०टी०)	২২৬. হালিকল হা

Jain Education International